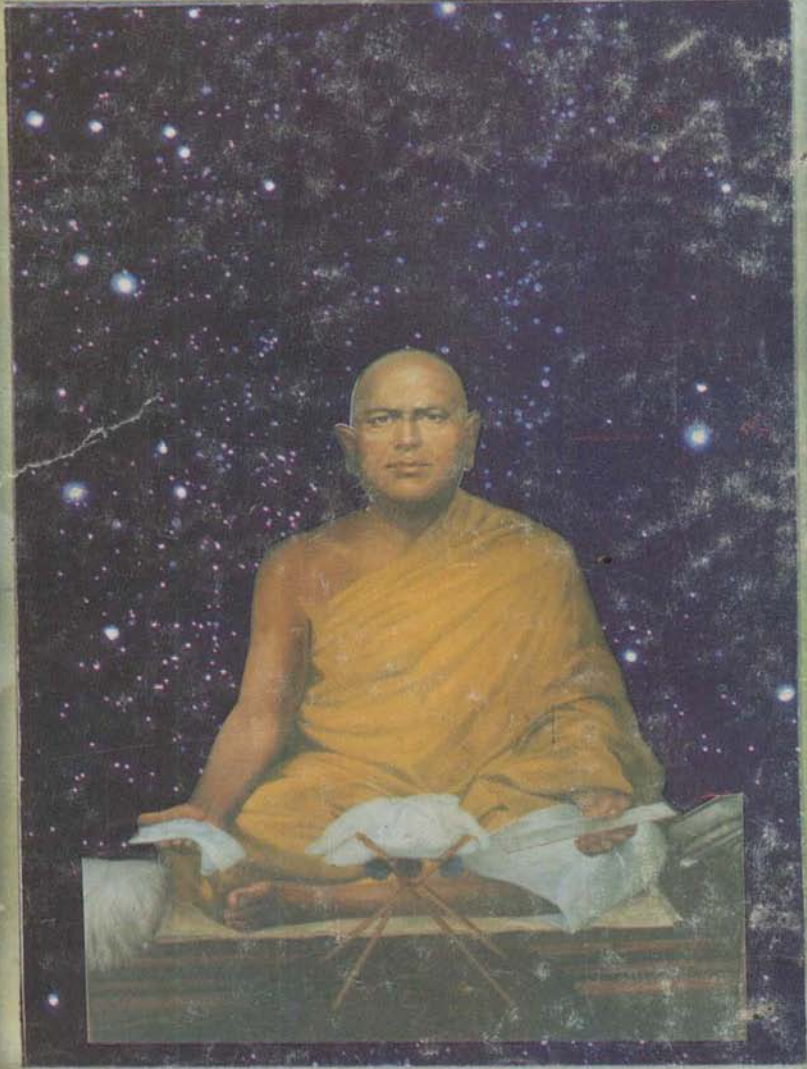


2980

श्री विज्ञानानन्द सूरि



स्वर्गाशोहण शताब्दी ग्रंथ

श्री विजयानंद सूरि स्वर्गारोहण
शताब्दी ग्रन्थ



अचिंत्य फलदायक देवाधिदेव पावाण्ड तीर्थाधिपति

श्री चितामणि पार्श्वनाथ मगवान

श्री चितामणि पार्श्वनाथाय नमः ॥

श्री आत्म वल्लभ समुद्र इन्द्र सद् गुरुभ्यो नमः ॥

श्री विजयानंद सूरि स्वर्गारोहण शताब्दी ग्रन्थ

-: प्रेरक :-

जैन दिवाकर आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन्न सूरिश्वरजी महाराज

-: मार्गदर्शक :-

कार्यदक्ष आचार्य श्रीमद् विजय जगच्चन्द्र सूरिश्वरजी महाराज

-: सम्पादक :-

मुनि नवीनचन्द्र विजय
डॉ. रमणलाल चि. शाह
प्रो. श्रीपाल जैन

-: प्रकाशक :-

श्री विजयानंद सूरि साहित्य प्रकाशन फाउंडेशन - पावागढ़
ई. सन्. १९९६

-: ग्रन्थ का नाम :-

श्री विजयानंद सूरि स्वर्गारोहण शताब्दी ग्रन्थ

-: सम्पादक :-

मुनि नवीनचन्द्र विजय
डॉ. रमणलाल चि. शाह, बम्बई
प्रो. श्रीपाल जैन, जयपुर

-: प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :-

श्री विजयानंद सूरि साहित्य प्रकाशन फाउंडेशन
जैन श्वे. मंदिर
पावागढ़- ३८९३६० जि. पंचमहाल (गुजरात)
फोन- (०२६७६४५) ६०६

प्रथम आवृत्ति : १०००

ई. सन् १९९६

मूल्य :- ५५१/-रूपये मात्र

फोटो टाईपसेटिंग एवं मुद्रण :-

माणक ऑफसेट प्रिन्टर्स,
दैनिक जनगण भवन, महात्मा गांधी अस्पताल रोड,
जोधपुर - ३४२००१ (राज.) फोन- ३७८३८, ३७८३९

स्वर्गरोहण त्रताब्दी के ज्योतिपुंज



नवयुग निर्माता, विश्व वंघ विभूति, महान ज्योतिर्धर,
न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद (आत्माराम)
सूरीश्वरजी महाराज

हमारे प्राणाधार

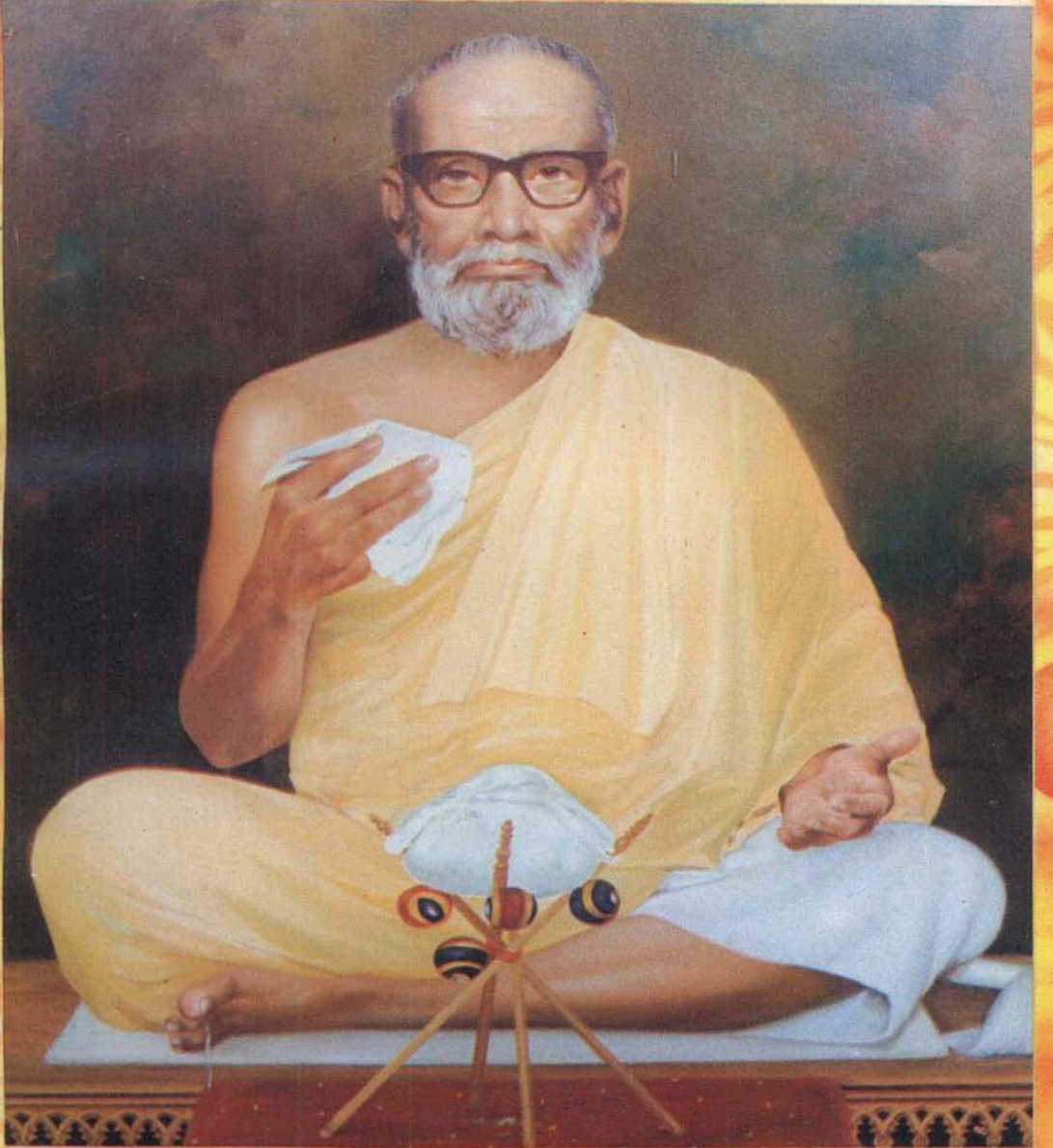
श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज के प्रथम पट्टधर



कलिकाल कल्पतरु, अज्ञान तिमिर तरणी, पंजाब केसरी
युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय बल्लभ सूरीश्वरजी महाराज

जिनकी समता हमारा आदर्श है

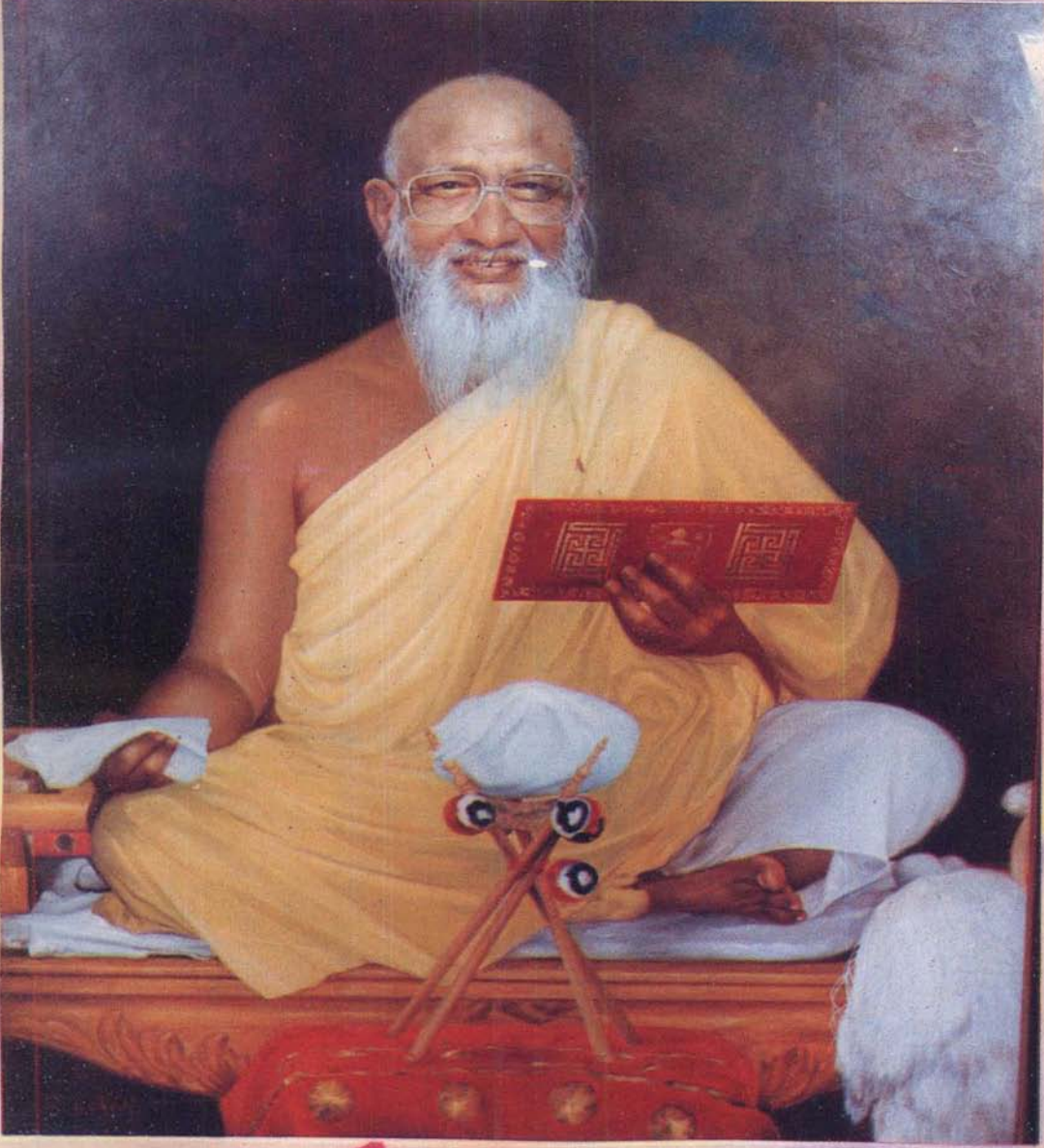
श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज के द्वितीय पट्टधर



राष्ट्र संत, शान्तमूर्ति, समत्व योगी
आचार्य श्रीमद् विजय समुद्र सूरीश्वरजी महाराज

हमारी प्रेरणा के स्रोत

श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज के तृतीय पट्टधर



परमार क्षत्रियोद्धारक, चारित्र चूडामणि,
जैन दिवाकर, शासन शिरोमणि
आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन्न सूरीश्वरजी महाराज

आ

शी

र्वा

द



नव युग निर्माता, महान ज्योतिर्धर, न्याम्भोर्नाधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज की स्वर्गारोहण शताब्दी के पावन प्रसंग पर उनकी स्मृति में 'श्री विजयानंद सूरी स्वर्गारोहण शताब्दी स्मृति ग्रन्थ' का प्रकाशन हो रहा है यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है।

ई. सन् १९३६ में पंजाब केसरी, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज की निश्रा में उनकी जन्म शताब्दी मनाई गई थी। इस प्रसंग के छह दशक के बाद हमें उनकी स्वर्गारोहण शताब्दी मनाने का अवसर मिला है।

उनकी इस स्वर्गारोहण शताब्दी के उपलक्ष्य में हमने कुछ ठोस, बुनियादी और रचनात्मक कार्य किए हैं। हमारे विचार से उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का

अनुसरण ही हमारी उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है ।

श्रीमद् विजयानंद सूरि महाराज हमारे मूल पुरुष हैं । जैन धर्म के स्वर्णिम इतिहास के जिस मोड़ पर वे हुए हैं वहीं से जैन धर्म का आधुनिक इतिहास प्रारंभ होता है । श्रीमद् विजय वल्लभ सूरिश्वरजी महाराज की प्रेरणा के स्रोत वे ही थे । आज जो जैन धर्म की भव्यता, स्थिरता, विकास और प्रचार-प्रसार दृष्टिगत हो रहा है उसके जन्मदाता भी वे ही हैं । अपने समर्थ व्यक्तित्व के प्रताप से उन्होंने युग की धारा को बदल दिया था । एक नवीन इतिहास के स्रष्टा बनकर वे इतिहास पुरुष बन गए हैं ।

युग पुरुषों का जीवन, कार्य और चिंतन कभी अप्रस्तुत नहीं होता । वे सदाकाल हमारी अजस्र प्रेरणा के स्रोत बने रहते हैं । श्रीमद् विजयानंद सूरि महाराज भी हमारी अखंड प्रेरणा के स्रोत हैं ।

प्रस्तुत ग्रन्थ उनकी पावन, धवल, प्रेरक और उज्ज्वल स्मृति को चिरस्थायी और कायम रखने का उपक्रम है । यह उस युग पुरुष का स्मृति स्तम्भ है । इसी के साथ-साथ यह प्रेरणा स्तम्भ भी है । उनके उदात्त जीवन, महान कार्य एवं युगीन चिंतन का विशद वर्णन इस ग्रन्थ में हुआ है । जिन्होंने कड़ा परिश्रम करके यह दुर्लभ स्मृति ग्रन्थ तैयार किया है वे निश्चित ही साधुवाद के पात्र हैं । स्वर्गारोहण शताब्दी की यह 'अमर स्मृति' बनेगा ।

इस स्वर्गारोहण शताब्दी के निमित्त जिन ठोस, बुनियादी और रचनात्मक कार्यों की हमने बुनियाद रखी है उस बुनियाद और परंपरा को आनेवाली पीढ़ियां आगे बढ़ाएं एवं श्रीमद् विजयानंद सूरि महाराज के जीवन, कार्य और साहित्य से लोग अधिक से अधिक परिचित हों, उनसे प्रेरणा ग्रहण करें यही मंगलकामना और आशीर्वाद है ।

विजय इन्द्रदिन सूरि -
(आचार्य विजय इन्द्रदिन सूरि)

हमारे सहायक



श्रीमाणिभद्र महावीर देव-पावागढ़ तीर्थ

प्र

का

श

की

य

हमारी भारतीय संस्कृति त्यागमूलक रही है। सर्व संग परित्याग करके जो त्याग के सर्वोच्च शिखर पर आसीन होते हैं वे ही व्यक्तित्व भारतीय धर्म और संस्कृति के आदर्श हैं।

संत पुरुष इस आदर्श व्यक्तित्व के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। अतः हमारी संस्कृति ने इन त्यागी-साधक संत मुनियों को सबसे अधिक आदरणीय, वंदनीय और पूजनीय माना है। हम ताजमहल को देखकर आश्चर्यमुग्ध जरूर होते हैं, परंतु वहां हमारा मस्तक नहीं झुकता। हमारा मस्तक झुकता है एक टूटी-फूटी साधना कुटिया पर जहां किसी त्यागी संत ने समाधि ली होती है।

संत-मुनियों के जीवन चरित्रों से हम त्याग का पाठ सीखते हैं। उनके प्रेरक उपदेश और विचार हमारे जीवन की उन्नति के मूल स्रोत होते हैं। वे अपने जीवन और कार्यों द्वारा मानव समुदाय को नई दिशा और मार्ग दे जाते हैं। उनके अनंत उपकारों के प्रति हम सदा उनके ऋणी और कृतज्ञ रहते हैं।

संसार में वे ही धर्म, संस्कृति, समाज और संप्रदाय जीवित हैं, जो अपने पूर्वजों के उपदेशों और उनके प्रेरक चरित्रों का अनुशरण करते आए हैं। जिन्होंने अपने पूर्वजों की उपेक्षा की उन धर्मों और संस्कृतियों का आज इस संसार में कोई अस्तित्व नहीं है। उनके नाम-ओ-निशान मिट चुके हैं। जैन धर्म आज भी उसकी मूल विभावना के साथ जीवित है इसका मूल कारण है

उसकी श्रमण संस्कृति का जीवंत होना । भगवान महावीर स्वामी से लेकर अद्यावधि यह श्रमण संस्कृति अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है ।

इसी श्रमण संस्कृति की श्रृंखला में एक महनीय व्यक्तित्व जुड़ा है जहां से हजारों नयी धाराएं जन्म लेती हैं । वे महामहिम अमर और ओजस्वी व्यक्तित्व हैं विश्व वंद्य विभूति, महान ज्योतिर्धर, न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज । जिनकी स्वर्गरोहण शताब्दी के उपलक्ष में प्रस्तुत ग्रंथ का प्रकाशन हो रहा है ।

आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी (आत्माराम जी) महाराज के वर्तमान पट्टधर परमार क्षत्रियोद्धारक, चारित्र चूड़ामणि, जैन दिवाकर, शासन शिरोमणि आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन सूरीश्वरजी महाराज की प्रेरणा से एवं कार्यदक्ष आचार्य श्रीमद् विजय जगच्चन्द्र सूरीश्वरजी महाराज के मार्गदर्शन में उनकी निश्रा में गुरु विजयानंद स्वर्गरोहण शताब्दी के उपलक्ष्य में कई धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक एवं शैक्षणिक ऐतिहासिक युगीन कार्य सम्पन्न हुए । प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन उन्हीं स्मरणीय युगीन कार्य की एक महत्वपूर्ण कड़ी है । प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन कर हमें उनकी स्मृति को चिर स्थाई रखते हुए अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है ।

इस महाग्रन्थ को जिन जिन महानुभावों ने आकार प्रदान किया है वे साधुवाद के पात्र हैं । फाउंडेशन उन सभी का ऋणी है । विशेष रूप से संपादक मंडल का जिनके अथक परिश्रम का यह मधुर फल है ।

श्री मनीष चौपडा, प्रबन्धक श्री माणक ऑफसेट प्रिन्टर्स, जोधपुर का भी फाउंडेशन आभार मानता है जिन्होंने इस महाग्रन्थ की टाइप सेटिंग एवम् मुद्रण का कार्य बहुत ही सुन्दर ढंग से अल्प समय में सम्पन्न किया है ।

'श्री विजयानंद सूरी स्वर्गरोहण शताब्दी ग्रन्थ' आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज की पावन स्मृति को समर्पित एक श्रद्धांजलि ग्रन्थ है । यह ग्रन्थ निश्चय ही स्मारक साहित्य का सिमाचिन्ह सिद्ध होगा ऐसी आशा है ।

मन्त्री -

मन्त्री -

मधराज मेहता, फालना

अध्यक्ष -

अध्यक्ष -

मदनलाल जैन, मुरादाबन

श्री विजयानन्द सूरी साहित्य प्रकाशन फाउंडेशन, पावागढ़

संपादक मण्डल



मुनि श्री नवीनचन्द्र विजय महाराज
(हिन्दी विभाग)



रमण लाल ची. शाह
(गुजराती विभाग)



प्रो. श्रीपाल जैन
(अंग्रेजी विभाग)

संपादकों

की

ओर

से....

भारतीय संस्कृति में गुरु का विशिष्ट स्थान है। अनुकरणीय गुणों से समलंकृत होने से गुरु लोक वंदनीय और पूज्य बनते हैं। गुरु की व्याख्या करते हुए 'कुमारपाल प्रबंध' में कहा गया है- सत्वेभ्यः सर्वशास्त्रार्थ देश को गुरुच्यते।

जो एकान्त हितबुद्धि से जीवों को सभी शास्त्रों का सच्चा अर्थ समझाते हैं, वे गुरु हैं।

वास्तविक गुरु वही है जो शास्त्र से सत्य को पाते हैं, उस सत्य को पाकर वे प्रथम अपनी आत्मानुभूति का विषय बनाते हैं, उसे आत्मसात करते हैं और फिर संसार को उस शास्त्र-सत्य का उपदेश देकर उस ओर संसार को मोड़ देते हैं।

तीर्थकरों द्वारा प्रसृत शास्त्र-मार्ग का अनुसरण और पालन जैन श्रमण के जीवन का अहम् अंग है। शास्त्र-वचन जिनेश्वरों की आज्ञा है और इस आज्ञा का पालन ही मुनियों का धर्म है। इन शास्त्रों के बाह्य विषय या इन शास्त्रों से विरुद्ध आचरण मुनियों के लिए कदापि आचरणीय और ग्राह्य नहीं हो सकते। शास्त्र-आज्ञा के पालन में कहीं दुराव-छिपाव या किसी गोपनीयता को कोई स्थान नहीं होता।

शास्त्रों के वास्तविक अर्थों का अनुशीलन, शास्त्र की आज्ञा का परिपालन और शास्त्र-शिक्षा का उपदेश यदि जैनाचार्य की प्रथम पहचान है तो इस पहचान के साकार रूप हैं- विश्व वंघ विभूति, महान ज्योतिर्धर, न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरिस्वरजी

महाराज । जिनकी स्वर्गारोहण शताब्दी मनाने का यह उपक्रम है ।

वे भगवान महावीर स्वामी की शास्त्र सम्मत आचार परंपरा के रक्षक और पालक थे । उन्होंने शास्त्र-मार्ग की कोई नई परंपरा नहीं चलाई । उन्होंने तो केवल उस परंपरा को पुनर्जीवित और संमार्जित करने का कार्य किया जो किसी नई परंपरा चलान से भी अधिक कठिन और महत्त्वपूर्ण था । उस परंपरा को उन्होंने तेजस्वी, मनस्वी और वर्चस्वी बनाया । उसे सम्मानीय स्थान देकर उसका अभिनंदन किया । यह कार्य कर उन्होंने जिनेश्वर परमात्मा के द्वारा प्ररूपित सत्य मार्ग के प्रति अपनी पूर्ण श्रद्धा, समर्पण और वफादारी का परिचय दिया । उनका यह परिचय ही उनके महान व्यक्तित्व की सर्वोत्तम और सर्वोत्कृष्ट पहचान है ।

उनका अवतरण तब हुआ है जब प्राचीनता और आधुनिकता का संधिकाल चल रहा था । मध्यकालीन सामंती युग की अंतिम सांसें चल रही थीं और आधुनिक युग बोध के चिंतन का सूत्रपात हो गया था । प्राचीन और अर्वाचीन युग के सेतु बने हैं- आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज ।

वे नव युग निर्माता थे और उनकी दूरगामी दृष्टि ने अनेक संभाव्य यथार्थों को देख-परख लिया था । इसीलिए उन्होंने श्रीवीरचंद राघवजी गांधी को जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए विदेश भेजा । अपने शिष्य मुनि श्रीकांति विजयजी महाराज एवं मुनि श्रीहंस विजयजी को नष्ट हो रहे ज्ञान भंडारों के उद्धार की प्रेरणा की । आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज को विद्यालयों के लिए आदेश दिया । तत्कालीन युग को जागृत करने और प्रबुद्ध करने के लिए उन्होंने अनेक ग्रन्थों का सृजन किया । उस समय जब आधुनिक खड़ी बोली का रूप निखरा नहीं था उन्होंने इसी खड़ी बोली हिन्दी में पूजाओं, स्तवनों और सज्जायों की रचना की ।

उनके समय में उनके समकक्ष जैन धर्म, दर्शन, इतिहास और साहित्य आदि का पारगामी विद्वान कोई नहीं था । उस समय चारों ओर से जैन धर्म के ऊपर हो रहे झूठे प्रचार, मनगढ़ंत आक्षेप और अनुचित विरोध का उन्होंने महाबली योद्धा की भांति जैन धर्म की रक्षा की । असत्य, अज्ञान और भ्रांतियों के गढ़ विदीर्ण कर उन्होंने सत्य, ज्ञान और निर्भ्रम का दिव्य प्रकाश सर्वत्र बिखेर दिया । इसीलिए जैन दर्शन के विदेशी विद्वान ए. एफ. रुडोल्फ को यह कहना पड़ा कि-

दुराग्रह ध्वान्त विभेद भानो, हितोपदेशामृत सिन्धुचिते ।

संदेह सन्दोह निरासकारिन्, जिनोक्त धर्मस्य धुरंधरोसि ॥

दुराग्रह रूपी अंधकार को नष्ट करने में आप सूर्य समान हैं । हितकारी उपदेशामृत के एक

अथाह समुद्र हैं। संदेह की वल्लरी से मुक्त करने वाले और जैन धर्म की धुरा धारण करने वाले भी आप ही हैं।

विगत सौ वर्षों में अनेक विद्वान लेखकों और कवियों ने उनके जीवन और कार्यों पर अपनी कलम चलाकर उनका मूल्यांकन किया है। अनेक भक्त कवियों ने उनके गुणानुवाद में काव्य सुमन अर्पित किए हैं। स्वयं आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज ने उनका 'नवयुग निर्माता' नाम का विस्तृत जीवन ग्रन्थ लिखा है। उन्हीं की निश्रा में ई. सन् १९३६ में उनकी जन्म शताब्दी मनाई गई थी। उस प्रसंग पर श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई के कुशल संपादकत्व में 'श्री आत्मानंद जन्म शताब्दी स्मारक ग्रन्थ' भी प्रकाशित हुआ था।

आज उनके यशस्वी नाम से अनेक सभाएं, विद्यालय, पाठशालाएं, छात्रालय, स्कूल, हॉस्पिटल, युवक मंडल और महिला मंडल चल रहे हैं। 'विजयानंद' लुधियाना से और 'श्री आत्मानंद प्रकाश' भावनगर से प्रतिमास नियमित मासिक पत्र प्रकाशित हो रहे हैं।

उनके वर्तमान पट्टधर जैन दिवाकर, परमार क्षत्रियोद्धारक, चारित्र चूड़ामणि आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन्न सूरीश्वरजी महाराज की निश्रा में प्रतिवर्ष उनकी जन्म जयन्ती और पुण्य तिथि मनाई जाती है और उनके महान जीवन और अद्वितीय कार्यों का स्मरण कर समाज को उनसे प्रेरणा लेने के लिए उद्धोषित - उत्प्रेरित किया जाता है। इस प्रकार अद्यावधि उनकी स्मृति अक्षुण्ण है और रहेगी।

इसी अक्षुण्ण स्मृति की कड़ी है उनकी स्वर्गारोहण शताब्दी और इस प्रसंग पर प्रकाशित प्रस्तुत 'श्री विजयानंद सूरि स्वर्गारोहण शताब्दी स्मृति ग्रन्थ'।

जैन दिवाकर आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन्न सूरीश्वरजी महाराज एवं कार्यदक्ष आचार्य श्रीमद् विजय जगच्चन्द्र सूरीश्वरजी महाराज आदि ठाणा का ई. सन् १९९२ का चातुर्मास राजस्थान के सादड़ी नगर में था।

इस चातुर्मास में उन्होंने ई. सन् १९९६ में आने वाली विश्व वंद्य विभूति महान ज्योतिर्धर, न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज की स्वर्गारोहण शताब्दी भव्य और ऐतिहासिक रूप से मनाने की रूपरेखा तैयार की। इसी रूपरेखा के अन्तर्गत अन्य कार्यों के साथ उन्होंने उनका एक स्वर्गारोहण शताब्दी ग्रन्थ निकालने का निर्णय किया और हम तीनों को अपने पास बुलाकर श्रीमद् विजयानंद सूरि महाराज के जीवन, कार्यों और व्यक्तित्व के अनुरूप एक शताब्दी ग्रन्थ तैयार करने की प्रेरणा की। यह ग्रन्थ सभी के लिए समान रूप से उपयोगी हों

और एक सर्वांगीण सन्दर्भ ग्रन्थ की आवश्यकता की पूर्ति हों इस दृष्टिकोण को दृष्टिगत रखते हुए इसे त्रिभाषा-हिन्दी, गुजराती और अंग्रेजी में निकालने का विचार किया गया। तीनों भाषाओं के अलग-अलग विभागीय खंड का संपादन कार्य हमें सौंपा गया।

उनका जीवन हिमालय की तरह उत्तुंग है जिसे छू पाना सहज नहीं। उनके गुण अपार और अतल जलराशि की भांति है जिसकी न गहराई नापी जा सकती है न छोर ही पाया जा सकता है। उनके कार्य और योगदान की व्यापकता क्षितिज की तरह निस्सीम है जिसकी सीमा का पार पाना असंभव है। उनका व्यक्तित्व विराट् है जिसे शब्द की सीमाएं लांघ नहीं सकती। ऐसे महापुरुष जिन के लिए सारे विशेषण और उपमाएं छोटी पड़ जाती हैं उनके विषय में लिखना किसी भी समर्थ से समर्थ लेखक-संपादक-कवि के लिए भी दुःसाध्य कार्य होता है।

श्रीमद् विजय इन्द्रदिन सूरीश्वरजी महाराज की कृपा से यह दुःसाध्य कार्य सुसाध्य करेंगे इस संकल्प से हमने उनका आशीर्वाद लेकर कार्य प्रारंभ किया। प्रस्तुत ग्रन्थ के जन्म की यही कथा है।

ग्रन्थ के लिए जिन जिन लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान लेखकों के हमने लेख आमंत्रित किए उन सभी ने अपने-अपने पांडित्यपूर्ण और खोजपरक लेख भेज कर हमारा उत्साह बढ़ाया है।

कुछ स्तरीय लेख हमने उद्धृत किए हैं, परंतु उनकी संख्या नगण्य है। अधिकतर लेख नये और अप्रकाशित हैं। कुछ लेखकों के लेख ग्रन्थ का कलेवर बढ़ जाने के कारण हम उन्हें स्थान नहीं दे पाए हैं। उनसे हार्दिक क्षमायाचना करते हैं।

सभी लेखों के विचार और संदर्भ जैन धर्म के अनुरूप लिए हैं फिर भी यदि ऐसा कुछ प्रमादवश छप गया हो तो तदर्थ भी क्षमायाचना करते हैं। लेख की जिम्मेवारी लेखक पर है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पाँच खंडों में विभाजित किया गया है चारों खंडों के अलग-अलग नामाभिधान रखे गए हैं। प्रथम खंड का नाम 'ज्ञानांजलि' रखा गया है। ज्ञानांजलि खंड में हिन्दी के भिन्न-भिन्न विषयों के लेखों का संकलन है। द्वितीय खंड का नाम 'श्रद्धांजलि' रखा गया है। इसके अन्तर्गत श्रीमद् विजयानंद सूरी महाराज के प्रति व्यक्त श्रद्धांजलि लेखों का संकलन है। इन लेखों में पुनरावृत्ति न हो इस बात का ध्यान रखा गया है। हर लेख में गुरु विजयानंदजी के जीवन, कार्य और व्यक्तित्व का कोई न कोई पक्ष उजागर हुआ है। हर लेख की अपनी विशेषता है। इस प्रकार के कुछ लेखों का श्रद्धांजलि में संकलन किया गया है। अन्त में उनके पावन नाम से वर्तमान में चल रही सभाओं और विद्यालयों का सचित्र परिचय दिया गया है। कुछ उत्कृष्ट

काव्यांजलियाँ भी संकलित की गई हैं तृतीय खंड ' काव्यांजलि' में ।

चतुर्थ खंड 'स्मरणांजलि' में गुजराती लेखों का संग्रह है। प्रारंभ में पंजाब की चार विभूतियों का जीवन परिचय है। पंचम खंड में **An Humble Homage** नाम के अन्तर्गत अंग्रेजी लेखों का संकलन है। ग्रन्थ को सभी प्रकार से हमने अद्वितीय बनाने का प्रयास किया है।

इस ग्रन्थ के प्रेरक परमार क्षत्रियोद्धारक आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन् सूरेश्वरजी महाराज का आशीर्वाद हमारा सबसे बड़ा संबल बना है। उन्हीं के साथ पूज्य कार्यदक्ष आचार्य श्रीमद् विजय जगच्चन्द्र सूरेश्वरजी महाराज का मार्गदर्शन हमें अपने कार्य में पग-पग पर मिला है। एतदर्थ आचार्य द्वय के हम ऋणी हैं।

सभी लेखकों के साथ-साथ हमें अपने कार्य में अनेक महानुभावों का प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग मिला है जिनमें प्रमुख हैं सुप्रसिद्ध कला मर्मज्ञ श्रीकांति रांका, श्री विजयानंद सूरि साहित्य प्रकाशन फाउंडेशन के अध्यक्ष श्री मदनलालजी, मंत्री श्री मधराजजी मेहता, माणक ऑफसेट प्रिन्टर्स, जोधपुर के श्री मनीष कुमार चोपड़ा, विजय इन्द्र संदेश के सम्पादक श्री प्रकाश चन्द्र बोहरा, गुजराती के प्रूफ संशोधन में श्री चिमनभाई 'कलाधर', श्री किरीट भाई ध्रूव आदि अनेक नाम जिनका हम आभार व्यक्त करते हैं।

श्रीमद् विजयानंद सूरेश्वरजी महाराज अपने जीवन और कार्य से कालजयी महापुरुष है। आने वाली पीढ़ियाँ उनकी आगत संख्यातित शताब्दियाँ मनाएंगी। हमारा परम सौभाग्य है कि हमें उनकी प्रथम शताब्दी मनाने और उनका शताब्दी ग्रन्थ निकालकर श्रद्धांजलि अर्पित करने का अवसर प्राप्त हुआ है। हम अपने जीवन में आए इस अविस्मरणीय अवसर के लिए कृतकृत्य हुए हैं।

- मुनि नवीनचन्द्र विजय
- डॉ. रमनलाल ची. शाह
- प्रो. श्रीपाल जैन

श्रीमद् विजयानंद सूरि स्वर्गारोहण शताब्दी :

नवीन उपलब्धियों पर एक नजर

□ मुनि नवीन चन्द्र विजय

तीर्थकरों, गणधरों, अवतारिक पुरुषों और प्रभावक आचार्यों की जन्म और स्वर्गवास तिथि-दिवस आदि मनाने की हमारी भारत की प्राचीन परंपरा है। इन विशिष्ट महापुरुषों के ये आविर्भूति और अन्तर्भूत दिवस धीरे-धीरे संस्कृति का अंग बनकर पर्व-त्यौहार भी बन जाया करते हैं। दीपावली, रामनवमी और कृष्ण जन्माष्टमी आदि ऐसे ही दिन हैं जो हमारी संस्कृति के अंग बन गए हैं।

जैन धर्म में तीर्थकरों के पांच कल्याणक माने जाते हैं च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण कल्याणक। तीर्थकरों के ये पवित्र प्रसंग संसार के कल्याण के लिए होते हैं अतः इन्हें कल्याणक कहा जाता है। इन कल्याणकों को मनुष्य और देव महोत्सव रूप में मनाते हैं।

तीर्थकरों की अनुपस्थिति में उनका प्रतिनिधित्व करते हैं- छत्तीस गुणों के धारक आचार्य। पंच परमेष्ठी में तृतीय स्थान आचार्य का है। आचार्य ही अरिहंत और सिद्ध से परिचित कराते हैं। चतुर्विध संघ का नेतृत्व आचार्य करते हैं। धर्म संघ के वे महान उपकारी होते हैं। अपने उदात्त चारित्रिक जीवन, साहित्य सृजन और शासन प्रभावना के कार्यों के द्वारा काल की पृष्ठभूमि पर वे अपनी अलग पहचान छोड़ जाते हैं। भद्रबाहु स्वामी, वज्र स्वामी, सुहस्ति सूरि, अभयदेव सूरि, हेमचन्द्राचार्य, हरिभद्र सूरि और हीर विजय सूरि आदि ऐसे ही प्रभावक आचार्य हैं जिनकी परंपरा बहुत लम्बी है। ऐसे चार्यों के पुनीत स्मरण से ही हमारा सर श्रद्धा से नत हो जाता है, हृदय में एक अनिर्वचनीय अहोभाव जागृत होता है। ऐसे महापुरुष जिस दिन जन्म लेते हैं वह दिन भी महान हो जाता है, जिस स्थान पर जन्म लेते हैं वह स्थान भी तीर्थ-धाम बन जाता है, उनकी स्वर्गगमन तिथि भी पुण्य-तिथि बन जाती है। वर्ष पर वर्ष, दशक पर दशक और सदियों पर सदियाँ बितती चली जाती है; किन्तु उनके अमर नाम की उज्ज्वल-धवल आभा कभी धूमिल नहीं होने पाती। यही नहीं प्रत्येक व्यतीत शताब्दी उनके नाम-काम को दीप्तिमय करती रहती है।

जैन धर्म की श्रमण परंपरा के स्वर्णिम पृष्ठों पर एक शताब्दी पूर्व एक कालजयी

महामहिम नाम अंकित हुआ था- विश्व वंघ विभूति, महान ज्योतिर्धर, न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरेश्वरजी महाराज का जो इतिहास के पृष्ठों पर अपनी अमर पहचान छोड़कर स्वयं ही एक इतिहास बन गए हैं ।

ई. सन् १८३६ में उनका जन्म हुआ और ई. सन् १८९६ में स्वर्गवास । इतने जीवन काल में उन्होंने जो कार्य किए हैं, अपने व्यक्तित्व से जो प्रभाव उत्पन्न किया है, अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से जो विचार संपत्ति प्रदान की है, सत्य के लिए जो अनुराग और निर्भयता का पाठ सिखाया है, आगत युग के लिए जो शाश्वत संदेश और अज्ञान अंधकार को विदीर्ण कर ज्ञान का जो सर्वत्र आलोक प्रदीप्त किया है उन सब के घनीभूत प्रभाव से वे आज भी हमारे मध्य जीवत हैं । सौ वर्ष की सुदीर्घ अवधि भी उनके इस अखंड और अक्षुण्ण प्रभाव को कम नहीं कर पाई है । उनके इस प्रभाव को हजारों शताब्दियाँ भी मंद नहीं कर पाएंगी । उनका प्रभाव अजस्र-अखंड प्रेरणा का स्रोत है और आगत शताब्दियाँ उनसे निरंतर प्रेरणा ग्रहण करती रहेंगी ।

आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन सूरेश्वरजी महाराज एवं कार्यदक्ष आचार्य श्रीमद् विजय जगच्चन्द्र सूरेश्वरजी महाराज आदि ठाणा का ई. सन् १९९२ का चातुर्मास सादर्री में था । इस चातुर्मास में ही उन्होंने ई. सन् १९९६ में आगत श्रीमद् विजयानंद सूरि महाराज की स्वर्गारोहण शताब्दी उनके नाम-काम के अनुरूप भव्यतम रूप से मनाने की भूमिका बना दी थी । इस शताब्दी के उपलक्ष्य में उन्होंने पंजाब केसरी, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरेश्वरजी महाराज के समुदाय की परंपरा के अनुरूप ठोस, बुनियादी, रचनात्मक और समाज उपयोगी कार्य करने का संकल्प किया था ।

उसी चातुर्मास में उन्होंने साहित्यिक कार्यों का श्रीगणेश किया और गुरु विजयानंद के सभी अप्राप्य ग्रन्थों को पुनः प्रकाशन का सर्वोत्तम कार्य हाथ में लिया ।

श्रीमद् विजयानंद सूरि महाराज की छोटी-बड़ी कुल बारह पुस्तके हैं । उनकी वे सभी पुस्तकें तत्कालीन खड़ी बोली में लिखी गई है । सामान्य पाठक उन्हें समझने में कठिनाई अनुभव करता है । ऐसी स्थिति में उनका वह साहित्य लोकभोग्य नहीं बन सकता था । इस कठिनाई को दूर करने और उनके साहित्य को घर-घर पहुंचाने के लिए उसे सरल हिन्दी में प्रकाशित करने का निर्णय किया गया । सभी पुस्तकें अलग-अलग गुरु भक्त लेखकों को सरल हिन्दी करण के लिए सौंप दी गई ।

उनकी वे बारह पुस्तके निम्न हैं-

नवतत्त्व

सम्यक्त्वशल्योद्धार

चतुर्थ स्तुति निर्णय भाग-१,२

चिकागो प्रश्नोत्तर

ईसाई मत समीक्षा

अज्ञान तिमिर भास्कर

उनके जीवन और कार्यों से संबंधित छह पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं ।

श्री विजयानंद सूरि स्वर्गारोहण शताब्दी स्मृति ग्रन्थ

नवयुग निर्माता

श्री विजयानंदाभ्युदय महाकाव्यम्

श्री विजयानंद सूरि: जीवन और कार्य

श्री विजयानंद सूरि: वचनामृत (आत्म बोध)

श्री विजयानंद सूरि: फाइट फोर ट्रुथ (अंग्रेजी)

जैन तत्त्वादर्थ भाग-१,२

जैन मत वृक्ष

जैन धर्म विषयक प्रश्नोत्तर

तत्त्वनिर्णय प्रासाद

जैन धर्म का स्वरूप

श्री विजयानंद सूरि पद संग्रह

श्रीमद् विजयानंद सूरि महाराज की स्वर्गारोहण शताब्दी की सबसे बड़ी और महान यदि कोई उपलब्धी हों तो उनके सम्पूर्ण साहित्य का सरल हिन्दी में पुनः प्रकाशन है । उनका यह साहित्य अत्यन्त जीर्णावस्था में था और प्राचीन ज्ञान भंडारों के अतिरिक्त कहीं उपलब्ध नहीं था । ऐसे में यह कार्य अत्यन्त आवश्यक हो गया था । उनके इस सम्पूर्ण साहित्य के प्रकाशन के लिए 'श्री विजयानंद सूरि साहित्य प्रकाशन फाउंडेशन' की स्थापना की गई जो उनके साहित्य के प्रकाशन का कार्य सुचारू रूप से कर रहा है ।

आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन सूरिश्वरजी महाराज एवं कार्यदक्ष आचार्य श्रीमद् विजय जगच्चन्द्र सूरिश्वरजी महाराज का ई. सन् १९९३ का चातुर्मास शत्रुंजय- पालीताणा तीर्थ में हुआ ।

पालीताणा न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरि महाराज की आचार्य पद प्रदान स्थली है । ई. सन् १८८६ में उन्होंने यहां चातुर्मास किया था और चातुर्मास के बाद समग्र भारत के जैन संघों ने मिल कर उन्हें आचार्य पद से विभूषित-अलंकृत किया था ।

इस महातीर्थ के पर्वत पर भगवान आदिनाथ के प्रमुख मंदिर के परिसर में उत्तर दिशा की

ओर उनकी पंचधातु की भव्य मूर्ति बिराजमान है। इस युग के किसी भी आचार्य की मूर्ति पर्वत पर प्रतिष्ठित नहीं है केवल गुरु विजयानंद को छोड़कर।

उनकी इस शताब्दी के उपलक्ष्य में उनकी मूर्ति की देहरी का नवीनीकरण किया गया और जेसलमेरी लाल पत्थर के कलात्मक गवाक्ष में मूर्ति की पुनर्प्रतिष्ठा की गई। इस अवसर पर 'श्री आत्मानंद जैन महासभा- पंजाब' के तत्त्वावधान में 'श्री विजयानंद सूरि स्वर्गारोहण शताब्दी स्पेशल ट्रेन का पालीताणा में आगमन हुआ था। अनगिनत गुरुभक्तों के गगन भेदी जयनादों के मध्य यह प्रतिष्ठा महोत्सव सम्पन्न हुआ था जो अब असंख्य गुरु भक्तों के स्मृति की स्थाई पूंजी बन गया है। गुरु विजयानंद स्वर्गारोहण शताब्दी की यह भी एक उल्लेखनीय उपलब्धी है।

श्रीमद् विजयानंद सूरि महाराज ने ई. सन् १८७६ में अपना एक चातुर्मास भावनगर में किया था। सौराष्ट्र के प्रमुख सांस्कृतिक नगरों में भावनगर का सर्वोच्च स्थान है। उस सामंती युग में यह गोहिलवाड़ के नाम से जाना जाता था।

जिस समय १८९६ में गुरु विजयानंद का गुजरांवाला में स्वर्गवास हुआ था। उस समय भावनगर के श्रीसंघ ने यहां उनकी स्मृति को स्थायित्व देने के लिए 'श्री जैन आत्मानंद सभा' की स्थापना की थी। इस सभा का उद्घाटन श्री वीरचंद राघवजी गांधी ने किया था। इस सभा ने गुरु विजयानंद द्वारा लिखित 'अज्ञान तिमिर भास्कर' 'शम्यक्त्वशाल्योद्धार' का गुजराती अनुवाद, श्री आत्मानंद जन्म शताब्दी स्मारक ग्रन्थ' आदि का प्रकाशन किया है। सभा के द्वारा 'श्री जैन आत्मानंद प्रकाश' नाम के मासिक पत्र का भी नियमित प्रकाशन होता है। कई दुर्लभ आगमों का प्रकाशन सभा ने किया है। इतनी पुरानी प्रकाशन संस्था आज समस्त भारत के जैन समाज में एक भी नहीं है। सभा का सौ वर्ष का यशस्वी सुदीर्घ इतिहास है।

इस सभा के पदाधिकारियों की साग्रह विनती स्वीकार कर आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन्न सूरिस्वरजी महाराज अपने मुनि मंडल सहित भावनगर में पधारे। उनकी पावन निश्रा में सभा ने अपना शताब्दी महोत्सव प्रारंभ किया। यहां पर वड़वा जैन संघ के तत्त्वावधान में गुरु भक्त युवकों की एक संस्था स्थापित हुई। जिसका नाम 'श्री आत्मानंद जैन मित्र मंडल' (श्री आत्मानंद जैन फ्रेंड्स ग्रूप) रखा गया।

सौराष्ट्र के बाद आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन्न सूरिस्वरजी महाराज एवं कार्यदक्ष आचार्य श्रीमद् विजय जगच्चन्द्र सूरिस्वरजी महाराज का पदार्पण अहमदाबाद में हुआ।

अहमदाबाद में आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरि महाराज की ई. सन् १८७५ में मूर्ति पूजक परंपरा की दीक्षा हुई थी। यहां उनका एक चातुर्मास भी हुआ था।

यहां उनकी स्मृति को कायम करने के लिए आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन्न सूरिस्वरजी महाराज की प्रेरणा से और कार्यदक्ष आचार्य श्रीमद् विजय जगच्चन्द्र सूरिस्वरजी महाराज के

मार्गदर्शन में अहमदाबाद के उपनगर कृष्णनगर में 'श्री आत्मानंद जैन सभा' की स्थापना की गई।

इस सभा के उद्देश्य हैं- श्री आत्म वल्लभ समुद्र इन्द्र गुरु परंपरा के विचारों के अनुरूप कार्य करना, सातों क्षेत्रों का सिंचन करना, जैन साहित्य का प्रचार-प्रसार करना, सहधर्मी बन्धुओं का उत्कर्ष करना, जैन मध्यम वर्गियों को मेडिकल सहायता देना, मध्यम वर्गीय जैन युवकों को धंधे लगाना और जैन धर्म के महान-उत्तम सिद्धान्तों का प्रचार करना आदि।

निस्संदेह श्री विजयानंद सूरि स्वर्गारोहण शताब्दी की उल्लेखनीय उपलब्धियों में 'श्री आत्मानंद जैन सभा- अहमदाबाद' की स्थापना का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन सूरिस्वरजी महाराज का कार्यक्षेत्र बड़ौदा और पंचमहाल जिला है। इस क्षेत्र के सैंकड़ों गांवों में परिभ्रमण कर उन्होंने एक लाख लोगों को नूतन जैन बनाया है। इन लोगों में जैनत्व के संस्कार सिंचन हेतु धार्मिक पाठशालाओं की योजना क्रियान्वित है।

इस स्वर्गारोहण शताब्दी के उपलक्ष्य में सौ गांवों को चुनकर सौ पाठशालाएं स्थापित की जा रही है। एक पाठशाला का इकतीस हजार रुपया है। इन रुपयों के ब्याज ये पाठशालाएं चलेगी। इस योजना में गुरुभक्तगण बड़े उत्साह से अपनी दान गंगा बहा रहे हैं। इस स्वर्गारोहण शताब्दी के उपलक्ष्य में लुधियाना में विजयानंद डायनोस्टिक सेंटर का निर्माण हो रहा है। इसी तरह गुरुधाम लहरा में एक विशाल गुरु मंदिर निर्माण हो रहा है।

इस प्रकार न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरि स्वर्गारोहण शताब्दी के प्रसंग पर कई ऐतिहासिक, स्मरणीय और प्रेरक कार्य हुए हैं, हो रहे हैं। जिन कार्यों और उपलब्धियों का उल्लेख किया गया है उतने ही कार्य हुए हैं यह समझ लेना बड़ी भूल होगी। ये कार्य उदाहरण रूप हैं। इनके अतिरिक्त भी अन्य चिर स्मरणीय कार्य हो रहे हैं। गुरु विजयानंद द्वारा विरचित उपदेश बावनी को पंजाब की युनिवर्सिटियों के एम. ए. के पाठ्यक्रम में स्थान दिलाने का प्रयत्न किया जा रहा है। उनके नाम से एक डाक टिकट भी जारी करने का पुरुषार्थ हो रहा है। एक-दो शोध प्रबन्ध भी लिखे जा रहे हैं। उनके द्वारा अंजनशलाका एवं प्रतिष्ठा कृत मंदिरों की शताब्दियां मनाई जा रही है। उनके नाम से कई विद्यालय, हॉस्पिटल, उपाश्रय, धर्मशाला और भवन आदि निर्मित हो रहे हैं। इस तरह के अनेक कार्य जिनकी सूची बहुत लम्बी है इस स्वर्गारोहण शताब्दी की स्थाई स्मृति बने हैं, बने रहेंगे।



अर्थ सहयोग

विश्ववंद्य विभूति, महान ज्योतिर्धर, न्याम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज की स्वर्गारोहण शताब्दी के पावन प्रसंग पर उनके साहित्य प्रकाशन के लिए जैन दिवाकर आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन सूरीश्वरजी महाराज की प्रेरणा से स्थापित 'श्री विजयानंद सूरी साहित्य प्रकाशन फाउंडेशन- पावागढ़' को पूज्य आचार्य, उपाध्याय, षण्ढ्यास एवं मुनि भगवंतों, साध्वी भगवंतों की प्रेरणा से अनेक गुरुभक्तों, संघों एवं ट्रस्टों से उदार आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। उनकी शुभ नामावली-

- * जैन दिवाकर आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन सूरीश्वरजी महाराज की सद्प्रेरणा से श्रीहंस विजयजी जैन फ्री लायब्रेरी लुणसावाड़ा, अहमदाबाद की ओर से
- * कोंकण देश दीपक आचार्य श्रीमद् विजय रत्नाकर सूरीश्वरजी महाराज की सद्प्रेरणा से श्रीऋषभदेवजी महाराज जैन धर्म टेम्पल एण्ड ज्ञानि ट्रस्ट थाणे एवं श्रीशान्तिनाथजी जैन देरासर ट्रस्ट दादर, मुम्बई की ओर से
- * कार्यदक्ष आचार्य श्रीमद् विजय जगच्चंद्र सूरीश्वरजी महाराज की सद्प्रेरणा से परम गुरु भक्त श्रीमनहरभाई प्रभुदासभाई शाह टाणावाले की ओर से
- * शान्तिदूत आचार्य श्रीमद् विजय नित्यानंद सूरीश्वरजी महाराज की सद्प्रेरणा से परम गुरु भक्त श्री सुरेन्द्र कुमार जैन जालंधर शहर की ओर से
- * महातपस्वी उपाध्याय श्रीबसंत विजयजी महाराज की प्रेरणा से मद्रास निवासी मातृश्री चम्पाबाई सरेमलजी के सुपुत्र श्री केवलचंदजी सरेमलजी गेमावत की ओर से।
- * साहित्य मनिषी उपाध्याय श्रीवीरेन्द्र विजयजी महाराज की प्रेरणा से श्री गाँडीजी जैन उपाश्रय एवं लुधियाना निवासी परम गुरु भक्त श्री पूरणचन्द श्रीपाल कुमार जैन बरड की ओर से
- * षण्ढ्यास श्री यशोभद्र विजयजी महाराज की प्रेरणा से श्रीक्रेट तपागच्छ मूर्तिपूजक श्वेताम्बर जैन संघ, मुम्बई एवं जैन आदिश्वर महाराज माहिम तड मारवाडी संघ एण्ड चेरिटीज, माहिम मुम्बई की ओर से।
- * प्रखर वक्ता मुनिराज श्री अरुण विजयजी महाराज की प्रेरणा से श्री आत्मानंद जैन उपाश्रय जानीशेरी, बड़ौदा की ओर से।
- * प्रवर्तिनी साध्वी श्रीविनिता श्रीजी म. की सद्प्रेरणा से श्री महिला उपाश्रय जानी शेरी बड़ौदा की ओर से।
- * विदुषी साध्वी श्री विद्या श्रीजी म. तथा साध्वी श्री कंचन श्रीजी म. की सद्प्रेरणा से पालीताणा श्री श्रमणी विहार की बहनों की ओर से
- * विदुषी साध्वी श्री महायशा श्रीजी म. की सद्प्रेरणा से सूरत, नानपूरा श्रीमघ की बहनों की ओर से।
- * विदुषी साध्वी श्रीकनका श्रीजी म. की सद्प्रेरणा से बड़ौदा, मामा की फोल मंघ की बहनों की ओर से।
- * विदुषी साध्वी श्रीकनक प्रभा श्रीजी म. की सद्प्रेरणा से लुणसावाड़ा मंटीफोल जैन संघ, अहमदाबाद की ओर से तथा श्रीमिलन कुमार महेन्द्र भाई कपडवंज वाले, श्रीमती मिता बहन किराट भाई अमरोली वाले एवं श्री जितेन्द्र बाई हीरालाल शाह की ओर से।
- * विदुषी साध्वी श्रीनयप्रज्ञा श्रीजी म. की प्रेरणा से श्रीभादरण नगर श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ, मुम्बई की ओर से।
- * विदुषी साध्वी श्री ओमकर श्री जी म. तथा साध्वी श्री धर्मज्ञा श्रीजी म. की सद्प्रेरणा से श्री देहली गुजराती ट्रस्ट, गुजरात

बिहार, दिल्ली की ओर से ।

- * विदुषी साध्वी श्रीमंजुला श्रीजी म. की सद्प्रेरणा से एक सद्गृहस्थ की ओर से
- * विदुषी साध्वी श्रीकुसुम श्रीजी म. की शिष्या साध्वी श्रीदिव्यप्रभा श्रीजी म. की सद्प्रेरणा से श्री रमणलाल वाडीलाल कपडवंज वाले श्री वाडीलाल लीलाचंद धीणोजवालों की ओर से एवं श्रीसांकला जैन संघ सांकला तथा श्रीवलसाड जैन संघ, वलसाड की ओर से
- * विदुषी शासन रत्ना साध्वी पद्मलता श्रीजी म. की प्रेरणा से खेतलावीर धर्मशाला, पालीताणा की आराधक बहनों की ओर से
- * प्रवर्तिनी साध्वी श्रीदमयंती श्रीजी म. की प्रशिष्या साध्वी श्री कल्पयशा श्रीजी म. की प्रेरणा से एक सद्गृहस्थ की ओर से ।
- * विदुषी साध्वी श्रीचंद्रोदया श्रीजी म. की प्रेरणा से पालनपुर उपाश्रय की बहनों की ओर से ।
- * विदुषी साध्वी श्रीचंद्रयशा श्रीजी म. की प्रेरणा से श्री कीर्तिलाल मफतलाल अहमदाबाद की ओर से ।
- * विदुषी साध्वी श्रीप्रमोदभद्रा श्रीजी म. की प्रेरणा से श्रीवालकेश्वर आराधक बहनों मुम्बई की ओर से ।
- * विदुषी साध्वी श्रीसुधर्मा श्रीजी म. एवं साध्वी श्रीप्रवीण श्रीजी म. की प्रेरणा से अहमदाबाद वाघणपोल सेठ के उपाश्रय की बहनों की ओर से ।
- * विदुषी साध्वी श्रीनिर्मला श्रीजी म. की प्रेरणा से श्रीमुनि सुव्रत स्वामी मूर्ति पूजक जैन संघ, मलाड मुम्बई एवं श्रीमती पुष्पाबहन मिलापचंदजी पूनावालों की ओर से ।
- * विदुषी साध्वी श्रीयशक्रीर्ति श्रीजी म. की प्रेरणा से श्रीजैन श्वे. मू. पू. संघ उदयपुर की ओर से ।
- * शासन प्रभाविक साध्वी श्रीजसवंत श्रीजी म. की शिष्या साध्वी श्रीप्रगणा श्रीजी म. की प्रेरणा से एक सद्गृहस्थ की ओर से ।
- * विदुषी साध्वी श्रीदर्शन श्रीजी म. की प्रेरणा से विधोण (कच्छ) निवासी हाल मुम्बई निवासी विसनजीभाई बेचरभाई की ओर से ।
- * विदुषी साध्वी श्रीकनकप्रभा श्रीजी म. की प्रेरणा से खेडबह्या श्रीदशा पारवाल श्वे. जैन संघ, खेडबह्या की ओर से ।
- * प्रवर्तिनी साध्वी श्रीमाणिक श्रीजी म. साध्वी श्री तिलक श्रीजी म. साध्वी श्रीभद्रा श्रीजी म. के ६१ वर्ष के दीक्षा पर्याय के उपलक्ष्य में साध्वी श्री सुज्ञान श्रीजी म. की प्रेरणा से श्रीमती स्मरला बहन सेवंतीलाल जीवणलाल पारेख, राधनपुर वाले, श्रीमती कंचन बहन पन्नालाल शाह राधनपुर वाले, श्रीमती कंचन बहन मुकुंदलाल गांधी कपडवंज वाले, श्रीमती पद्माबहन वसंतलाल घीया हस्ते मुकेशभाई अहमदाबाद वाले, श्रीमती गणवंती बहन कस्तुरलाल गांधी, कपडवंज वाले, श्रीमती प्रभावती बहन रसिकलाल शाह, पालनपुर वाले, श्रीमती स्वर्गीय हीरा बहन भूखणदास शाह हस्ते रसीक भाई, पालनपुर वाले, स्वर्गीय श्रीमती भगवती बहन पोपटलाल शाह पाटणवालों की स्मृति में हस्ते मृदुलाबहन भूपेन्द्रभाई शाह पाटणवाले एवं श्रीविजय वल्लभ समुद्र स्वाध्याय मंदिर ज्ञानखाता, साबरमती, अहमदाबाद की ओर से ।
- * विदुषी साध्वी श्रीअभय श्रीजी म. की प्रेरणा से श्री जैन श्वे. मू. संघ करचेलिया की ओर से ।
- * विदुषी साध्वी श्रीसुभद्रा श्रीजी म. एवं साध्वी श्रीमयूरकला श्रीजी म. की प्रेरणा से श्री लुणसावाडा जैन श्राविका संघ की ओर से ।
- * प्रवर्तिनी साध्वी श्री कमलप्रभा श्रीजी म. की प्रेरणा से श्रीआत्म वल्लभ जैन सोसायटी रोहिणी दिल्ली की ओर से ।

- * विदुषी साध्वी श्रीचरण श्रीजी म. एवं साध्वी श्रीअनंत श्रीजी म. की प्रेरणा से एक सदगृहस्थ की ओर से ।
- * विदुषी साध्वी श्रीकल्पयशा श्रीजी म. की प्रेरणा से श्री ओढण जैन श्वे. मू. पू. संघ अहमदाबाद की ओर से ।
- * विदुषी साध्वी श्रीहेमेन्द्रजी म. की प्रेरणा से एक सदगृहस्थ की ओर से ।
- * विदुषी साध्वी श्रीजगत श्रीजी म. की प्रेरणा से श्रीजैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ भूज कच्छ की ओर से ।
- * विदुषी साध्वी श्रीसुवर्ती श्रीजी म. की प्रेरणा से श्रीपानाचंद ब्रजलाल धर्मादा पेढी कपडवंज की ओर से ।
- * विदुषी साध्वी श्रीकांता श्रीजी म. एवं साध्वी श्री कंचन श्रीजी म. की प्रेरणा से सूरत आगम एपार्टमेंट संघ की बहनों की ओर से ।
- * शासन ज्योति साध्वी श्रीसुमति श्रीजी म. की प्रेरणा से सुमेर टॉवर जैन संघ मुम्बई की ओर से ।
- * विदुषी साध्वी श्री निर्मला श्रीजी म. की प्रेरणा से कोटन ग्रीन जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ एवं दादर श्रीसंघ की श्राविकत्राओं की ओर से ।

परमार क्षत्रियोद्धारक, शासन शिरोमणि, वर्तमान गच्छाधिपति, पूज्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन सूरेश्वरजी म. सा. की प्रेरणा से विविध श्रीसंघों, ट्रस्टों से तथा दानवीरों से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ ।

- * ग्वालिया टेन्क जैन संघ की ओर से ।
- * बुरहानपुर महिला मंडल की ओर से ।
- * श्रीवल्लभ सूरि स्मारक निधि ट्रस्ट, श्री आत्मानंद जैन सभा, मुम्बई की ओर से ।
- * श्रीमहुडी जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक ट्रस्ट, महुडी की ओर से ।
- * श्रीचन्दूलाल लल्लूभाई फ़ाउण्डेशन ट्रस्ट, मुम्बई की ओर से ।
- * गुरु कृपा मातृ मंदिर जैन संघ, मुम्बई की ओर से ।
- * केसरफूल फ़ाउण्डेशन, मुम्बई की ओर से ।
- * श्री जैन श्वे. मू. पू. संघ, बीकानेर की ओर से ।

श्री बालकेश्वर सुपार्श्वनाथ जैन संघ, मुम्बई की ओर से

- * परम गुरुभक्त श्रीवी. सी. जैन, दिल्ली वालों की ओर से
- * परम गुरुभक्त श्रीराजकुमारजी जैन (प्रदीप पब्लिकेशन्स) जालंधर की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त संघवी श्री सतीशकुमार जी जैन दिल्ली वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीधर्मपाल जैन (मायाराम माणिकचंद) लुधियानावालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीसरदारीलाल शिखरचंदजी जैन परिवार, मुरादाबाद की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीसरदारीलालजी सुरेन्द्र कुमार जंडियाला वाले जाल-दिल्ली की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीभंवरलालजी त्रिलोकचंदजी कोचर, बीकानेर वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीसिद्धार्थभाई विनुभाई, पालनपुर वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीकीर्तिभाई डायाभाई वासणवाला, मलाड-बम्बई की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीखैरातीलाल राजकुमार जैन (एन. के.) दिल्ली वालों की ओर से ।

- * परम गुरुभक्त श्रीबालकिशनदास रजनीश कुमार जैन, मुरादाबाद वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीअजीत कुमार जैन, बदनावर क्त्री ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीअनोपचंदजी जैन, जालंधर वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीसतीश कुमारजी जैन, लुधियाना वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीरोहित कुमार जैन, मुरादाबाद वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्री सुरेन्द्र मोहनजी जैन, मुरादाबाद वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीअनिल कुमार जैन, मुरादाबाद वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीसुनील कुमारजी जैन, मुरादाबाद वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीसंजीव कुमारजी जैन, मुरादाबाद वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीमुदित कुमारजी जैन, मुरादाबाद वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीसंदीपकुमारजी जैन, मुरादाबाद वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीराजीवकुमारजी जैन, मुरादाबाद वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीरजनीश कुमारजी जैन, मुरादाबाद वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीविनयचंदजी जैन, मुरादाबाद वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीअनिलकुमारजी जैन, जालंधर शहर की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीडिप्टीलालजी जैन, मुरादाबाद वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीमनोजकुमारजी जैन, लुधियाना वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीविजयकुमारजी जैन, लुधियाना वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीप्रकाशचंदजी रावेशकुमार जैन जंडियावाले हाल दिल्ली वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीरूपकिशोरजी जैन, लुधियानावालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीवेद सी. एम. लुधियाना वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीरतिलाल तथा रमणलाल चंदुलाल झवेरी, बड़ौदा की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्री रसिकलाल फूलचंद शाह, अहमदाबाद वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीदेवीसिंहजी कोचर, अमृतसर वालों की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीछोटेलाल रघुवीरकुमारजी जैन, जालंधर शहर की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीराजकुमारजी जैन, मुम्बई की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीयू. जे. सोलंकी, पूना वालों की ओर से ।
- * श्रीमती प्रेमलता जैन, नवीन शाहदरा- दिल्ली वालों की ओर से ।
- * श्रीमती पुष्पा बहन लाभचंदजी जैन, लुधियाना की ओर से ।
- * श्रीमती तिलक सुन्दरी, मुरादाबाद की ओर से ।
- * परम गुरुभक्त श्रीशिखरचंदजी जैन, मुरादाबाद वालों की ओर से ।

श्री विजयानंद सूरि स्वर्गारोहण शताब्दी ग्रन्थ

खण्ड-१

ज्ञानांजलि

क्रमांक	व्या	किसका	कहाँ
२.	जैन धर्म का स्वरूप	आचार्य श्री विजयानंद सूरिजी	१
२.	विनय के प्रकार	आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरिजी	१५
३.	अनित्य भावना	आचार्य श्री विजय इन्द्रदित्र सूरिजी	३१
४.	पावागढ़ तीर्थ की ऐतिहासिकता	आचार्य श्री जगच्चन्द्र सूरिजी	४५
५.	माणुस्सं खु. सुदुल्ल हं	आचार्य श्री चन्दनमुनि जी	५०
६.	ज्ञान भंडारों पर एक दृष्टिपात	आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्य विजयजी	६०
७.	एक लाख परमारों का उद्धार: बीसवीं सदी का एक ऐतिहासिक कार्य	मुनि श्री नवीन चन्द्र विजय जी	७७
८.	जैन संमत व्याप्ति	श्री दलसुख मालवणिया	८५
९.	निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्चिन्तन	प्रो. सागरमल जैन	८९
१०.	प्राकृत-साहित्य में उपलब्ध जैन न्याय के बीज	डॉ. धर्मचन्द्र जैन	१२४
११.	भारत के सांस्कृतिक अभ्युदय में प्राकृत का योगदान	डॉ. जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल	१३४
१२.	व्यक्तित्व के समग्र विकास की दिशा में जैन शिक्षा प्रणाली की उपयोगिता	श्रीचन्द सुराना	१४०
१३.	हर्षपुरीयगच्छ अपरनाम मलधारी गच्छ का संक्षिप्त इतिहास	श्री शिव प्रसाद	१५९
१४.	जिनप्रतिमा और जैनाचार्य	पं. श्री हंसराज जी शास्त्री	१८३
१५.	जैन दर्शन और केवलज्ञान	श्री मूलचंद चन्दू लाल बेड़ावाले	१९२
१६.	धर्मायतन, आवसा तथा कारोबार : एक सुख समृद्धि कारक तंत्र	डॉ. सोहनलाल देवोत	२०२

खण्ड-२

श्रद्धांजलि

क्रमांक	क्या	किसका	कहाँ
१.	श्री विजयानंद सूरीश्वर स्तुति	मुनि श्री देव विजय	२०७
२.	श्री आत्मानंद जयंती	आचार्य श्री विजय वल्लभ सूरी	२०८
३.	श्री विजयानंद सूरी	आचार्य श्री विजय समुद्र सूरी	२१९
४.	श्रीमद् विजयानंद सूरी म. का जीवन संदेश	आचार्य श्री विजय इन्द्रदित्र सूरी	२२२
५.	गुरु विजयानंद : स्मृति के वातायन से	आचार्य श्री विजय जनकचन्द्र सूरी	२२५
६.	साधुता के शिखर	आचार्य श्री रत्नाकर सूरी	२२९
७.	गुरु विजयानंद : एक विराट् व्यक्तित्व	आचार्य श्री विजय जगच्चन्द्र सूरी	२३३
८.	धार्मिक चेतना के अग्रदूत	आचार्य श्री विजय नित्यानंद सूरी	२३७
९.	कर्मयोगी श्री आत्माराम जी	उपाध्याय श्री वीरेन्द्र विजय	२४१
१०.	गुणों के रत्नाकर थे गुरु आतम	पंन्यास श्री जयन्त विजय	२४७
११.	सत्य पथानुगामी गुरु विजयानंद	मुनि श्री धर्मधुरन्धर विजय	२४९
१२.	श्री जिनागम हम मन मान्यो तब ही कुपंथ को जाल जयौ रे ॥	मुनि श्री अरूण विजय	२५२
१३.	श्रीमद् विजयानंद सूरी : जीवन और कार्य	मुनि नवीन चन्द्र विजय	२५६
१४.	श्री विजयानंद सूरी : जीवन प्रसंग	मुनि श्री अमरेन्द्र विजय	३०७
१५.	श्रीमद् विजयानंद सूरी महाराज की जन्म कुंडली	पंडित ज्ञानकी प्रसाद, चामुंडेरी (राज.)	३२४
१६.	श्री विजयानंद सूरी एवं चिकागो विश्व धर्म परिषद्	मुनि श्री रत्नसेन विजय	३३०
१७.	पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज : लोक-मंगल के लिए अर्पित जीवन	डॉ. जवाहरचन्द्र पट्टनी	३३६
१८.	श्री विजयानंद सूरी : कवि रूप में	प्रो. रामकुमार जैन	३४२
१९.	समर्पित शासन सेवक	श्री आशीष कुमार जैन, जयपुर	३४५
२०.	श्रीमद् विजयानंद सूरी और मूर्तिपूजा	साध्वी श्री किरणयशा श्री	३५२
२१.	श्री विजयानंद सूरी एवं ईसाई मिशनरी	प्रो. पृथ्वीराज जैन	३५९

२२.	श्रम परम्परा के उज्ज्वलतम नक्षत्र थे गुरु विजयानंद	श्री धर्मपाल जैन रोपडवाले	३६६
२३.	आचार्य श्री विजयानंद सूरि एवं उनका प्रमुख ग्रन्थ	डॉ. रजनीकान्त एस. शाह	३६९
२४.	कवि चन्दूलाल कृत श्री आत्मानंद जीवन चरित्र : परिचय एवं समीक्षा	डॉ. नरेश	३७४
२५.	श्री विजयानंद सूरिजी के साहित्य सृजन का क्रमिक इतिहास	श्री अभय कुमार 'यौधेय'	३८१
२६.	आत्माराम	श्री जयचंद बाफना	३८६
२७.	पश्चिम में जैन धर्म एवं संस्कृति के सर्वप्रथम उद्घोषक : श्री वीरचंद राघवजी गांधी	श्री मघराज मेहता	३९०
२८.	श्री विजयानंद सूरि एवं उनकी जन्म स्थली लहरा	श्री सत्यपाल जैन	३९८
२९.	श्रीमद् विजयानंद सूरि (आत्मारामजी) के नाम से चलने वाली शिक्षण संस्थाएं एवं सभाएं		४०१

खण्ड-३

काव्यांजलि

क्रमांक	क्या	किसका	कहां
१.	गुरु स्तुति	मुनि श्री मोक्षरति विजय	४२३
२.	श्री विजयानंद प्रशस्ति	मुनि श्री चतुर विजय	४२५
३.	चरणों में शत शत वंदन	साध्वी श्री लक्ष्मणपूजा श्री	४३८
४.	हम नत मस्तक हो जाते हैं	प्रो. श्रीपाल जैन	४४०
५.	श्री विजयानंद गुण गुंजन	श्री कन्हैयालाल जैन	४४२
६.	पार्थ समान, महाप्रण विजयी गुरुदेव	प्रो. राम जैन	४४६
७.	वि.सं. १९४० का स्वागत गीत		४४७

ગુજરાતી વિભાગ

खण्ड-४

स्मरणांजलि

ક્રમાંક	વ્યા	કિસકા	કહાં
૧.	પંજાબના ચાર ક્રાંતિકારી મહાત્માઓ	ડૉ. રમણલાલ ચી. શાહ	૧
૨.	આત્મારામ જી મહારાજ નું પૂજાં સાહિત્ય	ડૉ. કવિન શાહ	૬૮
૩.	સ્વરૂપ મંત્ર	પંડિત શ્રીપનાલાલ જગજીવનદાસ ગાંધી	૭૮
૪.	અસારે ખલુ સંસારે	ડૉ. બિપિન ચંદ્ર હીરાલાલ કાપડિયા	૧૦૩
૫.	સમતા	પ્રો. તારાબેન રમણલાલ શાહ	૧૧૨
૬.	અપ્રમાદ	શ્રી નેમચંદ એમ. ગાલા	૧૧૮
૭.	ઉપાધ્યાય - પદ ની મહત્તા	ડૉ. રમણલાલ ચી. શાહ	૧૪૧
૮.	જૈન મૂર્તિપૂજા ની પ્રાચીનતા અને જૈન મંદિરોનું સ્થાપત્ય	ડૉ. પ્રિયબાલા શાહ	૧૬૦
૯.	જૈન તીર્થ તારંગા : એક પ્રાચીન નગરી	ડૉ. કનુભાઈ વ. સેઠ ડૉ. રમણલાલ ના. મહેતા	૧૬૭
૧૦.	જયવંત સૂરિ કૃત સીમંધર સ્વામી લેખ	શ્રી જયંત કોઠારી	૧૭૪
૧૧.	કવિ સહજ સુન્દર કૃત ગુણરત્નાકર છંદ	ડૉ. કાંતિલાલ બી. શાહ	૧૮૩
૧૨.	સુકડિ - ઓરસીયા સંવાદ	ડૉ. દેવબાલા સંઘવી	૧૮૯
૧૩.	સમાધિ શતકમાં મોક્ષમાર્ગ	શ્રી જયેન્દ્ર એમ. શાહ	૧૯૫
૧૪.	જયશેખર સૂરિ કૃત ત્રિભુવન દીપક પ્રબંધ	પ.પૂ. સાધ્વી શ્રી મોક્ષગુણા શ્રી જી મ.	૨૦૧
૧૫.	દેવચન્દ્ર જીના આધ્યાત્મિક પત્રો	પ.પૂ. સાધ્વી શ્રી આરતી બાઈ મ.	૨૨૨
૧૬.	શ્રાવક કવિ ઋષભદાસ	શ્રી ચીમનલાલ એમ. શાહ, 'કલાધર'	૨૨૭

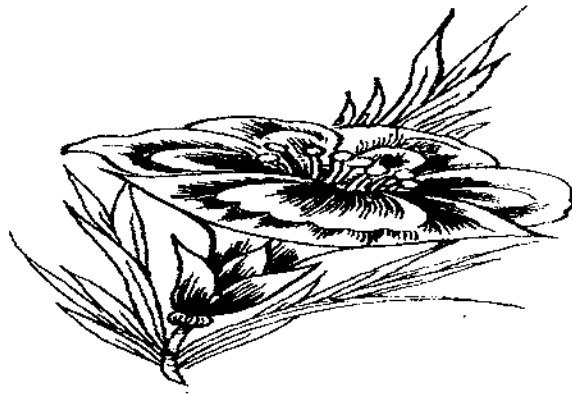
अंग्रेजी विभाग

खण्ड-५

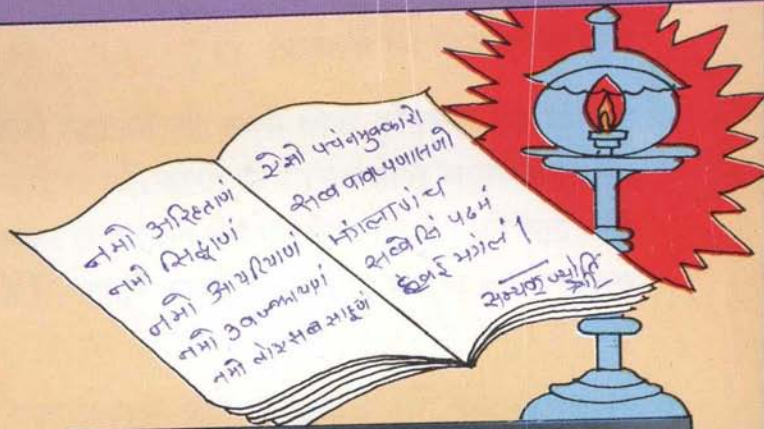
{An Humble Homage}

Sr. No.	What	Whose	Where
1.	A brief life sketch of Atmaramji Maharaj	S.P. Jain, Principal (Retd) 229, Himmat Nagar, Tonk Road, Jaipur.	1
2.	Samay Sunder and his Sanskrit Works	Dr. Satya Vrat, Principal, 7/34, Purani Abadi, Sri Ganganagar.	21
3.	Ayag Pattas and the beginning of Jain cult Workship	Dr. A.L. Srivastava, Reader, 5 D/4, Liddle Road, George Town, Allahabad.	36
4.	A brief History of Tapa Gachha	Shri Ram Vallabh Somani, 53 A, Satya Nagar, Jhotwara Jaipur.	46
5.	Spiritual Discipline & Practices in Jainism	Dr. Bhag Chand Jain, Deptt of Prakrit & Pali, Nagpur University, Nagpur.	60
6.	Gommatesvara as found in Hori Vamsa Purana	Dr. P.C. Jain, Deptt of Jain Studies, Raj University of Rajasthan, Jaipur.	97
7.	The Jain Philosophy	Dr. K.C. Sogani, Professor, H-7 Chitranjan Marg, C. Scheme, Jaipur.	100

8.	Jain Attitude to animal World Impact on Social life in India	P.K. Jain, I.A.S. (Retd) 77 B, Devi Path, Takhte Shahi Road, Jaipur	106
9.	Jain concept of Peace	Dr. Sagar Mal Jain, Director, H.V. Research InSTITUTE, I.T.I. Road, Varanashi (U.P.)	116
10.	The Jain religious tradition	Shri S.L. Gandhi, G-94, Saraswati Marg, Bajaj Nagar, Jaipur-302018.	133
11.	Poultry Farms or Concentration Camps ?	Hitruchi Vijayji Maharaj Sahib, C/o 'Mahajanam' 510, Prasad Chambers, Opera House, Bombay-400004.	141
12.	Jain remains from Rajgir	Dr. Rajiv Kumar, A/17, Magdh University Campus, Bodh Gays-824234.	146
13.	Art of Living called Jainism	Shri Pal Jain, 229, Himmat Nagar, Tonk Road, Jaipur	152



જાનાં જાલિ



जैन धर्म का स्वरूप

□ आचार्य श्री विजयानंद सूरि

(आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरिश्वरजी महाराज की सबसे छोटी पुस्तक 'जैन धर्म का स्वरूप' है। सामान्य लोग जो जैन धर्म का संक्षिप्त और जल्दी ही परिचय प्राप्त करना चाहते हैं। उनके लिए यह पुस्तक लिखी गई है। एक प्रकार से यह जैन धर्म परिचय लेख है। उसे यहां उन्हीं की भाषा में जस का तस प्रकाशित कर रहे हैं। इससे उनकी भाषा और प्रस्तुति का प्राथमिक परिचय मिलता है।)

यह संसार द्रव्यार्थिक नय के मत से अनादि अनंत सदा शाश्वता है, और पर्यायार्थिक नय के मत से समय समय में उत्पत्ति और विनाशवान है, इस संसार में अनादि से दो-दो प्रकार का काल प्रवर्तता है, एक अवसर्पिणी, और दूसरा उत्सर्पिणी, जिसमें दिन प्रतिदिन आयु, बल, अवगाहना प्रमुख सर्व वस्तु घटती जाती है तिस काल का नाम अवसर्पिणी कहते हैं। और जिसमें सर्व अच्छी वस्तु की वृद्धि होती जाती है, तिसका नाम उत्सर्पिणी काल कहते हैं।

इन पूर्वोक्त दोनों कालों में कालके करे छै छै विभाग है, जिसको अरे कहते हैं। अवसर्पिणी का प्रथम सुखम सुखम १, सुखम २, सुखम दुखम ३, दुखम सुखम ४, दुखम ५, दुखम दुखम ६ है। उत्सर्पिणी में छहों विभाग उलटे जानने। जब अवसर्पिणी काल पूरा होता है, तब उत्सर्पिणी काल शुरू होता है, इसी तरह अनादि अनंत काल की प्रवृत्ति है ॥

प्रत्येक अवसर्पिणी उत्सर्पिणी के तीसरे चौथे अरे में चौबीस अर्हन् तीर्थकर अर्थात् सच्चधर्म के कथन करनेवाले उत्पन्न होते हैं। जो जीव धर्म के बीस कृत्यकर्ता है, सो भवांतरों में

तीर्थकर होता है, वह बीस कृत्य यह हैं ।

अरिहंत १, सिद्ध २, प्रवचन अर्थात् श्रुतवान् संघ ३, गुरु धर्मोपदेशक ४, स्थविर ५, बहुश्रुत ६ और अनशनादि विचित्र तप करने वाला तपस्वी अथवा सामान्य साधु ७, इन सातों की वात्सल्यता करे, अर्थात् इनके साथ अनुराग करे, यथावस्थित गुण कीर्तन करे, यथायोग्य पूजा भक्ति करे, तो तीर्थकर पद उपार्जन करे ७ । पूर्वोक्त सातों पदों का वार-वार ज्ञानोपयोग करे, तो तीर्थकर पद उपार्जन करे ८, दर्शन सम्यक्त्व ९, ज्ञानादि विषय विनय १०, इन दोनों में अतिचार न लगाये, अवश्यमेव करने योग्य संयम व्यापार में अतिचार न लगावे ११, मूलगुण उत्तरगुण में अतिचार न लगावे १२, क्षण लवादि काल में संवेग भावना और ध्यान की सेवना करे १३, तप करे, और साधुओं को उचित दान देवे १४, दस प्रकार की वैयावृत्य करे १५, गुरु आदिकों को कार्य करण द्वारा चित्त में समाधि उपजावे १६, अपूर्व ज्ञान ग्रहण करे १७, श्रुत भक्तियुक्त प्रवचन की प्रभावना करे १८, श्रुतका बहुमान करे १९ यथाशक्ति देशना, तीर्थयात्रादि करके प्रवचन की प्रभावना करे २० । इनमें से एक, दो, तीन, चार, उत्कृष्ट बीस पदके सेवने से जीव तीर्थकर पद उपार्जन करता है । यह कथन श्रीज्ञाता सूत्रमें है ॥

जो जीव तीर्थकर होता है, सो निर्वाण अर्थात् मोक्षको प्राप्त हो जाता है, पुनः संसार में नहीं आता है, पूर्वोक्त धर्म कृत्यों के करने से जितने तीर्थकर पूर्वे हो गये हैं, और जितने आगे को होवेंगे, वोह सर्व एक सरीखा ही ज्ञान कथन करते हैं ॥

तीर्थकर दो प्रकार का धर्म कथन करते हैं, श्रुतधर्म १, और चारित्र धर्म २, श्रुत धर्म में द्वादशांग गणिपिडंग, और चारित्रधर्म में साधु का, और गृहस्थ का धर्म ॥

श्रुतधर्म में नवतत्व, षट्द्रव्य, षट्काय, चार गतियों का वर्णन है, तिनमें प्रथम नवतत्व का किञ्चिन्मात्र स्वरूप लिखते हैं ।

जीव १, अजीव २, पुण्य ३, पाप ४, आश्रव ५, संवर ६, निर्जरा ७, बंध ८ और मोक्ष ९, यह नव तत्व के नाम हैं ॥

जैन मत में चैतन्य लक्षण जीवका है, सो जीव ज्ञानादि धर्मों से कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है । तथा विवृत्तिमान् (विवृत्ति नाम परिणाम का है, तिसके होने से जीव परिणामी है; इस वास्ते नरक १, तिर्यच २, मनुष्य ३, देव ४, इन चारों गतियों में, तथा एकेंद्रिय १ द्वीन्द्रिय २, त्रीन्द्रिय ३, चतुरिन्द्रिय ४, पंचेंद्रिय ५ इन पांचों जातियों में विविध प्रकार की उत्पत्ति रूप परिणामों का जो अनुभव करने वाला, अर्थात् भोगने वाला तथा शुभाशुभ कर्मका कर्ता, और अपने करे शुभाशुभ

कर्म का भोक्ता, और साधन द्वारा सर्व कर्मका नाश करके मोक्षपद को प्राप्त होने वाला, द्रव्यार्थेसदाअनादि, अनंत, अविनाशी नित्य, और पर्यायार्थे अनेक अवस्थाओं की उत्पत्ति और विनाशवाला, ऐसे पूर्वोक्त विशेषण संयुक्त होवे तिसको जैनमत में जीव कहते हैं(१) ॥

इन पूर्वोक्त सर्व लक्षणों से जो विपरीत होवे, अर्थात् जिसमें चैतन्यादि लक्षण न हों, सो अजीब :—धर्मास्तिकाय १, अधर्मास्तिकाय २, आकाशास्तिकाय ३, पुद्गल, (परमाणु से लेके जो २ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, शब्दवाला है, सो पुद्गल) ४, और काल ५ यह पांच द्रव्य अजीब हैं(२) ॥

जिसके उदय से जीव को सुख होवे, सो पुण्य(२)

जिसके उदय से जीव को दुःख होवे, सो पाप(४) ॥

मिथ्यात्व १, अविरति २, प्रमाद ३, कषाय ४, और योग ५, इन पांचों का नाम आश्रव तत्व है ५

पूर्वोक्त आश्रव का जो निरोध करना, सो संवर तत्व है(६) ॥

बंधे हुए कर्मों का अर्थात् स्पृष्ट, बद्ध स्पृष्ट, निद्धत और निकाचित रूप करके जो कर्म का बंध करा है, तिन कर्मों को तप, चारित्र, ध्यान, जपादि करके जीव से पृथक् करना, तिसका नाम निर्जरा तत्व है (७)

जीव और कर्म, इन दोनों का लोलीय भाव परस्पर क्षीर नीरकी तरह जो मिलाप होना, सो बंध तत्व(८) ॥

स्थूल शरीर औदारिक, और सूक्ष्म शरीर तेजस्, कार्मण इन सर्व का आत्मा से जो साधन द्वारा अत्यंत वियोग अर्थात् फिर जीव के साथ कदापि बंध न होवे, तिसको मोक्ष तत्व कहते हैं(९) ॥

षट्द्रव्य के नाम और तिनका स्वरूप लिखते हैं ।

धर्मास्तिकाय, जीव और पुद्गल के चलने में सहायकारी, जैसे मछली के चलने में जल(१) ॥

अधर्मास्तिकाय, जीव और पुद्गल की स्थिति में सहायकारी, जैसे रस्ते में पंथी को वृक्ष(२) ।

आकाशास्तिकाय, सर्व पदार्थों के रहने वास्ते अवकाश देता है, जैसे बेरांकी कूडा(३) ।

जीवास्तिकाय, चैतन्यादि लक्षणों वाला, प्रथमजीव तत्व में लिख आये हैं ॥(४)

पुद्गलास्तिकाय, कारण रूप परमाणुओं से ले के सर्व कार्यरूपवर्ण, गंध, रस, स्पर्श, शब्द, छाया, आतप, उद्योत, पृथिवी, चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारे, नरक, स्वर्गादि जो स्थान हैं, तथा पृथिवीकायिक का शरीर, एवं जल, अग्नि, पवन, वनस्पति के शरीर, यह सर्व पूर्वोक्त पुद्गलास्तिकायके काय हैं। और जितना कथन जैनमत के योनिप्राभृतादि शास्त्रों में, तथा जो जो दृश्यमान वस्तुओं में उलट पलट हो रहा है और जो विद्यमान सायंस विद्या से विचित्र प्रकार की वस्तु उत्पन्न होती है, यह सर्व पुद्गलास्तिकाय की शक्ति से हो रहा है(५)।

जो नवे से पुराना आदि जगत् व्यवस्था का निमित्त है, सो कालद्रव्य है ॥

जैनमत में छे (६) वस्तुओं को जीव सहित मानते हैं, जिनको षट्काय कहते हैं, तिनके नाम और स्वरूप लिखते हैं। पृथिवी काय १, अप्काय, २, तैजस्काय ३, वायुकाय ४, वनस्पतिकाय ५, और त्रसकाय ६। इनमें जो पृथिवी है, सो सर्व एकेंद्रिय अर्थात् स्पर्शनेंद्रियवाले असंख्य जीवों के शरीरों का पिंड है पर इस पृथिवी के जिस भाग ऊपर अग्नि, क्षार, ताप, शीतादिका मिलाप होता है, तिस भाग के जीव मृत्यु हो जाते हैं, और तिन जीवों के शरीर रह जाते हैं, तिसको अचित्त पृथिवी कहते हैं। इस पृथिवी में समय समय असंख्य जीव उत्पन्न होते हैं, और असंख्य जीव मृत्यु होते हैं, पर यह पृथिवी प्रवाह से इसी तरह अनादि अनंत काल तक रहेगी। चंद्र, सूर्य, तारे आदि सर्व इसी तरह जान लेने (१) पानी ही जिन जीवों का शरीर है, सो अप्कायिक है।

जगत् में जितना पानी है, सर्व असंख्य जीवों के शरीर का पिंड है, अग्नि आदि शस्त्रों के लगने से अचित्त अप्काय कही जाती है, अन्यथा सर्व जल सजीव है(२) ॥

तैजस्काय सो अग्नि। अग्नि असंख्य जीवों के शरीर का पिंड है, जब अग्नि के जीव मृत्यु हो जाते हैं, तब कोयले भस्मादि जीवों के शरीर का पिंड रह जाता है(३) ॥

पवन भी असंख्य जीवों के शरीर का पिंड है, पवन के जीवों का शरीर नैत्र से देखने में नहीं आता है। और पंखे आदि से जो पवन होती है, तिस पवन में जीव नहीं होते हैं। क्योंकि सो असली पवन नहीं है किंतु पंखे आदि की प्रेरणा से पुद्गलों में पवन सदृश परिणाम होने से पवन मालूम होती है(४)।

वनस्पतिकाय, जो कंदमूल, काई, प्रमुख वनस्पति है, तिनमें अनंत जीव हैं, और जो वृक्षादि वनस्पति है, तिनमें असंख्य जीव हैं। जिस वनस्पति को अग्नि आदि शस्त्र का संबंध होवे, और जो वनस्पति सूक जावे, सो वनस्पति के जीवों का शरीर है। किंतु वनस्पति के जीव तिनमें नहीं

(५) ।

यह पूर्वोक्त पृथिवी, अप् तैजस् वायु, वनस्पति पांचों काय में केवल एक स्पर्शेन्द्रिय है, इस वास्ते इन पांचों काय के जीव एकेंद्रिय कहे जाते हैं, इनका विस्तार से स्वरूप प्रज्ञापना सूत्र में है, और इन पांचों में जीव की सिद्धि के प्रमाण का स्वरूप आचारांग सूत्र की निर्युक्ति में है, और इन पांचों के जीव समय समय में परस्पर मरके उत्पन्न होते हैं ।

त्रसकाय, तिसमें द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, इन चारों जाति के जीवों को त्रसकाय कहते हैं ॥

अन्यमत वाले वनस्पति को पृथिवी के अंतर्भूत मान के पृथिवी, जल, अग्नि, पवन इनको चार तत्व वा चार भूत मानते हैं, तैसे जैनमत में नहीं मानते हैं । जैनमत में तो इनको जीव और जीवों ने शरीरपणे अनंत परमाणु ग्रहण करके कर्मों के निमित्त से असंख्य शरीरों का जो पिंड रचा है, सोई पृथिवी आदि पांच है, ऐसा मानते हैं । और यह पांचो प्रवाहसे अनादि से पहले २ जीव मृत्यु होते जाते हैं, और तिन ही शरीरों में वा अन्य शरीरों में नवीन जीव इनही पांचों में से मरके (पर्याय बदल के) उत्पन्न होते हैं, और तिनजीवों के विचित्र प्रकार के कर्मोदय से विचित्र प्रकार के रंग रूप हैं, और इनके शरीर में जो परमाणुओं का समूह है, तिनमें अनंत तरह की शक्तियां हैं, और तिनके परस्पर मिलने से अनेक प्रकार के कार्य जगत् में उत्पन्न होते हैं, और इनके परस्पर मिलने में काल १ स्वभाव २, नियति ३, कर्म ४, उद्यम परस्पर की प्रेरणा ५, इन पांचों शक्तियों से पदार्थों को मिलने से विचित्र प्रकार की रचना अनादि प्रवाह से हुई है, और होवेगी । यह पांच शक्तियां जड़ चैतन्य पदार्थों के अंतर्भूत ही है, पृथक् नहीं । इस वास्ते इस जगत् के नियमों का नियंता, और कर्ता ईश्वर को नहीं मानते हैं, किंतु जड़ चैतन्य पदार्थों की शक्तियां ही कर्ता और नियंता है ॥

जैनमत में चारगति मानते हैं । नरकगति १, तिर्यच गति २, मुनुष्य गति ३, और देव गति ४, इनमें से नरक उसको कहते हैं, जिसमें जीवों को निःकेवल दुःख ही है, किंचिन्मात्र भी सुख नहीं है, इन नरकवासियों के रहने का स्थान सात पृथिवियों में मानते हैं, तिनके नाम रत्न प्रभा १, शर्करप्रभा २, वालुप्रभा ३, पंकप्रभा ४, धूमप्रभा ५, तमःप्रभा ६, तमः तमः प्रभा ७ । यह सातों पृथिवियां अधोलोक में मानते हैं, और इन पृथिवियों का परस्पर अंतरादि सर्व स्वरूप प्रज्ञापनादि शास्त्रों में है, इन सातों पृथिवियों के रहनेवाले जीवों को नरकगतियें कहते हैं, तिनके दुखों का स्वरूप प्रज्ञापना, प्रश्न व्याकरण सूत्रकृतांगादि सूत्रों में है(१) ।

पृथिवी, जल, अग्नि, पवन, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और गाय, भैंस, घोड़ादि

पंचेंद्रिय, यह सर्व जीव तिर्यग्गति में गिने जाते हैं(२) ॥

मनुष्यगति में सर्व मनुष्य गिने जाते हैं(३) देवगति में चार जाति के देवता गिने जाते हैं, तिनके नाम—भुवनपति १, व्यंतर २, ज्योतिषी ३, और वैमानिक ४ । तिनमें से भुवनपति, और व्यंतर, यह दोनों जाति के देवता इसही पृथिवी में रहते हैं(२) ॥

ज्योतिषी देवता, सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे जो आकाश मंडल में हमें देखने में आते हैं, तिनमें सूर्य और चंद्र तिर्यग् लोक में असंख्य है, और मंगल आदि अट्ठासी ८८ जाति के ग्रह, अभिजितादि अट्ठाईस २८ जाति के नक्षत्र, और तारे यह सर्व तिर्यग्लोक में असंख्य है, यह सर्व ज्योतिषी देवता रूप तीसरी जाति का देवलोक है(३) ॥

चौथा भेद वैमानिक देवताओं का है । ज्योतिषी देवताओं के ऊपर असंख्य कोड़ा कोड़ी योजन के अंतरे सौधर्म १, ईशान २, यह दो देवलोक बराबर बराबर हैं । तिनके ऊपर असंख्य योजन के अंतरे सनत्कुमार ३, माहेंद्र ४, यह दो देवलोक हैं । इसी तरह असंख्य २ योजन के अंतरे अगले ऊपरले स्वर्ग हैं, तिनके नाम—ब्रह्म ५, लंतक ६, शुक्र ७, सहस्रार ८, आनत ९, प्राणत १०, अरुण ११, अच्युत १२, इनके आगे नव प्रैवेयक देवलोक तिनके नाम—भद्र १, सुभद्र २, सुजात ३, सोमनस ४, प्रियदर्शन ५, सुदर्शन ६, अमोघ ७, सुप्रबुद्ध ८ यशोधर ९, इनके ऊपर पांच अनुत्तर विमान बराबर हैं, तिनके नाम—पूर्व दिशा में विजय १, दक्षिण में वैजयंत २, पश्चिम में जयत ३, और उत्तर में अपराजित ४, ये चारों दिशा में हैं, और इनके मध्य में सर्वार्थसिद्ध ५, यह छब्बीस २६ स्वर्ग वैमानिक देवताओं के हैं । इन सर्व देवताओं के भुवन, नगर, विमानादिकों का स्वरूप, लंबाई, चौड़ाई और यह सर्व आकाश में किस तरह खड़े हैं, और तिन में रहने वाले देवताओं को कैसे सुख है, तथा तिनकी आयु, अवगाहना, इत्यादिकों का विस्तार सहित वर्णन प्रज्ञापनासूत्र, संग्रहणी सूत्रादिकों में है ॥

सर्वार्थसिद्ध विमान से ऊपर तेरह १३ योजन के अंतरे लोकांत है । तिस लोकांत आकाश को जैन मत में सिद्ध क्षेत्र कहते हैं । तिस आकाश क्षेत्र में मुक्तात्मा रहते हैं । तिनके ऊपर अलोक है, अलोक उसको कहते हैं, जो निःकेवल आकाशमात्र है । तिसमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, और आकाश ये पांचों द्रव्य नहीं हैं । इसलोक के चारों तल ऊपर नीचे जो निःकेवल आकाश है, तिसको अलोक कहते हैं, सो अलोक अनंत है । इसे जड़ चैतन्य की गति न हुई, न होवेगी । चारों जाति के देवताओं में जैसे जैसे शुभकर्म जो करते हैं, तिनकी प्रेरणा से तैसी तैसी देवगति उत्पन्न होते हैं, यह दोनों लोकालोक किसी ने भी रचे नहीं हैं, किंतु अनादि अनंत सिद्ध हैं । इति देवगति ।

जैनमत में आठ कर्म मानते हैं, तिनके मान ज्ञानावर्णीय १, दर्शनावर्णीय २, वेदनीय, मोहनीय ४, आयुः ५, नाम ६ गोत्र ७, अंतराय ८ । इन सर्व कर्मों के मध्यम १४८ एक सौ अडतालीस भेद हैं । इन कर्मों का विस्तार सहित वर्णन षट् कर्मग्रंथ, पंचसंग्रह, कर्मप्रकृति, प्रज्ञापनादि सूत्रों में है ॥

कर्म उसको कहते हैं, जिनके प्रभाव से सर्व संसारी जीव देहधारण करके अनेक प्रकार की सुख दुःखादि अवस्था भोग रहे हैं । और यह कर्म स्वरूप में जड़ है । जीवों के शुभाशुभ काम करने से अनंतानंत परमाणुओं के अनंत स्कंध आत्मा के साथ संबंध वाले होते हैं, तिसको कर्म कहते हैं । जैसे तैल चोपड़े हुए शरीर के ऊपर सूक्ष्म रज जम जाती है, ऐसे ही पूर्व कृत कर्मोदय से जीव में क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेषादि चिकणत्वता से जड़का संबंध आत्मा को होता है । जब वह कर्म उदय होते हैं, तब तिन के सबब से जीव एक सौ बाईस तरह के दुःख सुख भोगते हैं । इत्यादि अनेक तरह का कर्म स्वरूप जैनमत में मानते हैं ॥

अथ जैनमत का सामान्य से मंत-व्यामंतव्य लिखते हैं ।

१-अरिहंत और सिद्ध इन दोनों पदों को परमेश्वर पद मानते हैं ॥

२-एक ईश्वर है, ऐसे एकान्त नहीं मानते हैं ॥

३-ईश्वर को सर्व व्यापक नहीं मानते हैं, परंतु ईश्वर पद की ज्ञायक शक्ति को सर्व व्यापक मानते हैं ॥

४-ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता नहीं मानते हैं ॥

५-संसार को प्रवाह से अनादि मानते हैं ॥

६-ईश्वर को जगत् का नियंता नहीं मानते हैं ॥

७-जगत् का नियंता जड़ चैतन्य की काल, स्वभाव, नियति, कर्म, और पुरुषार्थ रूप अनादि शक्तियों को मानते हैं ॥

८-ईश्वर जीवों के शुभाशुभ कर्म फल का दाता नहीं, पर ईश्वर पद को साक्षी ज्ञातृ रूप से मानते हैं ॥

९-ईश्वर जो चाहे, सो कर सकता है, ऐसा नहीं मानते हैं ॥

१०-ईश्वर को जीवन मोक्ष अवस्था में अर्थात् त्रयोदशम गुण स्थान में धर्मोपदेश का दाता मानते हैं परंतु विदेह मोक्ष हुए पीछे नहीं ॥

११-ईश्वर का जगत् में अवतार होना नहीं मानते हैं ॥

१२-मोक्ष पद को अनादि अनंत मानते हैं ॥

१३-मोक्षपद में अनंत आत्मा मानते हैं ॥

१४-मोक्षपद आत्मित्वजाति करके एक ही मानते हैं ॥

१५-मोक्षात्मा सर्व परस्पर जहां एकात्मा है, तहां अनंत आत्मा हैं । दीपकों के प्रकाश की तरह स्थानांतर की जरूरत नहीं ॥

१६-जगद्वासी जीव और मोक्षात्मा दोनों स्वरूप में एक समान हैं, परं बंधाबंध से भेद है ॥

१७-जगद्वासी आत्मा शरीर मात्र व्यापक है, सर्व व्यापक नहीं ॥

१८-जगद्वासी आत्मा अपने करे शुभाशुभ कर्मों से अनेक तरह की योनियों में उत्पन्न होता है ॥

१९-जगद्वासी आत्मा अपने २ निमित्तों से कर्म फल भोक्ता है, अन्य कोई फलदाता नहीं ॥

२०-जगत् में जड़ चैतन्य द्रव्य अनादि हैं; किसी के रचे हुए नहीं हैं ॥

२१-जगत् में जीव अनंतानंत हैं इससे मोक्ष जाने से जीव रहित कदापि संसार नहीं होता है ॥

२२-जीव के स्वरूप, और ईश्वर के स्वरूप में एक सदृशता है ॥

२३-कर्मों के संबंध से जीव समल है, और कर्म रहित होने से ईश्वर निर्मल है ॥

२४-अठारह दूषणों से रहित होवे, तिसको देव, अर्थात् परमेश्वर मानते हैं ॥

२५-पंचमहाव्रतधारी, सम्यक्त्व ज्ञान सहित शुद्ध प्ररूपक को गुरु मानते हैं ॥

२६-पूर्वोक्त अठारह दूषण रहित देवने जो मुक्ति का मार्ग कहा है, तिसको धर्म मानते हैं ॥

२७-द्रव्य छै ६ मानते हैं ॥

२८-तत्व ९ मानते हैं ॥

२९-कायाषट् ६ मानते हैं ॥

३०-गति चार ४ मानते हैं ॥

३१-जीव, और अजीव दो राशी, अर्थात् इस जगत् में चैतन्य, और जड़, यह दो ही वस्तु हैं ॥

पूर्वोक्त जो सामान्य प्रकार से लेख लिखा है, इसका सम्यक् स्वरूप ४ चार निक्षेप, ७ सप्तनय, २ दो प्रमाण स्याद्वादसप्तभंगी की रीति से जाने, तिसको श्रुतधर्म कहते हैं, इस श्रुतधर्म के स्वरूप कथन करने वास्ते ही द्वादशांग गणिपिडग श्रुतज्ञान है। इस पूर्वोक्त कथन को जो सम्यक् प्रकारे श्रद्धे, तिसका नाम सम्यग् दर्शन है। यह दोनों ही (द्वादशांगगणिपिडग श्रुतज्ञान, और सम्यग्दर्शन) श्रुतधर्म में गिने जाते हैं। यह संक्षेप से श्रुत धर्म का स्वरूप कथन किया। तथा अरिहंत परमेश्वर की जो त्रिकाल विधि से पूजा करनी, तीर्थ की प्रभावना करनी, वात्सल्यता करनी, इत्यादिक सर्व सम्यक्त्व की करणी है ॥

अथ दूसरा चारित्रधर्म, सो तीर्थकरों ने दो प्रकार का कथन किया है। एकसाधु धर्म १, और दूसरा गृहस्थ धर्म २। तिनमें साधुधर्म सत्रह १७ भेदे संयम-५ पांचमहाव्रत (प्राणातिपातविरमण १, मृषावादविरमण २, अदत्तादान विरमण ३, मैथुन विरमण ४, और परिग्रह विरमण ५) क्रोध १, मान २, माया ३, लोभ ४, इनका त्याग। पांच इंद्रियों के विषय से निवृत्ति ५। मनदंड १, वचन दंड २, कायादंड ३, इन तीनों का त्याग। एक सर्व सत्रह १७ भेद संयम के पाले तथा क्षमा १, मार्दव २, आर्जय ३, निर्लोभता ४, लाघव अकिंचनता ५, सत्य ६, संयम ७, तप ८, शौच ९, और ब्रह्मचर्य १० यह दस प्रकार का यति धर्म पाले। ४२ बैतालीश दूषण रहित भिक्षा लेवे। रात्रि को चारों आहार (अन्न, पाणी, खादम स्वादम) न करे। वासी न रखे। बिना कारण एक ग्राम नगर में सदा न रहे। किसी मकान का वा चेला, चेली, श्रावक, श्राविका का ममत्व न रखे। किसी प्रकार की बिना कारण असवारी न करे। पक्षी की तरह अपने धर्मोपकरण लेके नंगे पगों से ग्राम नगरों में विहार करके जगज्जन चारों वर्णों को धर्मोपदेश करे। धर्म सुनने वालों के पास से किसी प्रकार की चढ़त न लेवे। भिक्षा भी थोड़ी थोड़ी बहुत घरों से लेवे। भिक्षा ऐसी लेवे, जिससे भिक्षा देने वाले को किसी प्रकार की पीड़ा न होवे। चातुर्मास में लकड़ी के पाट ऊपर, और शेष आठ मास में भूमि के ऊपर शयन करे। जो कोई शत्रुता करे, तिसका भी कल्याण चाहे। इत्यादि अनेक शुभ गुणों करके संयुक्त जो पुरुष होवे, तिस पुरुष को जैनमत में साधु मानते हैं। और तिसका जो कर्तव्य होवे तिसको साधु का धर्म कहते हैं। यह साधु धर्म का संक्षेप से कथन है।

अब दूसरा गृहस्थ का धर्म संक्षेप से कथन करते हैं ॥

गृहस्थ धर्म दो प्रकार का है। अविरतिसम्यग् दृष्टि १, और देशविरति २ ॥ अविरति

सम्यग् दृष्टि उसको कहते हैं, जो कोई प्रकार की भी विरति (त्याग) नहीं कर सकता है। निःकेवल त्रिकाल अरिहंत की पूजा करता है, और आठ प्रकार के दर्शनाचार को निरतिचार पालता है। वह आचार यह हैं। जिनवचन में शंका न करे १ जिनमत के सिवाय अन्य किसी मत की वांछा न करे २, जिनमत की करणी के फल में शंका न करे ३, किसी पाखंडी आदि के मंत्र, यंत्र, तंत्रादिक का चमत्कार, ऋद्धिसत्कार, सन्मान, पूजा भक्ति, इत्यादि देख के मूढ़, दृष्टि अर्थात् जैनधर्मोपरि मन में अनादर लाना, सो नहीं लावे ४, गुणवंत के गुणों की महिमा, स्तुति करके वृद्धि करे ५, जो कोई धर्म से गिरता होवे, तिस को हरेक उपाय से जिनधर्म में स्थिर करे ६, जो अपना सधर्मी होवे, चाहे किसी जाति का होवे, तिसकी अपने प्रियकुटुम्ब से भी अधिक अशन, वसन, पुष्प, तंबोल, धन, दानादि करके भक्ति करे, तिनका नाम वात्सल्य कहते हैं। सो सधर्मों की वात्सल्यता करे ७, तीर्थयात्रा, रथ यात्रादि महोत्सव करे, जिससे अरिहंत सदाचार आदरे, धर्मोपदेश करे, जिससे अरिहंत भाषित धर्म की प्रभावना हो। (जिसके करने से जगत् में धर्म की दीपना, वृद्धि होवे, उसका नाम प्रभावना है) ८। यह आठों आचार यथाशक्ति पाले। यह अविरति सम्यग्दृष्टि श्रावक का धर्म संक्षेप से जानना ॥

देशविरति श्रावक का धर्म तीन प्रकार का है। जो कर्तव्य अविरति सम्यग् दृष्टि का ऊपर लिख आये हैं, सो कर्तव्य तीनों प्रकार के देश विरतियों का भी है, और जो विशेष है, सो लिखते हैं। जघन्य १, मध्यम २, और उत्कृष्ट ३ ॥

तिन में जघन्य श्रावक के लक्षण लिखते हैं। जो जान के स्थल जीव की हिंसा न करे, मध (शराब) मांसादि अभक्ष्य वस्तुओं का त्याग करे नमस्कार महामंत्र को धारणा करे, और नमस्कार सहित प्रत्याख्यान करे, सो जघन्य श्रावक जानना १, जो धर्म योग्य गुणों करी व्याप्त होवे, षट्कर्म, और षडावश्यक सदा करे और बारह व्रत धारण करे, ऐसे सदाचार वाले गृहस्थ को मध्यम श्रावक जानना २, जो सचित्त आहार को वरजे, दिन में एक बार भोजन करे, और ब्रह्मचर्य को पाले, सो गृहस्थ उत्कृष्ट श्रावक जानना ॥३ ॥

मध्यम श्रावक का स्वरूप किंचित् विस्तार से लिखते हैं।

प्रथम धर्म की योग्यता के एक बीस (२१) गुण होने चाहिये, सो लिखते हैं। गंभीर होवे १। रूपवान्, संपूर्णांगोपांग सुंदर पंचेंद्रिय पूर्ण होवे २। प्रकृति सौम्य, स्वभाव से सौम्याकार वाला होवे ३। लोकप्रिय, यह लोक परलोक विरुद्ध काम न करे और दान शीलादि गुणों करके संयुक्त होवे ४। अक्रूर, अक्लिष्ट अध्यवसाय मन का मलीन न होवे ५। भीरु, यह लोक

परलोक के अपाय दुःखों से डरता हुआ निःशंक अधर्म में न प्रवर्ते ६ । अशठ, निश्चयाचारनिष्ठ किसी के साथ ठगी न करे ७ । सदाक्षिण्य, अपना काम छोड़के भी पर काम कर देवे ८ । लज्जालु, अकार्य करने की बात सुन के लज्जावान् होता है; और अपना अंगीकारकरा हुआ धर्म सदनुष्ठान कदापि नहीं त्याग सकता है ९ । दयालु, दयवान्, दुःखी जंतुओं की रक्षा करने का अभिलाषुक होता है, क्योंकि धर्म का मूल ही दया है १० । मध्यस्थ, राग द्वेष विमुक्तबुद्धि पक्षपात रहित ११, सौम्यदृष्टि, किसी को भी उद्वेग करने वाला न होवे १२ । गुणरागी, गुणों का पक्षपात करे १३, सत्कथा, सपक्ष युक्त सत्कथा सदाचार धारणे से शोभनिक प्रवृत्ति के कथन करने वाले जिस के सहायक कुटुम्बीजन हों, अर्थात् धर्म करते को परिवार के लोक निषेध न करें १४ । सुदीर्घ दर्शी, अच्छी तरह विचार के परिणाम में जिससे अच्छा काम होवे, सो कार्य करे १५ । विशेषज्ञ, सार असार वस्तु के स्वरूप को जाने १६ । वृद्धानुग, परिणत मतिज्ञान वृद्ध सदाचारी पुरुषों के अनुसार चले १७ । विनीत, गुरुजन का गौरव करे १८ । कृतज्ञ, थोड़ा सा भी उपकार इस लोक परलोक संबंधी किसी पुरुष ने करा होवे, तो तिसके उपकार को भूले नहीं, अर्थात् कृतघ्न न होवे १९ । परहितार्थकारी, अन्यो के उभयलोक हितकारी कार्य करे २० । लब्धलक्ष, जो कुछ सीखे, श्रवण करे, तिसके परमार्थ को तत्काल समझे २१ ॥

तथा षट्कर्म नित्य करे । वह यह है :—देव पूजा १ । गुरु उपास्ति २ । स्वाध्याय ३ । संयम ४ । तप ५ । दान ६ । तथा षडावश्यक करे, तिनके नाम । सामायिक १ । चतुर्विंशतिस्तव २ । वंदनक ३ । प्रतिक्रमण ४ । कायोत्सर्ग ५ । और प्रत्याख्यान ६ । तथा बारह व्रत धारण करे, तिन का स्वरूप नीचे लिखते हैं ॥

संकल्प करके निरपराधी त्रस जीव की हिंसा का त्याग । यह प्रथम स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत ॥१॥

द्विपद १, चतुष्पद २, अपद अर्थात् भूमि आदि स्थावर वस्तु संबंधी ३, इन की बाबत मृषा (झूठ) बोलने का त्याग । कोई पुरुष मातबर जानके अपनी धन आदि वस्तु रख जावे, जब वह मांगे, तब ऐसा नहीं कहना कि तू मेरे पास अमुक वस्तु नहीं रख गया है । ऐसा झूठ नहीं बोले ४, कूड़ीसाक्षी अर्थात् झूठी गवाही न देवे ५ । यह पांच प्रकार का झूठ न बोले । यह दूसरा स्थूल मृषावाद विरमण व्रत ॥२॥

सचित्त द्विपद चतुष्पदादि १; अचित्त सुवर्ण रुप्यादि २; मिश्र अलंकृत स्त्री आदि ३; तिस विषयक चोरी का त्याग । तथा कोई धन आदि स्थापन कर गया होवे अथवा किसी का दबा हुआ धन वा किसी का पड़ा हुआ धन; इनको ग्रहण न करे । यह तीसरा स्थूल अदत्तादान विरमण

व्रत ॥३ ॥

जो स्त्री पर विवाहिता अथवा संगृहीता होवे तिर्यचणी, और देवी, तथा वेश्या; इनके साथ मैथुन सेवने का त्याग करे; और स्वदारा संतोष अंगीकार करे । यह चौथा स्वदारासंतोष परस्त्री विरमण व्रत ॥४ ॥

परिग्रह धन धान्यादि नव प्रकार का, तिस का स्व इच्छा प्रमाण से अधिक रखने का त्याग करे । यह पांचमा परिग्रहपरिमाण व्रत ॥५ ॥

षट्ही दिशा में धर्म कार्य वर्जके शेष अपने व्यापारादि वास्ते अमुक अमुक दिशा में इतने इतने योजन उपरांत नहीं जाना, ऐसा नियम अंगीकार करना । यह छट्ठा दिशा परिमाण व्रत ६ मांस, मदिरा, रात्रि भोजनादि बाईस २२ अभक्ष्य भक्षण का त्याग करे, और पंदरह प्रकार के वाणिज्य का त्याग करे, वा परिमाण करे । पंदरह वाणिज्य के नामः—अंगारकर्म १, वनकर्म २, शकटकर्म ३, भाटककर्म ४, स्फोटक कर्म ५, दंतवाणिज्य ६, लाक्षावाणिज्य ७, रस वाणिज्य ८, केशवाणिज्य ९, विषवाणिज्य १०, यंत्रपीडा ११, निर्लाछनकर्म १२, दवदान १३, सरोवरद्रहादिशोष १४, और असतीपोष १५ इनका विस्तार जैनमत के शास्त्रों से जानना यह सप्तम भोगोपभोग व्रत ॥७ ॥

अपध्यान करना १, पापोपदेश करना २, हिंसाकारक वस्तु देनी ३, और प्रमादाचरण ४, यह चार प्रकार का अनर्थ दंड त्याग करे, यह अष्टम अनर्थदंड विरमण व्रत ॥८ ॥

सर्व संसार के धंधे छोड़ के जघन्य से जघन्य दो घड़ी तक सावद्य योग का त्याग करके धर्मध्यान में प्रवृत्त होवे । यह नवमा सामायिक व्रत ॥९ ॥

पूर्वोक्त सर्व व्रतों का जो संक्षेप करना, सो दशमा दिशावकाशिक व्रत ॥१० ॥

चारों आहार का अथवा पाणी वर्जके तीनों आहार का त्याग करके आठ पहर पर्यंत पौषध की क्रिया करे और धर्मध्यान ध्यावे । यह ग्यारहवां पौषधोपवास व्रत ॥११ ॥

न्यायोपार्जित धन से जो अन्न अपने खाने वास्ते त्यार हुआ होवे, तिसमें से निर्दोष भिक्षा साधु को देवे । और अंधे, लूले, लंगड़े, आदि जो मांगने को आवें, तिनको अपनी शक्ति के अनुसार अनुकंपादान देवे । यह अतिथि संविभाग नामा बारहवां व्रत १२ ॥ इन बारह व्रतों का स्वरूप विस्तार सहित श्राद्धप्रज्ञप्ति, आवश्यक सूत्रादि शास्त्रों में है ।

गृहस्थ धर्मी श्रावक के अहो रात्रि के जो कृत्य हैं, सो अब संक्षेप से लिखते हैं ।

रात्रि का आठमा विभाग अर्थात् चार घड़ी जब शेष रात्रि रहे, तब निद्रा छोड़े और मन में सात आठ वार पंचपरमेष्ठी नमस्कार को स्मरण करे। पीछे मैं कौन हूँ, मेरी क्या अवस्था है मेरा क्या कुल है, मेरे में मूलगुण कौन कौन से कितने और कैसे हैं, उत्तरगुण कौन कौन से हैं, किस वस्तु का मेरे नियम अभिग्रह विशेष है, तथा मेरे पास धन के होने से जिन भवन १, जिनबिंब २, तिसकी प्रतिष्ठा ३, पुस्तक लेखन ४, चतुर्विधसंघभक्ति ८, शत्रुंजयादि तीर्थयात्रा ९, इन नव क्षेत्रों में से मैंने किस क्षेत्र को स्पर्शा है, किसको नहीं स्पर्शा, जो क्षेत्र नहीं स्पर्शन किया अर्थात् आराधन नहीं किया, तिसको आराधन करूँ, और दशवैकालिकादि जो शास्त्र गुरु मुख से नहीं श्रवण किया, तिसके श्रवण करने में प्रयत्न करूँ; तथा श्रावक सर्वदा संसारादि विरक्त हुआ दीक्षा लेने का ध्यान कदापि नहीं छोड़ता है, तो भी तिस अवसर में दीक्षा लेने का मनोर्थ करे ऐसे निशा शेष में जाग के चिंतवन, करे ॥

श्रावक जघन्य से जघन्य सूर्योदय से दो घड़ी पर्यंत नमस्कार सहित प्रत्याख्यान करे। तिस पीछे जब सूर्य का अर्द्ध बिंब दीखे, तब निर्मल मनोहर वस्त्र पहिर के घर देहरा में जिनराज की पूजा करे, पीछे महोत्सवपूर्वक बड़े मंदिर में जाकर पूजा करे। पूजा की विधि जैनशास्त्रों से जानना, देवपूजा करके पीछे नगर में गुरु होवें, तो तिन को विनयपूर्वक वंदना करे। पीछे गुरु से व्याख्यान सुने। पीछे बाल, वृद्ध, रोगी आदि साधुओं के खान, पान, औषध, पथ्यादि देने में यत्न करे। पीछे न्याय और नीति पूर्वक व्यापार करके धन उपार्जन करे। तिस धन से जो शुद्ध भोजन बना होवे, तिसके नैवेद्य से जिनराज की मध्यान्ह संबंधी पूजा करे। पीछे मुनि आवें, तो तिनको दान देवे। पीछे वृद्ध, रोगी, अतिथि, चौपायादिकी सार संभार अन्न, औषध, पथ्य, चारा पाणी आदि की चिंता करके लौल्यता रहित योग्य भोजन करे, अर्थात् सूतक पातकादि लोकविरुद्ध, और संसक्त अनंतकायिकादि आगमविरुद्ध, मांस मदिरादि उभयलोक विरुद्ध भोजन न करे। तथा लौल्यतासे अपनी पाचनशक्ति से अधिक भोजन न करे। पीछे धर्मशास्त्र का परमार्थ चिंतन करे। अथवा योग्य वाणिज्य करके अपराह्न दिन व्यतीत करके सूर्यास्त से पहिले फिर जिनपूजा करे। तथा दिन में दो बार भोजन करना होवे, तो चारघड़ी दिन शेष रहे भोजन कर लेवे।।

त्रिकाल पूजा की विधि ऐसे है। सवेरे वास सुगंधी चंदनादि द्रव्यों से पूजा करे, मध्यान्ह में फूल नैवेद्यादिसे करे, और संध्या को धूप दीप, आरात्रिकादिसे पूजा करे इति दिन कृत्य कथन ॥

अब रात्रिकृत्य किंचिन्मात्र लिखते हैं।

षडावश्यक करे, और योग्य काल में निद्रालेवे प्रायः अब्रह्मचर्य का वर्जक होवे । सोता हुआ पंचपरमेष्ठी नमस्कार स्मरण करके सोवे । सर्वथा ब्रह्मचर्य पालने समर्थ न होवे, तो ऋतु काल में संतानार्थ, अथवा वेद विकार शमनार्थ निज स्त्री से औदासीन्यता से विकार शमन करे; पर अत्यंत विषय में रक्त होकर भोग विलास न करे । यह संक्षेप से गृहस्थ श्रावक धर्मों का रात्रिकृत्य जानना । यह सर्व संक्षेप से गृहस्थ धर्म का वर्णन है ॥



विनय के प्रकार

□ आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि

जैन धर्म गुणों का पूजक है। गुणों की पूजा उसका मुद्रालेख है। इस दृष्टि से जो गुण मानव-जीवन का निर्माण करने में, आत्मा की शुद्धि करने में और जीवन को उन्नत करने में सहायक हों, उनके प्रति झुकाव और श्रद्धा तथा उनका बहुमान और गुणगान करना, उनकी आशातना न करना और इस रूप में विनय करना आवश्यक हो जाता है। साथ ही गुणों से समृद्ध हों, उनका भी विनय करना आवश्यक है। क्योंकि गुणी का विनय करना भी उस गुण का ही विनय है। गुणी का विनय करने से उन गुणों को प्रोत्साहन मिलता है। जनता उन गुणों को जीवन में अपनाने के लिए प्रेरित होती है। इसी तरह प्रकारान्तर से गुणी की सेवा, पूजा, भक्ति, उनके धर्म-प्रसार के कार्यों में सहयोगदान आदि सब बातें गुणपूजा में ही समाविष्ट होती हैं। इसीलिए उत्तररामचरित में सीता के प्रति अरुन्धती ने ये उद्गार निकाले—

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ।

अर्थात्—गुणियों में गुण ही पूजा के कारण है, न तो लिङ्ग(वेष) ही पूजा का कारण है और न उम्र ।

जैसे धर्म धर्मी में रहता है, उसी प्रकार गुण गुणी में रहते हैं। तब फिर हम गुणों का तो विनय करें, लेकिन गुणों के धाम (निवास-स्थान) का विनय न करें; यह कहां तक उचित है ?

कई लोग यह कहा करते हैं कि गुणोपुरुषों में कई दोष भी होते हैं। अतः जब हम गुणी का विनय करने जाते हैं तो उनके गुणों के समर्थन के साथ-साथ दोषों का भी समर्थन हो जाता है, किन्तु यह तर्क असंगत है। किसी नगर के बाग-बगीचे, सुन्दर इमारतें, विद्यालय तथा

उद्योग-मंदिरों को देख कर कोई उस नगर की प्रशंसा करता है तो उससे नगर में रही हुई गंदे पानी की गटरों का समर्थन नहीं हो जाता। किसी भी चीज के समर्थन का आधार उसके समर्थक की भावना पर निर्भर है। अगर उसकी भावना किसी गुणी पुरुष के गुणों को देख कर उन गुणों का ही समर्थन करने की है तो उसमें निहित दोषों का समर्थन नहीं हो जायेगा। अपितु जिन गुणों की दृष्टि से समर्थन है, उन गुणों का ही समर्थन होगा। जैनधर्म का अनेकान्तवाद सापेक्ष दृष्टि से किसी भी वस्तु में रहे हुए धर्म (सत्य) को ग्रहण करने की बात कहता है। अतः अमुक गुणों की अपेक्षा से ही उस गुण का समर्थन करना सिद्धान्त-सम्मत है। जैसे अरिहन्त के गुणों की अपेक्षा से अरिहन्त का विनय उसका समर्थन है, साधु के गुणों की अपेक्षा से साधु का भी विनय गुण-सापेक्ष है। किसी साधु में कोई दोष होंगे तो भी उस साधु का विनय करने वाले की भावना उन दोषों का समर्थन करने की नहीं है तो फिर दोषों का समर्थन कैसे हो जायगा ?

इसी तरह कई लोग यह भी कहा करते हैं, कि इस झमेले में न पड़ कर हमें निखालिस गुणों का ही विनय करना चाहिए; गुणी का विनय नहीं। परन्तु वे लोग यह भूल जाते हैं कि आप गुण का विनय करेंगे तो किसी न किसी व्यक्ति में रहे हुए गुणों का ही करेंगे या केवल उस गुण का केवल नाम लिख कर करने लगेंगे ? गुण जब भी रहता है, तब वह किसी न किसी व्यक्ति में ही रहता है; अकेला नहीं। क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र के “द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः” इस सूत्र के अनुसार गुण अपने आप में स्वयं निर्गुण—निराकार होते हैं; परन्तु वे किसी न किसी द्रव्य का आश्रय लिए हुए होते हैं। गुणों की अभिव्यक्ति भी किसी न किसी चेतनाशील प्राणी के द्वारा ही हुआ करती है, उसके बिना अमूर्त गुण को पहचानना भी कठिन है।

इसीलिए गुणपूजक जैनधर्म ने गुण के साथ-साथ गुणीपुरुषों का भी विनय स्पष्टरूप से बताया है। केवल गुणों का विनय करने से या गुणों को ही अपनाने से जब कभी संकट आएगा, भय या प्रलोभन आएँगे, या और कोई विकट समस्या आएगी तब उक्त गुणों (जिनका वह विनय कर रहा है) पर टिके रहने की प्रेरणा या प्रोत्साहन कैसे मिलेगा ? वह तो गुणी-पुरुषों के प्रति विनय करने से ही मिल सकता है। भले ही वे गुणी-पुरुष हमारे सामने वर्तमान समय में हाजिर न हों, परोक्ष हों, फिर भी उनके प्रति श्रद्धापूर्वक किया हुआ विनय हमें उनके गुणों का स्मरण करायेगा और विकट समय में हमें उस गुण पर दृढ़ रहने की प्रेरणा देगा। हमारे द्वारा उक्त गुणीपुरुष का विनय हमें ही नहीं; और लोगों को भी उन गुणों को अपने जीवन में अपनाने की प्रेरणा देगा।

इतना ही नहीं, जैनधर्म ने तो गुणवृद्धि या गुणविकास करने में जो-जो महानिमित्त हैं,

उनका भी विनय करने की बात कही है। देखिए नंदीसूत्र में कहा है—

‘संघं गुणायरं वंदे’

“गुण की खान श्रीसंघ को मैं वन्दन करता हूँ।”

असल में देखा जाय तो गुणी के बिना गुण का कोई महत्त्व नहीं। दोनों का अविनाभाव-सम्बन्ध है। मिश्री में रही हुई मिठास अलग कर देने से कोई उसे मिश्री नहीं कहेगा। इसी प्रकार अग्नि में से उष्णता का गुण निकाल दिया जाय तो अग्नि का अस्तित्व ही खत्म हो जायगा। इसी प्रकार गुणी में से भी गुण निकाल दिया जाय तो कोई उसे गुणी नहीं कहेगा। गुण यदि गुणी से अलग पड़ा रहेगा या उसका नाम किताब में लिखा होगा तो कोई उसका विनय नहीं करेगा; क्योंकि वह गुण केवल नाम का है, उसमें उस गुण की गुणत्व-शक्ति नहीं है। उस गुण की गुणत्व-शक्ति गुणी व्यक्ति के साथ संसर्ग होने से ही प्रगट होगी। मिश्री के साथ रहने से ही मिश्री में मधुरता प्रगट होगी, कागज पर ‘मधुरता’ शब्द लिखा होगा, तो वहाँ मधुरता प्रगट नहीं होगी।

यही कारण है कि जैनधर्म ने गुण और गुणी दोनों के प्रति शुद्ध भावपूर्वक विनय करना तप बतलाया है, धर्म बतलाया है और आचार बतलाया है।

विनय के ५२ प्रकार

आइए, अब जरा यह भी विचार कर लें कि जैन धर्म ने किन-किन मुख्य गुणों और गुणी-जनों या गुणियों के प्रति खासतौर से विनय करना बतलाया है।

यों तो शास्त्रों में विभिन्न प्रकार से भेद-प्रभेद करके विनय का वर्णन किया गया है। कहीं विनय के तीन भेद बताए हैं, कहीं चार, कहीं पांच, कहीं १० और कहीं १३ भेद बताए हैं। इन्हीं तरह भेदों के साथ विनय के चार प्रकारों से गुणा करने पर $१३ \times ४ = ५२$ भेद होते हैं।

यहाँ पहले हम विनय के ५२ भेदों की चर्चा करेंगे। जैनधर्म में मुख्य गुण और मुख्य गुणी दोनों मिला कर विनय के लिए १३ पात्र बताए गए हैं। जिनका विनय किया जाना चाहिये। ये इस प्रकार हैं :—(१) तीर्थंकर, (२) सिद्ध, (३) कुल, (४) गण, (५) संघ, (६) क्रिया, (७) धर्म, (८) ज्ञान (९) ज्ञानी, (१०) आचार्य, (११) उपाध्याय, (१२) स्थविर और (१३) गणी।

उपर्युक्त १३ विनययोग्य पात्रों में से तीर्थंकर, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर और गणी ये ६ गुणी पुरुष हैं; कुल, गण और संघ ये तीन गुणी संस्थाएँ हैं और क्रिया, धर्म एवं ज्ञान ये तीन

गुण हैं। यद्यपि कुल, गण और संघ गुणी संस्थाएँ हैं, तथापि संघ साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इन चारों प्रकार के व्यक्तियों को मिला कर माना जाने से ये भी एक तरह से गुणी व्यक्ति हैं। इसी प्रकार गहराई से देखें तो इन १३ ही का समावेश देव, गुरु और धर्म इन तीनों में हो जाता है। देव में तीर्थकर और सिद्ध दो का, गुरु में आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, गणी, कुल, गण और संघ का, और धर्म में क्रिया, धर्म और ज्ञान का समावेश हो जाता है।

हाँ तो, उपर्युक्त १३ विनययोग्य गुणपात्रों की (१) आशातना न करना, (२) भक्ति करना, (३) इनका बहुमान करना, (४) इनके गुणगान करना, इनके गुणों की प्रशंसा करना, या इन्हें प्रतिष्ठा देना, इन चारों प्रकार से विनय किया जाता है। फलतः १३ बोलों को ४ प्रकार से गुणाकार करने पर विनय के ५२ भेद बनते हैं। अब हम क्रमशः इन पर विवेचन करेंगे :—

तीर्थकर-विनय

जैन धर्म के पंच-परमेष्ठी-मंत्र में सर्वप्रथम तीर्थकरों को नमस्कार किया गया है, जबकि सिद्ध इनसे पद में ऊंचे होते हैं। इसका कारण यह है कि तीर्थकर शरीरधारी होते हैं, इसलिए उनके द्वारा अनेक जीवों को शुद्ध धर्म का लाभ मिलता है, कल्याण के मार्ग की प्राप्ति होती है। इस संसार-सागर से पार उतरने के लिए जीव उनके द्वारा बनाई गई संघरूपी नौका का आश्रय लेता है। उनके द्वारा शुद्धि, निर्वाण, कर्मक्षय और मुक्ति की प्रेरणा मिलती है। अतः आसन्न-उपकारी होने से उनका नाम पहले लिया गया है। जैसे दादा-परदादा पिता से भी अधिक गुणी थे, या वे भी उपकारी थे, लेकिन वर्तमान में उनकी अविद्यमानता में पिता ही निकट-उपकारी हैं, इसलिए उनका नाम ही विशेषकर लिया जाता है।

वे तीर्थकरदेव, देवाधिदेव, साकारदेव, जिनेश्वर, जिन, अरिहन्त, या वीतराग आदि नामों से पुकारे जाते हैं। वैदिक धर्म की भाषा में इन्हें जीवन्मुक्त (सदेह मुक्त) अवतारी, धर्म (तीर्थ) संस्थापक कहा जा सकता है।

ये १८ दोष-रहित, बारह गुण-सहित होते हैं। जितने भी तीर्थकर होते हैं, वे सब ३४ अतिशय, ३५ वाणी के गुण, तथा १२ प्रकार की परिषद् से युक्त होते हैं। आठ कर्मों में से ये ४ घाती-कर्मों—(जिनसे आत्मा के गुणों का सीधा घात होता है, उन ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) का सर्वथा क्षय कर देते हैं, शेष ४ अघातीकर्म (जो शरीर से सम्बन्धित हैं, आत्मगुणों का घात सीधे नहीं करते, वे वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु कर्म) रह जाते हैं। वे भी इस शरीर के अवसान तक ही रहते हैं, इस जन्म के शरीर के अवसान के साथ ही वे शेष चारों कर्म

सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और वे निरञ्जन, निराकार, सिद्ध-बुद्ध बन जाते हैं। उनके बाद वे फिर जन्म-मरण नहीं करते। जैनधर्म गुण का पुजारी होने से इनमें नाम भेद होने से विनय में कोई भेद नहीं करता। आचार्य हेमचन्द्र ने इसी प्रकार की स्तुति की है—

“भववीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य ।
 ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥
 यत्र यत्र समये योऽसि सोऽस्यभिधया यया तथा ।
 वीतदोषकलुषः स चेद् एक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ॥”

अर्थात्—जिनके संसाररूपी बीज (कर्मरूपी) के अंकुर को पैदा करने वाले रागद्वेषादि नष्ट हो जाते हैं, उनका नाम चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, महादेव हो या जिन हो, उन्हें मेरा नमस्कार है। जिस-जिस समय में जो-जो महापुरुष जिस-जिस नाम के हुए हैं, अगर वे राग-द्वेषादि दोषों से रहित हैं तो एक ही है, उस भगवान् को मेरा नमस्कार हो।

इस प्रकार किसी भी नाम के तीर्थकर हों, उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा रखना, उनकी आशातना न करना, उनका बहुमान करना, उनके गुणगान करना तथा उनकी भक्ति करना उनका विनय है।

तीर्थकर सर्वोच्च संसारी हैं। संसार में वे सर्वोच्च शिखर पर हैं। संसार में उनसे बढ़ कर पुण्यात्मा कोई नहीं है। वे साकार परमात्मा हैं। उनके शरीर होने से रूप, रस, गन्ध और स्पर्श भी होते हैं। शरीर होने से शरीर की सभी क्रियाएँ वे करते हैं। फिर भी शरीर के प्रति या संसार की किसी भी वस्तु के प्रति उनकी आसक्ति या मूर्छा नहीं होती। और न किसी के प्रति वे घृणा, द्वेष या वैर ही करते हैं। वे वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं।

कोई यह कह सकता है कि तीर्थकर इस समय इस क्षेत्र में विद्यमान नहीं हैं, तो फिर उनका विनय कैसे किया जायेगा? हम यह पहले कह चुके हैं कि गुणी-पुरुष की चाहे मौजूदगी हो चाहे न हो, विनय तो उनमें रहे हुए गुणों के प्रति है। इसलिए सर्वोच्चगुणी तीर्थकरों की अविद्यमानता में भी उनके गुणों से प्रेरणा लेने के लिए तथा संकट, भय, प्रलोभन आदि के समय भी हम उन गुणों पर स्थिर रह सकें तथा उन गुणों को अपनाने की प्रेरणा या प्रोत्साहन भी दूसरे लोगों को मिल सके, इस दृष्टि से उनके प्रति विनय उपर्युक्त चारों प्रकार से किया जाता है।

तीर्थकर जब विद्यमान होते हैं, तब भी उनके दर्शन करके उनके प्रति विनय करने वाले व्यक्ति उनके गुणों का या आत्मा का तो साक्षात् दर्शन या विनय नहीं कर सकते; क्योंकि गुण और आत्मा दोनों ही अमूर्त हैं, अरूपी हैं। अतः वे उनके वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शयुक्त इस भौतिक देह का ही दर्शन या विनय करते हैं। तीर्थकर भगवान् की आत्मा जिस शरीर को धारण किए हुए

होने से दर्शनार्थी या विनयार्थी उस शरीर का दर्शन या विनय कर सकते थे। और इस प्रकार शरीर का दर्शन करते हुए वे अशरीरी आत्मा की कल्पना करते थे और कहते थे—‘हमें भगवान् का साक्षात् दर्शन हुआ या हमने भगवान् का साक्षात् विनय किया।’

अब जबकि तीर्थंकर भगवान् विद्यमान नहीं हैं और उनका दर्शन या विनय करना गुणवृद्धि एवं गुण-प्रेरणा के लिए जरूरी है, तो एक सम्प्रदाय मूर्ति का अवलम्बन लिए बिना ही अपनी भावना या कल्पना से तीर्थंकर भगवान् का विनय, बहुमान या वन्दनादि करता है, दूसरा सम्प्रदाय उनकी तदाकारमूर्ति स्थापित करके उसका अवलम्बन लेकर अपनी भावना या कल्पना से तीर्थंकर भगवान् का विनय, बहुमान या वन्दनादि करता है। इन दोनों प्रकार की प्रक्रियाओं में कोई खास अन्तर नहीं है।

तीर्थंकर की मूर्ति को देख कर विनय-भक्ति-बहुमान-वन्दनादि करने वाले भी पाषाण की मूर्ति का नहीं, अपितु उस मूर्ति वाले महापुरुष का मूर्ति के माध्यम से स्मरण करके करते हैं। अगर मूर्ति का ही विनय-भक्ति-बहुमान-वन्दनादि करते तो वे तीर्थंकर का गुणगान करने के बदले मूर्ति का गुणगान करते कि “हे मूर्ति ! तुम बहुत चिकनी हो, संगमरमर के पाषाण की बनी हुई हो, तुम ठण्डे स्पर्श वाली हो इत्यादि।” परन्तु ऐसा तो संसार में कोई भी मूर्तिपूजक नहीं कहता होगा। सभी मूर्तिमान (ईष्ट देव) के गुणगान करते हैं कि “हे प्रभो ! आप वीतराग हो ! आप समता की मूर्ति हो ! करुणा के सागर हो ! विश्ववत्सल हो ! धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले हो ! आदि !”

यह जरूर है कि मूर्ति के द्वारा मूर्तिमान प्रभु के गुणों को अपने जीवन में अपनाने तथा कषायों, रागद्वेषों, विषयासक्ति, हिंसादि दुर्गुणों का त्याग करने की और लक्ष्य न देकर जहां केवल भौतिक लालसा, कामना या स्वार्थ की सिद्धि को लेकर विनयादि किया जाता है, मूर्ति के पीछे आडम्बरों या क्रियाकाण्डों के भंवरजाल में ही गोते लगाये जाते हैं, गुणों का लक्ष्य भुला दिया जाता है; या चमत्कार के चक्कर में पड़ा जाता है; वहाँ जरूर उक्त प्रक्रिया में संशोधन-परिवर्द्धन का सोचा जाना चाहिये।

अमूर्तिपूजा में मानने वाले भी तीर्थंकर का शरीर सामने न होते हुए भी शरीर की कल्पना करके उनकी आत्मा का विनय-वन्दनादि द्वारा करते ही हैं। वे भी अगर केवल शरीर से ही विनय-वन्दनादि की क्रिया करके रह जाते हैं, उसके साथ भावों का रस नहीं धोलते; गुणों की प्रेरणा तथा रागद्वेष, कषाय, विषयासक्ति, हिंसा-असत्यादि को छोड़ने की प्रेरणा नहीं लेते; न ही उधर लक्ष्य देते हैं; मात्र क्रिया-काण्डों की अटवी में ही भटकते हैं, तो उनके लिए भी अपनी प्रक्रिया में संशोधन-परिवर्द्धन करना जरूरी है। ताकि साधना में सरसता आए, शुष्कता हटे।

मूर्तिपूजा में मानने वाले तदाकार-मूर्ति का आधार लेकर उस मूर्ति द्वारा प्रभु का स्मरण करते हैं। जैसी आकृति वाली मूर्ति होती है, उसे देख कर प्रायः उसी मूर्तिमान की याद आती है। मान लीजिए, आपके सामने किसी ने मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम, भ. कृष्ण, भ. बुद्ध या भ. महावीर आदि की ४-५ मूर्तियाँ लाकर रख दीं। आप मूर्ति की आकृति देख कर तुरन्त पहिचान लेते हैं कि यह अमुक की मूर्ति है। शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि-सहित आकृति (मूर्ति) को देखते ही आप कह उठते हैं यह 'विष्णु' की मूर्ति है। मयूरपिच्छ का मुकुट और हाथ में बांसुरी वाली आकृति देखते ही आप को श्रीकृष्ण का स्मरण हो जाता है। धनुष्यबाण देखते ही आप पहचान जाते हैं कि यह मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम की मूर्ति है। पद्मासनस्थ या अर्द्धपद्मासनस्थ ध्यानमुद्रा में लीन मूर्ति या ध्यानावस्था में खड़ी हुई मूर्ति को देख कर अपने संस्कारानुसार आप पहचान जाते हैं कि यह जैन-तीर्थंकर की मूर्ति है। इसी प्रकार जैन-तीर्थंकर-मूर्ति जैसी आकृति हो, लेकिन उस पर वस्त्र या यज्ञोपवीत चिह्न खुदा हो तो जिसे मालूम होता है, वह झटपट कह देता है कि यह बुद्धभगवान् की मूर्ति है। इस प्रकार उस-उस आकृति वाली मूर्ति को देख कर उस-उस मूर्तिमान का स्मरण किया जा सकता है।

अतः तीर्थंकर-विनय वास्तव में तो तभी सिद्ध होगा जब हम तीर्थंकर के द्वारा चलाए गए धर्म को जीवन में उतारेगे; गुणों को अपनाएंगे और संकटादि के समय भी अपने धर्म पर डटे रहेंगे।

सिद्ध-विनय

गत चौबीसी में जितने भी तीर्थंकर थे, वे भी सिद्ध हो गए और दूसरे भी सामान्य केवली या वीतराग-पुरुष अपने अन्तिम देह और आठों कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध होते हैं। वे पूर्णमुक्त (विदेहमुक्त, अशरीरी) हो जाते हैं। ऐसे मुक्त पुरुष केवल जैनधर्म-संघ द्वारा ही होते हों, ऐसी बात नहीं है। जैनधर्म गुणपूजक होने से वह किसी भी धर्म संघ, देश, वेष, लिंग, जाति, या किसी भी प्रकार से, किसी से भी बोध-प्राप्त साधक-साधिका को मुक्ति का अधिकारी मानता है। तीर्थ-अतीर्थ आदि १५ प्रकारों में से किसी भी प्रकार से सिद्ध यानी निरंजन-निराकार, परमात्मा हो जाने के बाद वह उनमें कोई भेद नहीं करता। क्योंकि वहाँ तो नाम, रूप, देह, मोह-माया, कर्म-काया सब छूट जाते हैं। केवल शुद्ध आत्मा ज्योति में ज्योतिस्वरूप हो कर रहती है। ऐसे निरंजन-निराकार सिद्ध हो जाने पर वे पुनः संसार में नहीं आते। जैसे जैन-साधनाओं में उनकी स्तुति के समय कहा जाता है—

“सिवमयलमरुवमणंतक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्तिसिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं ।”

“कल्याणकार, अचल, अरूप, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, और अपुनरावृत्ति (जहाँ जाने के बाद पुनः लौटना नहीं होता) सिद्धि गति नामक स्थान को प्राप्त ।”

भगवद्गीता में भी यही बात कही है—

“यद् गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम ।”

यानी—जहाँ पहुंच कर कोई लौटते नहीं, वही परमधाम मेरा है । यहाँ से पहले या पीछे किसी भी प्रकार से कर्मक्षय करके सिद्ध या मुक्त होने के बाद, वहाँ (सिद्धिगति में) कोई फरक नहीं होता । सिद्ध होने से पूर्व की अवस्थाओं को लेकर उपचार से यहाँ की अपेक्षा ही सिद्धों के १५ प्रकार किये हैं । वहाँ सभी सिद्ध एक समान हैं । जहाँ एक सिद्ध है, वहीं अनन्त सिद्ध हैं ।

सिद्ध भगवान् के मूल ८ गुण हैं—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र, अनन्तबलवीर्य, अव्याबाध सुख, अटल अवगाहना, अमूर्तिक, अगुरुलघु । वैसे तो प्रत्येक आत्मा के अनन्त गुण हैं । पर ये ८ गुण सिद्धों में विशेष प्रकार से होते हैं ।

सिद्ध भगवान् का विनय करने के लिए तो भावना ही उपयोगी माध्यम हो सकता है । इसके अलावा स्तुति, बहुमान, पूर्ण श्रद्धा, भक्ति, गुण-गान, अनाशातना आदि कई प्रकार से विनय किया जा सकता है । और वास्तव में यहाँ भी ‘सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु’ या ‘आरुगबोहि-लाभं समाहिवरमुत्तमं दितु’ आदि प्रार्थनाएं भक्ति की भाषा में हैं । इनका आशय इतना ही है कि “मैं सिद्धि (मुक्ति) के लिए प्रबल पुरुषार्थ करूँ, या स्वस्थ-बोधिलाभ या उत्तम समाधि के लिए स्वयं प्रयत्न करूँ, उनमें कहीं अड़चन आती हो, मेरी शक्ति कम पड़ती हो, या मैं रागद्वेषादि शत्रुओं से हार खा जाऊँ, वहाँ प्रेरणाबल प्राप्त हो ।” भावना में तो असीम बल है ही । भावों की गति भी देशकाल की दूरी की परवाह नहीं करती । अतः भावों—शुद्ध एवं प्रबल संकल्पों द्वारा आत्मबल प्राप्त करने में सिद्ध भगवान् निमित्त बन सकते हैं, बशर्ते कि विनय और पुरुषार्थ पूरा हो ।

कुल-विनय एवं गण-विनय

साधुओं के समुदाय को गच्छ या गण कहा जाता है, जैसे खरतर-गच्छ, तपोगच्छ आदि । और उन गणों या गच्छों के समूह को कुल कहते हैं; जैसे हमारा और आपका चान्द्रकुल है । मूल में इस गच्छ का नाम कोटिक-गच्छ था । बाद में कालान्तर में इसका नाम तपो-गच्छ प्रचलित हो गया है ।

गण और कुल के प्रति विनय करना गणविनय और कुलविनय है । मतलब यह है कि गण और कुल के गुणीजनों के प्रति विनय करना, उनका बहुमान करना, उनका गुणगान करना,

उनके धर्मकार्यों में सहानुभूति रखना, सहयोग देना, अच्छा कार्य कोई भी साधु-साध्वी कर रहे हों उनकी तौहीन न करना, उनके कार्यों में रुकावट न डालना, हस्तक्षेप न करना, बल्कि श्रद्धापूर्वक चलना। इसका मतलब यह भी नहीं है कि दूसरे गणों और कुलों के प्रति अविनय करना, घृणा, द्वेष, संघर्ष या वैरविरोध करना। क्योंकि ऐसा करना संघ का अविनय करना होगा। संघ व्यापक है, उसमें तो सभी गणों और कुलों का समावेश हो जाता है। आज साम्प्रदायिक व्यामोह के कारण एक-दूसरे सम्प्रदायों में परस्पर संघर्ष, वैर-विरोध, नीचा दिखाने की वृत्ति, कलह आदि राग-द्वेषयुक्त कार्य हो रहे हैं; वीतरागता की वृत्ति के नहीं। यह सारे कार्य संघ एवं तीर्थंकर के प्रति अविनय के द्योतक हैं।

संघ-विनय

साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका चारों मिलकर चतुर्विध संघ कहलाता है। इस चतुर्विध संघ का बहुमान, श्रद्धा-भक्ति, गुणगान, और अनाशातना आदि के रूप में विनय करना संघ-विनय है। संघ में परस्पर विचारभेद या आचारभेद हो तो उसको ले कर संघर्ष, क्लेश, या द्वेष या वैरविरोध पैदा न करना, बल्कि सहिष्णु बन कर परस्पर समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करना। मूर्तिपूजा-अमूर्तिपूजा; मुखवस्त्रिका, दण्डग्रहण-दण्ड का अग्रहण, तिथिचर्चा, सचित्त-अचित्तचर्चा, आदि छोटी-छोटी उत्तरगुण की बातों को लेकर बवण्डर मचाना, द्वेष बढ़ाना और एक दूसरे को मिथ्यात्वी कहना, गाली-गलौज पर उतर आना, परस्पर पर्चेबाजी करना ये सारे कृत्य संघ एवं संघस्थापक (तीर्थंकर) के प्रति अविनय के हैं। भ. महावीर के महापुत्र इस तरह परस्पर लड़ें, और कर्मबन्धन करें, यह संघ का अविनय है।

‘नमो लोए सव्वसाहूणं’ मंत्र में किसी भी एक सम्प्रदाय (दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानक्रवासी या तेरापंथी) गच्छ, कुल अथवा धर्मसंघ के ही नहीं; वरन् साधुत्व की साधना में परायण जगत् के समस्त साधु-साध्वियों को नमस्कार करने का उल्लेख है। यहाँ किसी एक अमुक सम्प्रदाय या धर्मसंघ का भी पक्ष नहीं लिया गया है। क्योंकि यह धर्म वीतराग का है; निष्पक्ष पुरुषों का है। चाहे किसी भी वेष में कोई भी साधु-साध्वी (चाहे मुनि, भिक्षु, ऋषि कहलाते हों), जो सत्य अहिंसादि महाव्रतों की साधना करते हों, वे सब पूजनीय, वन्दनीय और आदरणीय हैं। उत्तरगुणों के पालन में—क्रियाकाण्डों या धर्म साधनों में—अन्तर हो सकता है, सो भले रहे, परन्तु उन्हें गुण को देखना है। क्योंकि कहा है—

‘गुणेहि साहू’

‘गुणों से साधु को मानना चाहिए।’ अगर साधुत्व के गुण हैं, तो उसे वन्द्य और आदरणीय समझ कर विनय करना ही चाहिए। रोटी कैसे पकी है? यह न देख कर; यह रोटी भूख मिटाने वाली है या नहीं? यह देखा जाता है। इसी प्रकार किस साधु या साध्वी की साधना किन क्रियाकाण्डों से, किस वेष में, किस क्षेत्र में या किन धर्म-साधनों को लेकर चल रही है? यह देखने के बजाय उसमें साधुत्व के गुण परिपक्व हो रहे हैं या नहीं? संयम की साधना पक रही है या नहीं? वीतरागता, समता, कषाय-क्षीणता, विषयासक्ति-मन्दता अहिंसा-सत्यादि गुणों की दृढ़ता आदि की मात्रा बढ़ रही है या नहीं? यही देखो। संकीर्ण दृष्टि से और सिर्फ साम्प्रदायिकता की दृष्टि से सोचना और तदनुसार व्यवहार करना गुणीसाधु-साध्वियों के प्रति अन्याय करना है; उनके द्वारा होने वाले सद्भर्मलाभ से वंचित होना है और इस प्रकार उनकी घोर आशातना करके कर्मबन्धन करना है।

गुणी साधुओं की तरह योग्य साध्वियों की भी अगर कद्र नहीं की जाती, उनके प्रति उपेक्षाभाव रखा जाता है, उनके जीवन-विकास का कोई ध्यान नहीं रखा जाता, उनके उचित अधिकारों (व्याख्यान देने, धर्मप्रभावना करने, धर्म-प्रचार करने आदि) का हनन किया जाता है, उनका तिरस्कार किया जाता है तो ऐसा करना साध्वियों की घोर आशातना है।

श्रमण-श्रमणियों के प्रतिक्रमण में ‘श्रमणसूत्र’ में ‘तेत्तीसाए आसायणाए’ (३३ प्रकार का आशातना) से प्रतिक्रमण (दुष्कृत्य से निवृत्त होने) का पाठ आता है। वहाँ जैसे ‘साहूणं आसायणाए’ (साधुओं की आशातना से प्रतिक्रमण) पाठ आता है, वैसे ही ‘साहूणीणं आसायणाए’ (साध्वियों की आशातना से प्रतिक्रमण) पाठ भी आता है। तब फिर क्या कारण है कि साध्वियों के प्रति होने वाले इस आशातनारूप अविनय के प्रति आज जरा भी ध्यान नहीं दिया जाता?

इसी प्रकार इसी पाठ में आगे चल कर ‘सावयाणं आसायणाए’ (श्रावकों की आशातना से प्रतिक्रमण) तथा ‘सावियाणं-आसायणाए’ (श्राविकाओं की आशातना से प्रतिक्रमण) पाठ भी आता है। और यह पाठ प्रतिदिन प्रतिक्रमण के समय बोला जाता है। परन्तु आज श्रावक-श्राविकाओं के द्वारा साधु-साध्वियों को कोई हितकर, युगानुरूप धर्मानुकूल, या संघकल्याणकर बात सप्रेम, सविनय भी कही जाय तो प्रायः ठुकरा दी जाती है, या उपेक्षा की जाती है। कभी-कभी तो किसी साधु या साध्वी में अमुक महाव्रतभंग का दोष हो और किसी श्रावक-श्राविका द्वारा सविनय निवेदन करने पर भी उसे उनके गुरु या गुरुणी द्वारा दबाने या

छिपाने के प्रयत्न होते हैं, हितैषी श्रावक-श्राविका को उल्टी डांट पड़ती है, या समाज में उन्हें बहिष्कृत कराने तक के हथकंडे चलते हैं। यह श्रावक-श्राविका की आशातना नहीं तो क्या है? बल्कि कई बार तो हितैषी श्रावक-श्राविकाओं द्वारा प्रेम से साधु-साध्वियों को सावधान किये जाने पर या तो उन्हें डांटा जाता है कि “क्या तुममें अवगुण नहीं है? पहले तुम ही सुधर जाओ, आदि।”

इस प्रकार के शब्द या दुर्व्यवहार श्रावक-श्राविकावर्ग की अविनय-आशातना के ही लक्षण हैं। इसी प्रकार संघ में किसी श्रावक की परिस्थिति खराब हो, आर्थिक तंगी हो और उसके कारण वह अनीति की राह पर चलने को मजबूर हो रहा हो तो उस समय साधुवर्ग उपेक्षा कर दे, उसके लिए सम्पन्न श्रावकवर्ग को अपना धर्म न समझाए, कमजोर हालत वाले श्रावकों की बात को ठुकरा दे तो सचमुच वहाँ भी आशातना का दोष छिपा है।

मतलब यह है कि साधु-साध्वियों के लिए श्रावक-श्राविका की आशातना करना दोष है, वैसे ही श्रावक-श्राविकाओं द्वारा साधु-साध्वियों की आशातना करना दोष है। बाहर से तो ‘मत्थएण वंदामि’ या ‘इच्छामि खमासमणो वंदिउं’ कह कर साधु-साध्वियों को वन्दन किया जाता हो; लेकिन उपाश्रय की सीढ़ियों से उतरते ही उनकी निन्दा, चुगली, उनके अवर्णवाद, उनके प्रति घृणा फैलाने के कार्य शुरू किये जाते हों तो यह विनय का नाटक घोर कर्मबन्धन का कारण है, सरासर आशातना है, अविनय है। इसी प्रकार साधु साध्वियों द्वारा कही हुई हितकारी, सच्ची बात को श्रावक-श्राविका ठुकरा दें, उनकी तौहीन करने लग जायं, उनके बताए हुए शुद्ध धर्ममार्ग पर न चलें, युगबाह्य विकासघातक कुप्रथाओं, तथा हानिकर रुढ़ियों से साधु-साध्वी निकालना चाहें लेकिन श्रावकवर्ग टस से मस न हो; उल्टे, उनके इस सुधार कार्य में रोड़े अटकाने का प्रयत्न करे तो यह भी साधु-साध्वियों की अविनय-आशातना है।

श्रावक की भी आशातना न करने के रूप में विनय का ज्वलन्त और प्रेरक उदाहरण हमें उपासकदशांगसूत्र के पन्नों पर मिलता है—गणधर गौतमस्वामी और आनन्द श्रमणोपासक का। ये दोनों ही भ. महावीर के संघ की शोभा थे। दोनों की जीवनभूमि पर धर्म साकार होकर उतरा था। दोनों ही भ. महावीर की कृपा के पात्र थे।

वाणिज्यग्राम के बाहर अपनी पौषधशाला में आनन्द श्रावक ने अपने जीवन के सन्ध्याकाल में संलेखनासंधारा किया। इस तपःसाधना के कारण आनन्द का शरीर दुर्बल हो गया था। उठने-बैठने की शक्ति नहीं रही। धर्म-साधना करते-करते आनन्द को अवधिज्ञान हो गया था। गंभीर व्यक्ति सम्पत्ति पा कर कभी छलकता नहीं। आनन्द ने अपनी ऋद्धिसिद्धि का

भी कभी किसी के सामने बखान नहीं किया। योग्य व्यक्ति का संयोग मिलने पर प्रगट करने में कोई हानि भी नहीं, बल्कि कभी-कभी लाभ ही होता है। इधर ज्ञान और तप के संयोग की प्रतिमूर्ति गणधर गौतम छट्ट (बेले) के पारणे के दिन वाणिज्यग्राम नगर में भिक्षार्थ पधारे। भिक्षा लेकर जब लौट रहे थे तो जन-जन के मुख से गौतम ने श्रावक आनन्द की तपस्या-साधना और धर्माराधना का श्रद्धापूर्ण यशोगान सुना तो वे अपनी भावना को रोक न सके। वे स्वयं आनन्द के पास जा पहुंचे। गणधर गौतम को आया जान कर आनन्द के मन में अपार हर्ष लहराने लगा। शरीर तपस्या से कृश हो चुका था, स्वागतसत्कार की भावना होने पर भी वह उठ नहीं सका। क्षीणस्वर में बोला—‘भंते ! उठने की भावना होने पर भी उठ नहीं सकता। सविनय-सभक्ति मेरी वन्दना स्वीकार करें।’ गौतम ने वन्दना स्वीकार की। भावपूर्वक वन्दन व चरणस्पर्श करने के बाद आनन्द ने पूछा—“भंते ! गृहस्थ को अवधिज्ञान हो सकता है।?”

गौतम—“हां, अवश्य हो सकता है।?”

आनन्द—“तो भंते ! मुझे आपकी कृपा से वह प्राप्त हुआ है। मैं पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में ५००-५०० योजन तक, उत्तर चुल्ल-हिमवानपर्वत तक, ऊपर सौधर्म विमान तक और नीचे रत्नप्रभा के लोलुयच्युत नरकवास तक जान और देख सकता हूं।”

गौतम स्वामी ने शान्त स्वर में कहा—“आनन्द ! श्रावक या गृहस्थ को अवधिज्ञान तो हो सकता है, पर इतना लम्बा नहीं, इतने विस्तार-वाला नहीं। अतः अपने इस आलोच्य कथन की आलोचना करके जीवनशुद्धि करो।”

आनन्द ने विनीतभाव से कहा—“भगवन् ! क्या सत्य की भी शुद्धि की जाती है ?”

गौतम—“सत्य में मिलावट हो तो शुद्धि की जाती है।”

“तो भंते ! आप भी अपनी शुद्धि करने की कृपा करें ?” नम्रस्वर में आनन्द ने कहा। गौतमस्वामी को अपने विचारों पर कुछ सन्देह हुआ। सोचा—“आनन्द १२ व्रतधारी श्रावक है। उसकी धर्मनिष्ठा की प्रशंसा स्वयं प्रभु महावीर ने की है; वह कदापि झूठ नहीं बोल सकता। अतः उसकी बात में कुछ तथ्य हो तो मुझे प्रभु से पूछना चाहिए।” गणधर गौतम चार ज्ञान के धारक थे। फिर भी उन्होंने भगवान् महावीर जैसे केवलज्ञानी-सूर्य के रहते अपने चतुर्ज्ञानरूपी दीपक का उपयोग करना उचित न समझा। वे मौनभाव से ही वहां से चल पड़े। प्रभु के चरणों में उपस्थित होते ही अपने में रही शंका की गांठ खोल कर रख दी। वे विनययुक्तस्वर में बोले—“भगवन् ! मैं भूल की राह पर हूं या आनन्द ?” भ. महावीर ने स्पष्ट रूप में कहा “गौतम !

भूल की राह पर तुम हो, आनन्द नहीं। आनन्द का कथन सत्य है। उसमें शंका को जरा भी स्थान नहीं। तुम प्रायश्चित्त के भागी हो। जाओ, आनन्द के पास जाकर मिच्छामि दुक्कडं दो।”

सच्चा और विनीत साधक सत्य को पाकर क्रुद्ध नहीं: हर्षित होता है। और सच्चा गुरु अपने शिष्य के दोष को दबाता-छिपाता नहीं। वह लिहाज नहीं रखता। भ. महावीर ने यह लिहाज नहीं किया कि यह मेरा पट्टशिष्य है, गणधर है। गणधर गौतम तत्क्षण ही आनन्द के पास आए और अपनी भूल के लिए “मिच्छामि दुक्कडं” देकर क्षमायाचना की। गणधर गौतम और आनन्द दोनों ही सरलता और नम्रता के मधुर क्षणों में परस्पर क्षमायाचना कर रहे थे।

१४००० श्रमणों के अधिनायक गणधर गौतम में कितनी नम्रता थी? उनके मन में सत्य के प्रति कितना आदर था? सत्य के सामने वे मानापमान को आड़े नहीं लाते थे। इस प्रकार गणधर गौतम और आनन्द का यह पावनप्रसंग संघ-विनय का कितना जीता-जागता सन्देश है?

क्रिया-विनय

शुद्ध क्रिया अथवा शुद्धिपूर्वक क्रिया करने वालों का विनय करना क्रिया-विनय है। इसके बदले कई सूत्रों में ‘चारित्रविनय’ भी बताया गया है। क्रिया या चारित्र के प्रति विनय का रहस्य यही है कि अपनी आत्मा की वफादारीपूर्वक जो क्रिया या चारित्र ठीक व युगानुकूल, सत्य-अहिंसा में साधक, विकासवर्द्धक समझा जाय उसके प्रति सततनिष्ठा, श्रद्धा और आदरभाव रख कर पालन करे। और जो भी साधक इस प्रकार से क्रियावान या चारित्रवान हो उसके प्रति आदर, श्रद्धा व बहुमान रखे। परन्तु जो क्रिया दम्भवर्द्धक हो, विकासबाधक हो, युगबाह्य हो, केवल दिखावे के लिए ही जिसका अस्तित्व हो, उसका बोझ व्यर्थ ही बिना मन से ढोए जाना क्रिया-विनय नहीं है। न चारित्र के नाम पर अन्ध-विश्वास, चमत्कार, ज्योतिषबाजी या झूठे बहमों के चक्कर में जनता को फंसाना ही चारित्रविनय है। बल्कि जो साधक मौलिक-मर्यादाओं का दृढ़तापूर्वक पालन करता हो, उस पवित्रचारित्री पुरुष का विनय करना ही चारित्रविनय है।

धर्म-विनय

सत्य, अहिंसा, न्याय, ब्रह्मचर्य, ईमानदारी, नीति, अस्तेय; अपरिग्रहवृत्ति; आदि शुद्ध और व्यापक सद्धर्म के अंगों का अपनी-अपनी मर्यादा में रह कर वफादारीपूर्वक पालन करना; धर्म पर अटल श्रद्धा रखना; संकट, भय या प्रलोभन आने पर भी धर्म के प्रति आदर न छोड़ना; विचलित न होना; धर्म की मखौल उड़ा कर जनता को तथा स्वयं को धर्मश्रद्धाविहीन न बनाना; बल्कि धर्म

से डिगते हुए को स्थिर करना; यह धर्म-विनय है। अंधेरे में भी; कोई न देखता हो; वहां भी, एकान्त में भी धर्म से विचलित न होना; धर्म-विनय है। क्योंकि धर्म-विनयी साधक जानता है कि व्यक्ति एवं समाज के धारण-पोषण-रक्षण एवं सत्त्वसंशोधन के लिए धर्मपालन की अनिवार्य आवश्यकता है। उसके बिना समाज में अव्यवस्था पैदा होगी; समाज की सुख-शान्ति चौपट हो जायगी।

ज्ञान-विनय-ज्ञानी-विनय

ज्ञान का विनय करना ज्ञान-विनय है। इसी प्रकार ज्ञानगुणसम्पन्न व्यक्ति का विनय ज्ञानी-विनय है। वस्तुस्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानना ही शुद्ध ज्ञान है। इसके विपरीत अशुद्ध ज्ञान अज्ञान है। जिस में ज्ञान-विनय होता है; वह इतना नम्र होता है कि कहीं भी, किसी के पास भी वास्तविक ज्ञान मिलता हो; वह उससे ग्रहण करने में हिचकिचाएगा नहीं। सोना यदि गन्दी जगह भी पड़ा हो तो कौन छोड़ता है? उसी प्रकार ज्ञान भी किसी के पास हो, उसे प्राप्त कर लेने में हर्ज ही क्या है? ज्ञान या ज्ञानी का अविनय ५ प्रकार से होता है—(१) प्रद्वेष-ज्ञान से या ज्ञानी से द्वेष करना। अपने माने हुए शास्त्र के अतिरिक्त कहीं सत्यज्ञान या ज्ञानी मिलता हो, परन्तु तेजोद्वेषवश उसका विरोध करना। (२) निह्व-जिससे या जिसके निमित्त से ज्ञान प्राप्त किया हो उसका नाम छिपाना। (३) मात्सर्य-किसी ज्ञान या ज्ञानी से डाह करना; उस पर झूठे दोषारोपण लगाना। (४) आशातना-ज्ञान या ज्ञानी की आशातना करना। जो ज्ञानदाता है; उसका तो विनय करना ही चाहिए; परन्तु ज्ञान के जो साधन हैं; उपकरण हैं—शास्त्र, ग्रन्थ, पुस्तकादि, उनकी भी बेअदबी करना; उन्हें पैर लगाना; थूक लगाना; उन्हें फाड़-तोड़ कर गन्दगी में फेंक देना; उनके द्वारा मिले हुए ज्ञान को क्रियान्वित करने का प्रयत्न न करना भी ज्ञान का अविनय है। क्योंकि सम्पूर्णज्ञान तो तीर्थंकर के पास है। तीर्थंकर केवलज्ञान द्वारा जान कर जो सुनाते हैं, उसे गणधर व्यवस्थित ढंग से शब्दों में रचते हैं; गूँथते हैं; फिर उसे लिपिबद्ध किया जाता है; वही श्रुतज्ञान कहलाता है। इसलिए श्रुतज्ञान के परमनिमित्त शास्त्र आदि का बहुमान करने की दृष्टि से ज्ञान (श्रुत) पंचमी को शास्त्र-ग्रन्थादि को नमन किया जाता है। ज्ञान की तरह ज्ञान के ये प्रबल निमित्त-शास्त्रादि भी आदरणीय हैं। (५) अन्तराय-ज्ञानप्राप्ति में अन्तराय डालना, किसी जिज्ञासु को ज्ञान देने में हिचकना, ज्ञानियों द्वारा ज्ञानप्रसार में रोड़े अटकाना, विक्षेप डालना अथवा कपट करके सिखाना ये सब भी ज्ञान के प्रति अविनय हैं।

‘जंबाइद्धं वच्चामेलियं’ आदि १४ प्रकार की ज्ञान की आशातना से बचना भी ज्ञान-विनय है।

सूरि (आचार्य) – विनय

पूर्वोक्त चार प्रकार से आचार्य का विनय करना आचार्य-विनय है। आचार्य संघ में आचारपक्ष की रक्षा करता है। स्वयं धर्माचरण करता है और दूसरों को भी धर्माचरण में प्रेरित करता है।

स्थविर-विनय

स्वयं धर्मपालन में स्थिर रह कर जो साधु-समुदाय को धर्मपालन में स्थिर रखता है, वह स्थविर कहलाता है। यदि कोई साधु-साध्वी अपने धर्माचरण या व्यापक धर्म-विचार में शिथिल होने लगता है तो ये उसे दृढ़ करते हैं। वृद्ध या अनुभवी व्यक्तियों की तरह ये साधु-साधवियों को सुधारने का प्रयत्न करते हैं। अतः ऐसे स्थविरों का पूर्वोक्त चारों प्रकार से विनय करना स्थविर-विनय है।

उपाध्याय-विनय

उपाध्याय संघ में ज्ञानपक्ष के रक्षक होते हैं। शास्त्रों के पाठों को सुरक्षित रखते हैं। शास्त्र के अगाधज्ञान में गोते लगा कर साधु-साधवियों एवं श्रावक-श्राविकाओं को वह ज्ञानरत्न देते हैं। उपाध्याय साधु-साधवियों को शास्त्र का सामान्य अर्थसहित पाठ पढ़ाते हैं, इसलिए पाठक भी कहलाते हैं। आचार्य उस पर फिर विश्लेषणपूर्वक सामाजिक अनुभव की गहराई के साथ व्याख्या करते हैं। जैसे अध्यापक पुस्तक पढ़ाता है, प्राध्यापक (प्रोफेसर) उस पुस्तक के पाठ की विस्तृत व्याख्या एवं गंभीर विश्लेषण करके समझाता है, वैसे ही उपाध्याय और आचार्य क्रमशः करते हैं। ऐसे उपाध्यायों का विनय करना उपाध्याय-विनय तप है।

गणी-विनय

गणी आचार्य के नीचे का दर्जा है। इसे प्रवर्तक भी कहते हैं। साधुओं के जितने भी नित्य कर्म हैं, उन सबकी व्यवस्था गणी करते हैं। गणी सबको अपने-अपने कर्तव्य में लगाते हैं। जो जिस कार्य के योग्य होता है, उसे वही कार्य सौंपते हैं। आहार लाने वाले को आहार लाने में, वैयावृत्य (सेवा) करने वाले को वैयावृत्य करने में और अन्य काम के योग्य साधु को अन्य काम

में नियुक्त करते हैं। साधु-साध्वियों के पठन-पाठन का प्रबन्ध भी गणी ही करते हैं। ऐसे गणी का विनय पूर्वोक्त चारों प्रकार से करना गणीविनय कहलाता है।

इस प्रकार १३ किस्म के विनयपात्रों का विशद वर्णन समझकर विनयतप को जीवन में अपनाना चाहिए।



अनित्य भावना

□ आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन्न सूरि जी

परम करुणानिधि भगवान महावीर का शासन सभी प्राणियों के लिए कल्याणरूप रहा है। उनके शासन में अनेक महान साधक, योगी, तपस्वी आचार्य, उपाध्याय और मुनि हुए हैं जिन्होंने स्व और पर कल्याण में अपना जीवन यापन किया है। उपाध्याय श्री विनय विजयजी महाराज भी एक ऐसे ही योगी और साधक हुए हैं। उन्होंने कई आध्यात्मिक ग्रन्थों की रचना भी की है। उनकी एक उत्कृष्ट रचना है 'शान्तसुधारस'। इस ग्रन्थ में उन्होंने बारह भावनाओं का वर्णन किया है। इसमें उन्होंने सर्वप्रथम स्थान अनित्य भावना को दिया है। इन भावनाओं पर बहुत कुछ कहा और लिखा गया है, फिर भी इनकी गहनता वैसी ही है। यहां अनित्य भावना का विवेचन उपयुक्त और उपयोगी है।

आधुनिक वैज्ञानिक युग का तथाकथित प्रगतिशील मनुष्य अधिक से अधिक विकेंद्रित होता जा रहा है। वह अपनी जमीन से उखड़ रहा है। सुख नाम की मृगतृष्णा की प्यास बुझाने के लिए वह बेतहाशा भागा जा रहा है। बाहर की चकाचौंध ने उसे इस कदर आकर्षित किया हुआ है कि उसने अपने भीतर पैठकर अपने विषय में सोचना ही बंद कर दिया है। उसकी दृष्टि उसकी सोच इतनी सीमित और संकीर्ण हो गई है कि मैं कौन हूँ? संसार में आने का मेरा क्या उद्देश्य है? जीवन क्या है? मुझे अन्त में कहां जाना है? क्या प्राप्त करना है? संसार का और मेरा क्या सम्बन्ध है? इस तरह के मूलभूत प्रश्न, जिनके विषय में उसे सोचते रहना चाहिए। उसके लिए न

वह समय निकालता है न कोई प्रयत्न ही करता है। स्वयं का और संसार का पृथक्करण करने की क्षमता उसने खो दी है। यही कारण है कि इतनी प्रगति और उन्नति के बावजूद वह सुखी होने के बजाय दुःखी, संतप्त और अशान्त ही अधिक हुआ है।

‘स्व और पर का निर्णय करना एवं परिणति की निर्मलता करना’ यह जैन दर्शन का प्रमुखनीति वाक्य है। इसी सन्दर्भ में अनित्य भावना का अत्यधिक महत्व है, क्योंकि बिना अनित्य भावना के न स्व और पर का निर्णय हो सकता है और न ही परिणति निर्मल हो सकती है।

संसार और सांसारिक पदार्थों को न तो झूठा समझना है न स्वप्न समझना है। उन्हें अनित्य और परिवर्तनशील समझना है, ताकि उनके प्रति हमारी आसक्ति न हो। जैन धर्म त्याग और वैराग्य प्रधान धर्म है। त्याग और वैराग्य की पुष्टि तब होती है जब संसार और सांसारिक पदार्थों और सम्बन्धों की वास्तविकता समझमें आती है। अनित्यता संसार की वास्तविकता है। इसलिए जैन संतों ने वैराग्य के गीत गाए हैं। इस अनित्यता का अनुभव करना, देखना, परखना और जांचना अनित्य भावना है। इस अनित्य भावना से भावक की दृष्टि जागृत रहती है। जो अनित्य भावना भाएगा, वह भीतर से जागृत रहेगा। यह अनित्य भावना जागृति का संदेश देती है।

संसार और सांसारिक भोग्य पदार्थों के प्रति आसक्ति रखना ही व्यक्ति के दुःख का कारण है। आसक्ति या ममत्व दुःख का मूल है। व्यक्ति की सारी अशान्ति व्यक्ति की सारी परेशानियां व्यक्ति के सारे कष्टों का जन्म आसक्ति से होता है। व्यक्ति दुःखी है, दुःखी होता है क्योंकि वह संसार के प्रति आसक्ति है। और तब यह आसक्ति दस गुना बढ़ जाती है, जब व्यक्ति संसार को सांसारिक वस्तुओं को वास्तविक, नित्य अपना और अपरिवर्तनीय मानने लगता है। जितनी यह आसक्ति गहरी होगी, व्यक्ति का दुःख भी उतना ही गहरा होगा।

संसार में अक्सर ऐसा दिखाई देता है कि जब किसी की फैक्ट्री में या दूकान में आग लग जाती है और जब उसके मालिक को यह खबर दी जाती है कि आपकी फैक्ट्री या दूकान जलकर राख हो गई है तो उसे उस फैक्ट्री या दूकान नष्ट होने का हादसा इतने गहरे रूप में प्रभावित कर जाता है कि उसे हार्ट अटैक हो जाता है। वह सुन्न हो जाता है। उसे न खाना भाता है न पीना। वह भीतर से टूट कर बिखर जाता है क्यों? क्योंकि उसकी उन चीजों के प्रति गहरी आसक्ति

थी। उन चीजों को उसने हृदय से अपना माना था।

अपने आपको इन जड़ वस्तुओं से बांधना नहीं है। चाहे बड़ी शानदार कोठी हो, चाहे कार हो, चाहे दूकान हो चाहे पैसा हो फैक्ट्री हो चाहे पत्नी हो, (पत्नी के लिए पुरुष) चाहे पुत्र हो पुत्री हो चाहे पोता-प्रपोता हो, चाहे स्वयं का शरीर ही क्यों न हो। उनसे अपना हार्दिक स्नेह नहीं जोड़ना है। उन्हें अपना मानते हुए भी इस दृष्टिकोण का विकास करना है कि यह सब मेरा नहीं है। एक दिन यह सब मुझसे अलग होने वाला है। यह अनित्य और परिवर्तनीय है। यह कभी भी किसी भी क्षण मेरे हाथ से चला जा सकता है। जब वस्तुओं को इस प्रकार देखने की कला व्यक्ति को प्राप्त हो जाएगी तो ये चीजें सब उससे दूर हो जाएंगी। संयोग से उसका पुत्र मर जाता है या संयोग से यदि दूकान या फैक्ट्री में आग लग जाती है तब वह रोएगा चिल्लाएगा नहीं, हाय-हाय करके छाती नहीं पीटेगा, मैं लूट गया मैं बरबाद हो गया, का शोर नहीं मचाएगा। उसे हार्ट अटैक नहीं होगा। वह खाना-पीना नहीं भूलेगा। उसके ओठों से मुस्कराहट गायब नहीं होगी। तब वह तटस्थ रहेगा। वह सोचेगा कि यह तो अनित्य था, नश्वर था, एक दिन नष्ट होने ही वाला था, कल न हुआ आज हो गया। इसमें रोने की क्या बात है। मेहनत करके इन्हें फिर पा लेंगे।

जो जिन का अनुयायी सच्चा जैन होता है, श्रावक होता है उसका दृष्टिकोण ऐसा ही होता है। यह जीवन जीने की कला है। अनित्य भावना व्यक्ति में इस कला का विकास करती है। यह व्यक्ति के भ्रम को दूर करती है। स्व और पर के अन्तर को स्पष्ट करती है।

अनित्य भावना जीवन से पलायन नहीं है। यह तो जीवन से जूझने का संदेश देती है। सब कुछ अनित्य है, हाथ से चला जाने वाला है, क्षण में नष्ट होने वाला है, परिवर्तनशील है। यह सोचकर नकारात्मक या निराशात्मक दृष्टि का विकास नहीं करना है। यह सोचकर हाथ पर हाथ धरे बैठे नहीं रहना है। यह सोचकर सकारात्मक दृष्टिकोण का विकास करना है। यह सोचकर प्रचंड पुरुषार्थी बनना है। यह जीवन, यह यौवन, यह संपत्ति, यह अक्सर फिर कहां? यह सोचकर इन्हें शुभ प्रवृत्तियों की ओर एक धार्मिक मोड़ देना है। जीवन, जगन और मृत्यु के प्रांत एक दार्शनिक दृष्टिकोण का विकास करना है।

मनुष्य अपने जीवन, यौवन, संपत्ति और शरीर पर अत्यधिक आसक्ति रखता है। जीवन के विषय में कहा जाता है 'जीवन जगत में ऐसा सावन के मेघ जैसा'। यह जीवन की

वास्तविकता है। सावन महीने में आकाश में जो बादल छाये रहते हैं वे एक ही क्षण में बिखर जाते हैं। जैसे सावन के बादल कब बिखर जाएंगे, यह किसी को कोई पता नहीं होता, वैसे ही जीवन का कब, कैसे, कहां और किस स्थिति में अन्त हो जाएगा, कहा नहीं जा सकता। जीवन अनिश्चित है और मृत्यु निश्चित है। मनुष्य बचपन में भी मर सकता है और युवावस्था में भी। वह चलते हुए भी मर सकता है और बैठे हुए भी। वह दूकान पर भी मर सकता है और ऑफिस में भी। वह देश में भी मर सकता है और विदेश में भी। वह गांव में भी मर सकता है और शहर में भी। वह ट्रेन में भी मर सकता है और प्लेन में भी। वह स्कूटर पर भी मर सकता है और कार में भी। वह हार्ट अटैक से भी मर सकता है और एक्सडैन्ट से भी। वह कहीं भी किसी भी स्थान पर किसी भी हालत में मर सकता है। इतना जीवन अनिश्चित है। ऐसे जीवन का कैसे भरोसा किया जा सकता है। जीवन इतना अनिश्चित है, फिर भी व्यक्ति इस तरह जीता है, मानो वह अमर रहने वाला हो। वह जीवन की अनिश्चितता और मृत्यु की अनिवार्यता भूल जाता है, इसलिए संसार के प्रति आसक्त रहता है। इस आसक्ति को कम करने का एक ही उपाय है, जीवन के अन्तिम सत्य मृत्यु को सदा दृष्टि समक्ष रखा जाए।

मनुष्य के जीवन में एक ऐसी अवस्था आती है जिस अवस्था में वह अविवेक को सर्वाधिक प्रधानता देता है। वह अवस्था ही उन्माद और अविवेक की है। वह अवस्था है यौवन की। इस अवस्था में व्यक्ति संसार के प्रति सबसे अधिक आकर्षित और आसक्त रहता है। इस यौवन की अस्थिरता और चंचलता का न्यायाभोनिधि आचार्य श्री विजयानंद सूरेश्वरजी महाराज ने बड़ा ही मनोहारी वर्णन सरल भाषा में किया है:-

यौवन धन स्थिर नहीं रहनारे,
 प्रातः समे जो नजरे आवे, मध्य दिने नहीं दीसे ।
 जो मध्याने सो नहीं राते, क्यों विरथा मन हीसे ॥
 पवन झकोरे बादल विनसे, त्यां शरीर तुम नासे ।
 लक्ष्मी जल तरंगवत चपला, क्यों बांधे मन आसे ॥
 प्रिया संग सुपन की माया, इनमें राग ही कैसा ?
 छिन में उड़े अर्कतूल ज्यूं, यौवन जग में ऐसा ॥
 चक्री, हरि पुरंदर राजे मदमाते रसमोहे ।
 कौन देश में मरकर पहुंचे, तिन की खबर न कोये ।

जग माया से तुम नहीं लुभाना, आतम राम सयाने ।

अजर-अमर तू सदा नित्य है, जिन धुनि यह सुनि काने ॥

संसार का प्रत्येक दृश्य और पदार्थ परिवर्तित होता रहता है । इतिहास इन परिवर्तनों का दस्तावेज होता है । ये सभी परिवर्तन आदमी की आंखों के सामने होते हैं । जो प्रातः काल के समय दिखाई देता है, वह दुपहर को दिखाई नहीं देता और जो दुपहर को दिखाई देता है वह शाम को दिखाई नहीं देता और जो शाम को दिखाई देता है वह रात को दिखाई नहीं देता । प्रातः दुपहर, शाम और रात परिवर्तन के प्रत्यक्ष उदाहरण है । यौवन उसी तरह शरीर से ढल जाता है जैसे देखते ही देखते दुपहर ढल जाती है । जीवन का उसी तरह अन्त हो जाएगा, जैसे सूर्यास्त होता है ।

दुःख की बात यह है कि मनुष्य को कल का भरोसा नहीं होता । यह कोई नहीं कह सकता कि कल क्या होगा ? केवल सर्वज्ञ भगवान को छोड़ कर । सभी का भविष्य अनिश्चित होता है । कहा भी जाता है न जाने जानकीनाथ । प्रभात किं भविष्यति ।

बड़े-बड़े ज्योतिषियों ने राम के राज्याभिषेक का मुहूर्त निकाला । घोषणा हो गई कि कल राम का राज्याभिषेक होगा । राम अयोध्या के राजा बनेंगे । इस समाचार ने चारों ओर आनंद का साम्राज्य फैला दिया । इस राज्याभिषेक को देखने के लिए दूर-दूर से लोग आए । राज्याभिषेक की पूर्ण तैयारियाँ हो चुकी थी । केवल एक रात बीच में थी । सभी बेसब्री से प्रातः काल होने का इंतजार करने लगे । रात बीती । सूर्योदय भी हुआ, पर राम के राज्याभिषेक के स्थान पर उन्हें वनवास हो गया । एक रात ने राज्याभिषेक के आनंद को वनवास के विषाद में बदल दिया ।

मनुष्य के ममत्व का एक और महत्वपूर्ण स्थान है- उसका शरीर । आदमी अपने शरीर की साज-सज्जा से ही ऊपर नहीं उठ पाता । उसके जीवन का आधा हिस्सा दर्पण के आगे बितता है । रूप सज्जा के इस क्षेत्र में आजकल का महिला समाज सबसे आगे है । बाजार की दूकानें ब्यूटी के तरह-तरह के साधनों से भरी रहती हैं । शहरों में इस शरीर की सुन्दरता को और आकर्षक बनाने के लिए ब्यूटी पार्लर चलते हैं । पत्रकार लोग सौंदर्य विशेषांक निकालते हैं, पर ब्यूटी के वे अधिकतर प्रसाधन जीवों की हिंसा से बने होते हैं । तरह-तरह के ये पाऊडर, क्रीम, शेम्पू, साबुन, लिपस्टिक और सिल्क आदि न जाने कितनी ही चीजें हैं शरीर की सुन्दरता बढ़ाने के लिए । लोग इन चीजों का प्रयोग खुल कर करते हैं । वे लोग यह भूल जाते हैं कि ये चीजें असंख्य, मूक निरीह प्राणियों के खून से रंगी हुई हैं । यह होठों पर लगा लिपस्टिक, लिपस्टिक नहीं है यह प्राणियों का

खून है। तुम्हारे होठों पर लिपस्टिक नहीं लगती है खून लगा हुआ है। शेम्पू की यह सुगंध, सुगंध नहीं है यह मूक प्राणी की चीत्कार है। यह जो तुम साँपट मीनिबेग बगल में दबा के घूमते हो, वह बेग नहीं यह खरगोश का मरा हुआ छोटा बच्चा है। जो जैन समाज अपने आपको अहिंसा का पुजारी होने का गर्व रखता है उस के लिए इस प्रकार की हिंसक चीजें सर्वथा त्याज्य है। क्या महिलाएं इन चीजों का प्रयोग न करके उन मूक प्राणियों की हिंसा में सहभागी होने से नहीं बच सकती? नारी हृदय को कोमल कहा जाता है, वह दूसरे का रूदन और चीत्कार सुनकर पिघल जाती है, पर यह धारणा अब गलत हो रही है। अब महिलाओं का हृदय भी पत्थर जैसा कठोर हो गया है ऐसा लगता है उनमें से करुणा का कोई झरना अब फूटता नहीं है। आधुनिक हिंसक सौंदर्य प्रसाधनों का प्रयोग क्या उनके कठोर पत्थर हृदय होने का परिचायक नहीं है। जिसका हृदय अहिंसा और करुणा से भरा हो वह क्या अपने होठ लिपस्टिक बनाम खून के रंग से रंग सकती है? क्या ऐसा पुरुष शेम्पू का प्रयोग कर सकता है? जो सौंदर्य प्रसाधन जितने महंगे होते हैं, इतने ही हिंसक होते हैं। और इन चीजों का प्रयोग करने वाला चाहे पुरुष हो या स्त्री पाप के सहभागी अवश्य बनते हैं। इन हिंसक सौंदर्य प्रसाधनों का प्रयोग न करने से कोई कुरूप नहीं बन जाता। सादगी, सुरुचि और प्रकृति की ओर से मिली हुई सुन्दरता ही वास्तविक सुन्दरता है। सुन्दरता आन्तरिक गुणों के विकास से बढ़ती है न कि ब्यूटी के प्रसाधनों से। विवेक, नम्रता, मृदुता और सेवा आदि गुणों से स्वयं को सजाइए, इन गुणों से सभी आकर्षित होंगे। शंष तां भ्रम है। किसी को धोखा देना है। और इन सौंदर्य प्रसाधनों का प्रयोग क्यों? किसलिए? उम शरीर के लिए जो मिट्टी का पुतला है। जो मिट्टी से बना है और मिट्टी में मिल जाएगा। जो शमशान में जलकर राख बन कर हवा में उड़ जाता है। जो बाल एक दिन सफेद होकर झड़ जाने वाले हैं। जिस चेहरे पर एक दिन झुर्रियां छाने वाली हैं। जिन आंखों से एक दिन देखना बंद होना है। जो दांत एक दिन उखड़ जाने वाले हैं। जो शरीर एक दिन जरा से जर्जरित होने वाला है, उस क्षणभंगुर, अनित्य, अस्थिर शरीर के लिए इतना परिश्रम, उसके पीछे जीवन का इतना कीमती समय गंवाने की क्या आवश्यकता है? उस नश्वर शरीर की सुन्दरता के लिए इतनी हिंसा, इतना पाप करने की क्या जरूरत है? इस मिट्टी के पुतले को इतना सजाने-संवारने से कोई लाभ है? क्या शरीर इसी के लिए है? क्या दुर्लभ मनुष्य देह इन कामों के लिए हैं? क्या इस पार्थिव सौंदर्य से ऊपर नहीं उठा जा सकता? शरीर मिला है, साधना के लिए। आन्तरिक गुणों के विकास के लिए। शरीर के भीतर जो अनंत निद्रा में सोया हुआ है और जो अनंत शक्ति का

स्वामी है उस आत्मा की साधना के लिए। शरीर की स्मृति में आत्मा की स्मृति खो जाती है। शरीर की सुन्दरता में आत्मा की सुन्दरता गायब हो जाती है। लोग शरीर को तो सजाते हैं, संवारते हैं, साबुन मलमल कर साफ रखते हैं, पर आत्मा को कुरूप छोड़ देते हैं। आत्मा के आधार पर शरीर टिका हुआ है। जिस दिन इस शरीर में से आत्मा निकल जाएगी, उसदिन शरीर निर्जीव और जड़ हो जाएगा। उस दिन शरीर का कोई मूल्य नहीं रहेगा। उस दिन उसे कोई सौंदर्य प्रसाधन बचा नहीं सकेगा। उस आत्मा की इतनी उपेक्षा क्यों। शरीर के माध्यम से आत्मा की साधना करनी चाहिए। शरीर की वह खूबसूरती किस काम की, जो आत्मा को बदसूरत बना दे। असली सौंदर्य अजर-अमर चेतन आत्मा का है न कि नश्वर-मृत शरीर का।

गुजरात में उपाध्याय कवि उदयरत्नजी हुए हैं। उन्होंने वैराग्य के कई उत्तम पद गुजराती भाषा में लिखे हैं। उनका एक पद वैराग्य का हूबहू दृश्य उपस्थित करता है। आदमी जब मर जाता है तो क्या क्या होता है उसका वर्णन इस पद में किया गया है।

ऊंचा मंदिर मांडियाँ सोड वाड़ी ने सुतो,
काढो रे काढो एणे सहु कहे जाणे जन्म्योज न हतो ।
एक रे दिवस एवो आवसे, मने सघड़ो जी साले,
मंत्री मड्या सर्वे कारमा, तेणुं पण कंड नवी चाले ॥
साव सोना नारे सांकड़ां, पहेरण नवा नवा वाघां, ।
धोडु रे वस्तर एना कर्मनुं, ते तो शोधवाज लाग्या ॥
चरू कढाया अति घणा, बीजानुं नहीं लेखुं ।
खोखरी हांडी एना कर्मनी, ते तो आगड देखुं ॥
कोना छोरू ने कोना वासरू, कोना मां अने बापजी ।
अन्तकाले जीव ने जावुं, एखलुं साथे पुण्य ने पाप ॥
सगीरे नारी रे एनी कामिनी उभी टगमग जुवे ।
तेनुं पण कंड नवी चाले, बेठी धुस्के रुवे ॥
वाहला ते बाहला शुं करो ? वाहला वोड़ावी वड़शे,
वाहला ते वन केरां लाकड़ां, ते तो साथे ज बड़शे ॥
नहीं रे त्रापां रे नहीं तुंबडी नहीं तरवानो आरो ।

उदयरत्न प्रभु इम भण्णे, मने भव पार उतारो ॥

एक बहुत बड़ा विशाल भव्य मकान है। भरापूरा परिवार है। पत्नी है, बच्चे हैं, संपत्ति है। इतने में उस मकान और संपत्ति के मालिक की मृत्यु हो जाती है। वह मुरदा होकर उस ऊंचे और भव्य मकान में पड़ा हुआ है। उस पर कफन डाला हुआ है, ऐसा लगता है मानो वह सफेद चादर ओढ़कर सो रहा हो। इतने में शहर के उसके निकट सम्बन्धी एकत्र होते हैं और कहते हैं कि इन्हें जल्दी निकालो भाई यहां से, मिट्टी की चीज जितनी जल्दी मिट्टी में मिल जाए, उतना ही अच्छा है। वे लोग उस घर के मालिक को इस तरह जल्दी निकालने की बात करते हैं जैसे यहां उसका जन्म ही न हुआ हो। जिस आदमी ने जीवन भर भाग-दौड़ कर एक-एक पैसा जोड़कर जिस मकान को बनवाया। रात-दिन मेहनत करके खाना-पीना हराम करके जिस संपत्ति को जोड़ा और बड़े कष्ट से जिस परिवार का पालन-पोषण किया, उस मकान और उस परिवार के बीच उसे एक क्षण भी अधिक रूकने नहीं दिया जाता। जब उसके जीवन का दीपक बुझ गया तो लोग कहने लगे- 'देरी क्यों कर रहे हो भाई, जल्दी निकालो इन्हें घर से।' लोगों द्वारा कहा जाने वाला यह कथन विचारणीय है।

जब शरीर रूपी सरोवर में से हंस रूपी जीवन निकलने लगता है, तब ये जो इन्द्रियां हैं कान, नाक, आंख, जीभ आदि सभी निरर्थक हो जाती हैं। इन इन्द्रियों को मंत्रीगण कहा जाता है। जैसा मंत्री कहता है वैसा ही राजा करता है। जैसा इन्द्रियों ने कहा, शरीर ने वैसा ही किया। कान ने कहा संगीत चाहिए, शरीर ने तुरंत संगीत दिया। नाक ने कहा सुगन्ध चाहिए और शरीर ने सुगन्ध दी। जीभ ने कहा मिष्ठान चाहिए, शरीर ने मिठाई दी। वे इन्द्रियाँ भी अन्त समय में काम नहीं आईं।

जिस शरीर के लिए अनेक प्रकार के आभूषण बनवाए थे। सोने और चांदी के गहनों से जिस शरीर को सजाते थे। जिस शरीर को सौंदर्य प्रसाधनों से संवारा जाता था। जिस शरीर को नये से नये लेटेस्ट से लेटेस्ट फैशन के कपड़े पहनाते थे। वह शरीर जब निर्जीव हो जाता है तो केवल एक सफेद कफन की खोज की जाती है। उस शरीर को ढकने के लिए लोग एक ही कपड़ा काफी समझते हैं।

उस मुरदे को चार कंधों ने मिलकर उठाया। उसके आगे एक छोटी खाली हांडी उठा कर एक आदमी चलता है। यह खाली हांडी उसके कर्म की निशानी है। उस घर, परिवार और संपत्ति

को छोड़कर जब वह जाने लगता है तब पता चलता है कि कौन बाप था और कौन बेटा, कौन पति था और कौन पत्नी । यहां सारे सम्बन्धों का अन्त हो जाता है । न साथ में बाप जाता है न मां जाती है । न पुत्र जाता है न पत्नी । न घर जाता है न प्रोपर्टी । उसके साथ जाते हैं जीवन में उसके द्वारा किए गए पुण्य और पाप । पाप और पुण्य ही जीव के सच्चे साथी हैं ।

जिस समय मृत व्यक्ति की अर्थी घर से निकलती है, उस समय सबसे अधिक करुण दृश्य उपस्थित होता है । उस समय उसके बच्चे, उसकी पत्नी, बहन और मां का करुण क्रंदन हृदय को चीर डालता है । बेटा ! बेटा ! कह कर मां रोती है । पिताजी ! पिताजी ! कह कर बच्चे चिल्लाते हैं और प्रियतम ! प्रियतम ! ! कह कर पत्नी आंसू बहाती है, पर वह मां का बेटा, बच्चों का पिता, और पत्नी का प्रियतम तो जंगल की लकड़ियों के साथ सो गया, वह उन लकड़ियों के साथ जलकर राख हो जाएगा ।

इस तरह जिस पर व्यक्ति अत्यधिक आसक्ति रखता है वह शरीर जलकर राख हो जाता है । मनुष्य जन्म लेता है, युवा बनता है और वृद्ध होकर मर जाता है । सब अनित्य और अस्थिर है । यह परिवर्तन यह अस्थिरता व्यक्ति को साफ दिखाई देती है, पर वह देखते हुए भी नहीं देखता । जो वास्तव में देखता है गहराई में उतर कर उसे निश्चित रूप से इन चीजों से विरक्ति हो जाएगी । ऐसे चित्तनशील व्यक्ति जो गहराई में उतर कर सोचते हैं, बिरले ही होते हैं ।

एक करकन्दु नाम के राजा हुए हैं । इस नाम के कई राजा हुए हैं ! एक प्रत्येक बुद्ध करकुंड हुए हैं । किसी वस्तु को देखकर जिन्हें बोध (वैराग्य) हो जाता है, उन्हें प्रत्येक बुद्ध कहा जाता है । करकुंड का युवावस्था में ही राज्याभिषेक हो गया था ! वे एक विवेकशील, चिंतक और धार्मिक राजा थे । नगर के ऊपरी भाग में उनका महल बना हुआ था । उस महल की खिड़कियों से पूरा नगर दिखाई देता था । एक झरोखा, जहां से नगर का मुख्य मार्ग दिखाई पड़ता था । राजा करकुंड शाम को उस झरोखे में बैठते थे और उस मुख्य मार्ग से आने जाने वालों का निरीक्षण करते थे । यह उनका प्रतिदिन का क्रम था । कई दिनों से वे एक अलमस्त सांड को देख रहे थे । सब उस सांड की ताकत से डरते थे । उसे कोई हाथ नहीं लगा सकता था । जो उसके सामने जाता था, उसे अपने सींगों से मार कर दूर भगा देता था । कोई दूसरा बैल उससे भिड़ने की हिम्मत नहीं कर सकता था । पूरे नगर में उसका आंतक छाया रहता था । राजा करकन्दु को वह सांड प्रतिदिन दिखाई देता था । वे उसे देखते रहते उसके लम्बे-चौड़े मांसल और बलिष्ठ शरीर को उसकी

मदमस्त चाल को उसके नुकीलें सींगों को और उसके आंतक को ।

इस तरह पांच वर्ष बीत गए । सात वर्ष के बाद उस सांड का आंतक नगर में खत्म हो गया । क्योंकि वह अब बूढ़ा हो गया था । उसके लम्बे-चौड़े बलिष्ठ शरीर में अब कोई ताकत नहीं रही । उसके दृढ़ ससत्त्व पावों में अब कोई शक्ति नहीं बची । उन नुकीले सींगों में से नुकीलापन जाता रहा । उसकी मदमस्त चाल अब कंपन और अस्थिरता में बदल गई । उसके ऊपर कौवे बैठकर उसे चोंच मारने लगे । मक्खियां भिनभिनाने लगी । कुत्ते परेशान करने लगे । बैठ जाता तो उठना मुश्किल होता और उठ जाता तो चलना कठिन होता ।

राजा करकुंड ने उसकी यह हालत देखी और वे दुःखी हो उठे । सोचने लगे । क्या जीवन की यही वास्तविकता है ? यौवन इतना अस्थिर है ? देखते ही देखते यह सांड कैसे मृत्यु के निकट पहुंच गया । इस रूप, बल और प्रभाव की यही अन्तिम परिणति है ? जीवन की अगर यही वास्तविकता है, यौवन यदि इतना ही अस्थिर है, बल और रूप का अन्तिम परिणाम यही है तो मुझे सावधान हो जाना चाहिए । मुझे इस अस्थिरता में स्थिरता की साधना कर लेनी चाहिए । इस अनित्यता में नित्य की आराधना कर लेनी चाहिए । इस परिवर्तनशीलता में अपरिवर्तन की उपासना कर लेनी चाहिए । इस मेरे रूप की, मेरे बल की, मेरी युवावस्था की भी, एक दिन यही स्थिति होने वाली है । इस स्थिति के आने से पहले ही मुझे जागृत होकर इनका उपयोग अमरता की साधना के लिए कर लेना चाहिए ।

यह सोचकर राजा करकुंड ने राज्य छोड़ दिया और साधना का मार्ग पकड़ लिया । यह है संसार के परिवर्तन का वास्तविक दर्शन । संसार को देखना है तो करकुंड की नजर से देखें । संसार को संसार में होने वाली घटनाओं को, परिवर्तनों को, बदलाहटों को, अस्थिरताओं को सभी देखते हैं, पर यह देखना, देखना नहीं है । वह देखना किस काम जो भीतर के बोध का कारण न बनें । वह आंखें किस काम की जो बाहरी चकाचौंध में अपनी दृष्टि खो दें । आदमी की आंखों पर बाहर के आकर्षण की मोह की, ममत्व की पट्टी बंधी हुई है, जिस के कारण वह वास्तविकता का दर्शन नहीं कर पाता ।

यह अनित्य भावना जब अपनी चरम सीमा को छू लेती है, तब यह मोक्ष का द्वार खटखटाने में भी सक्षम होती है । माता मरुदेवा की अनित्य भावना इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है ।

माता मरुदेवा का अपने पुत्र आदिनाथ पर असीम स्नेह और वात्सल्य था । पुत्र भरत, बाहुबली आदि को राज्यभार सौंपने के बाद उनकी इच्छा दीक्षा लेने की हुई । एक दिन प्रातः काल

के समय अपनी वृद्धा माता के चरणों में उन्होंने मस्तक रखा और कहा- 'मां, संसार में रहने की मेरी अवधि अब पूर्ण होती है। संसार के सभी कार्यों को मैंने व्यवस्थित और सुचारू कर दिए हैं। अब मैं समय धारण करने के लिए जा रहा हूँ। आप आशीर्वाद दीजिए।'।

माता मरुदेवा ने समझा आदिनाथ किसी नगर में किसी काम से जा रहे हैं। इसलिए आशीर्वाद लेने आये हैं। उन्होंने उनके मस्तक पर हाथ रखा और वात्सल्यपूर्ण शब्दों में कहा- 'जाओ बेटा, संभल के जाना और जल्दी ही वापस लौट आना।'

आदिनाथजी ने दीक्षा ग्रहण की। विनिता नगरी, समस्त राजवैभव एवं सुख समृद्धि को छोड़कर उन्होंने जंगल का रास्ता पकड़ा। वे जंगल और पहाड़ों की गुफाओं में तपस्या और ध्यान करते हुए कर्म निर्जरा करने लगे। कभी वे पारणे के लिए नगर में आ जाया करते थे शेष समय उनका जंगल में ही बितता था।

माता मरुदेवा को चिंता हुई- मेरे पुत्र आदिनाथ आशीर्वाद लेकर किसी नगर में गए थे। अभी तक आए क्यों नहीं।

उन्होंने एक दिन भरत को बुलाया और पूछ- 'बेटा भरत, तुम्हारे पिताजी किसी नगर में गए हुए हैं। वे अभी तक लौटे क्यों नहीं? कब आएंगे? बहुत समय हो गया। मैंने उनका मुंह नहीं देखा, ऐसा क्या काम है वहां?'

महाराजा भरत को अपनी दादीमां की अज्ञानता और भोलेपन पर हंसी आ गई।

'दादी मां, वे किसी नगर में नहीं गए हैं, उन्होंने तो दीक्षा ले ली है। वे तो जंगल में तप कर रहे हैं। वे अब यहां नहीं आएंगे।' भरत ने माता मरुदेवा को समझाया।

माता मरुदेवा को विस्मय हुआ- 'दीक्षा लेली, यहां नहीं आएंगे? !! भरत यह तुम क्या कह रहे हो?'

भरत- हां, दादी मां, मैं ठीक कह रहा हूँ। वास्तव में उन्होंने संसार छोड़ दिया है।'

माता- 'अर्थात् वे साधु हो गए हैं?'

भरत- 'हां दादी मां,।

माता- 'पर क्यों? यहां उन्हें किस बात की कमी थी। यह राज्य, यह सत्ता, यह महल, यह वैभव, यह संपत्ति, यह सुख उन के लिए कम था। और जब तुम्हें पता था तो उन्हें रोका क्यों नहीं?'

भरत- 'दादी मां, दीक्षा किसी बात की कमी होने पर नहीं ली जाती। यह तो वैराग्य होने पर ग्रहण की जाती है। उन्हें यह सुख यह वैभव वास्तविक नहीं लगा। उन्हें इनसे वैराग्य हो गया है। इसलिए उन्होंने यह सब छोड़ दिया है। और मेरे रोकने से वे रुकनेवाले नहीं थे। जिन्हें संसार से सच्चा वैराग्य हो जाता है, वे किसी के रोकने से नहीं रुकते।'

माता मरुदेवा को ये वैराग्य की बातें समझ में नहीं आईं। पुत्र वात्सल्य से भरा उनका मृदु हृदय न कोई तर्क सुनना चाहता था, न कोई वैराग्य की बात। उनकी वृद्धा आंखें पुत्र आदिनाथ को देखने के लिए तरसने लगीं।

उन्होंने भरत से कहा- 'भरत, पुत्र आदिनाथ को जहां कहीं भी हो उन्हें बुला लाओ, अगर तुम उन्हें नहीं बुला सकते तो मुझे उनके पास ले चलो।

महाराजा भरत आदिनाथजी को न बुला सकते थे, न दादी मां को उनके पास जंगल में ले जा सकते थे। उन्होंने कहा- 'दादी मां, ये दोनों ही बातें असंभव हैं। आप कुछ वर्ष और धीरज रखिए। उन्हें केवलज्ञान होगा, तब आपको उनके पास ले चलूंगा।'

माता मरुदेवा विवश और लाचार थीं। पुत्र की स्नेहिल स्मृति को संजोकर रखने के सिवा अन्य कोई उपाय नहीं था। वे पुत्र वियोग में रोने लगीं। उनका वियोगी मातृ हृदय क्षणभर भी पुत्र को विस्मृत नहीं करता था। पुत्र वियोग में उनके आंसू रुकते नहीं थे। मेरा आदिनाथ मेरा आदिनाथ, की रटन हर क्षण उनके मुख में होती थी। सभी उन्हें समझाने का प्रयत्न करते थे, पर कोई उन्हें समझा नहीं पाता था।

मेरे आदिनाथ जंगल में भूखे-प्यासे अकेले भटक रहे होंगे। न खाने के लिए अन्न, न सोने के लिए पलंग, न पहनने के लिए वस्त्र, न काम करने के लिए नौकर। वे वहां कितने दुःखी होंगे।

इस प्रकार की कल्पना करके माता मरुदेवा रोती थीं। बार-बार भरत से कहती 'अब तो ले चलो, अब तो ले चलो।' पर भरतजी हर बार टाल देते थे। वे भगवान आदिनाथ को केवलज्ञान होने का शुभ समाचार सुनने के आतुर थे।

घोर तपश्चर्या के बाद जब कर्म क्षय हो गए तो भगवान आदिनाथ को पुरीमताल नाम के नगर के पास जो एक छोटा सा वन था, उस वन के बरगद के नीचे उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। वे इस काल के प्रथम केवलज्ञानी हुए। उसके बाद देवों ने समवसरण की रचना की। भगवान आदिनाथ समवसरण के सिंहासन पर आसीन हुए। उनकी देशना (उपदेश) प्रारंभ हुई।

एक सेवक ने आकर महाराजा भरत को भगवान आदिनाथ के केवलज्ञान की शुभ सूचना

दी। भरत के आनंद की सीमा न रही। वे माता मरुदेवा के पास पहुंचे। कहा- 'दादी मां, आज आपके पुत्र वियोग का अन्त हो जाएगा। अब चलिए तैयार हो जाइए। भगवान ऋषभदेव के दर्शन के लिए आपको ले चलता हूं।'

माता मरुदेवा तैयार हो गई। भरतजी और वे दोनों हाथी पर बैठ कर प्रभु के दर्शन के लिए चल पड़े। प्रभु के समवसरण के निकट पहुंचे तो देवदुन्दुभी और भगवान की दिव्य वाणी का अपूर्व संगीत उन्हें सुनाई दिया। माता ने पूछा- 'भरत, इतना मधुर संगीत कहां बज रहा है।'

भरत ने कहा- 'दादी मां, यह आपके पुत्र की महिमा है। वे मणि रचित सिंहासन पर बैठे हुए हैं। सैंकड़ों देव, मनुष्य, पशु और पक्षी उनकी दिव्य वाणी का रसास्वादन कर रहे हैं।'

'मेरे पुत्र आदिनाथ इतने वैभव के बीच जी रहे हैं। उनकी वाणी इतनी दिव्य है। मैं तो व्यर्थ ही उनका वियोग करती थी। इन्हें तो यहां कोई कष्ट नहीं है। इन्द्र आदि देव उनकी सेवा में उपस्थित हैं। मुझे इन्होंने बुलाया क्यों नहीं? अरे कोई संदेश ही भेज देते।'

माता की आंखों से हर्ष के आंसू बहने लगे। इतने में वे समवसरण के सामने पहुंचे। माता ने अपने पुत्र को देखा तो दंग रह गई। प्रभु की अस्खलित वाक्धारा बह रही थी। माता ने उस दिव्य वाणी को सुनने का प्रयत्न किया। ये मेरे आदिनाथ क्या कह रहे हैं, जरा ध्यान से सुनूं तो। वे कान देकर सुनने लगी। भगवान आदिनाथ की दिव्य वाणी हवा में तैरती हुई आ रही थी 'संसार के समस्त सम्बन्ध अनित्य और अस्थिर हैं। संसार का सुख और वैभव क्षणभंगुर है और मनुष्य को वियोग देने वाला है। शाश्वत केवल आत्मा है, जो अजर और अमर है। मनुष्य को शाश्वत सुख शाश्वत की आराधना और साधना करने पर ही मिल सकता है।'

भगवान आदिनाथ की इस वाक् धारा ने माता मरुदेवा के भीतर के द्वार खोल दिए। उनकी वाणी माता के हृदय में उतर गई। मेरे आदिनाथ जो यह कह रहे हैं कि संसार के समस्त सम्बन्ध अनित्य और अस्थिर हैं, सत्य कह रहे हैं। यहां कौन किसका बेटा है और कौन किस की माता। यह संयोग-मिलन कब टूट जाएगा, कोई पता नहीं। मैंने व्यर्थ ही अपने पुत्र के वियोग में आंसू बहाए। न आदिनाथ मेरे पुत्र हैं, न मैं उनकी माता हूं। मैं तो इन सम्बन्धों से भिन्न एक स्वतंत्र आत्मा हूं। मेरी आत्मा तो अजर और अमर है। आत्मा ही परमात्मा है और वही शाश्वत है, माता की विचारधारा आगे बढ़ती चली गई। अनित्य भावना की चरम सीमा आ पहुंची और उन्हें वहीं हाथी के ऊपर केवलज्ञान हो गया।

इन अनित्य भावना के द्वारा पर और स्व का ज्ञान होता है। संसार क्या है? मैं कौन हूँ? संसार से मेरा क्या सम्बन्ध है? यह सम्बन्ध कितना टिकाऊ है? आदि सभी प्रश्नों के उत्तर अनित्य भावना में मिलते हैं।

जब व्यक्ति को अनित्य भावना के द्वारा संसार की वास्तविकता का और जीवन के उद्देश्य का पता चल जाएगा, तो निश्चित रूप से मन की परिणति भी निर्मल होगी ही। सांसारिक भोग्य पदार्थों एवं कषायों के प्रति मन की निर्लिप्तता ही मन की परिणति की निर्मलता है। जब संसार की अनित्यता समझ में आएगी, तो स्वभावतः मन उनसे उपर उठेगा। यही मन की साधना है।



पावागढ़ तीर्थ की ऐतिहासिकता

□ आचार्य श्रीजगच्चन्द्र सूरि जी

भारतीय संस्कृति में तीर्थों की भी अपनी एक संस्कृति रही है। ऐतिहासिकता और पवित्रता उनकी प्रथम और मुख्य पहचान है। जैन शास्त्रों में दो प्रकार के तीर्थों का वर्णन आता है—स्थावर तीर्थ और जंगम तीर्थ। जो एक स्थान पर स्थिर रहता है उसे स्थावर तीर्थ कहा जाता है और जो चलते-फिरते रहते हैं उन्हें जंगम तीर्थ कहा जाता है।

तीर्थ की परिभाषा यह है कि जो तारता है संसार सागर से ऊपर उठाता है उन्हें तीर्थ कहा जाता है। भारतीय इतिहास में तीर्थों का स्थान किसी पहाड़ की तलहटी या किसी नदी के तट पर होता है। वह स्थान सांसारिक कोलाहल से दूर, दूषित वातावरण से रिक्त, मनभावन प्राकृतिक सौन्दर्य से युक्त होता है। ऐसा स्थान ही यात्रिक को मानसिक, शारीरिक एवं आत्मिक शान्ति तथा प्रसन्नता प्रदान करने में समर्थ होता है। ध्यान, साधना, योग, तप और जप आदि के लिए तीर्थों के अतिरिक्त अन्य कोई स्थान उपयुक्त नहीं होता।

तीर्थ की इन्हीं महती विशेषताओं को लिए बड़ौदा से ५० कि.मी. की दूरी पर पावागढ़ तीर्थ स्थित है। दिगम्बर मान्यता के अनुसार इस तीर्थ की स्थापना बीसवें तीर्थंकर भगवान श्रीमुनि सुव्रत स्वामी के समय हुई थी। अत्यन्त पवित्र होने के कारण इसे पावागढ़ के नाम से पुकारा जाता है। उसके बसने-उजड़ने का इतिहास बहुत लम्बा है। विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक इसकी समृद्धि, उन्नति और विकास अपने चरमोत्कर्ष पर रही। इन्हीं समृद्धि और प्रसिद्धि से आकर्षित होकर कई विदेशी और विधर्मी इस पर चढ़ आए। कई बार पावागढ़ विजित होकर गर्वोन्नत हुआ है और कई बार पराजित होकर लज्जित भी। कई श्रेष्ठी यहां ऐसे हुए

हैं जिन्होंने दुष्काल के समय सम्पूर्ण गुजरात का पोषण किया था। एक समय था जब पूरे गुर्जर प्रान्त में ही नहीं; अपितु सम्पूर्ण भारत में इसके भव्यता की चर्चा थी। श्वेताम्बरों में इस तीर्थ को शत्रुंजय और गिरनार की तरह ही पवित्र और पावनकारी माना जाता था। ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी से इसका पतन प्रारम्भ हुआ और फिर वह ऊपर न उठा सका।

इस महातीर्थ की ऐतिहासिकता निर्विवाद है। सम्राट अशोक के वंशधर राजा गंगसिंह ने सन् ८०० ई. में पावागढ़ के किले का एवं उसमें स्थित जिन मंदिरों का जीर्णोद्धार करवाया था।

पावागढ़ के ईशान कोण में दो कि.मी. की दूरी पर और बड़ौदा के पूर्व २५ कि.मी. की दूरी पर गोधरा से दक्षिण ४२ कि.मी दूर चांपानेर का उल्लेख मिलता है। अब इस स्थान पर छोटा सा बाजार है।

विक्रम की १९वीं शताब्दी में तपागच्छ के मुनि कविराज श्रीदीप विजयजी ने पुराने लेखादि के आधार पर लिखा है कि वि.सं. १११२ वैशाख सुदि पंचमी गुरुवार को पावागढ़ पर चौथे तीर्थंकर अभिनंदन स्वामी एवं जीरावला पार्श्वनाथ की अंजनशलाका-प्रतिष्ठा जैनाचार्य श्रीगुणसागर सूरि के द्वारा कराई गई थी। साथ ही उनकी भक्त शासन देवी कालिका की भी वहां स्थापना की गई थी।

डॉ. भांडारकर द्वारा संशोधित और प्रकाशित अंचलगच्छ की पट्टावली में इसका महत्वपूर्ण उल्लेख है कि जयकेसर सूरि चांपानेर के राजा जयसिंह पताई रावल के राज्य में माने हुए आचार्य थे।

पं. जिनहर्ष गणि ने वस्तुपाल चरित्र के तीसरे प्रस्ताव में लिखा है कि गुजरात से मालवा की ओर जाने वाले रास्ते पर गोधरा (गोध्रा) नाम का नगर था। उस नगर में धूंधल नाम का राजा राज्य करता था। वह धर्म की मर्यादाओं का उल्लंघन कर घोर पाप-कर्म करता था। उसके पूर्वज सोलंकी राजाओं की आज्ञा मानते थे; पर धूंधल ने उनकी आज्ञा में रहना अस्वीकार कर दिया। वह गुजरात से मालवा की ओर जाने वाले व्यापारियों को लूटने लगा। लूटे गए व्यापारियों ने गुजरात के राजा वीरधवल से फरियाद की। व्यापारियों की बात सुनकर वीर धवल ने धूंधल को दंडित करने का निर्णय किया। उसने अपने मंत्री तेजपाल को धूंधल से युद्ध करने की आज्ञा की। अपनी विशाल सेना लेकर तेजपाल गोधरा पहुंचा। तेजपाल और धूंधल के बीच भयंकर संग्राम हुआ। तेजपाल के पराक्रम के आगे धूंधल टिक नहीं पाया। वह हार गया। तेजपाल ने उसे लकड़ी के पिंजरे में बंद कर दिया।

अपनी विजय की स्मृति में तेजपाल ने वहां एक भव्य महल बनवाया और उस महल में अत्यन्त सुन्दर और कलात्मक २४ तीर्थकरों का मंदिर निर्मित करवाया ।

वहां से वह न्यायप्रिय मंत्री तेजपाल रास्ते में दान की गंगा बहाते हुए (वटप्रद) बड़ौदा आया । यहां उसने जीर्ण हो गए पार्श्वनाथ भगवान के मंदिर का जीर्णोद्धार करवाया । बड़ौदा के पास अकोटा गांव में मंत्रीश्वर ने धर्म की अभिवृद्धि के लिए प्रथम तीर्थकर आदिनाथ का मंदिर बनवाया ।

वहां से वह मंत्री (दर्भावती) डभोई आया । यहां उसने स्वर्ण-कलशों से सुशोभित कैलाश पर्वत के समान पार्श्वनाथ भगवान का जिन मंदिर बनवाया ।

डभोई से वह पावागढ़ आया । पावागढ़ की पवित्रता और मनोहर वातावरण देखकर वह अत्यन्त आनंदित हुआ । उसने यहां पर सर्वतोभद्र नाम का जिन मंदिर निर्मित करवाया ।

वि.सं. १६६१ में रचे गए प्रबंध चितामणी (वस्तुपाल-तेजपाल प्रबंध) में इस बात का उल्लेख है कि वि.सं. १२८७ में जब तेजपाल ने शत्रुंजय पर्वत पर नंदीश्वर का निर्माण करवाना प्रारंभ किया तब उसने कंटेलिया जाति के पत्थर के १६ खंभे पावक पहाड़ अर्थात् पावागढ़ से जलमार्ग द्वारा पालीताणा मंगवाए थे ।

जैन श्वेताम्बर तपागच्छ के सोमसुन्दर सूरि के शिष्य भुवन सुन्दर सूरि हुए हैं । उन्होंने विभिन्न तीर्थों के अनेक स्तोत्रों की रचना की है । उसमें उन्होंने पावागढ़ तीर्थ के स्तोत्र की भी रचना की है । इस स्तोत्र में उन्होंने तीसरे तीर्थकर संभवनाथ भगवान की स्तुति की है । इसके सातवें पद का अन्तिम पद इस प्रकार है—

स्तुवे पावके भूधरे संभवं तम् ॥

पावागढ़ तीर्थ को शत्रुंजय महातीर्थ के अवतार के रूप में वर्णन करते हुए उन्होंने पांचवें पद्य में कहा है—

स्थितं पुंडरीकाचलस्थावतारे, अखिल लक्ष्माधर श्रेणि शृंगार हारे ।

तृतीयं जिनं कुंददन्तं भदन्तं स्तुवे, पाव के भूधरे संभवं तम् ॥

खंभात के निवासी मेघाशाह ने पावागढ़ के ऊपर संभवनाथ भगवान के जिन मंदिर में कालिकाल के विघ्नों का नाश करने वाली आठ देव कुलिकाओं का निर्माण करवाया था ।

पावकाचल शृंगार श्री संभव जिनालये ।

तेनाष्टौ देवकुलिकाः कलिकालहताः कृताः ।

वि.सं. १६४४ में जिनचन्द्र सूरि द्वारा रचित शत्रुञ्जय गिरि रास में चांपानेर श्रीसंघ का उल्लेख आया है। वह इस प्रकार है :—

विक्रमपुर, मंडोवरउ, सिन्धु जैसलमेर ।
सिरोही जालोरनउ, सोरठी चांपानेर ॥२२ ॥
संघ एक तिहां आविया, भेटण विमल गिरिन्द ।
लोकताणी संख्या अनंत, साथे गुरु जिनचन्द ॥२३ ॥

वि.सं. १५४१ में सोमचारित्र गणि ने गुरुगुण रत्नाकर काव्य की रचना की थी। उसमें उन्होंने मांडवगढ़ के वेल्लाक नाम के संघपति का वर्णन किया है। इस संघपति ने तपागच्छ के सुमति सुन्दर आचार्य की प्रेरणा से ईडरगढ़, जीरावला, आबू, राणकपुर और पावागढ़ का छ'रीपालित संघ निकाला था।

वि.सं. १५०८ में प्राग्वाट सार्दूल ने तपागच्छ के रत्नशेखर सूरि के द्वारा अंजनशलाका कृत २४ तीर्थकरों की प्रतिमाओं में से दो प्रतिमाओं को चांपानेर-पावागढ़ में स्थापित किया गया था।

अकबर प्रतिबोधक तपागच्छ के सुप्रसिद्ध आचार्य श्री हीरसूरिजी के प्रमुख शिष्य आचार्य श्रीसेन सूरिजी अपने गुरु की आज्ञा लेकर वि.सं. १६३२ में चांपानेर पधारे थे। वहां जसवन्त नाम के श्रेष्ठी ने एक मंदिर निर्मित करवाया था उसकी अंजनशलाका-प्रतिष्ठा आचार्य श्री सेन सूरिजी के द्वारा हुई थी।

वि.सं. १७२१ में कवि लक्ष्मी रत्न ने क्षेमा के रास की रचना की थी। उसमें चांपसी मेहता और मुहम्मद बेगड़ा का वर्णन आया है जो निम्न लिखित है—

गुर्जर देश छे गुणनीलो, पावा नामे गढ़ वेसणो ।
मोटा श्री जिन तणा प्रासाद, सरग सरीशुं माडे वाद ॥१ ॥
वसे सहेर तलेटी तासं चांपानेर नामे सुविलास ।
गढ़ मढ़ मंदिर पोल प्रकाश सप्त भूमि मां उत्तम आवास ॥२ ॥
वरण अठार त्यां सुषि वसे, शोभा देषि मनसु लसें ।
वेपारी नी नही रे मणा, सात से हाट सरइयां तणा ॥४ ॥
पातसाह तिहां परगड़ो राज्य करे मेम्मद बेगड़ो ।

सत्तर सें गुज्जरनो घणि निणे भुजबले कीधी पोहणि घणि
नगरसेठ मेतो चांपसी, अहनिस धर्मताणि मति वसी ॥

इस तरह पावागढ़ की प्राचीनता के अनगिनत उदाहरण हैं। इसकी ऐतिहासिकता निर्विवाद रूप से सिद्ध है।

दो सौ वर्ष तक यह तीर्थ श्वेताम्बर जगत से अज्ञात और अपरिचित रहा। दो सौ वर्ष के बाद परमार क्षत्रियोद्धारक, चारित्र चूड़ामणि, जैन दिवाकर, शासन शिरोमणि आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन्न सूरीश्वर जी महाराज ने इस तीर्थ का पुनरोद्धार किया। पावागढ़ की तलहट में श्री चितामणि पार्श्वनाथ भगवान का भव्य और कलात्मक जिन मंदिर का निर्माण हुआ है।



माणुस्सं खु सुदुल्लहं

□ आचार्य श्री चन्दनमुनि जी

प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह किसी धर्म में आस्था रखता हो अथवा न भी रखता हो, मानवता में विश्वास अवश्य रखता है। मानव में मानवीय गुणों का होना आवश्यक है। धर्म विश्वास और व्यक्तिगत आस्था की वस्तु है। उसमें विश्वास रखने वाला स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, इहलोक-परलोक आदि के अस्तित्व में भी विश्वास करता है, परन्तु मानवता में विश्वास रखने वाले के लिये ऐसी बाध्यता नहीं है। मानव को सही रूप में मानव बनाने के लिये कुछ ऐसे व्यावहारिक नियम हैं, कुछ विशिष्ट गुण हैं, जिन्हें जीवन में उतारने से मनुष्य की दानवीय और पाशविक वृत्तियां नष्ट हो जाती हैं, फलतः उसके हृदय में मनुष्यत्व की उदार भावना का उद्भव होता है।

भगवान् महावीर ने मनुष्यत्व की प्राप्ति के चार हेतु बतलाये हैं। यदि ये चार गुण जीवन में साकार हो जाएं तो व्यक्ति मनुष्यता प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। उन चार कारणों का उल्लेख करते हुये भगवान् महावीर कहते हैं—

“चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्साउयत्ताए कम्मं पकरेंति तं जहा-पगइभदयाए, पगइविणीययाए, साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए ।” —स्थानांग ४/६३०

चार कारणों से जीव मनुष्यत्व के योग्य कर्मों को संचित करता है। मनुष्य-भव की प्राप्ति के योग्य बनता है। वे चार कारण हैं—प्रकृति-भद्रता, प्रकृति-विनीतता, सानुक्रोश-भाव और अमात्सर्य।

प्रथम गुण है—प्रकृति-भद्रता अर्थात् प्रकृति से-स्वभाव से भद्र होना—सरल होना। इस गुण को धारण करने वाला मानव स्वतः अच्छा बन जाता है। जो लोग प्रकृति से सरल होते हैं, वे दूसरों को सहज रूप में प्रिय लगते हैं। धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, सामायिक-संवर आदि का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है जिनके स्वभाव में कृत्रिमता न हो, किसी प्रकार का दुराव-छिपाव न हो, भीतर और बाहर कोई भेद न हो, वे धार्मिक क्रिया-काण्ड न करते हुए भी धार्मिक होते हैं। उनका अन्तःकरण पवित्र होता है।

बड़ी विचित्र बात है, जो वक्र होते हैं, स्वयं सरल नहीं होते, वे भी सरलता को पसंद करते हैं। दूसरों की वक्रता उन्हें अच्छी नहीं लगती। वस्तुतः भद्रता सभी को भद्र, सौम्य, प्रिय लगती है।

हमने “अन्तर्ध्वनि” नामक पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है कि एक बार हम उदयपुर के परिसर की पहाड़ियों में प्रातः परिभ्रमण के लिये गये। किसी पहाड़ी की उपत्यका में स्थित होकर चारों ओर निहारने लगे, कहीं भारी-भारी पाषाण-खण्ड लुढ़के पड़े हैं, कहीं बड़ी-बड़ी चट्टानें अपने विशाल कलेवर को फैलाये सहज रूप में लेटी हैं, कहीं सूखा, कहीं हरा घास अर्धजरती (प्रौढ़ा) स्त्री के बालों के समान दृष्टिगोचर हो रहा है। सारा वातावरण अस्त-व्यस्त है, कहीं कोई सजावट नहीं है। फिर भी वह स्थल अत्यन्त मनोरम, रमणीय एवं आकर्षक प्रतीत हो रहा है। हमने उस पार्वतीय भू-स्थल से ही पूछ लिया कि तुम में किस बात का आकर्षण है। साज-सज्जा का तो कहीं नाम-निशान तक नहीं, फिर भी तुम अन्तःकरण को आकृष्ट करते हो, क्या कारण है? तभी मूक प्रत्युत्तर मिला कि हम अकृत्रिम हैं। हमारे पास कृत्रिम साज-सज्जा नहीं है, इसलिए हम आकर्षक हैं। यहां जो कुछ है, सहज है, बनावटी नहीं है, इसीलिये सुन्दर, मनोहर और मनमोहक है।

हमने एक सबक सीखा कि सहजता-प्रकृति की अकृत्रिमता प्रियता उत्पन्न करती है। जो मनुष्य शुष्क तर्क के स्पर्श से अछूता होता है, स्वतः सुन्दर होता है। इसी कारण प्रकृति की भद्रता मानवता की प्राप्ति के लिये आवश्यक प्रथम सद्गुण है।

दूसरा गुण है—प्रकृति-विनीतता। यह भी अपने आप में अनूठा है। विनीतता-नम्रता व्यक्ति को सर्वप्रिय बना देती है। इसमें अपने पास से कुछ नहीं लगता इसके द्वारा बहुत कुछ प्राप्त किया जा सकता है। विनयशील की सर्वत्र महत्ता होती है। सभी द्वारा उसे आदर प्राप्त होता है। जहां सहज रूप से गर्व का परिहार हो जाता है वहां कर्कशता स्थान नहीं पाती। जैनागमों ने तो “विणओ सासणे मूलं” कहकर इसके गौरव को शतगुणित कर दिया है। स्वस्थ

मूल पर ही स्कन्ध, शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फल आदि आधारित रहते हैं। यदि मूल सूख गया तो ऊपर वाले परिकरों की क्या आशा की जा सकती है ?

प्राचीन जैन ग्रन्थों में यव राजर्षि का एक सुन्दर प्रसंग उल्लिखित है, जो विनयशीलता का जीवन्त उदाहरण है।

यवराज यवपुर नामक नगर के राजा थे। उनकी महारानी धारिणी ने एक पुत्र और एक कन्या को जन्म दिया। पुत्र का नाम गर्दभिल्ल तथा कन्या का नाम अणोलिका रखा गया। एक बार महाराज यव अपनी प्रिय पुत्री को गोद में लिये बैठे थे और नन्हीं बालिका के साथ क्रीड़ा-विनोद कर रहे थे, तभी एक नैमित्तिक (भविष्यवक्ता, ज्योतिषी) आया। उसने भविष्यवाणी की कि यह कन्या ऐसी सुलक्षणयुक्त है कि इसका पति निश्चित रूप से राजा होगा। राजपुत्री का पति राजा हो, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं थी अतः बात आई-गयी हो गई। परन्तु राजा के महामंत्री दीर्घपृष्ठ ने जब यह बात सुनी तो उसके मन में कुछ हलचल मच गई। उसने सोचा कि ज्योतिषी के अनुसार अणोलिका का पति अवश्य राजा बनेगा। क्यों न इस कन्या का विवाह मेरे पुत्र के साथ हो जाय, मेरा पुत्र भी कोई मांडलिक नरेश बन जायेगा।

अस्तु- समय बीतता रहा। गर्दभिल्ल पढ़ लिख कर योग्य बन गया। कन्या अणोलिका भी क्रमशः तारुण्य की ओर बढ़ने लगी।

एक बार चतुर्ज्ञानी आचार्य अभिधान सूरि का यवपुर में पदार्पण हुआ। धर्मोपदेश सुनकर राजा यव प्रतिबुद्ध हुये। उन्होंने तत्काल राज्य-शासन का परित्याग कर संयम-जीवन स्वीकार कर लिया। राज-काज का सारा भार राजकुमार गर्दभिल्ल पर आ पड़ा। दीर्घपृष्ठ सुयोग्य मंत्री था अतः राज्यकार्य के संचालन में वह पूरा सहयोग करने लगा। नये राजा गर्दभिल्ल ने शीघ्र ही सारी व्यवस्थाएँ अपने नियन्त्रण में ले लीं।

राजर्षि यव मुनि बनकर गुरु की सेवा में तल्लीन हो गये। विनयशील होने के साथ साथ ये बड़े व्यवहार-कुशल तथा इंगिताकार-सम्पन्न भी थे। राजर्षि की अकृत्रिम भक्ति से गुरु भी बहुत प्रसन्न थे। गुरु चाहते थे कि सेवा-वैयावृत्य आदि के साथ-साथ यव कुछ ज्ञानार्जन भी करे अतः वे बार-बार उन्हें ज्ञानार्जन की प्रेरणा देते, यवऋषि ! तुम्हें ज्ञानार्जन के लिये कुछ परिश्रम करना चाहिये। ज्ञान दीपक है, ज्ञान परम ज्योति है। क्रिया से भी ज्ञान का स्थान प्रथम है। अतः तुम्हें प्रयत्न करना चाहिए परन्तु यवराजर्षि के मस्तिष्क में यह भ्रम घर कर गया था कि मैं तो ढलती वय वाला हूँ। अब मुझे ज्ञान-प्राप्ति कैसे हो सकती है ? मैं तो गुरु-भक्ति के द्वारा ही कर्मों

की निर्जरा करता रहूंगा। पर कृपालु गुरुदेव उन्हें ज्ञान की दिशा में भी पुरस्सर-अग्रसर करना चाहते थे। यव राजर्षि पुनः पुनः यही कहकर टाल देते कि गुरुदेव ! आपकी कृपा ही मेरे लिये सब कुछ है। अब ज्ञान तो मुझे क्या प्राप्त होगा, बस, आप श्री की, स्थविरो की, ग्लान और शैक्षों की सेवा करता रहूँ, यही आशीर्वाद दीजिये।

एक बार यव राजर्षि गुरु के साथ विहरणा करते हुए यवपुर के निकटवर्ती किसी नगर में पधारे। गुरु ने सोचा कि इनकी भ्रान्ति के निराकरण का यह समुचित अवसर है। इसलिये एक दिन मुनि यव को सम्बोधित कर गुरु ने कहा—यवमुनि ! यहां से तुम्हारी संसारपक्षीय राजधानी यवपुर बहुत ही कम दूर रही है। यदि तुम वहां जाओ और लोगों को प्रतिबोध दो तो बहुत अच्छा उपकार हो सकता है। सारी प्रजा तुम से परिचित है, अतः तुम्हें अपने प्रजाजनों और संबंधियों को धर्म लाभ, बोधिलाभ अवश्य देना चाहिये। यव राजर्षि मन ही मन बड़े संकुचित हो रहे थे कि मैं प्रजाजनों को क्या ज्ञान दूंगा, उन्हें क्या सुनाऊंगा? मुझे तो कुछ भी नहीं आता। फिर भी गुरु-आज्ञा को शिरोधार्य कर वे अपनी संसार पक्षीय राजधानी की ओर रवाना हो गये। मस्तिष्क में एक ही हलचल थी कि वहां जाकर क्या उपदेश सुनाऊंगा? प्रत्येक व्याख्याता को कथा के प्रारम्भ में कोई पद्य, गाथा अथवा आगमवाणी का उच्चारण करना आवश्यक होता है पर मुझे तो एक गाथा तक स्मरण नहीं।

इसी उधेड़बुन में मुनि आगे बढ़ते जा रहे थे। जिस मार्ग में वे चल रहे थे, मार्ग के दोनों ओर यवों (जौ) के खेत लहलहा रहे थे। किसान खेतों की रखवाली कर रहे थे। मुनि ने देखा कि एक गधा जौ खाने के लिये खेत के आस-पास चक्कर काट रहा था परन्तु खेत का मालिक हाथ में लाठी लिये बैठा था, इसलिये गधा जौ खा नहीं पा रहा था। गधे को जौ की ओर ललचायी दृष्टि से देखते अवलोकित कर किसान ने कहा—

“ओहावसि पहावसि, ममं चेव निरक्खसि।

लक्खिओ ते अभिप्पाओ, जवं पेच्छसि गद्दहा।”

अर्थात् गधे ! तू इधर दौड़ता है, कभी उधर दौड़ता है पर तू मुझे देख रहा है। मैं तेरा अभिप्राय जान चुका हूँ, तू जौ खाना चाहता है।

जब यह गाथा यव राजर्षि के कानों में पड़ी तो उन्होंने सोचा, कम से कम इस गाथा को याद करलूँ तो कथा के प्रारम्भ में तो कहने के काम आ ही जायेगी। ऋषि वहीं खड़े रह गये उस गाथा को ध्यान से सुनने लगे। प्रायः लाव द्वारा पानी खींचने वाले किसान लोग, एक ही शब्द या

पद को बार-बार गुनगुनाये जाते हैं। इसी भांति किसान भी इस गाथा को बार-बार दोहरा रहा था। यव राजर्षि ने उस गाथा का अवधारण कर लिया, उसे स्मृति में संजो लिया।

मुनि आगे बढ़े। मार्ग में किसी गाँव के पास से गुजरते हुए देखा कि कुछ बालक वहाँ गिल्ली-डंडा खेल रहे थे। यह हमारे देश की एक प्राचीन क्रीड़ा है। बीच में से मोटी तथा दोनों किनारों से नुकीली काठ की गिल्ली और डण्डे के साथ बालक गलियों में इससे खेलते हैं। छोटी-सी गिल्ली को डण्डे से आहत कर दूर उछालते हैं, कभी ऊंची उछालते हैं। दूर उछली गिल्ली को बच्चे फिर ढूँढ लाते हैं।

खेलते हुये बालकों ने जब गिल्ली को जोर से डंडे से आहत किया तो वह किसी अंध कूप में जा गिरी। वह बालकों की दृष्टि में नहीं आई। वे चारों तरफ उसे खोजने लगे पर गिल्ली उन्हें नहीं मिली। उस समय एक बुद्धिमान् बालक को यह सन्देह हो गया कि अवश्य ही गिल्ली इस अन्धकूप में जा गिरी है अतः उसने एक गाथा का उच्चारण किया—

“इओ गया, तओ गया, जोइज्जंति न दीसइ।

तुम्हे न दिट्ठा अम्हे न दिट्ठा, अगडे छूढा अणुल्लिया ॥”

कोई कहता है इधर गई, कोई कहता है उधर गई, खोजते हुए भी दिखायी नहीं पड़ती। तुमने भी उसे नहीं देखा, हमने भी नहीं देखा। लगता है, वह अणुल्लिया—अणोलिका यानि गिल्ली अगड में—अन्धकूप में जा गिरी है।

राजर्षि ने सोचा—यह गाथा भी काम की है। उन्होंने उसे भी स्मृतिपट पर अंकित कर लिया।

मुनि के पास दो गाथाओं का संकलन हो गया। दोनों का मन ही मन पुनरावर्तन करते हुये वे आगे बढ़े। दिन ढलने लगा था। यव मुनि अपने नगर यवपुर के बाहरी भाग में आ पहुंचे। वहाँ एक कुम्हार के घर ठहरे। अपनी दैनिक चर्या से निवृत्त होकर मुनि बैठे थे। उन्होंने देखा कुम्हार के घर में चूहों के बहुत सारे बिल थे। मोटे-मोटे मूषक इधर-उधर दौड़ रहे थे, बिलों में जा रहे थे, आ रहे थे। चूहों को इस प्रकार खेलते हुए देखकर कुम्हार ने अपनी मस्ती में एक गाथा का उच्चारण किया—

“सुकुमालय-भदलया, रतिं हिंडणसीलया।

मम समा साओ नत्थि भयं, दीहपिट्ठाओ ते भयं ॥”

UetneW! legce megkegâceej nes, keâesceue nes, Yeô nes ~
 jeeſe kesâ meceÛe legce Dekeâamej FOej-GOej Ûekeâkeâj ueieeles
 nes ~ cet < ekeâes! legcnW cegPe mes keâesF& YeÛe veneR, hej
 oerle&he = ... (meebhe) mes legcnW YeÛe nw ~

गाथा सुनकर यव राजर्षि ने सोचा—एक यह गाथा भी अच्छी है, प्रवचन में काम आयेगी। कम से कम दो तीन प्रवचन तो देने ही होंगे। अतः इसे भी कंठस्थ कर लेना चाहिये।

मुनिवर ने वह गाथा भी याद कर ली। इस प्रकार यव राजर्षि के पास तीन गाथाओं का संबल हो गया। प्रायः ऐसा होता ही है, जिसने कभी भाषण न दिया हो, प्रवचन न किया हो, उसे प्रारम्भ में बहुत कुछ सोचना पड़ता है। इधर-उधर से सामग्री जुटानी पड़ती है। बोलने का क्रम जमाना पड़ता है। फिर भी मन में यह शंका बनी रहती है कि सभा के सामने कोई भूल न हो जाये। इसी चिन्ता में यव राजर्षि को रात में नींद नहीं आयी। कहीं यत्नपूर्वक सहेजी हुई गाथाएं विस्मृत न हो जायें, इसी भय से वे ऊंचे स्वर से रह-रहकर उन तीनों पद्यों का उच्चारण करने लगे।

दूसरी तरफ गर्दभिल्ल राजा बड़ी मुसीबत में था। राजकुमारी अणोलिका के विषय में भविष्यवाणी सुनकर महामंत्री दीर्घपृष्ठ की दृष्टि उस पर टिकी थी। वह किसी प्रकार उसका विवाह अपने पुत्र के साथ कर अपने पुत्र को राजा बनाना चाहता था। यवराजर्षि के गृहस्थाश्रम में रहते तो उसका वश चला नहीं। उनके मुनि बनने के पश्चात् गर्दभिल्ल राजा बना। उसने बहिन अणोलिका के लिये योग्यवर की खोज आरम्भ कर दी। परन्तु इसी बीच मौका पाकर दीर्घपृष्ठ ने अणोलिका का गुप्तरूप से अपहरण करवा लिया और उसे अपनी विशाल हवेली के तलघर में छिपा दिया।

राजा गर्दभिल्ल बहिन के अपहरण से भारी चिन्ता में पड़ गया। प्रिय बहिन को कौन दुष्ट अपहृत कर ले गया, गर्दभिल्ल समझ नहीं पा रहा था। चारों ओर बड़े जोर-शोर से राजकन्या की खोज होने लगी परन्तु स्थिति बिलकुल अस्पष्ट थी, सुराग नहीं लग रहा था। खोजियों की दौड़धूप से महामात्य मन ही मन शंकित था।

उन्हीं दिनों यव राजर्षि का नगर में पदार्पण हुआ। महामात्य को किसी व्यक्ति ने आकर सूचना दी कि यव राजर्षि पधारें हैं और नगर के बाहर किसी कुम्हार की कुटिया में ठहरे हैं। कल नगर में पधारने वाले हैं। कहावत है “चोर की दाढ़ी में तिनका”, चोर का मन प्रति क्षण भयाक्रान्त बना रहता है। वह कभी आश्वस्त नहीं होता। अकस्मात् यवराजर्षि का पदार्पण दीर्घपृष्ठ के लिये कुशंका का हेतु बन गया। उसने सोचा—हो सकता है, किसी विशिष्ट साधना द्वारा मुनि को

कोई ज्ञानोपलब्धि हो गई हो। कहीं ऐसा न हो कि ये मेरी कपटपूर्ण घटना के पट उधाड़ दें। अतः पहले इसका इंतजाम करना चाहिये कि राजा मुनि के नजदीक जाये ही नहीं।

महामात्य रात्रि के प्रथम प्रहर में अचानक राजा से मिलने आया और कहा—महाराज ! एक चिन्ताजनक स्थिति के सम्बन्ध में कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। असमय में महामात्य के आगमन से ही राजा सशंक हो उठा था। उसने कहा—शीघ्र कहो ! महामंत्री ने कहा—मुझे कुछ गुप्तचरों से पता लगा है कि आपके पिता यवराजर्षि मुनिधर्म से विचलित हो गये हैं। वे पुनः अपना राज्य अधिकृत करना चाहते हैं। इसीलिए वे अकेले यवपुर आये हैं तथा नगर के बाहर ठहरे हैं। आप सावधान रहें, कहीं आपके लिए कोई खतरा पैदा न हो जाये। राजा के आश्चर्य का पार नहीं रहा। साथ-साथ थोड़ा दुःख भी हुआ कि उत्कृष्ट त्याग-वैराग्य से संयम स्वीकारने वाले पिता संयम मार्ग से चलित हो रहे हैं। यद्यपि बात पर विश्वास नहीं होता, फिर भी अकस्मात् अकेले यवपुर आने का क्या प्रयोजन हो सकता है ! राजा ने मंत्री को आश्वस्त करते हुए कहा—आप चिन्ता न करें, मैं रहस्य का पता लगाने का पूरा प्रयत्न करूँगा। दीर्घपृष्ठ चला गया परन्तु राजा की आंखों से नींद गायब हो गई। विचारों का मन्थन चलने लगा। आखिर अकेला राजा हाथमें खड्ग लेकर नगर के बाहर स्थित कुम्हार की कुटिया के पास पहुंचा। सीधे मुनि के पास न पहुंचकर गर्दभिल्ल बेचैनी से कुटिया के बाहर चक्कर लगाने लगा। उसी समय मुनि ने पुनरावर्तन हेतु प्रथम गाथा का सस्वर पारायण किया —

“ओहावसि पहावसि, ममं चेव निरक्खसि ।

लक्खिओ ते अभिप्पाओ, जवं पेच्छसि गद्दहा ।”

गाथा सुनकर राजा के पांव ठिठक गये। गाथा उस पर पूर्णतया घटित हो रही थी। वहां किसान ने गधे को सम्बोधित कर गाथा का उच्चारण किया था, यहां राजा का नाम गर्दभिल्ल था। उधर यवों का खेत था, इधर स्वयं राजर्षि यव थे। अतः गाथा का तात्पर्य यहां भी इस प्रकार घटित होता था कि गर्दभिल्ल ! तू कभी इधर देख रहा है, कभी उधर, परन्तु तू मुझे ही देख रहा है, तेरा अभिप्राय मैंने समझ लिया है।

राजा विचार करने लगा कि मुनिवर्य तो अन्तर्ज्ञानी हैं। अन्धकार पूर्ण रात्रि में कुटियाके भीतर इन्हें कैसे पता चला कि मैं इनको देखने ही यहां आया हूँ। यदि मेरी खोई हुई बहिन का कुछ पता ये बतला दें तो मैं समझूँगा कि ये विशिष्ट ज्ञान के धारक हैं और मेरी इनके प्रति जो धारणा बनी है, वह सर्वथा निर्मूल है।

इधर राजा ने सहज भाव से यह चिन्तन किया, उधर संयोगवश यव राजर्षि ने दूसरी गाथा

का पारायण किया :—

“इओ गया तओ गया, जोइज्जंती न दीसइ ।
अम्हे न दिट्ठा तुम्हे न दिट्ठा, अगडे छूठा अणुल्लिया ॥”

वहां गाथा में अणुल्लिका गुल्ली को कहा गया था, यहां कन्या का नाम अणुल्लिका या अणोलिका था। यह गाथा भी यहां घटित हो गई। अर्थात् बहुत अनुसंधान करने पर भी अणोलिका का पता नहीं लग रहा है। वह तो अगड में- अन्ध कूप में अथवा भूगर्भगृह में क्षिप्त है- छिपाई हुई है।

इतना सुनते ही राजा चौकन्ना हो गया। मेरी बहिन किसी गर्भ-गृह में छिपाई हुई है। परन्तु महामात्य ने तो मुझे कहा था कि राजर्षि यव मुझे मारकर पुनः राज्य हथियाना चाहते हैं। यदि पिताश्री मेरी इस आशंका को निर्मूल करदें तो आगे की गुत्थी सुलझ जाए। मैं आजीवन इनका ऋणी रहूंगा।

दूसरी ओर मुनि के स्वाध्याय में तीसरी गाथा का क्रम आया —

“सुकुमालय-भद्लया, रत्तिं हिंडणसीलया ।
मम समासाओ नत्थि भयं, दीहपिट्ठाओ ते भयं ॥”

अरे सुकुमार-सुकोमल ! भद्रप्रकृते ! रात्रि-भ्रमण करने वाले ! मेरी ओर से तुझे कोई भय नहीं है पर तुझे तो दीर्घपृष्ठ से भय है।

यहां यह ज्ञातव्य है कि कुम्भकार का दीर्घपृष्ठ से सर्प का आशय था, जबकि यहां दीर्घपृष्ठ से महामात्य का नाम संकेतिक होता था।

उपर्युक्त गाथा सुनते ही गर्दभिल्ल बिना मुनिदर्शन किये बाहर से ही अपने महल में लौट आया। सवेरा होने से पहले-पहले उसके आदेश से महामंत्री के आवास की तलाशी ली गई, पूरी छानबीन की गई। उसकी हवेली के तलघर में छिपाई गई अणोलिका को बरामद कर लिया गया। बहिन-भाई मिले। राजकुमारी के अपहरण का उद्देश्य क्या था, स्पष्ट हो गया। तत्काल महामंत्री की सारी संपत्ति जब्त कर ली गई और राजद्रोह के अपराध में उसे देश से निर्वासित कर दिया गया।

हर्षोल्लास और उत्साह के साथ राजा गर्दभिल्ल सपरिवार राजर्षि यव के दर्शनार्थ आया। मंत्री, सामन्त, सेनानायक आदि साथ थे। सूचना पाकर यवपुर की जनता भी उमड़ पड़ी। स्वागत-सत्कार के साथ मुनिवर का नगर में पदार्पण हुआ।

यव राजर्षि का भक्तिपूर्वक अभिनन्दन करते हुए राजा ने कहा—ऋषिवर ! धन्य है आप ! इतने थोड़े समय में आपने इतना बड़ा अन्तर्ज्ञान उपलब्ध कर लिया । आपके आगमन मात्र से मेरी सारी समस्याएं समाहित हो गई ।

राजर्षि मन ही मन विस्मित थे राजा किस अन्तर्ज्ञान का जिक्र कर रहा है ? मेरे पास कौन सा ज्ञान है ! राजा ने पुनः कहा—प्रभो ! आप द्वारा उच्चारित तीन गाथाओं ने मेरी सारी गुत्थियां सुलझा दीं, वरना दीर्घपृष्ठ का दुश्चक्र तो बड़ा भयंकर था ।

यव मुनि मन ही मन समझ गये कि यह तो पूज्य गुरुदेव की सेवा का ही, कृपा का ही फल है, अन्यथा ये साधारण गाथाएं किस प्रकार इतनी फलप्रद हो सकती थी । मैं कैसा मन्दभाग्य हूँ, गुरुदेव मुझे अध्ययन करवाना चाहते हैं और मैं अपनी भ्रान्ति के कारण उस ओर ध्यान ही नहीं देता । आज मेरे सामने यह प्रत्यक्ष चमत्कार है कि ज्ञान का कण्ठाग्र होना कितना उपयोगी सिद्ध होता है । कहा है—“न वि अत्थि, न वि य होई, सज्जायसमं तवोकम्मं” अर्थात् स्वाध्याय के समान तप न हुआ है, न हो सकता है । यह चिन्तन कर यव राजर्षि स्वाध्याय में प्रवृत्त हो गये । वे बाह्य तप के साथ साथ आभ्यन्तर तप में भी लीन रहने लगे ।

यहां मनुष्यत्व के दूसरे हेतु का विवेचन चल रहा है । उपर्युक्त घटना से स्पष्ट है, विनयशीलता क्या प्राप्त नहीं कराती । विनयशील शिष्य राजर्षि यव की तरह उत्तमोत्तम गुणों के पात्र बनते हैं ।

मानवता का तीसरा कारण बतलाया गया है—सानुक्रोशता— दयालुता, कृपा परायणता । यह भी अपने आप में एक विशिष्ट गुण है । जिस व्यक्ति के हृदय में दया की भावना नहीं होती, किसी का बाह्य या आन्तरिक उत्पीड़न देखकर जिसका हृदय करुणार्द्र नहीं होता, वह वस्तुतः हृदयहीन है । वह दिल क्या है, दरअसल पत्थर है । चाहे व्यक्ति किसी भी धर्म को नहीं मानता हो, किसी साधना-पद्धति में विश्वास नहीं रखता हो पर हृदय की कोमलता तथा सहानुभूति के भाव तो हर किसी में होने ही चाहिए । अन्यथा वह मानवता का अधिकारी ही नहीं हो सकता । अनुकम्पा विश्व का आधार है । इसी से जगत् सुस्थित है । यदि हिंसा को खुलकर खेलने का अवसर मिल जाए तो संसार में त्राहि त्राहि मच जायेगी । इसीलिए दया को भगवती, जननी कहा गया है । प्रश्नव्याकरण सूत्र में तीस विभिन्न नामों से अहिंसा को व्याख्यात किया गया है ।

मनुजत्व का चौथा हेतु है अमत्सरता । मत्सर एक बहुत बड़ा दुर्गुण है । इससे मन में द्रोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि की प्रवृत्ति बढ़ती है । दूसरे का सद्गुण देखकर मन में जलन पैदा होती है । मात्सर्य

साधक के लिए तो घातक है ही, सामान्य जन से भी यह मानवत्व का अधिकार छीन लेता है।
आचार्य हेमचन्द्र अभिधान- चिन्तामणि में लिखते हैं —

“द्विजिह्वो मत्सरी खलः।”

मत्सरी को द्विजिह्व भी कहा जाता है। द्विजिह्व सर्प का भी नाम है मात्सर्ययुक्त व्यक्ति एक प्रकार से सांप की ज्यों विषैला प्राणी है।

मानवता का यह चौथा हेतु हमें प्रेरित करता है कि सभी स्थानों में हम गुणों पर ही ध्यान दें, किसी के दुर्गुण न देखें। किसी को बुरा बतलाने की चेष्टा न करें। इसी से हमें मनुष्य कहलाने का अधिकार प्राप्त हो सकता है, मानवता की सच्ची भूमिका का निर्माण हो सकता है।

ये चारों ही कारण अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण है। प्रभु महावीर के उपदेशानुसार यदि कोई इन्हें जीवन में उतार लेता है, वह सही अर्थ में मानव बन जाता है तथा भवान्तर में भी मानव बनने की भूमिका प्राप्त कर लेता है।



ज्ञान भंडारों पर एक दृष्टिपात

□ आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्य विजय जी

इस युग के विकसित साधन और विकसित व्यवहार की दृष्टि से लाइब्रेरी या पुस्तकालयों का विश्व में जो स्थान है वही स्थान पहले के समय में उस युग की मर्यादा के अनुसार भाण्डारों का था। धन, धान्य, वस्त्र, पात्र आदि सांसारिक चीजों के भाण्डारों की तरह शास्त्रों का भी भाण्डार अर्थात् संग्रह होता था जिसे धर्मजीवी और विद्याजीवी ऋषि-मुनि या विद्वान ही करते थे। यह प्रथा किसी एक देश, किसी एक धर्म या किसी एक परम्परा में सीमित नहीं रही है। भारतीय आर्यों की तरह ईरानी आर्य, क्रिश्चियन और मुसलमान भी अपने सम्मान्य शास्त्रों का संग्रह सर्वदा करते रहे हैं।

भाण्डार के इतिहास के साथ अनेक बातें संकलित हैं—लिपि, लेखन कला, लेखन के साधन, लेखन का व्यवसाय इत्यादि। परन्तु यहां तो मैं अपने लगभग चालीस वर्ष के प्रत्यक्ष अनुभव से जो बातें ज्ञात हुई हैं उन्हीं का संक्षेप में निर्देश करना चाहता हूं।

जहां तक मैं जानता हूं, कह सकता हूं कि भारत में दो प्रकार के भाण्डार मुख्यतया देखे जाते हैं—व्यक्तिगत मालिकी के और सांघिक मालिकी के। वैदिक परम्परा में पुस्तक संग्रहों का मुख्य सम्बन्ध ब्राह्मण वर्ग के साथ रहा है। ब्राह्मणवर्ग गृहस्थाश्रम प्रधान है। उसे पुत्र-परिवार आदि का परिग्रह भी इष्ट है—शास्त्रसम्मत है। अतएव ब्राह्मण-परम्परा के विद्वानों के पुस्तक-संग्रह प्रमुख रूप से व्यक्तिगत मालिकी के रहे हैं, और आज भी हैं। गुजरात, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, मिथिला या दक्षिण के किसी भी प्रदेश में जाकर पुराने ब्राह्मण-परम्परा के संग्रह को हम देखना चाहें तो वे किसी-न-किसी व्यक्तिगत कुटुम्ब की मालिकी के ही मिल

सकते हैं। परन्तु भिक्षु-परम्परा में इससे उलटा प्रकार है। बौद्ध, जैन जैसी परम्पराएँ भिक्षु या श्रमण परम्परा में सम्मिलित हैं। यद्यपि भिक्षु या श्रमण गृहस्थों के अवलम्बन से ही धर्म या विद्या का संरक्षण, संवर्धन करते हैं तो भी उनका निजी जीवन और उद्देश अपरिग्रह के सिद्धान्त पर अवलम्बित है—उनका कोई निजी पुत्र-परिवार आदि नहीं होता। अतएव उनके द्वारा किया जाने वाला या संरक्षण पाने वाला ग्रन्थसंग्रह सांघिक मालिकी का रहा है और आज भी है। किसी बौद्ध विहार या किसी जैन संस्था में किसी एक आचार्य या विद्वान् का प्राधान्य कभी रहा भी हो तब भी उसके आश्रम में बने या संरक्षित ज्ञानभाण्डार तत्त्वतः संघ की मालिकी का ही रहता है या माना जाता है।

सामान्य रूप से हम यही जानते हैं कि इस देश में बौद्ध विहार न होने से बौद्ध संघ के भाण्डार भी नहीं हैं, परन्तु वस्तुस्थिति भिन्न है। यहां के पुराने बौद्ध विहारों के छोटे-बड़े अनेक पुस्तक-संग्रह कुछ उस रूप में और कुछ नया रूप लेकर भारत के पाड़ौसी अनेक देशों में गए। नेपाल, तिब्बत, चीन, सीलोन, बर्मा आदि अनेक देशों में पुराने बौद्ध शास्त्रसंग्रह आज भी सुलभ हैं।

जैन परम्परा के भिक्षु भारत के बाहर नहीं गए। इसलिए उनके शास्त्रसंग्रह भी प्रमुख रूप से भारत में ही रहे। शायद भारत का ऐसा कोई भाग नहीं जहाँ जैन पुस्तक-संग्रह थोड़े-बहुत प्रमाण में न मिले। दूर दक्षिण में कर्णाटक, आन्ध्र, तमिल आदि प्रदेशों से लेकर उत्तर के पंजाब, उत्तर प्रदेश तक और पूर्व के बंगाल, बिहार से लेकर पश्चिम के कच्छ, सौराष्ट्र तक जैन भाण्डार आज भी देखे जाते हैं, फिर भले ही कहीं वे नाम मात्र के हों। ये सब भाण्डार मूल में सांघिक मालिकी की हैसियत से ही स्थापित हुए हैं। सांघिक मालिकी के भाण्डारों का मुख्य लाभ यह है कि उनकी वृद्धि, संरक्षण आदि कार्यों में सारा संघ भाग लेता है और संघ के भिन्न-भिन्न दर्जों के अनुयायी गृहस्थ धनी उसमें अपना भक्तिपूर्वक साथ देते हैं, जिससे भाण्डारों की शास्त्रसमृद्धि बहुत बढ़ जाती है और उसकी रक्षा भी ठीक ठीक होने पाती है। यही कारण है कि बीच के अन्धाधुन्धी के समय सैकड़ों विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी हजारों की संख्या में पुराने भाण्डार सुरक्षित रहे और पुराने भाण्डारों की काया पर नए भाण्डारों की स्थापना तथा वृद्धि होती रही, जो परम्परा आज तक चल रही है।

इस विषय में एक-दो ऐतिहासिक उदाहरण काफी हैं। जब पाटन, खम्भात आदि स्थानों में कुछ उत्पात देखा तो आचार्यों ने बहुमूल्य शास्त्रसम्पत्ति जैसलमेर आदि दूरवर्ती संरक्षित स्थानों में स्थानान्तरित की। इससे उलटा, जहाँ ऐसे उत्पात का सम्भव न था वहाँ पुराने संग्रह वैसे ही रहे,

जैसे कि कर्णाटक के दिगम्बर भाण्डार ।

यों तो वैदिक, बौद्ध आदि परम्पराओं के ग्रन्थों के साथ मेरा वही भाव व सम्बन्ध है जैसा जैन-परम्परा के शास्त्र-संग्रहों के साथ, तो भी मेरे कार्य का प्रमुख सम्बन्ध परिस्थिति की दृष्टि से जैन भाण्डारों के साथ रहा है । इससे मैं उन्हीं के अनुभव पर यहां विचार प्रस्तुत करता हूं । भारत में कम से कम पांचसौ शहर, गांव, कस्बे आदि स्थान होंगे जहां जैन शास्त्रसंग्रह पाया जाता है । पांचसौ की संख्या—यह तो स्थानों की संख्या है, भाण्डारों की नहीं । भाण्डार तो किसी एक शहर, एक कस्बे या एक गांव में पन्द्रह-बीस से लेकर दो-तीन तक पाए जाते हैं । पाटन में बीस से अधिक भाण्डार हैं तो अहमदाबाद, सूरत, बीकानेर आदि स्थानों में भी दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह के आसपास होंगे । भाण्डार का कद भी सबका एकसा नहीं । किसी किसी भाण्डार में पचीस हजार तक ग्रन्थ हैं, तो किसी किसी में दो सौ, पांचसौ भी हैं । भाण्डारों का महत्व भिन्न-भिन्न दृष्टि से आंका जाता है—किसी में ग्रन्थराशि विपुल है तो विषय-वैविध्य कम है, किसी में विषय-वैविध्य बहुत अधिक है तो अपेक्षाकृत प्राचीनत्व कम है, किसी में प्राचीनता बहुत अधिक है, किसी में जैनेतर बौद्ध, वैदिक जैसी परम्पराओं के महत्वपूर्ण ग्रन्थ शुद्ध रूप में संगृहित हैं तो किसी में थोड़े ग्रन्थ ऐसे हैं जो उस भाण्डार के सिवाय दुनिया के किसी भाग में अभी तक प्राप्त नहीं हैं, विशेष रूप से ऐसे ग्रन्थ बौद्ध-परम्परा के हैं, किसी में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी, फारसी आदि भाषा-वैविध्य की दृष्टि से ग्रन्थराशि का महत्व है तो किसी किसी में पुराने ताड़पत्र और चित्रसमृद्धि का महत्व है ।

सौराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान के अलग-अलग स्थानों में मैं रहा हूं और भ्रमण भी किया है । मैंने लगभग चालीस स्थानों के सब भाण्डार देखे हैं और लगभग पचास भाण्डारों में तो प्रत्यक्ष बैठकर काम किया है । इतने परिमित अनुभव से भी जो साधन-सामग्री ज्ञात एवं हस्तगत हुई है उसके आधार पर मैं कह सकता हूं कि वैदिक, बौद्ध एवं जैन परम्परा के प्राचीन तथा मध्ययुगीन शास्त्रों के संशोधन आदि में जिन्हें रस है उनके लिये अपरिमित सामग्री उपलब्ध है ।

श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी और तेरहपंथी—इन चार फिरकों के आश्रित जैन भाण्डार हैं । यों तो मैं उक्त सब फिरकों के भाण्डारों से थोड़ा बहुत परिचित हूं तो भी मेरा सबसे अधिक परिचय तथा प्रत्यक्ष सम्बन्ध श्वेताम्बर परम्परा के भाण्डारों से ही रहा है । मेरा ख्याल है कि विषय तथा भाषा के वैविध्य की दृष्टि से, ग्रन्थ संख्या की दृष्टि से, प्राचीनता की दृष्टि से, ग्रन्थों के कद, प्रकार, अलंकरण आदि की दृष्टि से तथा अलभ्य, दुर्लभ और सुलभ परन्तु शुद्ध ऐसे बौद्ध, वैदिक जैसी जैनेतर परम्पराओं के बहुमूल्य विविध विषयक ग्रन्थों के संग्रह की दृष्टि से श्वेताम्बर

परम्परा के अनेक भाण्डार इतने महत्त्व के हैं जितने महत्त्व के अन्य स्थानों के नहीं ।

माध्यम की दृष्टि से मेरे देखने में आए ग्रन्थों के तीन प्रकार हैं—ताड़पत्र, कागज और कपड़ा । ताड़पत्र के ग्रन्थ विक्रम की नवीं शती से लेकर सोलहवीं शती तक के मिलते हैं । कागज के ग्रन्थ जैन भाण्डारों में विक्रम की तेरहवीं शती के प्रारम्भ से अभी तक के मौजूद हैं । यद्यपि मध्य एशिया के यारकन्द शहर से दक्षिण की ओर ६० मील पर कुगियर स्थान से प्राप्त कागज के चार ग्रन्थ लगभग ई.स. की पांचवी शती के माने जाते हैं, परन्तु इतना पुराना कोई ताड़पत्रीय या कागजी ग्रन्थ अभी तक जैन भाण्डारों में से नहीं मिला । परन्तु इसका अर्थ इतना ही है कि पूर्वकाल में लिखे गए ग्रन्थ जैसे जैसे बूढ़े हुए—नाशाभिमुख हुए—वैसे वैसे उनके उपर से नई नई नकलें होती गईं और नए रचे जाने वाले ग्रन्थ भी लिखे जाने लगे । इस तरह हमारे सामने जो ग्रन्थ-सामग्री मौजूद है उसमें मेरी दृष्टि से, विक्रम की पूर्व शताब्दियों से लेकर नवीं शताब्दी तक के ग्रन्थों का अवतरण है और नवीं शताब्दी के बाद नए रचे गए ग्रन्थों का भी समावेश है ।

मेरे देखे हुए ग्रन्थों में ताड़पत्रीय ग्रन्थों की संख्या लगभग ३,००० (तीन हजार) जितनी और कागज के ग्रन्थों की संख्या तो दो लाख से कहीं अधिक है । यह कहने की जरूरत नहीं कि इसमें सब जैन फिरकों के सब भाण्डारों के ग्रन्थों की संख्या अभिप्रेत नहीं है, वह संख्या तो दस-पन्द्रह लाख से भी कहीं बढ़ जायेगी ।

भिन्न-भिन्न अपेक्षा से भाण्डारों का वर्गीकरण नीचे लिखे अनुसार किया जा सकता है । इतना ध्यान में रहे कि यह वर्गीकरण स्थूल है ।

प्राचीनता की दृष्टि से तथा चित्रपट्टिका एवं अन्य चित्रसमृद्धि की दृष्टि से और संशोधित तथा शुद्ध किए हुए आगमिक साहित्य की एवं तार्किक, दार्शनिक साहित्य की दृष्टि से—जिसमें जैन परम्परा के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध परम्पराओं का भी समावेश होता है—पाटन, खम्भात और जैसलमेर के ताड़पत्रीय संग्रह प्रथम आते हैं । इनमें से जैसलमेर का खरतर-आचार्य श्रीजिनभद्रसूरि संस्थापित ताड़पत्रीय भाण्डार प्रथम ध्यान खींचता है । नवीं शताब्दी वाला ताड़पत्रीय ग्रन्थ विशेषावश्यक महाभाष्य जो लिपि, भाषा और विषय की दृष्टि से महत्त्व रखता है वह पहले पहल इसी संग्रह से मिला है । इस संग्रह में जितनी और जैसी प्राचीन चित्रपट्टिकाएं तथा अन्य पुरानी चित्र-समृद्धि है उतनी पुरानी और वैसी किसी एक भाण्डार में लभ्य नहीं । इसी ताड़पत्रीय संग्रह में जो आगमिक ग्रन्थ हैं वे बहुधा संशोधित और शुद्ध किए हुए हैं । वैदिक परम्परा के विशेष शुद्ध और महत्त्व के कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जो इस संग्रह में हैं । इसमें सांख्यकारिका परका गौडपाद-भाष्य तथा इतर वृत्तियां हैं । योगसूत्र के ऊपर की व्यासभाष्य सहित तत्त्ववैशारदी

टीका है। गीता का शांकरभाष्य और श्रीहर्ष का खण्डनखण्डखाद्य है। वैशेषिक और न्यायदर्शन के भाष्य और उनके उपर की क्रमिक उदयनाचार्य तक की सब टीकाएं मौजूद हैं। न्यायसूत्र उपर का भाष्य, उसका वार्तिक, वार्तिक पर की तात्पर्यटीका और तात्पर्यटीका पर तात्पर्यपरिशुद्धि तथा इन पांचों ग्रन्थों के उपर विषमपद-विवरणरूप 'पंचप्रस्थान' नामक एक अपूर्व ग्रन्थ इसी संग्रह में है। बौद्ध परम्परा के महत्त्वपूर्ण तर्क-ग्रन्थों में से सटीक सटिप्पण न्यायबिन्दु तथा सटीक सटिप्पण तत्त्वसंग्रह जैसे कई ग्रन्थ हैं। यहां एक वस्तु की ओर मैं खास निर्देश करना चाहता हूं जो संशोधकों के लिये उपयोगी है। अपभ्रंश भाषा के कई अप्रकाशित तथा अन्यत्र अप्राप्य ऐसे बारहवीं शती के बड़े बड़े कथा-ग्रंथ इस भाण्डार में हैं, जैसे कि विलासवईकहा, अरिदुनेमिचरिउ इत्यादि। इसी तरह छन्द विषयक कई ग्रन्थ हैं जिनकी नकलें पुरातत्त्वविद श्री जिनविजयजी ने जैसलमेर में जाकर कराई थी। उन्हीं नकलों के आधार पर प्रोफेसर वेलिनकर ने उनका प्रकाशन किया है।

खम्भात के श्रीशान्तिनाथ ताड़पत्रीय ग्रन्थभाण्डार की दो-एक विशेषताएं ये हैं। उसमें चित्र-समृद्धि तो है ही, पर गुजरात के सुप्रसिद्ध मंत्री और विद्वान् वस्तुपाल की स्वहस्तलिखित धर्माभ्युदय महाकाव्य की प्रति है। पाटन के तीन ताड़पत्रीय संग्रहों की अनेक विशेषताएं हैं। उनमें से एक तो यह है कि वहीं से धर्म कीर्ति का हेतुबिन्दु अर्चट की टीका वाला प्राप्त हुआ, जो अभी तक मूल संस्कृत में कहीं से नहीं मिला। जयराशिका तत्त्वोपप्लव जिसका अन्यत्र कोई पता नहीं वह भी यहीं से मिला।

कागज-ग्रन्थ के अनेक भाण्डारों में से चार-पांच का निर्देश ही यहां पर्याप्त होगा। पाटनगत तपागच्छ का भाण्डार गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी और फारसी भाषा के विविध विषयक सैकड़ों ग्रन्थों से समृद्ध है, जिसमें 'आगमडम्बर' नाटक भी है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। पाटनगत भाभा के पाडे का भाण्डार भी कई दृष्टि से महत्त्व का है। अभी अभी उसमें से छठी-सातवीं शती के बौद्ध तार्किक आचार्य श्री धर्मकीर्ति के सुप्रसिद्ध 'प्रमाणवार्तिक' ग्रन्थ की स्वोपज्ञ वृत्ति मिली है जो तिब्बत से भी आज तक प्राप्त नहीं हुई। खम्भात स्थित जैनशाला का भाण्डार भी महत्त्व रखता है। उसी में वि.सं. १२३४ की लिखी जिनेश्वरीय 'कथाकोश' की प्रति है। जैन भाण्डारों में पाई जाने वाली कागज की पोथियों में यह सबसे पुरानी है। आठ सौ वर्ष के बाद आज भी उसके कागज की स्थिति अच्छी है। उपाध्याय श्री यशोविजयजी के स्वहस्त-लिखित कई ग्रन्थ, जैसे कि विषयतावाद, स्तोत्रसंग्रह आदि, उसी भाण्डार से अभी अभी मुझे मिले हैं। जैसलमेर के एक कागज के भाण्डार में न्याय और वैशेषिक दर्शन के सूत्र, भाष्य, टीका, अनुटीका आदि का

पूरा सेट बहुत शुद्ध रूप में तथा सटिप्पण विद्यमान है, जो वि.सं. १२७९ में लिखा गया है। अहमदाबाद के केवल दो भाण्डारों का ही मैं निर्देश करता हूँ। पगथिया के उपाश्रय के संग्रहों में से उपाध्याय श्री यशोविजयजी के स्वहस्तलिखित प्रमेयमाला तथा वीतरागस्तोत्र अष्टम प्रकाश की व्याख्या—ये दो ग्रन्थ अभी अभी आचार्य श्री विजयमनोहरसूरिजी द्वारा मिले हैं। बादशाह जहांगीर द्वारा सम्मानित विद्वान् भानुचन्द्र और सिद्धिचन्द्र रचित कई ग्रन्थ इसी संग्रह में हैं, जैसे कि नैषध की तथा वासवदत्ता की टीका आदि। देवशा के पाडे का संग्रह भी महत्त्व का है। इसमें भी भानुचन्द्र, सिद्धिचन्द्र के अनेक ग्रन्थ सुने गए हैं।

कपड़े पर पत्राकार में लिखा अभी तक एक ही ग्रन्थ मिला है, जो पाटनगत श्रीसंघ के भाण्डार का है। यों तो रोल-टिप्पने के आकार के कपड़े पर लिखे हुए कई ग्रन्थ मिले हैं, पर पत्राकार लिखित यह एक ही ग्रन्थ है।

सोने-चांदी की स्याही से बने तथा अनेक रंग वाले सैकड़ों नानाविध चित्र जैसे ताड़पत्रीय ग्रन्थों पर मिलते हैं वैसे ही कागज के ग्रन्थों पर भी है। इसी तरह कागज तथा कपड़े पर आलिखित अलंकारस्वचित विज्ञप्तिपत्र, चित्रपट भी बहुतायत से मिलते हैं। पाठे (पढ़ते समय पन्ने रखने तथा प्रताकार ग्रन्थ बांधने के लिये जो दोनों और गत्ते रखे जाते हैं—पुट्टे), डिब्बे आदि भी सचित्र तथा विविध आकार के प्राप्त होते हैं। डिब्बों की एक खूबी यह भी है कि उनमें से कोई चर्मजटित है, कोई वस्त्र जटित है तो कोई कागज से मढ़े हुए हैं। जैसी आजकल की छपी हुई पुस्तकों की जिल्दों पर रचनाएं देखी जाती हैं वैसे इन डिब्बों पर भी ठप्पों से-सांचों से ढाली हुई अनेक तरह की रंग-बिरंगी रचनाएं हैं।

ताड़पत्र, कागज, कपड़ा आदि पर किन साधनों से किस किस तरह लिखा जाता था? ताड़पत्र तथा कागज कहां कहां से आते थे? वे कैसे लिखने लायक बनाए जाते थे? सोने, चांदी की स्याही तथा अन्य रंग कैसे तैयार किए जाते थे?, चित्र की तूलिका आदि कैसे होते थे? इत्यादि बातों का यहां तो मैं संक्षेप में ही निर्देश करूंगा। बाकी, इस बारे में मैंने अन्यत्र विस्तार से लिखा है।

लेखन विषयक सामग्री

ताड़पत्र और कागज—ज्ञानसंग्रह लिखवाने के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के अच्छे से अच्छे ताड़पत्र और कागज अपने देश के विभिन्न भागों में से मंगाए जाते थे। ताड़पत्र मलबार आदि स्थानों में से आते थे। पाटन और खम्भात के ज्ञानभाण्डारों से इस बारे के पन्द्रहवीं शती के

अन्त के समय के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। वे इस प्रकार हैं :—

॥सं. १४८९ वर्ष ज्ये. वदि। पत्र ३५४ मलबारनां ॥वर्यं पृथुल संचयः ॥श्री ॥

पाटन के भाण्डारों में से भी इसी से मिलता-जुलता उल्लेख मिला था। उसमें तो एक पन्ने की कीमत भी दी गई थी। यद्यपि वह पन्ना आज अस्तव्यस्त हो गया है फिर भी उसमें आए हुए उल्लेख के स्मरण के आधार पर एक पन्ना छह आने का आया था। ग्रन्थ लिखने के लिये जिस तरह ताड़पत्र मलबार जैसे सुदूरवर्ती देश से मंगाए जाते थे, उसी तरह अच्छी जात के कागज काश्मीर और दक्षिण जैसे दूर के देशों से मंगाए जाते थे। गुजरात में अहमदाबाद, खम्भात, सूरत आदि अनेक स्थानों में अच्छे और मजबूत कागज बनते थे। इधर के व्यापारी अभी तक अपनी बहियों के लिये इन्हीं स्थानों के कागज का उपयोग करते रहे हैं। शास्त्र लिखने के लिये सूरत से कागज मंगाने का एक उल्लेख संस्कृत पद्य में मिलता है। वह पद्य इस प्रकार है :—

“सूरात्पुरतः कोरकपत्राण्यादाय चेतसो भक्त्या ।
लिखिता प्रतिः प्रशस्ता प्रयत्नतः कनकसोमेन ॥”

इसका सारांश यह है कि सूरत शहर से कोरे कागज लाकरके हार्दिक भक्ति से कनकसोम नामक मुनि ने प्रयत्नपूर्वक यह प्रति लिखी है।

ताड़पत्र में मोटी-पतली, कोमल-रूक्ष, लम्बी-छोटी, चौड़ी-संकरी आदि अनेक प्रकार की जातें थी। इसी प्रकार कागजों में भी मोटी पतली, सफेद—सांवलापन ली हुई, कोमल-रूक्ष, चिकनी-सादी आदि अनेक जातें थी। इनमें से शास्त्रलेखन के लिये, जहां तक हो सकता था वहां तक, अच्छे से अच्छे ताड़पत्र और कागज की पसंदगी की जाती थी। कागज की अनेक जातों में से कुछ ऐसे भी कागज आते थे जो आजकल के कार्ड के जैसे मोटे होने के साथ ही साथ मजबूत भी होते थे। कुछ ऐसे कागज थे जो आज के पतले बटर पेपर की अपेक्षा भी कहीं अधिक महीन होते थे। इन कागजों की एक यह विशेषता थी कि उस पर लिखा हुआ दूसरी ओर फैलता नहीं था। ऊपर जिसका उल्लेख किया गया है वैसे बारीक और मोटे कागजों के ऊपर लिखी हुई ढेर की ढेर पुस्तकें इस समय भी हमारे ज्ञान भाण्डारों में विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त, हमारे इन ज्ञानभाण्डारों को यदि पृथक्करण किया जाय तो, प्राचीन समय में हमारे देश में बनने वाले कागजों की विविध जातें हमारे देखने में आएंगी। ऊपर कही हुई कागज की जातों में से कुछ ऐसी भी जातें हैं जो चार सौ, पांच सौ वर्ष बीतने पर भी धुंधली नहीं पड़ी हैं। यदि इन ग्रन्थों को हम देखें तो हमें ऐसा ही मालूम होगा कि मानो ये नई पोथियां हैं।

स्याही—ताड़पत्र और कागज के ऊपर लिखने की स्याहियां भी खास विशेष प्रकार की

बनती थी। यद्यपि आजकल भी ताड़पत्र पर लिखने की स्याही की बनावट के तरीकों के विविध उल्लेख मिलते हैं, फिर भी उसका सच्चा तरीका, पन्द्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध में लेखन के वाहन के रूप में कागज की ओर लोगों का ध्यान सविशेष आकर्षित होने पर, बहुत जल्दी विस्मृत हो गया। इस बात का अनुमान हम पन्द्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध में लिखी गई अनेक ताड़पत्रीय पोथियों के उखड़े हुए अक्षरों को देखकर कर सकते हैं। पन्द्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध में लिखी हुई ताड़पत्र की पोथियों की स्याही की चमक और उसी शती के उत्तरार्द्ध में लिखी हुई ताड़पत्र की पोथियों की स्याही की चमक में हम जमीन-आसमान का फर्क देख सकते हैं। अलबत्ता, पन्द्रहवीं शती के अंत में धरणा शाह आदि ने लिखवाई हुई ताड़पत्रीय ग्रन्थों की स्याही कुछ ठीक है, फिर भी उसी शती के पूर्वार्द्ध में लिखी गई पोथियों की स्याही के साथ उसकी तुलना नहीं की जा सकती। कागज के ऊपर लिखने की स्याही का खास प्रकार आज भी जैसे का तैसा सुरक्षित रहा है अर्थात् यह स्याही चिरकाल तक टिकी रहती है और ग्रन्थ को नहीं बिगाड़ती।

रंग—जिस तरह ग्रन्थों के लेखन आदि के लिये काली, लाल, सुनहली, रूपहरी आदि स्याहियां बनाई जाती थीं उसी तरह ग्रन्थ आदि में वर्णित विषय के अनुरूप विविध प्रकार के चित्रों के आलेखन के लिये अनेक प्रकार के रंगों की अनिवार्य आवश्यकता होती थी। ये रंग विशेष खनिज और वनस्पति आदि पदार्थ तथा उनके मिश्रण में से सुंदर रूप से बनाए जाते थे। यह बात हम हमारी आंखों के सामने आने वाले सैकड़ों सचित्र ग्रन्थ देखने से समझ सकते हैं। रंगों का यह मिश्रण ऐसी सफाई के साथ और ऐसे पदार्थों का किया जाता था, जिससे वह ग्रन्थ को खाने डाले और खुद भी निस्तेज और धुंधला न पड़े।

लेखनी—जिस तरह लिखने के लिये द्रव द्रव्य के रूप में स्याही आवश्यक वस्तु है उसी तरह लिखने के साधन रूप से कलम, तूलिका आदि भी आवश्यक पदार्थ हैं। यद्यपि अपनी अपनी सुविधा के अनुसार अनेक प्रकार के सरकण्डे तथा नरकट में से कलमें बना ली जाती थीं, फिर भी ग्रंथ लिखने वाले लहिए या लेखक को सतत और व्यवस्थित रूप से लिखना पड़ता था, इसलिये खास विशेष प्रकार के सरकण्डे पसंद किए जाते थे। ये सरकण्डे विशेषतः अमुक प्रकार के बांस के, काले सरकण्डे अथवा दालचीनी की लकड़ी जैसे पीले और मजबूत नरकट अधिक पसंद किए जाते थे। इनमें से भी काले सरकण्डे अधिक पसन्द किए जाते थे।

इन सरकण्डों के गुण-दोष का विचार भी हमारे प्राचीन ग्रन्थों में किया गया है कि कलम कैसे बनानी तथा उसका कटाव कैसा होना चाहिए इत्यादि। कलम के नाप आदि के लिये भी भिन्न भिन्न प्रकार की मान्यताएं हमारे यहां प्रचलित हैं।

मधीभाजन-दावात—स्याही भरने के लिये हमारे यहां कांच की, सफाईदार मिट्टी की तथा धातु आदि अनेक प्रकार की दावातें बनती होंगी और उनका उपयोग किया जाता होगा। परन्तु उनके आकार-प्रकार प्राचीन युग में कैसे होंगे—यह जानने का विशिष्ट साधन इस समय हमारे सम्मुख नहीं हैं। फिर भी आज हमारे सामने दो सौ, तीन सौ वर्ष की धातु की विविध प्रकार की दावातें विद्यमान हैं और हमारे अपने जमाने के पुराने लेखक तथा व्यापारी स्याही भरने के लिये जिन दावातों तथा डिब्बियों का उपयोग करते आए हैं उन पर से उनके आकार आदि के बारे में हमें कुछ पता लग सकता है। सामान्य रूप से विचार करने पर ऐसा मालूम होता है कि कांच या मिट्टी की दावातों की तरह टूटने का भय न रहे इसलिए पीतल जैसी धातु की दावातें और डिब्बियां ही अधिक पसंद की जाती होंगी।

ओलिया अथवा फांटिया—ग्रन्थ लिखते समय लिखाई की पंक्तियां बराबर सीधी लिखने के लिये ताड़पत्र आदि के ऊपर उस जमाने में क्या करते होंगे यह हम नहीं जानते, परन्तु ताड़पत्रीय पुस्तकों की जांच करने पर अमुक पुस्तकों के प्रत्येक पन्ने की पहली पंक्ति स्याही से खींची हुई दिखाई देती है। इससे ऐसा सम्भव प्रतीत होता है कि पहली पंक्ति के अनुसार अनुमान से सीधी लिखाई लिखी जाती होगी। कागज के ऊपर लिखे हुए कुछ ग्रन्थों में भी ऊपर की पहली लकीर स्याही से खींची हुई दीख पड़ती है। इस से ऐसा मालूम होता है कि जब तक 'ओलिया' जैसे साधन की खोज नहीं हुई होगी अथवा वह जब तक व्यापक नहीं हुआ होगा तब तक उपर्युक्त तरीके से अथवा उससे मिलते-जुलते किसी दूसरे तरीके से काम लिया जाता होगा। परन्तु ग्रन्थ-लेखन के लिये कागज व्यापक बनने पर लिखाई सरलता से सीधी लिखी जा सके इसलिये 'ओलिया' बनाने में आया। यह 'ओलिया' गत्ता अथवा लकड़ी की पतली पट्टी में समान्तर सुराख करके और उनमें धागा पिरोकर उस पर—धागा इधर उधर न हो जाय इसलिये—श्लेष (गोंद जैसे चिकने) द्रव्य लगाकर बनाया जाता था। इस तरीके से तैयार हुए ओलिये के ऊपर पन्ना रखकर एक के बाद दूसरी, इस तरह समूची पंक्ति पर उँगली से दबाकर लकीर खींची जाती थी। लकीर खींचने के इस साधन को 'ओलिया' अथवा 'फांटिया' कहते हैं। गुजरात और मारवाड़ के लिये आज भी इस साधन का व्यापक रूप से उपयोग करते हैं। इस साधन द्वारा तह लगाकर खींची हुई लकीरें प्रारम्भ में आजकल के वोटरकलर की लकीरों वाले कागज की लकीर जैसी दिखाई देती है, परन्तु पुस्तक बांधने पर तथा तह बैठ जाने पर लिखावट स्वाभाविकसी दीख पड़ती है।

जुजवल और प्राकार—पन्नों के ऊपर अथवा यंत्रपट आदि में लकीरें खींचने के लिये

यदि कलम का उपयोग किया जाय तो उसकी बारीक नोक थोड़ी ही देर में कूची जैसी हो जाय । इसलिये हमारे यहां प्राचीन समय में लकीरें खींचने के लिये जुजबल का प्रयोग किया जाता था । इसका अग्रभाग चिमटे की तरह दो तरफ मोड़कर बनाया जाता है । इसलिये इसे जुजबल अथवा जुजबल कहते हैं । यह किसी-न-किसी धातु का बनाया जाता है । इसी तरह यंत्रपटादि में गोल आकृति खींचने के लिये प्राकार (परकाल, अं. Compass) भी बनते थे । इस प्रकार का लकीर खींचने की तरफा का मुंह जुजबल से मिलता जुलता होता है, जिससे गोल आकृति खींचने के लिये उसमें स्याही ठहर सके ।

लिपि—जैन ज्ञानभाण्डारगत शास्त्रों की लिपि की पहचान कुछ विद्वान जैन लिपि के नाम से कराते हैं । सामान्यतः लिपि का स्वरूप प्रारम्भ में एक जैसा होने पर भी समय के प्रवाह के साथ विविध स्वभाव, विविध देश एवं लिपियों के सम्पर्क और विभिन्न परिस्थिति के कारण वह भिन्न भिन्न नाम से पहचानी जाती है । यही सिद्धान्त जैन-लिपि के बारे में भी लागू होता है । उदाहरणार्थ, हम भारतवर्ष की प्रचलित लिपियों को ही देखें । यद्यपि ये सब एक ही ब्राह्मी लिपि की सहोदर लड़कियां हैं, फिर भी आज तो वे सब सौतिली लड़कियां जैसी बन गई हैं । यही बात इस समय प्रचलित हमारी देवनागरी लिपि को भी लागू होती है जो कि हिन्दी, मराठी, ब्राह्मण और जैन आदि अनेक विभागों में विभक्त हो गई है । जैन-लिपि भी लेखन प्रणाली के वैविध्य को लेकर यतियों की लिपि, खरतर गच्छ की लिपि, मारवाड़ी लेखकों की लिपि, गुजराती लेखकों की लिपि आदि अनेक विभागों में विभक्त है । ऐसा होने पर भी वस्तुतः यह सारा लिपिभेद लेखनप्रणाली के ही कारण पैदा हुआ है । बाकी, लिपि के मौलिक स्वरूप की जिसे समझ है उसके लिये जैन-लिपि जैसी कोई वस्तु ही नहीं है । प्रसंगोपात्त हम यहां पर एक ॐकार अक्षर ही लें । जैन-लिपि और मराठी, हिन्दी आदि लिपि में भिन्न भिन्न रूप से दिखाई देने वाले इस अक्षर के बारे में यदि हम नागरी लिपि का प्राचीन स्वरूप जानते हों तो सरलता से समझ सकते हैं कि सिर्फ अक्षर के मरोड़ में से ही ये दो आकृतिभेद पैदा हुए हैं । वस्तुतः यह कुछ जैन या वैदिक ॐकार का भेद ही नहीं है । लिपिमाला की दृष्टि से ऐसे तो अनेक उदाहरण हम दे सकते हैं । इसलिये यदि हम अपनी लिपिमाला के प्राचीन-अर्वाचीन स्वरूप जान लें तो लिपिभेद का विषय हमारे सामने उपस्थित ही नहीं होता । जैन ग्रन्थों की लिपि में सत्रहवीं शती के अन्त तक पृष्ठमात्रा-पाडमात्रा और अग्रमात्रा का ही उपयोग अधिक प्रमाण में हुआ है, परन्तु उसके बाद पृष्ठमात्राने ऊर्ध्वमात्रा का और अग्रमात्रा ने अधोमात्रा का स्वरूप धारण किया । इसके परिणामस्वरूप बाद के जमाने में लिपि का स्वरूप संक्षिप्त और छोटा हो गया ।

लेखक अथवा लहिया—अपने यहां ग्रन्थ लिखने वाले लेखक अथवा लहिए कायस्थ, ब्राह्मण आदि अनेक जातियों के होते थे । कभी कभी तो पीढ़ी दर पीढ़ी उनका यह अविच्छिन्न व्यवसाय बना रहता था । ये लेखक जिस तरह लिख सकते थे उसी तरह प्राचीन लिपियां भी विश्वस्त रूप से पढ़ सकते थे । लिपि के प्रमाण और सौष्ठव का उनका बहुत व्यवस्थित ज्ञान रहता था । लिपि की मरोड़ या उसका विन्यास भिन्न भिन्न संस्कार के अनुसार भिन्न भिन्न रूप लेता था और लिपि के प्रमाण के अनुसार आकार-प्रकार में भी विविधता होती थी । कोई लेखक लम्बे अक्षर लिखते तो कोई चपटे, जबकि कोई गोल लिखते । कोई लेखक दो पंक्तियों के बीच मार्जिन कम से कम रखते तो कोई अधिक रखते । पिछली दो-तीन शताब्दियों को बाद करें तो खास करके लिपि का प्रमाण ही बढ़ा रहता और पंक्तियों के ऊपर-नीचे का मार्जिन कम से कम रहता । वे अक्षर स्थूल भी लिख सकते थे और बारीक से बारीक भी लिख सकते थे ।

लेखकों के बहम भी अनेक प्रकार के थे । जब किसी कारणवश लिखते लिखते उठना पड़े तब अमुक अक्षर आए तभी लिखना बन्द करके उठते, अन्यथा किसी-न-किसी प्रकार का नुकसान उठाना पड़ता है—ऐसी उनमें मान्यता प्रचलित थी । जिस तरह अमुक व्यापारी दूसरे का रोजगार खूब अच्छी तरह से चलता हो तब ईर्ष्यावश उसे हानि पहुंचाने के उपाय करते हैं, उसी तरह लहिए भी एक-दूसरे के धन्धे में अन्तराय डालने के लिये स्याही की चालू दावात में तेल डाल देते, जिससे कलम के ऊपर स्याही ही जमने न पाती और उसके दाग कागज पर पड़ने लगते । विशेष करके ऐसा काम कोई विशेष रूप से मारवाड़ी लहिये ही करते थे किन्तु ऐसी प्रवृत्ति को कुसमादी—कमीनापन ही कहा जाता था । कुछ लहिए जिस फट्टी पर पन्ना रखकर पुस्तक लिखते उसे खड़ी रख करके लिखते तो कुछ आड़ी रख कर लिखते, जब कि काश्मीरी लहिए ऐसे सिद्धहस्त होते थे कि पन्ने के नीचे फट्टी या वैसा कोई सहारा रखे बिना ही लिखते थे । अधिकतर लहिए आड़ी फट्टी रख कर ही लिखते हैं, परन्तु जोधपुरी लहिए फट्टी खड़ी रखकर लिखते हैं । उनका मानना है “कि आड़ी पाटी से लुगाइयां लिखें, मैं तो मरद हों सा !” इसके अतिरिक्त अपने धन्धे के बारे में ऐसी बहुत सी बातें हैं जिन्हें लहिए पसन्द नहीं करते । वे अपनी बैठने की गद्दी पर दूसरे किसी को बैठने नहीं देते, अपनी चालू दावात में से किसी को स्याही भी नहीं देते और अपनी चालू कलम भी किसी को नहीं देते । लहियों के बारे में इस तरह की विविध हकीकतों के सूचक बहुत से सुभाषित आदि हमें प्राचीन ग्रन्थों में से मिलते हैं, जो उनके गुण-दोष, उनके उपयोग की वस्तुओं तथा उनके स्वभाव आदि का निर्देश करते हैं । जिस तरह लहिए ग्रन्थ लिखते थे उसी तरह जैन साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविकाएँ भी सौष्ठवपरिपूर्ण लिपि से शास्त्र

लिखते थे। जैन साध्वियों द्वारा तथा देवप्रसाद (वि.सं. ११५७) जैसे श्रावक अथवा सावदे (अनुमानतःविक्रम की १४वीं शती), रूपादे आदि श्राविकाओं द्वारा लिखे गए ग्रन्थ तो यद्यपि बहुत ही कम हैं परन्तु जैन साधु एवं जैन आचार्यों के लिखे ग्रन्थ तो सैकड़ों की संख्या में उपलब्ध होते हैं।

पुस्तकों के प्रकार—प्राचीन काल में (लगभग विक्रम की पांचवी शती से लेकर) पुस्तकों के आकार-प्रकार पर से उनके गण्डीपुस्तक, मुष्टिपुस्तक, संपुटफलक, छेदपाटी जैसे नाम दिए जाते थे। इन नामों का उल्लेख निशीथभाष्य और उसकी चूर्णि आदि में आता है। जिस तरह पुस्तकों के आकार-प्रकार पर से उन्हें उपर्युक्त नाम दिए गए हैं उसी तरह बाद के समय में अर्थात् पन्द्रहवीं शती से पुस्तकों की लिखाई के आकार-प्रकार पर से उनके विविध नाम पड़े हैं, जैसे कि शूड़ अथवा शूढ़ पुस्तक, द्विपाठ पुस्तक, पंचपाठ पुस्तक, सस्तबक पुस्तक। इनके अतिरिक्त चित्रपुस्तक भी एक प्रकारान्तर है। चित्रपुस्तक अर्थात् पुस्तकों में खींचे गए चित्रों की कल्पना कोई न करे। यहां पर 'चित्रपुस्तक' इस नाम से मेरा आशय लिखावट की पद्धति में से निष्पन्न चित्र से है। कुछ लेखक लिखाई के बीच ऐसी सावधानी के साथ जगह खाली छोड़ देते हैं जिससे अनेक प्रकार के चौकोर, तिकोन, षट्कोण, छत्र, स्वस्तिक, अग्निशिखा, वज्र, डमरू, गोमूत्रिका आदि आकृतिचित्र तथा लेखक के विवक्षित ग्रन्थनाम, गुरुनाम अथवा चाहे जिस व्यक्ति का नाम या श्लोक-गाथा आदि देखे किंवा पढ़े जा सकते हैं। अतःइस प्रकार के पुस्तक को हम 'रिक्तलिपिचित्रपुस्तक' इस नाम से पहचानें तो वह युक्त ही होगा। इसी प्रकार, ऊपर कहा उस तरह, लेखक लिखाई के बीच में खाली जगह न छोड़कर काली स्याही से अविच्छिन्न लिखी जाती लिखावट के बीच में के अमुक-अमुक अक्षर ऐसी सावधानी और खूबी से लाल स्याही से लिखते जिससे उस लिखावट में अनेक चित्राकृतियां, नाम अथवा श्लोक आदि देखे-पढ़े जा सकते। ऐसी चित्रपुस्तकों को हम 'लिपिचित्रपुस्तक' के नाम से पहचान सकते हैं। इसके अतिरिक्त 'अंकस्थानचित्रपुस्तक' भी चित्रपुस्तक का एक दूसरा प्रकारान्तर है। इसमें अंक के स्थान में विविध प्राणी, वृक्ष, मन्दिर आदि की आकृतियां बनाकर उनके बीच पत्रांक लिखे जाते हैं। चित्र-पुस्तक के ऐसे कितने ही इतर प्रकारान्तर हैं।

ग्रन्थ संशोधन, उसके साधन तथा चिह्न आदि

जिस तरह ग्रन्थों के लेखन तथा उससे सम्बद्ध साधनों की आवश्यकता है उसी तरह अशुद्ध लिखे हुए ग्रन्थों के संशोधन की, उससे सम्बद्ध साधनों की और इतर संकेतों की भी उतनी

ही आवश्यकता होती है। इसीलिये ऐसे अनेकानेक प्रकार के साधन एवं संकेत हमें देखने तथा जानने को मिलते हैं।

साधन—हरताल आदि—ग्रन्थों के संशोधन के लिये कलम आदि की आवश्यकता तो होती ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त अशुद्ध और अनावश्यक अधिक अक्षरों को मिटाने के लिये अथवा उन्हें परिवर्तित करने के लिये हरताल, सफेदा आदि की और खास स्थान अथवा विषय आदि की पहचान के लिये लाल रंग, धागा आदि की भी आवश्यकता होती है। ताड़पत्रीय पुस्तकों के जमाने में अक्षरों को मिटाने के लिए हरताल आदि का उपयोग नहीं होता था, परन्तु अधिक अक्षरों को पानी से मिटाकर उसे अस्पष्ट कर देते थे अथवा उन अक्षरों की दोनों ओर ९-९ ऐसा उलटा सीधा गुजराती नौ के जैसा आकार बनाया जाता था और अशुद्ध अक्षर युक्ति से सुधार लेते थे। इसी प्रकार विशिष्ट स्थान आदि की पहचान के लिये उन स्थानों को गेरू से रंग देते थे। परन्तु कागज का युग आने के बाद यद्यपि प्रारम्भ में यह पद्धति चालू रही किन्तु प्रायः तुरंत ही संशोधन में निरूपयोगी अक्षरों को मिटाने के लिये तथा अशुद्ध अक्षरों को परिवर्तित करने के लिये हरताल और सफेदे का उपयोग दिखाई देता है।

तूलिका, बट्टा, धागा—ऊपर निर्दिष्ट हरताल आदि लगाने के लिये तूलिका की आवश्यकता पड़ती थी तथा हरताल आदि के खुरदरेपन को दूर करने के लिये कौड़ी आदि से उसे पीस लेते थे। तूलिकाएं गिलहरी की दुम के बालों को कबूतर अथवा मोर के पंख के अगले पोले भाग में पिरोकर छोटी-बड़ी चाहिए वैसी हाथ से ही बना ली जाती थी अथवा आज की तरह तैयार भी अवश्य मिलती होगी। स्याही आदि घोंटने के लिये बट्टे भी अकीक आदि अनेक प्रकार के पत्थर के बनते थे। इनके अतिरिक्त ताड़पत्रीय ग्रन्थों के जमाने में ग्रन्थ के विभाग अथवा विशिष्ट विषय की खोज में दिक्कत या मेहनत न हो इसलिये ताड़पत्र के सुराख में धागा पिरोकर और उसके अगले हिस्से को ऎंठन लगाकर बाहर दिखाई दे इस तरह उसे रखते थे।

संशोधन के चिह्न और संकेत—जिस तरह आधुनिक मुद्रण के युग में विद्वान ग्रन्थ-सम्पादक तथा संशोधकों ने पूर्णविराम, अल्पविराम, प्रश्नचिन्ह, आश्चर्यदर्शक चिन्ह आदि अनेक प्रकार के चिह्न-संकेत पसन्द किए हैं, उसी तरह प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों के जमाने में भी उनके संशोधक विद्वानों ने लिखित ग्रन्थों में व्यर्थ काट-छांट, दाग-धब्बा आदि न हो, टिप्पण या पर्यायार्थ लिखे बिना वस्तु स्पष्ट समझ में आ जाय इसके लिये अनेक प्रकार के चिह्न किंवा संकेत पसंद किए थे, जैसे कि—(१) गलितपाठदर्शक चिह्न, (२) गलितपाठविभागदर्शक चिह्न,

(३) काना दर्शक चिह्न, (४) अन्याक्षरवाचनदर्शक चिह्न, (५) पाठपरावृत्तिदर्शक चिह्न, (६) स्वरसन्ध्यंशदर्शक चिह्न, (७) पाठान्तरदर्शक चिह्न, (८) पाठानुसन्धानदर्शक चिह्न, (९) पदच्छेददर्शक चिह्न, (१०) विभागदर्शक चिह्न, (११) एकपददर्शक चिह्न, (१२) विभक्तिवचनदर्शक चिह्न, (१३) टिप्पनक (विशेष नोट्स)- दर्शक चिह्न, (१४) अन्वयदर्शक चिह्न, (१५) विशेषण-विशेष्य-सम्बन्धदर्शक चिह्न और (१६) पूर्वपदपरामर्शक चिह्न । चिह्नों के ये नाम किसी भी स्थान पर देखने में नहीं आए परन्तु उनके हेतु के लक्ष में रखकर मैंने स्वयं ही इन नामों की आयोजना की है ।

ग्रन्थ-संरक्षण के साधन

लिखित पुस्तकों के लिये दो प्रकार की कांबियों का (सं. कम्बिका = फुट जैसी लकड़ी की पट्टी) उपयोग किया जाता था । उनमें से एक बिलकुल चपटी होती थी और दूसरी हांस अर्थात् आगे के भाग में छोटे से खड्डेवाली होती थी । पहले प्रकार की कांबी का पुस्तक पढ़ते समय उँगली का पसीना या मैल का दाग उस पर न पड़े इसलिये उसे पन्ने पर रखकर उस पर उँगली रखने में किया जाता था । जिस तरह आज भी कुछ सफाईपसंद और विवेकी पुरुष पुस्तक पढ़ते समय उँगली के नीचे कागज वगैरह रखकर पढ़ते हैं ठीक उसी तरह पहले प्रकार की कांबी का उपयोग होता था । दूसरी तरह की कांबी का उपयोग पन्ने के एक सिरे से दूसरे सिरे तक या यंत्रादि के आलेखन के समय लकीरें खींचने के लिये किया जाता था ।

कम्बिका के उपयोग की भांति ही पुस्तक मुड़ न जाय, बिगड़ न जाय, उसके पन्ने उड़ न जाय, वर्षाकाल में नमी न लगे—इस तरह की ग्रन्थ की सुरक्षितता के लिये कवली (कपड़े से मढ़ी हुई छोटी और पतली चटाई), पाठे अर्थात् पुठे, वस्त्रवेष्टन, डिब्बे आदि का भी उपयोग किया जाता था । पाठे और डिब्बे निरुपयोगी कागजों की लुगदी में से अथवा कागजों को एक दूसरे के साथ चिपकाकर बनाए जाते थे । पाठे और डिब्बों को सामान्यतः चमड़े या कपड़े आदि से मढ़ लिया जाता था अथवा उन्हें भिन्न भिन्न प्रकार के रंगों से रंग लेते थे । कभी कभी तो उन पर लता आदि के चित्र और तीर्थकर आदि के जीवनप्रसंग या अन्य ऐतिहासिक प्रसंग वगैरह का आलेखन किया जाता था । यह बात तो कागज की पुस्तकों के बारे में हुई । ताड़पत्रीय ग्रन्थ आदि के संरक्षण के लिये अनेक प्रकार की कलापूर्ण चित्रपट्टिकाएं बनाई जाती थी । उनमें सुन्दर-सुन्दरतम बेलबूटे, विविध प्राणी, प्राकृतिक वन, सरोवर आदि के दृश्य, तीर्थकर एवं आचार्य आदि के

जीवन प्रसंग आदि का चित्रण होता था । इसके लिये भी वस्त्र के वेष्टन तथा डिब्बे बनाए जाते थे और उनमें जीव-जन्तु न पड़े इसलिये असगन्ध (सं. अश्वगन्ध) के चूर्ण की वस्त्रपोट्टलिकाएँ—कपड़े की पोटलियाँ— रखी जाती थीं ।

ग्रन्थसंग्रहों पर चौमासे में नमी और उष्णकाल में गरमी का असर न हो तथा दीमक आदि पुस्तकभक्षक जन्तुओं का उपद्रव न हो इसलिये उनके लायक स्थान होने चाहिए । ऐसे अत्यन्त सुरक्षित, सुगुप्त एवं आदर्शरूप माना जा सके ऐसा एक मात्र स्थान जैसलमेर के किले के मन्दिर में बचा हुआ है । इसमें वहाँ का श्रीजिनभद्रसूरि का ज्ञान भाण्डार सुरक्षित रूप में रखा गया है । छह सौ वर्षों से चला आता यह स्थान जैनमन्दिर में आए हुए भूमिगृह-तहखाने के रूप में हैं । छह सौ वर्ष बीत जाने पर भी इसमें दीमक आदि जीव-जन्तुओं का तथा सर्दों-गरमी का कभी भी संचार नहीं हुआ है । यह तो हमारी कल्पना में भी एकदम नहीं आ सकता कि उस जमाने के कारीगरों ने इस स्थान की तह में किस तरह के रासायनिक पदार्थ डाले होंगे जिससे यह स्थान और इसमें रखे गए ग्रन्थ अब तक सुरक्षित रह सके हैं । ज्ञानभाण्डारों के मकान जिस तरह सुरक्षित बनाए जाते थे उसी तरह राजकीय विप्लव के युग में ये मकान सुगुप्त भी रखे जाते थे ।

जैसलमेर के किले का उपर्युक्त स्थान निरुपद्रव, सुरक्षित एवं सुगुप्त स्थान है । इसके भीतर के तीसरे तहखाने में ज्ञानभाण्डार रखा गया है और उसका दरवाजा इतना छोटा है कि कोई भी व्यक्ति नीचे झुककर ही इसमें प्रविष्ट हो सकता है । इस दरवाजे को बन्द करने के लिये स्टील का ढक्कन बनाया गया है और विप्लव के प्रसंग पर इसके मुँह को बराबर ढँक देने के लिये चौरस पत्थर भी तैयार रखा है जो इस समय भी वहाँ विद्यमान है । इसके बाद के दो दरवाजों के लिये भी बन्द करने की कोई व्यवस्था अवश्य रही होगी परन्तु आज उसका कोई अवशेष हमारे सामने नहीं है । तहखाने में नीचे उतरने के रास्ते के मुख के लिये ऐसी व्यवस्था की गई है कि विप्लव के अवसर पर उसे भी बड़े भारी पहाड़ी पत्थर से इस तरह ढांक दिया जाय जिससे किसी को कल्पना भी न आ सके कि इस स्थान में कोई चीज छिपा रखी है । तहखाने के मुँह को ढँकने का उपर्युक्त महाकाय पत्थर इस समय भी वहाँ मौजूद है ।

जिस तरह ज्ञानसंग्रहों को सुरक्षित रखने के लिए मकान बनाए जाते थे उसी तरह उन भाण्डारों को रखनेके लिये लकड़ी या पत्थर की बड़ी बड़ी मजूसा (सं. मंजूषा = पेटी) या अलमारियाँ बनाने में आती थीं । प्राचीन ज्ञानभाण्डारों के जो थोड़े-बहुत स्थान आज तक देखने में आए हैं उनमें अधिकांशतः मजूसा ही देखने में आई है । पुस्तकें निकालने तथा रखने की

सुविधा एवं उनकी सुरक्षितता-अलमारियों में होने पर भी मजूसा ही अधिक दिखाई देती हैं। इसका कारण उनकी मजबूती और विप्लव के समय तथा दूसरे चाहे जिस अवसर पर उनके स्थानान्तर संचारण की सरलता ही हो सकता है। यही कारण है कि इन मजूसों को पहिए भी लगाए जाते थे। यह बात चाहे जैसी हो, परन्तु ग्रन्थ-संग्रह की सुरक्षितता और लेने-रखने की सुविधा तो ऊर्ध्वमहामंजूषा अर्थात् अलमारी में ही है। जैसलमेर के तहखाने में लकड़ी एवं पत्थर की मजूसाएँ तथा पत्थर की अलमारियाँ विद्यमान थीं परन्तु मेरे वहाँ जाने के बाद वे सब वहाँ से हटा लिए गए हैं, और उनके स्थान में वहाँ पर स्टील की अलमारियाँ आदि बनवाई गई हैं। हम जब जैसलमेर गए तब वहाँ का ग्रन्थसंग्रह उपर्युक्त मजूसाओं में रखने के बदले पत्थर की अलमारियों में रखा जाता था। बड़ी मारवाड़ में लकड़ी की अपेक्षा पत्थर सुलभ होने के कारण ही उनकी अलमारियाँ बनाई जाती थी। अतः इनकी मजबूती आदि के बारे में किसी भी प्रकार के विचार को अवकाश ही नहीं है।

जैन श्रीसंघ का लक्ष्य ज्ञानभाण्डार बसाने की ओर जब केन्द्रित हुआ तब उसके सम्मुख उनके रक्षण का प्रश्न भी उपस्थित हुआ। इसके प्रश्न के समाधान के लिये दूसरे साधनों की तरह उसने एक पर्व-दिवस को भी अधिक महत्त्व दिया। यह पर्व है ज्ञानपंचमी—कार्तिक शुक्ला पंचमी का दिन। समूचे वर्ष की सदीं, गरमी तथा नमी जैसी ऋतुओं की विविध असरों में से गुजरी हुई ज्ञानराशि को यदि उलट-पुलट न किया जाय तो वह असमय में ही नाशाभिमुख हो जाय। अतः उसे बचाने के लिये उसकी हेरफेर वर्ष में एक बार अवश्य करनी चाहिए जिससे उनकी अनेकविध विकृत असर दूर हो और शास्त्र सदा आरोग्य-दशा में रहें। परन्तु विशाल ज्ञानभाण्डारों के उलट फेर का यह काम एकाध व्यक्ति के लिये दुष्कर और थकाने वाला न हो तथा अनेक व्यक्तियों का सहयोग अनायास ही मिल सके इसलिये इस धर्म-पर्व की योजना की गई है। आज इस धार्मिक पर्व को जो महत्त्व दिया जाता है उसके मूल में प्रधान रूप से तो यही उद्देश था, परन्तु मानवस्वभाव के स्वाभाविक छिछलेपन तथा निरुद्यमीपन के कारण इसका मूल उद्देश विलुप्त हो गया है और उसका स्थान बाहरी दिखावे एवं स्थूल क्रियाओं ने ले लिया है।

ज्ञान भाण्डारों में उपलब्ध सामग्री

ये ज्ञानभाण्डार विविध दृष्टि से समृद्ध और महत्त्व के हैं। इनकी मुख्य विशेषता यह है कि इनका संग्रह यद्यपि जैनों ने किया है फिर भी वे मात्र जैनशास्त्रों के संग्रह तक ही मर्यादित नहीं हैं। उनमें जैन-जैनेतर अथवा वैदिक-बौद्ध-जैन, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती, हिन्दी, मराठी, फारसी आदि भाषाओं का जैन-जैनेतर ऋषि-स्थविर-आचार्यों के रचे हुए धर्मशास्त्रों के अतिरिक्त

व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, मंत्र, तंत्र, कल्प, नाट्य, नाटक, ज्योतिष, लक्षण, आयुर्वेद, दर्शन एवं संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषा के चरित्र-ग्रन्थ, रास आदि विविध साहित्य विद्यमान है। संक्षेप में हमें यह कहना चाहिए कि इन भाण्डारों का सच्चा महत्व इनकी व्यापक और विशाल संग्रहदृष्टि के कारण ही है। जिस तरह इन विशाल भाण्डारों में विविध प्रकार के लेखन-संशोधन-रक्षण विषयक साधन एवं संग्रह है उसी प्रकार ताड़पत्र, कागज और कपड़े के ऊपर काली, लाल, सुनहली, रुपहली आदि अनेक प्रकार की स्याही से लिखे हुए अनेक आकार-प्रकार के अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण सचित्र-अचित्र पत्राकार, गुटकाकार कुंडली-आकार लिखे हुए ग्रन्थ विद्यमान हैं। अनेक प्रकार के सचित्र-अचित्र विज्ञप्तिपत्र, तीर्थयात्रादि के चित्रपट, यंत्रपट, विद्यापट आदि का विशाल संग्रह इन भाण्डारों में है। जैनों ने इन भाण्डारों के संग्रह के लिये हार्दिक मनोयोग के साथ ही साथ अपनी सम्पत्ति पानी की तरह बहाई है। इसी तरह इनके संरक्षण के लिये भी उन्होंने सभी संभव उपाय किए हैं।

इस प्रकार ज्ञानभाण्डार, उनमें उपलब्ध सामग्री एवं ग्रन्थराशि तथा उनकी व्यवस्था आदि के बारे में हमने संक्षिप्त वर्णन यहां पर किया। विशाल एवं वैविध्यपूर्ण इन ग्रन्थरत्नों का परीक्षक सम्यक् उपयोग करें—यही हमारी आन्तरिक अभिलाषा है।



एक लाख परमारों का उद्धार : बीसवीं सदी का एक ऐतिहासिक कार्य

□ मुनि नवीनचन्द्र विजयजी

इस कालचक्र के प्रारंभ में जब प्रथम तीर्थंकर भगवान श्रीऋषभदेव का अवतरण हुआ तब उनके पिता नाभिराय ने संसार की व्यवस्था का भार ऋषभदेव के कंधों पर डाला ।

उन्होंने इस व्यवस्था के क्रम में सर्वप्रथम तीन-तीन वर्णों की स्थाना की क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती ने व्रतधारी श्रावकों के चौथे वर्ण की स्थापना की जो कालान्तर में ब्राह्मण वर्ण के रूप में ख्यात हुआ ।

इस वर्ण-व्यवस्था को आज हम जिस विकृतावस्था में देख रहे हैं वैसी उस समय नहीं थी ।

क्षत्रिय वंश की श्रेष्ठता

जैन धर्म की मान्यता के अनुसार सबसे श्रेष्ठ वर्ण क्षत्रिय है । चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव और नौ प्रतिवासुदेव क्षत्रिय होते हैं । जैन धर्म को क्षत्रियों का धर्म कहा जाता है । क्षत्रियों के द्वारा ही इस धर्म का प्रसार और संवर्धन हुआ है । भगवान महावीर स्वामी जब देवानंद ब्राह्मणी की कुक्षि में अवतरित हुए तो इन्द्र ने सोचा कि ऐसा न हुआ है न होगा । तीर्थंकर का जीव केवल क्षत्रिय कुल में ही उत्पन्न होता है । यह सोचकर इन्द्र ने भगवान महावीर के पौद्रालिक शरीर को ब्राह्मणी की कुक्षि से लेकर त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में स्थापित

किया। इस तरह जैन धर्म ने क्षत्रियवंश को श्रेष्ठ स्वीकार किया है।

परमार क्षत्रिय वंश की प्राचीनता

भगवान मुनिसुव्रत स्वामी के बाद इक्ष्वाकु वंश क्षत्रियों की अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभाजित हो गया। भगवान नेमिनाथ यदुवंश में उत्पन्न हुए। भगवान महावीर स्वामी ज्ञातृवंश में उत्पन्न हुए। भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद ज्ञातृवंश भी अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभाजित हो गया। जिनमें परमार, सोलंकी, सिसोदिया, राठौड़ आदि प्रमुख हैं। हिन्दू साहित्यकार और इतिहासज्ञ जयशंकर प्रसाद मानते हैं कि परमार, परिहार, चालुक्य या सोलंकी और चौहान वंश की उत्पत्ति आबू में अग्निकुल से हुई थी। आबू और उसके आसपास परमार क्षत्रियों का राज्य था। सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक नगरी चन्द्रावती उनकी प्रमुख राजधानी थी। उसके बाद किन्हीं अपरिहार्य कारणों से परमार और सोलंकी आदि वंशों को आबू और चन्द्रावती नगरी छोड़कर गुजरात और मध्यप्रदेश में आना पड़ा। सोलंकी वंश गुजरात में पाटण के आसपास बस गया और परमार वंश मध्यप्रदेश के उज्जयिनी के आसपास बस गया।

परमार क्षत्रियों की वीरता

क्षत्रियों की अनुपम वीरता के कारण क्षत्रियत्व वीरत्व का पर्यायवाची बन गया और जो वीर होता है वही स्वामी बनता है। कहा भी जाता है 'वीरभोग्या वसुंधरा' भारत वर्ष में सभी लोगों के कार्य विभाजित थे। क्षत्रियों का कार्य देश की रक्षा और उसकी समृद्धि बढ़ाना था और यही उनका कर्तव्य भी। परमार क्षत्रियों ने भी अपने इस कर्तव्य का भलीभाँति निर्वहण किया। आबू से उज्जयिनी में बसने के बाद परमारों ने अपने भुजबल से सम्पूर्ण मध्यप्रदेश को अधीन बना लिया। उस समय मध्यप्रदेश की सीमाएं बड़ौदे से लेकर चम्बल घाटी तक थीं। परमारों ने अपनी राजधानी उज्जयिनी को बनाया। परमार राजा अद्वितीय वीर, न्यायप्रिय, साहित्य एवं कला के रसिक थे। परमार सम्राटों में विक्रमादित्य न्याय के लिए, मुंज वीरता के लिए और महाराजा भोज विद्या के लिए प्रसिद्ध थे। महाराजा भोजन ने 'सरस्वती कंठाभरण' नाम का ग्रंथ भी लिखा था। इसी से प्रेरणा लेकर हेमचन्द्राचार्य ने 'सिद्ध हेम व्याकरण' की रचना की थी। सोलंकी वंश में सिद्धराज जयसिंह और परमार्हत् महाराजा कुमारपाल हुए उसी प्रकार परमार वंश में विक्रमादित्य, मुंज और भोज हुए।

परमार क्षत्रिय और जैन धर्म

महाराजा भोज के दरबार में महाकवि कालिदास की तरह एक प्रतिभाशाली कवि

धनपाल का भी उच्च स्थान था। महाकवि धनपाल जैन थे और उन्होंने 'तिलक मंजरी' नाम का गद्य काव्य लिखा है, जिसमें विनिता नगरी और भगवान आदिनाथ की महिमा वर्णित है। यह संस्कृत साहित्य की एक महान और अद्वितीय कृति है।

धनपाल कवि की चमत्कारिक काव्यप्रतिभा एवं निर्भीकता से राजा भोजन अत्यन्त प्रभावित थे। अन्य राजाओं की भांति वह भी शिकार प्रेमी थे। एक बार कवि धनपाल ने राजा भोज के बाण से घायल हिरणी की व्यथा का मार्मिक वर्णन सुनाया। जिसे सुनकर राजा का हृदय करुणार्द्र हो उठा और मूक प्राणियों के लिए उनके मन में करुणा फूट पड़ी। तब से राजा भोज ने सदा के लिए शिकार खेलना छोड़ दिया।

महाराजा भोज के उत्तराधिकारी लघुभोज हुए। उन्होंने 'जीवविचार' के रचयिता श्रीशांतिसूरि को 'वादिवेताल' की पदवी से विभूषित किया था। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने जैसे सोलंकी कुमारपाल को परमार्हत बनाया था वैसे ही वादिवेताल श्रीशांतिसूरि ने परमार लघुभोज को जैन धर्म का अनन्य रक्षक बनाया था।

परमार क्षत्रिय वंश की व्यापकता

एक दोहा प्रचलित था :—

प्रथम साख परमार, सेस सीसौदा सिंगाला ।

रणथंभा राठौड, वंस चंवाल बचाला ॥

कवि ने दोहे की प्रथम पंक्ति में परमार क्षत्रियों की साख, प्रभुत्व, अधिकार और व्यापकता को स्वीकार किया है। एक समय था जब सम्पूर्ण भारत में परमार क्षत्रिय वंश की बोलबाला थी। परमार लघुभोज की मृत्यु और वादिवेताल श्रीशांतिसूरि के स्वर्गवास के बाद परमारों का जैन धर्म से परिचय सिमट गया। परमार क्षत्रियों में परस्पर जो एकता थी वह भी टूट गई। इसलिए वंश विभक्त हो गया और बिना माली की जो दशा चमन की होती है वही दशा परमार क्षत्रियों की हुई।

जो परमार क्षत्रिय मध्य प्रदेश की सीमान्त में बसे हुए थे उनका उज्जयिनी से सम्पर्क टूट गया और वे अपने में ही सिक्कुड़ते चले गए। यद्यपि जैन धर्म का सम्पर्क उनसे टूट गया था फिर भी उसके जो मौलिक संस्कार थे वे उनमें जीवित रहे। उन्होंने अपने छोटे-छोटे राज्य बनाए। देवगढ़ उनकी मुख्य राजधानी थी। शेष परमार क्षत्रिय दो सौ कि. मी. के अन्दर में सात सौ गांवों में विभक्त हो कर बसे हुए थे। स्वतंत्रता के बाद वे गांव दो जिलों में विभाजित हो गए और

उनके छोटे-छोटे राज्यों का भारत में विलीनीकरण हो गया। राज्य चले जाने के बाद उन्होंने अपना व्यवसाय कृषि को चुना। वे पूर्णतया शाकाहारी हैं। उनका जीवन सरलता, सौम्यता, मानवता एवं निष्कपटता से सभर है। वे निर्भोक्त और परिश्रमी हैं। स्वाभिमान की भावना भी उनमें उत्कट है। वे न किसी के आगे हाथ पसारते हैं न अपना अपमान किसी तरह सह सकते हैं।

परमार क्षत्रियों का धर्मप्रेम

परमार क्षत्रिय स्वभावतः शूरवीर, निडर, परिश्रमी, सरलात्मा और धार्मिक प्रवृत्ति के लोग हैं। मध्यप्रदेश और गुजरात की सीमान्त में रहने के कारण दोनों संस्कृतियों का समन्वय उनमें मिलता है। महाराजा विक्रमादित्य, मुंज और भोज की वीरता का रक्त उनकी नसों में बहता है और कलिकाल-सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य एवं महाराज कुमारपाल द्वारा प्रवर्तित अहिंसा का घोष भी उनके कर्णों में गूंजता है।

बोडेली जिला बडौदा के आसपास परमार क्षत्रियों के गांव हैं। बोडेली उनका व्यापारिक केन्द्र है। यहां ई. सन् १९१५ के लगभग सुश्रावक सोमचन्द्र भाई केशवलाल की दुकान थी। वे जैन धर्म का विधिवत पालन करते थे। परमार क्षत्रिय भाई अपनी जीवनावश्यक चीजें खरीदने के लिए सोमचन्द्र भाई की दुकान पर आते-जाते रहते थे। वे उनकी सरलता, निष्कपटता एवं धार्मिक जिज्ञासा से प्रभावित हुए। उन्होंने सोचा यदि इन लोगों को जैन धर्म की महिमा बतायी जाए तो अवश्य शुभ परिणाम आ सकता है।

एक दिन उन्होंने सालपुरा गांव के सीताभाई नाम के व्यक्ति से जो उनके अन्तरंग मित्र भी थे जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्तों की चर्चा की। वे जैन धर्म से बहुत प्रभावित हुए और स्वयं जिन शासन को समर्पित हो गए। सीताभाई ने जैन धर्म की महानता अपने अन्य परमार क्षत्रिय भाईयों को बताई और वे जैन होते गए। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि परमार क्षत्रिय कितने धर्म प्रेमी और जिज्ञासु थे। उनमें अहिंसा, सत्य, दया, प्रेम और मैत्री की बीज पहले से ही पड़े हुए थे। केवल उन्हें संवर्धित करने की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता को सोमचन्द्रभाई ने समझा और पूरी की।

परमार क्षत्रियवंश के आद्य जैन दीक्षित

सोमचन्द्रभाई ने जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्तों का प्रचार चालू रखा और उनसे प्रभावित होकर सालपुरा, डुमां, झांपा और सानतलावड़ा आदि गांवों के कुछ परिवारों ने जैन धर्म को स्वीकार किया और इस तरह परमार क्षत्रिय जैनों की संख्या दो सौ अस्सी हो गई।

इन दो सौ अस्सी भाइयों ने सालपुरा के रणछोड़भाई गोपालदास नाम के सद्वृहस्थ भी थे। उनकी पत्नी का नाम बालूबहन था। उनके घर ई. सन् १९२३ में एक पुत्र रत्न का जन्म हुआ। जिनका नाम उन्होंने मोहनकुमार रखा।

कुमार मोहन ने प्रारम्भिक अक्षरज्ञान गांव की छोटी सी स्कूल में प्राप्त किया। ग्यारह वर्ष की अवस्था में वे सालपुरा से बाईस कि. मी. दूर डभोई में पंन्यास श्रीरंगविजयजी महाराज के पास चले गए। वहाँ उन्होंने जैन धर्म का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त किया।

ई. सन् १९३६ में पंन्यास श्रीरंग विजयजी की प्रेरणा से बोडेली में परमार क्षत्रिय भाईयों के बच्चों के लिए 'कुमार छात्रालय' की स्थापना की गई। कुमार मोहन डभोई से बोडेली आ गए। यहां वे धार्मिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की शिक्षा ग्रहण करने लगे। जब कुमार मोहन दस वर्ष के थे उस समय उनके माता-पिता की मृत्यु हो गई थी। अपनी उम्र के सत्रह वर्ष तक वे बोडेली छात्रालय में पढ़ते रहे।

कुमार मोहन के हृदय में बचपन से ही वैराग्य के बीज पड़ गए थे। वे बीज अब अंकुरित होकर पुष्पित और पल्लवित हो गए थे। उन्होंने अपने चाचा सीताभाई से कहा- "मैं सांसारिक मोहजाल में फँसना नहीं चाहता। मैं दीक्षा लेकर आत्मकल्याण करना चाहता हूँ।"

यद्यपि उनके चाचा नहीं चाहते थे कि मोहन दीक्षा ले; पर कुमार मोहन के दृढ़ निर्णय के आगे वे झुक गए। न चाहते हुए भी उन्होंने कुमार मोहन को भारी मन से आंखों से आंसू लिए दीक्षा के लिए विदा किया।

सत्रह वर्षीय कुमार मोहन दीक्षाग्रहण के लिए नरसंडा (गुजरात) में बिराजित मुनि श्री विनय विजयजी महाराज के चरणों में उपस्थित हुए। मुनि श्री विनय विजयजी से कुमार मोहन का परिचय बोडेली में ही हो गया था जब मुनि श्री विनय विजयजी जीवनलालजी के नाम से बोडेली में जैन धर्म का रचार का कार्य कर रहे थे।

मुनि श्री विनय विजयजी कुमार मोहन को अच्छी तरह जानते थे। उनकी विनय, नम्रता, सरलता, वैराग्य और अध्यवसाय से पूर्णतया अवगत थे। अतः उन्होंने कुमार मोहन की योग्यता औ पात्रता देखकर ई. सन् १९४१ में नरसंडा गांव में दीक्षा दे दी। उनका नया नाम रखा गया मुनि श्री इन्द्र विजयजी महाराज। वे परमार क्षत्रिय वंश के आद्य जैन दीक्षित हुए।

मुनि इन्द्र विजय का संकल्प

मुनि श्री इन्द्र विजयजी का गहन अध्ययन उनके गुरु मुनि श्री विनय विजयजी के पावन,

प्रेरक सान्निध्य और मार्गदर्शन में प्रारंभ हुआ ।

गुजरात से विहार करते हुए वे राजस्थान में पधारे । यहां बीजोवा में उनके दादा गुरु महेन्द्र पंचांग के रचयिता आचार्य श्री विकास चन्द्रसूरिजी महाराज के करकमलों ससे सन् १९४५ में उनकी बड़ी दीक्षा सम्पन्न हुई ।

अपनी दीक्षा के सात वर्ष के बाद वे सन् १९४८ में सादड़ी (राजस्थान) में बिराजित पंजाब केसरी, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरेश्वरजी महाराज की छत्रछाया में आ गए । यहीं से उनका वास्तविक विकास प्रारंभ हुआ । यहाँ उन्होंने संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी भाषा का ज्ञान प्राप्त किया । उन भाषाओं के साहित्य का अध्ययन किया । अपने गुरु के पास न रहकर अब वे आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरेश्वरजी महाराज की सेवा में ही रहने लगे । उनका पावन सान्निध्य, स्नेह और वात्सल्य उन्हें नयी प्रेरणा देता था । उनके आचारों, विचारों, आदर्शों और कार्यों का मुनि श्री इन्द्र विजयजी के ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा । अपनी सूझबूझ, गुरुकृपा एवं योग्यता के बल पर वे शीघ्र ही विद्वान् मुनिराज बन गए ।

सन् १९५४ की आश्विन कृष्ण दशमी की रात्रि को पंजाब केसरी, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरेश्वरजी महाराज का बम्बई में स्वर्गवास हो गया । समग्र जैन समाज शोक में डूब गया । उनके स्वर्गवास से जैन धर्म और समाज की अपूरणीय क्षति हुई जिसकी पूर्ति आज तक न हुई है, न होगी । वह दैदिप्यमान नक्षत्र जिसके दिव्य प्रकाश में मानव जाति अपना रास्ता खोजती थी, अंधकार में डूब गया ।

मुनि श्री इन्द्र विजयजी महाराज ने योगोद्धहन किए । उनके पास एक मुमुक्षु ने दीक्षा अंगीकार की जिनका नाम मुनि ओंकार विजयजी रखा गया । वे शान्तमूर्ति आचार्य श्री समुद्र सूरेश्वरजी महाराज के साथ विहार कर बम्बई से सूरत पधारे । यहाँ उन्हें आचार्य श्री ने सन् १९५४ चैत्र कृष्णा तृतीया के दिन गणिपद से अलंकृत किया ।

अब गणि श्री इन्द्र विजयजी महाराज स्वतंत्र रूप से कार्य करने में सक्षम हो गए थे । सर्वप्रथम उन्होंने अपने जन्मक्षेत्र में और परमार क्षत्रिय वंश में जैन धर्म के प्रचार का महान कार्य करने का संकल्प किया । इसके लिए उन्हें मुनि श्री जिनभद्र विजयजी पहले से ही प्रेरित कर चुके थे । धर्म के प्रचार का यह महान कार्य उन्हीं की राह देख रहा था । उन्होंने आचार्य श्री समुद्र सूरेश्वरजी महाराज के चरणों में मस्तक रखा, आशीर्वाद लिया और बड़ौदा जिले के बोड़ेली शहर में पहुंचे ।

परमार क्षत्रियों का उद्धार

इस क्षेत्र में जैन धर्म के प्रचार का कार्य छोटे रूप में धीरे धीरे चल रहा था। इस प्रचार कार्य को व्यवस्थित करने के लिए पन्थास श्रीरंग विजयजी की प्रेरणा से सन् १९३६ में बोड़ेली में 'श्रीपरमार क्षत्रिय जैन धर्म प्रचारक सभा' की स्थापना हुई थी।

जैन धर्म के इस प्रचार कार्य को अब बड़े स्तर पर और व्यापक रूप में करने की आवश्यकता थी। इस के लिए एक ऐसे कर्मठ साधु की आवश्यकता थी जो उनकी भाषा से रीति-रिवाजों से, मान्यताओं से और वहां की परिस्थितियों से भलीभांति परिचित हो। यह कितना सुनहरी संयोग था कि इधर उसी क्षेत्र के परमार क्षत्रिय वंश के प्रथम जैन साधु बने गणि श्री इन्द्र विजयजी इस प्रचार कार्य को आगे बढ़ाने के लिए बोड़ेली पधारे थे।

वह सन् १९५६ वां साल था। गणि श्री इन्द्र विजयजी इस प्रचार कार्य में तन-मन से जुट गए और फिर उन्होंने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। केवल एक नहीं दो नहीं, तीन नहीं, पांच नहीं, दस नहीं, किन्तु बारह वर्षों तक इस क्षेत्र में घर-घर, गली-गली, गांव-गांव प्रचार करते हुए घूमते रहे। उनके मन में बस एक ही विश्वास था कि मैं कैसे अधिक से अधिक लोगों को जिन का अनुयायी बनाऊँ और उन्हें समकित की प्राप्ति कराऊँ। अपनी बुलन्द आवाज, ज्ञान गाम्भीर्य एवं समझाने की सरल शैली के कारण इस क्षेत्र में उनके प्रवचनों की धूम मची रही। इसाई मिशनरी, रामानंदी और स्वामीनारायण सम्प्रदाय के धर्मगुरु यहां पहले से ही अपने धर्म और मत के प्रचार कार्य में लगे हुए थे। जैसे ही गणि इन्द्र विजयजी इस क्षेत्र में आए वे उनके सामने टिक नहीं पाए।

गणि श्री इन्द्र विजयजी महाराज के बारह वर्षों के भगीरथ पुरुषार्थ के फलस्वरूप इस क्षेत्र में एक लाख परमार क्षत्रिय भाई बहन (जिनमें पटेल भी सम्मिलित हैं) नये जैन बने। ११५ मुमुक्षुओं ने दीक्षा अंगीकार की। ६० गांवों में जिन मंदिर बने और उतने ही गांवों में जैन धार्मिक पाठशालाएं खोली गईं। अब गणि श्री इन्द्र विजयजी 'परमार क्षत्रियोद्धारक' कहलाने लगे।

शान्तमूर्ति आचार्य श्री विजय समुद्र सूरीश्वरजी महाराज ने उन्हें सन् १९७० में बसन्त पंचमी के दिन बरली, बम्बई में 'आचार्य पद' से विभूषित किया। गणि श्री इन्द्र विजयजी महाराज अब आचार्य श्री विजय इन्द्रदिन सूरीश्वरजी बन गए। सन् १९७७ में गुरु समुद्र ने उन्हें अपना पट्टधर घोषित किया। वर्तमान में संघ, समाज संचालन की महत् जिम्मेवारी को

भलीभाँति निभाते हुए वे अपने कार्यक्षेत्र को जैन धर्म में स्थिरता प्रदान करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील हैं। पावागढ़ तीर्थ का उद्धार और वहां जैन कन्या छात्रालय की स्थापना की प्रेरणा इस कार्य का प्रमुख चरण है।

परमार क्षत्रियोद्धारक, चारित्र चूड़ामणि, जैन दिवाकर आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन्न सूरीश्वरजी महाराज की सबसे बड़ी देन और सबसे अधिक महान गौरवमय कार्य एक लाख परमार क्षत्रियों को जैन धर्म का अनुयायी बनाना है। जैन धर्म के पांच सौ वर्षों के इतिहास में ऐसा कार्य किसी आचार्य द्वारा नहीं हुआ है। एक लाख परमारों का उद्धार बीसवीं सदी का एक ऐतिहासिक कार्य है।



जैन संमत व्याप्ति

□ दलसुख मालवणिया

जैनों के मत से तर्क स्वतंत्र प्रमाण है और उसका विषय व्याप्ति है।^१ अन्य दर्शन में तर्क को स्वतंत्र प्रमाण माना नहीं गया केवल जैन दर्शन में ही तर्क को स्वतंत्र प्रमाण माना गया है। तर्क को स्वतंत्र प्रमाण क्यों माना जाय इस की विशेष चर्चा जैनों के दार्शनिक ग्रन्थों में की गई है। व्याप्ति के विषय में जैन मान्यता क्या है उसी का विवरण यहां प्रस्तुत है।

प्रथम यह जानें कि व्याप्ति क्या है? पदार्थों के त्रैकालिक संबंध को व्याप्ति माना गया है। आचार्य विद्यानंद ने तर्क के प्रामाण्यर्क चर्चा के प्रसंग में कहा है —

सम्बन्धं व्याप्तितेऽर्थानां विनिश्चित्य प्रवर्तते ।

येन तर्कः स संवादात् प्रमाणं तत्र गम्यते ॥४ ॥

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १.१३

प्रस्तुत प्रसंग में सर्वप्रथम बौद्धों की यह शंका कि संबंध तो वस्तुसत् नहीं, वह तो काल्पनिक है तो वह तर्क प्रमाण का विषय कैसे होगा? इसका निराकरण किया गया, हम जानते हैं कि धर्मकीर्ति ने संबंध परीक्षा^३ नामक ग्रन्थ लिखा है। उसमें उन्होंने संबंध का निराकरण किया है। अतएव यह जरूरी था कि संबंध भी वस्तुसत् है—इसकी स्थापना की जाय। अतएव जब जैनों ने संबंध को तर्क का विषय माना तो यह आवश्यक था कि वे संबंध की स्थापना करें। मैं यहां बौद्ध और जैनों की उस चर्चा का पूरा विवरण देना आवश्यक नहीं समझता हूं। जिज्ञासु उस चर्चा को अन्यत्र देख लें।^४ यहां तो आचार्य विद्यानन्द ने बौद्धों की ही पदार्थ या वस्तुसत्

पारमार्थिक वस्तुसत् की जो व्याख्या की है उसी का आश्रय लेकर उत्तर दिया है कि संबंध भी अर्थक्रियाकारी है अतएव पारमार्थिक वस्तुसत् है। और उसका प्रतिभास तर्क करता है अतएव वह अर्थप्रतिभासित है—

सम्बन्धो वस्तु सन्नर्थक्रियाकारित्वयोगतः ।
स्वैष्टार्थतत्त्ववत्तत्र चिन्ता स्यादर्थभासिनी ॥८५ ॥

तत्त्वार्थश्लो. १.१३

संबंध कौनसी अर्थ क्रिया करता है? उसके उत्तर में कहा है कि संबंध ज्ञान जो होता है वही संबंध की अर्थ क्रिया है—

येयं संबन्धितार्थानां संबन्धवशवर्तिनी ।
सैवष्टार्थक्रिया तज्ज्ञैः संबन्धस्य स्वधीरपि ॥८६ ॥

तत्त्वार्थश्लो. १.१३

सति संबन्धोऽर्थानां संबन्धिता भवति नासतीति तदन्वय व्यतिरेकानुविधायिनी या प्रतीता सैवार्थक्रिया तस्य तद्विद्भिर्भरभिमता यथा नीलान्वयव्यतिकानुविधायिनी क्वचिन्नीलता नीलस्यार्थक्रिया तस्यास्तत्साध्यत्वात् । संबन्ध ज्ञानं च संबन्धस्यार्थक्रिया नीलस्य नीलरानवत् । तदुक्तं-मत्या तावदियमर्थक्रिया यदुत स्वविषय विज्ञानोत्पाद नं नामेति ।

तत्त्वार्थश्लो. पृ. १८४-५

तर्क का विषय जो संबंध या प्रतिबन्ध है वही व्याप्ति है, अविनाभाव है—या यों कहें कि अन्यथानुपपत्ति

कालत्रयीवर्तिनोः साध्यसाधनयोर्गम्य-
गमकयोः सम्बन्धोऽविनाभावो व्याप्तिरित्यर्थः ।

रत्नाकरावतारिका ३.७

हेतु के क्षसत्त्वादि तीन रूप और पांच रूप क्रमशः बौद्ध और नैयायिकों ने माने किन्तु जैनों ने कहा कि अन्यथानुपपत्तिरूप एक ही लक्षण हेतु का हो सकता है^५ अतएव अन्यथानुपपत्ति या अविनाभाव ही व्याप्ति है ।

जैनों के इस मन्तव्य का मूलाधार धर्मकीर्ति का यह मत है—किन्तु संशोधन के साथ—

कार्यकारण भावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकान् ।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान् न दर्शनात् ॥३३ ॥

अवश्यं भावनियमः कः परस्याऽन्यथा परैः ।

अर्थान्तरनिमित्ते वा धर्मे वाससि रागवत् ॥३४ ॥

प्रमाणवार्तिक-स्वार्थानुमान-परिच्छेद

पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः ।

अविनाभावनियमान् हेत्वाभासास्ततोऽपरे ॥३ ॥

जैनों का संशोधन यह है कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति ये दो ही अविनाभाव के नियामक नहीं। बिना तादात्म्य-तदुत्पत्ति के भी सहभावी और क्रमभावी पदार्थों में अविनाभाव हो सकता है।^६

अनुमान प्रयोग में भी जैनों का यह आग्रह नहीं है कि दृष्टान्त के आधार पर व्याप्ति का कथन किया जाय। इस विषय में चर्चा करते हुए जैनों ने व्याप्ति के दो प्रकारों की चर्चा की है—अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति। अन्तर्व्याप्ति वह है जो प्रस्तुत साध्य और साधनगत है। और बहिर्व्याप्ति वह है जो प्रस्तुत साध्य और साधन के अतिरिक्त पदार्थों में भी देखी जाती है। यदि अन्तर्व्याप्ति सिद्ध है तो बहिर्व्याप्ति का उल्लेख दृष्टान्त द्वारा आवश्यक नहीं। अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति का भेद करने के पीछे यह भी धारणा रही है कि कभी-कभी अन्वय दृष्टान्त के न होने पर भी व्याप्ति होती है और वह है अन्तर्व्याप्ति। असाधारण धर्म को लेकर साध्य जब सिद्ध करना होता है तब अन्वय दृष्टान्त का मिलना संभव नहीं होता। फिर भी असाधारण धर्म के बल पर साध्य की सिद्धि हो सकती है—इस मान्यता के आधार पर अन्तर्व्याप्ति का सामर्थ्य स्वीकृत हुआ है।

आचार्य हेमचन्द्र ने व्याप्ति का जो लक्षण दिया है वह है—

व्याप्ति व्यापकस्य व्याप्ये सति भाव

एव, व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः ।

प्रमाणमीमांसा १.२.६

आचार्य हेमचन्द्र की यह व्याख्या आचार्य धर्मकीर्ति के हेतुबिन्दु की अर्चरटीका से लिया गया है। इसके विशेष विवरण के लिए प्रमाण मीमांसा के पंडित श्री सुखलालजी कृत भाषा टिप्पण को देखना चाहिए-पृ. ७५-८०।

टिप्पणी

१-अष्टशती और अष्टसहस्री पृ.-७४,

अष्टस. विवरण पृ. ७३/१

तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक १.१३.९४-११९ ।

परीक्षामुख ३.११-१३ । प्रमेय कमलमार्तण्ड पृष्ठ- ३.३५३

प्रमाणनय तत्त्वालोक ३.७.८

रत्नाकरावतारिका टीका के साथ ।

२-संबोधि वर्ष अंक १ तथा इस चर्चा के विस्तार से निरूपण तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक में १.१३.८४-११९ में देखें ।

३-यह ग्रन्थ स्वतंत्र रूप से अभी प्रकाशित नहीं है । किन्तु वह करीब पूरा का पूरा जैन ग्रन्थों में उद्धृत करके उसका निराकरण किया गया है- देखें- प्रमेय कमल मार्तण्ड पृ. ५०४-५२० ।

स्याद्वाद रत्नाकर ८१४-८१७ ।

४-देखें टिप्पणी नं. ३ ।

५-न्यायावतार का. २२ ।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १.१३.१२१, १.१३.१७८, १.१३.१२३-१८५, १.१३.१८६-१९३ ।

रत्नाकरावतारिका ३.११-१३ ।

६-प्रमेयकमलमार्तण्ड ३.१६.१८ । रत्नाकरावतारिका ३.७१-७६ । प्रमाणमीमांसा १.२.१० ।

७-न्यायावतार २० । तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक १.१३. १६१-१७४ ।

प्रमेय कमलमार्तण्ड ३.३७-४३ ।

रत्नाकरावतारिका ३.३३-३९ ।



निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्चिन्तन

□ प्रो. सागरमल जैन

जिस प्रकार वेदों के शब्दों की व्याख्या के रूप में सर्वप्रथम निरुक्त लिखे गये, सम्भवतः उसी प्रकार जैन परम्परा में आगमों की व्याख्या के लिए सर्वप्रथम निर्युक्तियां लिखने का कार्य हुआ। जैन आगमों की व्याख्या के रूप में लिखे गये ग्रन्थों में निर्युक्तियां प्राचीनतम हैं। आगमिक व्याख्या साहित्य मुख्य रूप से निम्न पांच रूप में विभक्त किया जा सकता है— १. निर्युक्ति २. भाष्य ३. चूर्ण ४. संस्कृत वृत्तियां एवं टीकाएं और ५. टब्बा अर्थात् आगमिक शब्दों को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन मरु-गुर्जर में लिखा गया आगमों का शब्दार्थ। इनके अतिरिक्त सम्प्रति आधुनिक भाषाओं यथा हिन्दी, गुजराती एवं अंग्रेजी में भी आगमों पर व्याख्याएं लिखी जा रही हैं।

सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान शारपेन्टियर उत्तराध्ययन सूत्र की भूमिका में निर्युक्ति की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि “निर्युक्तियां मुख्य रूप से केवल विषयसूची का काम करती है। वे सभी विस्तारयुक्त घटनाओं को संक्षेप में उल्लिखित करती हैं।”

अनुयोगद्वारसूत्र में निर्युक्तियों के तीन विभाग किये गये हैं—

१. निक्षेप-निर्युक्ति—इसमें निक्षेपों के आधार पर पारिभाषक शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया जाता है।

२. उपोद्घात-निर्युक्ति—इसमें आगम में वर्णित विषय का पूर्वभूमिका के रूप में स्पष्टीकरण किया जाता है।

३. सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्ति—इसमें आगम की विषय-वस्तु का उल्लेख किया जाता है ।

प्रो. घाटके इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली खण्ड १२ पृ. २७० में निर्युक्तियों को निम्न तीन विभागों में विभक्त किया है—

१. शुद्ध-निर्युक्तियाँ—जिनमें काल के प्रभाव से कुछ भी मिश्रण न हुआ हो, जैसे आचारांग और सूत्रकृतांग की निर्युक्तियाँ ।

२. मिश्रित किन्तु व्यवच्छेद्य-निर्युक्तियाँ—जिनमें मूलभाष्यों का समिश्रण हो गया है, तथापि वे व्यवच्छेद्य हैं, जैसे दशवैकालिक और आवश्यकसूत्र की निर्युक्तियाँ ।

३. भाष्य मिश्रित-निर्युक्तियाँ—वे निर्युक्तियाँ जो आजकल भाष्य या बृहद्भाष्य में ही समाहित हो गयी हैं और उन दोनों को पृथक्-पृथक् करना कठिन है । जैसे निशीथ आदि की निर्युक्तियाँ ।

निर्युक्तियाँ वस्तुतः आगमिक परिभाषिक शब्दों एवं आगमिक विषयों के अर्थ को सुनिश्चित करने का एक प्रयत्न है । फिर भी निर्युक्तियाँ अति संक्षिप्त हैं, इनमें मात्र आगमिक शब्दों एवं विषयों के अर्थ-संकेत ही हैं, जिन्हें भाष्य और टीकाओं के माध्यम से ही सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है । जैन आगमों की व्याख्या के रूप में जिन निर्युक्तियों का प्रणयन हुआ, वे मुख्यतः प्राकृत गाथाओं में हैं । आवश्यकनिर्युक्ति में निर्युक्ति शब्द का अर्थ और निर्युक्तियों के लिखने का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है—“एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, अतः कौन सा अर्थ किस प्रसंग में उपयुक्त है, यह निर्णय करना आवश्यक होता है । भगवान महावीर के उपदेश के आधार पर लिखित आगमिक ग्रन्थों में कौन से शब्द का क्या अर्थ है, इसे स्पष्ट करना ही निर्युक्ति का प्रयोजन है ।”^१ दूसरे शब्दों में निर्युक्ति जैन परम्परा के पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण है । यहाँ हमें स्मरण रहे कि जैन परम्परा में अनेक शब्द अपने व्युत्पत्तिपरक अर्थ में ग्रहीत न होकर अपने पारिभाषिक अर्थ में ग्रहीत हैं, जैसे—अस्तिकायों के प्रसंग में धर्म एवं अधर्म शब्द, कर्म सिद्धान्त के संदर्भ में प्रयुक्त कर्म शब्द अथवा स्याद्वाद में प्रयुक्त स्यात् शब्द । आचारांग में दंसण (दर्शन) शब्द का जो अर्थ है, उत्तराध्ययन में उसका वही अर्थ नहीं है । दर्शनावरण में दर्शन शब्द का जो अर्थ होता है वही अर्थ दर्शन मोह के सन्दर्भ में नहीं होता है । अतः आगम ग्रन्थों में शब्द के प्रसंगानुसार अर्थ का निर्धारण करने में निर्युक्तियों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है ।

निर्युक्तियों की व्याख्या-शैली का आधार मुख्य रूप से जैन परम्परा में प्रचलित

निक्षेप-पद्धति रही है। जैन परम्परा में वाक्य के अर्थ का निश्चय नयों के आधार पर एवं शब्द के अर्थ का निश्चय निक्षेपों के आधार पर होता है। निक्षेप चार हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इन चार निक्षेपों के आधार पर एक ही शब्द के चार भिन्न अर्थ हो सकते हैं। निक्षेप-पद्धति में शब्द के सम्भावित विविध अर्थों का उल्लेख कर उनमें से अप्रस्तुत अर्थ का निषेध करके प्रस्तुत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। उदाहरण के रूप में आवश्यक-निर्युक्ति के प्रारम्भ में अभिनिबोध ज्ञान के चार भेदों के उल्लेख के पश्चात् उनके अर्थों को स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि अर्थों (पदार्थों) का ग्रहण अवग्रह है एवं उनके सम्बन्ध में चिन्तन ईहा है।^१ इसी प्रकार निर्युक्तियों में किसी एक शब्द के पर्यायवाची अन्य शब्दों का भी संकलन किया गया है, जैसे—अभिनिबोधिक शब्द के पर्याय हैं—ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति एवं प्रज्ञा।^२ निर्युक्तियों की विशेषता यह है कि जहां एक ओर वे आगमों के महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों के अर्थों को स्पष्ट करती हैं, वहीं आगमों के विभिन्न अध्ययनों और उद्देशकों का संक्षिप्त विवरण भी देती हैं। यद्यपि इस प्रकार की प्रवृत्ति सभी निर्युक्तियों में नहीं है, फिर भी उनमें आगमों के पारिभाषिक शब्दों के अर्थ का तथा उनकी विषय-वस्तु का अति संक्षिप्त परिचय प्राप्त हो जाता है।

प्रमुख निर्युक्तियाँ

आवश्यक निर्युक्ति में लेखक ने जिन दस निर्युक्तियों के लिखने की प्रतिज्ञा की थी, वे निम्न हैं^३—

१. आवश्यक-निर्युक्ति
२. दशवैकालिक-निर्युक्ति
३. उत्तराध्ययन-निर्युक्ति
४. आचारांग-निर्युक्ति
५. सूत्रकृतांग-निर्युक्ति
६. दशाश्रुतस्कंध-निर्युक्ति
७. बृहत्कल्प-निर्युक्ति
८. व्यवहार-निर्युक्ति
९. सूर्य-प्रज्ञप्ति-निर्युक्ति

१०. ऋषिभाषित-निर्युक्ति

वर्तमान में उपर्युक्त दस में से आठ ही निर्युक्तियां उपलब्ध हैं, अन्तिम दो अनुपलब्ध हैं। आज यह निश्चय कर पाना अति कठिन है कि ये अन्तिम दो निर्युक्तियां लिखी भी गयी या नहीं? क्योंकि हमें कभी भी ऐसा कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होता, जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि किसी काल में ये निर्युक्तियां रहीं और बाद में विलुप्त हो गयीं। यद्यपि मैंने अपनी ऋषिभाषित की भूमिका^१ में यह सम्भावना व्यक्त की है कि वर्तमान 'इसीमण्डलत्थू' सम्भवतः ऋषिभाषित निर्युक्ति का परिवर्तित रूप हो, किन्तु इस सम्बन्ध में निर्णयात्मक रूप से कुछ भी कहना कठिन है। इन दोनों निर्युक्तियों के सन्दर्भ में हमारे सामने तीन विकल्प हो सकते हैं—

१. सर्वप्रथम यदि हम यह मानें कि इन दसों निर्युक्तियों के लेखक एक ही व्यक्ति हैं और उन्होंने इन निर्युक्तियों की रचना उसी क्रम में की है, जिस क्रम से इनका उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति में हैं, तो ऐसी स्थिति में यह सम्भव है कि वे अपने जीवन-काल में आठ निर्युक्तियों की ही रचना कर पायें हों तथा अन्तिम दो की रचना नहीं कर पायें हों।

२. दूसरे यह भी सम्भव है कि ग्रन्थों के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए प्रथम तो लेखक ने यह प्रतिज्ञा कर ली हो कि वह इन दसों आगम ग्रन्थों पर निर्युक्ति लिखेगा, किन्तु जब उसने इन दोनों आगम ग्रन्थों का अध्ययन कर यह देखा कि सूर्य-प्रज्ञप्ति में जैन-आचार मर्यादाओं के प्रतिकूल कुछ उल्लेख हैं और ऋषिभाषित में नारद, मंखलिंगोशाल आदि उन व्यक्तियों के उपदेश संकलित हैं जो जैन परम्परा के लिए विवादास्पद हैं, तो उसने इन पर निर्युक्ति लिखने का विचार स्थगित कर दिया हो।

३. तीसरी सम्भावना यह भी है कि उन्होंने इन दोनों ग्रन्थों पर निर्युक्तियाँ लिखी हों किन्तु इनमें भी विवादित विषयों का उल्लेख होने से इन निर्युक्तियों को पठन-पाठन से बाहर रखा गया हो और फलतः अपनी उपेक्षा के कारण कालक्रम में वे विलुप्त हो गयी हों। यद्यपि यहाँ एक शंका हो सकती है कि, यदि जैन आचार्यों ने विवादित होते हुए भी इन दोनों ग्रन्थों को संरक्षित करके रखा तो उन्होंने इनकी निर्युक्तियों को संरक्षित करके क्यों नहीं रखा?

४. एक अन्य विकल्प यह भी हो सकता है कि जिस प्रकार दर्शनप्रभावक ग्रन्थ के रूप में मान्य गोविन्दनिर्युक्ति विलुप्त हो गई है, उसी प्रकार ये निर्युक्तियां भी विलुप्त हो गई हों।

निर्युक्ति साहित्य में उपरोक्त दस निर्युक्तियों के अतिरिक्त पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति एवं आराधनानिर्युक्ति को भी समाविष्ट किया जाता है, किन्तु इनमें से

पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं है। पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिक निर्युक्ति का एक भाग है और ओघनिर्युक्ति भी आवश्यक निर्युक्ति का एक अंश है। अतः इन दोनों को स्वतन्त्र निर्युक्ति ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि वर्तमान में ये दोनों निर्युक्तियाँ अपने मूल ग्रन्थ से अलग होकर स्वतन्त्र रूप से ही उपलब्ध होती हैं। आचार्य मलयगिरि ने पिण्डनिर्युक्ति को दशवैकालिकनिर्युक्ति का ही एक विभाग माना है, उनके अनुसार दशवैकालिक के पिण्डैषणा नामक पाँचवें अध्ययन पर विशद निर्युक्ति होने से उसको वहाँ से पृथक करके पिण्डनिर्युक्ति के नाम से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बना दिया गया। मलयगिरि स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जहाँ दशवैकालिक निर्युक्ति में लेखक ने नमस्कारपूर्वक प्रारम्भ किया, वही पिण्डनिर्युक्ति में ऐसा नहीं है, अतः पिण्डनिर्युक्ति स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं है। दशवैकालिकनिर्युक्ति तथा आवश्यकनिर्युक्ति से इन्हें बहुत पहले ही अलग कर दिया गया था। जहाँ तक आराधनानिर्युक्ति का प्रश्न है, श्वेताम्बर साहित्य में तो कहीं भी इसका उल्लेख नहीं है। प्रो. ए.एन. उपाध्ये ने बृहत्कथाकोश की अपनी प्रस्तावना^१ (पृ. ३१) में मूलाचार की एक गाथा की वसुनन्दी की टीका के आधार पर इस निर्युक्ति का उल्लेख किया है, किन्तु आराधनानिर्युक्ति की उनकी यह कल्पना यथार्थ नहीं है। मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दी स्वयं एवं प्रो. ए.एन. उपाध्ये जी मूलाचार की उस गाथा के अर्थ को सम्यक् प्रकार से समझ नहीं पाये हैं।^{१०}

वह गाथा निम्नानुसार है—

“आराहण णिज्जुति मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ ।

पच्चक्खाणावसय धम्मकहाओ य एरिसओ ।”

(मूलाचार, पंचचारधिकार, २७९)

अर्थात् आराधना, निर्युक्ति, मरणविभक्ति, संग्रहणीसूत्र, स्तुति (वीरस्तुति), प्रत्याख्यान (महाप्रत्याख्यान, आतुरप्रत्याख्यान), आवश्यकसूत्र, धर्मकथा तथा ऐसे अन्य ग्रन्थों का अध्ययन अस्वाध्याय काल में किया जा सकता है। वस्तुतः मूलाचार की इस गाथा के अनुसार आराधना एवं निर्युक्ति ये अलग-अलग स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। इसमें आराधना से तात्पर्य आराधना नामक प्रकीर्णक अथवा भगवती-आराधना से तथा निर्युक्ति से तात्पर्य आवश्यक आदि सभी निर्युक्तियों से है।

अतः आराधनानिर्युक्ति नामक निर्युक्ति की कल्पना अयथार्थ है। इस निर्युक्ति के अस्तित्व की कोई सूचना अन्यत्र भी नहीं मिलती है और न यह ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है। इन दस निर्युक्तियों के अतिरिक्त आर्य गोविन्द की गोविन्दनिर्युक्ति का भी उल्लेख मिलता है,

किन्तु यह भी निर्युक्ति वर्तमान में अनुपलब्ध है। इनका उल्लेख नन्दीसूत्र^१, व्यवहार-भाष्य^२, आवश्यकचूर्ण^३ एवं निशीथचूर्ण^४ में मिलता है। इस निर्युक्ति की विषय वस्तु मुख्य रूप से एकेन्द्रिय अर्थात् पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि में जीवन की सिद्धि करना था। इसे गोविन्द नामक आचार्य ने बनाया था और उनके नाम के आधार पर ही इसका नामकरण हुआ है। कथानकों के अनुसार ये बौद्ध परम्परा से आकर जैन परम्परा में दीक्षित हुए थे। मेरी दृष्टि में यह निर्युक्ति आचारांग के प्रथम अध्ययन और दशवैकालिक के चतुर्थ षट्-जीव निकाय नामक अध्ययन से सम्बन्धित रही होगी और इसका उद्देश्य बौद्धों के विरुद्ध पृथ्वी, पानी आदि में जीवन की सिद्धि करना रहा होगा। यही कारण है इसकी गणना दर्शन प्रभावक ग्रन्थ में की गयी है। संज्ञी-श्रुत के सन्दर्भ में इसका उल्लेख भी यही बताता है।^{१२}

इसी प्रकार संसक्त निर्युक्ति^३ नामक एक और निर्युक्ति का उल्लेख मिलता है। इसमें ८४ आगमों के सम्बन्ध में उल्लेख है। इसमें मात्र ९४ गाथाएँ हैं। ८४ आगमों का उल्लेख होने से विद्वानों ने इसे पर्याप्त परवर्ती एवं विसंगत रचना माना है। अतः इसे प्राचीन निर्युक्ति साहित्य में परिगणित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार वर्तमान निर्युक्तियाँ दस निर्युक्तियों में समाहित हो जाती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य किसी निर्युक्ति नामक ग्रन्थ की जानकारी हमें नहीं है।

दस निर्युक्तियों का रचना क्रम :

यद्यपि दसों निर्युक्तियाँ एक ही व्यक्ति की रचनायें हैं। फिर भी इनकी रचना एक क्रम में हुई होगी। आवश्यकनिर्युक्ति में जिस क्रम से इन दस निर्युक्तियों का नामोल्लेख है^{१४} उसी क्रम से उनकी रचना हुई होगी, विद्वानों के इस कथन की पुष्टि निम्न प्रमाणों से होती है—

१. आवश्यकनिर्युक्ति की रचना सर्वप्रथम हुई है, यह तथ्य स्वतः सिद्ध है, क्योंकि इसी निर्युक्ति में सर्वप्रथम दस निर्युक्तियों की रचना करने की प्रतिज्ञा की गयी है और उसमें भी आवश्यक का नामोल्लेख सर्वप्रथम हुआ है।^{१५} पुनः आवश्यकनिर्युक्ति से निहववाद से सम्बन्धित सभी गाथाएँ (गाथा ७७८ से ७८४ तक)^{१६} उत्तराध्ययननिर्युक्ति में (गाथा १६४ से १७८ तक)^{१७} में ली गयी है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आवश्यकनिर्युक्ति के बाद ही उत्तराध्ययननिर्युक्ति आदि अन्य निर्युक्तियों की रचना हुई है। आवश्यकनिर्युक्ति के बाद सबसे पहले दशवैकालिकनिर्युक्ति की रचना हुई है और उसके बाद प्रतिज्ञागाथा के क्रमानुसार अन्य निर्युक्तियों की रचना की गई। इस कथन की पुष्टि आगे दिये गये उत्तराध्ययननिर्युक्ति के

सन्दर्भों से होती है।

२. उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा २९ में 'विनय' की व्याख्या करते हुए यह कहा गया है—'विणओ पुव्वुद्धिद्धा' अर्थात् विनय के सम्बन्ध में हम पहले कह चुके हैं।^{१८} इसका तात्पर्य यह है कि उत्तराध्ययननिर्युक्ति की रचना से पूर्व किसी ऐसी निर्युक्ति की रचना हो चुकी थी, जिसमें विनय सम्बन्धी विवेचन था। यह बात दशवैकालिक निर्युक्ति को देखने से स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि दशवैकालिकनिर्युक्ति में विनय समाधि नामक नवें अध्ययन की निर्युक्ति (गाथा ३०९ से ३२६ तक) में 'विनय' शब्द की व्याख्या है।^{१९} इसी प्रकार उत्तराध्ययननिर्युक्ति (गाथा २०७) में 'कामापुव्वुद्धिद्धा' कहकर यह सूचित किया गया है कि काम के विषय में पहले विवेचन किया जा चुका है।^{२०} यह विवेचन भी हमें दशवैकालिकनिर्युक्ति की गाथा १६१ से १६३ तक में मिल जाता है।^{२१} उपरोक्त दोनों सूचनाओं के आधार पर यह बात सिद्ध होती है कि उत्तराध्ययननिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति के बाद ही लिखी गयी।

३. आवश्यकनिर्युक्ति के बाद दशवैकालिकनिर्युक्ति और फिर उत्तराध्ययननिर्युक्ति की रचना हुई, यह तो पूर्व चर्चा से सिद्ध हो चुका है। इन तीनों निर्युक्तियों की रचना के पश्चात् आचारांगनिर्युक्ति की रचना हुई है, क्योंकि आचारांग निर्युक्ति की गाथा ५ में कहा गया है—'आयारे अंगम्मि य पुव्वुद्धि चउक्कयं निक्खेवो' आचार और अंग के निक्षेपों का विवेचन पहले हो चुका है।^{२२} दशवैकालिकनिर्युक्ति में दशवैकालिकसूत्र के क्षुल्लकाचार अध्ययन की निर्युक्ति (गाथा ७९-८८) में 'आचार' शब्द के अर्थ का विवेचन^{२२} तथा उत्तराध्ययननिर्युक्ति में उत्तराध्ययनसूत्र के तृतीय 'चतुरंग' अध्ययन की निर्युक्ति करते हुए गाथा १४३-१४४ में 'अंग' शब्द का विवेचन किया है।^{२३} अतः यह सिद्ध होता है कि आवश्यक, दशवैकालिक एवं उत्तराध्ययन के पश्चात् ही आचारांगनिर्युक्ति का क्रम है।

इसी प्रकार आचारांग की चतुर्थ विमुक्तिचूलिका की निर्युक्ति में विमुक्ति शब्द की निर्युक्ति करते हुए गाथा ३३१ में लिखा है कि 'मोक्ष' शब्द की निर्युक्ति के अनुसार ही 'विमुक्ति' शब्द की निर्युक्ति भी समझना चाहिए।^{२४} चूंकि उत्तराध्ययन के अट्ठावीसवें अध्ययन की निर्युक्ति (गाथा ४९७-९८) में मोक्ष शब्द की निर्युक्ति की जा चुकी थी।^{२५} अतः इससे यही सिद्ध हुआ कि आचारांगनिर्युक्ति का क्रम उत्तराध्ययन के पश्चात् है। आवश्यकनिर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति, उत्तराध्ययननिर्युक्ति एवं आचारांगनिर्युक्ति के पश्चात् सूत्रकृतांगनिर्युक्ति का क्रम आता है। इस तथ्य की पुष्टि इस आधार पर भी होती है कि सूत्रकृतांगनिर्युक्ति की गाथा ९९ में यह उल्लिखित है कि 'धर्म' शब्द के निक्षेपों का विवेचन पूर्व

में हो चुका है (धम्मोपुव्वुद्धिद्वो)।^{२६} दशवैकालिकनिर्युक्ति में दशवैकालिकसूत्र की प्रथम गाथा का विवेचन करते समय धर्म शब्द के निक्षेपों का विवेचन हुआ है।^{२७} इसे यह सिद्ध होता है कि सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति के बाद निर्मित हुई है। इसी प्रकार सूत्रकृतांगनिर्युक्ति की गाथा १२७ में कहा है 'गंधोपुव्वुद्धिद्वो'।^{२८} हम देखते हैं कि उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा २६७-२६८ में ग्रन्थ शब्द के निक्षेपों का भी कथन हुआ है।^{२९} इससे सूत्रकृतांगनिर्युक्ति भी दशवैकालिकनिर्युक्ति एवं उत्तराध्ययननिर्युक्ति से परवर्ती ही सिद्ध होती है।

४. उपर्युक्त पांच निर्युक्तियों के यथाक्रम से निर्मित होने के पश्चात् ही तीन छेद सूत्रों यथा:—दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प एवं व्यवहार पर निर्युक्तियां भी उनके उल्लेख क्रम से ही लिखीं गयीं हैं, क्योंकि दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति के प्रारम्भ में ही प्राचीनगोत्रीय सकल श्रुत के ज्ञाता और दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प एवं व्यवहार के रचयिता भद्रबाहु को नमस्कार किया गया है। इसमें भी इन तीनों ग्रन्थों का उल्लेख उसी क्रम से है जिस क्रम से निर्युक्ति-लेखन की प्रतिज्ञा में है।^{३०} अतः यह कहा जा सकता है कि इन तीनों ग्रन्थों की निर्युक्तियां इसी क्रम में लिखी गयीं होंगी। उपर्युक्त आठ निर्युक्तियों की रचना के पश्चात् ही सूर्यप्रज्ञप्ति एवं इसिभासियाइ की निर्युक्ति की रचना होनी थी। इन दोनों ग्रन्थों पर निर्युक्तियां लिखी भी गयीं या नहीं, आज यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि पूर्वोक्त प्रतिज्ञा गाथा के अतिरिक्त हमें इन निर्युक्तियों के सन्दर्भ में कहीं भी कोई भी सूचना नहीं मिलती है। अतः इन निर्युक्तियों की रचना होना संदिग्ध ही है। या तो इन निर्युक्तियों के लेखन का क्रम आने से पूर्व ही निर्युक्तिकार का स्वर्गवास हो चुका होगा या फिर इन दोनों ग्रन्थों में कुछ विवादित प्रसंगों का उल्लेख होने से निर्युक्तिकार ने इनकी रचना करने का निर्णय ही स्थगित कर दिया होगा।

अतः सम्भावना यही है कि ये दोनो निर्युक्तियां लिखी ही नहीं गईं, चाहे इनके नहीं लिखे जाने के कारण कुछ भी रहे हों। प्रतिज्ञागाथा के अतिरिक्त सूत्रकृतांगनिर्युक्ति गाथा १८९ में ऋषिभाषित का नाम अवश्य आया है।^{३१} वहा यह कहा गया है कि जिस-जिस सिद्धान्त या मत में जिस किसी अर्थ का निश्चय करना होता है उसमें पूर्व कहा गया अर्थ ही मान्य होता है, जैसे कि—ऋषिभाषित में। किन्तु यह उल्लेख ऋषिभाषित मूल ग्रन्थ के सम्बन्ध में ही सूचना देता है न कि उसकी निर्युक्ति के सम्बन्ध में।

निर्युक्ति के लेखक और रचना-काल :

निर्युक्तियों के लेखक कौन हैं और उनका रचना काल क्या है ये दोनों प्रश्न एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। अतः हम उन पर अलग-अलग विचार न करके एक साथ ही विचार करेंगे।

परम्परागत रूप से अन्तिम श्रुतकेवली, चतुर्दशपूर्वधर तथा छेदसूत्रों के रचयिता आर्य भद्रबाहु प्रथम को ही निर्युक्तियों का कर्ता माना जाता है। मुनि श्री पुण्यविजय जी ने अत्यन्त परिश्रम द्वारा श्रुत-केवली भद्रबाहु को निर्युक्तियों के कर्ता के रूप में स्वीकार करने वाले निम्न साक्ष्यों को संकलित करके प्रस्तुत किया है। जिन्हें हम यहां अविकल रूप से दे रहे हैं^{३२}—

१. “अनुयोगदायिनः — सुधर्मस्वामिप्रभृतयः यावदस्य भगवतो निर्युक्तिकारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्याचार्योऽतस्तान् सर्वानिति ॥”

—आचारांगसूत्र, शीलाङ्काचार्य कृत टीका-पत्र ४.

२. “न च केषांचिदिहोदाहरणानां निर्युक्तिकालादर्वाक्कालाभाविता इत्यन्योक्तत्वमाशङ्कनीयम् स हि भगवांश्चतुर्दशपूर्ववित् श्रुतकेवली कालत्रयविषयं वस्तु पश्यत्येवेति कथमन्यकृतत्वाशङ्का ? इति ।” उत्तराध्ययनसूत्र शान्तिसूरिकृता पाइयटीका-पत्र १३९.

३. “गुणाधिकस्य वन्दनं कर्तव्यम् न त्वधमस्य, यत उक्तम्— “गुणाहिए वंदणयं” । भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरत्वाद् दशपूर्वधरादीनां च न्यूनत्वात् किं तेषां नमस्कारमसौ करोति ? इति । अत्रोच्यते — गुणाधिका एव ते, अव्यवच्छित्तिगुणाधिक्यात्, अतो न दोष इति ।” ओघनिर्युक्ति द्रोणाचार्यकृतश्टीका-पत्र ३.

४. “इह चरणकरणक्रियाकलापतरुमूलकल्पं सामायिकादिषडध्ययनात्मकश्रुतस्कन्धरूपमावश्यकं तावदर्थतस्तीर्थकरैः सूत्रतस्तु गणधरैर्विरचितम् । असय चातीव गम्भीरार्थतां सकलसाधु—श्रावकवर्गस्य नित्योपयोगितां च विज्ञाय चतुर्दशपूर्वधरेण श्रीमद्भद्रबाहुनैतद्व्याख्यानरूपा” आभिणिबोहियनाणं.” इत्यादिप्रसिद्धग्रन्थरूपा निर्युक्तिः कृता ।” विशेषावश्यक मलधारिहेमचन्द्रसूरिकृत टीका-पत्र १.

५. “साधूनामनुग्रहाय चतुर्दशपूर्वधरेण भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पसूत्रं व्यवहारसूत्रं चाकारि, उभयोरपि च सूत्रस्पर्शिकानिर्युक्तिः ।” बृहत्कल्पपीठिका मलयगिरिकृत टीका-पत्र २.

६. इह श्रीमदावश्यकदिसिद्धान्तप्रतिबद्धनिर्युक्तिशास्त्रसंसूत्रणसूत्रधारः . . . श्रीभद्रबाहुस्वामी कल्पनामधेयमध्ययनं निर्युक्तियुक्तं निर्यूढवान् । बृहत्कल्पपीठिका श्रीक्षेमकीर्तिसूरिअनुसन्धिता टीका-पत्र १७७ ।

इन समस्त सन्दर्भों को देखने से स्पष्ट होता है कि श्रुत-केवली चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु प्रथम को निर्युक्तियों के कर्ता के रूप में मान्य करने वाला प्राचीनतम सन्दर्भ आर्यशीलांक का है। आर्यशीलांक का समय लगभग विक्रम संवत् की ९वीं-१०वीं सदी माना जाता है। जिन अन्य आचार्यों ने निर्युक्तिकार के रूप में भद्रबाहु प्रथम को माना है, उनमें आर्यद्रोण, मलधारी

हेमचन्द्र, मलयगिरि, शान्तिसूरि तथा क्षेमकीर्ति सूरि के नाम प्रमुख हैं, किन्तु ये सभी आचार्य विक्रम की दसवीं सदी के पश्चात् हुए हैं। अतः इनका कथन बहुत अधिक प्रमाणिक नहीं कहा जा सकता है। उन्होंने जो कुछ भी लिखा है, वह मात्र अनुश्रुतियों के आधार पर लिखा है। दुर्भाग्य से ८-९वीं सदी के पश्चात् चतुर्दश पूर्वधर श्रुत-केवली भद्रबाहु और वाराहमिहिर के भाई नैमित्तिक भद्रबाहु के कथानक, नामसाम्य के कारण एक-दूसरे में घुल-मिल गये और दूसरे भद्रबाहु की रचनायें भी प्रथम के नाम चढ़ा दी गई। यही कारण रहा कि नैमित्तिक भद्रबाहु को भी प्राचीनगोत्रीय श्रुत-केवली चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के साथ जोड़ दिया गया है और दोनों के जीवन की घटनाओं के इस घाल-मेल से अनेक अनुश्रुतियां प्रचलित हो गई। इन्हीं अनुश्रुतियों के परिणामस्वरूप निर्युक्ति के कर्ता के रूप में चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु की अनुश्रुति प्रचलित हो गयी। यद्यपि मुनि श्री पुण्यविजय जी ने बृहत्कल्प-सूत्र (निर्युक्ति, लघु भाष्य वृत्यूपेतम्) के षष्ठ विभाग के आमुख में यह लिखा है कि निर्युक्तिकार स्थविर आर्य भद्रबाहु है, इस मान्यता को पुष्ट करने वाला एक प्रमाण जिनभद्र गणिकक्षमाश्रमण के विशेषावश्यक भाष्य की स्वोपज्ञ टीका में भी मिलता है।^{३३} यद्यपि उन्होंने वहां उस प्रमाण का सन्दर्भ सहित उल्लेख नहीं किया है। मैं इस संदर्भ को खोजने का प्रयत्न कर रहा हूँ, किन्तु उसके मिल जाने पर भी हम केवल इतना ही कह सकेंगे कि विक्रम की लगभग सातवीं शती से निर्युक्तिकार प्राचीनगोत्रीय चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु हैं, ऐसी अनुश्रुति प्रचलित हो गयी थी।

निर्युक्तिकार प्राचीनगोत्रीय चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु है अथवा नैमित्तिक (वाराहमिहिर के भाई) भद्रबाहु हैं, यह दोनों ही प्रश्न विवादास्पद हैं। जैसा कि हमने संकेत किया है निर्युक्तियों को प्राचीनगोत्रीय चतुर्दश पूर्वधर आर्य भद्रबाहु की मानने की परम्परा आर्यशीलांक से या उसके पूर्व जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण से प्रारम्भ हुई है। किन्तु उनके इन उल्लेखों में कितनी प्रमाणिकता है यह विचारणीय है, क्योंकि निर्युक्तियों में ही ऐसे अनेक प्रमाण उपस्थित हैं, जिनसे निर्युक्तिकार पूर्वधर भद्रबाहु हैं, इस मान्यता में बाधा उत्पन्न होती है। इस सम्बन्ध में मुनिश्री पुण्यविजयजी ने अत्यन्त परिश्रम द्वारा वे सब सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं, जो निर्युक्तिकार पूर्वधर भद्रबाहु हैं, इस मान्यता के विरोध में जाते हैं। हम उनकी स्थापनाओं के हार्द को ही हिन्दी भाषा में रूपान्तरित कर निम्न पंक्तियों में प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा ७६४ से ७७६ तक में वज्रस्वामी के विद्यागुरु आर्यसिंहगिरि, आर्यवज्रस्वामी, तोषलिपुत्र, आर्यरक्षित, आर्य फल्गुमित्र, स्थविर भद्रगुप्त जैसे आचार्यों का स्पष्ट उल्लेख है ३४। ये सभी आचार्य चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु से परवर्ती हैं और तोषलिपुत्र को छोड़कर शेष सभी का उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरावली में है। यदि निर्युक्तियां

चतुर्दश पूर्वधर आर्यभद्रबाहु की कृति होती तो उनमें इन नामों के उल्लेख सम्भव नहीं थे ।

२. इसी प्रकार पिण्डनिर्युक्ति की गाथा ४९८ में पादलिप्ताचार्य^{३५} का एवं गाथा ५०३ से ५०५ में वज्रस्वामी के मामा समितसूरि^{३६} का उल्लेख है साथ ही ब्रह्मदीपकशाखा^{३७} का उल्लेख भी है—ये तथ्य यही सिद्ध करते हैं कि पिण्डनिर्युक्ति भी चतुर्दश पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु की कृति नहीं है, क्योंकि पादलिप्तसूरि, समितसूरि तथा ब्रह्मदीपकशाखा की उत्पत्ति ये सभी प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु से परवर्ती हैं ।

३. उत्तराध्ययननिर्युक्ति की गाथा १२० में कालकाचार्य^{३८} की कथा का संकेत है । कालकाचार्य भी प्राचीनगोत्रीय पूर्वधर भद्रबाहु से लगभग तीन सौ वर्ष पश्चात् हुए हैं ।

४. ओघनिर्युक्ति की प्रथम गाथा में चतुर्दश पूर्वधर, दश पूर्वधर एवं एकादश-अंगों के ज्ञाताओं को सामान्य रूप से नमस्कार किया गया है^{३९}, ऐसा द्रोणाचार्य ने अपनी टीका में सूचित किया है ।^{४०} यद्यपि मुनि श्री पुण्यविजय जी सामान्य कथन की दृष्टि से इसे असंभावित नहीं मानते हैं, क्योंकि आज भी आचार्य, उपाध्याय एवं मुनि नमस्कारमंत्र में अपने से छोटे पद और व्यक्तियों को नमस्कार करते हैं । किन्तु मेरी दृष्टि में कोई भी चतुर्दश पूर्वधर दसपूर्वधर को नमस्कार करे, यह उचित नहीं लगता । पुनः आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा ७६९ में दस पूर्वधर वज्रस्वामी को नाम लेकर जो वंदन किया गया है^{४१}, वह तो किसी भी स्थिति में उचित नहीं माना जा सकता है ।

५. पुनः आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा ७६३ से ७७४ में यह कहा गया है कि शिष्यों की स्मरण शक्ति के हास को देखकर आर्य रक्षित ने, वज्रस्वामी के काल तक जो आगम अनुयोगों में विभाजित नहीं थे, उन्हें अनुयोगों में विभाजित किया ।^{४२} यह कथन भी एक परवर्ती घटना को सूचित करता है । इससे भी यही फलित होता है कि निर्युक्तियों के कर्ता चतुर्दशपूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु नहीं हैं, अपितु आर्यरक्षित के पश्चात् होने वाले कोई भद्रबाहु है ।

६. दशवैकालिकनिर्युक्ति^{४३} की गाथा ४ एवं ओघनिर्युक्ति^{४४} की गाथा २ में चरणकरणानुयोग की निर्युक्ति कहूँगा ऐसा उल्लेख है । यह भी इसी तथ्य को पुष्टि करता है कि निर्युक्ति की रचना अनुयोगों के विभाजन के बाद अर्थात् आर्यरक्षित के पश्चात् हुई है ।

७. आवश्यकनिर्युक्ति^{४५} की गाथा ७७८-७८३ में तथा उत्तराध्ययन निर्युक्ति^{४६} की गाथा १६४ से १७८ तक में ७ निहवों और आठवें बोटिक मत की उत्पत्ति का उल्लेख हुआ है । अन्तिम सातवां निहव वीरनिर्वाण संवत् ५८४ में तथा बोटिक मत की उत्पत्ति वीरनिर्वाण संवत्

६०९ में हुई। ये घटनाएं चतुर्दशपूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु के लगभग चार सौ वर्ष पश्चात् हुई हैं। अतः उनके द्वारा रचितनिर्युक्ति में इनका उल्लेख होना सम्भव नहीं लगता है। वैसे मेरी दृष्टि में बोटिक मत की उत्पत्ति का कथन निर्युक्तिकार का नहीं है—निर्युक्ति में सात निहवों का ही उल्लेख है। निहवों के काल एवं स्थान सम्बन्धी गाथाएं भाष्य गाथाएं हैं—जो बाद में निर्युक्ति में मिल गई हैं। किन्तु निर्युक्तियों में सात निहवों का उल्लेख होना भी इस बात का प्रमाण है कि निर्युक्तियां प्राचीनगोत्रीयपूर्वधर भद्रबाहु की कृतियां नहीं हैं।

८. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति की गाथा १४६ में द्रव्य-निक्षेप के सम्बन्ध में एकभक्ति, बद्धायुष्य और अभिमुखित नाम-गोत्र ऐसे तीन आदेशों का उल्लेख हुआ है।^{४७} ये विभिन्न मान्यताएं भद्रबाहु के काफी पश्चात् आर्य सुहस्ति, आर्य मंक्षु आदि परवर्ती आचार्यों के काल में निर्मित हुई हैं। अतः इन मान्यताओं के उल्लेख से भी निर्युक्तियों के कर्ता चतुर्दश पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु है, यह मानने में बाधा आती है।

मुनिजी पुण्यविजयजी ने उत्तराध्ययन के टीकाकार शान्त्याचार्य, जो निर्युक्तिकार के रूप में चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु को मानते हैं, की इस मान्यता का भी उल्लेख किया है कि निर्युक्तिकार त्रिकालज्ञानी है। अतः उनके द्वारा परवर्ती घटनाओं का उल्लेख होना असम्भव नहीं है।^{४८} यहां मुनि पुण्यविजयजी कहते हैं कि हम शान्त्याचार्य की यह बात स्वीकार कर भी लें, तो भी निर्युक्तियों में नामपूर्वक वज्रस्वामी को नमस्कार आदि किसी भी दृष्टि से युक्ति संगत नहीं कहा जा सकता। वे लिखते हैं कि यदि उपर्युक्त घटनाएं घटित होने के पूर्व ही निर्युक्तियों में उल्लिखित कर दी गयीं हों तो भी अमुक मान्यता अमुक पुरुष द्वारा स्थापित हुई यह कैसे कहा जा सकता है।^{४९}

पुनः जिन दस आगम ग्रन्थों पर निर्युक्ति लिखने का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति में है, उससे यह स्पष्ट है कि भद्रबाहु के समय आचारांग, सूत्रकृतांग आदि अतिविस्तृत एवं परिपूर्ण थे। ऐसी स्थिति में उन आगमों पर लिखी गयी निर्युक्ति भी अतिविशाल एवं चारों अनुयोगमय होना चाहिए। इसके विरोध में यदि निर्युक्तिकार भद्रबाहु थे, ऐसी मान्यता रखने वाले विद्वान् यह कहते हैं कि निर्युक्तिकार तो भद्रबाहु ही थे और वे निर्युक्तियाँ भी अतिविशाल थीं, किन्तु बाद में स्थविर आर्यरक्षित ने अपने शिष्य पुष्यमित्र की विस्मृति एवं भविष्य में होने वाले शिष्यों की मंद-बुद्धि को ध्यान में रखकर जिस प्रकार आगमों के अनुयोगों को पृथक् किया, उसी प्रकार निर्युक्तियों को भी व्यवस्थित एवं संक्षिप्त किया। इसके प्रत्युत्तर में मुनि श्री पुण्यविजयजी का कथन है कि प्रथम तो यह कि आर्यरक्षित द्वारा अनुयोगों के पृथक् करने की बात तो कही जाती

है, किन्तु निर्युक्तियों को व्यवस्थित करने का एक भी उल्लेख नहीं है। स्कंदिल आदि ने विभिन्न वाचनाओं में आगमों को ही व्यवस्थित किया, निर्युक्तियों को नहीं।^{५०}

दूसरे उपलब्ध निर्युक्तियां उन अंग-आगमों पर नहीं हैं जो भद्रबाहु प्रथम के युग में थे। परम्परागत मान्यता के अनुसार आर्यरक्षित के युग में भी आचारांग एवं सूत्रकृतांग उतने ही विशाल थे, जितने भद्रबाहु के काल में थे। ऐसी स्थिति में चाहे एक ही अनुयोग का अनुसरण करके निर्युक्तियां लिखी गयी हों, उनकी विषयवस्तु तो विशाल होनी चाहिए थी। जबकि जो भी निर्युक्तियां उपलब्ध हैं वे सभी माथुरीवाचना द्वारा या वलभी वाचना द्वारा निर्धारित पाठ वाले आगमों का ही अनुसरण कर रही हैं। यदि यह कहा जाय कि अनुयोगों का पृथक्करण करते समय आर्यरक्षित ने निर्युक्तियों को भी पुनः व्यवस्थित किया और उनमें अनेक गाथायें प्रक्षिप्त भी कीं, तो प्रश्न होता है कि फिर उनमें गोष्ठामाहिल और बोटिक मत की उत्पत्ति सम्बन्धी विवरण कैसे आये, क्योंकि इन दोनों की उत्पत्ति आर्यरक्षित के स्वर्गवास के पश्चात् ही हुई है।

यद्यपि इस सन्दर्भ में मेरा मुनिश्री से मतभेद है। मेरे अध्ययन की दृष्टि से सप्त निहवों के उल्लेख वाली गाथाएं तो मूल गाथाएं हैं, किन्तु उनमें बोटिक मत के उत्पत्ति स्थल रथवीरपुर एवं उत्पत्तिकाल वीर नि.सं. ६०९ का उल्लेख करने वाली गाथायें बाद में प्रक्षिप्त हैं। वे निर्युक्ति की गाथाएं न होकर भाष्य की हैं, क्योंकि जहां निहवों एवं उनके मतों का उल्लेख है वहां सर्वत्र सात का ही नाम आया है। जबकि उनके उत्पत्तिस्थल एवं काल को सूचित करने वाली इन दो गाथाओं में यह संख्या आठ हो गयी।^{५१} आश्चर्य यह है कि आवश्यकनिर्युक्ति में बोटिकों की उत्पत्ति की कहीं कोई चर्चा नहीं है, और यदि बोटिकमत के प्रस्तोता एवं उनके मन्तव्य का उल्लेख मूल आवश्यकनिर्युक्ति में नहीं है, तो फिर उनके उत्पत्ति-स्थल एवं उत्पत्ति काल का उल्लेख निर्युक्ति में कैसे हो सकता है? वस्तुतः भाष्य की अनेक गाथायें निर्युक्तियों में मिल गई हैं। अतः ये नगर एवं काल सूचक गाथाएं भाष्य की होनी चाहिये। यद्यपि उत्तराध्ययननिर्युक्ति के तृतीय अध्ययन की निर्युक्ति के अन्त में इन्हीं सप्त निहवों का उल्लेख होने के बाद अन्त में एक गाथा में शिवभूति का रथवीरपुर नगर के दीपक उद्यान में आर्यकृष्ण से विवाद होने के उल्लेख हैं।^{५२} किन्तु न तो इसमें विवाद के स्वरूप की चर्चा है और न कोई अन्य बात, जबकि उसके पूर्व प्रत्येक निहव के मन्तव्य का आवश्यकनिर्युक्ति की अपेक्षा विस्तृत विवरण दिया गया है। अतः मेरी दृष्टि में यह गाथा भी प्रक्षिप्त है। यह गाथा वैसी ही है जैसी कि आवश्यक मूलभाष्य में पायी जाती है। पुनः वहां यह गाथा बहुत अधिक प्रासंगिक भी नहीं कही जा सकती। मुझे स्पष्ट रूप से लगता है कि उत्तराध्ययननिर्युक्ति में भी निहवों की चर्चा के बाद यह गाथा प्रक्षिप्त की

गयी है ।

यह मानना भी उचित नहीं लगता कि चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के काल में रचित निर्युक्तियों को सर्वप्रथम आर्यरक्षित के काल में व्यवस्थित किया गया और पुनः उन्हें परवर्ती आचार्यों ने अपने युग की आगमिक वाचना के अनुसार व्यवस्थित किया । आश्चर्य तब और अधिक बढ़ जाता है कि इस सब परिवर्तन के विरुद्ध भी कोई स्वर उभरने की कहीं कोई सूचना नहीं है । वास्तविकता यह है कि आगमों में जब भी कुछ परिवर्तन करने का प्रयत्न किया गया तो उसके विरुद्ध स्वर उभरे हैं और उन्हें उल्लिखित भी किया गया ।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति में उसके 'अकाममरणीय' नामक अध्ययन की निर्युक्ति में निम्न गाथा प्राप्त होती है—

“सव्वे ए ए दारा मरणविभत्तीए वण्णिआ कमसो ।

सगलण्डणे पयत्थे जिण चउदस पुव्वि भासंति” ॥२३२ ॥

(ज्ञातव्य है कि मुनिपुण्यविजयजी ने इसे गाथा २३३ लिखा है । किन्तु निर्युक्तिसंग्रह में इस गाथा का क्रम २३२ ही है ।)

इस गाथा में कहा गया है कि मरणविभक्ति में इन सभी द्वारों का अनुक्रम से वर्णन किया गया है, पदार्थों को सम्पूर्ण रूप से तो जिन अथवा चतुर्दशपूर्वधर ही जान सकते हैं । यदि निर्युक्तिकार चतुर्दशपूर्वधर होते तो वे इस प्रकार नहीं लिखते । शान्त्याचार्य ने स्वयं इसे दो आधारों पर व्याख्यायित किया । प्रथम चतुर्दश पूर्वधरों में आपस में अर्थज्ञान की अपेक्षा से कमी-अधिकता होती है, इसी दृष्टि से यह कहा गया हो कि पदार्थों का सम्पूर्ण स्वरूप तो चतुर्दश पूर्वी ही बता सकते हैं अथवा द्वार गाथा से लेकर आगे की ये सभी गाथाएं भाष्य गाथाएं हों ।^{५३} यद्यपि मुनि पुण्यविजय जी इन्हें भाष्य गाथाएं स्वीकार नहीं करते हैं । चाहे ये गाथाएं भाष्य-गाथा हों या न हो किन्तु मेरी दृष्टि में शान्त्याचार्य ने निर्युक्तियों में भाष्य गाथा मिली होने की जो कल्पना की है, वह पूर्णतया असंगत नहीं है ।

पुनः जैसा पूर्व में सूचित किया जा चुका है, सूत्रकृतांग के पुण्डरीक अध्ययन की निर्युक्ति में पुण्डरीक शब्द की निर्युक्ति करते समय उसके द्रव्य निक्षेप से एकभक्ति, बद्धायुष्य और अभिमुखित नाम-गोत्र ऐसे तीन आदेशों का निर्युक्तिकार ने स्वयं ही संग्रह किया है । ५४ बृहत्कल्पसूत्रभाष्य (प्रथमविभाग, पृ. ४४-४५) में ये तीनों आदेश आर्यसुहस्ति, आर्य मंगू एवं आर्यसमुद्र की मान्यताओं के रूप में उल्लिखित हैं । ५५ इतना तो निश्चित है कि ये तीनों आचार्य पूर्वधर प्राचीनगोत्र भद्रबाहु (प्रथम) से परवर्ती हैं और उनके मतों का संग्रह पूर्वधर भद्रबाहु द्वारा

सम्भव नहीं है ।

दशाश्रुतस्कंध की निर्युक्ति के प्रारम्भ में निम्न गाथा दी गयी है—

“वंदामिभद्रबाहुं पाईणं चरिमसयलसुयनाणि ।

सुत्तस्स कारगमिसिं दसासु कप्पे य ववहारे ॥”

इसमें सकलश्रुतज्ञानी प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु का न केवल वंदन किया गया है, अपितु उन्हें दशाश्रुतस्कंध, कल्प एवं व्यवहार का रचयिता भी कहा है, यदि निर्युक्तियों के लेखक पूर्वधर श्रुतकेवली भद्रबाहु होते तो, वे स्वयं ही अपने को कैसे नमस्कार करते? इस गाथा को हम प्रक्षिप्त या भाष्य गाथा भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रथम तो यह ग्रन्थ की प्रारम्भिक मंगल गाथा है, दूसरे चूर्णिकार ने स्वयं इसको निर्युक्तिगाथा के रूप में मान्य किया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि निर्युक्तिकार चतुर्दश पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु नहीं हो सकते।

इस समस्त चर्चा के अन्त में मुनि जी इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि परम्परागत दृष्टि से दशाश्रुतस्कंध, कल्पसूत्र, व्यवहारसूत्र एवं निशीथ ये चार छेदसूत्र, आवश्यक आदि दस निर्युक्तियां, उवसगगहर एवं भद्रबाहु संहिता ये सभी चतुर्दश पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु स्वामी की कृति माने जाते हैं, किन्तु इनमें से ४ छेद सूत्रों के रचयिता तो चतुर्दश पूर्वधर आर्य भद्रबाहु ही है। शेष दस निर्युक्तियों, उवसगगहर एवं भद्रबाहु संहिता के रचयिता अन्य कोई भद्रबाहु होने चाहिए और सम्भवतः ये अन्य कोई नहीं, अपितु वाराहसंहिता के रचयिता वाराहमिहिर के भाई, मंत्रविद्या के पारगामी नैमित्तिक भद्रबाहु ही होना चाहिए।^{५५}

मुनिश्री पुण्यविजयजी ने निर्युक्तियों के कर्ता नैमित्तिक भद्रबाहु ही थे, यह कल्पना निम्न तर्कों के आधार पर की है^{५६}—

१. आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा १२५२ से १२७० तक में गंधर्व नागदत्त का कथानक आया है। इसमें नागदत्त के द्वारा सर्प के विष उतारने की क्रिया का वर्णन है।^{५७} उवसगगहर (उपसर्गहर) में भी सर्प के विष उतारने की चर्चा है। अतः दोनों के कर्ता एक ही हैं और वे मंत्र-तंत्र में आस्था रखते थे।

२. पुनः नैमित्तिक भद्रबाहु की निर्युक्तियों के कर्ता होने चाहिए, इसका एक आधार यह भी है कि उन्होंने अपनी प्रतिज्ञागाथा में सूर्यप्रज्ञप्ति पर निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा की थी।^{५८} ऐसा साहस कोई ज्योतिष का विद्वान ही कर सकता था। इसके अतिरिक्त आचारांगनिर्युक्ति में तो स्पष्ट रूप से निमित्त विद्या का निर्देश भी हुआ है।^{५९} अतः मुनिश्री पुण्यविजयजी निर्युक्ति के कर्ता के रूप में नैमित्तिक भद्रबाहु को स्वीकार करते हैं।

यदि हम निर्युक्तिकार के रूप में नैमित्तक भद्रबाहु को स्वीकार करते हैं तो हमें यह भी मानना होगा कि निर्युक्तियां विक्रम की छठीं सदी की रचनाएं हैं, क्योंकि वाराहमिहिर ने अपने ग्रन्थ के अन्त में शक संवत् ४२७ अर्थात् विक्रम संवत् ५६८ का उल्लेख किया है।^{६०} नैमित्तिक भद्रबाहु वाराहमिहिर के भाई थे, अतः वे उनके समकालीन हैं। ऐसी स्थिति में यही मानना होगा कि निर्युक्तियों का रचनाकाल भी विक्रम की छठीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

यदि हम उपर्युक्त आधारों पर निर्युक्तियों को विक्रम की छठीं सदी में हुए नैमित्तिक भद्रबाहु की कृति मानते हैं, तो भी हमारे सामने कुछ प्रश्न उपस्थित होते हैं—

१. सर्वप्रथम तो यह कि पाक्षिक सूत्र एवं नन्दीसूत्र में निर्युक्तियों के अस्तित्व का स्पष्ट उल्लेख है—

“स सुत्ते सअत्थे सगंथे सनिज्जुतिए ससंगहणिणए”

—(पाक्षिकसूत्र, पृ. ८०)

“संखेज्जाओ निज्जुतीओ संखेज्जा संगहणीणओ”

—(नन्दीसूत्र, सूत्र सं. ४६)

इतना निश्चित है कि ये दोनों ग्रन्थ विक्रम की छठीं सदी के पूर्व निर्मित हो चुके थे। यदि निर्युक्तियां छठीं सदी उत्तरार्द्ध की रचना है तो फिर विक्रम की पांचवीं शती के उत्तरार्द्ध या छठीं शती के पूर्वार्द्ध के ग्रन्थों में छठीं सदी के उत्तरार्द्ध में रचित निर्युक्तियों का उल्लेख कैसे संभव है? इस सम्बन्ध में मुनिश्री पुण्यविजय जी ने तर्क दिया है कि नन्दीसूत्र में जो निर्युक्तियों का उल्लेख है, वह गोविन्द-निर्युक्ति आदि को ध्यान में रखकर किया गया होगा।^{६१} यह सत्य है कि गोविन्दनिर्युक्ति एक प्राचीन रचना है क्योंकि निशीथचूर्णि में गोविन्दनिर्युक्ति के उल्लेख के साथ-साथ गोविन्दनिर्युक्ति की उत्पत्ति की कथा भी दी गई है।^{६२} गोविन्दनिर्युक्ति के रचयिता वही आर्यगोविन्द होने चाहिए जिनका उल्लेख नन्दीसूत्र में अनुयोगद्वार के ज्ञाता के रूप में किया गया है। स्थविरावली के अनुसार ये आर्य स्कंदिल की चौथी पीढ़ी में हैं।^{६३} अतः इनका काल विक्रम की पांचवीं सदी निश्चित होता है। अतः मुनि श्रीपुण्यविजय जी इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि पाक्षिकसूत्र एवं नन्दीसूत्र में निर्युक्ति का जो उल्लेख है वह आर्य गोविन्द की निर्युक्ति को लक्ष्य में रखकर किया गया है। इस प्रकार मुनि जी दसों निर्युक्तियों के रचयिता के रूप में नैमित्तिक भद्रबाहु को ही स्वीकार करते हैं और नन्दीसूत्र अथवा पाक्षिकसूत्र में जो निर्युक्ति का उल्लेख है उसे वे गोविन्दनिर्युक्ति का मानते हैं।

हम मुनि श्री पुण्यविजयजी की इस बात से पूर्णतः सहमत नहीं हो सकते हैं, क्योंकि

उपरोक्त दस निर्युक्तियों की रचना से पूर्व चाहे आर्यगोविन्द की निर्युक्ति अस्तित्व में हो, किन्तु नन्दीसूत्र एवं पाक्षिक सूत्र में निर्युक्ति सम्बन्धी उल्लेख हैं, वे आचारांग आदि आगम ग्रन्थों की निर्युक्ति के सम्बन्ध में हैं, जबकि गोविन्दनिर्युक्ति किसी आगम ग्रन्थ पर निर्युक्ति नहीं है। उसके सम्बन्ध में निशीथचूर्णि आदि में जो उल्लेख हैं वे सभी उसे दर्शनप्रभावक ग्रन्थ और एकेन्द्रिय में जीव की सिद्धि करने वाला ग्रन्थ बतलाते हैं। ६४ अतः उनकी यह मान्यता कि नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में निर्युक्ति के जो उल्लेख हैं, वे गोविन्दनिर्युक्ति के संदर्भ में हैं, समुचित नहीं है। वस्तुतः नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र में जो निर्युक्तियों के उल्लेख हैं वे आगम ग्रन्थों की निर्युक्तियों के हैं। अतः यह मानना होगा कि नन्दी एवं पाक्षिकसूत्र की रचना के पूर्व अर्थात् पांचवी शती के पूर्ण आगमों पर निर्युक्ति लिखी जा चुकी थी।

२. दूसरे इन दस निर्युक्तियों में और भी ऐसे तथ्य हैं जिनसे इन्हें वाराहमिहिर के भाई एवं नैमित्तिक भद्रबाहु (विक्रम संवत् ५६६) की रचना मानने में शंका होती है। आवश्यकनिर्युक्ति की सामायिकनिर्युक्ति में जो निहवों के उत्पत्ति स्थल एवं उत्पत्तिकाल सम्बन्धी गाथायें हैं एवं उत्तराध्ययननिर्युक्ति में उत्तराध्ययन के तीसरे अध्ययन की निर्युक्ति में जो शिवभूति का उल्लेख है, वे प्रक्षिप्त हैं। इसका प्रमाण यह है कि उत्तराध्ययनचूर्णि, जो कि इस निर्युक्ति पर एक प्रामाणिक रचना है, में १६७ गाथा तक की ही चूर्णि दी गयी है। निहवों के संदर्भ में अन्तिम चूर्ण 'जेड्डा सुदंसण' नामक १६७वीं गाथा की है। उसके आगे निहवों के वक्तव्य को सामायिकनिर्युक्ति (आवश्यकनिर्युक्ति) के आधार पर जान लेना चाहिए ऐसा निर्देश है।^{६५} ज्ञातव्य है कि सामायिकनिर्युक्ति में बोटिकों का कोई उल्लेख नहीं है। हम यह भी बता चुके हैं कि उस निर्युक्ति में जो बोटिक मत के उत्पत्तिकाल एवं स्थल का उल्लेख है, वह प्रक्षिप्त है एवं वे भाष्य गाथाएं हैं। उत्तराध्ययनचूर्णि में एक संकेत यह भी मिलता है कि उसमें निहवों की कालसूचक गाथाओं को निर्युक्तिगाथाएं न कहकर आख्यानक संग्रहणी की गाथा कहा गया है।^{६६} इससे मेरे उस कथन की पुष्टि होती है कि आवश्यकनिर्युक्ति में जो निहवों के उत्पत्तिनगर एवं उत्पत्तिकाल सूचक गाथाएं हैं वे मूल में निर्युक्ति की गाथाएं नहीं हैं, अपितु संग्रहणी अथवा भाष्य से उसमें प्रक्षिप्त की गयी हैं। क्योंकि इन गाथाओं में उनके उत्पत्ति नगरों एवं उत्पत्ति-समय दोनों की संख्या आठ-आठ है। इस प्रकार इनमें बोटिकों के उत्पत्तिनगर और समय का भी उल्लेख है—आश्चर्य यह है कि ये गाथाएं सप्त निहवों की चर्चा के बाद दी गईं—जबकि बोटिकों की उत्पत्ति का उल्लेख तो इसके भी बाद में और मात्र एक गाथा में है। अतः ये गाथाएं किसी भी स्थिति में निर्युक्ति की गाथायें नहीं मानी जा सकती हैं।

पुनः यदि हम बोटिक निहनव सम्बन्धी गाथाओं को भी निर्युक्ति गाथाएं मान भी लें तो भी निर्युक्ति के रचनाकाल की अपर सीमा को वीरनिर्वाण संवत् ६१० अर्थात् विक्रम की तीसरी शती के पूर्वार्ध से आगे नहीं ले जाया जा सकता है क्योंकि इसके बाद के कोई उल्लेख हमें निर्युक्तियों में नहीं मिले। यदि निर्युक्ति नैमित्तिक भद्रबाहु (विक्रम की छठी सदी उत्तरार्द्ध) की रचनाएं होती तो उनमें विक्रम की तीसरी सदी से लेकर छठी सदी के बीच के किसी न किसी आचार्य एवं घटना का उल्लेख भी, चाहे संकेत रूप में ही क्यों न हो, अवश्य होता। अन्य कुछ नहीं तो माथुरी एवं वलभी वाचना के उल्लेख तो अवश्य ही होते, क्योंकि नैमित्तिक भद्रबाहु तो उनके बाद ही हुए हैं। वलभी वाचना के आयोजक देवर्द्धिगणि के तो वे कनिष्ठ समकालिक हैं, अतः यदि वे निर्युक्ति के कर्ता होते तो वलभी वाचना का उल्लेख निर्युक्तियों में अवश्य करते।

३. यदि निर्युक्तियां नैमित्तिक भद्रबाहु (छठवीं सदी- उत्तरार्द्ध) की कृति होतीं तो उसमें गुणस्थान की अवधारणा अवश्य ही पाई जाती। छठीं सदी के उत्तरार्द्ध में गुणस्थान की अवधारणा विकसित हो गई थी और उस काल में लिखी गई कृतियों में प्रायः गुणस्थान का उल्लेख मिलता है किन्तु जहां तक मुझे ज्ञात है, निर्युक्तियों में गुणस्थान सम्बन्धी अवधारणा का कहीं भी उल्लेख नहीं है। आवश्यकनिर्युक्ति की जिन दो गाथाओं में चौदह गुणस्थानों के नामों का उल्लेख मिलता है,^{६७} वे मूलतः निर्युक्ति गाथाएं नहीं हैं। आवश्यक मूल पाठ में चौदह भूतग्रामों (जीव-जातियों) का ही उल्लेख है, गुणस्थानों का नहीं। अतः निर्युक्ति तो भूतग्रामों की ही लिखी गयी। भूतग्रामों के विवरण के बाद दो गाथाओं में चौदह गुणस्थानों के नाम दिये गये हैं। यद्यपि यहां गुणस्थान शब्द का प्रयोग नहीं है। ये दोनों गाथाएं प्रक्षिप्त हैं, क्योंकि हरिभद्र (आठवीं सदी) ने आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में 'अधुनामुमैव गुणस्थानद्वारेण दर्शयन्नाह संग्रहणिकार' कहकर इन दोनों गाथों को संग्रहणी गाथा के रूप में उद्धृत किया है।^{६८} अतः गुणस्थान सिद्धान्त के स्थिर होने के पश्चात् संग्रहणी की ये गाथाएं निर्युक्ति में डाल दी गई हैं। निर्युक्तियों में गुणस्थान की अवधारणा की अनुपस्थिति इस तथ्य का प्रमाण है कि उनकी रचना तीसरी-चौथी शती के पूर्व हुई थी। इसका तात्पर्य यह है कि निर्युक्तियां नैमित्तिक भद्रबाहु की रचना नहीं है।

४. साथ ही हम देखते हैं कि आचारांगनिर्युक्ति में आध्यात्मिक विकास की उन्हीं दस अवस्थाओं का विवेचन है^{६९} जो हमें तत्त्वार्थसूत्र में भी मिलती है^{७०} और जिनसे आगे चलकर गुणस्थान की अवधारणा विकसित हुई है। तत्त्वार्थसूत्र तथा आचारांगनिर्युक्ति दोनों ही विकसित गुणस्थान सिद्धान्त के सम्बन्ध में सर्वथा मौन हैं, जिससे यह फलित होता है कि

निर्युक्तियों का रचनाकाल तत्त्वार्थसूत्र के सम-सामयिक (अर्थात् विक्रम की तीसरी-चौथी सदी) है। अतः वे छठीं शती के उत्तरार्ध में होने वाले नैमित्तिक भद्रबाहु की रचना तो किसी स्थिति में नहीं हो सकती। यदि वे उनकी कृतियां होती तो उनमें आध्यात्मिक विकास की इन दस अवस्थाओं के चित्रण के स्थान पर चौदह गुणस्थानों का भी चित्रण होता है।

५. निर्युक्ति गाथाओं का निर्युक्ति गाथा के रूप में मूलाचार^{७१} में उल्लेख तथा अस्वाध्याय काल में भी उनके अध्ययन का निर्देश यही सिद्ध करता है कि निर्युक्तियों का अस्तित्व मूलाचार की रचना और यापनीय सम्प्रदाय के अस्तित्व में आने के पूर्व का था। यह सुनिश्चित है कि यापनीय सम्प्रदाय ५वीं सदी के अन्त तक अस्तित्व में आ गया था। अतः निर्युक्तियां ५वीं सदी से पूर्व की रचना होनी चाहिए—ऐसी स्थिति में भी वे नैमित्तिक भद्रबाहु (वि. ६वीं सदी उत्तरार्द्ध) की कृति नहीं मानी जा सकती है।

पुनः निर्युक्ति का उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द ने भी आवश्यक शब्द की निर्युक्ति करते हुए नियमसार गाथा १४२ में किया है।^{७२} आश्चर्य यह है कि यह गाथा मूलाचार के षडावश्यक नामक अधिकार में भी यथावत् मिलती है। इसमें आवश्यक शब्द की निर्युक्ति शब्द की निर्युक्ति की गई है। इससे भी यही फलित होता है कि निर्युक्तियां कम से कम मूलाचार और नियमसार की रचना के पूर्व अर्थात् छठी शती के पूर्व अस्तित्व में आ गई थी।

६. निर्युक्तियों के कर्ता नैमित्तिक भद्रबाहु नहीं हो सकते, क्योंकि आचार्य मल्लवादी (लगभग चौथी पांचवीं शती) ने अपने ग्रन्थ नयचक्र में निर्युक्तिगाथा का उद्धरण दिया है—निर्युक्ति लक्षणामाह—“वत्थूणं संकमणं होति अवत्थू णये समभिरुढे।” इससे यही सिद्ध होता है कि वलभी वाचना के पूर्व निर्युक्तियों की रचना हो चुकी थी। अतः उनके रचयिता नैमित्तिक भद्रबाहु न होकर या तो काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त है या फिर गौतमगोत्रीय आर्यभद्र है।

७. पुनः वलभी वाचना के आगमों के गद्यभाग में निर्युक्तियों और संग्रहणी की अनेक गाथाएं मिलती हैं, जैसे ज्ञाताधर्म कथा में मल्ली अध्ययन में जो तीर्थकर-नाम-कर्म-बन्ध सम्बन्धी २० बोलों की गाथा है, वह मूलतः आवश्यकनिर्युक्ति (१७९-१८१) की गाथा है। इससे भी यही फलित होता है कि वलभी वाचना के समय निर्युक्तियों और संग्रहणीयसूत्रों से अनेक गाथायें आगमों में डाली गई हैं। अतः निर्युक्तियां और संग्रहणियां वलभी वाचना के पूर्व हैं अतः वे नैमित्तिक भद्रबाहु के स्थान पर लगभग तीसरी-चौथी शती के किसी अन्य भद्र नामक आचार्य की कृतियां हैं।

८. निर्युक्तियों की सत्ता वलभी वाचना के पूर्व थी, तभी तो नन्दीसूत्र में आगमों की निर्युक्तियों का उल्लेख है। पुनः अगस्त्यसिंह की दशवैकालिकचूर्णि के उपलब्ध एवं प्रकाशित हो जाने पर यह बात पुष्ट हो जाती है कि आगमिक व्याख्या के रूप में निर्युक्तियां वलभी वाचना के पूर्व लिखी जाने लगी थी। इस चूर्णि में प्रथम अध्ययन की दशवैकालिकनिर्युक्ति की ५४ गाथाओं की भी चूर्णि की गई है। यह चूर्णि विक्रम की तीसरी-चौथी शती में रची गई थी। इससे यह तथ्य सिद्ध हो जाता है कि निर्युक्तियां भी लगभग तीसरी-चौथी शती की रचना है।

ज्ञातव्य है कि निर्युक्तियों में भी परवर्ती काल में पर्याप्त रूप से प्रक्षेप हुआ है, क्योंकि अगस्त्यसिंह चूर्णि में दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन की चूर्णि में मात्र ५४ निर्युक्ति गाथों की चूर्णि हुई है, जबकि वर्तमान में दशवैकालिकनिर्युक्ति में प्रथम अध्ययन की निर्युक्ति में १५१ गाथाएं हैं। अतः निर्युक्तियां आर्यभद्रगुप्त या गौतमगोत्रीय आर्यभद्र की रचनायें हैं।

इस सम्बन्ध में एक आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि निर्युक्तियां वलभी वाचना के आगमपाठों के अनुरूप क्यों है? इसका प्रथम उत्तर तो यह है कि निर्युक्तियों का आगम पाठों से उतना सम्बन्ध नहीं है, जितना उनकी विषयवस्तु से है और यह सत्य है कि विभिन्न वाचनाओं में चाहे कुछ पाठ-भेद रहे हों किन्तु विषयवस्तु तो वही रही है और निर्युक्तियां मात्र विषयवस्तु का विवरण देती हैं। पुनः निर्युक्तियां मात्र प्राचीन स्तर के और बहुत कुछ अपरिवर्तित रहे आगमों पर हैं, सभी आगम ग्रन्थों पर नहीं हैं और इन प्राचीन स्तर के आगमों का स्वरूप निर्धारण तो पहले ही हो चुका था। माथुरीवाचना या वलभी वाचना में उनमें बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। आज जो निर्युक्तियां हैं वे मात्र आचारांग, सूत्रकृतांग, आवश्यक, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, दशाश्रुतस्कन्ध व्यवहार, बृहत्कल्प पर हैं ये सभी ग्रन्थ विद्वानों की दृष्टि में प्राचीन स्तर के हैं और इनके स्वरूप में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। अतः वलभीवाचना से समरूपता के आधार पर निर्युक्तियों को उससे परवर्ती मानना उचित नहीं है।

उपर्युक्त समग्र चर्चा से यह फलित होता है कि निर्युक्तियों के कर्ता न तो चर्तुदश पूर्वधर आर्य भद्रबाहु है और न वाराहमिहिर के भाई नैमित्तिक भद्रबाहु। यह भी सुनिश्चित है कि निर्युक्तियों की रचना छेदसूत्रों की रचना के पश्चात् हुई है। किन्तु यह भी सत्य है कि निर्युक्तियों का अस्तित्व आगमों की देवर्द्धि के समय हुई वाचना के पूर्व था। अतः यह अवधारणा भी भ्रान्त है कि निर्युक्तियां विक्रम की छठवीं सदी के उत्तरार्द्ध में निर्मित हुई हैं। नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र की रचना के पूर्व आगमिक निर्युक्तियां अवश्य थीं।

अब यह प्रश्न उठता है कि यदि निर्युक्तियों के कर्ता श्रुत-केवली पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय

भद्रबाहु तथा वाराहमिहिर के भाई नैमित्तिक भद्रबाहु दोनों ही नहीं थे, तो फिर वे कौन से भद्रबाहु हैं जिनका नाम निर्युक्ति के कर्ता के रूप में माना जाता है। निर्युक्ति के रूप में भद्रबाहु की अनुश्रुति जुड़ी होने से इतना तो निश्चित है कि निर्युक्तियों का सम्बन्ध किसी “भद्र” नामक व्यक्ति से होना चाहिए और उनका अस्तित्व लगभग विक्रम की तीसरी-चौथी सदी के आस-पास होना चाहिए। क्योंकि नियमसार में आवश्यक की निर्युक्ति, मूलाचार में निर्युक्तियों के अस्वाध्याय काल में भी पढ़ने का निर्देश तथा उसमें और भगवतीआराधना में निर्युक्तियों की अनेकों गाथाओं की निर्युक्ति-गाथा के उल्लेख पूर्वक उपस्थिति, यही सिद्ध करती है कि निर्युक्ति के कर्ता उस अविभक्त परम्परा के होने चाहिए, जिससे श्वेताम्बर एवं यापनीय सम्प्रदायों का विकास हुआ है। कल्पसूत्र स्थविरावली में जो आचार्य परम्परा प्राप्त होती है, उसमें भगवान महावीर की परम्परा में प्राचीनगोत्रीय श्रुत-केवली भद्रबाहु के अतिरिक्त दो अन्य ‘भद्र’ नामक आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है—१. आर्य शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय आर्यभद्र और २. आर्य कालक के शिष्य गौतमगोत्रीय आर्यभद्र।

संक्षेप में कल्पसूत्र की यह आचार्य परम्परा इस प्रकार है—

महावीर, गौतम, सुधर्मा, जम्बू, प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, संभूति विजय, भद्रबाहु (चर्तुदशपूर्वधर), स्थूलिभद्र (ज्ञातव्य है कि भद्रबाहु एवं स्थूलिभद्र दोनों ही संभूति विजय के शिष्य थे), आर्य सुहस्ति, सुस्थित, इन्द्रदिन्न, आर्यदिन्न, आर्यसिंहगिरि, आर्यवज्र, आर्य वज्रसेन, आर्यरथ, आर्य पुष्यगिरि, आर्य फल्गुमित्र, आर्य धनगिरि, आर्यशिवभूति, आर्यभद्र (काश्यपगोत्रीय), आर्यकृष्ण, आर्यनक्षत्र, आर्यरक्षित, आर्यनाग, आर्य ज्येष्ठिल, आर्यविष्णु, आर्यकालक, आर्यसंपालित, आर्यभद्र (गौतमगोत्रीय) आर्यवृद्ध, आर्य संघपालित, आर्यहस्ती, आर्यधर्म, आर्यसिंह, आर्यधर्म, षांडिल्य (सम्भवतः स्कंदिल, जो माथुरी वाचना के वाचना प्रमुख थे) आदि। गाथाबद्ध जो स्थविरावली है उसमें इसके बाद जम्बू, नन्दिल, दुष्यगणि, स्थिरगुप्त, कुमारधर्म एवं देवर्द्धिक्षपकश्रमण के पांच नाम और आते हैं।^{७३}

ज्ञातव्य है कि नैमित्तिक भद्रबाहु का नाम जो विक्रम की छठीं शती के उत्तरार्ध में हुए हैं, इस सूची में सम्मिलित नहीं हो सकता है। क्योंकि यह सूची वीर निर्वाण सं. ९८० अर्थात् विक्रम सं. ५१० में अपना अन्तिम रूप ले चुकी थी।

इस स्थविरावली के आधार पर हमें जैन परम्परा में विक्रम की छठीं शती के पूर्वार्ध तक होने वाले भद्र नामक तीन आचार्य के नाम मिलते हैं—प्रथम प्राचीनगोत्रीय आर्य भद्रबाहु, दूसरे आर्य शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय आर्य भद्रगुप्त, तीसरे आर्य विष्णु के प्रशिष्य और

आर्यकालक के शिष्य गौतमगोत्रीय आर्यभद्र । इनमें वराहमिहिर के भ्राता नैमित्तिक भद्रबाहु को जोड़ने पर यह संख्या चार हो जाती है । इनमें से प्रथम एवं अन्तिम को तो निर्युक्तिकर्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है, इस निष्कर्ष पर हम पहुंच चुके हैं । अब शेष दो रहते हैं—१. शिवभूति के शिष्य आर्यभद्रगुप्त और दूसरे आर्यकालक के शिष्य आर्यभद्र । इनमें पहले हम आर्य धनगिरि के प्रशिष्य एवं आर्य शिवभूति के शिष्य आर्यभद्रगुप्त के सम्बन्ध में विचार करेंगे कि क्या वे निर्युक्तियों के कर्ता हो सकते हैं ?

क्या आर्यभद्रगुप्त निर्युक्तियों के कर्ता हैं ?

निर्युक्तियों को शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय भद्रगुप्त की रचना मानने के पक्ष में हम निम्न तर्क दे सकते हैं—

१. निर्युक्तियां उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ से विकसित श्वेताम्बर एवं यापनीय दोनों सम्प्रदायों में मान्य रही हैं, क्योंकि यापनीय ग्रन्थ मूलाचार में न केवल शताधिक निर्युक्ति गाथाएं उद्धृत हैं, अपितु उसमें अस्वाध्याय काल में निर्युक्तियों के अध्ययन करने का निर्देश भी है । इससे फलित होता है कि निर्युक्तियों की रचना मूलाचार से पूर्व हो चुकी थी । ७४ यदि मूलाचार को छठीं सदी की रचना भी मानें तो उसके पूर्व निर्युक्तियों का अस्तित्व तो मानना ही होगा, साथ ही यह भी मानना होगा कि निर्युक्तियां मूलरूप में अविभक्त धारा में निर्मित हुई थीं । चूंकि परम्परा भेद तो शिवभूति के पश्चात् उनके शिष्यों कौडिन्य और कोट्टवीर से हुआ है । अतः निर्युक्तियां शिवभूति के शिष्य भद्रगुप्त की रचना मानी जा सकती है, क्योंकि वे न केवल अविभक्त धारा में हुए, अपितु लगभग उसीकाल में अर्थात् विक्रम की तीसरी शती में हुए हैं, जो कि निर्युक्ति का रचना काल है ।

२. पुनः आचार्य भद्रगुप्त को उत्तर-भारत की अचेल परम्परा का पूर्वपुरुष दो-तीन आधारों पर माना जा सकता है । प्रथम तो कल्पसूत्र की पट्टावली के अनुसार आर्यभद्रगुप्त आर्यशिवभूति के शिष्य हैं और ये शिवभूति वहीं हैं जिनका आर्यकृष्ण से मुनि की उपधि (वस्त्र-पात्र) के प्रश्न पर विवाद हुआ था और जिन्होंने अचेलता का पक्ष लिया था । कल्पसूत्र स्थविरावली में आर्य कृष्ण और आर्यभद्र दोनों को आर्य शिवभूति का शिष्य कहा है । चूंकि आर्यभद्र ही ऐसे व्यक्ति हैं—जिन्हें आर्यवज्र एवं आर्यरक्षित के शिक्षक के रूप में श्वेताम्बरों में और शिवभूति के शिष्य के रूप में यापनीय परम्परा में मान्यता मिली है । पुनः आर्यशिवभूति के शिष्य होने के कारण आर्यभद्र भी अचेलता के पक्षधर होंगे और इसलिए उनकी कृतियां यापनीय परम्परा में मान्य रही होंगी ।

३. विदिशा से जो एक अभिलेख प्राप्त हुआ है उसमें भद्रान्वय एवं आर्यकुल का उल्लेख है—

शमदमवान चीकरत् (॥) आचार्य - भद्रान्वयभूषणस्य
शिष्यो ह्यसावार्यकुलोदगतस्य (१) आचार्य - गोश

(जै.शि.सं. २, पृ. ५७)

सम्भावना यही है कि भद्रान्वय एवं आर्यकुल का विकास इन्हीं आर्य भद्र से हुआ हो। यहां के अन्य अभिलेखों में मुनि का 'पाणितलभोजी' ऐसा विशेषण होने से यह माना जा सकता है यह केन्द्र अचेल धारा का था। अपने पूर्वज आचार्य भद्र की कृतियां होने के कारण निर्युक्तियां यापनीयों में भी मान्य रही होगी। ओघनिर्युक्ति या पिण्डनिर्युक्ति में भी जो कि परवर्ती एवं विकसित हैं, दो चार प्रसंगों के अतिरिक्त कहीं भी वस्त्र-पात्र का विशेष उल्लेख नहीं मिलता है। यह इस तथ्य का भी सूचक है कि निर्युक्तियों के काल तक वस्त्र-पात्र आदि का समर्थन उस रूप में नहीं किया जाता था, जिस रूप में परवर्ती श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हुआ। वस्त्र-पात्र के सम्बन्ध में निर्युक्ति की मान्यता भगवतीआराधना एवं मूलाचार से अधिक दूर नहीं है। आचारांगनिर्युक्ति में आचारांग के वस्त्रैषणा अध्ययन की निर्युक्ति केवल एक गाथा में समाप्त हो गयी है और पात्रैषणा पर कोई निर्युक्ति गाथा ही नहीं है। अतः वस्त्र-पात्र के सम्बन्ध में निर्युक्तियों के कर्ता आर्य भद्र की स्थिति भी मथुरा के साधु-साध्वियों के अंकन से अधिक भिन्न नहीं है। अतः निर्युक्तिकार के रूप में आर्य भद्रगुप्त को स्वीकार करने में निर्युक्तियों में वस्त्र-पात्र के उल्लेख अधिक बाधक नहीं है।

४. चूंकि आर्यभद्र के निर्यापक आर्यरक्षित माने जाते हैं। निर्युक्ति और चूर्णि दोनों से ही यह सिद्ध है आर्यरक्षित भी अचेलता के ही पक्षधर थे और उन्होंने अपने पिता को, जो प्रारम्भ में अचेल दीक्षा ग्रहण करना नहीं चाहते थे, योजनापूर्वक अचेल बना ही दिया था। चूर्णि में जो कटीपट्टक की बात है, वह तो श्वेताम्बर पक्ष की पुष्टि हेतु डाली गयी प्रतीत होती है।

भद्रगुप्त को निर्युक्ति का कर्ता मानने के सम्बन्ध में निम्न कठिनाइयां हैं:—

१. आवश्यकनिर्युक्ति एवं आवश्यकचूर्णि के उल्लेखों के अनुसार आर्यरक्षित भद्रगुप्त के निर्यापक (समाधिमरण कराने वाले) माने गये। आवश्यकनिर्युक्ति न केवल आर्यरक्षित की विस्तार से चर्चा करती है, अपितु उनका आदरपूर्वक स्मरण भी करती है। भद्रगुप्त आर्यरक्षित से दीक्षा में ज्येष्ठ हैं, ऐसी स्थिति में उनके द्वारा रचित निर्युक्तियों में आर्यरक्षित का उल्लेख इतने विस्तार से एवं इतने आदरपूर्वक नहीं आना चाहिए। यद्यपि परवर्ती उल्लेख एकमत से यह मानते

हैं कि आर्यभद्रगुप्त की निर्यापना आर्यरक्षित ने करवायी, किन्तु मूल गाथा को देखने पर इस मान्यता के बारे में किसी को सन्देह भी हो सकता है, मूल गाथा निम्नानुसार है—

“निज्जवण भद्गुत्ते वीसुं पढणं च तस्स पुव्वगयं ।

पव्वाविओ य भाया रक्खिअखमणेहिं जणओ अ” ॥

— आवश्यकनिर्युक्ति, ७७६

यहां “निज्जवण भद्गुत्ते” में यदि “भद्गुत्ते” को आर्ष प्रयोग मानकर कोई प्रथमा विभक्ति में समझें तो इस गाथा के प्रथम दो चरणों का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—भद्रगुप्त ने आर्यरक्षित की निर्यापना की और उनसे समस्त पूर्वगत साहित्य का अध्ययन किया ।

गाथा के उपरोक्त अर्थ को स्वीकार करने पर तो यह माना जा सकता है कि निर्युक्तियों में आर्यरक्षित का जो बहुमान पूर्वक उल्लेख है, वह अप्रासंगिक नहीं है । क्योंकि जिस व्यक्ति ने आर्यरक्षित की निर्यापना करवायी हो और जिनसे पूर्वो का अध्ययन किया वह उनका अपनी कृति में सम्मानपूर्वक उल्लेख करेगा ही । किन्तु गाथा का इस दृष्टि से किया गया अर्थ चूर्णि में प्रस्तुत कथानकों के साथ एवं निर्युक्ति गाथाओं के पूर्वापर प्रसंग को देखते हुए किसी भी प्रकार संगत नहीं माना जा सकता है । चूर्णि में तो यही कहा गया है कि आर्यरक्षित ने भद्रगुप्त की निर्यापना करवायी और आर्यवज्र से पूर्वसाहित्य का अध्ययन किया । यहां दूसरे चरण में प्रयुक्त “तस्स” शब्द का सम्बन्ध आर्य वज्र से है, जिनका उल्लेख पूर्व गाथाओं में किया गया है । साथ ही यहां भद्गुत्ते में सप्तमी का प्रयोग है, जो एक कार्य को समाप्त कर दूसरा कार्य प्रारम्भ करने की स्थिति में किया जाता है । यहां सम्पूर्ण गाथा का अर्थ इस प्रकार होगा— आर्यरक्षित ने भद्रगुप्त की निर्यापना (समाधिमरण) करवाने के पश्चात् (आर्यवज्र से) पूर्वो का समस्त अध्ययन किया है और अपने भाई और पिता को दीक्षित किया । यदि आर्यरक्षित भद्रगुप्त के निर्यापक हैं और वे ही निर्युक्तियों के कर्ता भी हैं, तो फिर निर्युक्तियों में आर्यरक्षित द्वारा उनका निर्यापन (समाधिमरण) करवाने के बाद किये गये कार्यों का उल्लेख नहीं होना था । किन्तु ऐसा उल्लेख है, अतः निर्युक्तियों का श्यपगोत्रीय भद्रगुप्त की कृति नहीं हो सकती है ।

२. दूसरी एक कठिनाई यह भी है कि कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्यरक्षित आर्यवज्र से ८वीं पीढ़ी में आते हैं । अतः यह कैसे सम्भव हो सकता है कि ८वीं पीढ़ी में होने वाला व्यक्ति अपने से आठ पीढ़ी पूर्व के आर्यवज्र से पूर्वो का अध्ययन करे । इससे कल्पसूत्र स्थविरावली में दिये गये क्रम में संदेह होता है, हालांकि कल्पसूत्र स्थविरावली एवं अन्य स्रोतों से इतना तो निश्चित होता है कि आर्यभद्र आर्यरक्षित से पूर्व में हुए हैं । उसके अनुसार आर्यरक्षित

आर्यभद्र गुप्त के प्रशिष्य सिद्ध होते हैं। यद्यपि कथानकों में आर्यरक्षित को तोषलिपुत्र का शिष्य कहा गया है। हो सकता है कि तोषलिपुत्र आर्यभद्र गुप्त के शिष्य रहे हों। स्थविरावली के अनुसार आर्यभद्र के शिष्य आर्यनक्षत्र और उनके शिष्य आर्यरक्षित थे। चाहे कल्पसूत्र की स्थविरावली में कुछ अस्पष्टताएं हों और दो आचार्यों की परम्परा को कहीं एक साथ मिला दिया गया हो, फिर भी इतना तो निश्चित है कि आर्य भद्र आर्यरक्षित से पूर्ववर्ती या ज्येष्ठ समकालिक हैं। ऐसी स्थिति में यदि निर्युक्तियां आर्यभद्रगुप्त के समाधिमरण के पश्चात् की आर्यरक्षित के जीवन की घटनाओं का विवरण देती हैं, तो उन्हें शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त की कृति नहीं माना जा सकता।

यदि हम आर्यभद्र को ही निर्युक्त के कर्ता के रूप में स्वीकार करना चाहते हैं तो इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है कि हम आर्यरक्षित, अन्तिम निहव एवं बोटिकों का उल्लेख करने वाली निर्युक्त गाथाओं को प्रक्षिप्त मानें। यदि आर्यरक्षित आर्यभद्रगुप्त के निर्यापक हैं तो ऐसी स्थिति में आर्यभद्र का स्वर्गवास वीर निर्वाण सं. ५६० के आस-पास मानना होगा क्योंकि प्रथम तो आर्यरक्षित ने भद्रगुप्त की निर्यापना अपने युवावस्था में ही करवायी थी और दूसरे तब वीर निर्वाण सं. ५८४ (विक्रम की द्वितीय शताब्दि) में स्वर्गवासी होने वाले आर्यवज्र जीवित थे। अतः निर्युक्तियों में अन्तिम निहव का कथन भी सम्भव नहीं लगता, क्योंकि अबद्धिक नामक सातवां निहव वीरनिर्वाण के ५८४ वर्ष पश्चात् हुआ है। अतः हमें न केवल आर्यरक्षित सम्बन्धी अपितु अन्तिम निहव एवं बोटिकों सम्बन्धी विवरण भी निर्युक्तियों में प्रक्षिप्त मानना होगा। यदि हम यह स्वीकार करने को सहमत नहीं हैं, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त भी निर्युक्तियों के कर्ता नहीं हो सकते हैं। अतः हमें अन्य किसी भद्र नामक आचार्य की खोज करनी होगी।

क्या गौतमगोत्रीय आर्यभद्र निर्युक्तियों के कर्ता हैं ?

काश्यपगोत्रीय भद्रगुप्त के पश्चात् कल्पसूत्र पट्टावली में हमें गौतमगोत्रीय आर्यकालक के शिष्य और आर्य संपलित के गुरु भाई आर्य भद्र का भी उल्लेख मिलता है।^{१५} ये आर्यभद्र आर्य विष्णु के प्रशिष्य एवं आर्यकालक के शिष्य हैं तथा इनके शिष्य के रूप में आर्य वृद्ध का उल्लेख है। यदि हम आर्य वृद्ध को वृद्धवादी मानते हैं, तो ऐसी स्थिति में ये आर्यभद्र सिद्धसेन के दादा गुरु सिद्ध होते हैं। यहां हमें यह देखना होगा कि क्या ये आर्यभद्र भी स्पष्ट संघभेद अर्थात् श्वेताम्बर, यापनीय और दिगम्बर सम्प्रदायों के नामकरण के पूर्व हुए हैं? यह सुनिश्चित है कि सम्प्रदाय भेद के पश्चात् का कोई भी आचार्य निर्युक्त का कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि

निर्युक्तियां यापनीय और श्वेताम्बर दोनों में मान्य है। यदि वे एक सम्प्रदाय की कृति होतीं तो दूसरा सम्प्रदाय उसे मान्य नहीं करता। यदि हम आर्य विष्णु को दिगम्बर पट्टावली में उल्लिखित आर्य विष्णु समझें तो इनकी निकटता अचेल परम्परा से देखी जा सकती है। दूसरे विदिशा के अभिलेख में जिस भद्रान्वय एवं आर्य कुल का उल्लेख है उसका सम्बन्ध इन गौतमगोत्रीय आर्यभद्र से भी माना जा सकता है क्योंकि इनका काल भी स्पष्ट सम्प्रदाय भेद एवं उस अभिलेख के पूर्व है। दुर्भाग्य से इनके सन्दर्भ में आगमिक व्याख्या साहित्य में कहीं कोई विवरण नहीं मिलता, केवल नाम-साम्य के आधार पर हम इनके निर्युक्तिकार होने की सम्भावना व्यक्त कर सकते हैं।

इनकी विद्वता एवं योग्यता के सम्बन्ध में भी आगमिक उल्लेखों का अभाव है, किन्तु वृद्धवादी जैसे शिष्य और सिद्धसेन जैसे प्रशिष्य के गुरु विद्वान होंगे, इसमें शंका नहीं की जा सकती। साथ ही इनके प्रशिष्य सिद्धसेन का आदरपूर्वक उल्लेख दिगम्बर और यापनीय आचार्य भी करते हैं, अतः इनकी कृतियों को उत्तर-भारत की अचेल परम्परा में मान्यता मिली हो ऐसा माना जा सकता है। ये आर्यरक्षित से पांचवीं पीढ़ी में माने गये हैं। अतः इनका काल इनके सौ-डेढ़ सौ वर्ष पश्चात् ही होगा अर्थात् ये भी विक्रम की तीसरी सदी के उत्तरार्द्ध या चौथी के पूर्वार्द्ध में कभी हुए होंगे। लगभग यही काल माथुरीवाचना का भी है। चूंकि माथुरीवाचना यापनीयों को भी स्वीकृत रही है, इसलिए इन कालक के शिष्य गौतमगोत्रीय आर्यभद्र को निर्युक्तियों का कर्ता मानने में काल एवं परम्परा की दृष्टि से कठिनाई नहीं है।

यापनीय और श्वेताम्बर दोनों में निर्युक्तियों की मान्यता के होने के प्रश्न पर भी इससे कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि ये आर्यभद्र आर्य नक्षत्र एवं आर्य विष्णु की ही परम्परा शिष्य है। सम्भव है कि दिगम्बर परम्परा में आर्यनक्षत्र और आर्य विष्णु की परम्परा में हुए जिन भद्रबाहु के दक्षिण में जाने के उल्लेख मिलते हैं, जिनसे अचेल धारा में भद्रान्वय और आर्यकुल का आविर्भाव हुआ हो वे ये ही आर्यभद्र हों। यदि हम इन्हें निर्युक्तियों का कर्ता मानते हैं, तो इससे नन्दीसूत्र एवं पाक्षिक सूत्र में जो निर्युक्तियों के उल्लेख हैं वे भी युक्तिसंगत बन जाते हैं।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि निर्युक्तियों के कर्ता आर्य नक्षत्र की परम्परा में हुए आर्य विष्णु के प्रशिष्य एवं आर्य संपलित के गुरु-भ्राता गौतमगोत्रीय आर्यभद्र ही हैं। यद्यपि मैं अपने इस निष्कर्ष को अन्तिम तो नहीं कहता, किन्तु इतना अवश्य कहूंगा कि इन आर्यभद्र को निर्युक्त का कर्ता स्वीकार करने पर हम उन अनेक विप्रतिपत्तियों से बच सकते हैं, जो प्राचीनगोत्रीय पूर्वधर भद्रबाहु, काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त और वाराहमिहिर के भ्राता नैमित्तिक

भद्रबाहु को निर्युक्तियों का कर्ता मानने पर आती है। हमारा यह दुर्भाग्य है कि अचेलधारा में निर्युक्तियां संरक्षित नहीं रह सकीं, मात्र भगवती-आराधना, मूलाचार और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में उनकी कुछ गाथायें ही अवशिष्ट हैं। इनमें भी मूलाचार ही मात्र ऐसा ग्रन्थ है जो लगभग सौ निर्युक्ति गाथाओं का निर्युक्ति गाथा के रूप में उल्लेख करता है। दूसरी ओर सचेल धारा में जो निर्युक्तियां उपलब्ध हैं, उनमें अनेक भाष्यगाथायें मिश्रित हो गई हैं, अतः उपलब्ध निर्युक्तियों में से भाष्य गाथाओं एवं प्रक्षिप्त गाथाओं को अलग करना एक कठिन कार्य है, किन्तु यदि एक बार निर्युक्तियों के रचनाकाल, उसके कर्ता तथा उनकी परम्परा का निर्धारण हो जाये, तो यह कार्य सरल हो सकता है।

आशा है जैन विद्या के निष्पक्ष विद्वानों की अगली पीढ़ी इस दिशा में और भी अन्वेषण कर निर्युक्ति साहित्य सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करेगी। प्रस्तुत लेखन में मुनि श्री पुण्यविजयजी का आलेख मेरा उपजीव्य रहा है। आचार्य हस्तीमल जी ने जैनधर्म के मौलिक इतिहास के लेखन में भी उसी का अनुसरण किया है। किन्तु मैं उक्त दोनों के निष्कर्षों से सहमत नहीं हो सका। यापनीय सम्प्रदाय पर मेरे द्वारा ग्रन्थ लेखन के समय मेरी दृष्टि में कुछ नई समस्यायें और समाधान दृष्टिगत हुए और उन्हीं के प्रकाश में मैंने कुछ नवीन स्थापनायें प्रस्तुत की हैं, वे सत्य के कितनी निकट हैं, यह विचार करना विद्वानों का कार्य है। मैं अपने निष्कर्षों को अन्तिम सत्य नहीं मानता हूँ अतः सदैव उनके विचारों एवं समीक्षाओं से लाभान्वित होने का प्रयास करूँगा।

सन्दर्भ

१. (अ) निज्जुता ते अत्था, जं बद्धा तेण होइ णिज्जुत्ती ।
— आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ८८
- (ब) सूत्रार्थयो परस्पर नियोजनं सम्बन्धननिर्युक्तिः
— आवश्यकनिर्युक्ति टीका हरिभद्र, गाथा ८३ की टीका
२. अत्थाणं उग्गहणं अवग्गहं तह विआलणं इहं ।
— आवश्यकनिर्युक्ति, ३
३. ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा ।
सण्णा सई मई पण्णा सव्वं आधिनिबोहियं ॥
— आवश्यकनिर्युक्ति, १२
४. आवस्सगस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्झमायारे ।

सूयगडे निज्जुति वुच्छामि तहा दसाणं च ॥
कप्पस्स य निज्जुति ववहारस्सेव परमणि णस्स ।
सुरिअपण्णत्तीए वुच्छं इसिभासियाणं च ॥

— आवश्यकनिर्युक्ति, ८४, ८५

५. इसिभासियाई (प्राकृत भारती, जयपुर), भूमिका, सागरमल जैन, पृ. ९३
६. बृहत्कथाकोश (सिंधी जैन ग्रन्थमाला) प्रस्तावना ए.एन. उपाध्ये, पृ. ३१
७. आराधना . . . तस्या निर्युक्तिराधनानिर्युक्तिः । — मूलाचार, पंचाचाराधिकार, गा. २७९ की टीका
(भारतीय ज्ञानपीठ १९८४)

८. गोविंदाणं पि नमो अणुओगे विउलधारणिदाणं ।

— नन्दिसूत्र स्थविरावली, गा. ४१

९. व्यवहारभाष्य, भाग ६, गा. २६७-२६८

१०. सो य हेउगोवएसो गोविन्दनिज्जुत्तिमादितो . . . ।

दरिसणप्पभावगाणि सत्थाणि जहा गोविंदनिज्जुत्तिमादी ।

— आवश्यकचूर्णि भाग १, पृ. ३५३, भाग २, पृ. २०१, ३२२

११. गोविंदो . . . पच्छातेण एगिदिय जीव साहणं गोविंद निज्जुत्तिकया ।

निशीथ भाष्य गाथा ३६५६, निशीथचूर्णि, भाग ३, पृ. २६०, भाग ४, पृ. ९६

१२. नन्दीसूत्र, (सं. मधुकरमुनि) सूत्रसंख्या,

१३. (अ) प्राकृतसाहित्य का इतिहास, डॉ. जगदीश चन्द्र जैन, पृ.

(ब) जैनसाहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ३, डॉ. मोहनलाल मेहता, पृ. ६

१४. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ८४, ८५

१५. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ८४

१६. बहुरय पएस अव्वत्तसमुच्छादुगत्तिग अबद्धिया चेव ।

सत्तेए णिण्हगा खलु तित्थंमि उ वद्धेमाणस्स ॥

बहुरय जमालिपभवा जीवपएसो ये तीसगुत्ताओ ।

अव्वत्ताऽऽसाढाओ सामुच्छेयाऽऽसमिताओ ॥

गंगाओ दोकिरिया छलुगा तेरासियाण उप्पत्ती ।

थेराय गोट्टमाहिल पुट्टमबद्धं परुविति ॥

सावत्थी उसभपुरं सेयविया मिहिल उल्लुगातीरं ।

पुरिमंतरंजि दसपुर रहवीरपुरं च नगराईं ॥

चोदस सोलस वासा चोदसवीसुत्तरा य दोण्णि सया ।

अट्टावीसा य दुवे पंचेव सया उ चोयाला ।

पंच सया चुलसीया छच्चेव सया णवोत्तरा होति ।

णाणुपत्तीय दुवे उप्पण्णा णिव्वुए सेसा ॥

एवं एए कहिया ओसपिणीए उ निहवा सत्त ।
 वीरवरस्स पवयणे सेसाणं पव्वयणे णत्थि ॥
 १७. बहुरय जमालिपभवा जीवपएसा या तीसगुत्ताओ ।
 अब्वत्ताऽऽसाढाओ सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ ॥
 गंगाओ दोकिरिया छलुगा तेरासियाण उप्पती ।
 थेराय गोट्टमाहिल पुट्टमबद्धं परुविति ॥
 जिट्ठा सुदंसण जमालि अणुज्ज सावत्थि तिदुगुज्जाणे ।
 पंच सया य सहस्सं ढकेण जमालि मुत्तूणं ॥
 रायगिहे गुणसिलए वसु चउदसपुव्वि तीसगुत्ताओ ।
 आमलकप्पा नयरि मित्तिसिरी कूरपिंडादि ॥
 सियवियपोलासाढे जोगे तद्विसहिययसूले य ।
 सोहम्मि निलणगुम्मे रायगिहे पुरिय बलभट्टे ॥
 मिहिलाए लच्छिघरे महगिरि कोडिन्न आसमित्तो अ ।
 णेउणमणुप्पवाए रायगिहे खंडरक्खा य ॥
 नइखेडजणव उल्लग महगिरि धणगुत्त अज्जगंगे य ।
 किरिया दो रायगिहे महातवो तीरमणिनाए ॥
 पुरिमंतरंजि भुयगुह बलसिरि सिरिगुत्त रोहगुत्ते य ।
 परिवाय पुट्टसाले घोसण पडिसेहणा वाए ॥
 विच्छुय सण्णे मूसग मिगी वराही य कागि पोयाइं ।
 एयाहिं विज्जाहिं सो उ परिव्वायगो कुसलो ॥
 मोरिय नउलि बिराली वग्धी सीही य उलुगि ओवाइ ।
 एयाओ विज्जाओ गिण्ह परिव्वायमहणीओ ॥
 दसपुरनगरुच्छुधरे अज्जरक्खिय पुसमित्तितियगं च ।
 गुट्टामाहिल नव अट्ट सेसपुच्छा य विज्जस्स ॥
 पुट्टो जहा अबद्धो कंचुइणं कंचुओ समन्नेइ ।
 एवं पुट्टमबद्धं जीवं कम्मं समन्नेइ ॥
 पच्चक्खाणं सेयं अपरिमाणेण होइ कायव्वं ।
 जेसिं तु परीमाणं तं दुट्ठं होइ आसंसा ।
 रहवीरपुरं नयरं दीवगमुज्जाण अज्जकण्हे अ ।
 सिवभूइस्सुवहिमि पुच्छा थेराण कहणा य ॥

— उत्तराध्ययननिर्युक्ति, १६५-१७८

१८. — उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा २९
 १९. — दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा ३०९-३२६
 २०. — उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा २०७

२१. — दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा १६१-१६३

२२. आचारांगनिर्युक्ति, गाथा ५

२३. (अ) दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा, ७९-८८

(ब) उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा १४३-१४४

२४. जो चेव होइ मुक्खो सा उ विमुक्ति पगयं तु भावेणं ।

देसविमुक्का साहू सव्वविमुक् भवे सिद्धा ॥

— आचारांगनिर्युक्ति, ३३१

२५. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ४९७-९२

२६. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा ९९

२७. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा ३

२८. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा १२७

२९. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा २६७-२६८

३०. दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति, गाथा १

३१. तह्वि य कोई अत्थो उप्पज्जति तम्मि तंमि समयंमि ।

पुव्वभणिओ अणुमतो अ होइ इसिभासिएसु जहा ॥

— सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा, १८९

३२. (क) बृहत्कल्पसूत्रम्, षष्ठ विभाग, प्रकाशक— श्री आत्मानन्द जैन सभा भावनगर, प्रस्तावना, पृ.

४, ५

३३. वही, आमुख, पृ. २

३४. (क) मूढणइयं सुयं कालियं तु ण णया समोयरंति इहं ।

अपुहुत्ते समोयारो, नत्थि पुहुत्ते समोयारो ॥

जावंति अज्जवइरा, अपुहुत्तं कालियाणुओगे य ।

तेणाऽरेण पुहुत्तं, कालियसुय दिट्ठिवाए य ॥

— आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७६२-७७६

(ख) तुंबवणसन्निवेसाओ, निग्गयं पिउसगासमल्लीणं ।

छम्मसियं छसु जयं, माऊय समन्नियं वंदे ॥

जो गुज्हाएहिं बालो, निमंतिओ भोयणेण वासंते ।

णेच्छइ विणीयविणओ, तं वइररिसिं णमंसामि ॥

उज्जेणीए ज जंभगेहिं आणक्खिऊण थुयमहिओ ।

अक्खीणमहाणसियं सीहगिरिपसंसियं वंदे ॥

जस्स अणुण्णाए वायगत्तणे दसपुरम्मि णयरम्मि ।

देवेहिं कया महिमा, पयाणुसारिं णमंसामि ॥

जो कन्नाइ धण्येय य, णिमंतिओ जुव्वणम्मि गिहवइणा ।
नयरम्मि कुसुमनामे, तं बइररिसिं णमंसांमि ॥
जणुद्धारआ विज्जा, आगासगमा महारिण्णाओ ।
वंदामि अज्जवइरं, अपच्छिमो जो सुयहराणं ॥
(ग) अपहुत्ते अणुओगो, चत्तारि दुवार भासई एगो ।
पुहुताणुओगकरणे, ते अत्थ तओ उ वोच्छिन्ना ॥
देविंदविंदिहिं, महाणुभागेहिं रक्खिअज्जेहिं ।
जुगमासज्ज विभत्तो, अणुओगो तो कओ चउहा ॥
माया य रुहसोमा, पिया य नामेण सोमदेव त्ति ।
भाया य फग्गुरक्खिय, तोसलिपुत्ता य आयरिआ ॥
णिज्जवणभद्दुत्ते, वीसं पढणं च त्स पुव्वगयं ।
पव्वाविओ य भाया, रक्खिअखमणेहिं जणओ य ॥
३५. जह जह पएसिणी जाणुगम्मि पालित्तओ भमाडेइ ।
तह तह सीसे वियणा, पणस्सइ मुरुंडरायस्स ॥

— पिण्डनिर्युक्ति, गाथा ४९८

३६. नइ कण्ह-विन्न दीवे, पंचसया तावसाण णिवसंति ।
पव्वदिवसेसु कुलवइ, पालेवुत्तार सक्कारे ॥
जण सावगाण खिसण, समियक्खण माइठाण लेवेण ।
सावय पयत्तकरणं, अविणय लोए चलण धोए ॥
पडिलाभिय वच्चंता, निबुडु नइकूलमिलण समियाओ ।
विम्हिय पंच सया तावसाण पव्वज्ज साहा य ॥

— पिण्डनिर्युक्ति, गाथा ५०३-५०५

३७. (अ) वही, गाथा ५०५

(ब) नन्दीसूत्र स्थविरावली गाथा, ३६

(स) मथुरा के अभिलेखों में इस शाखा का उल्लेख ब्रह्मदासिक शाखा के रूप में मिलता है ।

३८. उज्जेणी कालखमणा सागरखमणा सुवण्णभूमीए ।

इंदो आउयसेसं, पुच्छइ सादिव्वकरणं च ॥

— उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ११९

३९. अरहंते वंदित्ता चउदसपुव्वि तहेव दसपुव्वी ।

एक्कारसंगसुत्तत्थधारए सव्वसाहू य ॥

— ओघनिर्युक्ति, गाथा १

४०. श्रीमती ओघनिर्युक्ति, संपादक- श्रीमद्विजयसूरीश्वर, प्रकाशन— जैन ग्रन्थमाला, गोपीपुरा, सूरत,

४१. जेणुद्धरिया विज्जा आगासगमा महापरिन्नाओ ।
वंदामि अज्जवइरं अपच्छिमो जो सुअहराणं ॥

— गाथा, ७६९

४२. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७६३-७७४

४३. अपुहुत्तपुहुत्ताइं निदिसिउं एत्थ होइ अहिगारो ।
चरणकरणाणुओगेण तस्स दारा इमे हुंति ॥

— दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ४

४४. ओहेण उ निज्जुत्तिं वुच्छं चरणकरणाणुओगाओ ।
अप्पक्खरं महत्थं अणुगहत्थं सुवहियाणं ।

— ओघनिर्युक्ति, गाथा २

४५. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७७८-७८३

४६. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा १६४-१७८

४७. एगभविए य बद्धाउए य अभिमुहियनमगोए य ।
एते तिन्निवि देसा दव्वंमि य पोडरीयस्स ॥

— सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा १४६

४८. उत्तराध्ययन टीका शान्त्याचार्य, उद्धृत बृहत्कल्पसूत्रम्, भाष्य, षष्ठ विभाग प्रस्तावना, पृ. १२

४९. वही, पृ. ९

५०. बृहत्कल्पसूत्रम्, भाष्य षष्ठविभाग, आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, पृ. ११

५१. साव१ त्थी उसभ२ पर सेय३ विया मिहिल४ उल्लगीतीरं५ ।

पुदिमंत६ रंजि दस७ पुर रहवीर८ पुरं च नगराइं ॥

चोद१ स सोल२ स वासा चोदसवीसु३ त्तरा४ य दोण्णि सपा ।

अट्टावीसो५ य दुवे पंचेव सया६ उ चोयाला ॥

— आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ८१-८२

५२. रहवीरपुरं नयरं दीवगमुज्जाण अज्जकण्हे अ ।

सिवभूहस्सुवहिंमि पुच्छा थोराण कहणा य ॥

— उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा १७८

५३. स्वयं चतुर्दशपूर्वित्वेऽपि यच्चतुर्दशपूर्व्युपादानं तत् तेषामपि षट्स्थानपतितत्वेन शेषमहात्म्यस्थापनपरमदुष्टमेव, भाष्यगाथा वा द्वारगाथाद्वयादाराभ्य लक्ष्यन्त इति प्रेर्यानवकाश एवेति ॥

— उत्तराध्ययन टीका, शान्त्याचार्य, गाथा २३३

५४. एगभविए य बद्धाउए य अभिमुहियनामगोए य ।

एते तिन्निवि देसा दव्वंमि य पोंडरीयस्स ॥

— सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा १४६

५५. ये चादेशाः४, यथा— आर्यमङ्गुराचार्यस्त्रिविधं शङ्खमिच्छति— एकभातिकं बद्धायुष्कमभिमुखनामगोत्रं च, आर्यसमुद्रो द्विविधम— बद्धायुष्कमभिमुखनामगोत्रं च, आर्यसुहस्ती एकम्—अभिमुखनाम गोत्रमिति;

— बृहत्कल्पसूत्रम्, भाष्य भाग १, गाथा १४४

५६. वही, षष्ठविभाग, पृ.सं. १५-१७

५७. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १२५२-१२६०

५८. वही, गाथा- ८५

५९. जत्थ य जो पण्णवओ कस्सवि साइइ दिसासु य णिमित्तं ।

जत्तोमुहो य ढाई सा पुव्वा पच्छवो अवरा ॥

— आचारांगनिर्युक्ति, गाथा ५१

६०. सप्ताश्ववेदसंख्य, शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ ।

अर्धास्तमिते भानौ, यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये ॥

— पंचसिद्धान्तिका उद्धृत, बृहत्कल्पसूत्रम्, भाष्य षष्ठविभाग, प्रस्तावना, पृ. १७

६१. बृहत्कल्पसूत्रम्, षष्ठविभाग, प्रस्तावना, पृ. १८

६२. गोविदो नाम भिक्खू ...

पच्छ तेण एगिदियजीवसाहणं गोविदनिज्जुत्ती कया ॥ एस णाणतेणो ॥

— निशीथचूर्णि, भाग ३, उद्देशक ११-सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, पृ. २६०

६३. (अ) गोविदाणं पि नमो, अणुओगे विउलधारणिदाणं ।

णिच्चं खंतिदयाणं परुवणे दुल्लभिदाणं ॥

— नन्दीसूत्र, गाथा ८१

(ब) आर्य स्कंदिल

आर्य हिमवंत

आर्य नागार्जुन

आर्य गोविन्द

—देखें नन्दीसूत्र स्थविरावली, गाथा ३६-४१

६४. पच्छ तेण एगिदियजीवसाहणं गोविदणिज्जुत्ती कया । एस णाणतेणो । एव दंसणपभावगसत्थट्ठा ।

—निशीथचूर्णि, पृ. २६०

६५. निण्हयाण वत्तव्वया भाणियव्वा जहा सामाइयनिज्जुत्तीए ।

— उत्तराध्ययनचूर्णि, जिनदासगणिमहत्तर, विक्रम संवत् १९८९, पृ. ९५

६६. इदाणि एतेसिं कालो भण्णति 'चउद्दस सोलस वीसा' गाहाउ दो, इदाणि भण्णति— 'चोद्दस वासा तइया' गाथा अक्खाणयसंगहणी । वही, पृ. ९५

६७. मिच्छदिट्ठी सासायणए य तह सम्ममिच्छदिट्ठी य ।

अविरयसम्मदिट्ठी विरयाविरए पमत्ते य ॥

तत्तो य अप्पमत्तो नियट्ठि अनियट्ठि बायरे सुहुमे ।

उवसंत खीणमोहे होइ सजोगी अजोगी य ॥

— आवश्यकनिर्युक्ति, (निर्युक्तिसंग्रह, पृ. १४०)

६८. आवश्यकनिर्युक्ति (हरिभद्र) भाग २, प्रकाश श्री भेरुलाल कन्हैया लाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुम्बई, वीर सं. २५०८, पृ. १०६-१०७

६९. सम्मत्तुपत्ती सावए य विरण अणंतकम्मसे ।

दंसणमोहक्खवए उवसामत्ते य उवसते ॥

खवए य खीणमोहे जिणे अ सेढी भवे असंखिज्जा ।

तव्विवरीओ कालो संखज्जुगुणाइ सेढीए ॥

— आचारांगनिर्युक्ति, गाथा २२२, २२३ (निर्युक्तिसंग्रह, पृ. ४४१)

७०. सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशा न्तमोहक्षपकक्षीण मोहजिनाः क्रमशोऽसङ्ख्येयगुण निर्जराः ।

— तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वति) मुखलाल संघवी, ९/४७

७१. (अ) णिज्जुत्ती णिज्जुत्ती एसा कहिदा मए समासेण ।

अह वित्थार पंसगोऽणियोगदो होदि णादव्वो ॥

आवासगणिज्जुत्ती एवं कधिदा समासओ विहिणा ।

णो उवजुंजदि णिच्चं सो सिद्धिं जादि विसुद्धप्पा ॥

— मूलाचार (भारतीय ज्ञानपीठ) ६९१, ६९२

... एसो अण्णो गंथो कप्पदि पढिटुं असज्झाए ।

आराहणा णिज्जुत्ति मरणविभत्ती य संग्रहत्थुदिओ ।

पच्चक्खाणावसय धम्मकहाओ एरिस ओ ॥

— मूलाचार, २७८, २७९

(ब) ण वसो अवसो अवसस्सकम्ममावस्सयंति बोधव्वा ।

जुत्ति त्ति उवाअत्ति ण णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती ॥

— मूलाचार, ५१५

७२. ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोधव्वा
जुत्ति ति उवाअंति य णिरवयवो होदि णिजुत्ती ॥

— नियमसार, गाथा १४२, लखनऊ, १९३१

७३. देखें—कल्पसूत्र, स्थविरावली विभाग,

७४. देखें—मूलाचार षडावश्यक-अधिकार

७५. थेरस्स णं अज्ज विन्हुस्स माढरस्सगुत्तस्स अज्जकालए थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते थेरस्सणं
अज्जकालस्स गोयमसगुत्तस्स इमे दुवे थेरा अंतेवासी गोयमसगुत्ते अज्ज संपलिए थेरे अज्जभट्ठे, एएसि दुन्हवि
गोयमसगुत्ताणं अज्ज बुद्धे थेरे ।

— कल्पसूत्र (मुनिप्यारचन्दजी, रतलाम) स्थविरावली, पृ. २३३



प्राकृत-साहित्य में उपलब्ध जैन न्याय के बीज

□ डॉ. धर्म चन्द जैन

जैन दार्शनिकों द्वारा किया गया प्रमाण-विषयक चिन्तन जैन-न्याय के नाम से जाना जाता है। जैन प्रमाण-मीमांसा का अपर नाम ही जैन-न्याय है। विकास-क्रम की दृष्टि से जैन प्रमाण-मीमांसा को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—१. आगमवर्ती प्रमाण-निरूपण २. अनेकान्त-साहित्ययुगीन प्रमाण-निरूपण और ३. भट्ट अकलंक एवं तदुत्तरवर्ती प्रमाण-निरूपण। आगमों में उपलब्ध प्रमाण-विषयक समस्त निरूपण प्राकृत भाषा में है। अनेकान्त साहित्य युगीन प्रमाण मीमांसीय चिन्तन प्राकृत एवं संस्कृत दोनों भाषाओं में उपलब्ध है। अकलंक एवं उनके पश्चात् प्रमाण पर जो कुछ लिखा गया वह प्रायः सब संस्कृत भाषा में है। गणधरों द्वारा ग्रथित होने के कारण आगमों का रचना-काल निर्धारित करना अनुपयुक्त है। अनेक साहित्ययुगीन समय को द्वितीय शती से सप्तमशती तक रखा जाता है। अकलंक का समय पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य के अनुसार ७२० ई. से ७८० ई. है। जैन दर्शन में भट्ट अकलंक ने जैन न्याय को बृहद् स्तर पर व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया है। उनके अनन्तर आचार्य यशोविजय तक सत्रहवीं शती में भी उसका विकास होता रहा है।

जैनन्याय पर आद्य स्वतंत्र कृति सिद्धसेन का न्यायावतार है। इसमें ३२ कारिकाओं में जैन-न्याय का संक्षेप में सुन्दर निरूपण हुआ है। सिद्धसेन अनेकान्तस्थापन युग के आचार्य थे। उन्होंने प्राकृत भाषा में 'सन्मति-तर्क' की रचना की जो अनेकान्तवाद के स्थापन के साथ ज्ञानमीमांसा का भी निरूपण करती है। सन्मतितर्क में सीधा प्रमाण-विवेचन नहीं है किन्तु उसमें निहित ज्ञान का विवेचन प्रमाण-विवेचन का आधार बना है, इसीलिए अभयदेवसूरि (१०वीं

शती) ने इस पर तत्त्वबोधविधायिनी नामक विशाल टीका का निर्माण करते समय प्रमाण का विशद विवेचन किया है। जैन दर्शन पर संस्कृत रचनाओं में उमास्वाति (द्वितीय शती) का नाम सर्वप्रथम आता है। उमास्वाति ने पांच ज्ञानों को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष इन दो प्रमाणों में विभक्त कर दिया था। वे मति एवं श्रुतज्ञान को परोक्ष तथा अवधि, मनः पर्यव एवं केवलज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण में रखते हैं।^१ उमास्वाति के टीकाकार पूज्यपाद देवनन्दी का भी इस दृष्टि से प्रमाण-चिन्तन उभरकर आता है और वे प्रमाण की परिभाषा करते हैं- प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्।^२ आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा, युक्वयनुशासन एवं स्वयम्भूस्तोत्र में आप्त की स्तुति करते हुए अनेकान्तवाद का स्थापन किया है किन्तु कुत्रचित् प्रमाण का स्वरूप एवं आप्तवचन का स्वरूप भी निरूपित किया है।^३ श्वेताम्बर दार्शनिक मल्लवादी क्षमाश्रमण ने बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग का खण्डन करते समय अपनी रचना 'द्वादशारनयचक्र' में प्रमाण की अवधारणा को स्पष्ट किया है। वे प्रमाण को सविकल्पक सिद्ध करते हैं।^४ भट्ट अकलंक के पूर्व सुमति, पात्रकेसरी आदि अन्य उद्भट दार्शनिक भी हुए हैं किन्तु इनकी कृतियां अनुपलब्ध हैं। सुमति एवं पात्रकेसरी के मत का खण्डन बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह में मिलता है।^५ पात्रकेसरी ने जैन हेतु-लक्षण का स्थापन करते हुए बौद्धों द्वारा मान्य त्रिलक्षण हेतु का खण्डन किया है। पात्रकेसरी कृत खण्डन का एक श्लोक उत्तरवर्ती सभी दार्शनिकों ने अपनाया है, वह है:—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥^६

सभी जैन दार्शनिकों ने हेतु की साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति स्वीकार की है और इसे ही वे हेतु का लक्षण स्वीकार करते हैं।

भट्ट अकलंक के अनन्तर जैन नैयायिकों में विद्यानन्द (७७५-८४० ई.) अनन्तवीर्य (९५०-९९० ई.), माणिक्यनन्दी (९९३-१०५३ ई.), वादिराज (१०२५ ई.) प्रभाचन्द्र (९८०-१०६५ ई.), आदि दिग्म्बर तथा अभयदेव (१०वीं शती), वादिदेव (१०८६-११६९ ई.) हेमचन्द्र (१०८८-११७३ ई.) यशोविजय (सतरहवीं शती) आदि श्वेताम्बर दार्शनिक प्रमुख हैं। इन सभी जैन दार्शनिकों ने भट्ट अकलंक द्वारा प्रतिष्ठित जैन न्याय को परपक्ष के खण्डनपूर्वक उत्तरोत्तर रूप में स्थापित किया है।

सिद्धसेन से लेकर अब तक अनेक प्रमाण-शास्त्रीय ग्रंथों एवं टीकाओं का निर्माण हो चुका है, उनमें न्यायावतार, लघ्वीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाण-परीक्षा,

प्रमाणनिर्णय, परीक्षामुख, प्रमेयकमल-मार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमाणनयतत्त्वालोक, स्याद्वादरत्नाकर, प्रमाण-मीमांसा, जैन तर्क भाषा आदि प्रमुख हैं किन्तु ये सभी संस्कृत भाषा में निर्मित हैं। प्राकृत भाषा में आज तक एक भी प्रमाण-विषयक कृति का निर्माण नहीं हुआ। इसका कारण जैनेतर दार्शनिकों के साथ वाद में सम्मिलित होना रहा है। विद्वानों एवं दार्शनिकों के पारस्परिक विचार विनिमय की भाषा उस समय संस्कृत थी। उसी में विचारों का आदान प्रदान होता था। इसीलिए बौद्धों ने भी पालिभाषा के स्थान पर संस्कृत-भाषा में दार्शनिक ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ कर दी थी।

विचारणीय विषय यह है कि क्या संस्कृत-भाषा में रचित न्यायग्रंथों में निरूपित प्रमाणमीमांसा के बीज प्राकृत साहित्य में उपलब्ध है? इस प्रश्न का उत्तर निस्संदेह हां में जाता है। जैन-न्याय का समस्त प्रासाद आगम एवं आगमेतर प्राकृत-साहित्य की भित्ति पर खड़ा है। आगमों में प्राप्त ज्ञान का वर्णन ही जैन न्याय के प्रतिपादन का प्रमुख आधार बना है।

जैन न्याय में प्रमाण की ज्ञानात्मक, व्यवसायात्मक एवं स्वपर प्रकाशक माना गया है। स्व एवं पर (पदार्थ) के व्यवसायात्मक ज्ञान को जैन तार्किकों ने प्रमाण संज्ञा दी है।^{१०} कुछ जैन दार्शनिकों ने सम्यग्ज्ञान एवं तत्त्वज्ञान को भी प्रमाण कहा है।^{११} नैयायिकों को अभीष्ट इन्द्रिय एवं इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, सांख्यसम्मत इन्द्रियवृत्ति, मीमांसकाभिमतज्ञातृव्यापार एवं बौद्धाभिमत निर्विकल्पक ज्ञान जैन दार्शनिकों को प्रमाण के रूप में स्वीकार्य नहीं है। जैन-दार्शनिक निर्विकल्पक दर्शन को प्रमाण नहीं मानते किन्तु सविकल्पक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। ज्ञान सविकल्पक ही होता है और दर्शन निर्विकल्पक। इस प्रकार ज्ञान ही जैन दर्शन में प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है।

इस दृष्टि से विचार करने पर नन्दीसूत्र, षट्खण्डागम, भगवतीसूत्र, स्थानांगसूत्र आदि प्राकृत आगमों को जैन प्रमाण-मीमांसा का प्रमुख आधार माना जा सकता है क्योंकि इनमें पांच ज्ञानों का निरूपण है। आभिनिबोधिक, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय और केवल, ये पांच ज्ञान जैन आगमों में प्रसिद्ध हैं। इनकी प्रसिद्धि भगवान् महावीर से पूर्व तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय में भी थी, ऐसा राजप्रश्नीय सूत्र से ज्ञात होता है।^{१२} ये पांच ज्ञान ही प्रत्यक्ष एवं परोक्ष इन दो प्रमाणों के रूप में विभक्त हुए हैं। आचार्य उमास्वाति ने मति एवं श्रुत ज्ञानों को परोक्ष प्रमाण में तथा अवधि, मनः पर्याय एवं केवलज्ञान को प्रत्यक्ष, प्रमाण में समाविष्ट किया है। इसका आधार नन्दीसूत्र एवं स्थानांग सूत्र में मिलता है। वहां पर ज्ञान को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष इन दो भेदों में विभक्त किया गया है।^{१३} वहां प्रमाण के ये विभाजन नहीं हैं। नन्दीसूत्र में प्रत्यक्ष ज्ञान को पुनः

दो भेदों में विभक्त किया गया है—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप में।^{११} इन्द्रियप्रत्यक्ष के पुनः पांच भेद किए गए हैं— श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष, चक्षु इन्द्रिय प्रत्यक्ष आदि। नोइन्द्रियप्रत्यक्ष में अवधिज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान और केवल ज्ञान को सम्मिलित किया गया है।^{१२} आभिनिबोधिक ज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष ज्ञान के भेदों में प्रतिपादित किया गया है। भगवती सूत्र के शतक आठ उद्देशक दो में पांच ज्ञानों का वर्णन है। षट्खण्डागम में ज्ञानावरण कर्म का विवेचन करते समय पांच ज्ञानों का प्रतिपादन है। इनके अलावा कम्मपयडि, एवं कर्मग्रंथों में भी पंचविध ज्ञानों की चर्चा है। यह समस्त ज्ञान-चर्चा प्रमाणचर्चा का अंग बनी है।

प्रमाण में ज्ञान की व्यवसायात्मकता स्वीकार करने का आधार जैन आगम स्थानांगसूत्र में प्रमाण के लिए व्यवसाय शब्द का प्रयुक्त होना है। स्थानांगसूत्र में व्यवसाय के तीन भेद किए हैं—प्रत्यक्ष, प्रात्ययिक और अनुगामी।^{१३} टीकाकार अभयदेव सूरि के अनुसार प्रात्ययिक शब्द से आगम प्रमाण एवं अनुगामी शब्द से अनुमान प्रमाण का बोध होता है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार ये ही तीन व्यवसाय सिद्धसेन के 'न्यायावतार' एवं हरिभद्र के 'अनेकान्तजयपताका' ग्रंथों में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम इन तीन प्रमाणों के रूप में निरूपित हुए हैं।^{१४} व्यवसाय शब्द का प्रयोग न्यायसूत्र में प्रत्यक्ष-लक्षण के अन्तर्गत हुआ है किन्तु वहां वह प्रमाण सामान्य का लक्षण नहीं बना है। स्थानांगसूत्र में प्रयुक्त व्यवसाय शब्द प्रमाण-सामान्य का द्योतक है।

प्रमाण स्व एवं पर दोनों का व्यवसायक होता है। इस मान्यता का प्राकृत-साहित्य में आधार आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा नियमसार ग्रन्थ में प्रतिपादित ज्ञान की स्वपर प्रकाशकता है। आचार्य कुन्दकुन्द प्रथम दार्शनिक हैं जिन्होंने ज्ञान एवं दर्शन दोनों को स्वपर प्रकाशक सिद्ध किया है।^{१५} आचार्य सिद्धसेन एवं समन्तभद्र भी अपने प्रमाण-लक्षणों में उसे स्वपरावभास कहते हैं।^{१६} यद्यपि ज्ञान की स्वपर प्रकाशकता षट्खण्डागम की धवला टीका में विवाद का विषय रही है। वहां आचार्य वीरसेन ने दर्शन को स्वप्रकाशक एवं ज्ञान को पर (अर्थ) प्रकाशक स्वीकार किया है।^{१७} तथापि अधिकतर दार्शनिक ज्ञान को स्वपरप्रकाशक मानते हैं इसीलिए प्रमाण को स्वपरव्यवसायात्मक प्रतिपादित किया गया है। ज्ञान या प्रमाण स्व है तथा उससे भिन्न सभी पदार्थ पर।

जिस प्रकार प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भेदों का आधार नन्दीसूत्र एवं स्थानांगसूत्र में प्रतिपादित ज्ञान के पच्चक्ख और परोक्ख भेद हैं, उसी प्रकार प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक भेद का आधार नन्दीसूत्र एवं जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण द्वारा प्राकृत भाषा में रचित

विशेषावश्यक भाष्य है। नन्दीसूत्र में इन्द्रिय प्रत्यक्ष का उल्लेख है^{१८} तो जिनभद्र के विशेषावश्यक भाष्य में इन्द्रिय एवं मन से होने वाले ज्ञान को सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है। वे स्पष्टरूप से कहते हैं—इन्द्रियमणोभवं जं तं संव्यवहारपच्चक्खं^{१९} भट्ट अकलंक ने संभव है इसी आधार पर प्रत्यक्ष के सांख्यव्यवहारिक एवं मुख्य प्रत्यक्ष भेद किए हैं। जैन आगमों में प्रतिपादित अवधि, मनः पर्याय एवं केवल ज्ञान आत्ममात्र सापेक्ष हैं अतः इन्हें वास्तविक, मुख्य या पारमार्थिक प्रत्यक्ष माना गया विशेषावश्यक भाष्य के प्रभाव से ही संभवतः सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष के इन्द्रिय एवं अनिन्द्रिय ये दो भेद किए गए।^{२०} अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष में मानस प्रत्यक्ष अर्थात् मन से होने वाले प्रत्यक्ष को सम्मिलित किया गया। इससे पूर्व नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष शब्द प्रचलित था जो अपने में अवधि आदि ज्ञानों का अन्तर्भाव करता था, मनः प्रत्यक्ष का नहीं।^{२१}

आगम में प्रतिपादित श्रुतज्ञान ही आगम-प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। अनुयोगद्वारा सूत्र में आगम-प्रमाण के लौकिक और लोकांतर ये दो भेद प्रतिपादित है^{२२}, ये ही दोनों भेद उत्तरकाल में जैनन्याय में प्रसिद्ध हुए हैं। श्रुतज्ञान के आधार पर नय, निक्षेप एवं स्याद्वाद का निरूपण भी जैन न्याय ग्रंथों का विषय बना है। अनेकान्तवाद का स्थापन करने वाले समन्तभद्र एवं सिद्धसेन के ग्रन्थ इसके लिए प्रेरणास्रोत रहे हैं।

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क प्रमाण के स्थापन का आधार प्राकृत साहित्य में अनुपलब्ध है। भट्ट अकलंक के इस नये स्थापन का आधार आचार्य उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र है, जिसमें 'मतिःस्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्' सूत्र के अन्तर्गत स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, एवं अभिनिबोध शब्दों को मतिज्ञान का पर्यायार्थक बतलाया गया है। इनमें से स्मृति, संज्ञा एवं चिन्ता शब्दों से भट्ट अकलंक ने क्रमशः स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क प्रमाणों का उद्भावन किया है।^{२३} अभिनिबोध शब्द से वे अनुमान प्रमाण को लेते हैं। इस प्रकार स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं अनुमान प्रमाण जो परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत विभक्त हैं, वे सब मतिज्ञान के ही विभिन्न रूप हैं। इस प्रकार आगम में निरूपित मतिज्ञान या आभिनिबोधिक ज्ञान जैनन्याय में सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष एवं चार विभिन्न परोक्ष प्रमाणों में व्याप्त है।

अवग्रह एवं ईहाज्ञान को जैनदार्शनिकों द्वारा प्रमाण की कोटि में लिए जाने का कारण भी प्रमाण को ज्ञानात्मक स्वीकार करना है। अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा ये चारों मतिज्ञान के भेद हैं। नन्दीसूत्र में इन्हें श्रुत-निश्चित आभिनिबोधिक ज्ञान के भेद माना गया है। इन चार में अवग्रह एवं ईहाज्ञान की निश्चयात्मकता को लेकर जैनदार्शनिक एकमत नहीं हैं। अवग्रह भी फिर दो प्रकार का है—व्यंजनावग्रह एवं अर्थावग्रह। इनके स्वरूप के विषय में जैनदार्शनिकों में एकरूपता

दिखाई नहीं देती। अवाय एवं धारणा की निश्चयात्मकता सबको मान्य है, उसमें कोई विवाद नहीं है किन्तु अवग्रह एवं ईहाज्ञान की निश्चयात्मकता के सम्बन्ध में दो मत हैं। प्रथम मत आगमिक धारा का अनुसरण करता है जिसके अनुसार अवग्रह ज्ञान निश्चयात्मक नहीं होता। इस मत के प्रतिपादक, उमास्वाति, जिनभद्र, सिद्धसेनगणि, यशोविजय आदि हैं। द्वितीय मत प्रमाणशास्त्रीय धारा से प्रभावित है जिसके अनुसार अवग्रह ज्ञान निश्चयात्मक होता है। इस मत के समर्थक पूज्यपाद देवनन्दी, अकलंक, विद्यानन्दी, वादि देव सूरि आदि दार्शनिक हैं। यहां पर यह ध्यातव्य है कि प्रमाण को निश्चयात्मक ज्ञान मानने पर अभ्यस्त दशा में अवग्रह को प्रमाण भले ही माना जा सकता है किन्तु अनभ्यस्तदशा में उसे प्रमाण मानना उचित नहीं ठहरता है।

प्रमाण निरूपण में कहीं जैन दार्शनिक आगम सापेक्ष रहे हैं तो कहीं उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल से उसे व्यवहारापेक्षी भी बनाया है। प्रमाण का प्रयोजन ही हेयोपादेयता का ज्ञान करना है, अतः उसका व्यवहारापेक्ष होना आवश्यक रहा। अतः यही कारण है कि जैन दार्शनिकों ने सम्यग्ज्ञान को प्रमाण मानकर भी उसे संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित माना है। आगम परम्परा के अनुसार सम्यग्दर्शन से युक्त ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहा जाता है जबकि व्यवहार में संशय विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और उसे ही जैन नैयायिक प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।^{१६} इस प्रकार जैन न्याय में प्रमाण का प्रामाण्य सम्यग्दर्शन पर नहीं अपितु संशयादि दोषों की रहितता एवं संताटकता पर निर्भर करता है। स्मृति, प्रत्याभिज्ञान एवं नर्क प्रमाणों को प्रतिष्ठित करना तथा हेतु के कारण, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि भेदों का प्रतिपादन भी जैन दार्शनिकों की सांख्यव्यवहारिक दृष्टि को स्पष्ट करता है।

आगमों में प्रतिपादित ज्ञान को प्रमाण मानने के कारण जैनदार्शनिकों के समक्ष एक समस्या उत्पन्न आती है। आगमों में ज्ञान प्रकट होने का सम्बन्ध ज्ञानावरण के क्षय या क्षयोपशम से है। ज्ञानावरण का क्षय या क्षयोपशम होने पर ज्ञान प्रकट होता है, अर्थ, आलोक आदि की उमम अपेक्षा नहीं होती। किन्तु प्रमाण के सम्बन्ध में ऐसा स्वीकार करना व्यवहार का नकारना है। पदार्थ एवं प्रकाश भी प्रमाण में व्यावहारिक निमित्त होते हैं। यदि पदार्थ को प्रमाण का निमित्त नहीं मानेंगे तो प्रमाण के द्वारा किसे जाना जा रहा है, यह निश्चित नहीं हो सकता। ज्ञानावरण का क्षय या क्षयोपशम होने पर भी उपलब्ध पदार्थों का ही ज्ञान होगा, अनुपलब्ध पदार्थों का नहीं। ज्ञानावरण के क्षयोपशम से मात्र जानने की योग्यता प्राप्त होती है, उसमें वस्तु का ज्ञान नहीं हो जाता। वस्तु का ज्ञान करने के लिए वस्तु, आलोक, इन्द्रियादि को निमित्त मानना ही पड़ेगा। अतः अर्थ एवं आलोक की कारणता का जो जैनदार्शनिक आगमापेक्षी होकर खण्डन

करते हैं^{२५} वह पुनः विचारणीय है ।

प्राकृत-साहित्य में प्रमाण का सर्वाधिक वर्णन अनुयोगद्वार सूत्र में उपलब्ध होता है । वहां प्रमाण का वर्णन ज्ञान के वर्णन से स्वतंत्र है । प्रमाण का प्रयोग वहां मापन के अर्थ में हुआ है । अनुयोगद्वार सूत्र में छह प्रकार के उपक्रमों आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता, अर्थाधिकार एवं समवतार का विस्तृत वर्णन मिलता है ।^{२६} इनमें जो प्रमाण उपक्रम है उसके चार भेद किए गए हैं—द्रव्य-प्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भावप्रमाण ।^{२७} इनमें द्रव्य, क्षेत्र एवं काल प्रमाण के प्रदेशनिष्पन्न एवं विभागनिष्पन्न भेद करके उनके उपभेदों का विस्तृत वर्णन किया गया है जिनमें परमाणु आदि द्रव्य प्रमाण, आत्मांगुल आदि क्षेत्र प्रमाण, समय, आवलिका आदि काल प्रमाण के रूप में निरूपित हैं । भावप्रमाण के तीन भेद किए गए हैं—गुण, नय और संख्या । गुण में जीव एवं अजीव से सम्बन्धित भेद किए गए हैं । फिर जीव गुण तीन प्रकार के बताए गए हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र । इनमें ज्ञानगुणप्रमाण के चार भेद किए गए हैं—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) औपम्य और (४) आगम ।^{२८} स्थानांग सूत्र में इन्हीं चार प्रमाणों को चार हेतुओं के रूप में निर्दिष्ट किया गया है ।^{२९} भगवती सूत्र में भी इन प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों का उल्लेख मिलता है ।^{३०} स्थानांग सूत्र में द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भावप्रमाण का भी उल्लेख मिलता है ।^{३१}

आगमों में उपलब्ध द्रव्य प्रमाण आदि भेदों का प्रतिपादन अन्यत्र दर्शनग्रंथों में नहीं मिलता । प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों का उल्लेख महर्षि गौतम के न्यायसूत्र एवं चरक की संहिता में मिलता है । इनमें कौन पूर्वापर है इस पर विचार करना इस शोध-पत्र का प्रतिपाद्य नहीं है किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि अनुयोगद्वार सूत्र में इन चार प्रमाणों का जो भेदोपभेद पूर्वक विस्तृत वर्णन मिलता है वह गौतम के न्यायसूत्र एवं चरक की संहिता में नहीं मिलता । बौद्धों के उपायहृदय ग्रंथ एवं अनुयोगद्वार सूत्र में इस दृष्टि से कुछ समानता है तथापि अनुयोगद्वार सूत्र अपने विशिष्ट वर्णन के कारण उससे अनेकत्र भिन्नता लिए हुए है । अनुयोगद्वार सूत्र में प्रत्यक्ष के दो भेद प्राप्त होते हैं—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष । ये दोनों भेद जैनेतर दर्शनग्रंथों में नहीं मिलते । अनुमान के पूर्ववत्, शेषवत् एवं दृष्टसाधर्म्यवत्, भेद करते हुए शेषवत् के कार्य, कारण, गुण, अवयव, एवं आश्रय के आधार पर पांच भेद किए गए हैं ।^{३२} अनुयोगद्वार सूत्र में अनुमान के भिन्न प्रकार से भी तीन भेद किए गए हैं—अतीत काल ग्रहण, प्रत्युत्पन्न काल ग्रहण, और अनागत काल ग्रहण ।^{३३} ये तीनों भेद अन्यत्र नहीं मिलते । औपम्य के साधर्म्योपनीत एवं वैधर्म्योपनीत भेद करते हुए प्रत्येक के किंचित्, प्रायः एवं सर्व के आधार पर तीन तीन भेद किए

गए हैं।^{३४} आगम-प्रमाण के लौकिक एवं लोकोत्तर के अतिरिक्त तीन भेद भी किए गए हैं—आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परागम।^{३५}

अनुयोगद्वारा सूत्र में प्रमाण पर इस प्रकार विपुल सामग्री उपलब्ध है, तथापि इसे जैन न्याय में नहीं वत् अपनाया गया है।

भद्रबाहु की निर्युक्तियां भी प्राकृत-साहित्य का अंग है। दशवैकालिक सूत्र की निर्युक्ति में भद्रबाहु ने अनुमान वाक्य के अवयवों की चर्चा करते हुए उसके दो, तीन, पांच और दस अवयव बतलाए हैं। दो अवयवों में प्रतिज्ञा एवं उदाहरण, तीन में प्रतिज्ञा, हेतु एवं उदाहरण, तथा पांच अवयवों में प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपसंहार और निगमन को स्वीकार किया है। दस अवयवों का प्रयोग दो प्रकार से प्रतिपादित है। प्रथम प्रकार में प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा-विशुद्धि हेतु, हेतु-विशुद्धि, दृष्टान्त, दृष्टान्तविशुद्धि, उपसंहार, उपसंहारविशुद्धि, निगमन एवं निगमनविशुद्धि को गिनाया गया है तथा द्वितीय प्रकार में प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा-विभक्ति, हेतु, हेतु-विभक्ति, विपक्ष, प्रतिसेध, दृष्टान्त, आशंका, तत्प्रतिषेध, और निगमन का उल्लेख है।^{३६} भद्रबाहु के द्वारा प्रतिपादित अवयवों के विभिन्न भेदों से जैनदार्शनिकों को दो, तीन या पांच अवयव स्वीकार करने में प्रेरणा मिली है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि आगम आदि प्राकृत-साहित्य में प्रमाण का जो स्वतंत्र निरूपण है वह जैन-न्याय के प्रमाण-निरूपण का प्रमुख आधार नहीं बना है। प्रमुख आधार बना है जैनागमों में प्रतिपादित भक्ति, श्रुत, आदि पांच ज्ञानों का वर्णन। इन पांच ज्ञानों के वर्णन का उत्तरवर्ती प्राकृतसाहित्य में जो विकास हुआ वह भी जैन प्रमाण-मीमांसा के प्रतिपादन एवं व्यवस्थापन में सहायक सिद्ध हुआ है। ज्ञान को प्रमाण स्वीकार करने के कारण जैनदार्शनिकों ने आगमानुकूल रहने का प्रयास अदृश्य किया है, किन्तु प्रमाण को हेयोपादेय के व्यवहार से जोड़ने के कारण उसके स्वरूप में उन्होंने व्यवसायात्मकता, संशयविपर्ययादि से रहितता आदि नवीन विशेषताओं का योजन भी किया है। यही नहीं प्रमाण को सांख्यव्यवहारिक रूप देने के लिए स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क को भी प्रमाण अंगीकृत किया है। आगम की सारणी को छोड़कर इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान को भी प्रत्यक्ष की श्रेणि में लिया है। तथापि ज्ञानावरण के क्षयोपशम मात्र से अर्थ का ज्ञान होना स्वीकार करने तथा पदार्थ एवं आलोक आदि कारणों का निरसन करने से उनकी आगमापेक्ष बुद्धि ही स्फुटित होती है। अवग्रह एवं ईहाज्ञान को प्रमाण की कोटि में सम्मिलित करना भी जैनदार्शनिकों की आगमिक सरणि को स्पष्ट करता है।

अतः जैन प्रमाण-मीमांसा का जो प्रासाद खड़ा हुआ है उसकी भित्ति आगमों में निरूपित

ज्ञान पर ही टिकी हुई है। आगम में प्रतिपादित बीज ही जैन न्याय का वटवृक्ष बने हैं, इसको स्वीकार करने में किसी को संकोच नहीं होना चाहिए।

सन्दर्भ

१. आद्ये परोक्षम् । प्रत्यक्षमन्वित् । तत्त्वार्थसूत्र १.११-१२
२. सर्वार्थसिद्धि (भारतीय ज्ञानपीठ) १.१० पृ. ६९
३. आप्तमीमांसा, १०१, स्वयम्भूस्तोत्र, ६३, यत्तन्वन्नुशासन, ४८
४. द्वादशारण्यचक्र (जम्बूविजय संपादित) भाग १, पृ. ५८ से ७७
५. तत्त्वसंग्रह, १२६३-१२८३ एवं १३६३-१४२८
६. उद्धृत, अकलंक, न्यायविनिश्चय २.१५४-५५, विद्यानन्द, प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४९ वादिदेवसूरि, स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ५२१, हेमचन्द्र, प्रमाणमीमांसा, पृ. ४०
७. परीक्षामुख १.१, प्रमाणनयतत्त्वालोक १.२
८. प्रमाणपरीक्षा, पृ. १, आप्तमीमांसा, १०१
९. राजप्रश्नीय सूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावः, पृ. १६० सूत्र २४१
१०. (अ) दुविह नाणः पण्णत्ते, पच्चक्खं च परोक्खं च । —स्थानांग सूत्र १०३, सुत्तागमे, पृ. १८ ।
(ब) तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा पच्चक्खं च परोक्खं च । नन्दीसूत्र २
११. नन्दीसूत्र, ३ एवं अनुयोगद्वार सूत्र, जीव गुण प्रमाणद्वार ।
१२. नन्दी सूत्र, ४ एवं ५
१३. स्थानांग सूत्र, २४५ सुत्तागमे, पृ. २१५
१४. आगम युग का जैनदर्शन, पृ. १३८-३९
१५. नियमसार, १६१-१७१
१६. प्रमाणं स्वपरावभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्- न्यायावतार । स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि-सिद्धिनक्षणम्- स्वयंभू स्तोत्र, ६३
१७. धवलापुस्तक, १, ७, एवं १३
१८. नन्दीसूत्र, ३
१९. विशेषावश्यक भाष्य, ९५
२०. लघीयस्त्रय, ३ तत्र सांख्यव्यवहारिकम्, इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम् । मुख्यमतीन्द्रियज्ञानम् लघीयस्त्रयवृत्ति ४, अकलंकग्रन्थ त्रय पृ. ९
२१. से किं तं नोईन्द्रिय पच्चक्खं ? नोईन्द्रिय पच्चक्खं ति विहं पण्णत्तं तं जहा-ओहिणाण- पच्चक्खं, मणपज्जवणाण पच्चक्खं, केवलणाणपच्चक्खं । —नन्दीसूत्र, ५
२२. आगमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा- लोइए य लोगुत्तरिए य । —अनुयोगद्वार सूत्र, ४६७
२३. अकलंकग्रन्थ त्रयम् पृ. ५

२४. प्रमाणपरीक्षा, पृ. ५
२५. नार्थ लोको कारणं परिच्छेद्यत्वात् तमोवत् । —परीक्षामुख २.६
२६. अहवा उवक्कमे छव्विहे पण्णत्ते । तं जहा- आणुपुव्वी नामं पमाणं वत्तव्वया अत्थाहिगारे समोयारे । —अनुयोगद्वार सूत्र, ९२
२७. पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा- दव्वप्पमाणे खेत्तप्पमाणे कालप्पमाणे भावप्पमाणे । —अनुयोगद्वार सूत्र, ३१३
२८. द्रष्टव्य, अनुयोग द्वार सूत्र, प्रमाणाधिकार निरूपण
२९. अहवा हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा- पच्चक्खे, अणुभाणे, ओवम्मे, आगमे । —स्थानांगसूत्र, ३३८
३०. भगवतीसूत्र ५.३.१९१-१९२
३१. स्थानांग सूत्र, २५८
३२. अनुयोग द्वार सूत्र, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, प्रमाणाधिकार
३३. अनुयोगद्वार सूत्र, ४५०
३४. वही, ४५८-४६६
३५. अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-अत्तागमे अणंतरागमे परंपरागमेय । अनुयागद्वारसूत्र, ४६९
३६. दशवैकालिक निर्युक्ति, ५०



भारत के सांस्कृतिक अभ्युदय में प्राकृत का योगदान

□ डॉ. जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल

संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का अपूर्व सम्मिलन अति पूर्वकाल में हुआ। ये दोनों भाषाएं भारतीय संस्कृति के अभ्युदय में समान रूप से अपना-अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। भारतीय वाङ्मय के शिल्पियों ने इन भाषाओं का यथेच्छ प्रयोग किया है। उन्होंने इनके माध्यम से अपनी बहुमुख प्रतिभा के मणि-दर्पणों में भारत के ज्ञान-विज्ञान मुख को प्रतिबिंबित किया है। संस्कृत के साथ-साथ चलने वाली प्राकृत भाषा का क्षेत्र विशिष्ट विद्वानों तक ही सीमित नहीं रहा वरन् यह व्यापक क्षेत्र वाली लोकभाषा के रूप में अभिव्यक्त हुई। प्रजाओं की भाषा होने से इसे प्राकृत नाम दिया गया। 'प्रकृतौ भवः प्राकृतः'— जिसका प्रकृति से उद्भव है, वह प्राकृत है। इस अर्थ में प्रकरण-संगति के अनुसार जन-भारती को ही प्राकृत नाम मिला। इसका प्रसार लोक में जन-साधारण में था, यह बात जैनाचार्य के एक श्लोक से स्पष्ट हो जाती है—

*बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां नृणां चारित्रकाक्षिणाम्,
प्रतिबोधाय तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः ॥*

अर्थात् तत्त्वज्ञों ने चारित्र संबंधी उपदेश की इच्छा रखने वाले बालक, स्त्री, मन्दबुद्धि तथा मूर्खों के प्रतिबोध के लिए सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्राकृत में किया। संस्कृत साहित्य के प्राचीन नाटकों में स्त्री, चेटी, भृत्य तथा इस कोटी के अन्य सामान्य पात्रों की भाषा प्राकृत मिलती है।

इसका आशय यही है कि जन साधारण की रुचि की रक्षा के लिए नाट्य मंच पर पात्रों के संवादों में संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत भाषा को स्थान देना उस समय में आवश्यक था। यदि विद्वद्-वर्ग को संस्कृत प्रिय थी, तो सामान्य जन को प्राकृत भाषा समान रूप से प्रिय थी। अतएव अपने अभिनेय रूपकों को प्रसिद्ध और लोकप्रिय बनाने के लिए ही संस्कृत के नाटककारों ने प्राकृत को अपने नाटकों में उचित स्थान दिया। लोक की साधारण व्यवहार की भाषा के प्रति प्राचीन नाट्य रचयिताओं का यह दृष्टिकोण सर्वथा समीचीन था। उन्होंने संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का समान रूप से प्रयोग करके अपने विशद भाषा ज्ञान का परिचय दिया है। वस्तुतः वह दोनों भाषाओं के व्याकरणों के मर्मज्ञ थे।

प्राकृत भाषा समृद्ध भाषा है। 'प्राकृत शब्दानुशासन' में प्राकृत की प्रशंसा करते हुए लिखा गया है कि—

अनल्पार्थः सुखोच्चारः शब्दः साहित्यजीवितम् ।

स च प्राकृतमेवेति मतं सूत्रानुवर्तिनाम् ॥'

अर्थात् 'साहित्य को संजीवन प्रदान करने के लिए ऐसे शब्दों की आवश्यकता है, जिनमें अर्थ बहुलता हो, उच्चारण सुखपूर्वक हो और इसके लिए प्राकृतभाषा ही उपयुक्त है।'

प्राकृत भाषा के सभी प्राचीन वैयाकरणों ने प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से मानी है। संस्कृत भाषा को ही आधार मानकर उन्होंने प्राकृत के ध्वनि-भेद आदि का विवरण दिया है। हेमचन्द्र आदि का यही विचार है—

प्रकृतिः संस्कृतम् तत्र भवं तत् आगतं वा प्राकृतम् ।

प्रकृति का अर्थ है—मूलभाषा संस्कृत, उससे उत्पन्न भाषा प्राकृत है। 'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं प्राकृतमुच्यते' (प्राकृत-सर्वस्व) आदि अनेक कथनों से उपर्युक्त बात प्रमाणित होती है। इस प्रकार संस्कृत का ही विकृत रूप प्राकृत है। रूद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' ग्रन्थ में 'तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः' कहकर इसे प्राकृत और अपभ्रंश नाम दिये हैं। ईसा पूर्व तक संस्कृत जनभाषा और लोक व्यवहार की भाषा थी। इसके दो रूप थे—(१) साहित्यिक (२) जनभाषा। साहित्यिक भाषा में परिवर्तन बहुत कम होते थे, परन्तु जनभाषा वाली संस्कृत स्वाभाविक रूप से प्रचलित रही। इसमें ध्वनिभेद, शब्द-भेद आदि प्रचुर मात्रा में चलते रहे। जन भाषा में परिनिष्ठता नहीं थी। यही संस्कृत भाषा विकसित होते हुए प्राकृतों के रूप में प्रसिद्ध हुई। इसमें अनेक नवीन

शब्द विद्वानों द्वारा निर्मित हुए। इनको साहित्यिक भाषा में परिष्कृत करके समाविष्ट किया जाता है। इस प्रकार संस्कृत शब्दों का विकृतीकरण या सरलीकरण और विकृत शब्दों का संस्कृतीकरण निरन्तर चलता रहता है। भरतमुनि ने भी नाट्यशास्त्र में यही मत प्रतिपादित किया है कि संस्कृत भाषा के शब्दों का ही विकृत एवं परिवर्तित रूप प्राकृत भाषा है—

एतदेव विपर्यस्तं संस्कार-गुण-वर्जितम् ।

विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानाऽवस्थाऽन्तरात्मकम् ॥

नाट्यशास्त्र १७-२

इसमें यह सिद्ध होता है कि प्राकृत भाषाएं संस्कृत की ही सीधी वंशज हैं जो स्थान और काल की दृष्टि से परिवर्तित और परिवर्धित होती रही हैं। दिक् और काल की दो प्रमुख अवस्थाओं के कारण उनमें विकास की जो अनेक प्राक्रयाएं हुई हैं, उन्होंने उनको संस्कृत से भिन्न बना दिया है। किन्तु प्राकृत भाषा संस्कृत भाषा की भांति ही भारत के सांस्कृतिक अभ्युदय में संलग्न रही है। इसका अनेकविध प्रयोग हुआ है, जैसे—

- (i) धार्मिक ग्रन्थों में
- (ii) साहित्यिक रचनाओं में
- (iii) अभिलेखों में

धार्मिक प्राकृत जैन धार्मिक वाङ्मय में प्रयुक्त हुई है। इस भाषा वर्ग में महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, आर्ष या अर्ध मागधी प्रमुख हैं। जैन शौरसेनी में रचित आचार्य कुन्दकुन्द का 'समयसार' इस भाषा में रचित सर्वाधिक प्राचीन एवं बहुचर्चित कृति है। जैन शौरसेनी में दिगम्बर जैन धर्म संहिता की रचना हुई। श्वेताम्बर धर्म-संहिता की रचना अर्ध-मागधी में हुई।

साहित्यिक रचनाओं में प्राकृत का प्रयोग महाकाव्यों, गीतकाव्यों एवं कथा साहित्य में मिलता है। नाटकों में महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और उनकी अनेक विधाएं प्रयुक्त हुई हैं। भास, अश्वघोष और कालिदास के नाटकों में शौरसेनी, महाराष्ट्री प्राकृत आदि प्रयुक्त हुई हैं। संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त गद्य भागों में प्राकृत बोलियों के बीच शौरसेनी का प्रथम स्थान है। यह बहुशः स्त्रियों, बालकों, नपुंसकों, ज्योतिषियों की भाषा रही है। मागधी प्राकृत का भी संस्कृत नाटकों में प्रयोग हुआ है, जैसे 'मृच्छकटिकम्' में शकार उसके अनुचर स्थविरक, संवाहक, कुंभलिक, वर्धमानक, दोनों चाण्डालों और रोहसेन द्वारा बोली जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत नाटकों में प्राकृत बोलियों के प्रयोग की परम्परा निश्चित रूप से बहुत पुरानी

हैं।



निष्कर्ष यह है कि प्राकृत वाङ्मय का भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसमें संस्कृति के सन्देशहार सहस्रों ग्रन्थों की रचना हुई है। आज उनके अनुसन्धानमूलक अध्ययन से अनेक लुप्त-सुप्त शब्दों को पुनः प्रचलित करके वाङ्मय को विपुलता प्रदान की जा सकती है।

प्राकृत और संस्कृत के सम्मिलन के दो उदाहरण यहां प्रस्तुत हैं—

सम्पूर्ण जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः ।

गाङ्गवारि समस्त वारिनिवहः पुण्याः समस्ता क्रियाः ॥

वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिशिरो वाराणसी मेदिनी ।

सर्वानस्थितिरस्य वस्तु विषया दृष्टं परब्रह्मणि ॥

आचार्य शंकर, धन्याष्टक, १०

अर्थ :— जिस भव्यात्मा ने परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है, उसके लिए समस्त विश्व आध्यात्मिक नन्दन वन है, सभी वृक्ष कल्पवृक्ष हैं, समस्त जलाशय गंगाजल से युक्त हैं, उसकी समस्त क्रियाएं पुण्यशील हैं। उसके लिए वाणी, प्राकृत हो अथवा संस्कृत हो, श्रुति सारभूत हैं। उसके लिए समस्त तीर्थक्षेत्र काशी-वाराणसी ही हैं। उसकी समस्त अवस्थिति एवं वस्तु विषया दृष्टि परमार्थमयी है।

सरस्वती प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओं की ज्ञाता है—

द्विधा प्रयुक्तेन च वाङ्मयेन, सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव ।

संस्कारपूर्तन वरं वरेण्यं, वधू सुख-ग्राह्य निबन्धनेन ॥

महाकवि कालिदास रचित कुमार संभवम् ७/१०

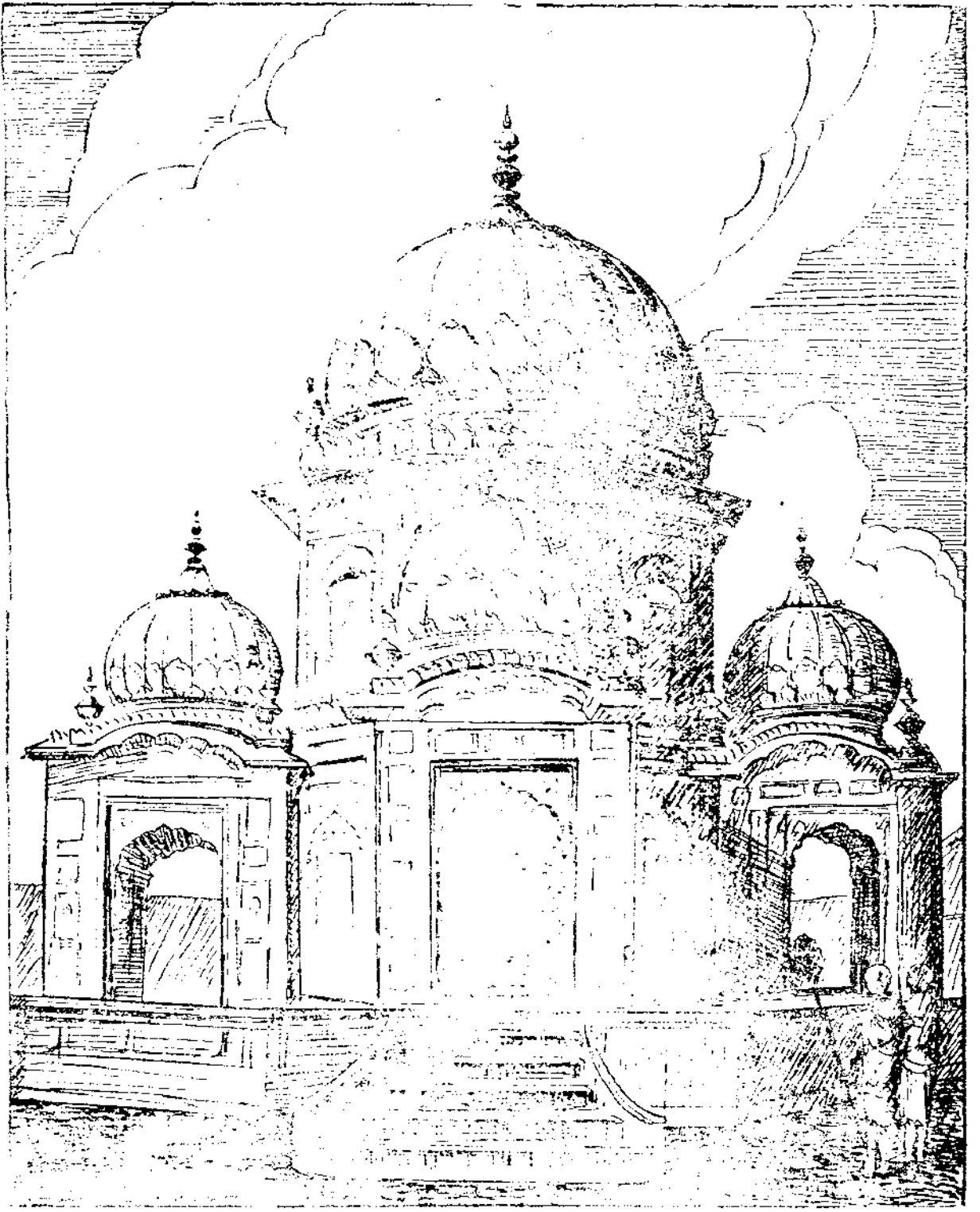
अर्थ—सरस्वती ने (शिव व पार्वती) मिथुन की दो प्रकार के वाङ्मय द्वारा स्तुति की। देवी सरस्वती ने श्रेष्ठ वर की संस्कार से पवित्र संस्कृत भाषा में और वधू की सरलता से समझ में आने वाली प्राकृत-भाषा में स्तुति निबद्ध की या प्रस्तुत की।

इस प्रकार बहुत प्राचीनकाल से ही प्राकृत और संस्कृत के सम्मिलन के प्रमाण साहित्य में विद्यमान हैं।

□



शताब्दीनायक न्यायांभोनिधिश्रीविजयानन्दमूरि
श्री आत्मारामजी महाराज.



व्यक्तित्व के समग्र विकास की दिशा में 'जैन शिक्षा प्रणाली की उपयोगिता'

□ श्रीचन्द्र सुराना

संसार का घटक है व्यक्ति, और व्यक्ति की पहचान होती है उसके व्यक्तित्व से। जैसे अग्नि की पहचान, उसकी उष्मा और प्रकाश से, जल की पहचान उसकी शीतलता और तरलता से होती है, उसी प्रकार व्यक्ति की पहचान उसके व्यक्तित्व- अर्थात् शारीरिक एवं मानसिक आत्मिक गुणों से होती है।

स्वेट मार्टेन ने व्यक्तित्व के कुछ आवश्यक घटक बताये हैं—स्वस्थ शरीर, बौद्धिक शांति, मनसिक दृढता, हृदय की उदारता, भावात्मक उच्चता (करुणा-मैत्री-सेवा आदि) तथा व्यावहारिक दक्षता, समयोचित व्यवहार आदि।

लार्ड चेस्टन ने वेशभूषा (ड्रेस- Dress) और बोलचाल की शिष्टता-सभ्यता (एड्रेस- Adress) को व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण अंग माना है।

भर्तृहरि ने नीतिशतक में महान व्यक्तित्व के घटक गुणों की चर्चा करते हुए लिखा है :—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा,
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रम,
यशसि चाभिरूचि व्यसनं श्रुतौ,
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मानाम्

—नीतिशतक- ६३

विपत्ति में धैर्य, ऐश्वर्य में सहिष्णुता, विकास के समय में स्वयं पर नियंत्रण, सभा में वचन की चतुराई, कभी हार नहीं मानना सुयश के कार्य में रुचि, पढ़ने में निष्ठा आदि गुणों से व्यक्तित्व निखरता है, चमकता है।

जैन आचार्यों से व्यक्तित्व को प्रभावशाली, लोकप्रिय और सदाचार सम्पन्न बनाने के लिए २१ सद्गुणों पर विशेष बल दिया है। जैसे—

हृदय की उदारता, प्रकृति की सौम्यता, करुणाशीलता, विनयशीलता, न्यायप्रियता, कृतज्ञता, धर्मबुद्धि, चतुरता आदि।*

शिक्षा का महत्व

विभिन्न विचारकों ने देश-काल की परिस्थितियों तथा आवश्यकता के अनुसार व्यक्तित्व के घटक तत्वों पर अनेक दृष्टियों से चिन्तन किया है, उसमें एक सर्वाभौम तत्व है शिक्षा, ज्ञान, प्रतिभा।

उष्णता या तेजस्विता के बिना अग्नि का कोई मूल्य नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान, शिक्षा या प्रतिभा के बिना व्यक्ति का कोई महत्व नहीं है। विकास के सभी द्वार- शिक्षा से खुलते हैं। उन्नति के सभी मार्ग ज्ञान के राजमार्ग से ही निकलते हैं, अतः संसार के समस्त विचारकों ने शिक्षा और ज्ञान को सर्वोपरि माना है। एक शायर का कहना है—

सआदत है, सयादत है, इबादत है इल्म।

हकूमत है, दौलत है, ताकत है इल्म।

एक आत्मज्ञ ऋषि का कथन है—

आयाभावं जाणंति सा विज्जा दुक्खमोयणी

जिससे अपने स्वरूप का ज्ञान हो, वही विद्या दुःखों का नाश करने वाली है।

शिक्षा का अर्थ-सर्वांग विकास

शिक्षा का अर्थ केवल पुस्तकीयज्ञान नहीं है। अक्षर ज्ञान शिक्षा का मात्र एक अंग है। जैन मनीषियों ने शिक्षा को बहुत व्यापक और विशाल अर्थ में लिया है। उन्होंने ज्ञान और

*१. विस्तार के लिये देखें—१. प्रवचन सारोद्धार द्वार-२३८, गाथा-१३५६-५८

२. धर्मसंग्रह अधिकार-१, गाथा-२०

—इसिभासियाई- १७/२

आचार, बुद्धि और चरित्र दोनों के समग्र विकास को शिक्षा का फलित माना है।

आधुनिक शिक्षा-शास्त्रियों- फ्रोबेल, डीवी, मोन्टेसरी आदि ने शिक्षण की अनेक विधियों-प्रणालियों (Teaching-Method) का प्रतिपादन किया है, किन्तु मुख्य शिक्षा प्रणालियां दो ही हैं—१. अगमन (Inductive) और २. निगमन (Deductive)।

अगमन शिक्षा प्रणाली में शिक्षक अपने शिष्यों को कोई सिद्धांत या विषय समझाता है और शिष्य उसे समझ लेते हैं, कंठस्थ कर लेते हैं। शिक्षक के पूछने पर (अथवा प्रश्नपत्र के प्रश्नों के उत्तर में) जो कुछ समझा है, याद किया है वही बोल या लिख देते हैं। आजकल निबंधात्मक प्रश्नोत्तर इसी शिक्षण प्रणाली के अन्तर्गत है।

निगमन प्रणाली में पहले परिणाम (फल) बताकर फिर सिद्धान्त निश्चित किया जाता है। इस प्रणाली में छात्रों से उत्तर निकलवाया जाता है। इससे छात्रों की बुद्धि एवं योग्यता (Intelligence) की ज्ञात हो जाती है। तथा कौन छात्र कितना मंदबुद्धि या तीव्रबुद्धि वाला है, यह भी पता चल जाता है। लघु-उत्तरीय प्रश्न इसी प्रणाली के अन्तर्गत है।

इन दोनों ही प्रणालियों से मानव का ज्ञान और बुद्धि तथा व्यक्तित्व विकसित होता है।

जैन-शिक्षा-प्रणाली

प्राचीन जैन शिक्षा प्रणाली में इन दोनों विधियों का समन्वय तो है ही, लेकिन साथ ही कुछ ऐसे भी तत्व हैं, जिनसे व्यक्तित्व का समग्र विकास होता है।

उपरोक्त दोनों शिक्षण प्रणालियां सिर्फ ज्ञान और बुद्धि के विकास तक ही सीमित हैं, किन्तु जैन शिक्षा प्रणाली शैक्ष या शिष्य की पात्रता, विनय, उसकी आदतों, चरित्र, अन्तर्हृदय की भावनाओं आदि व्यक्तित्व के सभी घटकों पर ध्यान देकर शैक्ष के बहिरंग और अन्तरंग जीवन तथा उसके व्यक्तित्व का समग्र विकास करती है। सभी दृष्टियों से उसके व्यक्तित्व को तेजस्वी, प्रभावशाली और आकर्षक (Dynamic Personality) बनाती है।

जैन आचार्यों ने बताया है :—

सिक्खा दुविहा -

गहण सिक्खा - सुत्तथ तदुभयाणं

आसेवणा सिक्खा - पडिलेहणा. . . उवडावणा, व्रतादि सेवाना. . .

पंचकल्प भाष्य-३

शिक्षा दो प्रकार की है—

१. **ग्रहण शिक्षा**—शास्त्रों का ज्ञान, शास्त्र का शुद्ध उच्चारण, पठन, अर्थ और देश-काल के संदर्भ में शब्दों के मर्म का ज्ञान प्राप्त करना- ग्रहण शिक्षा है।

२. **आसेवना शिक्षा**—व्रतों का आचरण, नियमों का सम्यग् परिपालन और सभी प्रकार के दोषों का परिवर्तन करते हुए, अपने चरित्र को निर्मल रखना आसेवना शिक्षा है।

सम्पूर्ण जैन साहित्य में शिक्षा को इसी व्यापक परिप्रेक्ष्य में लिया गया है, और उसी आधार पर उस पर चिन्तन हुआ है। शिक्षा की यह दोनों विधियाँ मिलकर ही सम्पूर्ण और सर्वांग शिक्षा बनती है।

शिक्षा प्राप्ति की अवस्था

यूँ तो ज्ञान-प्राप्ति के लिए अवस्था या आयु का कोई नियम नहीं है, कुछ विशिष्ट आत्माएँ जिनका विशेष क्षयोपशम होता है, जन्म से अवधि ज्ञान युक्त होती है। किन्हीं-किन्हीं को जन्म से ही पूर्वजन्म का-जातिस्मृति ज्ञान भी होता है, परन्तु सर्वसामान्य में यह विशिष्टता नहीं पाई जाती है।

आजकल भारत में ढाई-तीन वर्ष के बच्चे को ही कच्ची उम्र में नर्सरी में भेज दिया जाता है, यद्यपि अमेरिका जैसे विकसित देशों में ५-६ वर्ष के पहले बच्चे के कच्चे दिमाग पर शिक्षा का भार नहीं डालने की मान्यता है। बालमनो विज्ञान की नवीनतम व्याख्याओं के अनुसार पांच से आठ वर्ष की आयु बालक के अध्ययन एवं शिक्षाग्रहण करने को सर्वथा अनुकूल होती है।

प्राचीन वैदिक एवं जैन साहित्य के अनुशीलन से पता चलता है कि पांच वर्ष के पश्चात् ही बालक को अक्षर ज्ञान देने की प्रथा थी। रघुवंश के अनुसार राम का मुण्डन संस्कार हो जाने के अनन्तर उन्हें अक्षरारम्भ कराया गया। यह लगभग पांचवें वर्ष में ही किया जाता था। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार भी इसी बात की पुष्टि होती है। मुण्डन संस्कार के अनन्तर वर्णमाला और फिर अंकमाला का अभ्यास कराया जाता था।^१

आचार्य जिनसेन तथा हेमचन्द्राचार्य के अनुसार^२ भगवान् ऋषभदेव ने सर्वप्रथम अपनी ज्येष्ठ पुत्री ब्राह्मी को दाहिने हाथ से अक्षर माला-वर्णमाला का तथा बायें हाथ से सुन्दरी को

१. रघुवंश-३/२८-२९ (कालिदास ग्रंथावली)

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र-प्रकरण २१-अ-४

अंकमाला-गणित का ज्ञान दिया। सामान्यतः पांचवें वर्ष से प्रारंभ करके वर्णमाला, अंकमाला तथा तत्पश्चात् गणित का ज्ञान कराने में तीन वर्ष का समय लग जाता है। इस प्रकार आठ वर्ष का बालक शिक्षा के योग्य हो जाता है। भगवती सूत्र, ज्ञाता तथा अन्तकृद्दशासूत्र आदि के प्रसंगों से यह स्पष्ट होता है कि आठ वर्ष की आयुपूर्ण करने पर माता-पिता बालक को कलाचार्य के पास ले जाते थे और उन्हें सभी प्रकार की कलाएं, विद्याएं गुरुकुल में रखकर ही सिखाई जाती थी। महाबल कुमार, मेघकुमार, अनीयस कुमार आदि के प्रसंग उक्त सन्दर्भ में पठनीय हैं।^{१२} बालक वर्धमान को भी आठ वर्ष पूर्ण करने पर कलाचार्य के पास विद्याध्ययन हेतु ले जाने का उल्लेख है।^{१३} निशीथचूर्णि के अनुसार आठवें वर्ष में बालक शिक्षा के योग्य हो जाता है। तत्पश्चात् नवम-दशम वर्ष में वह दीक्षा-प्रव्रज्या के योग्य भी बन जाता है।^{१४} जैन इतिहास के अनुसार आर्य शम्यंभव के पुत्र-शिष्य मनक ने आठ वर्ष की अवस्था में दीक्षित होकर श्रुतज्ञान की शिक्षा प्राप्त की।^{१५} इसी प्रकार आर्य सिंहगिरा ने बालक वज्र को आठ वर्ष की आयु में अपनी निश्रा में लेकर विद्याध्ययन प्रारंभ कराया जो एक दिन महान वागश्री और श्रुतधर बने।^{१६} इस प्रकार जैन आचार्यों के अनुसार शिक्षा प्रारंभ का सबसे अच्छा और अनुकूल समय आठवां वर्ष माना गया है। आठ वर्ष का बालक शिक्षा योग्य बन जाता है। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार भगवान महात्मा बुद्ध को भी आठ वर्ष की उम्र में आचार्य विश्वामित्र के पास प्रारंभिक शिक्षा के लिए भेजा गया था।^{१७}

शिक्षा की योग्यता

शिक्षा प्राप्त करने के लिए जब बालक गुरुकुलवास या गुरु के सान्निध्य में आता था तो सर्वप्रथम गुरु बालक की योग्यता तथा पात्रता की परीक्षा लेते थे। ज्ञान या शिक्षा एक अमृत के समान है, उसे धारण करने के लिए योग्य पात्र का होना बहुत ही आवश्यक है।

-
१. आर्द्र पुराण (महापुराण), २६/१७४ तथा त्रिषष्टि-१/२ एवं आवश्यकचूर्णि
 २. कुमार सातिरिंग अट्टवास जयं अण्णपियरो कलायरियस्स उवणोत्ति... भगवती सूत्र ११/११, ज्ञातासूत्र १/१, अन्तकृद्दशासूत्र- ३/१
 ३. गुणचन्द्र का महावीर चरित्र तथा त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरितं देखें।
 ४. पट्टम दसाए- अट्ट वरिसोवरि, नवम-दसमेसु दीक्खा- निशीथचूर्णि अट्टशक-११
 ५. परिंशष्ट पर्व, सर्ग ५
 ६. परिंशष्ट पर्व, सर्ग ९२
 ७. ललित विस्तर पृष्ठ १४३

वैदिक एवं बौद्ध संस्कृति के अनुसार शिक्षा के लिए आया हुआ विद्यार्थी सदाचारी और प्रतिभाशाली होना चाहिए। दुष्ट स्वभाव का शिष्य कड़े जूते के समान होता है। जो पहनने वाले का पैर काटता है, दुष्ट शिष्य आचार्य से विद्या या ज्ञान ग्रहण करके उन्हीं की जड़ काटने लग जाता है।^१ अतः सर्वप्रथम शैक्ष-शिक्षार्थी की योग्यता और पात्रता की परीक्षा करना आवश्यक है।

शिक्षा योग्य आयु की परिपक्वता के बाद शैक्ष का भावात्मक विकास देखना जरूरी है। विनय, संयम, शांति और सरलता—ये चार गुण मुख्य रूप से देखे जाते हैं। स्थानांग सूत्र के अनुसार १. विनीत २. विकृति-अप्रतिबद्ध (जिह्वा-संयमी), ३. व्यवशमित प्राभृत (उपशास्त्र प्रकृति) और ४. अमायावी- (सरल हृदय)- चार प्रकार के व्यक्ति, शिक्षा एवं शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने के योग्य अधिकारी माने गये हैं। इसके विपरीत, अविनीत आदि को शिक्षा देने का निषेध है। दुष्ट प्रकृति, मूढ़मति, और कलह करने वाले व्यक्ति को शिक्षा देने का सर्वथा निषेध भी मिलता है।^२ ऐसे व्यक्ति को ज्ञान देता हुआ गुरु स्वयं दुखी और संतप्त हो जाता है।

उत्तराध्ययन में बताया है—कृतज्ञ और मेधावी शिष्य को शिक्षा देते हुए आचार्य वैसे ही प्रसन्न होते हैं जैसे अच्छे घोड़े को हांकता हुआ घुड़सवार, किंतु अबोध और अविनीत शिष्य को शिक्षा देता हुआ गुरु वैसे ही खिन्न होता है, जैसे दुष्ट घोड़े को हांकता हुआ उसका वाहक।^३ विनीत शिष्य अपने शिक्षक, गुरु की कठोर शिक्षाएं भी यह समझकर ग्रहण करता है कि ये मुझे अपना पुत्र व भाई समझकर कहते हैं, जबकि दुष्ट बुद्धि शिष्य मानता है गुरु तो मुझे अपना दास व सेवक मानते हैं। शिष्य की दृष्टि का यह अन्तर उसके मानसिक विकास व भावात्मक विकास को सूचित करता है।

उत्तराध्ययन में ही शिष्य या विद्यार्थी की पात्रता का विचार करते हुए बताया है—शैक्ष में कम से कम ये आठ गुण तो होने ही चाहिए—

१. हास्य न करना—गुरुजनों व सहपाठी विद्यार्थियों का उपहास न करना, व्यंग्य वचन न बोलना, मधुर व शिष्ट भाषा बोलना।

१. चुल्लवग्ग- १०-७-२, डा. हरीन्द्रभूषण जैन- प्राचीन भारत में जैन शिक्षा पद्धति

२. चत्तारि वायणिज्जा-विणीते, अविगतिपडिबद्धे, विओसितपाहुडे अमाई-

स्थानांग- ४/सूत्र ४५३

३. तओ अवायणिज्जा-दुट्ठे, मूढे, वुग्गहिए-स्थानांग- ३

४. उत्तराध्ययन-१/३७-३९

२. **इन्द्रिय दमन करना**— विकारशील या स्वेच्छाचारी व्यक्ति ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। अतः इन्द्रिय विजेता बनना चाहिए।

३. **मर्म वचन न बोलना**—मधुर व शिष्ट भाषा जहां गुरुजनों का मन जीत लेती है, वहीं कटु व मर्म वचन उनका हृदय दाग कर डालते हैं। इसलिए शिष्य व विद्यार्थी कभी अप्रिय व मर्म घातक वचन न बोले।

४. **शीलवान**—यह गुण व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करता है। और लोगों में उसकी विश्वसनीयता बढ़ाता है।

५. **शील की दृढता**—शिथिलाचारी या खण्डिताचारी अथवा संकल्प के अस्थिर व्यक्ति पर कभी भी श्रुतदेवता (सरस्वती) प्रसन्न नहीं होते। अतः शैक्ष अपने चरित्र में दृढ निष्ठाशील रहे।

६. **रस लोलुप न हो**—भोजन में चटोरा भजन नहीं कर सकता। इसी प्रकार रस या स्वाद में आसक्त व्यक्ति शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता। शिक्षार्थी को अपनी सभी इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखना जरूरी है।

७. **क्रोध नहीं करना**—क्षमा रखने वाला।

८. **सत्यभाषी होना**—असत्य बोलने वाला न हो।

ये आठ गुण, या योग्यता जिस व्यक्ति में होती है। वही जीवन में शिक्षा-ज्ञान प्राप्त कर सकता है, अपनी प्रतिभा का विकास कर सकता है।

इन्हीं गुणों का विकास व विस्तार करते हुए आचार्य जिनसे न १ विद्यार्थी की योग्यता की १५ कसौटी बताई है—

१. जिज्ञासा वृत्ति

२. श्रद्धाशीलता

१. (१) अह अट्टहिं ठाणिहें सिक्खासीले त्ति वुच्चई ।

अहस्सिरे सया दन्ते न य मम्ममुदाहरे ॥

(२) नासीले न विसीले न सिया अइलोलुए ।

अकोहणे सच्चरणे सिक्खासीले त्ति वुच्चई ॥

—उत्तराध्ययन- ११/४-५

३. विनयशीलता
४. शुश्रुषा (सुनने की इच्छा व सेवा भावना)
५. श्रवण-पाठ श्रवण के प्रति सतर्कता
६. ग्रहण करने की क्षमता-
७. धारण-स्मरण रखने की योग्यता
८. स्मृति
९. ऊह-तर्क शक्ति, प्रश्नोत्तर करने की योग्यता
१०. अपोह-स्वयं विचार करने की क्षमता
११. निर्णीति-स्वयं निर्णय लेने की क्षमता
१२. संयम
१३. प्रमाद का अभाव
१४. सहज प्रतिभा- क्षयोपशम शक्ति
१५. अध्यवसाय

उक्त योग्यताओं के प्रसंग में कुछ अयोग्यताओं पर भी विचार किया गया है, जिनके कारण व्यक्ति शिक्षा से वंचित रह जाता है। अथवा ज्ञान प्राप्त करके भी उसका सदुपयोग नहीं कर सकता।

उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार शिक्षा प्राप्ति के लिए पांच बाधक कारण ये हैं—

१. अहंकार, २. क्रोध, ३. प्रमाद (निद्रा, व्यसन आदि) ४. रोग, ५. आलस्य
- आचार्य जिनसेन ने इन्हें विस्तार देकर १४ कारण बताये हैं।
१. कठोर परिणामी
 २. सार छोड़कर निसार ग्रहण करना
 ३. विषयी
 ४. हिंसक वृत्ति
 ५. शब्द ज्ञान व अर्थज्ञान की कमी

६. धूर्तता

७. कृतघ्नता

८. ग्रहण शक्ति का अभाव

९. दुर्गुण दृष्टि

१०. उद्वेगता

११. प्रतिभा की कमी

१२. स्मरण शक्ति का अभाव

१३. धारणा शक्ति का अभाव

१४. हठग्राहिता

ये सब अयोग्यता शिक्षार्थी में मानसिक कुण्ठा, तथा उच्च चारित्रिक गुणों के अभाव की सूचक है। जब तक विद्यार्थी में चारित्रिक विकास और भावात्मक गुणों की वृद्धि नहीं होती वह ज्ञान या शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता। आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में तथा विशेषावश्यक भाष्य में आचार्य जिनभद्रगणी ने अनेक प्रकार की उपमाएं देकर शिक्षार्थी की अयोग्यता का रोचक वर्णन किया है।^१ जैसे—

शैलघन१—जिस प्रकार मूसलाधार मेघ बरसने पर भी पत्थर (शैल) कभी आर्द्र या मृदु नहीं हो सकता, उसी प्रकार कुछ शिष्य ऐसे होते हैं जिन पर गुरुजनों की शिक्षा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इसी प्रकार **भग्नघट**, **चालनी** के समान जो विद्यार्थी होते हैं, उन्हें गुरु ज्ञान या विद्या हैं, परन्तु उनके हृदय में वह टिक नहीं पाता। **महिष**—भैंसा जिस प्रकार जलाशय में घुसकर जल तो कम पीता है, परन्तु जल को गंदला बहुत करता है, उसी प्रकार कुछ विद्यार्थी, गुरुजनों से ज्ञान तो कम ले पाते हैं, परन्तु उन्हें उद्विग्न या खिन्न बहुत कर देते हैं। गुरु ज्ञान देते-देते परेशान हो जाते हैं। इसी प्रकार **भेड़ों**, **तोता**, **मच्छर**, **बिल्ली** आदि के समान जो शिष्य होते हैं वे

१. आदि पुराण (भाग-१) १४०-१४८ तथा आदिपुराण (खण्ड-३) ३८/१०९-१११८

२. उत्तराध्ययन-११/३

३. आदि पुराण-भाग-१

गुरुजनों को क्षुब्ध व परेशान तो करते रहते हैं परन्तु ज्ञान प्राप्त करने में असफल रहते हैं। अगर ज्ञान की यत्किंचित् प्राप्ति कर भी लेते हैं तो वह उनके लिए फलदायी नहीं, कष्टदायी ही सिद्ध होती है।

शिक्षा में विनय एवं अनुशासन

जैन शिक्षा पद्धति के विभिन्न अंगों व नियम-उपनियमों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा-प्राप्ति में विनय तथा अनुशासन का सर्वाधिक महत्व है। विनीत शिष्य ही गुरुजनों से शिक्षा प्राप्त कर सकता है, और उसी की शिक्षा फलवती होती है। शिक्षा जीवन का संस्कार तभी बनती है, जब विद्यार्थी गुरु व विद्या के प्रति समर्पित होगा। भगवान महावीर की अन्तिम देशना का सार उत्तराध्ययन सूत्र में है। उत्तराध्ययन सूत्र का सार प्रथम विनय अध्ययन है। विनय अध्ययन में गुरु शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध, शिक्षा ग्रहण की विधि, गुरु से प्रश्न करने की विधि, गुरुजनों के समीप बैठने की सभ्यता, बोलने की सभ्यता आदि विषयों पर बहुत ही विशद् प्रकाश डाला गया है। वहां विनय को व्यापक अर्थ में लिया गया है।

कहा गया है—गुरुओं की आज्ञा पालन करना, गुरुजनों के समीप रहना, उनके मनोभावों को समझने की चतुरता, यह विनीत का लक्षण है।^१

विनय को धर्म का मूल माना है, और उसका अन्तिम परम फल है—मोक्ष, निर्वाण।^२ उत्तराध्ययन में शील, सदाचार और अनुशासन को भी विनय में सम्मिलित किया गया है। और कहा है—अणु सासिओ न कुप्पिज्जा खंति सेविज्ज पंडिए।^३ गुरुजनों का अनुशासन होने पर उन पर कुपित नहीं होवे, किंतु विनीत शिष्य क्षमा और सहिष्णुता धारण करके उनसे ज्ञान प्राप्त करता रहे। इसी प्रसंग में गुरुजनों के समक्ष बोलने की सभ्यता पर विचार किया गया है।

नापुट्ठो वागरे किंचि पुट्ठोवा नालिये वए४।

गुरुजनों के बिना पूछे नहीं बोले, पूछने पर कभी असत्य नहीं बोले।

गुरु किसी से बात करते हुए हो तो उनके बीच में भी नहीं बोले५।

गुरु विनय के चार लक्षण बताते हुए कहा है—

१. सेलघण-कुडग-चालणि परीपूणग हंस-महिस-मेसेय- मरूग-जलुग-विराली-जाइग-गो-चेटी-आहेरी-
(आव. नियु ग्रा-१४५७) विशेषा. भाष्य- १४६५-६७

१. गुरुओं के आने पर खड़ा होना
 २. हाथ जोड़ना
 ३. गुरुजनों को आसन देना
 ४. गुरुजनों की भक्ति तथा भावपूर्वक शुश्रूषा-सेवा करना
- विनय के ये चार लक्षण हैं ।^१

उत्तराध्ययन में ही कहा है—शिष्य गुरुओं, आचार्यों के समक्ष या अकेले में कभी उनके प्रतिकूल अथवा विरुद्ध न बोलें, न ही उनकी भावना के विपरीत आचरण करें ।^३

गुरुजनों के समक्ष बैठने उठने की सभ्यता और शिष्टता पर विचार करते हुए कहा गया है—शिष्य-आचार्यों के बराबर न बैठे, आगे न बैठे, पीछे से सटकर न बैठे, गुरु की जांघ से जांघ सटाकर न बैठे । गुरु बुलावे तो बिस्तर या आसन पर बैठे-बैठे ही उनको उत्तर न देवें, बल्कि उनका आमंत्रण सुनकर आसन से उठे, निकट आकर विनयपूर्वक निवेदन करे ।^४

उठने बैठने की यह ऐसी सभ्यता है, जो विद्यार्थी के लिए ही क्या, मनुष्य मात्र के जीवन में सर्वत्र उपयोगी होती है । इससे व्यक्ति की सुसंस्कृतता व उच्च सभ्यता झलकती है ।

प्रश्न पूछने का तरीका

शिक्षाकाल में शिष्य को शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ व्यावहारिक ज्ञान, सभ्यता और शिष्टता पूर्ण आचरण भी आवश्यक है । इसलिए जैन शास्त्रों में विनय के रूप में विद्यार्थी के अनुशासन, रहन-सहन, व्यवहार, बोलचाल आदि सभी विषयों पर बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया गया है और उसके आवश्यक सिद्धान्त भी निश्चित किये गये हैं । गुरुओं से प्रश्न पूछने के तरीके पर विचार करते हुए बताया है—

आसणगओ न पुच्छेज्जा, नेव सेज्जागओ कया ।

१. आणा निद्देस करे, गुरुणभुकवाय कारए । इंगियागार संपने से विणीए त्रि वुच्चइ ॥ —उत्तरा. १/२
२. एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मोक्खो- दशवै. ९/२/२
३. उत्तरा. १/९
४. उत्तरा. १/१४
५. भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा नो अंतराभासं भासिज्जा । —आचारांग २/३/३

गुरुजनों से कुछ पूछना हो तो आसन पर बैठे-बैठे या शय्या पर पड़े-पड़े ही न पूछें, किंतु खड़ा होकर हाथ जोड़कर नम्र आसन से प्रश्न करें।

वास्तव में गुरुजनों की भक्ति और बहुमान तो विनय का एक प्रकार है, दूसरा प्रकार है शिक्षार्थ की चारित्रिक योग्यता और व्यक्तित्व की मधुरता। कहा गया है—गुरुजनों के समीप रहने वाला, योग और उपधान (शास्त्र अध्ययन के साथ विशेष तपश्चरण (करने वाला, सब का प्रिय करने वाला और सबसे साथ प्रिय मधुर बोलने वाला, शिक्षा एवं ज्ञान प्राप्त कर सकता है।^{१२}

गौतम की प्रश्नोत्तर शैली

गुरु शिष्य के बीच प्रश्न-उत्तर की सुन्दर शैली पर गणधर गौतम का आदर्श हमारे सामने है। जब भी किसी विषय पर उनके मन में सन्देह या जिज्ञासा उत्पन्न होती है तो वे उठकर भगवान महावीर के पास आते हैं और विनय पूर्वक उनसे प्रश्न पूछते हैं। प्रश्न का समाधान पाकर व प्रसन्न होकर कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए कहते हैं— भन्ते ! आपने जो कहा, वह सत्य है, यथार्थ है, मैं उस पर श्रद्धा करता हूँ।^{१२}

उत्तर प्रदाता गुरु के प्रति शिष्य को इतना कृतज्ञ होना चाहिए कि वह उत्तर प्राप्त कर अपनी मनस्तुति और प्रसन्नता व्यक्त करे। उनके उत्तर के प्रति अपनी श्रद्धा की अभिव्यक्ति करे।

एक बार गणधर इन्द्रभूति के पास भ. पार्श्वनाथ परम्परा के श्रमण उदक पेढाल आये और अनेक प्रकार के प्रश्न पूछे। इन्द्रभूति ने सभी प्रश्नों का बड़ी स्पष्टता और सहजता से उत्तर दिया, किंतु गणधर इन्द्रभूति के उत्तर से उदक पेढाल क्रुद्ध खिन्न भी हुए और वे प्रश्नों का समाधान पाकर भी गौतम का अभिवादन किये बिना, धन्यवाद या कृतज्ञता के दो शब्द भी बोले बिना उठकर चलने लगे। स्पष्टवादी गौतम को उदक पेढाल का यह व्यवहार अनुचित लगा। तब

१. अब्भुट्टसाणं अंजलि करणं तहेवासणदायणं, गुरुभक्ति भावसूस्माविणओ एस वियाहिओ- उत्तरा.

३०/३२

२. बस गुरुकुले निच्यं जोगवे उवहाणवं, पियं करे पियं वाई से सिक्खं लद्धूसरिहहं —उत्त. ११/१४

३. उत्तरा. -१/१७

४. वही-१/१८-१९

गौतम ने उदक पेढाल को सम्बोधित करके कहा—‘भद्र ! किसी श्रमण-निर्ग्रथ या गुरुजन से धर्म का एक भी पद, एक भी वचन सुना हो, अपनी जिज्ञासा का समाधान पाया हो, या योग-क्षेम का उत्तम मार्ग दर्शन मिला हो तो, क्या उनके प्रति कुछ भी सत्कार सम्मान व आभार प्रदर्शित किये बिना उठकर चले जाना उचित है?’

उदक पेढाल ने सकुचाते हुए पूछा—आप ही कहिए, उनके प्रति मुझे कैसा व्यवहार करना चाहिए?

गणधर गौतम ने कहा—‘एगमपि आद्रियं सुवयणं सोच्चा. . . आढाई परिजाणेति वंदंति नमंसंति. . . ।’^३

गुरुजनों से एक भी आर्य वचन सुनकर उनके प्रति आदर और कृतज्ञता का भाव व्यक्त करना चाहिए। यही आर्य धर्म है।

गौतम का यह उपदेश और स्वयं गौतम की जीवनचर्या से गुरु शिष्य के मधुर श्रद्धापूर्ण सम्बन्ध और प्रश्न उत्तर की शैली तथा उत्तर प्रदाता, ज्ञानदाता गुरु के प्रति कृतज्ञ भावना प्रकट करने से एक आदर्श पद्धति पर प्रकाश पड़ता है। आज के संदर्भों में भी इस प्रश्नोत्तर पद्धति और कृतज्ञ भावना की नितांत उपादेयता है।

वास्तव में गुरुजनों की भक्ति और बहुमान तो विनय का एक आवश्यक अंग है। दूसरा अंग है—शिक्षार्थी की चारित्रिक योग्यता और व्यक्तित्व की मधुरता। कहा गया है—गुरुजनों के समीप रहने वाला, योग और उपधान (शास्त्र अध्ययन के साथ विशेष तपश्चरण) करने वाला, सबका प्रिय करने वाला और सबके साथ प्रिय मधुर बोलने वाला, शिक्षा एवं ज्ञान प्राप्त कर सकता है।^१

इसी प्रसंग में शिक्षार्थी की १५ चारित्रिक विशेषताओं पर भी विचार किया गया है जिनके कारण वह सुविनीत कहा जाता है और गुरुजनों के समीप रहकर शिक्षा प्राप्त कर सकता है। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

१. जो नम्र है।

१. उत्तराध्ययन— २२-२३

२. देखिए भगवती सूत्र के प्रसंग

३. सूत्र कृतांग २/७/३७

२. अचपल है ।
३. दंभी नहीं है ।
४. अकौतूहली-तमाशबीन नहीं है ।
५. किसी की निंदा नहीं करता है ।
६. क्रोध आने पर उसे तत्काल भुला देता है, मन में नहीं रखता, शीघ्र शान्त हो जाता है ।
७. मित्रों के प्रति कृतज्ञ रहता है । मित्रता निबाहना जानता है ।
८. ज्ञान प्राप्त करने पर अहंकार नहीं करता ।
९. किसी की स्वलना या भूल होने पर उसका तिरस्कार एवं उपहास नहीं करता ।
१०. मित्रों पर क्रोध नहीं करता । सहाध्यायियों से झगड़ता नहीं ।
११. मित्र के साथ अनबन होने पर भी उसके लिए भलाई की बात करता है । एकान्त में भी उनकी निंदा नहीं करता ।
१२. जो कलह या मारपीट नहीं करता ।
१३. जो स्वभाव से कुलीन और उच्च है ।
१४. बुरा कार्य करने में जिसे लज्जा अनुभव होती है ।
१५. जो अपने आपको संयत और शान्त रख सकता है ।

गुरुजनों के प्रति आदर व कृतज्ञता

जैन शिक्षा पद्धति पर शिक्षार्थी के मानसिक गुणों के विकास में सर्वाधिक महत्व की बात है, गुरुजनों के प्रति कृतज्ञता तथा आदर भावना । दशवैकालिक सूत्र में बताया है —

जो सुकुमार राजकुमार उच्च कुलीन शिष्य गुरुजनों से लौकिक शिक्षा, शिल्प आदि सीखते हैं, गुरुजन उन्हें शिक्षाकाल में कठोर बंधन, ताडना, परिताप आदि देते हैं फिर भी शिष्य उनका सत्कार करते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं, तथा प्रसन्न करके उनके निर्देश के अनुसार वर्तन करते हैं ।^१ इस पर टिप्पण करते हुए आचार्य जिनदास गणि चूर्णि में स्पष्टीकरण करते हैं कि

१. वसे गुरुकुले निच्चे जो गवं उवहाणवं ।

पियं करे पियंवाई से सिक्कं लघु मरिहहू —(उत्तरा. ११/१४)

२. उत्तराध्ययन-११/१०-१४

गुरुजनों से शिल्प आदि सीखने पर, वस्त्र, भोजन, माला, आदि से उनका सम्मान, सत्कार करना- उनके कथनानुसार वर्तन करना-शिष्य अपना कर्तव्य समझता है। तो जिन गुरुजनों से शिष्य जीवन-निर्माण और आत्म-विकास की शिक्षा प्राप्त करता है, उनका सत्कार सम्मान करना, विनय करना और उनका आदेश पालन करना तो परम सौभाग्य का कार्य मानें। गुरुजनों की आज्ञा सदा शिरोधार्य करना ही चाहिए।

दशवैकालिक की वृत्ति से यह स्पष्ट होता है कि विद्याध्ययन सम्पन्न होने पर छात्र के माता-पिता तथा छात्र गुरुजनों, आचार्यों को भोजन, वस्त्र, अर्थदान, प्रीतिदान आदि द्वारा सम्मानित करते थे। राजा द्वारा उनके जीवन भर की आजीविका का प्रबंध भी किया जाता था।

अन्तकृद्दशा सूत्र में अणीयस कुमार का विद्याध्ययन पूर्ण होने पर नाग गाथापति कलाचार्य का सम्मान करता है—

...ते कलायरियं मधुरे हिं वयणोहिं विपुलेणं वत्थ-गंध मल्लालेकारेणं
सक्कारेति, सम्माणेति. . . विपुलं जीवियारिंह पीडदाणं दलयंति. . .
(३/१)

अणीयस कुमार के माता-पिता कलाचार्य का मधुर वचनों से सम्मान करते हैं, विपुल वस्त्र गंध माला, अलंकार (आभूषण) प्रदान कर सत्कार और सम्मान करते हैं, तथा सम्मानपूर्ण जीविका योग्य विपुल प्रीतिदान देते हैं।

इस प्रकार देखा जाता है कि प्राचीन काल में विद्यादाता गुरुजनों का समाज में सर्वाधिक सम्मान और सत्कार किया जाता था। और जीवन निर्वाह की कोई समस्या उन्हें चिन्तित नहीं करती थी।

विद्यार्थी जहां गुरुजनों के प्रति समर्पित होता था, वहां गुरुजन भी विद्यार्थी के प्रति मातृवत् वात्सल्य रखते थे। गुरु-शिष्य के सम्बन्ध पिता-पुत्र की भांति मधुर और स्वार्थ रहित-आत्मीय होते थे। दशवैकालिक में बताया है- जो शिष्य गुरुजनों को विनय, भक्ति एवं समर्पण भाव से प्रसन्न करता है, गुरुजन भी उसे उसी प्रकार योग्य मार्ग में नियोजित करते हैं, जैसे पिता अपनी प्यारी पुत्री को योग्य कुल में स्थापित करता है।^१

इस सन्दर्भ में आचार्य विनोबा भावे का यह कथन भी बड़ा सटीक है—“गुरु-शिष्य के बीच माता और पुत्र जैसा मधुर सम्बन्ध होना चाहिए। माता बालक को स्तनपान कराती है तो

१. दशवै. १/२/१४-१५, जिनदास चूणि पृ. ३१४, दसवैआलियं, पृ. ४३९

क्या वह अभिमान या एहसान अनुभव करती है कि मैं स्तनपान कराती हूँ। नहीं? इसमें दोनों को ही आनन्द का अनुभव होता है, और दोनों के बीच मधुर वात्सल्य रस बहता है। अध्ययन-अध्यापन में गुरु-शिष्य की भी यही भूमिका होनी चाहिए।”

इसी सिलसिले में कैनेथ वाउल्डींग का एक बहुत सुन्दर वाक्य है—When we love, we increase love with others, and in ourselves, as a teacher increases knowledge within this student and himself by the simple art of teaching.

“जब हम प्रेम करते हैं, तब प्रेम को बढ़ाते हैं, औरों में और अपने में, जैसे कि एक शिक्षक ज्ञान को बढ़ाता है, विद्यार्थियों में और अपने में-सिखाने की एक सादी सी क्रिया के द्वारा।”

गुरु-शिष्य का यह मातृ-भाव ही जैन सूत्र दशवैकालिक के ९वें अध्ययन में विचित्र सुन्दर उपमाओं द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। उपनिषद् में एक वाक्य आता है- तेजस्विनावधीतमस्तु-हमारा अध्ययन तेजस्वी हो। हमारा ज्ञान जीवन में प्रकाश और तेज पैदा करे। दशवैकालिक में भी कहा है- गुरुजनों का आशीर्वाद प्राप्त करने वाले शिष्य का ज्ञान, यश और तेज शीतल जल से सींचे हुए पादप की भांति बढ़ते हैं **जल सिता इव पायका**। तथा जैसे सिंचित अग्नि का तेज बढ़ता है, वैसे ही विनय से प्राप्त विद्या तेजस्वी होती है।

इसी अध्ययन में विनय और अविनय का फल बताते हुए आचार्य ने बहुत ही स्पष्ट बात कही है—

विपत्ति अविणीयस्स संपत्ति विणियस्स ।

अविनीत को सदा विपत्ति और विनीत को संपत्ति प्राप्त होती है, जिसने यह जान लिया है, वही शिष्य गुरुजनों से शिक्षा और ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

शिक्षा का उद्देश्य

जैन आगमों व अन्य व्याख्या ग्रंथों के परिशीलन से इस बात का भी पता चलता है कि विद्यार्थियों को सिर्फ अध्यात्म ज्ञान ही नहीं, किंतु सभी प्रकार का ज्ञान दिया जाता था। भगवान ऋषभदेव ने आत्मज्ञान से पूर्व अपने पुत्र-पुत्रियों को ७२ एवं ६४ प्रकार की कलाएं तथा विविध विद्या, शिल्प आदि का प्रशिक्षण दिया था। इन कलाओं की सूची से स्पष्ट होता है कि इन में वस्त्र निर्माण, वास्तु कला, कृषिकला, गायन कला, शासन कला (राजनीति), काव्यकला, नृत्यकला, युद्धकला, मल्लविद्या, यहां तक की काम कला का भी समावेश था।^२

शारीरिक, मानसिक, विकास के समग्र साधन काम में लिये जाते थे और शिक्षार्थी को समाज में सम्मानपूर्ण आजीविका तथा उच्च जीवन स्तर यापन के योग्य बनाया जाता था ।३

आज विद्यार्थी के सामने शिक्षा प्राप्त करने का सबसे पहला उद्देश्य है- डिग्री (उपाधि) प्राप्त करना तथा उसके पश्चात कोई रोजगार प्रधान शिक्षण लेना । इन सबके पीछे, आजीविका प्राप्त करने का ही मुख्य उद्देश्य रह गया है । आज की शिक्षा वास्तव में एकांगी है । विद्यार्थी के सामने भी बहुत सीमित छोटा लक्ष्य रहता है, और गुरु के सामने केवल-अपनी आजीविका (नौकरी) का ध्येय रहता है, इसलिए शिक्षा फलदायिनी नहीं होती और न ही जीवन का विकास कर पाती है । किंतु प्राचीन काल के संदर्भों से यह पता चलता है कि कला शिक्षण का उद्देश्य-आजीविकोपार्जन करना मात्र नहीं था, किंतु छात्र के व्यक्तित्व का संतुलित समग्र विकास करना उद्देश्य था । शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात व्यक्ति समाज में सम्मानपूर्ण जीवन जी सके और साथ ही समाज के बहुमुखी विकास में योगदान कर सके शिक्षा का यह प्रथम उद्देश्य था ।

इसके साथ ही शिक्षा प्राप्त करने का एक महान उद्देश्य भी है- और वह है- आत्मज्ञान प्राप्त करना । जीवन में अर्थ प्रथम आवश्यक है, परन्तु सर्वोपरि आवश्यकता नहीं । मनुष्य के मन की भूख असीम है, अनन्त है, इसे, धन, यश, सत्ता आदि की खुराक तृप्त नहीं कर सकती । मन की शान्ति के लिए केवल एक ही उपाय है, और वह है- आत्मज्ञान । आत्मविद्या । विद्यार्थी के सामने ज्ञान प्राप्ति का विशिष्ट और महान उद्देश्य यही है ।

दशवैकालिक सूत्र में श्रुत समाधि१ का वर्णन है । जिसका अर्थ है ज्ञानप्राप्ति से चित्त की समाधि और शान्ति की खोज करना । उसके लिए शिक्षार्थी अपने मन में एक पवित्र और महान लक्ष्य निश्चित करता है ।

१. अध्ययन करने से मुझे आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होगी ।

२. ज्ञान प्राप्ति से मेरे चित्त की चंचलता दूर होगी, एकाग्र चित्त बन सकूंगा ।

१. दशवै. ९/२/२१ जिनदासचूर्णि पृ. ३४१, दसवैआलियं- पृ. ४३९

२. देखें- त्रिषष्टिशलाका- १/२, आवश्यकचूर्णि तथा महापुराण पर्व- १६

३. इसी के साथ-भगवती ३१, ज्ञाता सूत्र- १/२, अन्तकृदशा सूत्र- ३/१ आदि में कला शिक्षण का विस्तृत उल्लेख मिलता है ।

१. दशवैकालिक- ९/४

२. स्थानांग सूत्र- ५/३

३. मैं स्वयं को धर्म में, सदाचार में स्थिर रख सकूंगा ।

४. मैं स्वयं धर्म में स्थिर रहकर दूसरों को भी धर्म में स्थापित कर पाऊंगा ।

इन चार उद्देश्यों पर चिन्तन कर शिक्षार्थी ज्ञानाराधना में प्रवृत्त होता है ।

स्थानांग सूत्र में कुछ भिन्न प्रकार से शिक्षा प्राप्ति के पांच विशिष्ट उद्देश्य बताये गये हैं—

१. शिक्षा प्राप्त करने से ज्ञान की प्राप्ति होगी ।

२. दर्शन (सम्यग् बोध) की प्राप्ति होगी ।

३. चारित्र (सदाचार) की प्राप्ति होगी ।

४. दूसरों के कलह, अशान्ति, द्वेष आदि का शमन कर सकूंगा । ज्ञानी बनकर समाज में शान्ति स्थापित कर सकूंगा ।

५. वस्तु (पदार्थ) का यथार्थ स्वरूप जान सकूंगा ।

उपसंहार

इस प्रकार भारतीय संस्कृति के प्राचीन ग्रंथों तथा मुख्यतः जैन ग्रंथों के अनुशीलन से प्राचीन शिक्षा प्रणाली का जो स्वरूप उपलब्ध होता है, उससे यह पता चलता है कि प्राचीन काल में शिक्षा या ज्ञान-प्राप्ति का उद्देश्य व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास करना था । शरीर एवं इन्द्रियों का विकास करना मात्र शिक्षा का उद्देश्य नहीं है, यह तो पशुओं में भी होता है, पक्षियों और कीट-पतंगों में भी होता है । मनुष्य के भीतर तो असीम शक्तियों के विकास की संभावना छिपी है, शिक्षा के द्वारा उन शक्तियों को जागृत एवं प्रकट किया जाता है । पत्थर या मिट्टी में मूर्ति बनने की योग्यता तो है ही, कुशल शिल्पकार उसे सुन्दर आकृति देकर उस क्षमता को प्रकट कर देता है । गुरु को इसीलिए कुम्भकार या शिल्पकार बताया है जो विद्यार्थी की सुप्त/निद्रित आत्मा को जागृत कर तेजस्वी और शक्ति सम्पन्न बना देता है ।

व्यक्ति समाज का एक अभिन्न घटक है । निश्चित ही अगर उसके व्यक्तित्व का, शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास होगा तो उसमें तेजस्विता आयेगी । समाज स्वयं ही प्रगति और उन्नति के पथ पर अग्रसर होगा अतः व्यक्तित्व के समग्र विकास हेतु जो मानदंड, नियम, योग्यता, पात्रता तथा पद्धतियां प्राचीन समय में स्वीकृत या प्रचलित थीं, उनके अध्ययन/अनुशीलन के आधार पर आज की शिक्षा प्रणाली पर व्यापक चिन्तन/मनन

अपेक्षित है । परिवर्तन और परिष्कार भी वांछनीय है । प्राचीन भारतीय जैन शिक्षा प्रणाली भारत की भौगोलिकता तथा मानसिकता के अनुकूल थी, अतः उन सन्दर्भों के साथ आज की शिक्षा की दशा प्रणाली पर आवश्यक चिन्तन होना अपेक्षित है ।



हर्षपुरीयगच्छ अपरनाम मलधारीगच्छ का संक्षिप्त इतिहास

□ शिव प्रसाद

निर्ग्रन्थ परम्परा के श्वेताम्बर सम्प्रदाय में पूर्वमध्यकालीन सुविहितमार्गीय गच्छों में हर्षपुरीयगच्छ अपरनाम मलधारगच्छ का विशिष्ट स्थान है। जैसा कि इसके नाम से ही विदित होता है यह गच्छ राजस्थान में हर्षपुर नामक स्थान से उद्भूत हुआ माना जाता है। प्रस्तुत गच्छ की गुर्वावली में जयसिंहसूरि का नाम इस गच्छ के आदिम आचार्य के रूप में मिलता है। उनके शिष्य अभयदेवसूरि हुए जिन्हें चौलुक्य नरेश कर्ण (वि.सं. ११२०-११५०/ईस्वी सन् १०६४-१०९४) से मलधारी बिरुद प्राप्त हुआ था। बाद में यही बिरुद इस गच्छ के एक नाम के रूप में प्रचलित हो गया। कर्ण का उत्तराधिकारी जयसिंह सिद्धराज (वि.सं. ११५०-११९९/ईस्वी सन् १०९४-११४३) भी इनका बड़ा सम्मान करता था। इन्हीं के उपदेश से शाकम्भरी के चाहमान नरेश पृथ्वीराज 'प्रथम' ने रणथम्भौर के जैन मंदिर पर स्वर्णकलश चढ़ाया था। गोपगिरि (ग्वालियर) के राजा भुवनपाल (विक्रम सम्वत् की १२वीं शती का छठा दशक) और सौराष्ट्र का राजा राखेंगार पर भी इनका प्रभाव था। अभयदेवसूरि के शिष्य, विभिन्न ग्रन्थों के रचनाकार प्रसिद्ध विद्वान आचार्य हेमचन्द्रसूरि हुए। अपनी कृतियों की अन्त्यप्रशस्ति में इन्होंने स्वयं को प्रश्नवाहनकुल, मध्यमशाखा और हर्षपुरीयगच्छ के मुनि के रूप में बतलाया है। उनके शिष्य परिवार में विजयसिंहसूरि, श्रीचन्द्रसूरि, विबुधचन्द्रसूरि, लक्ष्मणगणि और आगे चलकर मुनिचन्द्रसूरि, देवभद्रसूरि, देवप्रभसूरि, यशोभद्रसूरि, नरचन्द्रसूरि, नरेन्द्रप्रभसूरि, पद्मप्रभसूरि,

श्रीतिलकसूरि, राजशेखरसूरि, वाचनाचार्य सुधाकलश आदि कई विद्वान् आचार्य एवं मुनि हुए हैं।

इस गच्छ के इतिहास के अध्ययन के लिये साहित्यिक और अभिलेखीय दोनों प्रकार के साक्ष्य उपलब्ध हैं। साहित्यिक साक्ष्यों के अन्तर्गत इस गच्छ के मुनिजनों द्वारा बड़ी संख्या में रची गयी कृतियों की प्रशस्तियां अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त इस गच्छ की एक पट्टावली भी मिलती है, जो **सद्गुरुपद्धति** के नाम से जानी जाती है। इस गच्छ के मुनिजनों द्वारा वि.सं. ११९० से वि.सं. १६९९ तक प्रतिष्ठापित १०० से अधिक सलेख जिनप्रतिमायें मिलती हैं। साम्प्रत लेख में उक्त सभी साक्ष्यों के आधार पर इस गच्छ के इतिहास पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

अनुयोगद्वारवृत्ति :—

संस्कृत भाषा में ५९०० श्लोकों में निबद्ध यह कृति मलधारगच्छीय हेमचन्द्रसूरि की रचना है। इसकी प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरू-परम्परा का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है :

जयसिंहसूरि

अभयदेवसूरि

हेमचन्द्रसूरि (अनुयोगद्वारवृत्ति के रचनाकार)

हेमचन्द्रसूरि विरचित विशेषावश्यक भाष्यबृहद्वृत्ति के अन्त में भी यही प्रशस्ति मिलती है। उनके द्वारा रचित आवश्यक प्रदेशव्याख्यावृत्ति, आवश्यकटिप्पण, शतक विवरण, उपदेशमालावृत्ति आदि रचनायें मिलती हैं, जिनके बारे में आगे यथास्थान विवरण दिया गया है।

धर्मोपदेशमालावृत्ति :—

मलधारगच्छीय हेमचन्द्रसूरि के शिष्य विजयसिंह सूरि ने वि.सं. ११९१, ई. सन् ११३५ में उक्त कृति की रचना की। इसकी प्रशस्ति^२ में वृत्तिकार ने अपनी गुरू-परम्परा का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है :—

जयसिंहसूरि

अभयदेवसूरि

हेमचन्द्रसूरि

विजयसिंहसूरि (वि.सं. ११९१/ई. सन् ११३५ में
धर्मोपदेशमालावृत्ति के रचनाकार)

मुनिसुव्रतचरित :-

यह प्राकृत भाषा में इस तीर्थंकर के जीवन पर लिखी गयी एक मात्र कृति है, जो मलधारगच्छीय प्रसिद्ध आचार्य श्रीचन्द्रसूरि द्वारा वि.सं. ११९३/ई. सन् ११३७ में रची गयी है। इसकी प्रथमादर्श प्रति आचार्य के गुरु-भ्राता विबुधचन्द्रसूरि द्वारा लिखी गयी। ग्रन्थ की प्रशस्ति में ग्रन्थाकार ने अपनी गुरु-परम्परा के साथ अपने गुरु-भ्राता के इस सहयोग का भी उल्लेख किया है :-

जयसिंहसूरि

अभयदेवसूरि

हेमचन्द्रसूरि

श्रीचन्द्रसूरि (वि.सं. ११९३/ई. सन् ११३७ में
मुनिसुव्रतचरित के रचनाकार)

विबुधचन्द्रसूरि
(मुनिसुव्रतचरित की प्रथमादर्शप्रति के
लेखक)

सुपासनाहचरिय :-

प्राकृत भाषा में ८००० गाथाओं में निबद्ध यह कृति वि.सं. ११९९/ई. सन् ११४३ में

मलधारगच्छीय लक्ष्मणगणि द्वारा रची गयी है। इसकी प्रशस्ति४ में ग्रन्थकार ने अपनी गुरु-परम्परा का इस प्रकार उल्लेख किया है :—

जयसिंहसूरि

अभयदेव सूरि

हेमचन्द्र सूरि

लक्ष्मणगणि (वि.सं. ११९९/ई. सन् ११४३ में सुपासनाहचरिय के रचनाकार)

संग्रहणीवृत्ति :—

यह मलधारगच्छीय श्रीचन्द्रसूरि के शिष्य देवभद्रसूरि की कृति है। इसकी प्रशस्ति५ के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है :—

अभयदेवसूरि

हेमचन्द्रसूरि

श्रीचन्द्रसूरि

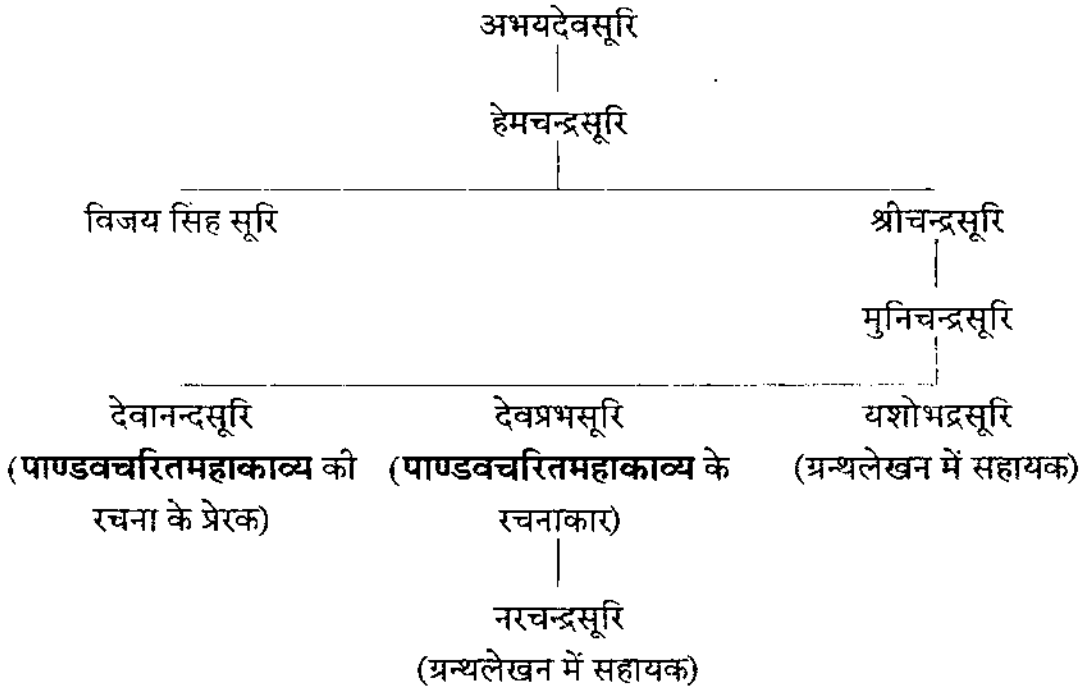
देवभद्रसूरि (संग्रहणीवृत्ति के रचनाकार)

यह कृति वि.सं. की १३वीं शती के प्रथम अथवा द्वितीय दशक की रचना मानी जा सकती है।

पाण्डवचरितमहाकाव्य :—

यह लोकप्रसिद्ध पाण्डवों के जीवनचरित पर जैन परम्परा पर आधारित ८ हजार श्लोकों की रचना है। इसके रचनाकार मलधारगच्छीय देवप्रभसूरि हैं। ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार ने अपने ज्येष्ठ गुरु-भ्राता देवानन्दसूरि के अनुरोध पर यह रचना की। इस कार्य में उन्हें अपने एक अन्य गुरुभ्राता यशोभद्रसूरि और शिष्य नरचन्द्रसूरि से भी सहायता प्राप्त हुई।

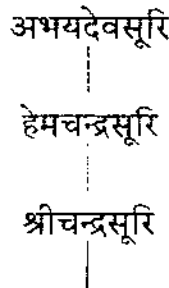
प्रशस्ति में उल्लिखित ग्रन्थकार की गुरू-परम्परा इस प्रकार है :—

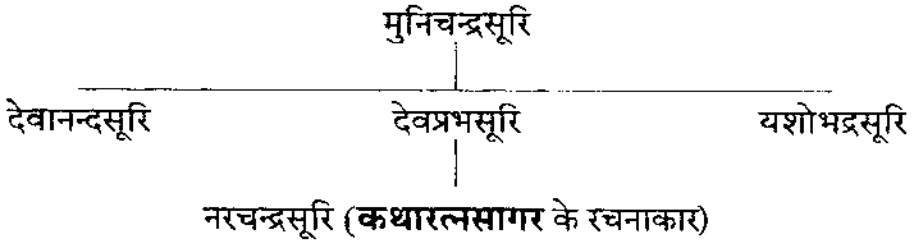


ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की प्रशस्ति के अन्तर्गत रचनाकाल का उल्लेख नहीं किया है किन्तु श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई ने उपलब्ध अन्य साक्ष्यों के आधार पर इसे वि.सं. १२७०/ई. सन् १२१४ के आस-पास रचित बतलाया है जो उचित प्रतीत होता है ।

कथारत्नसागर :—

यह देवप्रभसूरि के शिष्य प्रसिद्ध ग्रन्थकार नरचन्द्रसूरि की रचना है । इसकी प्रशस्ति७ में ग्रन्थकार ने अपनी गुरू-परम्परा इस प्रकार दी है :—

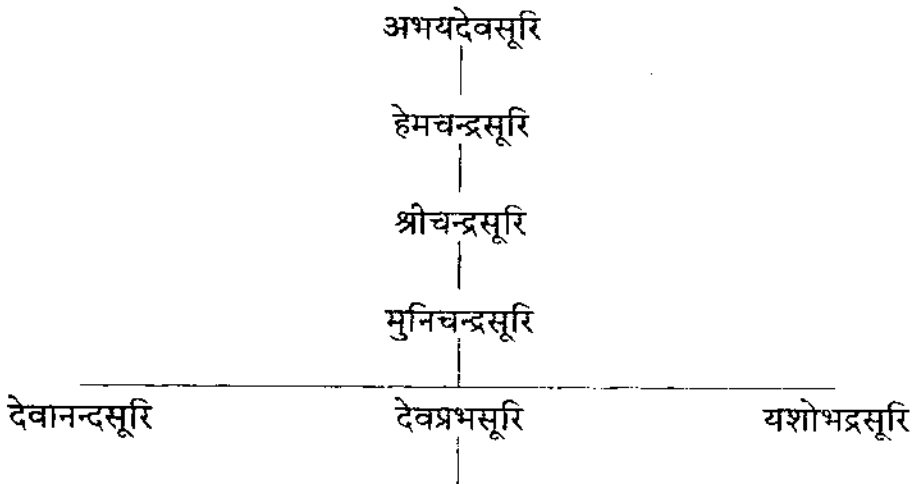




इसका एक नाम **कथारत्नाकर** भी मिलता है। जैन धर्म सम्बन्धी कथानक सुनने की वस्तुपाल की उत्कंठा को शांत करने के लिए नरचन्द्रसूरि ने इसकी रचना की। इस कृति की वि.सं. १३१९/ई. सन् १२५३ की लिखी गयी एक ताड़पत्र की प्रति पाटन स्थित संघवीपाडा ग्रन्थभण्डार में संरक्षित है। नरचन्द्रसूरि महामात्य वस्तुपाल के मातृपक्ष के गुरु थे। उनके द्वारा रचित **प्राकृतदीपिकाप्रबोध, अनर्घराघवटिप्पण, ज्योतिषसार** आदि कई अन्य कृतियां भी मिलती हैं। वस्तुपाल के गिरनार के दो लेखों के पद्यांश भी नरचन्द्रसूरि द्वारा रचित हैं और **वस्तुपालप्रशस्ति** भी इन्हीं की कृति है।

अलंकारमहोदधि :—

महामात्य वस्तुपाल के अनुरोध एवं मलधारगच्छीय आचार्य नरचन्द्रसूरि के आदेश से उनके शिष्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने वि.सं. १२८० में **अलंकारमहोदधि** तथा वि.सं. १२८२/ई. १२२६ में इस पर **वृत्ति** की रचना की। इसकी प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है :—



नरचन्द्रसूरि

|

नरेन्द्रप्रभसूरि (वि.सं. १२८२/ई. सन् १२२६ में अलंकारमहोदधिवृत्ति के रचनाकार)

न्यायकंदलीपंजिका :—

यह मलधारगच्छीय प्रसिद्ध आचार्य राजशेखरसूरि द्वारा वि.सं. १३८५/ई. सन् १३२९ में रची गयी है। इसकी प्रशस्ति९ में उन्होंने अपनी लम्बी गुरू-परम्परा दी है, जो इस प्रकार है :

अभयदेवसूरि

|

हेमचन्द्रसूरि

|

श्रीचन्द्रसूरि

|

मुनिचन्द्रसूरि

|

देवप्रभसूरि

|

नरचन्द्रसूरि

|

पद्मदेवसूरि

|

श्रीतिलकसूरि

|

राजशेखरसूरि (वि.सं. १३८५/ ई. सन् १३२९ में न्यायकंदलीपंजिका के रचनाकार)

संगीतोपनिषत्सारोद्धार :—

यह मलधारगच्छीय वाचनाचार्यसुधाकलश द्वारा वि.सं. १४०६/ई. सन् १३५० में रची गयी ६१० श्लोकों की रचना है। यह ६ अध्यायों में विभक्त है। इसकी प्रशस्ति में ग्रन्थकार ने अपनी लम्बी गुरू-परम्परा का परिचय न देते हुए अपने पूर्वज अभयदेवसूरि तथा उनकी परम्परा में हुए श्रीतिलकसूरि एवं उनके शिष्य राजशेखरसूरि का अपने गुरू के रूप में उल्लेख किया है

मलधारी अभयदेवसूरि

श्रीतिलकसूरि

राजशेखरसूरि

सुधाकलश (वि.सं. १४०६/ई. सन् १३५० में संगीतोपनिषत् सारोद्धार के रचयिता)

उक्त साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर हर्षपुरीयगच्छ अपरनाम मलधारगच्छ के मुनिजनों की गरू-परम्परा की एक तालिका इस प्रकार निर्मित होती है :—

द्रष्टव्य-तालिका क्रमांक - १

जयसिंहसूरि

अभयदेवसूरि

हेमचन्द्रसूरि

विजय सिंह सूरि (वि.सं. ११९१/ई. सन् ११३५ में धर्मोपदेशमालावृत्ति के रचनाकार)	श्रीचन्द्रसूरि (वि.सं. ११९३/ई. सन् ११३७ में मुनिसुव्रतस्वामि- चरित के रचनाकार)	विबुधचन्द्रसूरि मुनिसुव्रतस्वामिचरित के लेखन में सहायक)	लक्ष्मणगणि (वि.सं. ११९९/ई. सन् ११४३ में सुपासनाहचरिय के रचनाकार)
--	---	---	---

मुनिचन्द्रसूरि

देवभद्रसूरि
(संग्रहणीवृत्ति के
रचनाकार)

देवानन्दसूरि (पाण्डवचरित-
महाकाव्य की रचना के प्रेरक)

यशोभद्रसूरि
(पाण्डव-
चरितमहाकाव्य की
रचना में सहायक)

देवप्रभसूरि
(पाण्डवचरितमहाकाव्य के
रचनाकार)

नरचन्द्रसूरि (कथारत्नाकर के
रचनाकार)

नरेन्द्रप्रभसूरि (वि.सं. १२८२/ई. सं. १२२६ में
अलंकारमहोदधि के रचनाकार)

पद्मदेवसूरि

श्रीतिलकसूरि

राजशेखरसूरि (वि.सं. १३८५/ई.सन् १३२९ में
न्यायकंदलीपंजिका के रचनाकार)

सुधाकलश (वि.सं. १४०६/ई.सन्
१३५० में
संगीतोपनिषत्सारोद्धार के
रचनाकार)

मलधारगच्छीय मुनिजनों द्वारा प्रतिष्ठापित १०० से अधिक सलेख जिन प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं, जो वि.सं. ११९०/ई. सन् ११३४ से वि.सं. १६९९/ई. सन् १६४३ तक की हैं। इनमें से वि.सं. ११९० से वि.सं. १४१५ तक के प्रतिमालेखों का विवरण इस प्रकार है :—

क्र.सं.	तिथि/ मिति	प्रतिष्ठापक आचार्य का नाम	प्रतिमालेख/ स्तम्भलेख	प्राप्तिस्थान	संदर्भ ग्रन्थ
१-	११९०	—	जिन प्रतिमा पर उत्कीर्ण खंडित लेख	—	एम.ए. ढांकी और लक्ष्मण भोजक शत्रुंजय गिरिना केटलाक अप्रकट प्रतिमा लेख 'सम्बोधि' वर्ष ७, अंक १-४ पृष्ठ १३-२५, लेखांक ५
२-	१२३४- वादि २	पूर्णचन्द्रसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख	चीराखाना स्थित जैन मंदिर, दिल्ली	जै.ले.सं. भाग २, लेखांक १८७५
३-	१२५९ वैशाख सुदि ३ बुधवार	देवाणंदसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख	धर्मनाथ का पंचायती मंदिर, बड़ा बाजार, कलकत्ता	वही, भाग १, लेखांक ८९
४-	१२८८ फाल्गुन सुदि १० बुधवार	नरचन्द्रसूरि	स्तम्भलेख	वस्तुपाल द्वारा निर्मित आदिनाथ जिनालय, गिरनार	प्रा. जै. ले. सं., भाग २, लेखांक ३९
५-	१२८८ "	नरचन्द्रसूरि	स्तम्भलेख	"	वही, लेखांक ४०
६-	१२८८ "	नरेन्द्रप्रभसूरि	स्तम्भलेख	गिरनार	वही, लेखांक ४१
७-	१२९८ फाल्गुन वदि १४ रविवार	नरचन्द्रसूरि के शिष्य माणिक्य चन्द्रसूरि	पाषाणखंड पर उत्कीर्ण लेख	—	जे.ए.एस.ओ.बी. जिल्द ३०, खंड १, १९५५ ई. पृष्ठ १००-११४

८-	१३२१ फाल्गुन सुदि १२	प्रभाणंदसूरि	नेमिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख	गढ़ मण्डप लूणवसही, आबू	अ.प्रा.जै.ले.सं. लेखांक २५३
९-	१३३७ वैशाख सुदि ३ शनिवार	प्रभाणंदसूरि	महावीर की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख	चन्द्रप्रभ जिनालय, जैसलमेर	जै.ले.सं. भाग-३, लेखांक २२३१
१०-	१३४४ ज्येष्ठ वदि ४ शुक्रवार	रत्नदेवसूरि	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	महावीर जिनालय, डीसा	वही, भाग-२, लेखांक २०९९
११-	१३५२ वैशाख वदि ५ सोमवार	पद्मेवसूरि के शिष्य श्री तिलकसूरि	शीतलनाथ की प्रतिमा का लेख	मनमोहन पार्श्वनाथ जिनालय, मीयागाम	जै.धा.प्र.ले.सं. भाग २, लेखांक २७९
१२-	१३७१ माघ सुदि १४ सोमवार	श्रीतिलकसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	मुनिसुव्रत जिनालय, खारवाडो, खंभात	वही भाग २, लेखांक ५१९
१३-	१३७५ माघ सुदि ९	श्री तिलकसूरी	शीतलनाथ की प्रतिमा का लेख	मुनिसुव्रत जिनालय, खारवाडो, खंभात	वही भाग २, लेखांक १०२८
१४-	१३७८ मिति- विहीन	"	मुनिसुव्रत की प्रतिमा का लेख	विमलवसही, आबू	प्रा.जै.ले.सं. भाग २, लेखांक १४४
१५-	१३७८ मिति- विहीन	"	महावीर की प्रतिमा का लेख	विमलवसही, आबू	वही, लेखांक १४५
१६	१३७८ मिति- विहीन	"	अस्पष्ट	प्रेमचन्द्रमोदी की टोंक, शत्रुंजय	जै.ले.सं. भाग १, लेखांक ६८४

१७	१३८० वैशाख वदि ५ गुरुवार	"	पार्श्वनाथ की धातु प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय राधनपुर	रा.प्र.ले.सं., लेखांक ४९
१८	१३८० माघ सुदि ६ सोमवार	"	चन्द्रप्रभ की प्रतिमा का लेख	महावीर जिनालय, बीकानेर	बी.जै.ले.सं. लेखांक १२१४

पद्मदेवसूरि के प्रशिष्य और श्रीतिलकसूरि के शिष्य राजशेखरसूरि द्वारा प्रतिष्ठापित ५ सलेख जिन प्रतिमायें मिलती हैं। इनका विवरण इस प्रकार है :—

वि.सं. १३८६ माघ वदि २	बी. जै. ले. सं., लेखांक ३१३
वि.सं. १३९३ पौष वदि २	प्रा. ले. सं., लेखांक ६२
वि.सं. १३९३ फाल्गुन सुदि २	बी. जै. ले. सं., लेखांक ३५८
वि.सं. १४०९ फाल्गुन वदि २	वही, लेखांक १४४२
वि.सं. १४१५ ज्येष्ठ वदि १३	वही, लेखांक ४४५

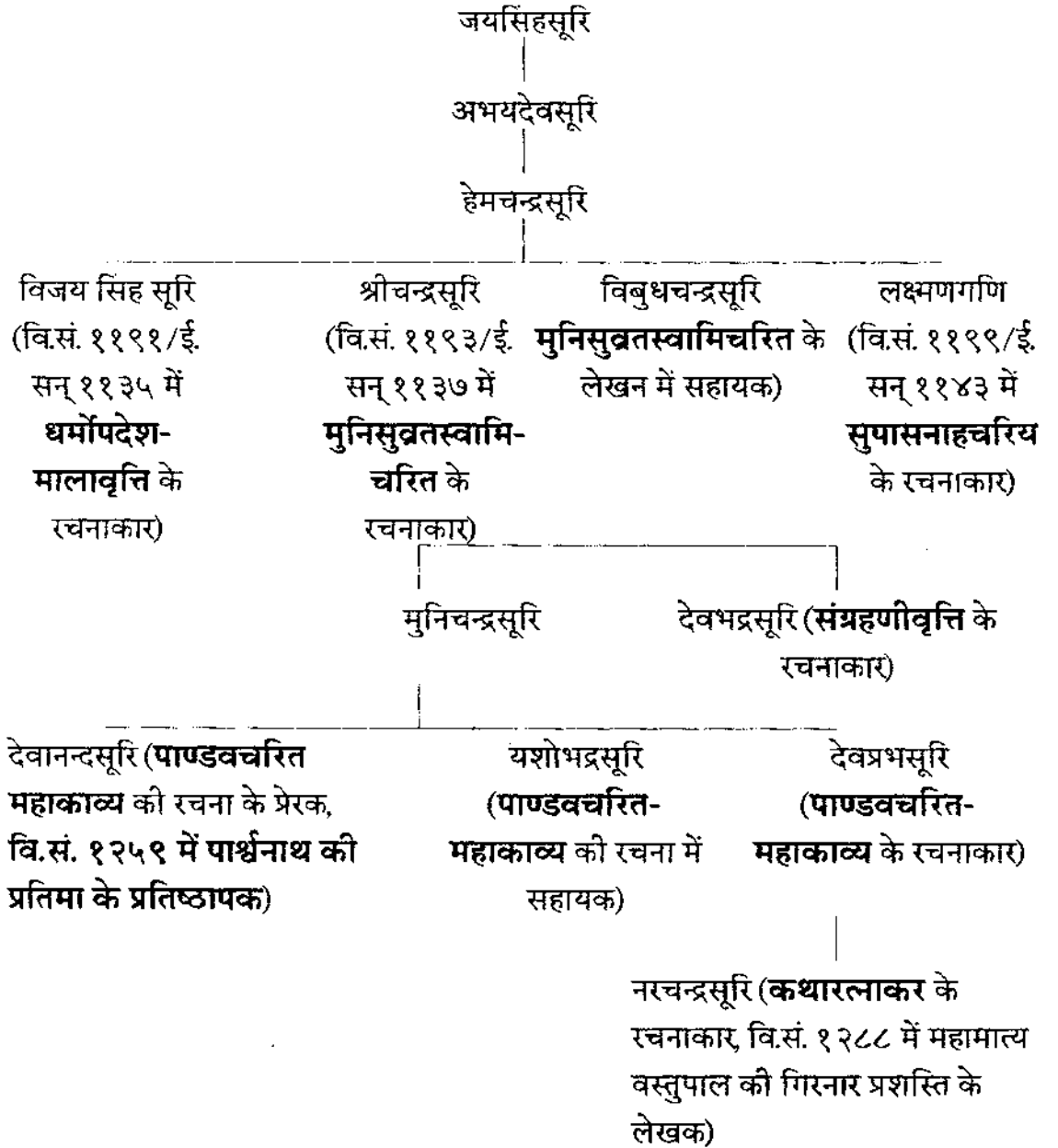
मलधारगच्छीय प्रतिमालेखों की सूची में वि.सं. १२५९ के प्रतिमालेख में प्रतिमा प्रतिष्ठापक मलधारी देवानन्दसूरि का नाम आ चुका है। जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है मलधारी देवप्रभसूरि कृत पाण्डवचरित की प्रशस्ति^१ में भी ग्रन्थकार के ज्येष्ठ गुरुध्राता और ग्रन्थ की रचना के प्रेरक के रूप में देवानन्दसूरि का नाम मिलता है। पाण्डवचरित का रचनाकाल वि.सं. १२७०/ई. सन् १२१४ माना जाता है।^१ अतः समसामयिकता के आधार पर उक्त प्रशस्ति में उल्लिखित देवानन्दसूरि और वि.सं. १२५९/ई. सन् १२०३ में पार्श्वनाथ की प्रतिमा के प्रतिष्ठापक देवानन्दसूरि एक ही व्यक्ति माने जा सकते हैं।

महामात्य वस्तुपाल द्वारा निर्मित गिरनार स्थित आदिनाथ जिनालय के वि.सं. १२८८/ई. सन् १२३२ के दो अभिलेखों के रचनाकार नरचन्द्रसूरि और यहीं स्थित इसी तिथि के एक अन्य अभिलेख के रचनाकार नरेन्द्रप्रभसूरि महामात्य वस्तुपाल के मातृपक्ष के गुरु नरचन्द्रसूरि १३ और उनके शिष्य नरेन्द्रप्रभसूरि से अभिन्न हैं। यही बात वि.सं. १२९८/ई. सन् १२४२ के लेख में उल्लिखित माणिक्यचन्द्रसूरि के गुरु नरचन्द्रसूरि के बारे में भी कही जा सकती है।

इसी प्रकार वि.सं. १३५२/ईस्वी सन् १२९६ से वि.सं. १३८०/ई. सन् १३३४ तक के प्रतिमालेखों में उल्लिखित पद्मतिलकसूरि के शिष्य श्रीतिलकसूरि एवं वि.सं. १३८६/ई. सन् १३३० से वि.सं. १४१५/ई. सन् १३५९ तक के प्रतिमालेखों में उल्लिखित उनके शिष्य राजशेखरसूरि समसामयिकता के आधार पर मलधारगच्छीय प्रसिद्ध आचार्य राजशेखरसूरि और उनके गुरु श्रीतिलकसूरि से अभिन्न माने जा सकते हैं।

उक्त अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर मलधारगच्छीय मुनिजनों की गुरू-परम्परा की पूर्वोक्त तालिका को जो वृद्धि गत स्वरूप प्राप्त होता है, वह इस प्रकार है :—

द्रष्टव्य- तालिका क्रमांक - २



नरेन्द्रप्रभसूरि
(वि.सं. १२८२/ई.
सन् १२२६ में
अलंकारमहोदधि
के रचनाकार)

माणिक्यचन्द्रसूरि
(वि.सं. १२९८/ई. सं.
१२४२ के शत्रुंजय के
प्रशस्ति लेख में उल्लिखित)

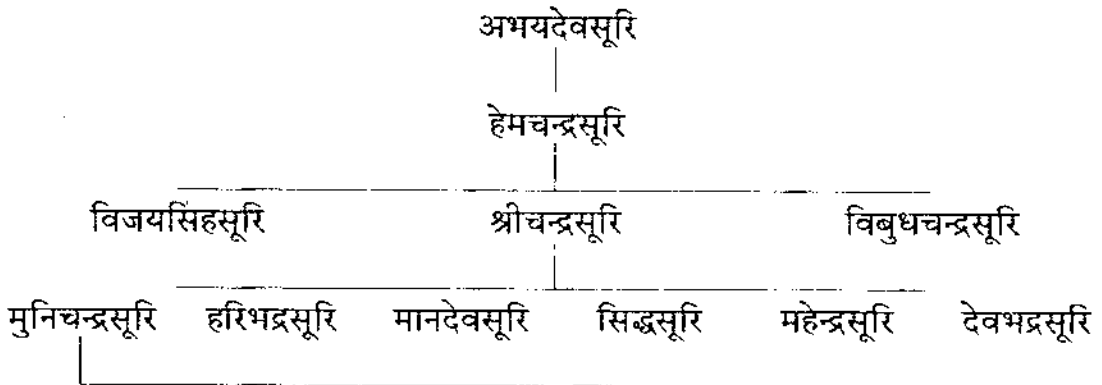
पद्मदेवसूरि

श्रीतिलकसूरि (वि.सं. १३५२-८०
प्रतिमालेख)

राजशेखरसूरि (वि.सं. १३८६-१३१४
प्रतिमालेख अनेक ग्रन्थों के
रचनाकार)

सुधाकलश (वि.सं. १४०६/ई.सन्
१३५० में संगीतोपनिषत्सारोद्धार
के रचयिता)

जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है इस गच्छ की **सद्गुरूपद्धति** १४ नामक एक गुर्वावली भी मिलती है। प्राकृत भाषा में २६ गाथाओं में रची गयी यह कृति वि.सं. की १४वीं शती की रचना मानी जा सकती है। इसमें अभयदेवसूरि से लेकर पद्मदेवसूरि तक के मुनिजनों की गुरू-परम्परा इस प्रकार दी गयी है :—



देवानन्दसूरि नेमिचन्द्रसूरि यशोभद्रसूरि देवप्रभसूरि

नरचन्द्रसूरि

माणिक्यचन्द्रसूरि नरेन्द्रप्रभसूरि रत्नप्रभसूरि प्रभानन्दसूरि पद्मदेवसूरि

ग्रन्थप्रशस्तियों से जहां श्रीचन्द्रसूरि के केवल दो शिष्यों- मुनिचन्द्रसूरि और देवभद्रसूरि के बारे में ही जानकारी प्राप्त हो पाती है, वहीं इस गुर्वावली से ज्ञात होता है कि उनके अतिरिक्त श्रीचन्द्रसूरि के हरिभद्रसूरि, सिद्धसूरि, मानदेवसूरि आदि शिष्य भी थे। यही बात मुनिचन्द्रसूरि के शिष्य नेमिचन्द्रसूरि के बारे में भी कही जा सकती है। इसी प्रकार इस गुर्वावली में उल्लिखित नरचन्द्रसूरि के सभी शिष्यों के नाम साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों से ज्ञात हो जाते हैं। वस्तुतः इस गच्छ के इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से यह गुर्वावली अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

मलधारगच्छ से सम्बद्ध १५वीं-१६वीं शती की जिन प्रतिमाओं की संख्या पूर्व की शताब्दियों की अपेक्षा अधिक है। इन पर उत्कीर्ण लेखों से इस गच्छ के विभिन्न मुनिजनों के नाम ज्ञात होते हैं, तथापि उनमें से कुछ के पूर्वापर सम्बन्ध ही निश्चित हो पाते हैं। इनका विवरण इस प्रकार है:—

१. मतिसागरसूरि

(वि.सं. १४५८-१४७९) ३ प्रतिमालेख

२. मतिसागरसूरि के पट्टधर विद्यासागरसूरि

(वि.सं. १४७६-१४८८) ७ प्रतिमालेख

३. विद्यासागरसूरि के पट्टधर गुणसुन्दरसूरि

(वि.सं. १४९७-१५२९) ४३ प्रतिमालेख

४. गुणसुन्दरसूरि के पट्टधर गुणनिधानसूरि

(वि.सं. १५२९-१५३६) ८ प्रतिमालेख

५. गुणनिधानसूरि के पट्टधर गुणसागरसूरि

(वि.सं. १५४३-१५४६) २ प्रतिमालेख

६. गुणसागरसूरि के शिष्य ? लक्ष्मीसागरसूरि

(वि.सं. १५४९-१५७२) ६ प्रतिमालेख

मलधारगच्छीय गुणसुन्दरसूरि के शिष्य सर्वसुन्दरसूरि ने वि.सं. १५१०/ईस्वी सन् १४५४ में हंसराजवत्सराज चौपाई^{१५} की रचना की। यह मलधारगच्छ से सम्बद्ध वि. सम्बत् की १६वीं शती का एक मात्र साहित्यिक साक्ष्य माना जा सकता है।

जैसा कि अभिलेखीय साक्ष्यों के अन्तर्गत हम देख चुके हैं वि.सं. १४९७ से वि.सं. १५२९ तक के ४३ प्रतिमालेखों में प्रतिमाप्रतिष्ठापक के रूप में गुणसुन्दरसूरि का नाम मिलता है। हंसराजवत्सराजचौपाई के रचनाकार सर्वसुन्दरसूरि ने भी अपने गुरु का यही नाम दिया है, अतः समसामयिकता के आधार पर दोनों साक्ष्यों में उल्लिखित गुणसुन्दरसूरि एक ही व्यक्ति माने जा सकते हैं।

वि.सं. की १५वीं शती के उत्तरार्ध और १६वीं शती तक के मलधारगच्छ से सम्बद्ध साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर गुरु-शिष्य परम्परा की जो तालिका निर्मित होती है, वह इस प्रकार है:—

मतिसागरसूरि (वि.सं. १४५८-१४७९) प्रतिमालेख

विद्यासागरसूरि (वि.सं. १४७६-१४८८) प्रतिमालेख

गुणसुन्दरसूरि (वि.सं. १४९७-१५२९) प्रतिमालेख

सर्वसुन्दरसूरि (वि.सं. १५१० में
हंसराजवत्सराजचौपाई अपरनाम कथा
संग्रह के रचनाकार)

गुणनिधानसूरि
(वि.सं. १५२९-१५३६) प्रतिमालेख

गुणसागरसूरि (वि.सं. १५४३-१५४६)
प्रतिमालेख

लक्ष्मीसागरसूरि
(वि.सं. १५४९-१५७२) प्रतिमालेख

वि.सं. की १६वीं शती के अंतिम चरण से मलधारगच्छ से सम्बद्ध साक्ष्यों की विरलता इस गच्छ के अनुयायियों की घटती हुई संख्या का परिचायक है। वि.सं. की १७वीं शती के इस गच्छ से सम्बद्ध मात्र दो साक्ष्य मिलते हैं। इनमें प्रथम है **सिन्दूरप्रकरवृत्ति**^{१६} जो मलधारगच्छीय गुणनिधानसूरि के शिष्य गुणकीर्तिसूरि द्वारा वि.सं. १६६७/ईस्वी सन् १६११ में रची गयी है। इसी प्रकार वि.सं. १६९९ के प्रतिमालेख^{१७} में इस गच्छ के महिमाराजसूरि के शिष्य कल्याणराजसूरि का प्रतिमाप्रतिष्ठापक के रूप में उल्लेख मिलता है। यह मलधारगच्छ का उल्लेख करने वाला अंतिम उपलब्ध साक्ष्य है। यद्यपि इनसे वि.सं. की १७वीं शती के अन्त तक मलधारगच्छ का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध होता है। तथापि वह अपने पूर्व गौरवमय स्थिति से च्युत हो चुका था और वि.सं. की १८वीं शती से इस गच्छ के अनुयायी ज्ञातियों को हम तपागच्छ से सम्बद्ध पाते हैं।^{१८}

इस गच्छ के प्रमुख आचार्यों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

अभयदेवसूरि :

श्वेताम्बर परम्परा में अभयदेवसूरि नामक कई आचार्य हो चुके हैं। विवेच्य अभयदेवसूरि प्रश्नवाहनकुल व मध्यमाशाखा से सम्बद्ध हर्षपुरीयगच्छ के आचार्य जयसिंहसूरि के शिष्य थे। प्रस्तुत लेख के प्रारम्भ में इस गच्छ के मुनिजनों द्वारा रचित जिन ग्रन्थों की प्रशस्तियों का विवरण दिया जा चुका है, उन सभी में इनके मुनिजीवन के बारे में महत्वपूर्ण विवरण संकलित है।^{१९} चौलुक्य नरेश कर्ण (वि.सं. ११२०-११५०) ने इनकी निस्पृहता और त्याग से प्रभावित होकर इन्हें “मलधारि” विरुद्ध प्रदान किया। कर्ण का उत्तराधिकारी जयसिंहसिद्धराज (वि.सं. ११५०-११९९) भी इनका बड़ा सम्मान करता था। इनके उपदेश से उसने अपने राज्य में पर्युषण और अन्य विशेष अवसरों पर पशुबलि निषिद्ध कर दी थी। गोपगिरि के राजा भुवनपाल (वि.सं. की १२वीं शती का छठा दशक) और सौराष्ट्र के राजा राखेंगार पर भी इनका प्रभाव था। अपनी आयुष को क्षीण जानकर इन्होंने ४५ दिन तक अनशन किया और अणहिलपुरपत्तन में स्वर्गवासी हुए। इनकी शवयात्रा प्रातः काल प्रारम्भ हुई और तीसरे प्रहर दाहस्थल तक पहुंची। जयसिंह सिद्धराज ने अपने परिजनों के साथ राजप्रासाद की छत पर से इनकी अंतिम यात्रा का अवलोकन किया। इनके पट्टधर हेमचन्द्रसूरि हुये।

हेमचन्द्रसूरि :—

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है आप हर्षपुरीयगच्छालंकार अभयदेवसूरि के शिष्य और

पट्टधर थे। श्रीचन्द्रसूरि विरचित मुनिसुव्रतचरित^{२०} (रचनाकाल वि.सं. ११९३/ई. सन् ११३७) एवं राजशेखरसूरि कृत प्राकृतदयाश्रयवृत्ति^{२१} की प्रशस्तियों से इनके सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। विशेषावश्यकभाष्यबृहद् वृत्ति (रचनाकाल वि.सं. ११७०/ई. सन् १११४) की प्रशस्ति में इन्होंने स्वरचित ९ ग्रन्थों का उल्लेख किया है,^{२२} जो इस प्रकार हैं :—

- | | |
|----------------------|-------------------|
| १. आवश्यकटिप्पण | २. शतकविवरण |
| ३. अनुयोगद्वारवृत्ति | ४. उपदेशमालासूत्र |
| ५. उपदेशमालावृत्ति | ६. जीवसमासविवरण |
| ७. भवभावनासूत्र | ८. भवभावना विवरण |
| ९. नन्दिटिप्पण | |

आवश्यक टिप्पण :—

४६०० श्लोकों की यह कृति आचार्य हरिभद्रसूरि विरचित आवश्यकवृत्ति पर लिखी गयी है। इसे आवश्यकवृत्तिप्रदेशव्याख्या के नाम से भी जाना जाता है। इस पर हेमचन्द्रसूरि के ही एक शिष्य एवं पट्टधर श्रीचन्द्रसूरि ने एक और टिप्पण लिखा है जो प्रदेशव्याख्याटिप्पण के नाम से प्रसिद्ध है।

शतक विवरण :—

शिवशर्मसूरि विरचित प्राचीन पंचम कर्मग्रन्थ शतक पर मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने संस्कृत भाषा में ३७४० श्लोक प्रमाण वृत्ति अथवा विवरण की रचना की। जैसलमेर के ग्रन्थ भंडार में १३वीं-१४वीं शती की इसकी कई प्रतियां संरक्षित हैं।

अनुयोगद्वारवृत्ति :—

यह अनुयोगद्वार के मूलपाठ पर ५९०० श्लोकों में रची गयी है। इसमें सूत्रों के पदों का सरल व संक्षिप्त अर्थ दिया गया है। कलकत्ता, बम्बई एवं पाटन से इसके चार संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।^{२३}

उपदेशमालासूत्र :—

सुभाषित और सूक्ति के रूप में रचित जैन मनीषियों की अनेक कृतियां मिलती हैं। यह कृति भी उसी कोटि में मानी गयी है। इसमें सदाचार और लोकव्यवहार का उपदेश देने के लिए स्वतंत्ररूप से अनेक सुभाषित पदों का निर्माण किया गया है, जिसमें जैन धर्मसम्मत आचारों और

विचारों के उपदेश प्रस्तुत किये गये हैं। रचनाकार ने अपनी इस कृति पर वि.सं. ११७५/ई. सन् १११९ में वृत्ति की भी रचना की है। पाटण के जैन ग्रन्थ भंडारों में इसकी कई प्रतियां संरक्षित हैं। जैन श्रेयस्कर मंडल, मेहसाणा से ई. सन् १९११ में यह प्रकाशित भी हो चुकी है।

जीवसमासविवरण :—

आचार्य हेमचन्द्रसूरि द्वारा रचित यह कृति ६६२७ श्लोकों में निबद्ध है। इसकी स्वयं ग्रन्थकार द्वारा लिखी गयी एक ताड़पत्रीय प्रति खंभात के शांतिनाथ जैन भंडार में संरक्षित है। इस प्रति से ज्ञात होता है कि यह चौलुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज के शासनकाल में वि.सं. ११६४/ई. सन् ११०८ में पाटण में लिखी गयी।

भवभावनासूत्र :—

जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट होता है इसमें भवभावना अर्थात् संसारभावना का वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत ५३१ गाथायें हैं। इसमें भवभावना के साथ-साथ अन्य ११ भावनाओं का भी प्रसंगवश निरूपण किया गया है।

ग्रन्थकार ने अपनी इस कृति पर वि.सं. ११७०/ई. सन् १११४ में वृत्ति की रचना की। यह १२९५० श्लोकों में निबद्ध है। इस वृत्ति के अधिकांश भाग में नेमिनाथ एवं भुवनभानु के चरित्र आते हैं। यह कृति स्वोपज्ञ टीका के साथ ऋषभदेव जी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम द्वारा दो भागों में प्रकाशित हो चुकी है।

नंदीटिप्पण :—

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है ग्रन्थकार ने विशेषावश्यकभाष्यबृहद्वृत्ति की प्रशस्ति में स्वरचित ग्रन्थों में इसका भी उल्लेख किया है। परन्तु इसकी कोई प्रति अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है।

विशेषावश्यकभाष्यबृहद्वृत्ति :—

यह हेमचन्द्रसूरि की बृहत्तम कृति है, इसके अन्तर्गत २८००० श्लोक हैं। इसमें विशेषावश्यकभाष्य के विषयों का सरल एवं सुबोध रूप से प्रतिपादन किया गया है। इस टीका के कारण विशेषावश्यकभाष्य के पठन-पाठन में अत्यधिक वृद्ध हुई। इसका अंत म दी गयी प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि यह वि.सं. ११७५/ई. सन् १११९ में पूर्ण की गयी।

विजयसिंह सूरि :—

आप हेमचन्द्रसूरि के शिष्य थे। श्रीचन्द्रसूरि कृत मुनिसुव्रतस्वामीचरित (रचनाकाल वि.सं. ११९३/ई. सन् ११३७), लक्ष्मणगणिविरचित सुपासनाहचरित (रचनाकाल वि.सं. ११९९/ई. सन् ११४३), नरचन्द्रसूरि द्वारा रचित कथारत्नसागर एवं देवप्रभसूरिकृत पाण्डवचरितमहाकाव्य की प्रशस्तियों में इनका सादर उल्लेख है।^{२४} कृष्णार्षिगच्छीय जयसिंह सूरिविरचित धर्मोपदेशमाला (रचनाकाल वि.सं. ९१५/ई. सन् ८५९) पर इन्होंने वि.सं. ११९१/ई. सन् ११३५ में १४४७१ श्लोक परिमाण संस्कृत भाषा में विवरण की रचना की। इसके अन्तर्गत कथाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है।

श्रीचन्द्रसूरि :—

आप विजयसिंहसूरि के लघु गुरुभ्राता और मलधारी हेमचन्द्रसूरि के पट्टधर थे। इन्होंने वि.सं. ११९३/ई. सन् ११३७ में प्राकृत भाषा में मुनिसुव्रतस्वामिचरित की रचना की। यह प्राकृत भाषा में उक्त तीर्थंकर पर लिखी गयी एक मात्र कृति है। इसकी प्रशस्ति के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने अपनी गुरु-परम्परा का अत्यन्त विस्तार के साथ परिचय दिया है। इनकी दूसरी महत्वपूर्ण कृति है संग्रहणीरत्नसूत्र^{२५}, जिस पर इनके शिष्य देवभद्रसूरि ने साढ़े तीन हजार श्लोक प्रमाण वृत्ति की रचना की। वि.सं. १२२२/ई. सन् ११६६ में इन्होंने अपने गुरु की कृति आवश्यकप्रदेशव्याख्या पर टिप्पण की रचना की।^{२६} लघुक्षेत्रसमास भी इन्हीं की कृति है।^{२७}

लक्ष्मणगणि :—

आप भी मलधारी आचार्य हेमचन्द्रसूरि के शिष्य थे। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है इन्होंने वि.सं. ११९९/ई. सन् ११४३ में प्राकृत भाषा में सुपासनाहचरित की रचना की। इसके अतिरिक्त इन्होंने अपने गुरु को विशेषावश्यकभाष्यबृहद्वृत्ति के लेखन में सहायता दी।^{२८} यह बात उक्त ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञात होती है।

देवभद्रसूरि :—

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है ये श्रीचन्द्रसूरि के शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु की कृति संग्रहणीरत्नसूत्र पर वृत्ति की रचना की। न्यायावतारटिप्पणक और बृहदक्षेत्रसमासटिप्पणिका (रचनाकाल वि.सं. १२३३/ई. सन् ११७७) भी इन्हीं की कृति है।

देवप्रभसूरि :—

आप मलधारगच्छीय श्रीचन्द्रसूरि के प्रशिष्य और मुनिचन्द्रसूरि के शिष्य थे। इनके द्वारा रचित **पाण्डवचरित** का पूर्व में उल्लेख किया गया है।^{२९} इसमें १८ सर्ग हैं। इसका कथानक लोकप्रसिद्ध पाण्डवों के चरित्र पर आधारित है, जो कि जैन परम्परा के अनुसार वर्णित है। यह एक वीर रस प्रधान काव्य है। **पाण्डवचरित** के कथानक का आधार **षष्ठांगोपनिषद्**^{३०} **त्रिंशष्टिशलाकापुरुषचरित** तथा कुछ अन्य ग्रन्थ हैं, यह बात स्वयं ग्रन्थकर्ता ने ग्रन्थ के १८वें सर्ग के २८०वें पद्य में कही है। इसके अतिरिक्त **मृगावतीचरित** अपरनाम **धर्मशास्त्रसार**, **सुदर्शनाचरित**, **काकुस्थकेलि** आदि भी इन्हीं की कृतियां हैं।

नरचन्द्रसूरि :—

जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है ये मलधारी देवप्रभसूरि के शिष्य और महामात्य वस्तुपाल के मातृपक्ष के गुरु थे। ये कई बार वस्तुपाल के साथ तीर्थयात्रा पर भी गये थे। महामात्य के अनुरोध पर इन्होंने १५ तरंगों में **कथारत्नसागर**^{३१} की रचना की। इसमें तप, दान, अहिंसा आदि सम्बन्धी कथायें दी गयी हैं। इसका एक नाम **कथारत्नाकर** भी मिलता है। वि.सं. १३१९ में लिखी गयी इस ग्रन्थ की एक प्रति पाटण के संघवीपाड़ा ग्रन्थ भंडार में संरक्षित है। इसके अतिरिक्त इन्होंने **प्राकृतप्रबोधदीपिका**, **अनर्घराघवटिप्पण**, **ज्योतिषसार** अपरनाम **नारचन्द्रज्योतिष**, **साधारणजिनस्तव** आदि की भी रचना की और अपने गुरु देवप्रभसूरि के **पाण्डवचरित** तथा नागेन्द्रगच्छीय उदयप्रभसूरि के **धर्माभ्युदयमहाकाव्य** का संशोधन किया।^{३२} महामात्य वस्तुपाल के वि.सं. १२८८ के गिरनार के दो लेखों के पद्यांश^{३३} तथा २६ श्लोकों की **वस्तुपालप्रशस्ति** भी इन्होंने ही लिखी है।^{३४}

नरेन्द्रप्रभसूरि :—

ये मलधारी नरचन्द्रसूरि के शिष्य एवं पट्टधर थे। महामात्य वस्तुपाल के अनुरोध एवं अपने गुरु के आदेश पर इन्होंने वि.सं. १२८० में **अलंकारमहोदधि** की रचना की। यह आठ तरंगों में विभक्त है। इसके अन्तर्गत कुल ३०४ पद्य हैं। यह अलंकारविषयक ग्रन्थ है। वि.सं. १२८२ में इन्होंने अपनी उक्त कृति पर वृत्ति की रचना की जो ४५०० श्लोक परिमाण है।^{३५} इसके अतिरिक्त **विवेककलिका**, **विवेकपादप**, वस्तुपाल की क्रमशः ३७ और १०४ श्लोकों की प्रशस्तियां^{३६} तथा वस्तुपाल द्वारा निर्मित गिरनार स्थित आदिनाथ जिनालय के वि.सं. १२८८ के एक शिलालेख^{३७} का पद्यांश भी इन्हीं की कृति है।

राजशेखर सूरि :—

आप मलधारगच्छीय नेन्द्रप्रभसूरि के पट्टधर पद्मतिलकसूरि के प्रशिष्य तथा श्रीतिलकसूरि के शिष्य थे। न्यायकंदलीपंजिका (वि.सं. १३८५/ई. सन् १३२९), प्राकृतद्वयाश्रयवृत्ति (वि.सं. १३८६/ई. सन् १३३०) तथा प्रबन्धकोश^{३८} अपरनाम चतुर्विंशतिप्रबन्ध (वि.सं. १४०५/ई. सन् १३४९) इनकी प्रमुख कृतियां हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने स्याद्वादकलिका, रत्नकरावतारिकापंजिका, कौतुककथा और नेमिनाथफागु की भी रचना की।^{३९} वि.सं. १३८६ से वि.सं. १४१५ तक इनके द्वारा प्रतिष्ठापित ५ उपलब्ध जिन प्रतिमाओं का पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है।

इनके शिष्य सुधाकलश द्वारा रचित दो कृतियां मिलती हैं, इनमें प्रथम है संगीतोपनिषत्सारोद्धार जो वि.सं. १४०६/ईस्वी सन् १३५० में रचा गया है। इसकी प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थकार द्वारा वि.सं. १३८०/ई. सन् १३२४ में लिखी गयी संगीतोपनिषत् का संक्षिप्त रूप है। ५० गाथाओं में रचित एकाक्षरनाममाला इनकी दूसरी उपलब्ध कृति है।

सन्दर्भ

1. Muni Punya Vijaya - **Catalogue or Palm-Leaf Mss in the Shanti Natha Jain Bhandar, Cambay** Vol. I, G.O.S. No. 135, Baroda 1961 A.D. pp. 66-67
 2. P. Peterson - **Search of Sanskrit Mss** Vol. V. Bombay- 1896 A.D. pp. 88-89
 3. D. Dalal - **A Descriptive Catalogue of Manuscripts in the Jain Bhandars at Pattan** Vol. I, G.O.S. No. LXXVI, Baroda- 1937 A.D. pp. 311-313
 ३. मुनिसुव्रतस्वामिचरित संपा. प. श्री रूपेन्द्र कुमार पगारिया, लालभाई दलपत भाई ग्रन्थांक १०६, अहमदाबाद, १९८९, ईस्वी, पृ. ३३७-३४१.
 ४. सुपासनाहचरिय संपा. प. हरमोचिन्द्रशाम, जैन विविध माहिन्य शास्त्रमाला, ग्रन्थांक १२, बनारस, १९१८ ई., प्रशस्ति.
 5. Muni Punya Vijaya - **Catalogue or Palm-Leaf Mss in the Shanti Natha Jain Bhandar, Cambay** Vol II, G.O.S. No. 149, Baroda 1966 A.D. pp. 243-244
 6. Ibid, pp. 374-376.
- Muni Punya Vijaya - **New Catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss**

:Jesalmer Collection, L.D. Series No. 36, 1972 A.D. pp. 177

7. C.D. Dalal - **A Descriptive Catalogue of Mss in the Jain Bhandars at Pattan** P. 14

८. अंलकारमहोदधि संपा. पं. लालचन्द भगवानदास गांधी, गायकवाड प्राच्य ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ९५, बड़ोदरा १९४२ ईस्वी, प्रशस्ति, पृ. ३३९-३४०.

९. पं. लालचन्द भगवानदास गांधी- ऐतिहासिक लेख संग्रह सयाजीराव साहित्यमाला, पुष्प-३३५, बड़ोदरा, १९६२ ईस्वी. पृ. ७६-७७

10. A.P. Shah - **Catalogue of Sanskrit and Prakrit Mss- Muni Shree Punya Vijayji's Collection**, Vol. II, L.D. Series No. 5, Ahmedabad - 1965 A.D. pp. 217-218.

Sangitopanisat-Saroddhara Ed. U.P. Shah, G.O.S. No. 133, Baroda- 1961 A.D.

११. द्रष्टव्य-संदर्भ क्रमांक-६

१२. मोहनलाल दलीचंद देसाई- जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, बम्बई, १९३३ ई. पृ. ३८९.

१३. भोगीलाल सांडेसरा- महामात्य वस्तुपाल का साहित्यमण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन सम्मान प्रकाशन नं. १५, वाराणसी १९५९ ईस्वी पृ. ३८९.

14. P. Petarson - **Search of Sanskrit Mss** Vol. V pp. 95-97

१५. देसाई, पूर्वोक्त, पृ. ५१४.

16. H.D. Velankar - **Jinaratnakosa**, Bhandarkar Oriental Research Institute, Government Oriental - Series, Class C. No. 4, Poona, 1944 A.D. p. 442.

१७. पूरनचन्द नाहर- संपा. जैन लेख संग्रह भाग २, कलकत्ता १९२७ ईस्वी लेखांक १८९९.

१८. त्रिपुटी महाराज- जैन परम्परानो इतिहास भाग-२, चारित्रस्मारक ग्रन्थमाला ग्रन्थांक ५४, अहमदाबाद, १९६० ईस्वी, पृ. ३३८.

१९. पं. लालचन्द भगवानदास गांधी- ऐतिहासिक लेख संग्रह, पृ. १७-४९

तथा

श्रीचन्द्रसूरिविरचित मुनिसुव्रतस्वामिचरित की प्रशस्ति

२०. दृष्टव्य-संदर्भ क्रमांक-३

२१. पं. लालचन्द भगवानदास गांधी-पूर्वोक्त, पृ. ७६

२२. मोहनलाल मेहता- जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-३

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला ग्रन्थांक ११, वाराणसी १९६७ ईस्वी पृ. २४०

२३. वही, पृ. २४३
२४. पं. लालचंद भगवानदास गांधी, पूर्वोक्त, पृ. ८०-८१
२५. जिनरत्नकोश, पृ. ४१०
- २६-२७. वही, पृ. ३८.
२७. द्रष्टव्य- संदर्भ- क्रमांक-४
२८. गांधी, पूर्वोक्त, पृ. १२३.
२९. द्रष्टव्य- संदर्भ क्रमांक ६.
३०. ज्ञातुधर्मकथा का एक नाम
३१. द्रष्टव्य- संदर्भ क्रमांक ७
३२. सांडेसरा, पूर्वोक्त, पृ. १०२-१०४
३३. मुनि जिनविजय- प्राचीन जैन लेखसंग्रह भाग २, भावनगर, १९२१, ईस्वी, लेखांक ३९-२, ४२-५.
३४. अलंकारमहोदधि संपा.-पं. लालचंद भगवानदास गांधी, परिशिष्ट क्रमांक ४, पृ. ४०१-४०३.
३५. सांडेसरा, पूर्वोक्त, पृ. १०४-१०६.
३६. अलंकारमहोदधि परिशिष्ट- क्रमांक ५-६, पृ. ४०४-४१६
३७. मुनि जिनविजय, पूर्वोक्त, लेखांक ४१-४
३८. प्रबन्धकोश संपा. मुनि जिनविजय, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ६ शान्तिनिकेतन, १९३५ ईस्वी
३९. मोहनलाल दलीचंद देसाई, पूर्वोक्त, पृ. ४३७.

संकेत सूची

- जै.ले.सं.- जैन लेख संग्रह संपा. पूरनचन्द नाहर
- प्रा.जै.ले.सं.- प्राचीन जैन लेख संग्रह- संपा. मुनिजिनविजय
- अ.प्रा.जै.ले.सं.- अर्बुदप्राचीन जैन लेख संदोह- संपा. मुनिजयन्तविजय
- जै.धा.प्र.ले.सं.- जैन धातु प्रतिमालेख संग्रह- संपा. मुनि बुद्धिसागर
- प्रा.ले.सं.- प्राचीन लेख संग्रह- संपा. विजयधर्मसूरि
- बी.जे.ले.सं.- बीकानेर जैन लेख संग्रह- संपा. अगरचन्द नाहटा
- जे.ए.एस.ओ.वी.- जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बाम्बे ।



जिनप्रतिमा और जैनाचार्य

□ पं. श्री हंसराजजी शास्त्री

परस्पराधीतविलोमपाठा सा भारती सा कमलालया च ।

निसर्गदुर्बोधपदार्थविज्ञा, स्वां स्वां विभूर्तिं तनुतां मयीष्टाम् ॥

जैन परम्परा में चैत्य शब्द के शिष्टसम्मत प्राचीन मौलिक अर्थ में प्रतिबिम्बित होने वाली जिन प्रतिमा को जैनागमों में कहां और किस प्रकार से विधेयता प्राप्त है यह एक अलग विषय है। इस विषय के विचार को किसी और समय के लिये सुरक्षित रखते हुए, इस वक्त तो हम यह देखने का यत्न करेंगे कि जैन परम्परा के विशिष्ट श्रुतसम्पन्न युगप्रधान आचार्यों का इस विषय में क्या मत है।

इस सम्बन्ध में जहां तक हमारा पर्यालोचन है, हमें तो इनके रचे हुए ग्रन्थों में जिन प्रतिमा का समर्थन अधिक स्पष्ट और असंदिग्ध शब्दों में किया हुआ दृष्टिगोचर होता है। यह बात उनके रचे हुए ग्रन्थों के कतिपय निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है—

प्रशमरति प्रकरण^१ वाचक उमास्वाति ने प्रशमरति के २२ वें अधिकरण में गृहस्थ के धार्मिक कर्तव्यों के वर्णन प्रस्ताव में लिखा है—

चैत्यायतनप्रस्थापनानि कृत्वा च भक्तितः प्रयतः ।

पूजाश्च गन्धमाल्याधिवासधूपप्रदीपाद्याः २ ॥३०५ ॥

अर्थात् सम्यग् दृष्टिगृहस्थ अपनी शक्ति के अनुसार श्रद्धापूर्वक चैत्य-जिन-प्रतिमा को आयतन-मन्दिर में प्रतिष्ठित करके उनका गन्धपुष्पधूपदीप आदि सामग्री के द्वारा पूजन करे।

प्रशमरति की इस कारिका में वाचक उमास्वाति ने चैत्य शब्द, प्रतिमा के ही अर्थ में प्रयुक्त किया है और “आयतन” का मन्दिर अर्थ तो स्फुट ही है। तात्पर्य कि इस स्थान में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द का जिन बिम्ब-जिनप्रतिमा के सिवा दूसरा कोई अर्थ सम्भव ही नहीं हो सकता। इस कथन से हमें यह दिखलाना अभिप्रेत है कि वाचक उमास्वाति जैसे पूर्ववर्ति भी चैत्य का मूर्ति ही अर्थ करते और समझते हैं। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थभाष्य की आरम्भिक सम्बन्धकारिकाओं में उल्लेख की गई निम्नलिखित आठवीं कारिका भी द्रष्टव्य है। आचार्य कहते हैं—

**अभ्यर्चनादर्हतो मनःप्रसादस्तथा समाधिश्च ।
तस्मादपि निःश्रेयस मतो हि तत्पूजन न्याय्यम् ॥**

अर्थात्—अर्हन्तो—तीर्थंकरों के पूजन से रागद्वेषादि दुर्भाव दूर होकर चित्त-प्रसन्न होता है-निर्मल बनता है। और मन के प्रसन्न निर्विकार होने से समाधि ध्यान में एकाग्रता प्राप्त होती

१. (क) यह ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता वाचक उमास्वाति की अन्य प्रौढरचनाओं में से एक है और इसके उमास्वातिरचित होने में निम्नलिखित प्रमाण हैं—

“पसमरइपमुहपयरण पंचसया सक्कया जेहि ।

पूव्वगय वायगाणं, तेसिमुमासाइनामाणं” (गणवर सा.श.गा. ५—श्रीजिनटत्तसू)

अर्थात् प्रशमरति प्रमुख पांच सौ ग्रन्थों की रचना करने वाले वाचक उमास्वाति को—

(ख) प्रशमस्थेन येनेयं कृता वैराग्यपद्धतिः ।

तस्मै वाचकमुख्याय नमो भूतार्थभाषिणे ।

अर्थात् जिसने इस वैराग्य पद्धति (प्रशमरति) का निर्माण किया ^१ (एसे प्रशांत और यथार्थवादी वाचकमुख्य (उमास्वाति) को मैं नमस्कार करता हूँ ।

(ग) तत्त्वार्थभाष्य के वृत्तिकार श्रीसिद्धसेन प्रशमरति का भाष्यकार की ही कृति सूचित करते हैं। यथा—“यतः प्रशमरतौ (का. २०८) अनेनैवोक्तं परमाणुरप्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजन्ति यः।” वाचकमुख्येन स्वतदेव बलसंज्ञयाप्रशमरतौ (का. ८) उपातम् (५/६ तथा ९/६ की भाष्यवृत्तिः) XXX प्रशमरति की १२० वी कारिका—“आचार्य आह” कहकर नीशीथचूर्णि में उद्धृत की गई है। इस चूर्णि के प्रणेता श्री जिनदास महत्तर का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी है जो कि उन्होंने अपनी नन्दीसूत्र की चूर्णि में बतलाया है। इस पर से ऐसा कह सकते हैं कि प्रशमरति विशेष प्राचीन है। इससे और ऊपर बतलाये गये कारणों से यह कृति, वाचक की ही हो तो इस में कोई इनकार नहीं” (पं. श्रीसुखलालजी शास्त्री-तत्त्वार्थपरिचय ५०१७ का नोट)।

(घ) श्री हरिभद्रसूरि ने भी प्रशमरति को वाचक उमास्वाति की रचना माना है तथा—“यथोक्तमनेनेव सूरिणा प्रकरणान्तरे” ऐसा कहकर श्रीहरिभद्रसूरि, भाष्यटीका में प्रशमरति की २१० वीं और दो सौ ग्यारहवीं कारिका उद्धृत करते हैं (तत्त्वार्थपरिचय ८०३१ का नोट)

है। एवं समाधि की प्राप्ति से कर्मों को निर्जरा द्वारा मोक्षपद की उपलब्धि होती है। अतः तीर्थकरों का पूजन करना सर्वथा न्यायोचित है।

इस उल्लेख में वाचक उमास्वाति ने द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकार की पूजा का निर्देश किया है जिसमें आरम्भ प्रसक्त गृहस्थों के लिये द्रव्य पूजा और आरम्भ के त्यागी मुनियों के लिये भाव पूजा है। इसी को द्रव्यस्तव और भावस्तव के नाम से अन्यत्र उल्लेख किया है। ३

पउमचरियं—श्रीविमलसूरिविरचित पउमचरिय (पद्मचरित्र)—जो कि विक्रम की प्रथम ४ शताब्दी में रचा गया माना जाता है—में लिखा है कि—

वंदणविहाणपूयणकमेण काऊण सिद्धपडिमाणं ।

अह ते कुमारसीहा चेइयभवणा पइसरंति ॥ (१७० पृ. २४)

अर्थात्—वे राजकुमार सिद्धप्रतिमाओं का यथाक्रम विधिपूर्वक वंदन पूजन करके चैत्यभवन से बाहर आते हैं।

इस उल्लेख से प्रतिमा पूजन को जो समर्थन प्राप्त होता है वह किसी अन्य स्पष्टीकरण की अपेक्षा नहीं रखता।

इसके अलावा प्रशमरति पर श्रीहरिभद्रसूरि ने स्वयं व्याख्या लिखी है। यथा—“श्रीहरिभद्राचार्यरचितं प्रशम-रतिविवरणं किञ्चित् परिभाष्य बद्धटीकाः सुखबोधार्थं समासेन” (प्रशमरति की प्रस्तावना जैन. प्र. स. भावनगर) इत्यादि प्रमाणों से प्रशमरतिप्रकरण वाचक उमास्वाति की ही कृति निश्चित होता है। इनका (वाचक उमास्वाति का) समय यद्यपि अभी तक अनिश्चित ही है तो भी वे विक्रम की पहली दूसरी शताब्दी से अर्वाचीन तो नहीं है।

२. चैत्यं चितयः प्रतिमा इत्येकार्थाः, तेषामायतनमाश्रयः चैत्यायतनानि। प्रकृष्टानि स्थापनानि प्रस्थापनानि, महत्याविभूत्या वादित्रनृत्यतालानुचरस्वजनपरिवारादिकया प्रस्थापनं प्रतिष्ठेति, तानि कृत्वा शक्तिः प्रयत्नवान् यथा प्रवचनोद्भावनं भवति तथा कृत्वाति। पूजा सपर्या, गन्धो विशिष्टद्रव्यसम्बन्धि, माल्यं पुष्पं, अधिवासः पटवस्त्रादि, धूपः सुरभद्रव्यसंयोगजः प्रदीपः प्रदीपदानं, आदि ग्रहणादुपलेपन-संमार्जन-खंडस्फुटित-संस्करण-चित्रकर्माणि चेति। (कारिका पृ. ८३)

३. इसके लिये देखें आवश्यकनिर्युक्ति और भाष्य तथा पूज्य हरिभद्रसूरिजी का निम्न उल्लेख—
द्वत्थय भावत्थयरूपं एयमिय होत्ति दइव्वं ।

अण्णोण्णसमनुविद्धं णिच्छयतो भणिय विसयंतु ॥पंचा. ६।२७॥

४. पंचेव सय वाससया, दुसमाए वीसवसंसजुता ।

वीरे सिद्धिमुपागये तओ निवद्धं इमं चरियं ॥पृ. ३६५ ॥

अर्थात् जब वीर निर्वाण को ५३० वर्ष हो चुके थे (वि.सं. ६० में) तब इस चरित्र की रचना की गई।

बृहत्कल्प भाष्य—बृहत्कल्प भाष्य की निम्न लिखित गाथा में अदृष्टपूर्व युगप्रधान आचार्यों तथा विशुद्ध संयमी श्रुत सम्पन्न साधुओं एवं पुराने और नये चैत्यों-प्रतिमाओं को वन्दनार्थ जाने का उल्लेख है—

“अपुव्ववित्तबहुस्सुआ य परियारवं च आयरिया ।

परिवार वज्जसाहू चेइय पुव्वा अभिनवा वा” । (२७५३ पृ. ७७६)

यहां पर उल्लेख किये गये पुरातन और नवीन चैत्यों का अर्थ पुरानी और नई जिन प्रतिमायें ही संभव हो सकता है । टीकाकार ने भी यही अर्थ किया है—

“चैत्यानि पूर्वाणि वा चिरंतनानि जीवंतर स्वामिप्रतिमादीनि अभिनवानि तत्कालकृतानि-एतानि ममादृष्टपूर्वाणिम इति बुध्या तेषां वन्दनाय गच्छति” अर्थात् यहां पुरातन से जीवंत स्वामी की प्रतिमा आदि को समझना और अभिनव से उस समय की प्रतिष्ठित प्रतिमायें

१. बृहत्कल्पभाष्य के रचयिता युगप्रधान आचार्य संघदास गणि क्षमाश्रमण हैं । इनका समय विक्रम की सातवीं शताब्दी के पूर्व है और ये जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण से कुछ प्राचीन हैं । पंचकल्पभाष्य और वसुदेव हिण्डी ये दोनों इन्हीं की कृतियां हैं । (जैन सा. का इतिहास ६.१४१)

२. जीवंत स्वामी नाम का तीर्थंकर प्रतिमा का प्राचीन जैनग्रन्थों में अनेक जगह उल्लेख पाया जाता है, उनके देखने से वह अत्यन्त प्राचीन प्रमाणित होती है । निशीथचूर्णि कल्पचूर्णि और आवश्यकचूर्णि के उल्लेखों से सिद्ध होता है कि,—आचार्य महागिरी तथा आचार्य सुहस्ति श्री जीवंत स्वामी की प्रतिमा के वादनार्थ विदिशा और उज्जयिनी में गये ।

यथा—

(क) अण्णया आयरिया विति दिसे जिय पडिमं वंदियागता (निशी. चू. पृ. १९१)

(ख) दोविजणा वितिदिसंगया, तत्थ जियपडिमं वंदित्ता अज्ज महागिरी एकच्छं गया गयग्ग पद वंदया
XXX सुहत्थी उज्जेणि जियपडिमं वंदियागया (आ. चूर्णि)

(ग) “इत्तो अज्जसुहत्थी उज्जेणि जियसामि वंदओ आगओ” (कल्पचूर्णि) आर्यमहागिरी और आर्य सुहस्ति ये दोनों आर्य स्थूलभद्र के हस्तदीक्षित शिष्य हैं । इनकी दीक्षा वीर निर्वाण १९१ और २२१ में तथा युग प्र. २१५ और २४५ से हुआ (वीरनि, सम्वत् और जैनकालगणना पृ. ६३) इससे साबित होता है कि विक्रमपूर्व तीसरी शताब्दी से भी बहुत पहले जीवंत स्वामी नाम की तीर्थंकर प्रतिमा जैन परम्परा में विशेष प्रख्यात थी । अतएव दूर दूर से भाविक गृहस्थ तथा संभावित मुनिवर्ग उसके दर्शनार्थ आते थे । इसका सबूत वसुदेव हिण्डी के निम्न लिखित कथांश से भी मिलता है—

“तेण सत्थेण समं बहुसिस्सिणीपरिवारा जिणवयणसारदिट्ठपरमत्था सुव्वया नाम गणिणी जीवंतसामिवंदिया वच्चइ.” (पृ. ६१)

अर्थात् संघ के साथ अनेक शिष्याओं से परिवृत्त जिन प्रवचन के परमार्थ को जानने वाली सुव्रता नाम की गणिणी प्रवर्तिनी जीवन्त स्वामी को वन्दना करने के लिये उज्जयिनी को जा रही थी ।

जाननी ।”

जीतकल्प भाष्य-जीतकल्प और उसके सोपश भाष्य में भी साधु को दूर अथवा नजदीक में रहे हुए चैत्य को वन्दना करने के लिये जाने का उल्लेख है—

(क) “चेइयवंदणहेउं गच्छे आसण्णदूरं वा (गाथा ७७४ पृ. ६६)

“चेइयवंदणनिमित्तं आसन्नं दूरं वा गच्छेज्जा” (चूर्णि पृ. ७)

(ख) विशेषावश्यकभाष्य के मूर्तिवाद समर्थक प्रकरण में से भी यहां एक गाथा का उल्लेख किया जाता है—

“कज्जा जिगाण पूया परिणामविसुद्धहेउओ निच्चं ।

दाणाइउ व्व मग्गप्पभावणाओ य कहणं वा ॥३२४७ ॥

इसका भावार्थ यह है कि गृहस्थ को प्रतिदिन जिनपूजा करनी चाहिये । क्योंकि यह दानादि की तरह परिणाम विशुद्धि का हेतु है । विशेषावश्यक भाष्य का यह समग्र स्थल देखने और मनन करने योग्य है ।

(ग) आवश्यक भाष्य में द्रव्यस्तव और भावस्तव और व्याख्या इस प्रकार की है—

“दव्यत्थओ पुप्फाई, संतगुणकित्तणा भावे” (१११)

अर्थात् पुष्पादि के द्वारा जिनप्रतिमा का अर्चन करना द्रव्यस्तव है और भक्तिभाव से उनका गुणोत्कीर्तन-गुणगान करना भावस्तव कहलाता है । इसके अतिरिक्त आवश्यक चूर्णि और आवश्यक वृत्ति में महाराज उदायी के द्वारा उसकी राजधानी पाटलीपुत्र के मध्य में एक भव्य जिन मन्दिर बनवाये जाने का उल्लेख है । यथा—

(क) नगरनाभीए उदाइइणा जिणघरं कारितं (पृ. १७८)

(ख) “णयरनाभीए य उदायिणा चेइयहरं कारावियं—नगरनाभौ च उदायिना-चैत्यगृहं कारितं” (आ. वृ. पृ. ६८९)

आवश्यकचूर्णि और आवश्यक वृत्ति के उपर्युक्त उल्लेखों का समर्थन श्री जिनप्रभसूरि ने अपने विविध तीर्थकल्प में “तन्मध्ये श्रीनेमिचैत्यं राजाकारि” (अर्थात् राजा उदायी ने पाटलीपुत्र नगर के मध्य में श्री नेमिनाथ का चैत्य बनाया) इन शब्दों में किया है (पाटलीपुत्र कल्प पृ. ६८) श्रीहरिभद्र सूरि—

जैन परम्परा में श्री हरिभद्रसूरि का स्थान बहुत ऊंचा है, उन्होंने जैन परम्परा के धार्मिक साहित्य में जिस अलौकिक दिव्य जीवन का संचार किया है वह एक मात्र उन्हीं को आभारी है ।

इनके ग्रन्थों में जो मध्यस्थता, गम्भीरता और सत्यप्रियता दृष्टिगोचर होती है वह अन्यत्र कदाचित् ही दिखाई पड़ती है। उनके व्यक्तित्व में रही हुई अलौकिक ज्ञानविभूति से प्रभावित हुए तदुत्तरवर्ती आचार्यों ने- श्री सिद्धर्षि, श्रीजिनेश्वरसूरि, श्रीवादिदेवसूरि, श्रीलक्ष्मणगणि आचार्य, श्रीमलयगिरि, श्री प्रद्युम्नसूरि उपाध्याय, श्री यशोविजयजी आदि विशिष्ट विद्वानों ने इनके विषय में श्रद्धापूरित हृदय से जो भक्तिभाव प्रकट किया है, उसको देखते हुए तो उनके वचनों पर हमारा विश्वास और भी सुदृढ हो जाता है। अस्तु अब हम पूज्य हरिभद्रसूरि के प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध रखने वाले विचारों का अतिसंक्षेप से दिग्दर्शन कराते हैं।

पूज्य हरिभद्रसूरि ने अपने सदग्रन्थों में द्रव्यस्त्व और भावस्तव अर्थात् द्रव्य और भावरूप से प्रतिमा पूजन को विपुल स्थान दिया है वे स्तवविधि—पूजाविधि आगमशुद्ध^२ और विहितानुष्ठान^३ मानते हैं यह स्तव-पूजा द्रव्य और भाव भेद से दो प्रकार का है। द्रव्यस्तव और भावस्तव। इसी का दूसरा नाम द्रव्यपूजा और भावपूजा है। इनमें द्रव्य पूजा का अधिकारी गृहस्थ है और भाव पूजा का अधिकार साधु को है। परन्तु सूत्रोक्त विधि^४ के अनुसार अनुष्ठान किया गया यह द्रव्यस्तव भावस्तव का कारण होता है। अतः

गृहस्थ के प्रतिदिन के धार्मिक कर्तव्यों में आचार्य हरिभद्र ने इसे द्रव्यस्तव को मुख्य स्थान दिया है और मुमुक्षु गृहस्थ के लिये आगमोक्त विधि के अनुसार अप्रमत्त भाव से इसके अनुष्ठान का आदेश दिया है। इसके अतिरिक्त द्रव्यस्तव और भावस्तव—द्रव्यपूजा और

(इ) जीतकल्प और उसके भाष्य के निर्माता की जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण है, और विशेषावश्यक भाष्य भी इन्हीं की ही रचना है। जैन परम्परा में इनके व्यक्तित्व को इतना उच्च स्थान प्राप्त है कि इनके वचनों को उत्तरवर्ती आचार्यों ने आगमों की समान कक्षा में स्थान दिया है। जैन पट्टावलि के अनुसार इनका समय वीर निर्वाण से १११५ (वि.सं. ४५५) आंका जाता है।

१. छाया-कार्या जिनादिपूजा, परिणामविशुद्धिहेतुतो नित्यम् ।

दानादय इव मार्गप्रभावनातश्च कथनमिव ॥

२. द्रव्यस्तवः पुष्पादिभिः समभ्यर्चनम् (हरिभद्रसूरि आ. वृ. ४९२)

३. उदायी अजातशत्रु कोणिक का उत्तराधिकारी था। उसका जन्म विक्रम पूर्व ४७८ में हुआ। वीर निर्वाण के समय उसकी आयु ८ वर्ष की थी। विक्रम पूर्व ४३८ तथा वीर निर्वाण ३२ में राज्याभिषेक और वि. पूर्व ४१० तथा वीर निर्वाण ५० में स्वर्गवास हुआ।

जैन परम्परा के प्राचीन इतिहास से जाना जाता है कि जैन राजाओं का यह नियम था कि जहां कहीं पर वे नवीन नगर या कोट आदि का निर्माण करते वहां साथ ही जिनमन्दिर की स्थापना भी कराते। इसके लिये कांगड़ा, जैसलमेर और जालोर (मारवाड़) आदि के प्राचीन दुर्गवर्ती जिन मन्दिर आज भी उदाहरण रूप में मौजूद हैं।

भावपूजा ये दोनों एक दूसरे से अनुप्राणित हैं—परस्पर अनुस्यूत^१ और साधु तथा गृहस्थ दोनों के लिये अनुष्ठेय हैं। जैसे द्रव्यपूजा के अनन्तर स्तुतिवन्दनरूप भावपूजा गृहस्थ करता है उसी प्रकार भावस्तव के अधिकारी साधु को भी अनुमोदना रूप में द्रव्यस्तव के अनुष्ठान का अधिकार है। अर्थात् गृहस्थ के द्वारा आचरित द्रव्यस्तव—द्रव्यपूजा की अनुमोदना साधु के लिये इष्ट अथ च विहित^२ है। इस कथन से पूजाविधि को श्रीहरिभद्रसूरि के वचनों में जो शास्त्रीय महत्त्व प्राप्त होता है उसकी कल्पना सहज ही में की जा सकती है।

साधु के लिये अनुमोदन रूप से द्रव्यस्तव का विधान करते हुए श्रीहरिभद्रसूरि ने उसका शास्त्रीय समर्थन इस प्रकार किया है—

१. विषं विनिर्धूय कुवासनामयं, व्यचीचरद्यः कृपया मदाशये ।

अचिन्त्यवीर्येण सुवासनासुधा नमोस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये ॥ (उपमितिभवप्रपंच पृ. २६)

येषां गिरं समुपजीव्य सुसिद्धविद्या-

मस्मिन् सुखेन गहनेऽपि पथि प्रवृत्तः ।

ते सूरयो मयि भवन्तु कृतप्रसादाः

श्रीसिद्धसेनहरिभद्रमुखाः सुखाय (शास्त्रवार्ता समु. टीका)

अन्य आचार्यों के उल्लेख विस्तारभय से नहीं दिये गये।

२. “थयविहिमागमसुद्ध” (पंचाशक ६/१)

स्तवः पूजा तस्य विधिर्विधानं प्रकाराः स्तवविधिस्तम् । आगमः स्तवपरिज्ञानार्थं आप्तवचनं तेन शुद्धस्तदुक्तानुवादेन निर्दोषः आगमशुद्धस्तम् (अभयेवसूरि)

अर्थात् पूजाविधि यह आप्तवचन के अनुसार होने से निर्दोष है।

३. ततो पडिदिणपूयाविहाणओ तह तेहेव कायब्बं ।

विहितानुष्ठानं खलु भवविरहफलं जहा होति ॥ (पंचा. ८/५०)

(ततः प्रतिदिनं पूजाविधानतः तथा तथा इह कर्तव्यम् ।

विहितानुष्ठानं खलु भवविरहफलं यथा भवति ॥)

विहितानुष्ठानं-पूजावन्दनयात्रास्नानादि । (अभयदेवसूरि)

४. सूत्रभणिण्ण विहिणा गिहिणा निव्वाणमिच्छमाणेन ।

तम्हा जिण्णपूया कायव्वा अप्पमत्तेण ॥पंचा. ४/४६)

व्या. सूत्रभणितेन-आगमोक्तेन विधिना-विधानेन पूजा कर्तव्या केनेत्याह-गृहिणा-गृहस्थेन साधोरधिकारत्वात् किं विधेनेत्याह निर्वाणं निर्वृत्तिमिच्छता, निर्वाणव्यतिरिक्तस्य फलस्योपायान्तरेणापि सुलभत्वात् ।

तस्माद्धेतोः जिनानामर्हतां पूजा-अर्चनं कर्तव्या-विधेया अप्रगतेन-अप्रमादवता प्रमादपरिहारेणेति यावत् ।

(अभयदेवसूरि)

**३तंतम्मि वंदणाए पूयणसक्कारहेउ उस्सगो ।
जतिणो वि हु णिद्धिट्ठो, ते पुणदव्वत्थयसरूवे ॥**

आचार्य कहते हैं कि चैत्यवन्दन नाम के शास्त्र में अर्थात् आवश्यक सूत्रगत ४“सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सगं वंदणवत्तियाए पूयण-वत्तियाए सक्कारवत्तियाए सम्माणवत्तियाए” इत्यादि पाठ से अर्हचैत्यो के पूजन और सत्कार के निमित्त तीर्थकर प्रतिमाओं की पूजा और सत्कृति के लिये यति को भी—भावस्तवारूढ साधु को भी कायोत्सर्ग करने का निर्देश श्रीतीर्थकरादि ने किया है । पूजनसत्कार ये दोनों द्रव्यस्तव-द्रव्यपूजा रूप ही हैं ।

श्री हरिभद्रसूरि आगमविरूद्ध या आगमबाह्य किसी भी बात को स्वीकार नहीं करते । जो आचार शास्त्र विधिनिष्यन्न नहीं, वह अगर तीर्थेदिशक भी हो तो भी आचार्य को वह मान्य नहीं । आप लिखते हैं—

**१समित्तिपवित्तीसव्वा, आणावज्झ त्ति भवफला चेव
तित्थगरुद्धेसेणवि ण तत्तओ सा तदुद्देसा (पंचा. ८/१३)**

भावार्थ—अपनी बुद्धिकल्पित, शास्त्राज्ञा से बाहर की जो भी प्रवृत्ति है वह सब भवफला अर्थात् संसार की जन्म-मरण परम्परा को बढ़ाने वाली है, इस प्रकार की आज्ञाबाह्यप्रवृत्ति अगर

भावार्थ—निर्वाण की इच्छा रखने वाले गृहस्थ को प्रमाद का परित्याग करके सूत्रोक्त विधि के अनुसार जिनेन्द्रदेवों का पूजन अर्चन करना चाहिये ।

यहां पर सूत्रोक्तविधि से, सम्भवतः राजप्रश्नीय सूत्रोक्त पूजाविधि ही अभिप्रेत होनी चाहिये, क्योंकि वही पर ही विशेष रूप से पूजा विधि का प्रकार वर्णित हुआ है ।

१. दव्वत्थयभावत्थयरूवं, पर्यामिय होति ददुव्वं ।

अण्णोण्णसमणुविद्धं णिच्छयतो भणिय विसयंतु ॥ (पंचा. ६/२७)

२. “जइणो वि हु दव्वत्थयभेदो अणुमोयणेण अत्थि त्ति ।

एवं च एत्थ पेयं इय सुद्धं तंतजुत्तीए” (पंचा. ६/२८)

(छा. यतेरपि खलु द्रव्यस्तवभेदः अनुमोदनेन अस्ति इति एतच्च अत्र ज्ञेयं अनया शुद्धं तत्रयुक्त्या ॥)

अर्थात्—भावस्तव में आरूढ होने वाले साधु को भी अनुमोदन रूप से द्रव्यस्तव का अधिकार शास्त्रसम्मत है—यतेरपि भावस्तवारूढसाधोरपि, न केवलं गृहण एव, द्रव्यस्तवभेदो-द्रव्यस्तवविशेषः,

अनुमोदनेनजिनपूजादिदर्शनजनितप्रमोदप्रशंसादिलक्षणयाऽनुमत्या,

अस्ति-विद्यतेXXतत्रयुक्त्या-शास्त्रगर्भोपपत्त्या” (श्री अभयदेवसूरि)

३. तत्रे वन्दनायां पूजनसत्कारहेतुरुत्सर्गः ।

यतेरपि खलु निर्दिष्टः तौ पुनः द्रव्यस्तवनस्वरूपी ॥६/२९)

४. सर्वलोके अर्हचैत्यानां करोमि कायोत्सर्गं वन्दनप्रत्ययं, पूजनप्रत्ययं सत्कारप्रत्ययं संमानप्रत्ययम् ॥

तीर्थकरभक्ति मूलक भी हो तो भी वह स्वीकार करने योग्य नहीं, और वस्तुतः उसमें तीर्थकर भक्ति का उद्देश होता ही नहीं। इस उल्लेख से आचार्य हरिभद्रसूरि की आगमनिष्ठा का अनुमान बड़ी सुगमता से किया जा सकता है। वे आगमविरुद्ध किसी भी प्रवृत्ति के समर्थक नहीं हैं। इस पर से उनके ग्रन्थों में उपलब्ध होने वाले पूजा-विधायक उल्लेखों का आगममूलक होना भी अनायास ही प्रमाणित हो जाता है। वाचक श्रीउमास्वाति से लेकर श्रीहरिभद्रसूरि तक के आचार्यों ने जिन प्रतिमा के सम्बन्ध में जो विचार प्रदर्शित किये हैं उनका हमने अति संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया है। श्रीहरिभद्रसूरि ने तो इस विषय में बहुत कुछ लिखा है, जो कि विस्तारभय से यहां पर उल्लेख नहीं किया गया। जैन परम्परा के इन संभावित आचार्यों ने जिन प्रतिमा को जितना आदरणीय स्थान दिया है उस पर दृष्टिपात करते हुए जिनप्रतिमा की शास्त्रीयता और पूज्यता में सन्देह को कोई अवकाश नहीं रहता।

अगर वैसे विचार किया जाए तो भगवान महावीर से लेकर विक्रम की सोलहवीं शताब्दी से पूर्व तक जैन परम्परा में जितने भी विशिष्ट और साधारण आचार्य हुए हैं उनमें से किसी ने भी जिनप्रतिमा के विरुद्ध कुछ लिखा हो ऐसा हमारे देखने में नहीं आया और विपरीत इसके परम्परा के सुप्रसिद्ध आचार्यों ने इसको कहां तक उपादेय बतलाया है यह ऊपर दिये गये उदाहरणों से स्पष्ट ही है।

१. स्वमतिप्रवृत्तिः सर्वा आज्ञाबाह्येति भवफला चैव ।

तीर्थकरोद्देशेनापि न तत्त्वतः सा तदुद्देशा ॥



जैन दर्शन और केवलज्ञान

□ मूलचंद चन्दुलाल बेड़ावाला

जैन दर्शन में ज्ञान की पांच श्रेणियां दर्शायी गई हैं। प्रथम मति ज्ञान, द्वितीय श्रुतज्ञान, तृतीय अवधिज्ञान चतुर्थ मनः पर्यव ज्ञान एवम् पंचम केवलज्ञान। उत्तरोत्तर प्रथम चार ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् जब चारघाती कर्म अर्थात् ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, अन्तराय और मोहनीय कर्म का समूल रूप से क्षय हो जाता है तो सर्व लोक में रहे पुद्गलों और उनके प्रयायों का स्वरूप स्पष्ट करने वाला केवलज्ञान प्राप्त होता है। परन्तु इस प्रणाली से अलग एक बात और भी है जब किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में केवलज्ञान एक ही समय में प्रकट होता है।

प्रभु महावीर ने धर्म चार प्रकार के बताये हैं। दान, शील, तप और भाव। दान, शील और तप-जप द्वारा मानव पुण्य अवश्य उपार्जित कर सकता है और कालान्तर में मोक्षगामी भी बन सकता है। यह सब उसके पुरुषार्थ और प्रारब्ध पर निर्भर होता है। पर भाव धर्म की एक विशिष्ट श्रेणी है जिसमें भक्ति, विरक्ति और प्रायश्चित्त की अभिव्यक्ति में भावों की उच्चतम सीमाओं को पार करते करते पुण्यात्मा एक ही समय में केवली बन जाते हैं। जैन दर्शन इस बात की पुष्टि करता है और जैन शासन ऐसे अनेक उदाहरणों से भरा पड़ा है जहां कदम कदम पर उन बिरले महापुरुषों के जीवन के अन्तिम क्षणों में केवलज्ञान सन्मुख था। यहां कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

माता मरुदेवी

ऋषभ देव प्रभु राजपाट छोड़, दीक्षा अंगीकार कर जब वर्षों तक अपने गृह नहीं लौटे तो

उनकी माता मरुदेवी कहती है कि मेरा रिखब कब घर लौटेगा । उसे यहां किस बात की कमी थी । मेरे अन्तिम अवस्था में तो तुम्हारा ही सहारा था । यह सोचते सोचते जब उन्होंने ऋषभ देव को विनिता नगरी में पधारे हुये देखा और देखी प्रभु की पार्षदा की भव्यता, देव दुंदुभि की मधुरता तो माता मरुदेवी के हृदय में भावोल्लास चरम सीमा को पार गया प्रभु ऋषभदेव के शिवरमणि रूप को निहारते निहारते केवलज्ञानी बन मोक्ष को प्राप्त हुई ।

भरत चक्रवर्ती

ऋषभदेव प्रभु के सबसे बड़े पुत्र भरत चक्रवर्ती जब दर्पण भवन में बिराजमान थे तब अनायास उनकी एक अंगुली में से अंगुठी गिर पड़ी और उन्हें वह अंगुली शोभारहित लगने लगी । सोचते सोचते उन्होंने अपने शरीर पर से सर्व आभूषणों को उतार दिया और अपने देह को कान्तिहीन देख उन्हें यह सब नश्वर लगने लगा और सोचा यह अनित्य संसार भी तो नश्वर ही है और ऐसी अनित्य भावना भाते भाते उन्हें उसी क्षण केवलज्ञान प्राप्त हुआ ।

बाहुबली

ऋषभदेव प्रभु के दूसरे पुत्र और भरतचक्रवर्ती के छोटे भाई थे । बाहुबली को जब प्रभु ऋषभदेव को वंदन करने की भावना हुयी तो उनके मन में एक विचार आया कि प्रभु के साथ मेरे छोटे ९८ भाई जो केवली हैं उनको भी मुझे वंदन करना पड़ेगा सो क्यों नहीं मैं तप कर पहले केवलज्ञान प्राप्त करूं । और जब तपस्या करते करते १२ महीने व्यतीत हो गये तो काउसगग ध्यान में खड़े बाहुबली को सम्बोधन करने प्रभु ऋषभदेव ने ब्राह्मी और सुन्दरी दो साधवियों को भेजा । और बाहुबली से कहा कि वीरा हमारे, गज से उतरिये, गजपर बैठे बैठे कभी केवलज्ञान नहीं प्राप्त होता । यह बात अभिमान रूपी गज (हाथी) की थी अपनी भूल को तुरन्त समझते हुये बाहुबली ने प्रभु को वन्दन करने के लिये पांव उठाये उन्हें तुरन्त केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ।

गौतम स्वामी

प्रभु महावीर स्वामी के प्रति गौतम स्वामी का अत्यन्त अनुराग होने से उन्हें केवलज्ञान नहीं हो रहा था हालांकि स्वयं गौतम स्वामी चार ज्ञान सम्पन्न थे और जिन्हें वे दीक्षित करते थे उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो जाता था । अतः प्रभु ने अपने अन्तिम समय में गौतमस्वामी को देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध करने भेजा और जब गौतम स्वामी पुनः प्रभु के पास लौटते हैं तो प्रभु का निर्वाण प्राप्त हुये देख अत्यन्त भाव विभोर हो गये और विलाप करते करते उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया ।

पुष्पचूला साध्वी

पुष्पचूल राजा के राज्य में जब एक बार दुष्काल पड़ा तब वहां विराजमान अर्णिका-पुत्र आचार्य के सब शिष्य उन्हें छोड़ देशान्तर को चले गये परन्तु आचार्य से प्रतिबोध पाकर उनकी शिष्या बनी पुष्पचूल राजा की पत्नि पुष्पचूला साध्वी उन्हीं के पास रहकर भक्ति भाव से उनकी वैय्यावच करती रही। जब एक बार अर्णिका पुत्र आचार्य ने पुष्पचूला साध्वी से पूछा कि वर्षाकाल में तुम शुद्ध गोचरी कैसे प्राप्त करके लाती हो तो उन्होंने कहा कि ज्ञान द्वारा यह सब मैं जान जाती हूं और आचार्य ने फिर कहा कि क्या आपको केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है तो साध्वीजी ने कहा कि मुझे प्रतिपाति केवलज्ञान प्राप्त हुआ है फिर आचार्य ने केवली को खमाते हुये अपने मोक्ष प्राप्त करने की बात पूछी। तब साध्वीजी ने कहा कि आपको गंगा नदी पार करते करते मोक्ष प्राप्त होगा।

अर्णिका-पुत्र आचार्य

जब गंगा नदी पार करने अर्णिका-पुत्र आचार्य नाव पर जिस ओर बैठे उस ओर डूबने लगी। यह देख दूसरे यात्रियों ने उन्हें दूसरी ओर बैठाया और तब भी नाव उस ओर डूबने लगी। सब यात्रियों ने उन्हें उठाकर नदी में फेंक दिया। तत्क्षण आचार्य की पूर्व भव की पत्नि ने, जो अब व्यन्तरणि थी अपने त्रिशूल से आचार्य का छेदन किया और जैसे जैसे आचार्य के रक्त की बून्दें पानी में गिरने लगी आचार्य के मन में नदी में रह रहे अपकाय जीवों के प्रति करुणा भावना उत्पन्न होने लगी कि मेरे रक्त से इन जीवों की कैसी करुण दशा हो रही होगी और यह विचारते विचारते उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।

अतिमुक्त मुनि

पेढालपुर के राजा विजय के पुत्र अतिमुक्त ने आठ वर्ष की छोटी उम्र में माता पिता की आज्ञा से गौतम स्वामी के पास दीक्षा अंगीकार की। बाल साधु अत्यन्त तेजस्वी था परन्तु बालमन चंचल भी तो था। एक बार जब बारिस पड़ी हुई थी तो उपाश्रय के बाहर अन्य बालकों के साथ अतिमुक्त मुनि पातरा की होडी बनाकर पाणी के अन्दर तैराने लगे। संयोगवश गौतम स्वामी वहां से जा रहे थे। तो उन्होंने अतिमुक्त मुनि को साधु-धर्म की जानकारी दी और मुनि शरमाते हुये महावीर प्रभु के पास आये और 'इरिया वहिया' करते हुये 'पणगदग मट्टिमकड़।' शब्द बोलते हुए पृथ्वीकाय और अपकाय जीवों को खमाते हुये केवलज्ञान को प्राप्त किया।

सुकोशल मुनि

अयोध्या के राजा कीर्तिधर के पुत्र थे और उनकी माता का नाम सहदेवी था। राजा कीर्तिधर के दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात् उनके उपदेश श्रवण से पुत्र सुकोशल ने भी दीक्षा ग्रहण की। परन्तु अपने पुत्र और पति दोनों के दीक्षा ग्रहण करने से माता सहदेवी ने उनके वियोग में अत्यन्त व्याकुल रहते हुये और आर्तध्यान करते हुये मृत्यु को प्राप्त कर जंगल में सिंहनी के रूप में जन्म लिया। एक बार ऐसा हुआ कि दोनों पिता पुत्र-राजर्षि जंगल में काउस्सगध्यान में खड़े थे उस समय उस सिंहनी ने आकर सुकोशल मुनि पर हमलाकर मुनि के शरीर को चीरफाड़ दिया। परन्तु मुनि समता भाव से ध्यान मग्न रहे और उपसर्ग सहन करते करते केवलज्ञान को प्राप्त किया।

नव दीक्षित शिष्य: भद्रसेन मुनि

चंड रुद्राचार्य ने एक गांव में एक शिष्य को दीक्षा दी और यह सोचते हुये कि कहीं यह शिष्य पुनः संसारी न बन जाए रात्रि में ही वहां से विहार कर दिया। आचार्य स्वयं नव दीक्षित शिष्य के कन्धों पर बिराजमान थे और अन्धेरे में शिष्य के उबड़ खाबड़ चलने से आचार्य को असुविधा उत्पन्न हो रही थी। क्रोध से आचार्य शिष्य के मुंडित सिर पर डंडा मारते रहे परन्तु शिष्य गुरु के प्रति अत्यन्त बड़े मान भाव पूर्वक विनय रखते और असह्य वेदना को सहते हुये चल रहा था। थोड़ी दूर जाने पर जब शिष्य संतुलन बनाकर चलने लगा तो आचार्य को आश्चर्य हुआ और शिष्य को पूछा कि अब तुम बराबर कैसे चल रहे हो इतने घोर अन्धेरे में। क्या तुम्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई है तो शिष्य ने बड़े विनम्र भाव से आचार्य को कहा हे गुरुदेव मुझे केवलज्ञान प्राप्त हुआ है और यह सुन आचार्य तुरन्त शिष्य के कन्धों से उतरकर केवली की आशातना का प्रायश्चित्त करते करते स्वयं भी केवली बन गए।

गजसुकुमाल मुनि

श्री कृष्ण के लघु भ्राता थे। अपनी बाल्यावस्था में ही उन्हें वैराग्य प्राप्त हुआ। यह देख माता पिता ने उनको विवाह सूत्र में बांधने का विचार किया तथा सोम शर्मा ब्राह्मण की पुत्री के साथ उनका लगन किया फिर भी भावि को कौन टाल सकता है। गजसुकाल के हृदय में वैराग्य भावना चल रही थी और उन्होंने नेमीनाथ के पास दीक्षा अंगीकार करके श्मशान में कायोत्सर्ग कर ध्यान मग्न खड़े रहे। संयोगवश उनके श्वसुर सोमशर्मा ब्राह्मण वहां से जाते हुये उन्हें मुनिवेश में देख और सोचने लगे कि यह तो मेरी नवविवाहिता पुत्री का भव बिगाड़ देगा और

अत्यन्त क्रोधवश होकर वहां श्मशान में पड़े अग्निशंखों को मुनिगज सुकुमाल के सिर पर रख दिया। मुनि ध्यानमग्न थे और असह्य पीड़ा को सहन करते हुये और यह सोचते सोचते कि मेरे श्वसुर ने मुझे मोक्ष की पागड़ी बन्धा दी है केवलज्ञान को प्राप्त कर मोक्ष को गये।

इलाचीपुत्र

इलाचीपुत्र एक श्रेष्ठि के पुत्र थे पर नगर में आये नट के खेल देखते हुये नट की पुत्री के मोह में पड़ गये थे और नट पुत्री को प्राप्त करने हेतु स्वयं नट बन उन्हीं के साथ अद्भुत खेल करते रहे। एक बार बेनातट नगर में इलाचीपुत्र डोरी पर चढ़ बांस को घुमाते हुये अति आश्चर्यजनक खेल करने लगे परन्तु नट राजा को तो वह प्रसन्न नहीं कर सके परन्तु उस समय थोड़ी दूर एक मुनि भगवंत को देखा जिनको एक अति सुन्दर स्त्री वोहरा रही थी मगर मुनिराज सिर्फ नजरों से ही देख रहे थे। यह दृश्य देख इलाचीपुत्र वैराग्य की भावना भाते रहे और अपने को धिक्कारते हुये केवलज्ञान को प्राप्त हुये।

ढंढण कुमार

श्रीकृष्ण वासुदेव की एक पत्नी ढंढणा के पुत्र का नाम ढंढणकुमार था। वैराग्यभावना उत्पन्न होने पर भगवान नेमीनाथ के पास उन्होंने दीक्षा अंगीकार की। परन्तु उनके पूर्व के कर्म का ऐसा उदय था कि जब भी वे गोचरी जाते उन्हें विशुद्ध आहार प्राप्त नहीं होता था। अतः उन्होंने यह अभिग्रह धारण किया कि अगर उनको स्वलब्धि से ही भिक्षा मिलेगी तो वे उसे ग्रहण करेंगे। एक बार ऐसा हुआ कि जब वे द्वारका नगरी में भिक्षा के लिये घूम रहे थे तो संयोगवश श्रीकृष्ण वहां से जा रहे थे तो श्रीकृष्ण ने वाहन से उतर कर मुनि भगवंत को वंदना की और यह दृश्य देख किसी श्रेष्ठि ने ढंढक मुनि को विशुद्ध मोदक वोहराये। परन्तु मुनि ने सोचा कि यह आहार मेरी स्वयं की लब्धि से मुझे प्राप्त नहीं हुआ है। इसलिये उन मोदको को वे कुम्हारशाला में परठने गये और वहां मुनि को मोदक परठते परठते उत्तम भावना भाते केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

मेतार्य मुनि

चंडाल पुत्र मेतार्य का राजगृही नगरी में एक श्रेष्ठि के वहां लालन पालन हुआ और अपने अद्भुत कौशल द्वारा श्रेणिक राजा के जमाई बने परन्तु बारह वर्ष के लग्नजीवन के पश्चात उन्होंने अट्ठाईस वर्ष की उम्र में दीक्षा ग्रहण की। एक बार गोचरी लेने जाते हुये एक सोनी के वहां पधारे। सोनी उस वंक्त सोने के ज्वले घड़ रहा था परन्तु भक्ति भाव से मुनि को वोहराने के लिये उठकर अन्दर जाकर भिक्षा ले आया परन्तु उस समय अपने सोने के ज्वलो को वहां न

पाकर सोनी को मुनिराज पर वहम हो आया कि अवश्य ही मुनि ने जवले चुराये हैं। और मुनि को पूछा कि मेरे सोने के जवले कहां हैं। मुनिराज ने सोचा कि अगर मैं सच बताऊंगा कि इस कौच पक्षी ने जवले निगले है तो यह सोनी इस कौच पक्षी को मार डालेगा। अतः मौन रहना ही श्रेष्ठ है। मुनि के मौन रहने पर सोनी का वहम और भी गहरा हो गया और क्रोध में आ सोनी ने मुनि के मस्तक पर लीले चमड़े की पट्टी कस कसा के बान्धकर तेज धूप में मुनि को खड़ा किया। मुनिराज असह्य वेदना को समतापूर्वक सहते रहे। और अन्त में मुनि की दोनों आंखें बाहर आईं उन्हें केवलज्ञान प्राप्ति हुई।

दढ प्रहारी

दढप्रहारी यज्ञदत्त ब्राह्मण का पुत्र होते हुये भी बाल्यकाल में कुसंग से चोरी करते करते एक बड़ा चोर डाकू बन गया। तथा लूटपाट मचाते हुये एक बार उसने एक ब्राह्मण, एक सगर्भा स्त्री, एक गाय और एक बालक की निर्मम हत्या एक ही साथ की। परन्तु इन चार हत्याओं के दृश्य ने उसके विचार में परिवर्तन लाया और उसका हृदय इतना संतप्त और दुखी हुआ कि उसने संयम को धारण किया और दृढ़ प्रतिज्ञा की कि जब तक उसके मन से इन पूर्व पापों की स्मृति नहीं मिट जाती है तब तक वह वहां गांव के मध्य में ध्यानमग्न रहेगा। वहां से गुजरते लोग उस पापी पर पत्थर, ईंटें फेंकते और उसे धिक्कारते थे। परन्तु दढप्रहारी समतापूर्वक उपराम सहन करते करते चौहरत गुणस्थान को प्राप्त कर केवलज्ञान को प्राप्त हुये।

कुरगडु मुनि

धनदत्त श्रेष्ठि के पुत्र थे और बाल्यावस्था में ही उन्होंने धर्मघोषसूरि के पास दीक्षा ग्रहण की। उनमें क्षमा का महान गुण था और अत्यन्त शांत प्रवृत्ति के थे। परन्तु पूर्व भवों के कर्मों के उदय से उनसे किसी भी प्रकार की तपश्चर्या नहीं हो पा रही थी। एक बार ऐसा हुआ कि प्राप्त गोचरी ला करके वापरने बैठे तो एक मासखमण वाले मुनि वहां आये और उनसे कहा कि मैंने तुमसे थूकने का पात्र मंगाया था और तुम अभी तक क्यों नहीं ले आये और उल्टे आहार वापरने बैठ गये। अब देखो मैं तुम्हारे इस गोचरी के पात्र में ही थूकूंगा। जब मासखमण वाले मुनि ने गोचरी के पात्र में थूका तो कुरगडु मुनि बड़े ही विनम्र भाव से बोले कि मैं तो छोटा सा बालक हूं मेरे धन्य भाग्य आप महात्मा स्वामी के थूक का प्रसाद मेरी गोचरी में मुझे प्राप्त हो गया। मेरी किसी भी तरह के अविनय के लिये मुझे क्षमा करना और ऐसी उत्तरोत्तर भावना आते हुये केवलज्ञान को प्राप्त किया।

नागकेतु

पूर्व भव में वणिक पुत्र के रूप में अठम तप की आराधना फलस्वरूप श्रीकान्त शेट के वहां जन्मे नागकेतु को जाति स्मृण ज्ञान होने से नवजात शिष्य ने इस बार भी पर्यूषण पर्व में अट्टमतप की आराधना कर नागराज धरणेन्द्र के बड़े कृपापात्र बने और एक दिन प्रभु भक्ति में लीन नागकेतु के हाथ में पुष्पों से भरे थाल में से एक सर्प ने नागकेतु को डस लिया परन्तु प्रभुभक्ति में इतने मग्न हो गये कि क्षपक श्रेणी पर चढते चढते केवलज्ञान को प्राप्त किया ।

खंधक मुनि

धर्म घोष मुनि के शिष्य खंधक मुनि कठोर तपस्वी थे और छट्टव अट्टम के तप करते थे । एक बार विहार करते हुये राजमहल के पास से गुजर रहे थे उस वक्त राणी ने उनको देखा जो उनकी बहन थी और जब राणी ने मुनि के जर्जरीत शरीर को देखा तो उनकी आँखों में आंसू आ गये । पास खड़े राजा ने यह सब देखा और सोचा कि कहीं यह राणी का कोई पहले का यार तो नहीं है सो राजा ने सेवकों को आज्ञा की कि इस मुनि की चमड़ी उधेड़ ली जाय । मुनि को जब सेवकों ने पकड़ा तो मुनि ने सोचा कि मेरे लिये यह कर्म खपाने का सुनहरा मौका है सो सेवकों को कोई भी तरह की तकलीफ न हो मन (त्याग कर) वोसरा दिया । चड़ चड़ चामड़ी के उतरते उतरते ध्यानमग्न मुनि घड़घड़ाते शुक्ल धान्य को चढते गये और केवलज्ञान को प्राप्त किया ।

स्कन्दकाचार्य के ५०० शिष्य

प्रभु मुनि सुव्रतस्वामी के पास ५०० शिष्यों के साथ दीक्षा ग्रहण कर स्कन्दकाचार्य कुंभकार नगरी में विहार करते हुये पधारे । पूर्व भव के वैर से वहां के मंत्री ने आचार्य जहां ठहरे हुये थे वहां बाहर अस्त्र-शस्त्र जमीन के अन्दर छिपा दिये और राजा को बताया कि स्कन्दकाचार्य आपके राज्य को जीतने के लिये साधु वेश में ५०० सुमटो को साथ में लाये हैं । जब राजा ने छिपाये गये शस्त्रों को देखा तो आगबबुला हो सभापति को आज्ञा कि इन सब को घाणी में पीस लो । सेनापति ने एक एक करके सब मुनियों को घाणी में पीस डाला और स्कन्दकाचार्य को अधिक दुखी करने के उद्देश से घाणी के सामने बांध कर खड़ा किया । ५०० मुनि तो प्रभु मुनिसुव्रत स्वामी के कहे अनुसार कि वहां तुम्हारा मोक्ष होगा- सम्यक प्रकार से आलोचना लेकर सर्व जीवों को खमाते खमाते क्षपक श्रेणी को चढते हुये केवलज्ञान को प्राप्त कर मोक्ष को गये । परन्तु स्कन्दकाचार्य अपनी बारी आने पर क्रोधी बने और राजा और मंत्री को शिक्षा देने के विचार से भव भ्रमण में भटक गये ।

झांझरिया मुनि

मदनब्रह्म राजकुमार के ३२ रानियां थी परन्तु उद्यान में क्रीड़ा करते हुये एक बार मुनिराज से वैराग्य की वाणी सुन दीक्षा ग्रहण की। विहार करते हुये जब एक समय खंभात नगरी में पधारे तो गोचरी के लिये जाते मुनि को किसी शेठ की शेठानी जो ज्वर से पीड़ित थी मुनिराज को गोचरी के लिये घर पर बुलाकर दरवाजे बन्द कर दिये। व्रत में अडिग मुनि से जब शेठानी काम वासना पूर्ण नहीं कर पाई तो मुनिराज के बाहर निकलते समय शेठानी ने उनके पैर में लपट लगाई जिससे शेठानी के पैर की एक झांझर मुनि के पैर में बन्ध गई। यह सब दृश्य नगर का राजा देख रहे थे जब शेठानी के शोर शराबे से कि मुनि मेरा शिमल खंड करके जा रहा है तो लोग मुनि को मारने लगे मगर राजा के कहने पर सच्चाई मालूम हुई और शेठानी को देश निकाला दिया। मदनब्रह्म मुनि तभी से झांझरिया मुनि कहलाये। एक बार ऐसा हुआ कि मुनि जब उज्जैनी नगर में राजमहल के पास से जा रहे थे तो झरोखे में बैठे राजा-रानी ने उन्हें देखा और रानी ने अपने भाई-मुनि को देखा तो आंखों में आंसू आ गये। यह देख राजा के मन में वहम उत्पन्न हुआ और राजा ने सेवक को आज्ञा दी कि मुनि को बड़े खड्डे में उतार मुनि का शिरच्छेद कर दिया जाय। शिरच्छेद होने से पूर्व मुनि ने उच्च भावना आते हुये केवलज्ञान को प्राप्त किया। और अब राजा को विदित हुआ कि मुनिराज रानी के भाई थे तो पश्चाताप की अग्नि में झुंझते हुए राजा को भी केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।

अषाढाभूति

११ वर्ष की उम्र में अषाढाभूति अणगार ने धर्म रुचि गुरु के पास दीक्षा अंगीकार कर विद्या बल से अनेक लब्धियों प्राप्त कर अलग अलग रूप को धारण करने वाली लब्धि भी प्राप्त की। एक बार किसी नट के वहां स्वादिष्ट और सुगंधित भोजन वोहराने पर और मोदक प्राप्त करने की तीव्र इच्छा से अलग अलग रूप धारण कर मोदक के लिये गये। परन्तु कुशल नट ने इस बात को समझा कि मुनि नाटक करने की कला में पारंगत है अपनी दो पुत्रियों के मोहजाल में मुनि को फंसा दिया। गुरु के लाख समझाने पर भी मुनि वेश त्याग नट के वहां रहने लगे। परन्तु एक बार दोनों नट पत्नियों के विभित्स स्वरूप को देख अपने मन को धिक्कारते हुये पुनः गुरु के पास जाने को तत्पर हुये परन्तु नट पत्नियों के भरण पोषण हेतु उन्होंने एक बार पुनः ५०० राजकुमारों के साथ भरतेश्वर का नाटक हुबहू किया और हाथ की अंगुली की बींटी नीचे गिरते गिरते अनित्य भावनाओं भाते हुये केवलज्ञान को प्राप्त किया।

और भी उनके उदाहरण जैन साहित्य में भरे पड़े हुये हैं जहां आसक्ति में रहते हुये भी विरक्ति भाव उत्पन्न होते होते केवलज्ञान प्राप्त हुआ है जैसे—

- (१) रतिसुकुमार को अपनी पत्नी को श्रृंगारते हुये ।
- (२) पृथ्वीचन्द्र को राजसिंहासन पर बैठे बैठे ।
- (३) अरणिक मुनि अनशन लेकर धधकती शीला पर शरीर त्याग कर ।
- (४) गुणसागर को लग्नमंडप में बैठे बैठे हस्तमिलाप के समय ।
- (५) पुण्याठय राजा को अपना खुद का जीवन दर्शन करते करते ।
- (६) अर्जुन माली प्रतिदिन छहसाडो करने के पश्चात् पत्थरों की मार सहते सहते ।
- (७) कुमार्यपुत्र को घर में बैठे बैठे ।
- (८) कपिल ऋषि को करोड़ सौनय्या की आसक्ति से बोमासा स्वर्ण की विरक्ति तक आते आते ।
- (९) अरणिक अणमार चींटियों की जीवदया से कवडी तुम्बडी को स्वयम् खाते खाते ।

उपसंहार

इस तरह शुक्ल ध्यान में रहकर क्षपक श्रेणी में चढते हुये प्रतिपादित केवलज्ञान एक ही समय में प्राप्त करने की अनेक मुनि भगवंत व पुण्यात्मायें हुयी हैं और केवलज्ञान प्राप्त कर थोड़े ही समय में मोक्ष प्राप्त करने वाले अंतगत केवली भी हुये हैं । हमारे जैन दर्शन की यह एक विशिष्टता है कि कितनी भी निष्ठुर और कठोर आत्मायें भी कभी अनुमोदन कभी प्रायश्चित और कभी भक्ति व कभी विरक्ति की नाव पर बैठकर भावों की उच्चतम लहरों के सहारे संसार सागर को सहज ही पार कर लेती हैं । हमें भी उन सब आत्माओं का हार्दिक अनुमोदन कर अपने जीवन को भी धन्य बनाना चाहिये ।

चन्दनवाला और मृगावती

दासी वसुमती से बनी चन्दनबाला जो अट्टमलय की उपवासीनी चन्दनबाला को प्रभु महावीर को बावुले वोहराते हुये केवलज्ञान की प्राप्ति भले ही नहीं हुई हो और मुन्डा हुआ सिर वे जंजीर से झकडी शरीर और प्रभु महावीर के दश बोल को चन्दनबाला के अश्रु भीने रुदन से भी चढकर गुरणि चन्दनबाला और शिष्या मृगावती का परस्पर एक दूसरे को अन्तःपूर्वक खमत

खामणा क्षमायाचना करते हुये केवलज्ञान की प्राप्ति हुई । और वही शिष्या मृगावती को प्रथम केवलज्ञान प्राप्त हुआ । जब चन्दनबाला ने प्रभु के पास दीक्षा अंगीकार की और साध्वी संघ के अग्रणी बने और तत्पश्चात् मृगावती भी अपने पुत्र को प्रभु महावीर समदा राजा चंड प्रद्योतन को सौंप कर दीक्षा अंगीकार कर चन्दना साध्वीजी की शिष्या बनी । और चन्दनबाला और मृगावती एक ही उपाश्रय के रहते हुये जब एक बार मृगावती दहेरे उपाश्रय पहुंची तो चन्दनबाला ने उन्हें ठपका दिया परन्तु मृगावती को अन्तकरण से क्षमा मांगतेहुये केवलज्ञान की प्राप्ति हुई । और एक बार ऐसा हुआ कि चन्दनबाला साध्वी अन्धेरे में सोई होती है तो एक सर्प वहां नजदीक से जाते हुये मृगावती ने चन्दनबाला का हाथ कुछ उधर किया जिससे चन्दनबाला जाग गई और सोचा मृगावती को ज्ञान द्वारा अन्धेरे में भी सर्प दिखाई दिया और तब चन्दनबाला ने मृगावती से क्षमायाचना की जिससे चन्दनबाला को भी केवलज्ञान की प्राप्ति हुई ।



धर्मायतन, आवास तथा कारोबार : एक सुख समृद्धि कारक तन्त्र

□ डॉ. सोहनलाल देवोत

संसार का प्रत्येक जड़ व चेतन प्राणी अपनी क्षमता व प्रकृति अनुसार चेतन व अचेतन पदार्थों का आकर्षण व विकर्षण करता है। इस तथ्यानुसार भारतीय ऋषि मुनियों ने मानव कल्याण हेतु शब्द को बहुत ही महत्व देते हुए इन्हें अजर-अमर बताया है। यह रहस्य प्रत्येक स्वर व्यंजन रूप वर्ण की संरचना, प्रकृति, गुण और प्रभाव का सूक्ष्म अध्ययन करने पर ज्ञात होता है। किसी वर्ण विशेष को किसी वर्ण विशेष के साथ जोड़ देने पर उसके उच्चारण व जप से अपेक्षित व्यक्ति व वस्तु में रसायनिक परिवर्तन एवं रूपान्तरण के जो गुण आते हैं, वह भी इसी विशद् अध्ययन से ज्ञात होता है। शब्दों के सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों की दृष्टि अधिक सचेत व संवेदनशील रही है। प्रत्येक कार्यो और स्थितियों का पृथक-पृथक वर्गीकरण उनकी सूक्ष्म दृष्टि का द्योतक है। अर्थात् प्रत्येक अक्षर व वर्ण सार्थक ही नहीं अपितु लक्ष्य विशेष का सूचक व साधक भी है। हमारे द्वारा किसी विशिष्ट ध्वनि व वर्ण का जप करना प्रारम्भ किया जाता है तब वर्णों की ध्वनि हमारे सारे तन्त्र को एक विशेष व अपेक्षित दिशा और स्थिति की ओर प्रवृत्त कर अपेक्षित वस्तु व प्राणी का आकर्षण व विकर्षण करती है। कहने का आशय शब्द का जप हमारी शक्तियों को ही जागृत नहीं करता वरन वह इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त अन्य सम्बन्धित शक्तियों को भी जागृत करता है।

पूर्वाचार्यों द्वारा बीज मन्त्रों के रूप में जिन ध्वनियों तथा तन्त्रों^१ का निर्माण व वर्गीकरण

किया गया है, वह लोक प्रकृति में प्रवेश करने की विधियां और राजमार्ग हैं। अर्थात् मैं जहां तक समझा हूं पूर्वाचार्यों ने मानव मन की प्रकृत इच्छाओं की पूर्ति को अष्ट विधाओं^१ व अष्ट राजमार्गों के रूप में वर्गीकृत किया है। यहां समस्त-विधाओं के विवेचन पर न जाकर शान्तिक-पौष्टिक-उभय पक्षी विधा व अभिकर्म के अन्तर्गत अपेक्षित परिशोधित व परीक्षित “धर्मायतन, आवास तथा कारोबार : एक सुख समृद्धि कारक तन्त्र” को ही प्रस्तुत करना अधिक उपादेय होगा।

शान्तिक व पौष्टिक अभिकर्म

जिन ध्वनियों के वैज्ञानिक सन्निवेश के घर्षण व अपेक्षित समय में अपेक्षित वस्तु व पदार्थ के अनुपातिक संयोजन के रसायनिक प्रक्रिया द्वारा रोग निवारण, भूत-प्रेत, ग्रह पीड़ा मानसिक तनाव से मुक्ति तथा धन-धान्य, सौभाग्य, यश-कीर्ति तथा सन्तान आदि की प्राप्ति हो उन ध्वनियों के सन्निवेश को तथा वस्तुओं के संयोजन के तन्त्रों को शान्तिक पौष्टिक मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र किंवा शान्तिक पौष्टिक अभिकर्म कहते हैं।

उपर्युक्त शान्तिक पौष्टिक अभिकर्म सम्बन्धी साहित्य जैन मन्त्र शास्त्रों में प्रचूर मात्रा में उपलब्ध होता है। उनमें से धर्मायतन, आवास व कारोबार अर्थात् मन्दिर, पाठशाला धर्मशाला, गुरुकुल, छात्रावास, ब्रह्मचर्याश्रम, वसतिका, गृहस्थ के रहने का मकान, दुकान, गोदाम तथा कारखाना आदि के निर्माण के प्रारम्भ व पूर्णता के अन्त में अथवा किसी भी प्रकार की अशान्ति का अनुभव होने पर एक पक्षीय करने योग्य क्रिया किंवा तन्त्र के सम्बन्ध में जो खण्ड रूप सामग्री यत्र-तत्र उपलब्ध होती है वह लाभ की अपेक्षा तथा तान्त्रिक दृष्टि से अपूर्ण ही कही जा सकती है। इस तन्त्र सम्बन्धी सामग्री को अलग-अलग हस्तलिखित पुस्तकों, गुटकों तथा पतड़ों से प्राप्त कर एक क्रम से एक स्थान पर इकट्ठी करने पर जिस इकाई का निर्माण होता है उस पर शोधकर्ता द्वारा विगत दो दशकों से भी अधिक समय से प्रायोगिक कार्य चलता रहा तथा उस मूल इकाई में

१. समय विशेष में विधिपूर्वक-वस्तु विशेष व पदार्थ विशेष का संग्रह किंवा मिश्रण के रसायनिक प्रक्रिया द्वारा अपेक्षित प्राणी व पदार्थ को प्रभावित किया जाता है उसे मन्त्र शास्त्र में तन्त्र के नाम से जाना जाता है।

२. अष्टविधाएं— १. शान्ति २. पुष्टि ३. मोहन - आकर्षण ४. वशीकरण ५. स्तम्भन ६. विद्वेषण ७. उच्चाटन ८. निषेध अभिकर्म

धर्मायतन, आवास तथा कारोबार : एक सुख समृद्धि कारक तन्त्र

२०३

तान्त्रिक रूप से जिस वस्तु यन्त्र-मन्त्र व क्रिया की न्यूनता किंवा भण्डार रही है, उसे निरन्तर प्रयोगों एवं उसके परिणामों के आधार पर परिवर्तन/परिवर्धन कर एक पूर्ण इकाई तन्त्र बनाने का प्रयास किया गया है। यही नहीं इसके परिणाम पूर्व के प्रयोगों की अपेक्षा उत्तरोत्तर सन्तोषजनक रहे हैं।

मेरे मन्त्र शास्त्र के विद्या एवं दीक्षा गुरु सन्मार्ग दिवाकर निमित्त ज्ञान शिरोमणि १०८ आचार्य श्री विमलसागरजी की सन् १९९० के वर्ष हीरक जयन्ती की स्मृति को बनाये रखने अपने उन्हीं गुरु से प्राप्त विद्याओं एवं स्वशोधित व परीक्षित विद्याओं में से उन्हीं गुरुदेव के प्रति भक्ति सुमन के रूप में “धर्मायतन, आवास कारोबार : एक सुख समृद्धि कारक तन्त्र” जन सामान्य के उपयोगार्थ यह प्रयोगतः छोटा सा प्रयास प्रस्तुत कर रहा हूँ। मेरी अल्पज्ञता से त्रुटि रह जाना संभव है अतः विज्ञ बन्धु उसे सुधार कर मुझे सूचित करने का कष्ट अवश्य करेंगे ऐसी विनम्र प्रार्थना है। इसी के साथ मेरे उन बन्धुओं से भी निवेदन है कि इस प्रयोग के सम्बन्ध में जिन्हें शंका समाधान की अपेक्षा है वे निःसंकोच पत्र-व्यवहार कर सकते हैं।

शान्ति व अशान्ति के शमन हेतु जिस स्थान पर इस प्रयोग को करना है। उसे निम्न प्रकार श्री सम्पन्न करना है—

कुण्ड निर्माण :—जिस स्थान पर इस क्रिया को करना हो उस स्थान के मुख्य द्वार के दायीं ओर एक पक्का $१\ १/४' \times १\ १/४' \times २'$ का कुण्ड तैयार करवाना होगा।

ढक्कन सहित ताम्र कलश क्रय :—किसी भी शुभ तान्त्रिक मुहूर्त में एक बड़ा ताम्बे का ढक्कन सहित कलश खरीद कर तैयार रखना है।

धातुगत मन्त्रों एवं अन्य सामग्री का निर्माण :—किसी भी शुभ तान्त्रिक मुहूर्त में निम्न मन्त्र एवं सामग्री तैयार करवानी है :—

१. चांदी का कूर्मचक
२. ताम्बे का अनुस्वार युक्त विघ्न विनाशक मातृका यन्त्र
३. चांदी का स्वस्तिक बीसा यन्त्र
४. चांदी का नाग-नागिनी (धरणेन्द्र-पद्मावती)
५. ताम्बे का विघ्न विनाशक श्री पार्श्वनाथ यन्त्र (स्टेण्ड वाला)
६. चांदी की एक जोड़ चरण पादुका

७. ताम्बे का एक त्रिशूल

८. ताम्बे के छेद युक्त ५ सिक्के

९. पंचरत्न क्रय करने हैं (पंचरत्न की अंगूठी)

पूजन सामग्री :—

अष्ट द्रव्य, दुर्वा, नागकेसर, मिठलफल, कुंकुम, सुगन्धित पुष्प, चावल २ किलो, बादाम २५ नग, पान १५ नग, नारियल ५ नग, लाल सिल्क कपड़ा सवा मीटर, कांच नग १, पकवान, पूजा की सुपारी नग ५, पूरी हल्दी की गांठे नग ७, आदि

प्रक्रिया :—

रवि- पुष्य के शुभ योग में किसी अच्छे जानकार विद्वान द्वारा प्रथम कुण्ड का भूमि पूजन, दशदिग्गपाल पूजन, नवग्रह पूजन, धरणेन्द्र पद्मावती पूजन, पार्श्वनाथ पूजन के अनन्तर कूर्मचक्र, विघ्न विनाशक मातृका यन्त्र, स्वस्तिक बीसा यन्त्र, नाग नागिन (धरणेन्द्र-पद्मावती), पार्श्वनाथ यन्त्र, पार्श्वनाथ चरण पादुका आदि की प्राण प्रतिष्ठा की क्रिया को करवाकर निम्न क्रम से कलश को तैयार करना है :—

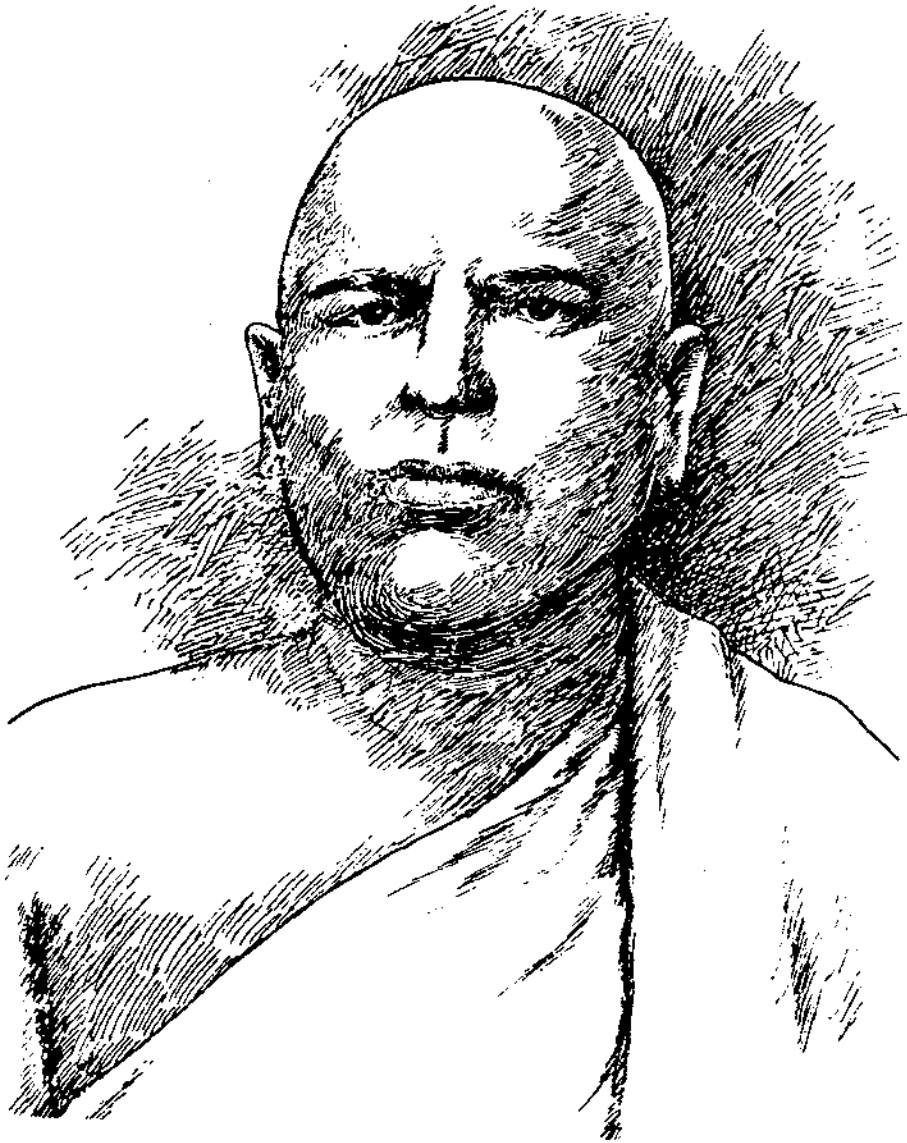
प्रथम स्वच्छ किये हुए ताम्र कलश में केशर से स्वस्तिक अंकित कर उस पर कूर्मचक्र की स्थापना कर तदोपरी विघ्न विनाशन मातृकाक्षर यन्त्र की स्थापना करनी है। उस पर स्वस्तिक बीसा यन्त्र की स्थापना कर उसके दायीं तरफ नाग (धरणेन्द्र) तथा बायीं तरफ नागिन (पद्मावती) स्थापना करनी है। नाग-नागिन के बीच स्टेण्ड वाला विघ्न विनाशक शान्तिदाता पार्श्वनाथ यन्त्र को खड़ा स्थापित करना है। तदनन्तर यन्त्र के सम्मुख पार्श्वनाथ चरण पादुका, त्रिशूल, ५ सुपारी, ७ हल्दी की गांठे, पंचरत्न, छेदवाले पांच सिक्के आदि रखकर २१ बार णमोकार मन्त्र बोल श्वास स्थिर कर कुएं के शुद्ध जल से कलश को भर देना है। भरे हुए कलश के ऊपर पान रख ढक्कन लगाकर उस पर नारियल रखकर, लाल सिल्क के कपड़े से कलश बांध देना है। कलश के गले में मिठल फल, नागकेसर कांच को बांधना है। कलश को सुगन्धित पुष्पों की माला पहनाकर एक पाट पर स्थापित कर पुनः प्रगटप्रभावी पार्श्वनाथ, धरणेन्द्र पद्मावती की विधिपूर्वक पूजन कर कुण्ड में एक किलो चावल का स्वस्तिक बनाकर २१ बार णमोकार मन्त्र के मनोयोग पूर्वक गिन श्वास स्थिर कर उस मन्त्रपूत कलश को कुण्ड में स्थापित कर देना है। कलश स्थापित हो जाने के पश्चात् कुण्ड के नाप की शिला से उसे ढक देना है। यह सुख समृद्धि कारक तन्त्र मन में

प्रसन्नता, खराब दृष्टि का नाश उपद्रव व भयों से रक्षा, कुटुम्ब का सुख व आरोग्य, सुखमय जीवन, भूत-प्रेत, शाकिनी, डाकिनी-व्यन्तर तथा इसी प्रकार के हल्के जाति के दूसरे देवों से रक्षा कर सुख समृद्धि कारक अवसरों में सहायक होता है ।

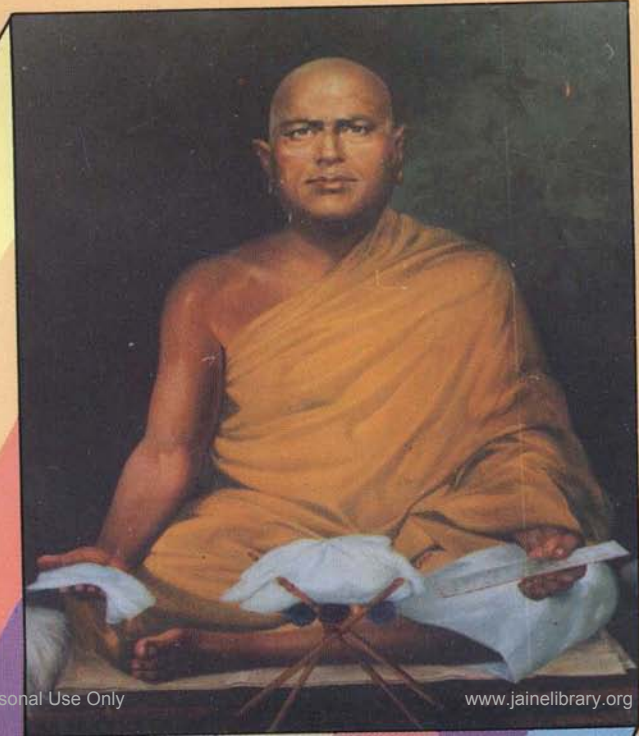
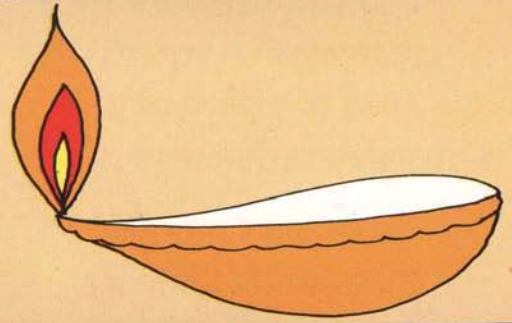
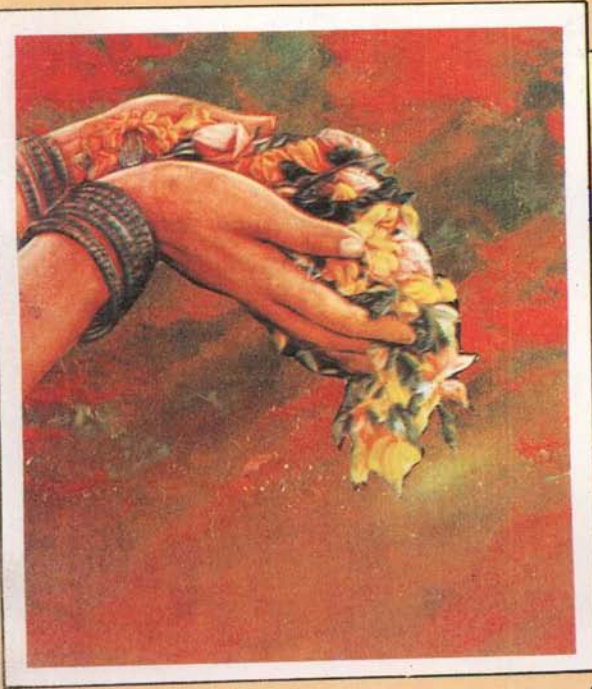
इस प्रकार प्रगतिगत नियमों पर आधारित इस गूढ़ विज्ञान को पूर्वाचार्यों ने जनसामान्य के कल्याणार्थ प्रस्तुत किया है । आज आवश्यकता इस बात की है कि उन लुप्त प्रायः विधि विधानों की खोज एवं परीक्षण किये जाय, जिससे स्वयं का ही नहीं वरन् मानव मात्र का कल्याण होगा ।







શબ્દાંજલિ



श्री विजयानंद सूरीश्वर स्तुति

□ मुनि श्री देव विजय

श्री मन्तमीड्यं गुणिनं प्रशान्तं
वि शुद्धचित्तं समतानिशान्तम् ।
ज गज्जनानंदकरं नितान्तं
या म्यातिसौम्यं वरकीर्तिकान्तम् ॥१॥

नं दानिकाय्यं विलसत्कृतान्तं
द मीश्वरं शिष्ट पथा प्रयान्तम् ।
सू क्ष्मेक्षिणं तत्त्वविदां महान्तं
रि रंसया शान्तिवधूं वहन्तम् ॥२॥

चंचत्क्षमाद्युच्चगुणान् धरन्तं
रंगत्रतापं च चिदुल्लसन्तम् ।
ण स्थानमुद्यद् दुरितं हरन्तं
पं चेषुमुख्यारिगणं जयन्तम् ॥३॥

कर्पूरभासा यशसा स्फुरन्तं
जं भारिपूज्यप्रतिभं भदन्तम् ।
वं दे मुदा सौख्यलतावसन्तं
दे वेन्द्रवन्द्यं मुनिराड् !
भवन्तम् ॥४॥

□

श्री आत्मानंद जयंती

□ आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि

(यह प्रवचन पंजाब केशरी, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरिश्वर जी महाराज ने सं. १९७१ के ज्येष्ठ सुदि ८ को आत्मानंद जयन्ती के अवसर पर लालबाग (मुंबई) में किया था।)

महाशयो । यद्यपि आज का दिन जयन्ती का है तथापि मैं इसे खुशी का दिन नहीं समझता, अफसोस का दिन समझता हूँ । मनुष्य को दुःख उसी समय होता है, जब किसी ऐसे मनुष्य का वियोग होता है । जिसके कारण उसका लाभ होता है । अथवा यूँ कहिए कि उसी मृत मनुष्य के लिए शोक करते हैं, जिसके कारण उनका कोई मतलब बिगड़ता है । उनका कोई स्वार्थ नष्ट होता है, इस स्वार्थी दुनियाँ में कोई तब तक दुःखी नहीं होता जब तक उसके स्वार्थ में व्याघात नहीं पहुँचता ।

सज्जनों ! आप कहेंगे कि, साधुओं को शोक करने की क्या आवश्यकता है, मैं कहूँगा शोक-शोक में भी भेद है । एक प्रशस्त होता है और दूसरा अप्रशस्त । अपने निजी नुकसान के कारण जो शोक किया जाता है वह स्वार्थ पूर्ण, और मोहगर्भित अप्रशस्त शोक है । मगर जब एक मनुष्य यह विचार कर शोक करता है कि एक उपकारी महात्मा उठ गये हैं उनकी जगह को अब कौन पूरेगा; तब शोक निःस्वार्थ और भक्ति पूर्ण प्रशस्त शोक कहलाता है । मैं जिसकी बात कहता हूँ वह अप्रशस्त नहीं प्रशस्त है । अप्रशस्त शोक कर्म बंधन का कारण होता है और प्रशस्त शोक कर्म निर्जरा का । शासन नायक चरम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के समय

गौतम स्वामी ने जो विषाद किया था, उसका कारण उनका कोई निजी स्वार्थ न था । वह स्वार्थ रहित और भक्तिगर्भित था । जिसका फल उत्तरोत्तर सारे कर्मों को क्षय करने वाला और मोक्ष दायी हुआ । शास्त्रकारों का कथन है कि ---

अहंकारोपि बोधाय, रागोपि गुरुभक्तये ।

विषादः केवलायाभूत्, चित्रं श्रीगौतमप्रभो ॥

सज्जनों ! हमें भी यहाँ इसी प्रकार का शोक प्रदर्शित करना है । जिन महापुरुष के गुण का अनुकरण करके शोक प्रदर्शित किया जाय, उन महापुरुष के गुणों का जरा सा भी अनुकरण न किया जाय तो मैं कहूँगा कि, फोनोग्राफ में और हममें कोई भी अन्तर नहीं है । हाँ फोनोग्राफ जड़ है और हम चेतन हैं, अन्यथा फोनोग्राफ में भरी हुई कोई भी चीज जैसे प्रगट हो जाती है वैसे ही हमारे अन्दर भरी हुई चीज भी मुँह के द्वारा भाषण के रूप में प्रकट हो जाती है मगर उसका अनुसरण करना और उस पर अमल न करने से फोनोग्राफ से जुदा हो, उससे उच्च होने का अभिमान नहीं कर सकते हैं । इस लिए हमें चाहिए कि हम फोनोग्राफ न बन कर्तव्य कर, उससे भिन्न हो, अपनी चैतन्य शक्ति को इसी प्रकार विकसित करें । जिस प्रकार गौतम स्वामी के उदाहरणों में वर्णन की गई है ।

सज्जनों ! हमें अब यह सोचना है कि, हम जिन पूज्य प्रातः स्मरणीय स्वर्गीय श्रीमद्विजयानंद सूरि जयन्ती मनाने के लिए आज एकत्र हुए हैं उनका किस तरह अनुकरण करने से हमारा शोक मनाना सफल है । सच कहा जाय तो जयन्ती का उद्देश्य यही है, केवल बाहरी धूम-धाम करने का नहीं । धूम-धाम तो केवल लोगों के दिलों को आकर्षित करने के लिए की जाती है सभा में से एक भाई ने अफसोस जाहिर किया है कुछ अंशों में उसका ऐसा करना ठीक भी है, तो भी बम्बई की जैनों की बस्ती के प्रमाण में और लालबाग स्थल के प्रमाण में जितने लोग जमा हुए हैं उन्हें देखकर मुझे तो क्या हरेक को प्रसन्नता हुए बिना न रहेगी । मेरा अनुमान है कि, पर्युषणों के या किसी खास बड़े पर्व के दिन के सिवा कभी इतने मनुष्य शायद ही जमा होते हो । हाँ लड्डू और दूध पाक-पूरी वाले दिन की बात अलग है ।

महानुभावों ! इस शुभ काम के लिए आपने अमूल्य समय निकाला है यह वास्तव में प्रशंसनीय है । मगर यदि सच कहा जाय तो तुमने जो कुछ किया है या करोगे वह तुम्हारे हित ही के लिए है । इसमें तुमने किसी पर अहसान नहीं किया है । अगर इसी तरह थोड़े में से भी थोड़ा

समय निरन्तर निकाल कर धर्म में बिताओगे तो तुम्हारे आत्मा का उद्धार होगा। अन्यथा अगर फुर्सत फुर्सत ही पुकारते रहोगे तो जब तक दम है तब तक फुर्सत न मिलेगी। और जब दम निकल जायगा तब तुम्हें कोई यह न पूछेगा कि, तुम्हें फुर्सत है ?

प्रसंगवश मुझे कहने दीजिए कि, माँडवी स्कूल विद्यार्थी मंडल के मैनेजर की मेहनत से विद्यार्थी मण्डल ने जो काम किया है उसे आप खुद देख चुके हैं। वे स्तुति के पात्र हैं। साथ ही अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि, हमें जिस सभ्यता को धारण करना चाहिए उस सभ्यता की हमें जरासी भी खबर नहीं है। पाँच दस हजार आदमी जमा हों तो भी शान्ति से सभी सुन सकें, हमें ऐसी शान्ति रखनी चाहिए उसकी जगह गड़बड़ करके न स्वयं सुनना न दूसरे को सुनने देना, क्या यह हमें शोभा देता है, मैं जानता हूँ कि दुनिया का ढंग जुदा है : “सत्य मिरची झूठ गुड” झूठी बातें गुड के समान मीठी लगती हैं, परन्तु सच्ची बातें मिरची के समान तीखी लगती हैं, सिर से पैर तक ज्वाल फूट उठती है।

हम जिन महात्मा की जयन्ती मनाने के लिए यहाँ एकत्र हुए हैं। उन महात्मा में इससे उल्टा गुण था। वे “झूठ मिरची सत्य गुड” इस सिद्धान्त को मानने वाले थे। इसी लिए आज जैसे अमुक, अमुक सेठ के गुरु और अमुक सेठ के गुरु कहलाते हैं वैसे ही वे अमुक सेठ के गुरु नहीं कहलाते थे। कारण वे सेठियों के कथनानुसार चलना पसन्द नहीं करते थे। वे जानते थे कि उनकी गुरुता कैसे रह सकती है। हरेक श्रावक को धर्मोपदेश द्वारा अपने हुक्म में चला सकते थे। वे भली प्रकार समझते थे कि, साधु और श्रावकों के आपस में धर्म के सिवा दूसरा कोई संबंध नहीं है, इसी लिए उन्हें किसी की परवाह करने की आवश्यकता न थी। आज तो ऐसी दशा हो रही है कि सेठ का कहना गुरु को मानना ही चाहिए, सेठ चाहे गुरु का कहना माने या न माने। इसका मतलब सेठ गुरु होता है या गुरु, गुरु होता है। वह तुम खुद सोच लेना।

सज्जनों ! स्वर्गीय महात्मा में किस तरह की बेपरवाही थी और कितना साहस था, इस बात का मैं तुम्हें दिग्दर्शन कराऊँगा। पं. हंसराजजी ने जिस " अज्ञान तिमिर भास्कर " की बात कही है, वह जब छपवाने के लिए प्रेस में दिया जाने वाला था, तब कई लोगों ने कहा :- “महाराज ! आप साधु हैं। आप कानून नहीं जानते। इसके छपने से “मानहानि” का केस दायर होने की सम्भावना है।”

महाराज ने फर्माया :- “भाई हम साधु हैं। हम धन नहीं रखते इसी लिए तुम्हें पुस्तक छपाने

के लिए सूचना देनी पड़ती है। तुम्हारे हित के लिए तुम धन खर्चों या न खर्चों यह तुम्हारी इच्छा है, अन्यथा इसमें मानहानि जैसी कोई बात नहीं है और यदि होगी तो उससे तुम्हें कोई हानि नहीं होगी। पुस्तक बनाने वाला मैं मौजूद हूँ। जिसे मानहानि का केस करना होगा वह मुझ पर करेगा। तुम निश्चिन्त रहो, बेफिक्र रहो। अंग्रेज सरकार का राज्य है। जब ऐसे न्यायी राज्य में भी हम अपने धर्म पर आक्रमण करने वालों को, शास्त्रानुसार जबाब देकर, अपने धर्म की रक्षा कर न्याय हक का उपयोग नहीं करेंगे तो कब करेंगे।”

आहा ! कितनी धर्म की लगन ! कैसी हिम्मत ! बेशक दुनिया में साहसी मनुष्य कभी अपने निश्चित विचारों को दूसरों के कहने से, या भय दिखाने से नहीं छोड़ता। वह तो उन्हें पूरा ही करता है। मैं तुम्हें गये बरस स्वर्गीय पूज्य महात्मा का चरित्र सुना चुका हूँ। उससे विशेष मैं कुछ न कहूँगा। मगर मैं इस बार यह बात विषद रूप से बताऊँगा कि वे कैसे साहसी, ज्ञानवान, गम्भीर, निरभिमान, निर्भय और स्पष्टवक्ता थे।

महाशयों ! स्वर्गीय महात्मा कैसे ज्ञानवान थे, इस विषय में कई वक्ता कह चुके हैं। उनके कथन से तुम्हें उनके ज्ञान का अन्दाजा हो गया है। मैं कुछ कहता हूँ उस पर ध्यान दोगे तो उनके ज्ञान के विषय में पूर्ण रूप से जान सकोगे।

श्री बुद्धिविजयजी (बूटेरायजी) महाराज के पाँच शिष्य थे- श्री मुक्तिविजयजी (मूलचन्दजी) महाराज, श्री वृद्धिविजयजी (वृद्धिचन्दजी) महाराज श्री नीतिविजयजी महाराज, श्री खांतिविजयजी महाराज और पाँचवे स्वर्गीय महाराज, जिनकी जयन्ती मानने का आज हम लाभ उठा रहे हैं। पाँचवे महाराज की अपेक्षा श्री मूलचन्दजी महाराज प्रायः गुजरात में विशेष प्रसिद्ध हैं और श्री वृद्धिचन्दजी महाराज को काठियावाड़ में लोग विशेष जानते हैं। श्री नीतिविजयजी महाराज और श्री खांतिविजयजी महाराज को भी काठियावाड़ी ही प्रायः जानते हैं। खांतिविजयजी महाराज काठियावाड़ में कई स्थानों में दादा खांतिविजयजी तपस्वी के नाम से प्रसिद्ध हैं। मगर पाँचवे महात्मा तो गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, मारवाड़, मालवा, मेवाड़, पंजाब आदि सारे हिन्दुस्तान में प्रसिद्ध है। इतना ही नहीं विदेशों में- विलायत में भी लोग उन्हें जानते हैं।

इसका कारण क्या है ? इसका कारण यही है कि, इस सदी में उन्हें जितना ज्ञान था, उतना किसी को नहीं था। इस बात को सभी जानते हैं। जिनमें जितना पानी होता है उतनी ही उनकी

दूर देशों में कीमत होती है। मोती में पानी होता है, इसी लिए उसकी कीमत होती है। जिसमें जितना पानी उतनी ही उसकी कीमत। अहमदाबाद में शान्तिसागर को जवाब देने में ये महात्मा ! तीन थुईवालों को जवाब देने के लिए ये महात्मा, स्थानकवासियों को सम्यक्त्वसार नामक पुस्तक का उत्तर देने के लिये ये महात्मा ! दयानन्द सरस्वती के जैन धर्म पर किये गये आक्षेपों का उत्तर देने के लिए ये महात्मा ! और वैदिक धर्मवालों को जवाब देने के लिए भी ये ही महात्मा ! कितनी विद्वत्ता ! कितना प्रताप !

सज्जनों ! स्वर्गीय महाराज के ज्ञान गुण से मुग्ध होकर ही श्रीसंघ ने पालीताणे में उन्हें, उनकी इच्छा न होते हुए भी आचार्य पदवी दी थी। इस विषय में भरुच के सेठ अनूपचन्दजी अपनी पुस्तक 'प्रसन्नोत्तर चिन्तामणि' में अच्छा प्रकाश डाल गये हैं। मुझे कहने दीजिये कि, उस जमाने में बड़े भाग्य से लोगों को एक आचार्य मिले थे। प्रसन्नता की बात है कि, भाग्यवश जैनों में आज पाँच छः आचार्य विद्यमान हैं। आचार्य श्रीविजय कमल सूरि, आचार्य श्री विजयनेमि सूरि, शास्त्रविशारद श्री विजयधर्म सूरि, योगनिष्ठ श्री बुद्धिसागर सूरि, शास्त्र विशारद श्री कृपाचन्द सूरि। स्वर्गीय एक ही आचार्य महाराज ने अपने समय में अनेक प्रकार से जैन धर्म की उन्नति के कार्य कर जैनों को उपकृत किया है। इसी तरह वर्तमान के आचार्य महाराज भी यथा शक्ति अपने से हो सकें, उतने धर्म की उन्नति के कार्य कर लोगों का उपकार करें तो धर्म की इतनी उन्नति हो कि, जिसका अन्दाजा नहीं किया जा सकता है।

प्रसंगवश मुझे कहना पड़ता है थोड़े समय पहले रतलाम के एक श्रावक का पत्र मुझे मिला है, उसमें लिखा है कि, यहाँ एक ब्रह्मचारी आये हुए हैं। उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर "वेदमुनि कृत ब्रह्मभाष्य" नाम का भाष्य रचा है, जो निर्णय सागर प्रेस में छपकर तैयार हो गया है। उसमें सप्तभंगी, स्याद्वाद, नवतत्व आदि का खण्डन किया गया है। और स्याद्वाद पर अड़तालीस दोष लगाये गये हैं। उसका योग्य उत्तर देने की आवश्यकता है। यद्यपि चाहे जैसा उत्तर तो दिया जायगा, भगवान का शासन जयवंत है, कोई न कोई उत्तर जरूर देगा। तथापि इसका योग्य उत्तर योग्य भाषा में वर्तमान आचार्यों में से अथवा पन्थासों में से कोई दे तो वह विशेष महत्व का हो। इस बात को सभी जानते हैं कि एक सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा किसी प्रतिष्ठित पदवीधर की रचना विशेष प्रतिष्ठित होती है।

सज्जनों ! अब मैं गुरुदेव की गम्भीरता का कुछ परिचय कराऊंगा ! हमें गम्भीरता की

विशेष जरूरत है। मैं जानता हूँ कि समय बहुत ज्यादा हो चुका है। लोग ऊँचे नीचे होने लगे हैं। बार बार जेबों में से घड़ियाँ निकालकर देखी जा रही हैं। मगर इन घड़ियों की अपेक्षा अपने जीवन की घड़ी देखोगे तो मालूम होगा कि, कितना समय हो गया है और कितना बाकी है। भाग्योदय से यह शुभ प्रसंग हाथ आया है। इसे स्थिर चित्त से सफल कर लेना चाहिए। जैसे सांसारिक कार्यों की चिन्ता रहती है वैसे ही बल्कि उससे भी अधिक धार्मिक कार्यों की चिन्ता रखनी चाहिए। जब तुम अपने बाप दादों की द्रव्यरूपी पूँजी के मालिक बने हो उसका बराबर हिसाब रखते हो और उसे बढ़ाने की चिन्ता करते हो, तब उन्हीं बाप दादों की धार्मिक पूँजी को तुम लापरवाही से क्षीण होने देते हो यह कितने दुःख की बात है।

संसार की नश्वर पूँजी के लिये जितनी मेहनत की जाती है, जितना प्रयत्न किया जाता है, उतना ही यदि परमार्थ की धार्मिक पूँजी के लिए जो आत्मा की खास ऋद्धि है प्रयत्न किया जाय तो यह आत्मा अत्यन्त उच्च बन सकती है। हमेशा याद रखना चाहिए कि, दुनिया में सांसारिक उन्नति का मूल कारण धार्मिक उन्नति ही है। मर्यादा के धर्म के आदेशों के अनुसार जो संसार में वर्तता है, वही संसार में उन्नति कर सकता है। कोई बता सकता है कि मर्यादाहीन अनीतिमान मनुष्य ने भी कभी उन्नति की है। कदापि नहीं। आत्मा के गुण जैसे जैसे प्रकट किये जाते हैं वैसे ही वैसे आत्मिक उन्नति बढ़ती जाती है, जिससे अन्त में मोक्ष मिलता है यहाँ मैं इतना कहूँगा कि, गुण प्रकट करने के लिए अवलंबन की आवश्यकता पड़ती है। इस लिए आत्मिक गुण प्रकट करने की इच्छा रखनेवालों को स्वर्गीय महात्मा के समान महात्मा पुरुषों का आदर्श की तरह अवलम्बन लेना चाहिए। सच्चे अवलंबन का त्याग करने से ही इस दुनिया में आजकल हम कितने पीछे पड़ गये हैं। यह बात विचारणीय है।

कई कहते हैं कि, आजकल पंचमकाल है। मैं पूछता हूँ कि पंचमकाल सबके लिए है या जैनों ही के लिए है। जो जैन एक दिन बड़े धनिक थे वे ही जैन आज गरीब व्याकुल दिखाई देते हैं और जो गरीब थे, वे आज धनिक बन गये हैं। इसका कारण क्या है। इसका कारण यही है कि जैन गुणियों या गुणों का आलंबन छोड़, शिक्षाविहीन हो, पुरुषार्थ हीन बन गये हैं। और अपनी निर्बलता वे कलियुग या पंचम काल के बहाने तले छिपाते हैं। पंचम काल में केवलज्ञान आदि अमुक शक्तियाँ ही विकसित नहीं होती है अन्यथा प्रत्येक शक्ति तो मनुष्य अपने पुरुषार्थ के अनुसार विकसित कर सकता है। विचार करोगे तो अंग्रेजी, पारसी आदि लोगों का आदर्श तुम्हें मिल जाएगा। इस लिए पंचम काल के अपंग कारण को आगे कर अपने प्रमाद को उचित बताना

और अपनी जिम्मेवारी से छूट जाना अनुचित है। हम जिन महात्मा की जयन्ती मना रहे हैं। वे महात्मा पंचमकाल-कलियुग के थे या चतुर्थकाल-सत्ययुग के थे। हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि, वे भी पंचम काल ही के थे। अन्तर इतना ही है कि, उन्होंने अपने बल को प्रस्फुटित किया था और हम नहीं करते। उनका जीवन धन्य हो गया और हमारा नहीं।

महानुभावों ! स्वर्गीय आचार्य महाराज में गम्भीरता कैसी थी और उसके कारण वे अपने सामने आने वाले उद्धत से उद्धत मनुष्य को भी कैसे शान्त कर देते थे और कैसे उसके हृदय पर अपना प्रभाव जमा देते थे। उसके एक दो उदाहरण मैं तुम्हें दूँगा।

मालेरकोटले में एक मुल्ला सृष्टि - रचना के संबंध में प्रश्न करने के लिए आचार्य श्री के पास आया। चर्चा में वह बराबर उत्तर न दे सका, इस लिए एक तो मुसलमान, फिर मुल्ला और मुसलमानी राज्य। मुल्लाजी का मिजाज गरम हो गया। सत्य है झूठे पड़े को कोई उत्तर न मिले तो क्रोध करके लड़ने के सिवा दूसरा क्या करे, तो भी आचार्य श्री ने शान्त भाव से कहा :- “मुल्लाजी ! गुस्सा न करो। हम काफिर तो काफिर ही सही, मगर क्या एक बात का उत्तर दोगे !”

मु- शौक से।

आ- हिन्दुओं को जिन्हें आप काफिर बताते हैं- बनाने वाला कौन हैं? अपने धर्म के अनुसार बताना हमारी मान्यता की तरफ न देखना।

मु- इसमें कौनसी बात है? जब कुल कायनात (सृष्टि) को बनाने वाला खुदा है, तब हिन्दुओं को बनाने वाला भी खुदा ही है।

आ- अच्छा मुल्लाजी जरा सोचिए कि, जिन हिन्दुओं को तुम काफिर कहते हो उन हिन्दुओं को खुदाने क्यों बनाया? क्या वह जानता नहीं था कि ये काफिर मुझसे खिलाफ चलेंगे।

मुल्लाजी शान्त हो गये और थोड़ी देर के बाद “फिर हाजिर होऊँगा” कह कर चले गये। बाहर जाकर लोगों से कहने लगे, - “बेशक ! इनके साथ मेरा मत नहीं मिलता, मगर यदि कोई सच्चा फकीर हो तो ऐसा ही हो, दुनिया की परवाह नहीं, मगर फरेब-दगाबाजी से दूर, खुश मिजाज़ सरल स्वभाववाला, गम्भीर और सच्चा हो।”

महाशयों ! देखा आपने कि मुसलमान भी पीठ पीछे गुण गाने लगा। यह फल किसका है? यह है गम्भीरता और समझाने के उत्तम ढंग का।

मुझे सखेद कहना पड़ता है कि, — अनेक ऐसी प्रकृतिवाले होते हैं कि, अगर कोई कुछ पूछने आता है तो उसे अपने माने हुए शास्त्रों के प्रमाण देकर मनाने का प्रयत्न करते हैं। अगर वह नहीं मानता है तो उसे तुम नास्तिक हो, तुम्हें धर्म पर श्रद्धा नहीं है, आदि ऐसे कटु शब्दों का पान कराते हो कि, वह फिर कभी तुम्हारे पास नहीं आता। इतना ही नहीं वह जहाँ जाता है वहीं उनकी निंदा करता है। मगर उन महाशयों को यह ख्याल नहीं आता कि, अगर वह हमारे माने हुए शास्त्रों के प्रमाणों को स्वीकारता ही होता तो वह इस तरह उल्टे सीधे हमसे प्रश्न क्यों करता। और अपने समान शास्त्रों पर श्रद्धा रखने वाले को मना दिया तो इसमें बड़ी बात कौनसी हो गई, सच्ची बड़ाई तो तब है जब श्रद्धाहीन से श्रद्धावान बन जाय। ऐसी शक्ति आचार्य श्री में थी। इसका उदाहरण मैं ऊपर दे चुका हूँ। वे लोग भी भली प्रकार जानते हैं जिन्हें उनके दर्शनों का और व्याख्यान श्रवण का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

आचार्य श्री में ऐसी कला थी कि, वे सामने वाले के मान्य शास्त्रों के अनुसार ही उसे समझा देते थे और अपना सिद्धान्त उसके गले उतार देते थे। वे इस महासूत्र का हमेशा पालन करते थे। कि, “सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियं।” (सत्य और प्रिय बोलो। अप्रिय सत्य न बोलो) उनके हृदय पट पर महावीर स्वामी के साथ जो संवाद हुआ था, वह बराबर अंकित था। जब गौतम स्वामी भगवान महावीर के पास आये थे तब वे शिष्य की तरह न आये थे। वे वादी की तरह भगवान महावीर को इन्द्रजालिया समझ जीतने के लिए आये थे। मगर महावीर स्वामी ने उन्हें ऐसे मधुर शब्दों द्वारा संबोधन किया और उनके मान्य शास्त्रों द्वारा ही उन्हें समझाया कि, वे तत्काल ही समझ गये। क्या इस बात को हम जानते नहीं हैं, जानते तो हैं, मगर उसका आशय समझने में फर्क रह जाता है। जैसे एक ही कुएं का पानी सारे बगीचे में जाता है, मगर जैसा पौधा होता है, वैसा ही उस पर पानी का असर होता है, बबूल के पौधे से काँटा का वृक्ष होता है और आम के पौधे से आम का वृक्ष। वैसे ही एकसी वाणी भी ग्राहक और पात्र के अनुसार परिणित होती है।

महानुभावों ! स्वर्गीय महाराज साहब की गम्भीरता का आपने दूसरा उदाहरण सुना, जो दो उद्देश्य बाकी रहे हैं उन्हें संक्षेप में वर्णन कर मैं अपना प्रवचन समाप्त करूँगा।

जीरे (पंजाब) में एक ईसाई आचार्य जी के पास आया और उद्धता के साथ बोला :- तुम अहिंसा अहिंसा चिल्लाकर माँस खाने की मनाई करते हो, मगर तुम खुद मांसाहार से कहाँ बचे

हो ?

इस बात को सुनकर साधुओं के हृदय में दुःख हुआ। श्रावकों की तयोरियाँ बदली। वे कुछ बोलना चाहते थे, इतने में ही आचार्य श्री ने उन्हें रोककर कहा :- भाई उतावले न बनो। गुस्सा न करो ! इसके कहने से हम माँसाहारी नहीं बन जाते। यह किस हेतु से हमें ऐसी बात कह रहा है उस हेतु को समझ लें।

आचार्य श्री की बात सुनकर आगत ईसाई को बड़ी शर्म आई। उसके दिल ने कहा, - तूने बड़ा बुरा किया कि, ऐसे महात्मा को कठोर शब्द कहे। अब क्या हो सकता है ? जो भाषा वर्गणा निकल गई वह निकल ही गई।

आचार्य श्री ने पूछा :- तुम कैसे कहते हो कि हम माँसाहार से नहीं बच सकते हैं ?

ईसाई :- तुम दूध पीते हो या नहीं ?

आचार्य श्री- पीते हैं।

ईसाई तो बस दूध, माँस और खून से ही बनता है जब माँस और खून से बना हुआ दूध पी लिया तो फिर बाकी रहा ही क्या ? माँस नहीं खाना और दूध पीना यह कहाँ का न्याय है,

आचार्य श्री - बेशक दूध की पैदाईश इसी तरह होती है। इसीलिए जैन मानते हैं कि ब्याई हुई भैंस का पन्द्रह रोज, गाय का दस दिन और भेड़ बकरी वगैराह का दूध आठ दिन तक नहीं पीना चाहिए। कारण कि उसके दूध में परिणमन होने में कसर रहती है। जब वह दूध के रूप में परिणमन हो जाता है तब जुदा ही पदार्थ बन जाता है। इस लिए इसमें कोई हानि नहीं समझी जाती। यह कोई दलील नहीं है कि जिससे पदार्थ बनता है उसको भी पदार्थ का खाने वाला जरूर खावे। अन्न के खेत में गंदी चीजें डाली जाती हैं, ईख, खरबूजा वगैराह की पैदाईश गंदगी की खाद से ही होती है, तो कोई यह कहेगा कि अन्न, खरबूजा आदि पदार्थों को खाने वाला गंदगी भी जरूर खावे ? गंदगी खाकर पुष्ट बने हुए सुअर का माँस खाने वाला ईसाई क्या गंदगी भी खायेगा ? सूनो तुमने जिस तरह का सवाल किया है उसी तरह का जवाब भी तुम्हें मिलेगा। अगर तुम्हारे कथन को तुम ठीक समझते हो और यह कहने की हिम्मत कर सकते हो कि, अन्नादि खाने वाला ईसाई गंदगी भी खाता है तो हमें भी तुम अपनी अक्ल के अनुसार जैसा मुनासिब समझो मान लो। हमारा इसमें कोई नुकसान नहीं है। हम तो यही मानते हैं कि, अन्नादि गंदगी

नहीं है। गंदगी जुदा पदार्थ है और अन्न जुदा पदार्थ है। इसी तरह लोहू माँस जुदा पदार्थ है और दूध जुदा पदार्थ है। इस लिए यह कभी सिद्ध नहीं हो सकता है कि, दूध पीने वाला माँसाहारी है।

ईसाई- महाराज ! आपने तो मुझे चक्कर में डाल दिया। इसका जबाब और क्या हो सकता है कि, या तो माँस खाने वाला गंदगी खाने वाला बने या माँस खाना छोड़ दे।

आचार्य श्री- (उसे ठंडा देखकर) अगर तुम्हारा यह पक्का विश्वास है कि, जिसका दूध पीना उसका माँस भी खाना चाहिए तो बच्चा माता का दूध पीता है इसलिए उसे माता का माँस भी, तुम्हारी मान्यता के अनुसार खाना चाहिए।

ईसाई - अरे तौबा ! तौबा ! महाराज आप साधु हो कर क्या कहते हो ? माता बच्चे को पालती है। बच्चे का फर्ज है कि, वह जितनी हो सके, उतनी माता की सेवा करे। वह उपकार करने वाली है। उपकार करने वाले पर अपकार करना महानीचता का काम है।

आचार्य श्री - वाह। जब तुम इतना जानते हो, तब जानबुझकर उल्टे रस्ते क्यों चलते हो ? हम साधु हैं, इसी लिए तो तुम्हारी भलाई के लिए तुम्हें सच्ची बात कह रहे हैं। केवल बचपन ही में दूध पिलाने वाली माता जब उपकार करने वाली है तब जन्म भर दूध, घी खिलाकर पुष्ट रखने वाले पशु क्या उपकारी नहीं है। माता तो थोड़े ही दिन तक दूध पिलाती है, मगर पशु तो जिन्दगी भर दूध पिलाते हैं। अगर उपकार करने वाली माता की सेवा करना उचित है तो फिर जन्म भर घी, दूध पिलाकर उपकार करने वाले पशुओं की भी सेवा करनी चाहिए या उन्हें मारकर खा जाना चाहिए, अगर इन्साफ कोई चीज है तो तुम खुद ही इस बात को भली प्रकार समझ लोगे।

ईसाई - महाराज ! मैंने आपको तकलीफ दी, क्षमा कीजिए, मगर आपके वचन से मेरा मन बदल गया है। मैं सच्चे दिल से कहता हूँ कि जहाँ तक मेरा वश चलेगा, मैं खुद तो माँस खाऊँगा ही नहीं, दूसरों को भी खाने से रोक्कूँगा।

फिर वह नमस्कार कर चला गया। सज्जनों ! गम्भीरता और मधुरता के फल आपने देखे। अब मैं आचार्य श्री की निरभिमानता का परिचय कराऊँगा। पंडित हंसराजजी बता चुके हैं कि, आचार्य श्री प्रतिष्ठा या नाम के भूखे न थे। उसी को पुष्ट करते हुए मैं कहूँगा कि, उनको नाम से बिलकुल प्रेम न था। वे हमेशा सत्य से प्रेम करते थे। स्वयं अकेले न थे। उनके साथ पन्द्रह साधुओं का परिवार था। यदि वे अपने आप दीक्षित हो कर फिरते तो क्या कोई उन्हें बाहर निकाल देता ? मगर नहीं, उन्हें शास्त्र की रीति पसन्द थी। यदि उन्हें मनः कल्पित रीति ही रखनी

होती तो वे ढूँढियापन ही क्यों छोड़ते ? अपने आप दीक्षित होना जैन शासन की रीति है, इसलिए आचार्य श्री ने बाईस बरस तक ढूँढियापन में बिताया था उतने समय में जितने दीक्षित हुए जितनों ने सम्वेगीदीक्षा ली थी, उन सबको वंदना करना स्वीकार कर उन्होंने संवेगी दीक्षा ली और जगत को अपनी निरभिमानता का प्रमाण दिया । उसका फल यह हुआ कि वे पहले की अपेक्षा अधिक आदर सत्कार के भागी हुए । इस बात को हमें हमेशा याद रखना चाहिए । वे कैसे निर्भय और विचारशील थे इस विषय में श्रीयुत् मोतीचन्द कापडिया सॉलिसिटर कह चुके हैं, इसमें मैं थोड़ा और जोड़ूँगा । आचार्य श्री ने जैन प्रश्नोत्तर ग्रन्थ में लिखा है कि, जैनों की भिन्न भिन्न जातियों के एकत्र होने से जैनों की उन्नति होगी । वह बात आज नहीं, मगर कालान्तर कुछ काल के बाद होती दिखाई देती है । उसे तुम खुद न करोगे । मगर जमाना धीरे धीरे जबर्दस्ती तुमसे करा लेगा ।

महाशयों ! स्वर्गीय आचार्य श्री के अनेक गुणों का वर्णन किया गया है । उनका अपने से हो सके उतना अनुकरण कर जयन्ती मनाने के उत्साह को सफल करना चाहिए । एक क्षत्रिय वीर का वर्णन बगैर जोश के नहीं हो सकता । जोश में यदि मुझसे कुछ अनुचित बोला गया हो तो, आपने उसकी उपेक्षा की है । यह बताने के लिए स्वर्गीय आचार्य महाराज के नाम की और शासननायक प्रभु श्री महावीर स्वामी के नाम की जय बोल मैं अपना स्थान ग्रहण करता हूँ ।



श्री विजयानंद सूरि

□ आचार्य श्री विजय समुद्र सूरि

आत्मारामनन्द प्रदं वन्द्य- आत्मानन्द जगद् गुरुम् ।
वंदेहं विश्ववन्द्य च वल्लभं लोकवल्लभम् ॥
है सत्य आत्माराम यदि इस भूमि पर आते नहीं,
तो आज ऐसी जैन संस्था देख हम पाते नहीं ॥
जिस की दया से पुस्तकालय और विद्यालय बने,
कैसे न आत्माराम वह संसार प्रेमालय बने ॥
वे धन्य विजयानन्द सूरि त्यागियों में गेय थे,
जिन धर्म के आधेय थे, सुश्रावकों के ध्येय थे ॥

आदर्शजीवी महापुरुषों की पुण्य श्लोक अमर जीवन गाथा में कई एक असाधारण विशेषताएं होती हैं। सांसारिक प्रलोभनों का त्याग, निजी स्वार्थों का बलिदान, लोक कल्याण की भावना, विशाल मनोवृत्ति, अव्याहत सत्यनिष्ठा और निर्निमेष अध्यात्म जागृति आदि अनेक विशेषताओं का वह संगम स्थान होती है जिसके समीप उपस्थित होने वाले विकासगामी साधकों को अपनी प्रगति के लिए प्रोत्साहन मिलता है। इतना ही नहीं किन्तु वह मानव जगत की डगमगाती हुई जीवन नौका को संसार सागर से पार करने में एक चतुर कर्णधार का काम देती है। विषयवासना सन्तप्त प्राणी समुदाय की शान्त्वना और शान्ति प्रदान करती एवं उन्मार्गगामी जीवों को सन्मार्ग की ओर प्रस्थान करने की सतत प्रेरणा भी उससे मिलती है इसलिए महापुरुषों

की पुण्य जीवन गाथा का चिंतन और स्वाध्याय भी जीवन शुद्धि अथवा जीवन विकास के विशिष्ट साधनों में से एक है ।

परम मनीषी श्री विजयानंद सूरि, श्री आत्मारामजी महाराज अतीत और वर्तमान युग के उन महापुरुषों में से एक थे, जिन्होंने सत्य अहिंसा और त्याग, तपस्या को अपने जीवन का विशिष्ट अंग बना कर उसका सजीव उज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत किया और मानव जगत को जीवन के वास्तविक लक्ष्य की ओर प्रस्थान करने का दिव्य सन्देश दिया ।

आप उन महात्माओं की श्रेणी में सादर स्मरणीय थे । जिन्होंने ध्यानावस्थित हो, उपनिषदों की कठिन समस्याओं की विकट ग्रन्थि को खोल उन पर अनुपम व्याख्यानों का उल्लेख कर पवित्र भारत भूमि में योगबल के प्रभाव से आत्मज्ञान की पीयूष धारा के श्रोत को प्रवाहित किया है । आप जैन धर्म के महत्व का एक केन्द्र स्थान थे । आपका जीवन साधुता का सच्चा आदर्श था । जैन धर्मानुरागियों के सिवाय अन्य भद्र पुरुषों के भी आप श्रद्धास्पद और परम पूजनीय थे । आप के उच्च भावों की घोषणा भारत वर्ष के अतिरिक्त विलायत में गूँज उठी थी । आपका निर्मल यशः स्रोत भारतवर्ष की पवित्र भूमि में बड़े ही आनन्द से बह रहा है । जैन शास्त्रों के जैसे आप पारदृष्टा थे । वैसे ही आप वेद-वेदांग, दर्शनादि शास्त्रों के पूर्ण मर्मज्ञ थे । आपके उपदेश जैसे सत्य और सारगर्भित थे वैसे ही आप का चरित्र भी निर्मल और निष्कलंक था । परोपकारी महात्माओं की श्रेणी में आप प्रथम स्मरणीय है । आपके सदुपदेश से धर्म पतित सहस्रशः स्त्री पुरुषों का उद्धार हुआ है आपकी मधुर वक्तृता का प्रभाव कुछ अनूठा ही था । आपके उपदेश अमृतधारा में, जिसे एक बार भी स्नान करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था । उसे अनुभव होगा कि इस धारा में स्नान करने से मन के मलिन भाव किस तरह दूर हो जाते थे । अन्तःकरण कैसे नवजात अमंद सुगन्ध युक्त पुष्प की तरह खिल जाता था । हृदय की कुटिल ग्रन्थि किस तरह खुल जाती थी । कुटिलता ओर नीचता के पर्वत कैसे चूर चूर हो जाते थे । श्रावण-भादो की वर्षा के अनन्तर वृक्ष जैसे हरी हरी नवीन कोपलें धारण किये हुए एक अनोखी मनमोहिनी छटा वाले दिखाई देते हैं, ऐसे ही आप के उपदेश रूप अमृत-धारा में स्नान कर श्रोताओं की आन्तरिक दशा स्वच्छ, कोमल और रसमयी हो जाती थी । उपदेशामृत से सेवन किया हुआ हृदय कमल प्रफुल्लित हो उठता था ।

चित्त भूमि में शुद्ध भावों के पौधे उगने-बढ़ने और फलने लग जाते थे । सत्य है, वह

वक्तृता ही क्या । जिसने हृदय की धुन को और मन के लक्ष्य को ही न बदल दिया । आप विद्वानों के असीम प्रेमी थे । जैन ग्रन्थों का आपके हाथों से बहुत उद्धार हुआ है । आप के मानसिक भाव अनुपम सीमा तक बढ़े हुए थे । आपकी ओजस्विनी और प्रभावशालिनी लेखनी की प्रशंसा के लिये असाधारण शब्दों की आवश्यकता है । आपने अपने प्रशस्त जीवन में बहुत से ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें “जैन तत्वादर्श” “अज्ञान तिमिर भास्कर” “जैन प्रश्नोत्तर” “तत्त्वनिर्णय प्रासाद” “चिकागो प्रश्नोत्तर” “जैनमत वृक्ष” “सम्यक्त्व शल्योद्धार” “जैनमत स्वरूप” ये ग्रन्थ अवश्य ही दर्शनीय एवं पठनीय हैं ।

आपके जीवन के प्रत्येक भाग में परोपकार कूट कूट कर भरा हुआ था अन्य प्रान्तों की अपेक्षा पंजाब प्रदेश पर आपका उपकार अधिक हुआ है पंजाब प्रान्त के लिए तो जैन धर्म के जन्मदाता ही आपको कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी । वर्तमान समय के समस्त साधु मण्डल में से संसार के पदार्थों को तुच्छ समझ कर परोपकार बुद्धि से निरन्तर भ्रमण करके धर्मोपदेश देने वाले थे, तो आप एक थे ।



श्रीमद् विजयानंद सूरि का जीवन संदेश

□ आचार्य श्री विजय इन्द्रदिन सूरि

विश्व वंद्य विभूति, न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरिश्वरजी महाराज प्रसिद्ध नाम आत्मारामजी महाराज के स्वर्गारोहण के सौ वर्ष पूर्ण हुए हैं। समय अपनी गति से सदा चलता रहता है। अनंत शताब्दियां बीत चुकी हैं। अनंत कालचक्र गुजर चुके हैं, फिर भी समय का कोई छोर नहीं आया न आएगा। इसी समय के साथ मनुष्य जन्म लेता है, जीता है और अपने जीवन का समय पूर्ण करके मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। जन्म भी समय है और मृत्यु भी समय है। समय बलवान है, अपराजेय है और सर्वोपरि है। मनुष्य इसी समय के साथ इसी समय के आसपास जीता है।

समय अपराजेय है, किन्तु संसार में कुछ महापुरुष होते हैं जो इस समय को जीतकर कालजयी हो जाते हैं। सैकड़ों और हजारों शताब्दियां भी उनके नाम और काम को मिटा नहीं पाती। उनके यश रूपी शरीर पर समय का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

पूज्य श्री विजयानंद सूरि महाराज ऐसे ही एक कालजयी महापुरुष हैं, जिनके यश रूपी शरीर पर शताब्दी की पूर्णता का कोई असर नहीं हुआ है। उनका नाम और काम आज भी जीवित है। हजारों शताब्दियां बीत जाएंगी, फिर भी वे सदा जीवित रहेंगे।

उनका जीवन एक दीपक की तरह है। चारों ओर गाढ़ा अंधकार हो, कोई रास्ता सूझता न हो, ऐसे में एक छोटा सा दीपक उसका सबसे बड़ा सहारा बन सकता है। उस दीपक के प्रकाश से वह अपना रास्ता खोजकर अपने निर्धारित लक्ष्य पर पहुंच सकता है। पूज्य श्री विजयानंद सूरि

महाराज का जीवन हमारा सबसे बड़ा मार्गदर्शक और सहारा है। उनका जीवन संसार के लिए सदा प्रेरणा का कार्य करता रहेगा। वे हमारे आद्य पुरुष हैं, आद्य गुरु हैं। यदि वे न होते तो हम भी न होते।

आज पंजाब में जैन धर्म का जो विकास है, राजस्थान में जैन धर्म की जो स्थिरता है और गुजरात में जैन धर्म की जो भव्यता दृष्टिगत होती है। यह उन्हीं के कारण। तपागच्छ में साधु-साध्वियों की बहुलता, दुर्लभ ज्ञान भंडारों का संरक्षण, प्राचीन जिन मंदिरों का जीर्णोद्धार और जैन धर्म और दर्शन का संसार में प्रचार इन सभी का श्रेय पूज्य श्री विजयानंद सूरि महाराज को जाता है। आज जैन धर्म का जो भव्य-उतुंग महल खड़ा है उसकी नींव में उन्हीं का पुरुषार्थ है। वे नींव के पत्थर थे। उन्हीं के आधार पर जैन धर्म स्थिर हुआ है।

सौ वर्ष पूर्व जैन धर्म का भविष्य अंधकारमय हो गया था। उसके अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लग गया था। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक साधु उंगली पर गिनने योग्य रह गए थे। चारों ओर यतियों का साम्राज्य छा गया था। एक तरह से वे जैन धर्म के स्वामी बन बैठे थे। उनकी आज्ञा के बिना यहां कुछ भी नहीं होता था। अगर किसी साधु-साध्वी को चातुर्मास करना होता था तो श्रीसंघ यतियों की अनुमति लेता था। वे किसी को आचार्य नहीं बनने देते थे। अनेक प्रकार की विकृतियाँ जैन समाज में घर कर गई थीं। जो लोग जैन थे, वे जैन धर्म छोड़कर ईसाई और आर्य समाजी बन रहे थे। जैनों को न अपने इतिहास का ज्ञान था, न अपने धर्म के तत्त्वज्ञान का। अज्ञान और अशिक्षा ने जैन धर्म जैसे महान वैज्ञानिक धर्म को पतोन्मुख बना दिया था। उस समय भारत में अंग्रेजों का राज्य था। ईसाई लोग अपने धर्म को श्रेष्ठ बताने के लिए जैन धर्म को झूठला रहे थे। आर्य समाज के संस्थापक दयानंद सरस्वती जैन धर्म को ढोंगियों का धर्म कहते थे। इनके अतिरिक्त स्थानकवासी और तेरापंथी अपनी शास्त्र विरुद्ध अमूर्तिपूजक परंपरा को बढ़ावा दे रहे थे। जिन अरिहंत द्वारा प्ररूपित शाश्वत जैन धर्म और अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी का जिन शासन इन सभी के बीच 'बेचारा' हो कर रह गया था। ऐसे में पूज्य श्री विजयानंद सूरि महाराज आए और उन्होंने सिंह गर्जना की। उनकी सिंह गर्जना से वर्षों से सोया पड़ा जैन समाज जागृत हो गया। उन्होंने ईसाइयों का सामना किया। आर्य समाजियों द्वारा जैन धर्म पर लगाए जा रहे आक्षेपों का प्रतिवाद किया, जो लोग जैन धर्म छोड़कर अन्यत्र जा रहे थे उन्हें जैन धर्म में स्थिर किया। यतियों के साम्राज्य को समाप्त कर दिया, श्रमण परम्परा को पुनः प्रतिष्ठित किया, प्राचीन ऐतिहासिक मंदिर जो जर्जरित होकर ढह रहे थे उनका जीर्णोद्धार करवाया, दुर्लभ ज्ञान भंडारों को संरक्षित करने की व्यवस्था की। कई सामाजिक कुरुद्धियों को

बंद करवाया और समाज को शिक्षित एवं संस्कारी बनाने के लिए अपने अन्तेवासी प्रशिष्य आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज को सरस्वती मंदिर बनाने की प्रेरणा की ।

उनके जीवन का प्रमुख सिद्धान्त था- सच्चा सो मेरा, मेरा सो सच्चा नहीं । वे जीवन पर्यन्त सत्य का अवगाहन करते रहे, सत्य के प्रचार के लिए और सत्य की प्रतिष्ठा के लिए ही जूझते रहे ।

अपनी दीक्षा के बीस वर्ष के बाद उन्हें इस सत्य की प्रतीति हुई कि मैं जिस मार्ग का अनुसरण कर रहा हूँ, वह सत्य नहीं है, तब उन्होंने उस मार्ग का ही परित्याग कर दिया । जिस सम्प्रदाय विशेष में वे दीक्षित थे उस सम्प्रदाय में उनका सर्वोच्च स्थान था, उनके आदर और सम्मान में कोई कमी नहीं थी, पर इस उच्च स्थान और आदर-सम्मान से भी बढ़कर उनके लिए सत्य का महत्व अधिक था । सत्य के विषय में उनका कहना था कि मैं सत्य का पुजारी हूँ और सत्य से मुझे कोई डिगा नहीं सकता । मैं वही कहूँगा जो सत्य है, मैं उसे ही मानूँगा जो सत्य है । सत्य को प्रकट करने में मुझे कोई हिचक नहीं है ।

‘मैं किसी गुरु या दादा गुरु का बंधा नहीं हूँ । मेरे लिए तो भगवान महावीर स्वामी के शासन के शास्त्रों का मानना ही ठीक है । यदि किसी के पिता या पितामह कुएं में गिरे थे तो क्या उसके पुत्र को भी उसमें गिरना चाहिए?’

उनकी इस स्वर्गारोहण शताब्दी पर हम उनका जीवन संदेश सुने । उनके जीवन संदेश का अनुसरण करें । उनका पुनर्मूल्यांकन करें । जैन धर्म को वे विश्व रंगमंच पर रखना चाहते थे, प्रत्येक जैन बालक को वे जैन धर्म से शिक्षित और संस्कारी बनाना चाहते थे, वे जैन धर्म का सर्वत्र प्रभाव देखना चाहते थे, जैन धर्म के साहित्य का वे प्रचार और प्रसार करना चाहते थे । हम उनकी भावनाओं, प्रेरणाओं, विचारों एवं स्वप्नों को साकार करने का संकल्प करें । उनके प्रति हमारी यही सच्ची श्रद्धांजलि होगी ।



गुरु विजयानंदः स्मृति के वातायन से

□ आचार्य श्री विजय जनकचन्द्र सूरि

सूत्रकृतांग में एक सूक्ति आती है- “ते अत्तओ पासई सव्वलोए” तत्त्वदर्शी समग्र प्राणी जगत को अपनी आत्मा के समान देखता है। ऐसे सच्चे तत्त्वदृष्टा नवयुग निर्माता, पंजाब देशोद्धारक जैनाचार्य श्रीमद् विजयानन्द सूरेश्वरजी म. सा. थे। मुझे परम पूज्य गुरुदेव आचार्य प्रवर श्रीमद् विजय वल्लभ सूरेश्वर जी म. सा. के साथ कई चातुर्मास करने का सौभाग्य मिला है। पूज्य गुरुवर श्री आत्मारामजी म. सा. के सम्बन्ध में हमें अपने विविध संस्मरण सुनाया करते थे। जिनमें से कतिपय का मैं यहां उल्लेख कर रहा हूँ।

एक बार गुरु वल्लभ ने सुनाया कि मैं दीक्षा के बाद पूज्य गुरुदेव (श्री आत्मारामजी) के साथ ही चातुर्मास करता था और प्रारम्भ से ही मैंने उनके पत्र व्यवहार का कार्य संभाल लिया था। मैं सभी में छोटा था, अतः सभी का स्नेह मिलता था सभी विनोद में मुझे प्राईवेट सैक्रेटरी कहा करते थे। रॉयल एशियाटिक सोसाइटी का सदस्य डॉ. ए. एफ. रुडाल्फ को जो भी पत्रोत्तर देना होता था, उसे गुरुवर पेन्सिल से लिख देते थे और मैं बाद में स्याही से पुनर्लेखन कर दिया करता था। जब शिकागो में आयोजित धर्मसम्मेलन से गुरुदेव को निमंत्रण पत्र आया और कई महत्त्वपूर्ण विद्वानों ने आपसे सम्मेलन में भाग लेने की प्रार्थना की तो गुरुवर बोले कि “श्रमण संस्कृति की मर्यादा के बाहर जाकर मैं कोई कार्य नहीं कर सकता” तब उनसे कहा गया कि आप अपना कोई प्रतिनिधि भेजें जो आपका संदेश उस सभा में दे। आचार्यप्रवर ने जो अपना संदेश तैयार किया, उसका पुनर्लेखन कर मैंने श्री वीरचन्द राघवजी को दिया था। उन्होंने उस धर्मसम्मेलन में पूज्य आत्मारामजी का प्रभावी संदेश सुनाकर समस्त प्रतिनिधियों व श्रोताओं को

सर्वाधिक प्रभावित किया था ।

एक अन्य घटना सुनाते हुए गुरु वल्लभ ने कहा था कि जो भी दर्शनार्थी आता, उसकी दृष्टि पूज्य गुरुदेव के अतिरिक्त मुझे पर भी पड़ती । सभी मुझे पढ़ते लिखते या गुरुदेव को अखबार सुनाते पाते तो उनसे पूछते कि 'ये छोटे महाराज क्या पढ़ते हैं ? पूज्य गुरुदेव मुस्कराकर उत्तर देते- "ये पंजाब की रक्षा पढ़ते हैं ।" यह सुनकर श्रावक एक दूसरे का मुंह देखने लगते । गुरुवर तब पूरी गम्भीरता से कहते- "मैं इसको पंजाब के लिए तैयार कर रहा हूं मुझे विश्वास है कि यह पंजाब की रक्षा अवश्य करेगा ।"

एक अन्य घटना जो उपरोक्त संस्मरण से जुड़ी है । गुरु वल्लभ ने इस प्रकार सुनायी थी- "पूज्य गुरुदेव यह निश्चय कर चुके थे कि मुझे पंजाब में शिक्षा व धर्म प्रचार-प्रसार के लिए कार्य करने की जिम्मेदारी देनी है । इसलिए मेरे प्रत्येक क्रिया-कलाप पर पूरा ध्यान देते कई बार आगम की सूक्तियों के उद्धरण से मुझे व्यापक दिशा तथा दृष्टिकोण देते, साथ ही कहते कि जब प्रवचन दो तो श्रोताओं के मानसिक स्तर का अवश्य ध्यान रखो ।" किसी भी प्रकार के धार्मिक कार्य होते, तो मुझे ही सम्पन्न कराने के लिए भेजते । एक बार जीरा में श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ मन्दिर की प्रतिष्ठा का कार्यक्रम था । गुरुवर बोले- "वल्लभ । आप प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न कराएंगे । मैंने कहा- "गुरुवर । आपके रहते मुझे इतने महान् कार्यों के सम्पादन की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है और फिर मुझे प्रतिष्ठादि का अभी कोई अनुभव भी नहीं है ।" किन्तु वे बोले, "तुम्हें धीरे-धीरे सारी जिम्मेदारियां सम्भालनी हैं । मैं तुम्हें प्रत्येक कार्य का जानकार बना देना चाहता हूं, मात्र किताबी ज्ञान से ही तुम सामाजिक चेतना का कार्य नहीं कर सकते ।" गुर्वाज्ञा से मैंने उस मन्दिर की प्रतिष्ठा और अंजनशलाका की सारी विधियां सम्पन्न कराई थी ।"

गुरु वल्लभ ने अपने अध्ययन को लेकर बड़ी रोचक घटना सुनाई थी, "मेरे अध्ययन के प्रति उत्कृष्ट अभिलाषा रहती थी और जब भी जहां भी कोई जैन न्याय, सांख्य, योग आदि दर्शन का विद्वान मिलता मैं अवश्य अध्ययन करता था । उन दिनों श्री वीर विजय जी म. सा. के पास भावनगर से सेठ कुंवर जी आनंद जी का पत्र आया था, जिसमें लिखा था कि पालीताणा में एक संस्कृत पाठशाला खुली है, जिसमें अच्छे विद्वान अध्ययन कराते हैं । श्री वीर विजयजी बोले कि तुम्हारे लिए यह एक अच्छा अवसर है, तुम वहां अपने अध्ययन की अभिलाषा पूरी कर सकते हो । इधर-उधर भटक कर अलग-अलग पण्डितों से अध्ययन करने की अपेक्षा एक स्थान पर रहकर अध्ययन करना ज्यादा अच्छा रहेगा ।" मेरे हृदय पर इस प्रेरणा का अनुकूल प्रभाव पड़ा । मैंने कहा, "आपका कहना ठीक है, परन्तु पूज्य गुरुदेव की आज्ञा के बिना तो मैं एक कदम भी नहीं

उठा सकता । पालीताणा जाना तो बहुत बड़ी बात है ।”

श्री वीर विजयजी बोले- “आचार्य श्री जी की आज्ञा की तुम चिन्ता मत करो । यदि तुम्हारी जाने की इच्छा होगी तो मैं आज्ञा मँगवा दूँगा । आचार्य श्री जी की तुम पर पूर्ण कृपा है । वे तो चाहते ही हैं कि तुम पढ़कर तैयार हो जाओ, ताकि उनके बाद पंजाब की रक्षा कर सको ।” श्री वीरविजयजी ने प्रयास करके गुरु आत्म का आज्ञापत्र भी मंगा लिया, जिसमें लिखा था- “यदि जाने की इच्छा हो तो खुशी से जाओ, मगर पाँच साल से ज्यादा उधर न रहना । पाँच साल के अन्दर जब भी इच्छा हो, तभी यहाँ लौट आना । इस बात का ख्याल रखना कहीं दोनों तरफ से न जाओ” । पूज्य आचार्य श्री जी ने पालीताणा जाने की अनुमति तो दे दी थी, किन्तु आज मुझे लगता है कि वे बड़े ज्ञानी आत्मा थे । उन्होंने जैसे पूर्व में ही जान लिया था कि मैं चाहकर भी अध्ययन के लिए नहीं पहुंच सकता और दूसरी बात यह कि वे स्वयं भी मुझे अपने से दूर नहीं रखना चाहते थे, किन्तु मेरी उत्कृष्ट इच्छा देखकर आदेश दे दिया था । इधर अमृतसर श्रीसंघ को जब हमारे गुजरात की ओर विहार का पता चला तो संघ के प्रमुख व्यक्तियों ने हमसे स्थिरता की विनती की और मुझसे कहा कि आप आज्ञा पत्र देखिए, उससे साफ पता चलता है कि आपको भेजने की उनकी जरा भी इच्छा नहीं है । यदि उनकी इच्छा होती तो स्पष्ट लिखते कि अमुक-अमुक साधु को साथ लेकर पालीताणा जाओ ।” जब मैंने सबका विशेष आग्रह देखा तो कहा, आप सभी चिन्ता न करें, मैं पहले यहां से महाराज साहब के श्री चरणों में हाजिर हो जाऊंगा फिर वे जैसी आज्ञा देंगे वैसा ही करूँगा । “मैं गुरुदेव के पास पहुंचा और विनम्र निवेदन किया कि मेरे पढ़ने जाने के विषय में आपकी क्या आज्ञा है ? पूज्य गुरुदेव ने लगभग वही जवाब दिया जो अपने आज्ञा पत्र में लिखा था । आज्ञा पाकर अन्य मुनिगण के साथ अम्बाला तक पहुँचा कि मुनि राम विजयजी म. सा. को बुखार आने लगा । उनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा । परिणामतः अम्बाला में ही चातुर्मास करना पड़ा । चातुर्मास के पश्चात भी परिस्थितियाँ हमारे अनुकूल नहीं थी । गुजरात के बड़ौदा आदि स्थानों से गुरुभक्तों के पत्र आने लगे, जिसमें एक सी ही बात लिखी थी कि आप श्री बरसों बाद गुजरात आ रहे हैं यह समाचार जानकर हमें बहुत आनन्द हुआ, किन्तु, आनन्द से ज्यादा हमें खेद यह हुआ है कि साक्षात् कल्पवृक्ष के समान मनवांछित फल देने वाले, ज्ञानसागर, गुण के आगार, परमगीतार्थ युग प्रवर्तक १००८ श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर जी म. सा. के श्री चरणों में अध्ययन करना छोड़कर आप इधर आने को तैयार हुए हैं । हम आपके दर्शन लाभ से वंचित रहकर भी आपका आचार्य श्री की चरण सेवा में रहना ज्यादा पसंद करते हैं । इसीमें आपका और साथ ही समाज का भी कल्याण है । “जब पंजाब श्रीसंघों की

इतनी विनती और गुजरात से प्रमुख संघ प्रधानों का ऐसा पत्र मिला, तो मेरा भी मन बदल गया और मैंने निश्चय कर लिया कि गुरु चरण सेवा छोड़कर कहीं न जाऊँगा। मुनि श्री राजविजय जी श्री मोती विजयजी आदि के साथ विहार कर लुधियाना और जालंधर होते हुए होशियारपुर पहुंच कर पूज्य गुरुदेव के चरणों में सिर रखा। गुरुवर मन ही मन बहुत प्रसन्न हुए और मुस्करा कर बोले, “पंडित हो आया।”



साधुता के शिखर

□ आचार्य श्री रत्नाकर सूरि

नवयुग निर्माता, न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरिश्चंरजी महाराज को यदि हम साधुता के शिखर और त्याग तथा चारित्र के परम आदर्श पुरुष कहें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी ।

तब जब शिथिलाचारियों का बोलबाला बढ़ गया था । शास्त्रीय अमृत क्रिया को तिलांजलि दे दी गई थी । ऐसे में श्री विजयानंद सूरि महाराज ने सुविहित शास्त्रीय क्रियोद्धार किया । वे अपनी साधु क्रिया और चारित्र पालन के प्रति अत्यन्त जागृत थे ।

आगमों में इस बात का निर्देश है कि साधु को कैसा वेष पहनना चाहिए, मुहपत्ति का माप क्या होना चाहिए, दंडे का कितना प्रमाण होना चाहिए, चोलपट्टा, पांगरणी और चादर कितने लंबे-चौड़े होने चाहिए ।

साधु को दिन में दो बार पडिलेहन, सात बार चैत्यवंदन और देवसी तथा राई प्रतिक्रमण करने का शास्त्रीय विधान है । साधु के लिए आवश्यक शास्त्र में निहित क्रियाओं का वे अक्षरशः पालन करते थे और अपने शिष्यों को उन्हीं का अनुसरण करने का आग्रह रखते थे ।

शास्त्रीय विधि पर उन्हें कितनी श्रद्धा थी इस बात को हम उनकी संवेगी दीक्षा लेने की घटना से अच्छी तरह समझ सकते हैं ।

स्थानकवासी दीक्षा से उनका विश्वास उठ गया था । वे उस वेष को अशास्त्रीय मानते

थे । वे इस वेष का त्याग करके शास्त्रीय वेष परिधान करना चाहते थे । खोज करने पर उन्हें पता चला कि मूर्तिपूजक साधु परंपरा का वेश पूर्णतः शास्त्रीय है और उनकी दीक्षा की विधि भी आगमों के अनुसार है ।

वे शास्त्रीय दीक्षा लेने के लिए पंजाब से चलकर अहमदाबाद आए और मुनि श्री बुटेरायजी महाराज का शिष्यत्व ग्रहण कर उन्होंने आगम सम्मत साधु वेष धारण किया ।

यहां चिंतनीय विषय यह है कि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज शास्त्रों के स्वयं पारगामी विद्वान थे । शास्त्रीय साधु वेष का उन्हें पूर्ण ज्ञान था । स्थानकवासी परंपरा में वे बचपन से ही दीक्षित हो गए थे । सुदीर्घ दीक्षा पर्याय था उनका इस परंपरा का । जिनके पास उन्होंने दीक्षा ग्रहण की वे बुटेरायजी महाराज कोई उच्चकोटि के विद्वान भी नहीं थे । सच कहा जाए तो उस समय मूर्ति पूजक साधुओं में कोई भी साधु श्री विजयानंद सूरी महाराज जैसा महान विद्वान नहीं था । यदि वे चाहते तो मूर्ति पूजक साधु परंपरा का शास्त्रीय वेष स्वयं धारण कर सकते थे । किसी का शिष्यत्व ग्रहण किए बिना ही वे अपने पुराने दीक्षा पर्याय को कायम रखकर अन्य साधुओं से बड़े हो सकते थे । उनके साथ पंद्रह साधु साथ थे वे चाहते तो अपने नाम का एक अलग स्वतंत्र गच्छ या समुदाय भी चला सकते थे । वे मन चाहा निर्णय करके दुनिया को अपने चरणों में झुका सकते थे । अपना अलग रास्ता बनाने की उनमें परिपूर्ण क्षमता, सामर्थ्य और शक्ति थी । साधुओं और श्रावकों के विशाल समुदाय का उनके पास पीठबल था ।

इतना होने के बावजूद उन्होंने अमृत क्रिया को सर्वोपरी स्थान दिया । शास्त्रीय क्रिया-अनुष्ठान का सम्मान करते हुए उन्होंने मुनि श्री बुटेरायजी महाराज से विधिवत् दीक्षा ग्रहण की और स्थानकवासी दीक्षा पर्याय समाप्त करके उनका शिष्यत्व ग्रहण किया । यह उनके आदर्श चरित्र की महानता और विशेषता थी । साधुता का इससे बड़ा उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है ।

शास्त्रीय परंपरा के अनुसार कोई भी साधु बिना योगद्वहन किए गणि, पंन्यास, उपाध्याय या आचार्य नहीं बन सकता । श्रीमद् विजयानंद सूरी महाराज भी बिना योगद्वहन किए पंच परमेष्ठि के तृतीय पद पर आसीन नहीं होना चाहते थे । वे आचार्य पद के महत्त्व, गरिमा और जिम्मेवारी को भलीभांति समझते थे । आचार्य बनने की उन्हें कोई महत्वाकांक्षा भी नहीं थी ।

पालीताणा में समग्र भारत के जैन संघों ने उन्हें आचार्य पद पर आसीन होने की विनती की तो उन्होंने स्पष्टतः उस विनती को अस्वीकार कर दिया और कहा कि इस महान पद के लिए मैं

सर्वथा अयोग्य हूँ । और मैंने योगद्वहन भी किए नहीं है । इस पद के लिए जो योग्य हों उन्हें यह पद दिया जाए ।

श्रावकों ने कहा कि आपसे बढ़कर हमें योग्य महापुरुष कोई भी दृष्टिगत होता नहीं है । रही बात योगद्वहन की तो श्रीसंघ तीर्थंकर तुल्य माना जाता है । श्रीसंघ की आज्ञा प्रत्येक साधु के लिए स्वीकार्य होती है । और यह कोई एक संघ आपको विनती नहीं कर रहा है सम्पूर्ण भारत के संघ आपको विनती कर रहे हैं । आप श्रीसंघों की विनती को ठुकरा नहीं सकते और इधर यतिलोग चुनौती दे रहे हैं कि हमारे रहते किसकी हिम्मत है कि कोई आचार्य बन जाए । उनकी चुनौती आपको स्वीकार करनी होगी । नहीं तो यह यतियों की विजय मानी जाएगी । आपको आचार्य बनाकर यतियों को हम बता देना चाहते हैं कि अब तुम्हारा यतियुग समाप्त हो गया है । एक अपवाद रूप में और उत्सर्ग मार्ग स्वीकार कर आपको बिना योगद्वहन के ही आचार्य बनना होगा ।

श्रीसंघ की विनती स्वीकार करने के लिए वे विवश हो गए । और पालीताणा में वे आचार्य पद पर आसीन हुए ।

आचार्य होने के बावजूद वे अपने नव दीक्षित शिष्य-प्रशिष्यों को बड़ी दीक्षा नहीं देते थे । उन्होंने अपने बड़े शिष्यों से योगद्वहन करवा लिए थे । जिन्होंने योगद्वहन कर लिए थे उन्हीं के हाथों से वे सभी शास्त्रीय क्रिया अनुष्ठान सम्पन्न करवाते थे ।

श्रीमद् विजयानंद सूरि महाराज कलिकाल में तीर्थंकर तुल्य पंचपरमेष्ठि के तृतीय पद आचार्य का मूल्य समझते थे इसीलिए उन्होंने अपने जीवनकाल में किसी को आचार्य पद नहीं दिया । ऐसा नहीं था कि उनके विशाल शिष्य परिवार में कोई इस पद के योग्य नहीं था । योग्य थे और सर्वथा योग्य थे फिर भी वे आचार्य पद की भविष्य में गरिमा कम न हो वह रेवड़ियों की तरह बाजार में बिकने न लगे उसी का ध्यान रखते हुए उन्होंने किसी को आचार्य नहीं बनाया । उनका मानना था कि गुरु की बजाय श्रीसंघ स्वयं यह निर्णय करें कि आचार्य पद के योग्य कौन है और कौन नहीं है । वह भी किसी एक नगर के श्रीसंघ को यह जिम्मेवारी नहीं सौंपी जा सकती । समग्र भारत के श्रीसंघ मिलकर यह निर्णय करें ।

यदि गुरु अपने शिष्य को आचार्य पद देगा तो योग्यता ही कारण होगा यह विश्वसनीय नहीं हो सकता । योग्यता को परे रखकर गुरु अपने शिष्य मोह के कारण भी तो आचार्य बना सकता है । गुरु अपने शिष्य के दबाव में आकर भी तो आचार्य पद देने के लिए मजबूर हो सकता

है। गुरु अपने गच्छ और समुदाय की बढ़ोतरी के लिए भी अपने शिष्य को आचार्य पद दे सकता है।

इस प्रकार के कारणों से आचार्य पद देने से आचार्य पद का गौरव घट जाएगा और योग्यताहीन साधु इस पद का दुरुपयोग करेंगे। तब हर गली के उपाश्रय में आचार्य मिल जाएगा। आचार्य बनना एक फैशन हो जाएगा और इस तरह इस महिमावंत पद का अवमूल्यन हो जाएगा।

श्रीमद् विजयानंद सूरि महाराज को आचार्य पद के विषय में जो डर था वह आज सच हो गया है। आचार्य पद जैसे महा पद की गरिमा का जैसा हास इस समय हो रहा है वह अभूतपूर्व है। अब आचार्य पद के लिए न योग्यता देखी जाती है न विद्वता परखी जाती है। हर समुदाय में आचार्यों की लाइन लगी हुई है। पालीताणा में आचार्य गोचरी की झोली लेकर गोचरी की ब्यू में खड़े मिलते हैं। लड्डू की प्रभावना की तरह पदवियाँ बांटी जा रही है। हर साधु आचार्य पद लेने की होड़ में लगा हुआ है। थोड़ी सी प्रवचन क्षमता आते ही हर साधु आचार्य पद का सपना देखने लगता है। आचार्य बनते ही वह 'मैं आचार्य हूँ' के अहम से पीड़ित हो जाता है।

श्रीमद् विजयानंद सूरि महाराज उस समय के एक मात्र आचार्य थे फिर भी आचार्य पद का उन्हें कोई अहम नहीं था। वे आचार्य होने पर भी अपने से दीक्षा पर्याय में बड़े मुनि श्री मुक्ति विजयजी महाराज एवं मुनि श्री वृद्धिचंदजी महाराज को वंदन करते थे।

यह थी उनकी साधुता जो वर्तमान समय के साधुओं और आचार्यों में सर्वथा अभाव दिखता है। वे साधुता के शिखर थे। शिखर को साहसिक ही छू पाते हैं।



गुरु विजयानंद : एक विराट् व्यक्तित्व

□ आचार्य श्री विजय जगच्चन्द्र सूरि

संसार में कुछ विरल व्यक्तित्व ऐसे होते हैं जिनकी छाप अमिट होती है। ऐसा व्यक्तित्व अमृतधारा से अभिसिंचित होता है। एक शताब्दी की क्या हस्ति है उसे हजारों शताब्दियाँ भी मिटा नहीं पाती।

ऐसा ही अमिट व्यक्तित्व है पंजाब देशोद्धारक, न्यायाम्भोनिधि, नवयुग निर्माता, विश्व वंद्य विभूति आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरिस्वरजी महाराज का जिनकी स्वर्गारोहण शताब्दी हम मना रहे हैं।

एक शताब्दी पूर्व उन्होंने अपना नश्वर शरीर छोड़ कर स्वर्ग का आरोहण किया था। सौ वर्ष की अवधि बहुत लम्बी अवधि होती है। असंख्य जीवनों को समय स्मृति शेष कर देता है।

समय का अधिकार केवल व्यक्ति के नश्वर शरीर पर है। परंतु मनुष्य केवल शरीर नहीं होता। शरीर तो जीवन का एक स्थूल धरातल है। उसी शरीर में सुप्त रहता है अनंत ज्ञान, दर्शन और चरित्र से युक्त आत्मा। आत्मा का परम तेजस्वी स्वरूप। अक्षय गुणों का आगार। जिन गुणों से व्यक्ति हजारों शताब्दियों तक जीवित रहता है। समय का उस पर कोई प्रभाव पड़ता नहीं है।

मनुष्य के स्वार्थ की परिधि जितनी विस्तीर्ण होती है उतना ही उसका व्यक्तित्व सीमित होता है। महापुरुषों का जीवन स्वार्थ की परिधि में आबद्ध नहीं होता। नदी जैसे दूसरों के लिए

बहती है, वृक्ष जैसे दूसरों के लिए फलते और पकते हैं, सरोवर जैसे दूसरों के लिए पानी संचित करता है, मेघ जैसे दूसरों के लिए बरसता है और दीपक जैसे दूसरों के लिए प्रकाशित होता है वैसे ही महापुरुषों का व्यक्तित्व होता है जो दूसरों के लिए बहता है, दूसरों के लिए फलता है, दूसरों के लिए बरसता है और दूसरों के लिए प्रकाशित होता है ।

श्रीमद् विजयानंद सूरि महाराज का समग्र जीवन, कार्य और व्यक्तित्व जैन धर्म, दर्शन, साहित्य, शिक्षा और समाज को समर्पित था । उनके जीवन का हर पहलू और प्रत्येक छोटे-बड़े कार्य की दिशा उनके विराट् व्यक्तित्व की साक्षी है । उनके जैसे विराट् व्यक्तित्व का अवतरण उस समय की आत्यान्तिक मांग थी ।

सूर्य के प्रचंड तेजस्वी स्वरूप जैसा विराट् और तेजोमय व्यक्तित्व है विजयानंद सूरि महाराज का । चारों ओर गहन अंधकार का साम्राज्य छाया हो, सारा संसार अंधकार में डूबा हो तब सूर्योदय होते ही अंधकार का साम्राज्य समाप्त हो जाता है और एक बारगी ही सारे संसार में प्रकाश की चेतना का संचार हो जाता है । प्रमाद का त्याग कर सभी उद्यम में लग जाते हैं । अंधकार का साम्राज्य तभी तक है जब तक कि सूर्य का उदय नहीं होता ।

श्रीमद् विजयानंद सूरि महाराज सूर्य बनकर उदित हुए और अशिक्षा और अज्ञान के, अन्याय और उधर्म के, प्रमाद और निष्क्रियता के, विरोध और विद्वेष के तथा जड़ता और भ्रांति के अंधकार को समाप्त कर सर्वत्र ज्ञान और कर्तव्य का उद्यम और कर्मण्यता का तथा मैत्री और सद्भाव का प्रकाश प्रकाशित कर गए ।

असत्य के स्थान पर उन्होंने सत्य की प्रतिष्ठा की । स्थानकवासी दीक्षा होने के बाद आगमों के अध्ययन से उन्हें ज्ञात हुआ कि जैन धर्म के जिस सम्प्रदाय में मैं दीक्षित हुआ हूं वह भगवान महावीर भाषित परंपरा का प्रतिनिधि नहीं है । जिस मार्ग पर मैं चल रहा हूं वह वास्तविक और सत्य मार्ग नहीं है तो उन्होंने उस मार्ग का शीघ्र परित्याग कर दिया ।

अहमदाबाद में श्रीशान्ति सागरजी नाम के साधु आगम विरुद्ध असत्य बातें कर लोगों का मतिभ्रम कर रहे थे । सत्य के पूजारी श्री विजयानंद सूरि महाराज यह कैसे सह सकते थे उन्होंने श्री शान्ति सागरजी को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा और दो तीन प्रश्नों में ही उन्हें निरुत्तर कर दिया ।

सूरत में हुक्म मुनि नाम के साधु ने 'आध्यात्म-सार' पुस्तक में आगम विरुद्ध बातें लिखी थी । पूज्य श्री विजयानंद सूरि महाराज ने उस पुस्तक को पढ़ा और कुछ प्रश्न लिखकर हुक्म

मुनि से स्पष्टिकरण मांगा। ज्ञान के अधूरे हुक्ममुनि से कुछ उत्तर देते नहीं बना। श्री विजयानंद सूरि महाराज ने उस पुस्तक को ही जैन धर्म और समाज के द्वारा अमान्य करवा दी।

वे असत्य की पुष्टि के लिए किसी भी प्रकार का समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे और सत्य स्वीकार के लिए वे किसी भी प्रकार का बलिदान करने के लिए उद्यत रहते थे। सत्य का स्वीकार और असत्य का परिहार उनके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग थे। सत्य की प्रतिष्ठा के लिए वे आजीवन जूझते रहे थे।

जैन धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार उनके जीवन का अहम लक्ष्य था। उनके समकालीन संत और विद्वान जैन धर्म के वास्तविक तत्त्व को न समझकर जैन धर्म को ही झूठला रहे थे। उनमें प्रमुख थे दयानंद सरस्वती। उन्होंने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' में जैन धर्म को ढोंगियों का धर्म कहा है। दयानंद सरस्वती के कारण पूरा आर्य समाज जैन धर्म पर टूट पड़ा था। उस समय आर्य समाजी प्रचारक घर-घर घूमते थे और लोगों को अपनी अनुचित बातें समझाकर गुमराह कर रहे थे।

श्री विजयानंद सूरि महाराज ने दयानंद सरस्वती के विरोध में अपनी आवाज बुलंद की और उनके विचारों के खंडन में 'अज्ञान तिमिर भास्कर' और 'तत्त्व निर्णय प्रासाद' लिखा। उन्होंने पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश एवं राजस्थान के हजारों जैन धर्म के विरोधी आर्य समाजी प्रचारकों के विचार बदल दिए और उन्हें जैन धर्म का प्रशंसक बना दिया।

उस समय भारत में अंग्रेजी शासन था और अंग्रेजी ईसाई धर्म का प्रभाव भारत में बढ़ा रहे थे। कई भारतीय हिन्दू लोभ-लालच में पड़कर ईसाइयों से प्रभावित होकर ईसाई धर्म अंगीकार कर रहे थे। बहुत से जैन परिवार ईसाई हो चुके थे और बहुत से हो रहे थे। जिसे जैन नगरी होने का गर्व है ऐसे अहमदाबाद के कई प्रतिष्ठित श्रावकों के युवक ईसाई हो रहे थे। उन दिनों श्रीविजयानंद सूरि महाराज का अहमदाबाद में आगमन हुआ। श्रीसंघ के प्रमुख ने उनसे निवेदन किया कि कुछ अपने युवक ईसाइयों से प्रभावित होकर ईसाई बन रहे हैं आप उन्हें बचाइए।

श्री विजयानंद सूरि महाराज ने उन युवकों को बुलाया बातचीत की। उन्हें जैन धर्म की विशेषताएं बताई और कहा कि विश्व का सर्वश्रेष्ठ धर्म जैन धर्म है। इस धर्म के पास जैसी विशेषताएं हैं वैसी संसार के किसी भी धर्म, पंथ और संप्रदाय के पास नहीं हैं।

उनकी बातें सुनकर उन युवकों ने ईसाई धर्म अंगीकार करने का विचार छोड़ दिया और

विधिवत् रूप से जैन धर्म का पालन करने लगे ।

एक ईसाई ने 'जैन मत समीक्षा' पुस्तक लिखी थी जिसमें जैन धर्म पर अनुचित आक्षेप किए थे । उस पुस्तका का परिहार श्री विजयानंद सूरि महाराज ने 'ईसाई मत समीक्षा' लिखकर किया ।

इधर राजेन्द्र सूरि और धन मुनि ने तीन थुई का अपना नया मत चलाया था । उस तीन थुई का प्रतिवाद उन्होंने 'चतुर्थ स्तुति निर्णय' लिखकर किया ।

एक स्थानकवासी मुनि जेठमलजी ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध 'समकित सार' पुस्तक लिखी थी । इसके उत्तर में श्री विजयानंद सूरि महाराज ने "सम्यक्त्व शल्योद्धार" पुस्तक लिखी ।

इस तरह उन्होंने हर मोर्चे पर अपनी वीरता दिखाकर विजय के झंडे गाड़ दिए थे और अपना 'विजयानंद' नाम सार्थक कर दिखाया था । निससंदेह उनका विराट् और निस्सीम व्यक्तित्व सदियों तक प्रेरणा स्तम्भ बना रहेगा ।



धार्मिक चेतना के अग्रदूत

□ आचार्य श्री विजय नित्यानन्द सूरि

भगवती सूत्र में एक प्रसंग आया है कि एक समय गणधर इन्द्रभूति ने भगवान महावीर से पूछा- “भन्ते । लवण समुद्र में अथाह जलराशी विद्यमान है, फिर क्या कारण है कि वह अधःस्थित इस जंबूद्वीप को डुबो नहीं पाता ।”

भगवान ने उत्तर दिया- “ऐसा कभी हुआ नहीं और न होने वाला है ।”

इन्द्रभूति बोले, “क्यों नहीं भन्ते ।”

भगवान- “इन्द्रभूति ! इस विशाल जम्बूद्वीप में अरिहंत, केवली, गणधर, लब्धिधारक, त्यागी, तपस्वी, यशस्वी, सन्त-सती तथा श्रावक-श्राविकाएं निवास करते हैं । उनके अद्वितीय जप-तप तेज प्रभाव से लवणोदधि अपनी मर्यादा का भंग नहीं करता और न कभी करेगा ही ।”

पूज्य गुरुदेव इसी परम्परा के अग्रिम पंक्ति के महनीय सन्त सेना के नायक हैं । ये वे सन्त हैं, जो सम्यक साधना के पवित्र पथ पर दृढ़ता पूर्वक बढ़ते हुए भीतरी शत्रुओं से लोहा लेते हैं । ऐसे सन्तों का जीवन अहिंसा, संयम एवं तप की त्रिपुटी में प्रस्फुटित-पल्लवित-पुष्पित तथा फलित होकर सर्वोच्चमुखी विकास के क्रम में समाज, राष्ट्र और जन-जन के हृदय मन्दिर को स्पर्श कर सिद्धस्थान पर्यन्त पहुंचता है ।

वि. सं. १९१० में जब मुनिवर्य श्री गंगाराम जी व श्री जीवनराम जी का चातुर्मास जीरा ग्राम में हुआ तो आत्माराम जी का अन्तस जैन धर्म के संस्कारों से संस्कारित होने लगा । लगभग प्रतिदिन वे उपाश्रय जाते तथा धार्मिक कथाओं व प्रेरणाप्रद प्रवचनों को बड़ी तन्मयता से सुनते थे, यदि उस समय घर पर कोई आवश्यक कार्य भी होता तो वे दृढ़ता पूर्वक मनाकर देते और

कहते जब प्रवचन का समय हो तो सबको घरेलू कार्य छोड़कर उपाश्रय में उपस्थित होना चाहिए। एक दिन बालक आत्माराम को उदास देखकर मुनिवर चिन्तित हुए और पूछा- “वत्स ! क्या बात है, आज उदास क्यों हो ?” बालक ने अश्रुपूरित नेत्रों को पोंछते हुए उत्तर दिया- प्रभो ! मैं गांव में जब किसी को गरीब असहाय या किसी कारण से दुःखी देखता हूँ, तो मेरा मन खिन्न हो जाता है और सोचता हूँ ऐसा क्यों होता है ? सभी व्यक्ति प्रसन्न क्यों नहीं रहते हैं ?”

मुनिवर ने उत्तर दिया “आत्माराम ! ईश्वर सब में है, पर सब ईश्वर में नहीं, इसीलिए लोग दुखी हैं। जो शुद्ध कल्याणकारी शान्त, अनादि, अनन्त उस देवाधिदेव परमात्मा की शरण में रहते हैं, वे सदैव सुखी, समृद्ध तथा निर्भय हैं।” मुनि श्री जीवनराम जी बालक आत्माराम की प्राञ्जल चेतना को पहचान गए थे और जान गए थे कि यह बालक वैराग्य पथ पर अग्रसर होकर एक दिन भास्कर के समान धर्म गगन को अपने ज्योतिर्पुंज से अनुप्राणित करेगा।

दीक्षोपरान्त पूज्य गुरुदेव को एक ही धुन थी कि अधिकाधिक ज्ञान साधना करूँ और इस क्रम में वे शास्त्रों के अध्ययन में पूरी गम्भीरता से जुट गए, जबकि दीक्षा से पूर्व वे एक दिन भी पाठशाला नहीं गए थे। अपनी दीक्षा के पन्द्रह दिन बाद ही आपने अपना पहला प्रवचन किया, जिसमें अध्ययन पर बल दिया और शास्त्रों की प्रशंसा में कहा- शास्त्र वह है, जिसमें जीवन की प्रत्येक गतिविधि का सम्पूर्ण चित्रण मिले तथा जिसमें वैराग्य तथा संयम का मार्गदर्शन हो। शास्त्र का लाभ यही है कि इसकी सहायता से मानव अपने विचारों को सत्य और प्रकाश की दिशा में गति देता है, स्वयं को समाज के अनुकूल बनाता है और अपना समर्पण समाज तथा धर्म के प्रति करता है। इसीलिए इस दुर्लभ मानवजीवन के नवनिर्माण में शास्त्रों की मौलिकता तथा प्रमुखता है। वस्तुतः शास्त्र तो इहलोक-परलोक सुधारने की कुंजी है। शास्त्ररूपी नेत्र प्राप्त हो जाने पर मुमुक्षु इतस्ततः मिथ्यात्व में नहीं भटकता अपितु वह सम्यक् ज्योति को प्रदीप्त करता है।”

देश के उद्भट्ट विद्वानों के पास से आगमों, विविध शास्त्रों, विविध दर्शनों व व्याकरण का गहन अध्ययन करने वाले पूज्य श्री आत्माराम जी म. सा. के विचारों में अब क्रान्ति करवट लेने लगी थी, जिसकी आहट उनके गुरुवर श्री जीवनराम जी को ही नहीं, अपितु अन्य निकटवर्ती मुनिगण को भी लगने लगी थी, किन्तु जिस प्रकार जल, अग्नि और वायु का वेग कोई नहीं रोक पाता है, उसी प्रकार क्रान्तिकारी युगप्रवर्तक महात्मा आत्माराम जी के जैन शास्त्रों के सम्बंध में दिए गए अकाट्य तर्कों को कोई रोक नहीं पाया। पंजाब, राजस्थान में सर्वत्र आगमों की सही व्याख्या करते वे सन् १८७५ ई. में जब अहमदाबाद पहुंचे तो वहां मुनिपुंगव श्री बुद्धिविजयजी म. सा. से संवेगी दीक्षा ग्रहण कर मुनि आनन्द विजय नाम पाया, तब एक नवीन युग का सूत्रपात

हुआ, एक विशाल वटवृक्ष का बीजारोपण हुआ जिसकी सघन छाया में श्री आत्म-वल्लभ-समुद्र-इन्द्रादि परिवार आज गौरवान्वित है ।

क्रान्ति का अर्थ होता है- प्रचलित मान्यताओं, रूढ़ियों, अन्धविश्वासों के विरुद्ध स्वर ऊंचा करना और नए मूल्य स्थापित करना । मुनिप्रवर श्री आनन्द विजयजी म. सा. ने वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में व्याप्त बुराइयों को चुनौती दी और उस मार्ग को पूरी गम्भीरता से प्रशस्त किया, जिस पर चलकर मानव शुद्ध एवं प्रबुद्ध बन सकता था । समाज की अहितकर रूढ़ियों को मिटाने के साथ-साथ अपने सच्चे श्रमण मार्ग की शास्त्रीय व्याख्याकर सबकी आँखें खोल दी, अहमदाबाद में श्री शांतिसागर जी की प्रवृत्तियों व उनके आचार-विचार देखकर आपके मन को अत्यंत आघात पहुंचा था, आपने श्रावक-श्राविका वर्ग के समक्ष 'आवश्यक सूत्र' का सम्यक् विवेचन किया तथा जैन साधु की आचार संहिता का उज्ज्वल चित्रण प्रस्तुत किया, जबकि बड़े बड़े साधु भी उनकी विद्वत्ता तथा प्रभाव के कारण आचार शिथिलता का विरोध नहीं कर पाते थे । श्रावकों के समक्ष शास्त्रार्थ में श्री शांतिसागर जी को परास्त कर आपने उनको भी आश्चर्य चकित कर दिया और श्रीसंघ को भी एक सही दिशा दी ।

भारत एक चिन्तनशील राष्ट्र है और उसकी विशेषता है—आत्म-साधना । उसकी विशिष्टता है— आध्यात्मिकता । सत्य तो यह है कि भारतीय सन्त अनादिकाल से आत्मा और परमात्मा को खोजने के लिए प्रयत्नशील है और अनेक सन्तों ने इसमें सफलता भी पाई है । भारतीय संस्कृति तथा दर्शन की प्रमुख धारा जैन संस्कृति तथा दर्शन की तो अपनी अनोखी मौलिकता रही है । इसका तो लक्ष्य ही है सत्य का साक्षात्कार करना, सत्य को जीवन में उतारना और सत्य चिन्तन करना । यही कारण है कि पाश्चात्य विद्वान मनीषियों ने भी जैन धर्म, दर्शन व संस्कृति का गहन चिन्तन-मनन व अवगाहन किया है । पूज्य आचार्य श्री विजयानन्द सूरेश्वरजी म. सा. ने पीटर्सन तथा डा. हार्नल आदि विदेशी विद्वानों का पदे-पदे मार्गदर्शन किया था । पूज्य गुरुदेव अपने प्रवचनों में अपने लेखों में या शिकागो विश्व धर्म सम्मेलन में आप श्री के प्रतिनिधि श्री वीरचन्द राघव जी गांधी द्वारा जो बात कही गई, उसका उद्देश्य जैन धर्म की सार्वभौम सत्ता को पुनः स्थापित करना था । आपके हृदय में समाज में फैली कुरीतियां, अशिक्षा व अहंभाव के प्रति गहरी पीड़ा थी, इसीलिए अपने सर्वाधिक प्रिय आज्ञाकारी अनुशासित पट्टधर गुरु वल्लभ से आपने एक ही बात कही थी वल्लभ ! ज्ञान के उपवन लगाना जगह जगह पाठशालाएं खुलवाना, जिससे देश की जनता विशेष रूप से जैन अज्ञानान्धकार से बाहर निकले । जब अज्ञानता दूर होगी तो लोगों में शास्त्रसम्मत धर्म और दर्शन समझने की शक्ति स्वतः आ जाएगी और वे प्रभु महावीर के बताए अनेकान्तवाद के सिद्धान्त का सम्यकरीत्या

पालन कर सकेगें।”

पूज्य गुरुदेव का जीवन-दर्शन पढ़कर लगता है कि एक मानव में इतनी अधिक विशेषताओं का समाहित होना आश्चर्य व रोमांच का विषय है। वक्ता, साहित्यकार, समाज सुधारक, क्रान्तिकारक, विचारक आदि रूप आपकी अलौकिक क्षमता की कहानी कहते हैं।





श्री विजयानंद सूरि महाराज भक्तगणों के साथ

कर्मयोगी श्री आत्माराम जी

□ उपाध्याय श्री वीरेन्द्र विजय

यह विश्व अनादि कालीन है, जहाँ निरंतर आत्माओं का आवागमन चालू है।

वे आत्माएँ महान बन जाती है, जो संसार को एक नई दिशा और अलोक प्रदान कर जाती हैं।

पंजाब देशोद्धारक जैनाचार्य श्री विजयानंद सूरीश्वर जी महाराज एक ऐसे ही युग पुरुष हुए हैं, जो मिथ्यात्व के अंधकार को चिरने वाले एवं असत्य के बादलों को हटाने वाले महापुरुष थे।

उनका समूचा जीवन स्व-पर के लिए कल्याणकारी था। समाज हित के लिए एवं स्व के लिए उन्होंने सत्य के मार्ग को चुना। सत्य का मार्ग संघर्ष का मार्ग है। जहाँ अनेकों विघ्न एवं बाधाएँ खड़ी हैं। उन्हें पार कर पाना सहज नहीं है। सत्यानुगामी दृढ़ता से उसे पार कर जाता है।

उन्हें भी इस मार्ग में अनेकों बाधाओं का सामना करना पड़ा। लेकिन वे अपने पथ से जरा भी विचलित नहीं हुए। धीरता से वे बढ़ते गए। बाधाएं भी हटती गईं। सत्य की रोशनी को सबने देखा। सत्य कभी छुपा हुआ नहीं रहता।

श्री विजयानंद सूरीश्वर जी ने हजारों को सत्य पथ के अनुगामी बनाया।

सत्य के प्रचार के साथ उन्होंने ज्ञान प्रचार का भी महान कार्य किया। ज्ञान का कार्य प्रकाश का है।

वे महान ज्ञानी थे, उन्होंने ज्ञान का महत्व जाना था। सैकड़ों गाथाएँ वे कुछ समय में ही

याद कर लेते थे ।

ज्ञान स्व-पर कल्याणकारी है, जो ज्ञान स्वयं तक सीमित है, वह परोपकारी नहीं बन सकता । महापुरुष करुणा के सागर होते हैं । करुणा से प्रेरित वे लोगों को सत्यपथ दिखाते हैं । इस रूप में श्री आत्मारामजी ने एक कदम और बढ़ाया ।

संकुचित वृत्ति अपनाते तो वे यह कार्य नहीं कर सकते थे, यह उनकी विशाल दृष्टि है ।

जब विदेश से निमंत्रण आया तो वे मर्यादा का उल्लंघन कैसे करते । वे मर्यादा पुरुषोत्तम की तरह संयम के प्रति निष्ठावान थे । किन्तु विदेश की धरती पर प्रचार के मौके को वे चूकना नहीं चाहते थे, और स्वयं मर्यादा का भंग भी नहीं चाहते थे । इस के लिए उन्होंने महुवा के प्रतिभाशाली श्री राघवजी गांधी को अपने समीप रखा । उन्हें अल्पसमय में जैन धर्म के सिद्धान्तों का ज्ञान प्रदान किया ।

ज्ञान उपलब्ध कर वीरचंद राघवजी उनके प्रतिनिधि बनकर विदेश गए । उन्होंने जैन धर्म के सिद्धान्तों का सुन्दर रूप से प्रचार किया । उन्होंने वहाँ की जनता तक सत्य सिद्धान्तों के प्रचार का अपूर्व काम किया ।

श्री विजयानंद सूरीश्वरजी ने विदेश में जैन धर्म के अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह के सिद्धान्तों के प्रचार में परोक्ष रूप से अभूतपूर्व कार्य किया ।

विचारों में अनेकान्त, आचार में अहिंसा और अपरिग्रह को अपनाकर आज का अशांत समाज, राष्ट्र और विश्व शांति को उपलब्ध कर सकता है ।

आज के अशांत भौतिक वाद के युग में मानव को इसकी नितांत आवश्यकता है । आज के विज्ञान के साधनों ने जहाँ सुविधा दी है, वहाँ अशांति का दावानल भी सुलगा दिया है । जिससे मानव की मानसिक शांति खो गई है एवं पारिवारिक एवं सामाजिक अनेक समस्याएं खड़ी हो गई हैं । धार्मिक एवं नैतिक सनातन मूल्यों का हास हो रहा है । मानवता लुप्त हो रही है । सौहार्द और सहानुभूति की भावना समाप्त हो रही है । अतः इन मूल्यों की जीवन में, समाज एवं संसार में पुनर्स्थापना हो, यह जरूरी है ।

समाज के हित की भावना आचार्य श्री के मानस में समाहित थी । अतः विश्वमंगल की शुभ भावना से उन्होंने संसार के कोने-कोने में भगवान महावीर के महान् सिद्धान्तों के प्रचार का कार्य किया ।

जो पाता है वह बांटता है । वह अपनी ज्योति को समेटता नहीं है । ज्योति फैलती है, अंधकार मिटता है । वे बांटने वाले महापुरुष थे । आत्मा की गहराई में जो पाया, उसे उन्होंने

छिपाया नहीं ।

वे एक ऐसे महापुरुष थे, जो जन्म से ही निडर थे । निर्भीक थे । वीरता उनका निजगुण था । उनका मुख्य एवं प्रधान गुण था निडरता । इसी गुण ने उन्हें सत्य से विचलित नहीं किया ।

वे ऐसे समय में पैदा हुए, जब चारों ओर मिथ्या अंधकार छाया हुआ था । वे सत्य की राह पर चलने वाले युगपुरुष थे । उनकी दृढ़ता और निर्भीकता ने उन्हें चलायमान नहीं किया और इसी माध्यम से वे अपनी मंजिल के निकट पहुँच पाए ।

जिनवाणी पर उन्हें अपूर्व आस्था थी । जिनवाणी के आलोक में उन्होंने सत्य को जाना । सत्य को समझना सरल है । सत्य को स्वीकारना अत्यंत कठिन है ।

उन्होंने केवल सत्य को जाना ही नहीं, उसे स्वीकार भी किया ।

आत्मारामजी परमात्मा के परम भक्त थे । सत्य स्वरूप जानने पर उन्हें प्राचीन मूर्तिपूजक परंपरा को स्वीकार करने में संकोच नहीं हुआ । जिनभक्ति की धारा को बहाने के लिए उन्होंने जगह-जगह जिनमंदिर स्थापित किए । इस माध्यम से उन्होंने संघ व समाज को भक्तिमार्ग की ओर अग्रसर किया ।

भक्ति की पावन गंगा में डुबकी लगाते हुए उनके हृदय से जो स्रोत बहा, वह अत्यंत मार्मिक है । रोमांचित और भाव विभोर करने वाला है ।

पालीताणा महातीर्थ गिरिराज पर आदिनाथ भगवान की भक्ति में प्रस्फुटित शब्द और भाव अत्यंत हृदय द्रावक है । वह स्तवन निम्न है ।

अब तो पार भये हम साधो, श्री सिध्याचल दर्श करीरे ।

आदीश्वर जिन मेहर करी अब, पाप पटल सब दूर भयो रे ।

तन मन पावन भविजन केरो, निरखी जिनंद चंद सुख थयो रे ।

भक्ति में पूर्ण रूप से समर्पित होकर उन्होंने यह कहा कि सिद्धाचल महातीर्थ एवं श्री आदिनाथ प्रभु के दर्शन से संसार सागर से हम पार हो गए हैं ।

अभी संसार से पार नहीं हुए, क्योंकि पंचम आरे में मुक्ति नहीं है । फिर भी उन्होंने यह कहा कि हम पार हो गए । क्या यह बात उनकी सही है ?

यह कथन उनका सत्य है । क्योंकि सत्य तत्व पाने के पश्चात् साधक सत्यपथ पर आरूढ़ हो जाता है, तब वह पथ मंजिल को उपलब्ध करा देता है ।

परमात्मा के दर्शन में जब आत्मदर्शन होते हैं, तब प्रतीति हो जाती है कि अब आत्म

स्वरूप दूर नहीं है। तभी तो किसी ने कहा- “प्रभु दरशन निज आतम दर्शन” प्रभु दर्शन से आत्मशुद्धि होती है। और आत्मशुद्धि से आत्मदर्शन होते हैं।

शत्रुंजय महातीर्थ की यात्रा और प्रभु आदिनाथ के दर्शन से उन्हें परमात्मा दर्शन की अनुभूति हुई, तभी उनके मुख से उपरोक्त शब्द प्रकट हुए। आगे की पंक्ति में उन्होंने और भी स्पष्टीकरण किया है।

पुंडरीक पमुहा मुनि बहु सिद्धा, सिद्धक्षेत्र हम जाच लहियो रे।

पशु पंखी जिहां छिनक में तरीया, तो हम दृढ़ विश्वास गहियो रे ॥

पवित्रात्मा को तारने वाली, पशुपंखी को पावन करने वाली और अज्ञानी को ज्ञानवान बनाने वाली यह भूमि है। अतःअनंत सिद्धों, तीर्थकरों और तपस्वियों की इस तपोभूमि में उनके मन में भी दृढ़ और प्रतीति हुई कि अब मुक्ति निश्चित है। सम्यक्त्व की दृढ़ता का यह परम लक्षण है।

प्रभु की वाणी आगम रूप है। वर्तमान में ४५ आगम है। श्रुतपरंपरा से प्राप्त आगम प्रमाणरूप है। वे परम श्रद्धेय और मान्य है। पंचम आरे में ये परम आलंबन है। पूज्य श्री की आगम पर अनन्य आस्था थी। आगम के गहन अध्ययन से उन्हें सच्चा मार्ग मिला। सत्य दर्शन उन्हें हुआ। इस बात को उन्होंने इसी स्तवन में प्रगट किया है।

दूर देशांतर में हम उपने कुगुरु कुपंथ को जाल पर्यो हैं।

श्री जिन आगम हम मन मान्यो, तब ही कुपंथ को जाल जयों रे ॥

सद् गुरु और सुपथ की प्राप्ति उन्हें आगमों के अध्ययन से हुई। आगमों से उन्होंने सत्य का नवनीत पाया। यह बात उनके उपरोक्त पद से सिद्ध हो रही है।

भगवान की आगमवाणी और तीर्थों के प्रति उनका जो समर्पणभाव एवं श्रद्धा भक्ति थी, वह हमारे लिए अनुकरणीय है।

भक्ति की धारा में डुबकी लगाने वाला भक्त जीवन को पावन बना लेता है। आत्म शुद्धि के लिए भक्ति सहज, सरल और सर्वोत्तम मार्ग है।

पूज्य आचार्य जी की महातीर्थ शत्रुंजय पर अपार श्रद्धा थी। वे यहां पर दो बार आए और अनेकों बार यात्रा कर दादा की भक्ति का आनंद उठाया।

वे भक्त कवि थे। उनके कवि हृदय से सहज भक्ति की धारा बही। उनके भक्तिपूर्ण और प्रेरक स्तवन और प्रेरणादाई पद सैकड़ों की संख्या में है।

उनके द्वारा रचित सत्रहभेदी पूजा लालित्यपूर्ण शब्दों एवं भावों की गहराई को उजागर करती है। उसे ताल और लय से गाने पर श्रोता भावविभोर हो झूमने लगता है।

उनका प्रत्येक पद्य प्रेरणा से ओतप्रोत और वैराग्य भाव जगाने वाला है।

संसार की अनित्यता का बोध कराने वाला निम्न पद्य कितना मार्मिक और संसारिक स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला है।

यौवन धन स्थिर नहीं रहनारे, प्रातः समय जो नजरे आवे ।

मध्य दीने नहीं दीसे ।

जो मध्याह्ने, सो नहीं रात्रे, क्योँ विरथा मन हिसे ॥

पवन झकोरे बादर विनसे, त्यूँ शरीर तुम नासे ।

लच्छी जल तरंग वत चपला, क्योँ बांधे मन आसे ॥

वल्लभ संग सुपनसी माया, इन में राग ही कैसा ।

क्षण में उड़े अर्क तुल्य ज्यूँ, यौवन जग में ऐसा ॥

चक्री हरि पुरंदर राजे, मदमाते रस मोहे ।

कौन देस में मरी पहुँचे, तिनकी खबर न कोहे ॥

जग माया में नहीं लोभावे, आतमराम सयाने ।

अजर अमर तू सदा नित्य है, जिन धुनि यह सुनि काने ॥

इस पद्य में संसार की असारता, जीवन की अस्थिरता और आत्मा की अमरता का भान कराते हुए जागृत होने की प्रेरणा दी है।

यदि इन भावों को हम हृदयंगम करें, तो सहज ही हम आत्मा को पावन कर सकते हैं।

पूज्य श्री ने समाज सुधार के लिए भी प्रेरणा दी और झूठे आडंबरों से बचने के लिए प्रस्ताव पारित कराए थे।

अमृतसर की प्रतिष्ठा के अवसर उनकी प्रेरणा से निम्न लिखित प्रस्ताव पारित हुए।

(१) गुरु महाराज के दर्शनार्थ आए अतिथियों के लिए दैनिक भोजन में दाल रोटी, शाक-भाजी आदि से सत्कार किया जाए। अतः आज से मिठाई बंध की जाती है।

(२) प्रतिष्ठा के महान अवसर पर तीन दिन वरघोड़े-प्रतिष्ठा और उससे एक दिन बाद मिठाई दी जाए। किन्तु दिन में केवल एक बार। शेष दिनों में सादे भोजन से ही आतिथ्य किया जाए।

(३) दीक्षा के प्रसंग पर केवल एक दिन एक समय मिठाई दी जाए। शेष दिनों में सादा भोजन।

(४) धार्मिक प्रसंगों में सांसारिक व्यवहार को अधिक महत्व नहीं देना चाहिए। अर्थात् सगे संबंधियों के मिलने पर भेंट आदि देने की प्रथा बंध की जाती है।

इन प्रस्तावों के अतिरिक्त विवाह आदि अवसरों पर खर्च कम करने बारातियों की संख्या घटाने आदि के विषय में भी कई महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत किए थे।

उस काल की परिस्थिति में ये सुधार क्रांतिकारी थे।

जैन समाज में वे प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए मार्गदर्शन दिया, एवं पतन की ओर जाते हुए समाज को बचाया।



शताब्दि नायक के हस्ताक्षर

संबोधप्रकरणमें श्रीहरिन्द्रसूरिजीनें लिखा है कि जो
 परियदधारी अणुचारी पासचे आदिके पास जोको
 इ योगतथा उपक्षणादिक्रिया गुरुबुद्धि सेवदै तिस
 की सर्वक्रियानिफल है उलटा बोह योगोपक्षणादि
 की क्रिया करेवाले प्रायश्चित्तके योग्य है अर्था
 त उसको प्रायश्चित्तलेना चाहिये गाथा॥ वंदनमंस
 लाई जो गुवहण इतपुरे विदियं गुरुबुद्धि एवि
 हलं संबपच्चित्तजुगंवा ए३॥ मैनेतो जैसेयोंके आ
 गे योगवदनेवालोंकी क्रिया सफल मानी थी यद्प
 नूनता है। आचार्य उपाध्याय रबा स्वविरत्र प्रवर्ति
 धगणिय एपां चो पुरुषजिस गच्छमें न दोवे सो गच्छो
 रपत्नी समान है सम्पत्तरूपरत्नका करनेवाला सो
 गच्छ है और नमजीवाकों संसार प्रमणका हेतु है
 जैसे गच्छमें कविहित साधकों एक मज्जतमात्रनी
 बसना चाहिये। जेकर सामान्य साध दोवे परं प्र
 वोक्तपां चो गुणिन न दोवे तो गद्द स्वमेरदना अछा
 है। गाथा जच्चन पं वदमे वि नच्चिगले सो ऊपत्ति
 सारिछो समत्तरयणदरणे नचाणन वत्तमण
 सीलो एप तच्चन मुज्जतमित्तं वसियच्चं कविदि
 एहि साहृदि जइ सामास्य मुलिलो न गुणिलो
 तजवरंगेहं ए६॥ इन गाथाथानुसार मैने ही व
 लसक्ता हं और तपगच्छादि गच्छोके साधकोंको
 चोरपत्नी समान गच्छ और साधकोंको चोरों समा
 न नदीमानता हं यद्द नूनता है

गुणों के रत्नाकर थे गुरु आत्म

□ पंच्यास श्री जयन्त विजय

जिस पावन भारत की भूमि पर देवतागण भी जन्म लेने को आतुर रहते हैं, उसी पुण्य भू पर समय-समय पर अनेक महापुरुषों का अवतरण हुआ है, जिन्होंने निजी स्वार्थ व प्रलोभनों का समाज एवं मानव मात्र के कल्याण के लिए त्याग कर दिया। उन्मार्ग गामी जीवों को सन्मार्ग की ओर प्रस्थान करने की सतत प्रेरणा देना ही, इन महापुरुषों की जीवन यात्रा का उद्देश्य रहता है।

शताब्दी नायक, युग प्रवर्तक, न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज ऐसे ही एक महापुरुष थे। वे एक शताब्दी पूर्व इसी भारत भूमि पर अवतरित हुए थे और उन्होंने संसार में कल्याण के मार्ग को प्रशस्त किया था।

महापुरुष तीन प्रकार के होते हैं, प्रथम वे जो जन्म-जन्मांतर के प्रकर्ष पुण्य से यहाँ प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं। दूसरे वे, जो अपने पुरुषार्थ के द्वारा ख्यात होते हैं और तीसरे वे जो लोगों के द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं। श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वर जी महाराज में तीनों ही प्रकार की विशेषताएं विद्यमान थीं।

पंजाब केसरी, युगवीर श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वर जी महाराज ने उन्हें 'तपागच्छ गगन में दिनमणि सरीखे' कहा था। उनका जीवन संघर्षों की महागाथा है। वे अनगिनत कठिनाइयों में भी सत्य की खोज करते रहे। उन्होंने विकट परिस्थितियों से कभी हार नहीं मानी।

वे चाहते थे कि जैन धर्म का प्रचार समग्र विश्व में हो। इसके लिए उन्होंने श्री वीरचन्द्र राघवजी गांधी को जैन दर्शन का पारंगत बनाकर विदेशों में भेजा। उन्होंने जैन धर्म को यतिवाद के उपद्रव से मुक्त किया। उनका जीवन तो अथाह गुणों का सागर था। वे गुणों के रत्नाकर थे।

वे न्याय-दर्शन के महापंडित थे। तर्क करने में और तर्क का उत्तर देने में उनकी कोई बराबरी नहीं कर सकता था। उनकी समझाने की शक्ति इतनी सरल और हृदयंगम थी कि सामान्य से सामान्य और अनपढ़ से अनपढ़ जन भी भलीभांति उसे ग्रहण कर लेता था। एक श्रावक ने उनसे प्रश्न किया कि हमें मक्खन क्यों नहीं खाना चाहिए ?

तब उन्होंने उत्तर दिया- मक्खन अभक्ष्य है, क्योंकि जैन शास्त्र के अनुसार छाल से अलग हुए मक्खन को जब अन्तर्मुहूर्त, ४८ मिनट हो जाते हैं तो उसमें मक्खन के रंग के सूक्ष्म जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए मक्खन खाना वर्जित है। मक्खन निकाल कर उसे गरम करके घी निकाल कर खाना चाहिए। इस तरह से जीव हिंसा नहीं होती।

ऐसे गुण रत्नाकर गुरु की स्वर्गारोहण शताब्दी पर हम हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं और वीतराग देव से प्रार्थना करते हैं कि ऐसे महर्षि के बताए हुए मार्ग पर चलने की हमें शक्ति प्रदान करें।



सत्य पथानुगामी गुरु विजयानंद

□ मुनि श्री धर्मधुरन्धर विजय

आगमों एवं आगमों पर लिखित निर्युक्तियों, वृत्तियों और चूर्ण आदि ग्रंथों के अध्ययन और अनुशीलन के बाद गुरुवर श्री आत्माराम जी ने संविग्न दीक्षा लेने का मन ही मन विचार बनाया था और एकदा अवसर पाकर गुरुदेव ने अपने साथी मुनियों को अनुशीलित सत्यतत्त्वों, परंपराओं का बोध दिया और स्वयं ने इन-इन कारणों और प्रमाणों के आधार पर संविग्न दीक्षा लेने का मन ही मन विचार बनाया है, ऐसा कहा। गुरुदेव के इस विचार को सुनते ही साथी मुनियों ने कई शंकाएं, आशंकाएं, प्रस्तुत की। मगर गुरुदेव ने आगमिक प्रमाण दे देकर उनकी शंकाओं को निर्मूल किया, उन्होंने अकाट्य तर्क प्रस्तुत कर आगमिक परंपराएं समझाईं और निवेदन किया कि “यदि तैयारी हो तो मेरे साथ तैयार हो जाओ, रही तुम्हारी आशंकाएं वर्तमान परंपरा की ओर से, तो सत्य समझने के बाद अब इस मिथ्या को पकड़े रहना मेरे लिए असंभव भी है और अशास्त्रीय भी।” प्रतिदिन अन्य मुनि जन गुरु आत्म जी से आगमिक वाचनाएं लेते, संशयों के विषय में पृच्छा करते, सुने और पढ़े हुए तत्त्वों की परावर्तना करते और सत्य गवेषणा के भाव को हृदय में धारण कर उनका बार-बार चिंतन करते। अंततः धीरे-धीरे गुरुवर श्री आत्म जी के साथ सोलह मुनि तैयार हो गये और उन्होंने गुरु आत्म को अपना प्रमुख बनाया।

जब गुरुजी ने संविग्न दीक्षा लेने के पहले संविग्न परंपरा का सभी दृष्टियों से सूक्ष्म निरीक्षण प्रारंभ किया तो उन्हें स्पष्ट प्रतीत हुआ कि ‘वर्तमान में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परंपरा में यतियों का प्राचुर्य है, उनका प्रभाव अधिक है, संविग्न साधुओं की बहुत कमी है, और वर्तमान में संविग्न साधुओं में से अहमदाबाद में स्वयं के गुरुजी के साथ बिराजमान श्री मुक्तिविजयजी

गणि (श्री मूलचन्दजी महाराज) ही ऐसे मुनिराज हैं जिनके पास दीक्षा लेने से मेरा प्रयोजन सिद्ध हो सकता है मैं शासनपति देवाधिदेव इस अवसर्पिणी काल के चरम तीर्थपति भगवान् श्री महावीर स्वामी जी की प्राचीन परंपरा का पालन करता हुआ कर्मनिर्जरा कर सकता हूँ। (मुक्तिविजयजी गणी श्री बूटेरायजी महाराज के परमकृपापात्र प्रथम शिष्य थे)

इस विषय में भी गुरु आतम ने अपने साथी मुनियों के साथ विचार विनिमय किया। विचार विनिमय के बाद गुरुवर श्री आत्मरामजी महाराज ने निर्णय के रूप में एक छोटा सा पत्र श्री मुक्ति विजयजी गणी जी के पास यह लिखकर प्रेषित किया कि 'हम १७ साधु आपके पास आ रहे हैं।'

ऐसा पत्र भिजवाकर गुरुवर ने अपने साथी मुनियों श्री विशनचन्दजी महाराज, श्री चंपालाल जी महाराज, श्री हुक्मचन्दजी महाराज, श्री सलामत राय जी महाराज आदि के साथ अहमदाबाद की ओर विहार किया और जब वे अहमदाबाद पधारे तो वहां के श्रीसंघ ने उनका भव्यातिभव्य स्वागत किया। प्रवेश के पश्चात् सेठ श्री दलपतभाई भगुभाईजी के विशाल बंगले में 'धर्म क्या है?' इस विषय पर धारा प्रवाह रूप से गंभीरध्वनि में मार्मिक और प्रमाण पुरस्सर प्रवचन करना प्रारम्भ किया। प्रवचन में गुरुवर श्रीआतमजी ने धर्म से संबंधित आत्मिक और व्यावहारिक दृष्टिकोणों के साथ साथ धर्म के कुछ स्थूल और कुछ सूक्ष्म विषयों का हृदयस्पर्शी विवेचन तो किया ही, साथ ही साथ स्वयं के आगमन का हेतु भी बताया।

गुरु के प्रवचन सुनकर सारी सभा वैसे ही मुग्ध थी जैसे कि बीन की मस्तध्वनि को सुनकर नाग मुग्ध बन जाता है और ध्वनि में स्वयं की सुध-बुध भूल जाता है। ज्यों ही गुरुदेव ने दो घंटों के पश्चात प्रवचन समाप्ति के अवसर पर मांगलिक पाठ सुनाया तो लोगों को ध्यान आया कि दो घंटों का समय व्यतीत हो चुका है। सभी लोग गुरुदेव एवं अन्य मुनियों को वंदन कर बिखर गए। गुरुदेव पट्टे से ज्यों ही नीचे उतरे, त्योंही श्रेष्ठिर्वर्य श्री दलपतभाई गुरुदेव के सामने उपस्थित हुए। गुरुदेव ने उन्हें कहा- 'हमारे पंजाब के श्री मुक्तिविजयजी गणि (श्री मूलचन्दजी महाराज) कहां है? हमें वहीं जाना है, हमें वहीं ले जाओ।' इस आज्ञा को सुनकर सेठ श्री दलपत भाई गुरुदेव को मुनि मण्डल सहित उजमबाई की धर्मशाला (रतनपोल के उपाश्रय) में ले आए। वहां पर जैसे ही गुरुदेव ने निसीहि, निसीहि, निसीहि कह कर 'मत्थण वंदा मि' की उच्च, मधुर ध्वनि के साथ प्रवेश किया तो सामने ही श्री मूलचन्दजी महाराज बिराजमान थे। उन्हें वंदन कर गुरुदेव ने तुरंत कहा- 'मैं आपका शिष्य होने आया हूँ' यह सुनते ही मुनिराज श्री मुक्तिविजयजी म. (श्री मूलचन्दजी महाराज) ने उन्हें कहा- 'मैं आपको अपना शिष्य तो नहीं, मगर गुरुभाई जरूर बनाता हूँ।' ऐसा कहकर वे इन्हें एवं अन्य मुनिजनों को उनके गुरुजी श्री बूटेराय

जी महाराज के पास ले गए और कहा- 'मैं इन्हीं का शिष्य हूँ, इन्हीं की अनंत कृपा का परिणाम हूँ। तुम्हें इन्हीं का शिष्य बनना है। और मैं तुम्हें गुरुभाई के रूप में स्वीकारता हूँ।' इस आज्ञा वचन को सुनकर गुरुवर श्री आत्मारामजी ने मस्तक गुरुवर श्री बूटेराय जी महाराज के चरणों में झुका दिया, और कहा कि 'इस पल से ही यह तन, मन और आत्मा आपको अर्पित करता हूँ। आप आज्ञा करें कि मैं अपने तन-मन और आत्मा का कैसे उपयोग करूँ?' गुरुवर श्री बूटेराय जी महाराज एवं श्री मूलचन्दजी इत्यादि सभी मुनिजन एवं उपस्थित अन्यजन गुरुवर आत्म के इस विजय और समर्पण को देखकर विस्मित थे। इस प्रकार गुरुवर श्री आत्मारामजी म. संविग्न दीक्षा के लिए श्री बूटेराय जी महाराज के पास आए। गुरुवर श्री बूटेरायजी महाराजजी ने तत्पश्चात् अवसरानुसार गुरुवर श्री आत्मजी को मुनि श्री आनंद विजयजी के रूप में स्वयं का शिष्य बनाया एवं अन्य मुनियों को श्री आनंद विजयजी के शिष्य प्रशिष्यादि के रूप में स्थापित किया।



श्री जिनागम हम मन मान्यो तब ही कुपंथ को जाल जर्यो रे ॥

□ मुनि श्री अरुण विजय

संसार के रंगमंच पर भिन्न-भिन्न समय पर अनगिनत महापुरुष पैदा हुए और संसार को शांति, सद्भाव, अहिंसा, सत्य, न्याय और क्षमा का संदेश देकर विदा हो गए। इन महापुरुषों की कड़ी में एक ऐसे महापुरुष हैं, जो उन्नीसवीं शताब्दी वि. सं. १८९४ में पैदा हुए और स्थानकवासी संप्रदाय में दीक्षा लेने के बाद जब उन्होंने शास्त्रों का गहन अध्ययन किया तो उन्हें पता चला कि सच्चा जिन धर्म तो मूर्तिपूजा में है। उस समय उस महापुरुष ने शास्त्रोक्त मूर्तिपूजक जिनधर्म को अपनाया और संवेगी दीक्षा लेकर जीवन भर मूर्तिपूजा का प्रचार किया। सत्य के लिए उन्होंने पंथ का भी त्याग कर दिया। वे क्रांतिकारी महापुरुष थे हमारे परमोपकारी, पंजाब देशोद्धारक, न्यायोम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वर जी (आत्मरामजी) महाराज।

गुरु आत्म का इस संघ, समाज एवं समुदाय पर असीम उपकार हैं, क्योंकि एक समय ऐसा आ गया था, जब संवेगी साधु तथा तपागच्छ संघ लुप्त प्रायः होने जा रहा था। असंयती यतियों और मंत्र-तंत्र वादियों का चहुं ओर बोल-बाला था। लोग कुगुरु और कुपंथ के जाल में फंसकर सच्चे सत्य और सनातन जिनधर्म से विमुख होते जा रहे थे। आर्य समाजी, ईसाई और स्थानकवासी आदि कई पंथ अपने मत-मतानुसार बनाए गए मनगढंत सम्प्रदायों को बढ़ावा दे रहे थे। वे अपनी पूरी शक्ति लगाकर मूर्तिपूजा का खंडन कर रहे थे। तब गुरु आत्म ने इस क्षेत्र में आकर हमारे संघ, समाज और समुदाय का इतिहास बदल दिया।

उनका जन्म पंजाब के लहरा गांव में कपूर क्षत्रिय वंश में धर्म श्रद्धालु शूरवीर गणेशचन्द्र की भार्या पतिव्रता शीलगुण सम्पन्ना रुपादेवी की रत्न कुक्षि से हुआ था ।

उनके बचपन का नाम आत्माराम था । वे बचपन से ही साहसी थे और उनके साहस की अनेक कथाएं प्रचलित और प्रसिद्ध हैं । दुर्भाग्य से बचपन में ही उन्हें अपने पिता का वियोग सहना पड़ा । उनके पिता ने उन्हें अपने मित्र जोधामलजी के पास रखा, जो लहरा के पास जीरा में रहते थे । जोधामलजी ने अपने मित्र के पुत्र को शिक्षित एवं संस्कारित किया । जोधामलजी स्थानकवासी जैन थे, इसलिए स्थानकवासी साधुओं का आवागमन उनके घर पर होता रहता था । उन साधुओं के संसर्ग में आने से और उनकी वैराग्यमय वाणी सुनने से आत्माराम के मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ । और उन्होंने वि. सं. १९१० में जीवनरामजी के पास दीक्षा ग्रहण की । उनका नाम आत्मारामजी ही रखा गया ।

दीक्षा लेकर वे जैन दर्शन के गहन अध्ययन में संलग्न हो गए । जैसे-जैसे वे आगमों का अध्ययन करते गए वैसे-वैसे स्थान-स्थान पर उन्हें आगम ग्रन्थों में मूर्तिपूजा के पाठ पढ़ने को मिलते गए । इससे उन्हें लगा कि जैनों में मूर्तिपूजा की परंपरा अनादिकाल से चली आ रही है । किन्तु उनके गुरु और अन्य स्थानकवासी विद्वान लोग इस मूर्तिपूजा को अस्वीकार करते थे । जिससे आत्मारामजी का मन अनेक शंका-कुशंकाओं से घीरे रहता था । वे अपनी शंकाओं का समाधान पाने के लिए अनेक विद्वान गृहस्थों एवं साधुओं के पास गए । पर कहीं पर भी उन्हें अपनी शंकाओं का समाधान नहीं मिला ।

एक बार वे रत्नचंदजी महाराज के पास आगरा में गए । वहां उन्होंने कुछ शास्त्रों का अध्ययन किया । मुनि रत्नचंदजी से उन्हें अपनी बहुत सी शंकाओं का समाधान मिला । शास्त्रों के अध्ययन के अन्त में आत्मारामजी से उन्होंने कहा- 'जिन प्रतिमा की कभी निंदा मत करना । अपवित्र हाथों से शास्त्रों को मत छूना । हाथ में दंड रखने का विधान है और मुंहपत्ती हमेशा मुख पर बांधे रखने का शास्त्रीय नियम नहीं है । अतः तुम निर्भीक होकर सच्चे जिन धर्म का प्रचार करो । तुम्हारे में क्षमता है, इसलिए कह रहा हूं ।

गुरु आत्म को सच्ची और स्पष्ट बात बताने वाला पहला संत मिला । एक बार उन्हें शीलांकाचार्य द्वारा लिखित आचारांग सूत्र की टीका मिली । इसे पाकर उन्हें ऐसा अनुभव हुआ, मानो अमूल्य रत्न मिल गया हो । उससे उन्हें ऐसी-ऐसी बातें ज्ञात हुईं जो स्थानकवासी मान्यता से सर्वथा भिन्न थी । आचारांग की इस टीका से उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया कि सच्चा जैन धर्म तो मूर्तिपूजा में ही है । उसीके आधार पर उन्होंने भविष्य में नई क्रांति का सूत्रपात कर जैन

धर्म का वास्तविक स्वरूप संसार के समक्ष रखने का विचार किया ।

गुरु आत्म ने अपने विचारों के प्रचार का संकल्प किया; परंतु वे इस विषय में दूरदर्शिता से काम लेना चाहते थे । उन्हें यह बात अच्छी तरह ज्ञात थी कि देश और समाज की परिस्थिति की उपेक्षा कर यदि मैं प्रचार करूंगा तो असफलता ही हाथ आएगी । हर नई चीज की शुरुआत के लिए पहले भूमिका तैयार करनी आवश्यक है ।

आत्मारामजी ने देखा कि संसार का त्याग कर साधु का वेश धारण करना उतना कठिन नहीं है जितना कि झूठे सांप्रदायिकता के बंधनों को तोड़ना या तुड़वाना कठिन है । इसलिए उन्होंने इसी सांप्रदायिकता की चहार दीवारी में रहकर ही मूर्तिपूजा का प्रचार करना प्रारंभ किया । सबसे पहले उन्होंने विष्णुचंदजी महाराज को अपना अनुयायी बनाया । और वे भी इस क्रांति के आन्दोलन चलाने में उनके बाएं हाथ का काम देने लगे । फिर श्रावकों को भी प्रयत्न पूर्वक अपने विचारों के अनुकूल बनाया । इस प्रकार वे जहां-जहां भी जाते, वहां-वहां समझदार श्रावकों को मूर्तिपूजा, जैन आचार व सिद्धान्त बताते यदि कोई संदेह व्यक्त करता तो शास्त्र का प्रमाण देकर उसका समाधान करते । परिणामतः हजारों लोगों में विश्वास पैदा हो गया और धीरे-धीरे मूर्तिपूजाओं की संख्या में वृद्धि होती गई ।

इतिहास जानता है कि प्रत्येक क्रांतिकारी महापुरुष को प्रारंभ में तीव्र विरोध का सामना करना पड़ा है । पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज के साथ यही हुआ । स्थानकवासी समाज के साधुओं और श्रावकों ने उनके विरोध में आवाज उठाई । उन्होंने सभी शहरों में यह समाचार भेज दिए कि आत्मारामजी पथभ्रष्ट हो गए हैं इसलिए उन्हें और उनके साधुओं को न कोई आश्रय दें, न उनका प्रवचन सुने न गोचरी दें न पानी । कई बार पूज्य आत्मारामजी महाराज को भूखे और प्यासे रहना पड़ा ।

जब आत्मारामजी महाराज को यह विश्वास हो गया कि अब पंजाब के समझदार श्रावक मूर्तिपूजा में दृढ़ हो चुके हैं । तब उन्होंने गुजरात और राजस्थान की ओर विहार किया । अहमदाबाद में पहुंच कर उन्होंने अपने सत्रह मुनियों के साथ श्री बुद्धिविजयजी महाराज से संवेगी दीक्षा ग्रहण की । तब से उनका नाम आनंद विजयजी हुआ ।

सौराष्ट्र में उन्होंने शत्रुजय महातीर्थ की यात्रा की । भगवान आदिनाथ के दर्शन कर वे धन्य-धन्य हो गए । उनका रोम-रोम पुलकित हो गया । उनका अन्तःकरण पश्चाताप से भर उठा और हृदय से यह उद्गार फूट पड़े 'अब तो पार भए हम साधो, श्री सिद्धाचल परस करी रे ।

इस स्तवन में उन्होंने आगे कहा है—

दूर देशान्तर में हम उपने, कुगुरु कुपंथ को जाल पर्यो रे ।
श्री जिनआगम हम मन मान्यो, तब ही कुपंथ को जाल जयों रे ॥
तो तुम शरण विचारी आयो, दीन अनाथ को शरण दियो रे ।
जयो विमलाचल पूरण स्वामी, जनम जनम को पाप गयो रे ॥

वे भावविभोर होकर परमात्मा से कहते हैं कि हे परमात्मा ! मैं अज्ञान की स्थिति में कुगुरु और कुपंथ की जाल में फंसा हुआ था । आपकी कृपा से मैंने आगमों का अध्ययन किया और उन आगम शास्त्रों का अध्ययन करने पर मुझे सन्मार्ग मिला । मुझे पता चला कि मैं असत्य पथ पर हूँ, कुगुरु के जाल में फंसा हुआ हूँ । मैं उस पंथ का त्याग कर अब आपकी शरण में आया हूँ । आपके दर्शन कर अब मैं पार हो गया हूँ ।

गुरु आत्म ने परमात्मा भक्ति में तल्लीन होकर अनेक स्तवनों और पूजाओं की रचना की है । उन्होंने स्थान-स्थान पर जिन प्रतिमाओं और जिन मंदिरों की स्थापना की । शासन प्रभावना के अनगिनत कार्यों से प्रभावित होकर उन्हें पालीताणा की पवित्र भूमि पर आचार्य पद से अलंकृत किया गया ।

ऐसे गुरु श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज को शत-शत नमन एवं वंदन ।



श्रीमद् विजयानंद सूरि: जीवन और कार्य

□ मुनि नवीन चन्द्र विजय

जन्म और शैशव

ई. सन् १८२० का वर्ष था। मुगल साम्राज्य का सूर्य अस्त हो रहा था। अंग्रेजों की शासन व्यवस्था फैलती जा रही थी। भारत अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त था। सिक्ख, मुस्लिम और हिन्दू राज्य अपने राज्यों की सुरक्षा के लिए और अंग्रेज अपने साम्राज्य के विस्तारण के लिए एक दूसरे से लड़ रहे थे। चारों ओर युद्ध, आतंक और अराजकता का हुताशन सुलग रहा था।

पंजाब में महाराजा रणजीतसिंह का शक्तिशाली सिक्ख राज्य निरंतर पतन की ओर बढ़ रहा था। सिक्ख राज्य के पराजय के लिए अंग्रेज जी जान से जुटे हुए थे। महाराजा रणजीतसिंह का अधिकांश समय अंग्रेजों से लोहा लेने में ही बीतता था। उनकी सुविशाल शक्तिशाली सेना के सैकड़ों सेनापति थे। उनमें एक हजार सैनिकों का नेतृत्व करते थे गणेशचन्द्र। वे कलश गांव के निवासी ब्रह्म कपूर क्षत्रिय थे। महाराजा रणजीत सिंह की ओर से युद्ध क्षेत्र में उतर कर गणेशचन्द्र ने उन्हें कई बार विजयी बनाया था। रणजीतसिंह ने भी उन्हें वीरोचित सम्मान देकर अनेक पदकों और पुरस्कारों से सम्मानित किया था।

महाराजा रणजीतसिंह की सेना में काम करते हुए गणेशचन्द्र को अलग-अलग क्षेत्रों की सुरक्षा की जिम्मेवारी सौंपी जाती थी और उन्हें वहां स्थानांतरित होना पड़ता था।

एक बार उन्हें रामनगर के पास फलिया नाम के क्षेत्र की सुरक्षा सौंपी गई। यहां रहते हुए गणेशचन्द्र का परिचय रामनगर के एक कंवरसेनजी नाम के प्रतिष्ठित पुरीवंश के क्षत्रिय सज्जन

से हुआ। उनका यह परिचय मित्रता में बदल गया और मित्रता वैवाहिक सम्बन्धों में।

अब तक गणेशचन्द्र अविवाहित थे। उनका अपना अब तक का जीवन युद्ध में पराक्रम और वीरता दिखाने में ही बीता था। अपने विवाह के विषय में उन्होंने कभी सोचा नहीं था।

कंवरसेनजी की एक कन्या थी, जिसका नाम रुपादेवी था। गणेशचन्द्र की वीरता, सज्जनता और उज्ज्वल भविष्य देखकर कंवरसेन ने गणेशचन्द्र को अपनी बेटी स्वीकार करने की प्रार्थना की। गणेशचन्द्र अपने मित्र को मना नहीं कर सके और रुपादेवी के साथ उनका विवाह हो गया।

कुछ वर्षों के बाद रामनगर से गणेशचन्द्र का स्थानान्तरण सतलज और व्यास के संगमस्थल हरि के पतन क्षेत्र में हो गया। इस क्षेत्र की सुरक्षा करते हुए उन्होंने यश, प्रतिष्ठा और धन आदि सब कुछ प्राप्त किया। उनके स्वभाव की विशिष्टता के कारण प्रत्येक व्यक्ति उनसे मित्रता का हाथ बढ़ाता था।

हरिकेपत्तन में एक प्रतिष्ठित जमींदार रहते थे। गणेशचन्द्रजी से उनकी गहरी मित्रता हुई। जमींदार की बहुत सी जमीन जीरा नगर के निकट स्थित लहरा गांव में भी थी।

गणेशचन्द्र कुछ वर्ष हरिकेपत्तन रहे थे कि फिर उनके स्थानान्तरण का आदेश आ गया। यही बात गणेशचन्द्र को नापसंद थी। वे किसी एक ही स्थान पर स्थाई होना चाहते थे। युद्ध, युद्ध और केवल युद्ध से उनका मन उकता गया था। वे अब शांति और निश्चितता पूर्वक जीना चाहते थे। उन्होंने अपनी यह इच्छा उस जमींदार मित्र के समक्ष व्यक्त की। उसने उन्हें लहरा आने का निमंत्रण दिया और गणेशचन्द्रजी अपने सेनापति पद से त्यागपत्र देकर पत्नी रुपादेवी के साथ लहरा आ गए। यहां उन्होंने कृषि के लिए जमीन खरीदी। सोलह वर्ष तक युद्ध से खेलने के बाद उन्होंने व्यवस्थित रूप से घर बनाया और शान्ति, सुख तथा संतोष पूर्वक जिदगी बसर करने का सपना संजोकर जीवन प्रारंभ किया।

इस बीच उस दम्पति के घर एक प्रतापी पुत्र का जन्म हुआ। वि. सं. १८९४ चैत्रसुदी प्रतिपदा का वह दिन था। गुजराती पंचांग के अनुसार वि. सं. १८९३। ई. सन् १८३७ गुरुवार। उत्तर भारत में इसी दिन से नूतन वर्ष का आरंभ माना जाता है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार यह दिन परम मांगलिकता का सूचक है। इससे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता था कि इस महत्त्वपूर्ण वर्ष के दिन अवतरित होने वाला बालक निश्चय ही कोई महान दिव्य पुरुष होगा। पहले पुत्र के जन्म के समय, जो उत्सव और आनंद परिवार में मनाया जाता है। वही आनंद और

उत्सव गणेशचन्द्रजी के घर मनाया गया। बालक का नाम आत्माराम रखा गया।

बालक आत्माराम का बचपन अपने माता पिता के स्नेहिल आंचल की छाया में लहरा गांव के निर्दोष प्राकृतिक वातावरण में बीता।

जिस समय बालक आत्माराम दस वर्ष के हुए, उस समय गणेशचन्द्र और रूपादेवी के प्रसन्न सांसारिक जीवन में एक दुःखद घटना घटित हुई। यह घटना उनके जीवन में एक तूफान बनकर आई और सुख, संतोष तथा शान्तिपूर्वक जी रहे परिवार को शोक, संताप और दुःख के महासागर में डुबोकर चली गई। इस घटना ने उस छोटे से परिवार को छिन्न-भिन्न कर दिया। पिता गणेशचन्द्र और माता रूपादेवी ने अपना छोटा सा परिवार बसाने की जो सुखद भविष्य की कल्पना की थी, वह उनकी कल्पना अंधकारमय वास्तविकता में बदल गई।

लहरा गांव अत्तरसिंह सोढ़ी नाम के ठाकुर के अधिकार में था। सम्पूर्ण गांव उसकी आज्ञा का अनुसरण करता था। वह ठाकुर भी था और धर्मगुरु भी। एक दिन वह अपने लहरा गांव की प्रजा के निरीक्षण के लिए आया। गांव में घूमते हुए उसने दस वर्षीय बालक आत्माराम को गली में खेलते हुए देखा और देखते ही उसकी अनुभवी नज़रों ने परख लिया कि यह बालक कोई अद्भुत और विलक्षण महापुरुष बनने वाला है। यदि यह मेरे पास रहेगा तो निश्चय ही मेरा सुयोग्य उत्तराधिकारी बनेगा। यह मेरा और मेरे कुल का नाम उज्ज्वल करेगा।

अत्तरसिंह सोढ़ी ने बालक आत्माराम को अपने पास रखने का अपने मन में दृढ़ निर्णय कर लिया। संयोग की बात यह थी कि सोढ़ी स्वयं निःसंतान था। इस के लिए उसने गणेशचन्द्र को अपने पास बुलाया और आत्माराम को सौंपने की आज्ञा की।

गणेशचन्द्र बालक आत्माराम को अपने से अलग नहीं करना चाहते थे। अतः उन्होंने सोढ़ी को स्पष्टरूप से मना कर दिया। उन्होंने कहा कि मैं अपने प्राण दे सकता हूँ, पर आत्माराम को नहीं दे सकूँगा।

अत्तरसिंह सोढ़ी गणेशचन्द्र को अपनी प्रजा से अधिक कुछ नहीं समझता था। सोढ़ी ने पहले आज्ञा करके, फिर स्नेह पूर्वक और अन्त में धमकी देकर बालक आत्माराम को गणेशचन्द्र से लेना चाहा; किन्तु इन सभी प्रयासों का गणेशचन्द्र पर कोई असर नहीं हुआ।

अत्तरसिंह सोढ़ी को मना करने का अर्थ था—मौत को बुलाना, उसे तो यह कल्पना भी नहीं थी कि कोई मेरे आदेश को तुकरा भी सकता है। उसके जीवन में गणेशचन्द्र पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने उसकी आज्ञा को मानने से इन्कार कर दिया। अत्तरसिंह ने अपनी आज्ञा के उल्लंघन

को अपना भयंकर अपमान समझा। और यह क्रूर निर्णय सुनाकर चला गया कि मेरे आदेश का पालन न करने का परिणाम भुगतने के लिए तैयार रहना।

गणेशचन्द्र भी वीर पुरुष थे। उन पर सोढ़ी की धमकी का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। और वे इस घटना को सामान्य समझकर उसकी उपेक्षा करके अपने काम में लग गए।

लहरा से एक कि. मी. दूर जीरा नाम का शहर है। इस शहर में स्थानकवासी जैन परिवार रहते थे। उन जैन परिवारों में एक परिवार जोधामलजी जैन का था। जोधामलजी व्यापारी थे और लहरा के अधिकांश लोग अपनी जीवन आवश्यक चीजें उन्हीं की दूकान से खरीदते थे। गणेशचन्द्र भी जोधामलजी के स्थायी ग्राहक थे। उनका ग्राहक और व्यापारी का सम्बन्ध गहरी मित्रता में बदल गया था।

ठाकुर अत्तरसिंह सोढ़ी किसी भी उपाय से गणेशचन्द्र को फंसाना चाहता था। उस घटना को दो वर्ष बीत गए थे। गणेशचन्द्रजी इसे भूल भी गए थे। पर सोढ़ी इसी उपाय की खोज में था कि किस तरह गणेशचन्द्र को दुःखी किया जाए। बहुत सोचने के बाद उसने एक योजना बनाई। पास के गांव में अपने आदमियों के द्वारा एक डाका डलवाया और उन डाकुओं में कई निर्दोष व्यक्तियों के नाम गिना दिए, जिनसे अत्तरसिंह सोढ़ी बदला लेना चाहता था। उनमें एक नाम गणेशचन्द्र का था।

एक दिन पुलिस गणेशचन्द्र के घर आई और उन्हें डाका डालने के अपराध में गिरफ्तार करने लगी। गणेशचन्द्र ने स्वयं के निर्दोष होने के सभी प्रमाण प्रस्तुत किए, परंतु उनकी एक न सुनी गई। वे दांत पीसकर रह गए और उन्हें यह समझते देर नहीं लगी कि यह काम अत्तरसिंह सोढ़ी का ही है।

गणेशचन्द्र ने पुलिस से एक दिन रूकने की प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना स्वीकार करली गई। इसी एक ही दिन में उन्हें अपने परिवार की सारी व्यवस्था करनी थी। उन्हें अपने से भी अधिक अपने बालक आत्माराम की चिंता थी। वे आत्माराम को लेकर जीरा के अपने मित्र जोधामलजी के पास गए और आने का कारण बताते हुए कहा कि अत्तरसिंह मेरे पीछे पड़ा हुआ है। मुझे अपने इस बालक आत्माराम के सुरक्षा की चिंता है। कुछ कह नहीं सकता, अत्तरसिंह मुझे किन संकटों में फंसाएगा और जिंदा भी रहने देगा या नहीं। ऐसे में मैं अपने बालक आत्माराम को आपके हाथों में सौंपकर निश्चित हो जाना चाहता हूँ।

संकट के समय मित्र की परीक्षा होती है। सच्चा मित्र वही जो संकट में काम आए।

जोधामलजी गणेशचन्द्र के सच्चे मित्र थे। उन्होंने गणेशचन्द्र के दुःख को अपना दुःख समझा और बालक आत्माराम को अपनी गोद में लेते हुए कहा, "मित्र गणेश ! तुम निश्चित हो जाओ। बालक आत्माराम की सुरक्षा, उसका संवर्धन और बड़ा होने पर विवाह करवा कर किसी काम में लगाने की जिम्मेवारी आज से मेरे ऊपर है। मैं इसे अपना ही पुत्र समझूंगा।"

गणेशचन्द्र के पास समय नहीं था। वे अधिक समय तक जोधामलजी के पास नहीं रुक सके। अपने मित्र की अनुमति ली। आत्माराम को गले से लगाया। दो आंसू गिराए। एक निःस्वास छोड़ा और शीघ्र ही लहरा लौट आए। वे आत्माराम की ओर से निश्चित हो गए। अब उन्हें अपनी पत्नी और छोटे चार वर्षीय पुत्र गुरुदत्तसिंह की चिंता थी।

उन्होंने एक आदमी को नौकर रखा। उसे खेती का काम सौंपा। रुपादेवी को जल्दी ही आने का वचन देकर वे पुलिस के साथ चल दिए। गणेशचन्द्र अपनी पत्नी रुपादेवी को जल्दी ही आने का वचन देकर गए थे। पर वे उनके वचन अन्तिम वचन थे। रुपादेवी उनके आने की प्रतिदिन राह देखती थी, परंतु वे कभी नहीं आए।

गणेशचन्द्र को डाका डालने के अपराध में बंदी बना लिया गया और आगरा के जेल में भेज दिया गया। वहां एक दिन कैदियों और जेल की सुरक्षा में तैनात सिपाहियों के बीच झगड़ा हो गया। उसमें एक सिपाही की गोली लगने से गणेशचन्द्र की करुण मृत्यु हो गई।

दीक्षा और अध्ययन

ई. सन् १८४८ में गणेशचन्द्र ने अपने पुत्र आत्माराम को जोधामलजी के पास रखा। उस समय आत्माराम बारह वर्ष के थे। लहरा में उस समय कोई विद्यालय नहीं था। अतः बारह वर्ष की उम्र तक वे अक्षर ज्ञान प्राप्त नहीं कर सके।

जीरा आकर जोधामलजी से उन्होंने अक्षर ज्ञान प्राप्त किया। किशोर आत्माराम के वे दिन व्यक्तित्व विकास के थे। क्षत्रिय पुत्र होने से और पंजाब के जलवायु के अनुरूप उनका शरीर जन्मतः बलिष्ठ और अतिशय सौन्दर्य मंडित था। प्रतिदिन नियमित रूप से अखाड़े में जाकर वे कुश्ती लड़ते थे। शारीरिक रूप से जितने वे शक्तिशाली, ओजस्वी और भव्य थे, अपनी आन्तरिक प्रतिभा एवं व्यक्तित्व से भी वे उतने ही अद्वितीय, विलक्षण और चमत्कारिक थे। उनकी स्मरण शक्ति अत्यन्त तीव्र थी। किसी भी कठिन से कठिन विषय को सीखने, समझने और आत्मसात् करने में उन्हें कोई समय नहीं लगता था। वे किसी पाठशाला या विद्यालय में नहीं गए थे। अपनी उम्र के सोलह वर्ष के बाद उन्होंने स्थानकवासी संत

जीवनरामजी से व्यवस्थित पढ़ना सीखा ।

जोधामलजी स्थानकवासी परंपरा के जैन थे । उनके परिवार को धार्मिक संस्कार मिले हुए थे । इसलिए घर का वातावरण धार्मिक सुगंध से सुगंधित रहता था । किशोर आत्माराम पर भी इस वातावरण का प्रभाव पड़ा । उन्होंने नवकार मंत्र सीख लिया और जैन धर्म के नीति-नियमों से भी अवगत हो गए ।

ई. सन् १८५२ में जीवनरामजी आदि दो संत जीरा में चातुर्मास करने के लिए आए । प्रतिदिन प्रवचन होने लगा । जोधामलजी के साथ आत्मारामजी भी उनके प्रवचन में आते थे । एक दिन जोधारामजी ने संत जीवनरामजी से आत्माराम का परिचय कराया । और विनती की कि उसे वे धार्मिक पाठ सिखाएँ ।

संत जीवनरामजी से आत्माराम धार्मिक पाठ सीखने लगे । पंद्रह वर्षीय आत्माराम की बुद्धि-प्रतिभा देखकर जीवनरामजी चकित रह गए । प्राकृत भाषा के किसी भी सूत्र या संस्कृत श्लोक को केवल एक या दो बार पढ़ने से ही जिसे वह कंठस्थ हो जाता हो । उसकी स्मरण शक्ति कितनी तेज होगी ? इसकी सहज कल्पना हो सकती है । एक ही महीने के भीतर आत्माराम ने स्थानकवासी परंपरा के सामायिक और प्रतिक्रमण के प्रारंभिक पाठों को कंठस्थ कर लिया ।

इसे पूर्वजन्म के संस्कार ही कह सकते हैं कि आत्माराम को यह धार्मिक परिवेश अत्यधिक प्रभावित करने लगा और तन-मन से वे उसी में तल्लीन रहने लगे ।

संत जीवनरामजी की प्रेरणा से युवक आत्माराम में वैराग्य के बीज पड़ने लगे । और उनकी मानसिकता त्याग की ओर ढलने लगी । चातुर्मास के अन्त में उन्होंने अपने मन से यह दृढ़ निर्णय कर लिया कि मुझे दीक्षा लेकर आत्म कल्याण करना है ।

चातुर्मास पूर्ण हुआ । जीवनरामजी ने जीरा से विहार करने का दिन निश्चित किया ।

एक दिन आत्माराम ने जोधामलजी से हाथ जोड़कर प्रार्थना के शब्दों में कहा—पूज्य जीवनरामजी के चार महीनों के सत्संग से मुझे संसार के प्रति अरुचि और दीक्षा जीवन के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ है । आप मुझे पूज्य जीवनरामजी के साथ जाने की और दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति दीजिए ।

आत्माराम के मुख से दीक्षा ग्रहण करने की बात सुनकर जोधामलजी को आघात लगा । इसकी तो उन्हें कल्पना भी नहीं थी । वे अपने मित्र को दिए गए वचन के अनुसार आत्माराम के विवाह के विषय में सोच रहे थे ।

उन्होंने आत्माराम को समझाया इतनी जल्दी निर्णय न करो। जैन साधुओं का जीवन निर्वाह करना अत्यन्त कठिन है। सामान्य मनुष्य इस तरह का जीवन नहीं जी सकता। यदि तुम्हें वास्तव में वैराग्य हो गया है तो मैं तुम्हें रोकूंगा नहीं। परंतु इस समय तुम अभी और गहराई से अध्ययन करो।

आत्माराम ने कहा—अभी तक मैंने जो कुछ पढ़ा है, उससे यही ग्रहण कर पाया हूँ कि त्यागी जीवन ही सर्वश्रेष्ठ जीवन है। मैं दीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय कर चुका हूँ। किसी भी स्थिति में मैं अपना यह निश्चय बदल नहीं सकता।

आत्माराम का निश्चय सुनकर जोधामलजी निरुत्तर हो गए। कुछ सोचने के बाद उन्होंने कहा—मैं तुम्हें अन्तिम निर्णय नहीं दे सकता। तुम लहरा जाकर अपनी माँ से आज्ञा ले लो।

अपनी माँ से आज्ञा लेने के लिए आत्माराम लहरा पहुंचे। माँ के चरण छुए। छोटा भाई गुरुदत्तसिंह अपने बड़े भाई को देखकर गले लिपट गया।

आत्माराम ने अपनी माँ से लहरा आने का कारण बताया और कहा कि मैंने साधु बनने का निर्णय कर लिया है। लालाजी ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। अब तुम मुझे दीक्षा की अनुमति दो।

अपने बेटे से साधु बनने का निर्णय सुनकर माँ रुपादेवी रोने लगी। कहा “तुम्हारे पिताजी इस दुनिया में है नहीं। गुरुदत्त अभी छोटा है। तुम बड़े हो और समझदार भी। तुम्हारे सहारे ही तो मैं जी रही हूँ। ऐसे में तुम भी हमें छोड़कर चले जाओगे तो हमारा क्या होगा। अपने मन से साधु बनने का विचार छोड़ दो। इस के लिए मैं तुम्हें अभी आज्ञा नहीं दे सकती।”

आत्माराम का निर्णय हिमालय की तरह अडिग था। उन्होंने कहा—“कोई किसी के सहारे जीवित नहीं रहता। अपने कर्म अपने साथ हैं। मैं न भी रहूँ, तब भी आपको और गुरुदत्त को कोई कष्ट होने वाला नहीं है। लालाजी आपके सभी कष्टों को दूर करेंगे। गुरुदत्त तो बड़ा हो ही रहा है। आशा और आकांक्षाओं का कभी अंत नहीं आता। संतोष ही मनुष्य का सबसे बड़ा धन है। तुम सुख संतोष पूर्वक रहो। जिस पथ पर मैंने चलने का निश्चय किया है। मुझे उस पथ पर चलने दो। आशीर्वाद दो, जिससे मुझे उस पथ पर चलने की शक्ति मिले।”

इतना कह कर आत्माराम माँ के चरणों में गिर पड़े। माँ ने बाहें पकड़कर उन्हें खड़ा किया। उसका गला रूंध आया। वह कुछ नहीं बोली। मन के भाव आंसू बनकर बहते रहे।

आत्माराम ने अपने जन्मस्थान लहरा को अन्तिम प्रणाम किया और जीरा लौट आए।

पूर्व निश्चित कार्यक्रम के अनुसार संत जीवनरामजी ने जीरा से मालेरकोटला की ओर विहार किया। आत्माराम ने भी दीक्षार्थी के रूप में उनके साथ विहार किया।

पंजाब केसरी, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज ने पूज्य श्री विजयानंद सूरि महाराज के जीवन चरित्र ग्रन्थ 'नवयुग निर्माता' में लिखा है कि जिस दिन संत जीवनरामजी ने विहार किया, उस दिन माता रूपादेवी भी अपने छोटे पुत्र गुरुदत्त को लेकर जीरा आई थी। अपने बड़े पुत्र आत्माराम का स्वयं से अलग होने का उसे अत्यन्त दुःख हुआ था। वह जीरा आकर बहुत रोई थी। दस बारह कि. मी. के विहार के पहले पड़ाव तक वह अपना बच्चा लेकर साथ-साथ चली थी। संत जीवनरामजी को और आत्माराम के बहुत समझाने पर भी उसके आंसू थमते नहीं थे, ममता और वात्सल्य की साकार मूर्ति माँ रूपादेवी का मन किसी भी उपाय से मानता नहीं था। सारा दिन वह आत्माराम के साथ रही। न कुछ खाया न पीया। अन्त में शाम को आत्माराम को गले लगाकर और आशीर्वाद देकर लहरा लौट आई थी।

ई. सन् १८५३ में मालेरकोटला में सत्रह वर्षीय युवक आत्माराम स्थानकवासी परंपरा में दीक्षित हुए। उन्होंने संत जीवनरामजी का शिष्यत्व ग्रहण किया। नाम रखा गया—मुनि श्री आत्मारामजी महाराज।

दीक्षा के बाद मुनि आत्मारामजी का अध्ययन प्रारंभ हुआ। ज्ञान के प्रति युवामुनि आत्मारामजी का अद्भुत आकर्षण था। जितने भी आगम सूत्र हैं, उन्हें वे शीघ्र ही पढ़ लेना चाहते थे। कठोर चरित्र पालन के साथ-साथ उन्होंने ज्ञान प्राप्ति को अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य बनाया।

एक ही दिन में तीन सौ श्लोक कंठस्थ कर लेने की विलक्षण शक्ति उनमें थी। दीक्षा के बाद उनका पहला चातुर्मास पंजाब के सिरसा रानिया शहर में हुआ। उनके गुरु जीवनरामजी अधिक विद्वान नहीं थे। पर ज्ञानपिपासु मुनि आत्माराम को इसकी चिंता नहीं थी। वे जहां भी जाते, वहां पर किसी विद्वान श्रावक की या किसी विद्वान ब्राह्मण पंडित की खोज करते। उन्हें निमंत्रित करते और स्वयं को पढ़ाने का निवेदन करते। मुनि आत्मारामजी जैसे महान प्रतिभाशाली विद्यार्थी को पाकर कौन विद्वान प्रसन्न नहीं होगा?

पहले चातुर्मास में उन्होंने रुष ऋषि से उतराध्ययन सूत्र पढ़ा। दूसरे चातुर्मास में संत रुड़मलजी से औपपातिक सूत्र पढ़ा। जयपुर में उन्होंने पंडित अमीचंदजी से आचारांग सूत्र पढ़ा। नागौर में उन्होंने पंडित हंसराजजी से अनुयोग द्वार सूत्र पढ़ा। संत कचोरीमलजी, संत नंदरामजी और संत फकीरचंदजी से सूत्रकृतांग, प्रश्न व्याकरण, प्रज्ञापना, जीवाभिगम आदि शास्त्र पढ़े।

सात वर्षों में उन्होंने पंद्रह हजार सूत्रों और श्लोकों को कंठस्थ कर लिया ।

ई. सन् १८५९ में रतलाम के चातुर्मास में उन्होंने संत मगन स्वामी से स्थानकवासी परंपरा के मान्य सभी आगम सूत्रों को पढ़ डाला । फिर भी उनकी ज्ञान पिपासा शान्त न हुई ।

दीक्षा के पंद्रह दिन के बाद ही मुनि आत्मारामजी महाराज प्रवचन करने लगे थे । इन विगत सात वर्षों में वे प्रवचन भी करते रहे और साथ ही साथ पढ़ते भी रहे । शीघ्र ही उनकी प्रसिद्धि आगम शास्त्र पारंगत विद्वान और महान वक्ता के रूप में हो गई ।

इन वर्षों में उन्होंने चारों वेदों, सभी आगमों, अट्टारह पुराणों, मनुस्मृति, सांख्य दर्शन, वेदान्त दर्शन और बौद्ध दर्शन आदि सभी भारतीय दर्शनों का गहन अध्ययन किया ।

इस बीच कुछ कारणों से उनके मन में अपने स्थानकवासी संप्रदाय के प्रति थोड़ी शंकाओं के बीज पड़ गए ।

पहली शंका उनकी शास्त्रों के अर्थों के विषय में हुई । अभी तक उन्होंने जितने भी आगम शास्त्र पढ़े थे, वे सभी मूल थे । मूल सूत्रों की भाष्य, टीकाएं, चूर्णि आदि पढ़ने से उन्हें रोका गया था । बिना इनका सहयोग लिए पढ़े गए मूल आगमों के अर्थ संदिग्ध होना स्वाभाविक है ।

युवा मुनि आत्माराम को यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि जिन पंडितों से उन्होंने शास्त्र पढ़े थे, वे पंडित और विद्वान संत एक ही शब्द और सूत्रों के भिन्न-भिन्न अर्थ करते थे । ऐसे में उनके वास्तविक अर्थ स्पष्ट नहीं होते थे । वे अनुमानिक रूप से काल्पनिक अर्थ गढ़ लेते थे ।

कुछ आगम सूत्र उन्होंने ऐसे भी देखे, जिनके वाक्यांश हरताल फेरकर मिटा दिए गए थे । जब इसका कारण उन्होंने अपने से बड़े विद्वान संतों से पूछा तो उन्होंने कहा कि इन मिटाए गए पाठों को हमें नहीं पढ़ना चाहिए । इसे पढ़ने से मिथ्यात्व लगता है ।

सत्य के खोजी आत्मारामजी को इन तर्कों से संतोष नहीं हुआ । अपनी इन शंकाओं को उन्होंने जोधपुर के पंडित वैद्यनाथ पटवा के समक्ष प्रकट की ।

पंडितजी ने उन्हें सुझाव दिए—आप संस्कृत और प्राकृत व्याकरण पढ़िए । इसी के साथ-साथ मूल सूत्रों के भाष्य, टीकाएं और चूर्णि भी पढ़िए । इनसे आपके मन की सभी शंकाओं का समाधान हो जाएगा ।

कुछ ही महीनों में उन्होंने दोनों भाषाओं के व्याकरण पढ़ लिए । इन्हें पढ़ने से उन्हें ज्ञान का नया आलोक प्राप्त हुआ ।

सत्य की खोज

सत्य के विषय में पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज का कहना था “मैं सत्य का पुजारी हूँ और सत्य से मुझे कोई डिगा नहीं सकता। मैं वही कहूँगा, जो सत्य है। मैं उसे ही मानूँगा, जो सत्य है। सत्य को प्रकट करने में मुझे कोई हिचक नहीं।”

‘सत्य को साकार करने के लिए साहस और हिम्मत की आवश्यकता रहती है। सत्य का मार्ग निर्भयता का मार्ग है। डरता वह है, जिसे सत्य कहने का साहस नहीं है और जो सत्य को छुपाता है। मैं सत्य के पक्ष में हूँ, इसलिए निर्भय हूँ।’

‘मैं किसी गुरु या दादा गुरु का बंधा हुआ नहीं हूँ। मेरे लिए तो भगवान महावीर स्वामी के शासन के शास्त्रों का मानना ही ठीक है। यदि किसी के पिता या पितामह कुएं में गिरे थे, तो क्या उसके पुत्र को भी उसी में गिरना चाहिए?’

‘सत्य की खोज निरंतर जारी रहनी चाहिए। इस खोज के लिए न उम्र बाधक है, न काल और न देश किसी भी समय, देश और अवस्था में हमें सत्य प्राप्त हो सकता है।’

सत्यान्वेषी मुनि आत्मारामजी को यह समझते देर नहीं लगी कि कोई न कोई ऐसा सत्य है जिसे सम्पूर्ण स्थानकवासी सम्प्रदाय छुपा रहा है। मुझे इस सत्य को अनावृत कर देना चाहिए।

उनके मन में एक विचार बार-बार उठता था, वह यह कि संसार छोड़कर आत्मकल्याण के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए मैं जिस जैन सम्प्रदाय को सच्चा समझकर दीक्षित हुआ हूँ, वह वास्तव में भगवान महावीर स्वामी द्वारा प्रवर्तित नहीं है। इस सम्प्रदाय का इतिहास तो केवल तीन सौ वर्ष पुराना है। इसे चलाने वाले तो लौकाशाह नाम के श्रीमाली गृहस्थ थे। उनकी शिष्य परम्परा में ‘लवजी’ यति हुए। हमारे आद्य पुरुष ‘लवजी’ हैं। लवजी सूरत (गुजरात) के रहने वाले श्रीमाली वणिक थे। उन्होंने लौकागच्छ की परम्परा के बजरंग यति के पास दीक्षा ग्रहण की। कुछ दिनों बाद किसी बात पर झगड़ा हो जान के कारण वे अपने गुरुजी से अलग होकर विचरने लगे और मुख पर मुंहपत्ति बांध ली। जैन परम्परा के साधु वेष से भिन्न प्रकार का साधु वेष देखकर जब किसी गृहस्थ ने उन्हें रहने के लिए स्थान नहीं दिया तो वे एक टूटे हुए मकान में रहने लगे। गुजरात-सौराष्ट्र में टूटे-मकान को ढूँढ कहते हैं। ऐसे मकान में रहने के कारण लोग उन्हें ढूँढिया कहने लगे। उसी लवजी की परंपरा में दीक्षित होने के कारण लोग हमें ढूँढिया कहते हैं और हमारे सम्प्रदाय को ढूँढक पंथ।

केवल इतना सा इतिहास है स्थानकवासी या ढूँढक सम्प्रदाय की उत्पत्ति का। यह

सम्प्रदाय सर्वज्ञ अर्हत् परमात्मा द्वारा प्ररूपित धर्म का प्रतिनिधित्व नहीं करता। यह एक सामान्य छद्मस्थ मनुष्य का बनाया हुआ सम्प्रदाय है। मुझे सर्वज्ञ भाषित प्राचीन धर्म की खोज करनी चाहिए। जिनेश्वर परमात्मा द्वारा प्ररूपित धर्म के पालन से ही मेरा कल्याण हो सकता है।

इस तरह के अनेक संकल्प-विकल्प उनके मन में उठते थे। तरह-तरह के प्रश्नों और संशयों से उनका चित्त घिर जाता था। भीतर ही भीतर एक संग्राम चलता रहता था। कभी-कभी वे चिंतन करते हुए अशान्त, उद्विग्न और अस्वस्थ भी हो उठते थे। कई-कई दिनों के मनोमंथन के बावजूद वे किसी समाधान पर नहीं पहुंच पाते थे। कई वर्षों तक वे असमंजस की स्थिति में रहे। उन्होंने अपनी इस मानसिक स्थिति का किसी को पता नहीं लगने दिया।

वे किसी ऐसे व्यक्ति की खोज में थे जो उनसे अधिक अनुभवी और ज्ञानी हो। जो कदाग्रह और रूढ़-परम्परा से ऊपर उठा हुआ हो। जो उनकी मानसिक उथल-पुथल को अच्छी तरह समझ सकें। जो उन्हें शास्त्र सम्मत सत्य मार्ग का निर्देश करें और जो उन्हें संशयों के दलदल से बाहर निकाल कर समाधान की स्वच्छ भूमि प्रदान करें। वे उसीके समक्ष अपनी मनोव्यथा और मनोमंथन व्यक्त करना चाहते थे।

अन्त में उनकी यह खोज पूर्ण हुई। ई. सन् १८६३ का चातुर्मास उन्होंने आगरा में किया। उनका यह चातुर्मास उनके जीवन का ऐतिहासिक, अभुतपूर्व, उल्लेखनीय और चिरस्मरणीय चातुर्मास था। यह चातुर्मास उनके जीवन में वरदान सिद्ध हुआ। यहां उनके जीवन में एक मोड़ आया। ऐसा मोड़, जिसने उनके सम्पूर्ण जीवन की धारा को बदल दिया। पिछले कई वर्षों से जो संशय उनके मन को विचलित कर रहे थे, यहां उनके वे सभी संशय समाप्त हो गए।

इस आगरा शहर में मुनि रत्नचन्दजी महाराज बिराजमान थे। वे आगम शास्त्रों के पारंगत, वर्षा के अनुभवी और वयःवृद्ध संत थे। स्थाकनवासी सम्प्रदाय में उनका सर्वोच्च स्थान था। पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज को यह विश्वास था कि मेरी शंकाओं का समाधान पंडित श्रीरत्नचन्दजी ही कर सकते हैं।

यद्यपि आत्मारामजी महाराज ने सभी मूल आगम शास्त्र पढ़ लिए थे, फिर भी पंडित श्रीरत्नचंदजी महाराज से उन्होंने शास्त्रों का पुनरावर्तन प्रारंभ किया। उनमें आचारांग, स्थानांग, सूत्रकृतांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, प्रज्ञापना, नन्दी, बृहत्-कल्प, व्यवहार, निशीथ आदि आगम सूत्र प्रमुख हैं।

जिन-जिन सूत्रों, शब्दों और सन्दर्भों के विषय में उन्हें शंका थी, उन सभी का उन्होंने

समाधान पूछा। पंडित रत्नचंदजी महाराज ने पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज के आगे अपना ज्ञान का खजाना खोल दिया। उनके ज्ञान की विशेषता यह थी कि वे आगम सूत्रों के मूलार्थ के साथ-साथ पूर्वाचार्यों द्वारा कृत निरुक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका का भी सहयोग लेते थे, उन्होंने पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज को अपने प्राचीन ज्ञान भंडार में से श्रीशीलांगाचार्य, श्रीअभयदेव सूरि, श्री हरिभद्रसूरि, श्रीमलय गिरी एवं अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी द्वारा आगमों पर रची गई व्याख्याओं के ऐसे-ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ दिखाए जिन्हें आत्मारामजी महाराज ने न कभी देखा था न पढ़ा था।

आगम सूत्रों के पठन-पाठन और पुनरावर्तन के इसी क्रम में एक दिन मूर्तिपूजा का सन्दर्भ आ गया। इस पर पंडित रत्नचन्दजी महाराज ने कहा कि हमारे आगमों में 'अरिहंत चेइयाई' शब्द का बार बार प्रयोग हुआ है। हम लोग इसका अर्थ कहीं पर 'अरिहंत का ज्ञान' और कहीं पर 'अरिहंत के साधु' करते हैं। परंतु यह इसका वास्तविक अर्थ नहीं है। हमारा यह अर्थ आगम विरुद्ध है। इसका वास्तविक अर्थ है अरिहंत का वैत्य या अरिहंत का मंदिर।

इसी तरह आगमों में 'जिन पड़िमा' शब्द आया है। उसमें 'जिन' शब्द का अर्थ हम 'कामदेव' करते हैं। हमारा यह अर्थ भी मूर्खता पूर्ण है। इसका स्पष्ट अर्थ है- जिन अर्थात् वीतराग परमात्मा की प्रतिमा।

पंडित रत्नचन्दजी महाराज ने पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज से कहा कि हमारे दूढक या स्थानकवासी सम्प्रदाय के उद्भव होने का मूल कारण 'मूर्तिपूजा' है। 'लौकाशाह' जो विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ में जन्मे थे। वे कई वर्षों तक जैन परम्परा के शास्त्रीय सिद्धान्त रूप जिनमूर्ति की उपासना करते रहे। एक बार वे यतियों से अपमानित हुए और उसी समय बुतशिकन या मूर्तिभंजक मुसलमानों के परिचय में आए। बुतशिकन लोगों से प्रभावित होकर लौकाशाह ने जैन धर्म में सर्व प्रथम मूर्तिपूजा का उत्थापन निंदा प्रारंभ की। जबकि मूर्तिपूजा आगम सम्मत थी।

पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज को मूर्तिपूजा के विषय में जो भी भ्रम और शंकाए थी, उन सभी का पंडित रत्नचन्दजी ने निरसन किया।

एक दिन साधु के शास्त्रीय वेष, प्रतिक्रमण और मुंहपत्ति मुख पर बांधने के विषय में विचार-विमर्श हुआ। इस पर पंडित रत्नचन्दजी महाराज ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि हमारे सम्प्रदाय का जो साधु-वेष है और मुख पर मुंहपत्ति बांधने की जो परंपरा है वह न तो

प्राचीन है न ही आगम सम्मत । हमारे प्रतिक्रमण का रूप भी सही नहीं है । मुंहपर वस्त्र बांधने का किसी भी शास्त्र में उल्लेख नहीं है । हमारे शास्त्रों में साधु को एक दंड रखने का स्पष्ट निर्देश है, परन्तु हम लोग दंड भी रखते नहीं है ।

पंडित रत्नचन्दजी ने अपनी बातों के समर्थन के लिए आगम पाठों को निकाल कर उन्हें बताया ।

इस पर पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज ने प्रश्न किया कि इस समय ऐसा कोई सम्प्रदाय है, जो भगवान महावीर स्वामी की श्रमण परंपरा का निर्वाह करता हो ?

तब पंडित रत्नचन्दजी ने कहा कि जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय भगवान महावीर स्वामी की वास्तविक श्रमण परंपरा का सम्प्रदाय है । उनका साधु-वेष आगम शास्त्र के अनुरूप है । वे अपने हाथ में दंड भी धारण करते हैं और मंदिर तथा तीर्थों में जाकर अरिहंत की मूर्ति के समक्ष भावपूजा-स्तुति करते हैं । उनका प्रतिक्रमण भी शास्त्रीय है ।

पंडित रत्नचन्दजी के सत्य और खोजपूर्ण विचार सुनकर पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज ने उन्हीं के विषय में एक प्रश्न पूछा कि जब आप इन सभी बातों को जानते हैं कि हमारा सम्प्रदाय, हमारा वेष, हमारी दिनचर्या आदि सभी कुछ शास्त्र विरुद्ध हैं तो फिर आप स्वयं इस परंपरा में अभी तक क्यों बैठे हुए हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए पंडित रत्नचंदजी ने कहा कि जैन धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानते हुए भी मैं इसे प्रकट नहीं कर रहा हूँ । इसका कारण यही है कि मैं अब वृद्ध हो चुका हूँ । किसी नये क्षेत्र में जाकर कार्य करने की क्षमता मुझमें नहीं है । मैं तुम्हारे जैसे प्रतापी पुरुषसिंह की प्रतीक्षा कर रहा हूँ जो सत्य धर्म का शंखनाद करें । मूर्तिपूजा में मेरी दृढ़ आस्था है । मैं प्रतिदिन परमात्मा की प्रतिमा के दर्शन करता हूँ ।

इतना कह कर उन्होंने चंदन काष्ठ की एक डिब्बिया निकाली । उसे खोला । उसमें भगवान महावीर स्वामी की छोटी सी मूर्ति थी । पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज ने भी उस मूर्ति के दर्शन किए ।

आगरा का चातुर्मास पूर्ण हुआ । पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज ने पंडित रत्नचंदजी के चरणों में मस्तक रखा और कहा- चार मास तक आपने मुझे जो ज्ञान निधि प्रदान की है, जिस सत्य-तथ्य का दिग्दर्शन कराया है, साहस, प्रगति और क्रांति करने की जो प्रेरणा दी है इन सभी के लिए मैं आपका अत्यन्त ऋणी और कृतज्ञ हूँ । आपके उपकार का बदला मैं कभी नहीं चुका

सकूंगा ।

आगरा से विदा होते समय पंडित रत्नचंदजी ने आत्मारामजी को तीन प्रतिज्ञाएं करवाई ।

(१) अपवित्र हाथों से शास्त्र को कभी मत छूना ।

(२) मूर्तिपूजा का यदि समर्थन न कर सको तो कम से कम उसकी निंदा मत करना ।

(३) हमेशा अपने पास दंडा रखना ।

पंडित रत्नचंदजी ने उन्हें जल्दी ही भगवान महावीर स्वामी के वास्तविक धर्म का प्रवर्तन कर संसार का अधिक से अधिक कल्याण करने की प्रेरणा और आशीर्वाद दिया ।

पूज्य आत्मारामजी महाराज ने इस प्रेरणा और आशीर्वाद को स्वीकार किया और क्रांति का शंखनाद करने का दृढ़ संकल्प करके आगरा से विहार किया ।

सत्य के लिए संघर्ष

ई. सन् १८६३ के आगरा चातुर्मास के बाद पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज के विचारों का पूर्णरूपेण परिवर्तन हो गया । वे इस निश्चय पर पहुंच गए कि जिस स्थानकवासी परंपरा में मैं दीक्षित हुआ हूँ, वह भगवान महावीर स्वामी की वास्तविक श्रमण परंपरा नहीं है । उनकी श्रद्धा मूर्तिपूजा में हो गई । इसलिए स्थानकवासी सम्प्रदाय का सबसे बड़ा आधार ही नष्ट हो गया । उन्हें न अपने वर्तमान वेश पर श्रद्धा रही, न अपनी क्रियाओं पर । आगरा के चातुर्मास के पहले जो आत्मारामजी थे वे अब नहीं रहे ।

वे आगरा से दिल्ली आए । दिल्ली में उनके गुरु जीवनरामजी महाराज मिले । अपने गुरु के प्रति उनका अनन्य अनुराग और समर्पण भाव था क्योंकि सर्व प्रथम उनके प्रबोधक वे ही थे । परंतु अपने गुरु से भी अधिक अनन्य और अद्वितीय अनुराग एवं श्रद्धा थी उन्हें आगम शास्त्रों के वास्तविक ज्ञान पर । वे आगम सत्य के स्वीकार के लिए किसी से समझौता नहीं करना चाहते थे । चाहे इसके लिए कितना ही बड़ा मूल्य क्यों न चुकाना पड़े ।

उन्होंने अपने गुरु जीवनरामजी को विनम्रता पूर्वक स्वयं के विचारों से अवगत करा दिया । पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज यह अच्छी तरह जानते थे कि मेरे विचार सुनकर गुरुजी को दुःख होगा । फिर भी वे सत्य को छुपाना नहीं चाहते थे ।

अपने ही शिष्य से अपने ही सम्प्रदाय के विरुद्ध बातें सुनकर जीवनरामजी को दुःख हुआ । उन्हें आत्मारामजी जैसे महान प्रतिभाशाली, प्रकांड विद्वान और प्रभावशाली प्रवचनकार

शिष्य पर गर्व था। उन्हें इस बात की अत्यन्त प्रसन्नता थी कि मेरा शिष्य मेरे नाम का गौरव बढ़ाते हुए स्थानक सम्प्रदाय का प्रचार कर रहा है। भविष्य में उन्हें अपने शिष्य आत्मारामजी से कई आशाएं और संभावनाएं थी।

आत्मारामजी की बातें सुनकर उनकी सभी आशाओं और आकांक्षाओं पर एक बारगी ही पानी फिर गया। शास्त्रीय चर्चा करने में वे असमर्थ थे।

उन्होंने आत्मारामजी से कहा कि चाहे हमारा दूढ़क सम्प्रदाय प्राचीन न हो, आगम सम्मत भी न हो, फिर भी वर्तमान में तो इसी का प्रचलन है। सभी लोग इसी का पालन वर्षों से करते आए हैं। तुम इसके विरुद्ध कदम नहीं उठा सकते। यदि इसके विरुद्ध बातें करोगे तो सम्प्रदाय से निष्कासित हो जाओगे। चाहे हमारा सम्प्रदाय झूठा ही सही। तुम्हारा भला इसी में है कि तुम चुपचाप इसका पालन करते रहो। सत्य की बात करना सरल है, पर सत्य का पालन उतना ही कठिन है।

सत्य के उपासक पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज के लिए अपने गुरु की बात मानना असंभव था। वे इसके लिए कभी भी तैयार नहीं हो सकते थे। उनका मानना था कि संसार छोड़कर आत्मकल्याण के लिए हमने दीक्षा ली है। किसी असत्य और अवास्तविक रुढ़िग्रस्त सम्प्रदाय के निर्वाह के लिए नहीं। यदि मनुष्य जीवन दुर्लभ है तो इस सम्प्रदाय के पालन का कोई औचित्य नहीं है। लक्ष्य की प्राप्ति तो तभी हो सकती है, जब हम सही मार्ग पर चलेंगे।

पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज जैसे प्रचंड व्यक्तित्व को दी जाने वाली सलाह तो ऐसी थी कि किसी सिंह को यह कहना कि तुम गुफा में ही बैठे रहो। बाहर बहुत संकट छाए हैं। यदि गुफा से बाहर निकलोगे तो संकटों से घिर जाओगे। क्या कभी सिंह ऐसा सुझाव मान सकता है?

संकटों और तूफानों का भय दिखाकर आत्मारामजी को रोकना असंभव था। बड़े से बड़े दुःख, संकट, विपत्ति और विघ्न का उनके लिए को महत्व नहीं था। किसी से डर कर अपने विचारों को मन ही में रहने देने की तो उनसे कल्पना भी नहीं की जा सकती।

वे जितने शास्त्रज्ञ थे उतने ही नीतिज्ञ और व्यवहारज्ञ भी थे। देश, काल और भान के वे ज्ञाता थे। वे सहसा कोई ऐसा अविचारणीय कदम नहीं उठाना चाहते थे, जो उन्हें अकारण ही संकट में डाल दें।

बहुत सोच-विचार और चिंतन-मनन के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जिस सत्य को

मैने समझा है और जो सत्य आगम प्रमाणित है उस सत्य से सभी को परिचित कराना मेरा प्रथम और परम कर्तव्य है। इसके लिए मुझे सबसे पहले वैचारिक परिवर्तन लाना होगा। क्रांति का एक वातावरण मुझे बनाना होगा।

अपने निर्णय के अनुरूप आत्मारामजी ने यह कार्य प्रारंभ कर दिया। दिल्ली में उनके पास दो मुनि पढ़ने के लिए आए। उनके नाम विश्वचंद और चम्पालालजी थे। वे अमरसिंहजी महाराज के शिष्य थे। सम्पूर्ण पंजाबी जैनों पर उनका खर्चस्व और प्रभाव था। सभी श्रावक उन्हीं के नेतृत्व का अनुसरण करते थे। उनके कई शिष्य थे। वे चाहते थे कि मेरे शिष्य आत्मारामजी से पढ़ें और उन्हीं की तरह विद्वान वक्ता बन जाएं। इसी भावना से उन्होंने अपने शिष्य विश्वचंद और चम्पालालजी को दिल्ली भेजा। वे आत्मारामजी से पहले भी एक बार मिल चुके थे।

दोनों मुनियों ने पूज्य श्रीआत्मारामजी से आगम-शास्त्र पढ़ाने की प्रार्थना की।

आत्मारामजी ने उनके समक्ष एक शर्त रखी। कहा- आगरा चातुर्मास में पंडित रत्नचंदजी महाराज से पढ़ने के बाद मेरे विचारों में परिवर्तन आया है। अपने अस्वच्छ हाथों से शास्त्र का स्पर्श न करने की मैंने प्रतिज्ञा की है। तुम्हें भी इस नियम का पालन करना होगा। इस नियम का तुम पालन कर सकते हो तो ही मैं तुम्हें पढ़ा सकता हूँ। अन्यथा तुम जा सकते हो।

विश्वचंदजी पहले भी आत्मारामजी से एक बार पढ़ चुके थे, पहले कभी उन्होंने इस तरह की बात नहीं की थी। उनमें अचानक आए इस विचार परिवर्तन से वे अचरज में पड़ गए।

वे आत्मारामजी से पढ़ना चाहते थे और उन्हें यह विश्वास था कि आत्मारामजी जैसे महाविद्वान जो कुछ कहेंगे और करेंगे वह उचित ही होगा। इसलिए उन्होंने विनम्रता पूर्वक यह शर्त स्वीकार करली।

दोनों मुनियों का अध्ययन क्रम प्रारंभ हुआ। आत्मारामजी महाराज की पढ़ाने की शैली इतनी आकर्षक थी कि गूढ़ से गूढ़ विषय को भी वे बड़ी सरलता और स्पष्टता से समझाते थे। कोई ऐसा प्रश्न या कोई ऐसा तर्क नहीं था जिसका उत्तर उनके पास न हो। यह हो ही नहीं सकता कि पूज्य आत्मारामजी महाराज जैसे पढ़ाने वाले हों और पढ़नेवाला उनके प्रभाव से मुक्त रहें।

भगवान महावीर की श्रमण परंपरा का प्राचीन स्वरूप, मूर्तिपूजा, मुंहपत्ति का मुख पर बांधना, साधु का शास्त्रीय वेश आदि का आगमों में जहां भी उल्लेख आया, वहां उन्होंने विस्तृत रूप से सही तथ्यात्मक और वास्तविक वस्तुस्थिति का अध्ययन कराया।

परिणामतः मुनि विश्वचंदजी और चम्पालालजी दोनों ही पूर्ण रूप से आत्मारामजी के

विचारों के बन गए। उनके विचार परिवर्तित हो गए। अब वे आत्मारामजी के साथ ही विचरण करने लगे। और कुशल राजनीतिज्ञ की तरह तीनों ही अपने विचारों के प्रचार-कार्य में जुट गए।

ई. सन् १८६४ का चातुर्मास उन्होंने मालेरकोटला में किया। इस चातुर्मास में उन्होंने दो श्रावकों कंवरसेन और मंगतराम को अपने विचारों का बनाया। वे जिस भी शहर में जाते थे उस शहर में आगम शास्त्रों का उल्लेख करते हुए अपने क्रांतिकारी विचार अवश्य व्यक्त करते थे। जो श्रावक समझदार और पढ़े-लिखे होते थे वे उनके सत्य विचार सुनकर उनके अनुयायी बन जाते थे।

समग्र पंजाब में पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज के विचार परिवर्तन का प्रचार हो गया। मुनि अमरसिंहजी महाराज जो पंजाब के स्थानकवासी सम्प्रदाय के मान्य पुरुष थे। उनके लिए यह बात असह्य थी कि स्थानकवासी सम्प्रदाय, किसी अन्य व्यक्ति से प्रभावित होकर सम्प्रदाय के विरुद्ध कोई आवाज उठाएं या कोई नया सम्प्रदाय खड़ा करें।

अमरसिंहजी के लिए स्थानक पंथ की सुरक्षा और हित ही सर्वोपरि था। वे इसी को अपने जीवन का लक्ष्य मानते थे। वही उनका एकमात्र सिद्धान्त था। सत्य से या आगम से उन्हें कोई सम्बन्ध नहीं था इसके विपरीत आत्मारामजी के जीवन का लक्ष्य भगवान महावीर स्वामी के सत्य धर्म का पालन और निरूपण ही था। वे सत्य के पक्ष में थे और सत्य को छुपाना नहीं चाहते थे।

दोनों के विचार भिन्न थे इसलिए कार्य भी भिन्न थे। स्वभावतः दोनों में संघर्ष प्रारंभ हुआ। आत्मारामजी ने उन्हें शास्त्रार्थ के लिए ललकारा पर अमरसिंहजी अपनी कमजोरी समझते थे। आत्मारामजी से शास्त्रार्थ करने का अर्थ था—पराजय। उस समय पंजाब में कोई भी ऐसा विद्वान साधु या गृहस्थ श्रावक नहीं था, जो आत्मारामजी के साथ शास्त्रीय तर्क में उतर सके। इसलिए कोई भी व्यक्ति उनके सामने आने कि हिम्मत नहीं कर सकता था।

दिन प्रतिदिन पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज के अनुयायी श्रावकों की संख्या बढ़ने लगी। उनकी बढ़ती संख्या देखकर अमरसिंहजी और कुछ प्रमुख श्रावक, जो अपने सम्प्रदाय की सुरक्षा को लेकर चिंतित थे, उद्विग्न हो गए। चिंता और घबड़ाहट से उनकी नींद हराम हो गई।

वे जितना शीघ्र हो सके, उतनी शीघ्रता से पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज का यह कार्य रोकना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने साम, दाम, दंड और भेद की नीति से काम लिया। सर्व प्रथम उन्होंने अपने बारह श्रावकों का एक प्रतिनिधि मंडल उनके पास भेजा।

इस प्रतिनिधि मंडल ने उन्हें विनम्रता पूर्वक प्रार्थना की कि आप हमारे स्थानकवासी आचार परंपरा का ही पालन करें। सम्प्रदाय विरुद्ध ऐसा कोई कार्य न करें जिससे हमारे सम्प्रदाय में विभाजन हो।

पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज ने उनकी सभी बातें, सभी तर्क और समस्याएं सुनी और फिर अपनी बातें, अपने तर्क और प्रमाण दिए। उन्होंने अपनी बात इतने प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत की कि आधे श्रावक उसी समय उनके विचारों के बन गए। जहां सत्यरूपी सूर्य का अरुणोदय हो गया हो वहां असत्य रूप अंधकार कैसे और कहां तक टिक सकता है?

इस घटना से अमरसिंहजी बौखला गए। थोड़ी सी मानसिक स्वस्थता थी, वह भी चली गई।

दूसरे कदम के रूप में उन्होंने एक मेजरनामा- आदेश पत्र तैयार किया। जिसमें लिखा था कि 'जो कोई जिन-प्रतिमा में श्रद्धा रखता है, प्रतिमा-पूजन का आदेश देता है, मुंह पर मुंहपत्ति बांधने का विरोध करता है और बाईस अभक्ष्य सेवन न करने का व्रत धारण करवाता है, उस साधु को हमारे स्थानकवासी सम्प्रदाय से बहिष्कृत किया जाता है।

इस आदेश पत्र को सभी वरिष्ठ साधुओं के हस्ताक्षर लेने के लिए भेज दिया गया। उसमें सर्वप्रथम हस्ताक्षर अमरसिंहजी के थे। आत्मारामजी के गुरु जीवनरामजी को भी उस पर हस्ताक्षर करवाए गए।

इस पत्र को लेकर दो मुनि आत्मारामजी की सेवा में उपस्थित हुए और डरते हुए उसे आगे बढ़ाया।

आदेश-पत्र पढ़कर वे समझ गए कि यह पत्र केवल मेरे लिए ही जारी किया गया है। उन्होंने पत्र लेकर आने वाले आगन्तुक मुनि से कहा- यदि मैं इस पर हस्ताक्षर न करूं तो?

'तो सम्प्रदाय से बहिष्कृत कर दिए जाओगे।' आने वाले मुनि ने स्पष्टता की।

यह सुनकर आत्मारामजी ने सिंह गर्जना की- 'तो जाओ, अपने गुरु अमरसिंहजी से कह दो मैं हस्ताक्षर नहीं करता। यदि मुझे बहिष्कृत करना चाहते हैं तो बड़ी प्रसन्नता कर दें। मैं डरता नहीं हूँ।'

अमरसिंहजी का यह उपाय भी सफल नहीं हुआ। फिर तीसरे कदम के रूप में उन्होंने पंजाब और राजस्थान के सभी संघों को पत्र लिख दिए कि आत्मारामजी को स्थानकवासी सम्प्रदाय से बहिष्कृत कर दिया गया है। यदि वे आपके नगर में आए तो उन्हें न पानी दे, न

आहार, न स्थान । उनसे कोई किसी भी प्रकार का सम्पर्क न रखें ।

इस पत्र का परिणाम भी कुछ नहीं आया । जितना ही उनका विरोध होता था, उतना ही वे लोकप्रिय होते जाते थे । इस पत्र के बाद भी पूर्ववत् लोग उनके पास आते रहे और उनके अनुयायी वर्ग में सम्मिलित होते रहे ।

दस वर्ष तक वे निरंतर आगम सम्मत सत्य सिद्धान्त का प्रचार करते रहे । इन दस वर्षों में उन्हें सत्य की प्रतिष्ठा के लिए घोर संघर्ष करना पड़ा । इन वर्षों में उन्होंने लुधियाना, होशियारपुर, नकोदर, अमृतसर, पट्टी, कसूर, वैरोवाल, नारोवाल, जंडियाला, संखतरा, जम्मू, गुजरानवाला, जीरा, मालेरकोटला, अंबाला, लाहौर, रोपड़, जेजों, रामनगर, सरहिन्द आदि शहरों में घूम-घूम कर सात हजार श्रावकों को और पंद्रह साधुओं को अपने अनुयायी वर्ग में सम्मिलित कर लिया ।

इतनी तैयारी करने के बाद उन्होंने सम्प्रदाय परिवर्तन करने का निर्णय किया ।

ई. सन् १८७४ का स्थानकवासी वेश में अन्तिम चातुर्मास उन्होंने होशियारपुर में किया । वहां से वे अहमदाबाद की ओर चले ।

सम्प्रदाय परिवर्तन

होशियारपुर चातुर्मास के अन्त में पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज आदि सोलह साधुओं ने तीन निर्णय लिए ।

(१) जैन परम्परा के प्रभाविक प्राचीन तीर्थों की यात्रा करना ।

(२) गुजरात में जाकर विशुद्ध जैन परम्परा के किसी सुयोग्य मुनि को गुरु बनाकर शास्त्र सम्मत साधु वेश धारण करना ।

(३) पुनः पंजाब में आकर विशुद्ध और प्राचीन जैन परम्परा की स्थापना करना ।

इस निर्णय के अनुरूप उन्होंने अहमदाबाद की ओर विहार किया । सुनाम से हांसी आते हुए उन्होंने अपने मुंह पर बंधी मुंहपत्तियों का त्याग किया । वे पाली पहुंचे ।

उस समय तक उनके कार्यो और विचारों की प्रसिद्धि भारत में सर्वत्र फैल गई थी । गुजरात में भी उनकी कीर्ति घर-घर पहुंच गई थी । अहमदाबाद में इस शुभ समाचार को पहुंचते देर नहीं लगी कि आत्माराम जी महाराज अहमदाबाद में पधार रहे हैं । जिस महापुरुष के विराट् व्यक्तित्व के विषय में लोगों ने बहुत कुछ सुन रखा हो, उनके प्रत्यक्ष दर्शन की सहज ही उत्सुकता बनी रहती है । अहमदाबाद के जैनों ने पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज की अद्वितीय प्रतिभा,

प्रकांड पांडित्य, ओजस्वी वक्तृता और चारित्रिक सम्पन्नता के विषय में अनेक कहानियां सुन रखी थी। इसलिए समग्र नगर उनकी अत्यन्त उत्सुकता और जिज्ञासा से प्रतीक्षा करने लगा।

अहमदाबाद के नगर सेठ प्रेमाभाई हेमाभाई और दलपतभाई, भगुभाई ने अपने दो श्रावकों को उनकी सेवा में पाली से अहमदाबाद तक साथ चलने के लिए भेजा।

वे आत्माराम जी से मिले और नगर सेठजी की भावना से उन्हें अवगत कराया।

इस पर उन्होंने कहा कि सेठजी की इस सेवा भावना के लिए हम उनके कृतज्ञ हैं; परंतु आप लोगों को हमारी सेवा में रहने की आवश्यकता नहीं। हम स्वयं यथा समय अहमदाबाद पहुंच जाएंगे।

वे दोनों श्रावक पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज का आशीर्वाद लेकर पुनः अहमदाबाद लौट गए।

गोड़वाड की पंचतीर्थी राणकपुर, वरकाणा, मुछाला महावीर, नाडोल, नारलाई और आबू देलवाड़ा की यात्रा करते हुए अहमदाबाद के पास आए। कई दिनों से उनके भव्य स्वागत की तैयारी में अहमदाबाद व्यस्त था। लोगों की आंखों में उत्सुकता, प्रसन्नता और जिज्ञासा आदि कई भाव समाए हुए थे। उनके असीम उल्लास और उमंग का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि नगर प्रवेश के दिन चार हजार लोग पांच कि.मी. तक उनका स्वागत करने के लिए सम्मुख गए थे।

नगर में मुनि बुद्धि विजयजी महाराज विराजमान थे। वे भी पहले स्थानकवासी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। तब उनका नाम बुटेरायजी महाराज था। वे लुधियाना के पास दुलुवा गांव के सिक्ख थे। स्थानकवासी सम्प्रदाय में रहते हुए उन्होंने आगमों का गहन अध्ययन किया। तब उन्हें विशुद्ध जैन सनातन परंपरा का बोध हुआ। और उन्होंने अहमदाबाद में आकर मुनि श्रीमणिविजयजी से संविज्ञ परंपरा की दीक्षा अंगीकार करली थी।

पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज मुनि श्री बुद्धि विजयजी की सेवा में उपस्थित हुए। और उन्हीं का शिष्यत्व ग्रहण करने की अपनी इच्छा व्यक्त की।

इससे पहले कि वे बुद्धि विजयजी से संविज्ञ परंपरा की विधिवत् दीक्षा ग्रहण करें, एक बार शत्रुंजय महातीर्थ की यात्रा कर लेना चाहते थे। वे शत्रुंजय तीर्थ की महानता, पवित्रता, प्राचीनता और यात्रा के महत्व के विषय में शास्त्रों में पढ़ चुके थे। इसलिए वे पालीताणा आए। शत्रुंजय पर्वत का आरोहण किया और भगवान ऋषभदेव के दरबार में पहुंचे। भगवान के दर्शन

कर उनका रोम रोम पुलकित हो उठा । उन्होने अनुभव किया कि परमात्मा के दर्शन कर अब हम संसार से पार हो गए । उनका आनंद हृदय में समाया नहीं । वे भावोद्रेक काव्य बनकर उनके मुख कमल से फूट पड़े । भगवान आदिनाथ के सर्वप्रथम दर्शन के समय उनके हृदयस्थ भाव जो स्तवन बनकर फूट पड़े थे । उस स्तवन से उनके तत्कालीन मनोभावों को पढ़ा जा सकता है । वह स्तवन निम्न है—

अब तो पार भये हम साधो, श्री सिद्धाचल दर्श करीरे ।
 आदीश्वर जिन मेहर करी अब, पाप पटल सब दूर भयोरे ॥
 तनमन पावन भविजन केरो, निरखी जिनंद चन्द सुख थयोरे ॥
 पुंडरीक प्रमुखा मुनि बहु सिद्धा, सिद्ध क्षेत्र हम जांच लह्योरे ।
 पशु पंखी जहां छिनक में तरिया, तो हम दृढ़ विश्वास गह्योरे ॥२ ॥
 जिन गणधर अवधि मुनि नाही, किस आगे हुं पुकार करूरे ।
 जिम तिम करी विमलाचल भेट्यो, भवसागर से नाही डरूरे ॥३ ॥
 दूर देशान्तर में हम उपने, कुगुरु कुपंथ को जाल पर्योरे ।
 श्री जिन आगम हम मन मान्यो, तब ही कुपंथ को जाल जय्योरे ॥४ ॥
 तो तुम शरण विचारी आयो, दीन अनाथ को शरण दियो रे ।
 जयो विमलाचल पूरण स्वामी, जन्म जन्म को पाप गयो रे ॥५ ॥
 दूर भवि अभव्य नजरें न देखे, सूरी धनेश्वर एम कह्योरे ।
 विमलाचल फसें जो प्राणी, मोक्ष महल तिन वेग लह्योरे ॥६ ॥
 जयो जगदीश्वर तू परमेश्वर, पूर्व नव्वाणु वार थयोरे ।
 समवसरण रायण तले तेरो, निरखी अघ मम दूर गयोरे ॥७ ॥
 श्री विमलाचल मुझ मन बसिओ, मानुं संसार को अन्त थयोरे ।
 यात्राकरी मन तोष भयो अब, जन्म मरण दुःख दूर गयोरे ॥८ ॥
 निर्मल मुनिजन जो तैं तार्या, वेतो प्रसिद्ध सिद्धान्ते कह्योरे ।
 मुझ सरिखा, निंदक जो तारो, तारक विरुद्ध ए साच लह्योरे ॥९ ॥
 ज्ञानहीन गुण रहित विरोधी, लम्पट धीठ कसायी खरोरे ।
 तुम बिन तारक कोई न दीसे, जयो जगदीश्वर सिद्ध गिरि रे ॥१० ॥
 नरक तिर्यचगति दूर निवारी, भवसागर की पीड़ हरी रे ।
 आत्माराम अनघ पदपामी, मोक्ष वधू तिण लेग वरीरे ॥११ ॥

सम्बत् बतीसौ ओगणीसे, मास वैशाख आनंद भयोरे ।

पालीताणा शुभ नगर निवासी, ऋषभ जिनंद चन्द दर्श थयोरे ॥१२॥

इस स्तवन का चौथा पद है -

दूर देशान्तर में हम उपने, कुगुरु कुपंथ को जाल पर्यो रे ।

श्री जिन आगम हम मन मान्यो, तब ही कुपंथ को जाल जयो रे ॥

इस पद के द्वारा उन्होंने परमात्मा से अपनी सम्पूर्ण आत्म-कथा कह दी है । वे परमात्मा से कहते हैं कि मैं यहां शत्रुंजय तीर्थ से बहुत दूर देशान्तर पंजाब में उत्पन्न हुआ । फिर स्थानकवासी पंथ में दीक्षित हुआ । पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज के लिए स्थानकवासी गुरु कुगुरु थे और पंथ कुपंथ था । वे इसे एक जाल समझते थे । उनका कहना था कि पंजाब में जन्म लेकर मैं उस कुगुरु और कुपंथ के जाल में फंस गया था । फिर श्रीजिन आगमों को मैंने पढ़ा । उनके सत्य को माना तब जाकर वह कुपंथ का जाल नष्ट हुआ ।

आत्माराम जी महाराज को इस बात का दुःख था कि मैं पंजाब में उत्पन्न हुआ और वहां उत्पन्न होकर आगम विरुद्ध पंथ स्थाकवासी परंपरा में दीक्षित हुआ ।

शत्रुंजय की यात्रा करके वे पुनः अहमदाबाद आए । मुनि बुद्धि विजयजी से ई. सन् १८७४ में संविज्ञ परंपरा की दीक्षा अंगीकार की । दीक्षा के समय उनके नाम और गुरु परिवर्तित किए गए । वे निम्न हैं-

दीक्षा पूर्व नाम	दीक्षा के पश्चात नाम	गुरु का नाम
१. आत्माराम जी	श्री आनंद विजयजी	श्री बुद्धि विजयजी
२. विशनचंदजी	श्री लक्ष्मी विजयजी	श्री आनंद विजयजी
३. चंपालालजी	श्री कुमुद विजयजी	श्री लक्ष्मी विजयजी
४. हुकमचंदजी	श्री रंग विजयजी	श्री आनंद विजयजी
५. सलामतरायजी	श्री चारित्र विजयजी	श्री आनंद विजयजी
६. हाकिमरायजी	श्री रत्न विजयजी	श्री आनंद विजयजी
७. खूबचंदजी	श्री संतोष विजयजी	श्री आनंद विजयजी
८. कन्हैयालालजी	श्री कुशल विजयजी	श्री आनंद विजयजी
९. तुलसीरामजी	श्री प्रमोद विजयजी	श्री आनंद विजयजी
१०. कल्याणचंदजी	श्री कल्याण विजयजी	श्री चारित्र विजयजी
११. निहालचंदजी	श्री हर्ष विजयजी	श्री लक्ष्मी विजयजी

१२. निधानमलजी	श्री हीर विजयजी	श्री कुमुद विजयजी
१३. रामलालजी	श्री कमल विजयजी	श्री लक्ष्मी विजयजी
१४. धर्मचंदजी	श्री अमृत विजयजी	श्री रत्न विजयजी
१५. प्रभुदयालजी	श्री नन्द विजयजी	श्री रंग विजयजी
१६. रामजी लालजी	श्री राम विजयजी	श्री मोहन विजयजी

पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज ने सोलह साधुओं सहित सम्प्रदाय परिवर्तन कर लिया । भगवान महावीर स्वामी की वास्तविक शुद्ध सनातन जैन परंपरा में दीक्षित होने की उनकी बारल वर्षों से उत्कृष्ट अभिलाषा थी । सन् १८६३ के आगरा चातुर्मास में उनके मन में यह अभिलाषा जागृत हुई थी । और सन् १८७४ में होशियारपुर चातुर्मास के बाद अहमदाबाद आने पर उनकी यह चिर अभिलाषा पूर्ण हुई । जैन श्रमण का शास्त्र मान्य वेश धारण कर उन सोलह साधुओं के आनंद की सीमा न थी । जिस वस्तु को पाने के लिए कोई रात-दिन सपना देखता हो और वह बारह वर्ष जितने सुदीर्घ समय अंतराल के बाद प्राप्त हो तो उसे कितनी अपार प्रसन्नता होगी । उसी प्रसन्नता का अनुभव पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज आदि सोलह साधुओं ने किया ।

गुजरात में जाकर संविज्ञ दीक्षा ग्रहण करने के बाद उनके कार्य और कार्य क्षेत्र का विस्तार हो गया । पहले पंजाब में रहते हुए उनका प्रमुख लक्ष्य पंजाब में केवल सनातन जैन शुद्ध धर्म का प्रचार करना था । अब उनके सामने नयी चुनौतियाँ, नये कार्य, नये विचार और नये क्षेत्र थे ।

नव चेतना का कार्य

सम्प्रदाय परिवर्तन के बाद पूज्य श्री आनंद विजयजी (आत्माराम जी) महाराज के जीवन में एक स्थिरता आती है । चिर अभिलाषित लक्ष्य की प्राप्ति के बाद वे एक विराम पर पहुंचते हैं । और इसी के साथ उनके जीवन तथा कार्यों के नये अध्याय भी प्रारंभ हो जाते हैं ।

ई. सन् १८७५ तक सम्पूर्ण भारत में अंग्रेजी शासन छा गया था । नये विचार, नये उद्योग, नयी शिक्षाएं, नयी सभ्यता, नये सन्दर्भ और नयी धाराएं जुड़ने लगी थी । इतिहास करवट ले रहा था । एक नये विश्व की संरचना हो रही थी । युगों से जड़ बनी मृत प्रायः परंपरित अंध मान्यताएं एवं विश्वास की बेडियाँ टूट रही थीं । भारत जिसकी भाग्य लिपि में दासत्व के सिवा कुछ नहीं लिखा था, विश्व की अभिनव संचेतना के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सका और धीरे-धीरे अंगड़ाई लेने लगा था । भारतीय लोगों में अपने राष्ट्र, नगर, समाज, धर्म, संस्कृति, कुल और जाति के प्रति स्वाभिमान की भावना जागृत होनी प्रारंभ हो गई थी ।

तत्कालीन जैन धर्म और समाज की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई थी । चारों ओर यतियों के शिथिलाचार का साम्राज्य फैला हुआ था । लोग धर्म का वास्तविक अर्थ न समझ कर यतियों के मंत्र-तंत्र के चंगुल में फंसे हुए थे । प्राचीन मंदिर और ज्ञान भंडार विनाश के कगार पर

खड़े थे। ईसाइयों और आर्य समाजियों के प्रचार प्रभाव में आकर जैन अपना जैनत्व छोड़ते जा रहे थे। जैनों की संख्या निरंतर घट रही थी। न उनके पास कोई दिशा थी, न आयोजन। सम्पूर्ण समाज अस्त-व्यस्त, छिन्न-भिन्न संगठन विहीन होकर बिखराव की स्थिति में था। लोगों में ज्ञान और विद्या के प्रति न रूचि थी, न रुझान। चारों ओर अज्ञानता और अशिक्षा का घना अंधकार छाया हुआ था।

उस समय कोई भी ऐसा महान व्यक्ति नहीं था, जो जैन धर्म और समाज को नेतृत्व प्रदान करें। जो नये विचार और नये आयाम देकर उसे संजीवन करें।

ऐसे में जैन धर्म और समाज को ऐसे विराट् व्यक्तित्व युक्त युग पुरुष की अत्यन्त आवश्यकता थी जो उन्हें युगीन नेतृत्व प्रदान करें जो उनका मार्गदर्शन कर नयी दिशा दें, जो उनमें रस का संचार करें, नये आयाम दें और नव जागृति का शंखनाद करें। ऐसी स्थिति में पूज्य श्री आत्मारामजी जैसे सक्षम, ओजस्वी और प्रचंड व्यक्तित्व का इस क्षेत्र में आना जैन धर्म और समाज के लिए कितने महान सौभाग्य का विषय था।

वे समयज्ञ थे। युग की धारा को पहचानते थे। जैन धर्म और समाज की वर्तमान स्थिति उनकी अनुभवी, तीक्ष्ण और सूक्ष्म दृष्टि से छुपी नहीं रह सकी।

जैन धर्म जो त्रिकालदर्शी, सर्वज्ञ, अरिहंत वीतराग द्वारा प्ररूपित हुआ है, जो अनादिकाल से चला आ रहा है, जिसके पालन करने से मनुष्य का समस्त संताप, दुःख और वेदना समाप्त होती है, जो धर्म विशुद्ध है, सनातन है और शाश्वत है, जिसके सिद्धान्त कालजयी है, जिसके तत्त्वज्ञान की बराबरी संसार का कोई भी दर्शन शास्त्र नहीं कर सकता और जिसका इतिहास भव्य गौरव से परिपूर्ण है।

उस धर्म की वर्तमान स्थिति इतनी सोचनीय और दयनीय देखकर पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज चिंतित हो गए और इसके पुनःनिर्माण एवं पुनरोद्धार का उन्होंने दृढ़ संकल्प किया। उनका यह पुनरोद्धार का संकल्प अनेक चुनौतियों से भरा हुआ था; पर पीछे हठ करने का स्वभाव उनके व्यक्तित्व में नहीं था।

सर्व प्रथम उन्होंने जैन धर्म और समाज को यतियों के प्रभाव से मुक्त किया। उन्होंने अपने ओजस्वी वक्तृत्वकला के द्वारा लोगों को बताया कि भगवान महावीर स्वामी का सच्चा श्रमण-साधु कैसा होता है? वह कितना त्यागी, तपस्वी, संयमी और संसार से विरक्त होता है। यदि तुम आत्मा का कल्याण करना चाहते हो तो सच्चे, त्यागी-वैरागी और चारित्र संपन्न साधुओं के पास जाओ, उनके प्रवचन सुनो, उनकी सेवा और भक्ति करो। इसी से तुम्हारा कल्याण होगा। इन चारित्र भ्रष्ट यतियों के यंत्र-मंत्र-तंत्र, डोरो-धागों से तुम्हारा कोई कल्याण होने वाला नहीं है।

अहमदाबाद में एक शान्तिसागरजी नाम के साधु थे। वे जिनागम विरुद्ध उत्सूत्र प्ररूपणा कर रहे थे। उनका कहना था कि आजकल कोई भी व्यक्ति शास्त्र के अनुसार साधु और श्रावक धर्म का पालन नहीं कर सकता। इसलिए यथार्थ रूप में न कोई साधु है न श्रावक। इस तरह की अन्य अनेक बातें करके वे जैन समाज में भ्रम फैला रहे थे। कोई भी व्यक्ति उनके इस शास्त्र विरुद्ध उत्सूत्र प्ररूपणा के विरुद्ध एक शब्द भी बोलता नहीं था। वास्तव में उस समय कोई ऐसा समर्थ पुरुष था भी नहीं, जो शान्ति सागरजी के साथ शास्त्रीय चर्चा कर सकें।

ऐसे में पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज मैदान में आते हैं। शान्तिसागरजी से शास्त्रार्थ करते हैं और दो-तीन प्रश्नों में ही उन्हें धराशायी कर देते हैं।

ई. सन् १८८५ में उनका चातुर्मास सूरत में हुआ। यहां हुकम मुनि नाम के श्वेताम्बर जैन मूर्तिपूजक साधु थे। उन्होंने जैन शास्त्रों के विरुद्ध 'अध्यात्मसार' नाम की पुस्तक लिखी थी। वे अपने आपको महान ज्ञानी समझते थे और लोगों को शास्त्रविरुद्ध बातें बताकर उन्हें अधर्म के रास्ते पर ले जा रहे थे।

पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज आगम विरुद्ध बातों को कैसे सह सकते थे। उन्होंने हुकममुनि के शास्त्र विरुद्ध पुस्तक 'अध्यात्मसार' को सर्वानुमति से अमान्य कर दिया।

उन्होंने गुजरात में विचरण करते हुए देखा कि श्रीसंघों के ज्ञान भंडारों में बहुमूल्य पुस्तकें नष्ट हो रही हैं। विशेष रूप से उन्होंने पाटण में दुर्लभ-प्राचीन शास्त्र देखे, जो जर्जरित होकर नष्ट हो रहे थे। ज्ञान भंडारों की ऐसी दुर्दशा देखकर उन्होंने अपने दो विद्वान शिष्य मुनि श्री कांतिविजयजी एवं मुनि श्री हंस विजयजी को अपने पास बुलाकर कहा इस समय यदि इन आगमों का उद्धार न किया गया, इन्हें नष्ट होने से न बचाया गया तो हमारे जैन धर्म और इतिहास की एक अमूल्य निधि समाप्त हो जाएगी और आने वाला भविष्य हमें इस के लिए कभी माफ नहीं करेगा।

उनकी प्रेरणा से मुनि श्रीकांति विजयजी, मुनि श्री हंस विजयजी, मुनि श्री चरण विजयजी एवं मुनि श्रीसंपत विजयजी महाराज ने आगमों के उद्धार एवं संशोधन का कार्य अपने हाथ में लिया। वे कई वर्षों तक इस कार्य के लिए पाटण रुके। और अथक परिश्रम करके आगमों के उद्धार का महान कार्य किया।

मुनि श्री कान्ति विजयजी के बाद उनके शिष्य आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्य विजयजी ने यह कार्य किया। इन ज्ञान भंडारों की सुरक्षा के लिए पंजाब केसरी, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज की प्रेरणा से पाटण में 'आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरि ज्ञान मंदिर' का निर्माण हुआ है। जो इस कार्य का ज्वलंत उदाहरण है।

इस समय पाटण, जैसलमेर, अहमदाबाद (एल.डी.) खंभात, छाणी, लीबड़ी और बड़ौदा

आदि में जो आगम-शास्त्र संरक्षित हैं। उसके मूल प्रेरक पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज हैं। इसके लिए जैन धर्म, साहित्य, संस्कृति और इतिहास उनके ऋण से कभी उच्छ्रय नहीं हो सकता।

उस समय समस्त जैन समाज और धर्म एक बिखराव की स्थिति में था। प्रत्येक संघ किसी न किसी प्रश्न को लेकर विवादों से घिरा हुआ था। श्रीसंघों में संगठन का सर्वथा अभाव था। पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज ने जैन धर्म और समाज को एक विचार, एक आचार, एक धर्म और एक सिद्धान्त पर स्थिर किया। श्रीसंघों के आपसी विवादों को मिटाकर संगठन को महत्व दिया।

जैन धर्म विषयक अज्ञानता के कारण अनेक लोगों के द्वारा चारों ओर से तीखे प्रहार हो रहे थे। स्वामी दयानंद सरस्वती जैन धर्म का घोर मिथ्या प्रचार कर रहे थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' में एक पूरा प्रकरण जैन धर्म के विरुद्ध लिखा।

पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज ने दयानंद सरस्वती के प्रत्येक प्रश्न और तर्क का उत्तर दिया और उनके 'सत्यार्थ प्रकाश' के जवाब में 'अज्ञान तिमिर भास्कर' ग्रन्थ लिखा।

उस समय भारत में अंग्रेजों का शासन था। उनके द्वारा भारत में ईसाई धर्म का प्रचार अत्यन्त तीव्र गति से हो रहा था। कई जैन ईसाई धर्म स्वीकार कर रहे थे। एक गुजराती ईसाई ने जैन धर्म के विरुद्ध 'जैन धर्म समीक्षा' पुस्तक लिखी थी। उसमें जैन धर्म पर अनुचित आक्षेप किए गए थे, पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज ने इस पुस्तक के उत्तर में 'ईसाई मत समीक्षा' पुस्तक लिखी।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा पर स्थानकवासी और तेरापंधियों के द्वारा निरंतर प्रहार हो रहे थे। एक स्थानकवासी साधु जेठमल ने 'समकित सार' नाम की पुस्तक लिखी थी। जिसमें मूर्तिपूजा के आगम सम्मत सिद्धान्त को मिथ्या प्रमाणित करने का प्रयास किया था। इस पुस्तक के विरुद्ध पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज ने 'सम्यक्त्व शल्योद्धार' पुस्तक लिखकर उसका प्रतिवाद किया।

शिक्षा और साहित्य के प्रति लोगों की अभिरुचि समाप्त हो गई थी। कई प्राचीन जैन मंदिर और तीर्थ भग्न हो रहे थे। उन्होंने मंदिरों के जीर्णोद्धार की प्रेरणा दी और आनंदजी कल्याणजी पेढी को यह कार्य सौंपा। शिक्षा और साहित्य के प्रति लोगों की रुचि उत्पन्न की।

पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज के इन कार्यों से समग्र जैन संघ और समाज में एक चेतना और जागृति की लहर दौड़ गई। उनके आह्वान पर मृतप्रायः समाज एक बारगी ही अंगड़ाई लेकर खड़ा हो गया।

जैन धर्म, समाज, संस्कृति, साहित्य और इतिहास के लिए पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज एक अवतार सिद्ध हुए।

नेतृत्व

जैन धर्म में 'आचार्य' पद का अत्यन्त उच्च स्थान है। पंच परमेष्ठि में इसे तृतीय स्थान दिया हुआ है। वर्तमान में तीर्थंकर की अनुपस्थिति में इस पद को तीर्थंकर तुल्य माना जाता है। बहुत से ऐसे शास्त्रीय अनुष्ठान और विधान हैं, जो इस पद से अलंकृत होने पर ही करने की अनुज्ञा है। विशिष्ट गुणों, विशिष्ट कार्यों, विशिष्ट विशेषताओं और विशिष्ट तपः विधानों के बाद ही किसी को इस पद से विभूषित किया जाता है।

जैन धर्म का इतिहास इस बात का साक्षी है कि चरम तीर्थपति श्रमण भगवान महावीर स्वामी एतं गणधर श्रीसुधर्मा स्वामी की इकसठवीं पाट पर आचार्य श्रीमद् विजय सिंह सूरिजी महाराज का जमाना हुआ। उन्हें वि. सं. १६८२ में आचार्य पद से अलंकृत किया गया था। उनके स्वर्गवास के बाद जैन धर्म और समाज में सर्वत्र यतियों का साम्राज्य छा गया। उस समय यतियों का प्रभाव इतना बढ़ गया था कि कोई भी व्यक्ति उनके विरुद्ध कार्य करने की हिम्मत नहीं कर सकता था। यतियों का कहना था कि हमारे होते हुए कोई भी संविज्ञ साधु आचार्य पद से विभूषित नहीं हो सकता।

किसी की आचार्य पदवी न होने देने के पीछे यतियों का कुल कारण इतना ही था कि यदि कोई आचार्य बन जाएगा तो लोग उसी को मान सम्मान देंगे, उसी का अनुसरण करेंगे, उसी के नाम की प्रतिष्ठा और गौरव बढ़ेगा, ऐसे में हमें कोई पूछेगा नहीं। हमारा प्रभाव और प्रतिष्ठा समाप्त हो जाएगी।

बड़े-बड़े श्रीसंघ यतियों की आज्ञा मानते थे, इसलिए उपाध्याय यशोविजयजी जैसे महान दार्शनिक विद्वान को भी इस आचार्य पद से अलंकृत नहीं किया गया। संविज्ञ साधु भी उस समय यतियों की आज्ञा में रहते थे। दो सौ साठ वर्ष तक जैन धर्म और समाज पर यतियों का प्रभुत्व रहा। इतने वर्षों में कोई भी साधु आचार्य पद से अलंकृत न हो सका। दो सौ साठ वर्षों तक सुधर्मा स्वामी की पाट रिक्त रही।

दो सौ साठ वर्षों के बाद जैन धर्म और संघ-समाज को पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज जैसे विराट् अद्वितीय, विलक्षण और प्रभावशाली युगपुरुष प्राप्त हुए। जिन्होंने दो सौ साठ वर्षों से चले आ रहे यतियों के एकाधिकार एवं प्रभुत्व को नष्ट कर दिया। श्रीसंघों को उन्होंने यतियों के प्रभाव से मुक्त किया। यतियों के इस शक्तिशाली साम्राज्य को छिन्न-भिन्न एवं ढहाने में

भगीरथ पुरुषार्थ करना पड़ा होगा इसका अनुमान सहज ही हो सकता है। कई यतियों ने उन्हें प्राण तक लेने की धमकी दी थी। कईयों ने उन पर मंत्र-तंत्र का प्रयोग किया था; पर पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज को परास्त करने का एक भी उपाय उनका सफल नहीं हुआ। वे उनके पवित्र जीवन के विषय में अनेक प्रकार की निंदात्मक और घृणास्पद कहानियां समाज में प्रचलित करते थे और लोगों को उनके विरुद्ध निरंतर भड़काते रहते थे। किन्तु लोगों पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जैन धर्म और इतिहास के यति युग को समाप्त करने का सारा श्रेय पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज को जाता है।

वि. सं. १९४३ और ई. सन् १८८६ में उन्होंने पालीताणा में चातुर्मास किया।

यहां यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि पूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज की शत्रुंजय महातीर्थ पर एवं इस तीर्थ के अधिपति प्रथम तीर्थंकर भगवान श्रीआदिनाथ पर अनन्य और अविचल आस्था-श्रद्धा थी। अन्य तीर्थों की अपेक्षा इस महातीर्थ के प्रति उनका प्रबल आकर्षण था। बार-बार उनकी इच्छा शत्रुंजय महातीर्थ की यात्रा करने की होती थी। उन्होंने बारह स्तवन शत्रुंजय और आदिनाथ दादा की भक्ति करते हुए रचे हैं। वे दादा के दरबार में पहुंचकर अपनी व्यथा सुनाते थे।

शत्रुंजय महातीर्थ की पावन भूमि पर चातुर्मास करने की उनकी विगत कई वर्षों से हार्दिक इच्छा थी। उनकी यह इच्छा ई. सन् १८८६ में पूर्ण हुई। पालीताणा के यतियों ने उनके इस चातुर्मास का घोर विरोध किया था। उनके चातुर्मास प्रवेश के स्वागत जुलूस को पालीताणा राज्य के सिपाहियों ने सुरक्षा प्रदान की थी। फिर भी वहां के यतियों ने उनके प्रवेश में उपद्रव खड़ा किया था। उनकी निश्रा में चातुर्मास करने के लिए भारत के बड़े-बड़े श्रीसंघों के प्रमुख श्रावक पालीताणा आकर रहे थे।

इस चातुर्मास में सम्पूर्ण भारत के श्रीसंघों के प्रमुख व्यक्तियों ने पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज को आचार्य पदवी से विभूषित करने का निर्णय लिया।

उस समय आत्मारामजी जैसे महान और अद्वितीय विद्वान, अनुपम शास्त्र वेत्ता, तार्किक शिरोमणि, अप्रतिम प्रतिभाशाली, चारित्र्य चूड़ामणि, सर्व गुण सम्पन्न साधु कोई भी नहीं था। समग्र भारत के कोने-कोने में उनकी कीर्तिगाथाएं गाई जाती थी। वे 'आचार्य' पद के सर्वथा योग्यतम व्यक्ति थे। प्रमुख संघों के श्रावकों ने जो निर्णय लिया, उसका सभी ने स्वागत किया।

इन श्रावकों ने एक समिति गठित की जिसे पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज को 'आचार्य' पदवी स्वीकार करने की विनती करने की जिम्मेवारी सौंपी गई ।

प्रमुख श्रावकों के इस निर्णय का यतियों ने भयंकर विरोध किया । और जो श्रावक इस आयोजन की भूमिका बना रहे थे, उन्हें अनेक प्रकार की धमकियां दी गई । फिर भी यह कार्य आगे ही आगे बढ़ता रहा और समिति ने पालीताणा जाकर पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज से आचार्य पद ग्रहण करने की विनम्र प्रार्थना की ।

उन्होंने समिति की इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया और कहा कि मैं इस महान् पद के लिए अयोग्य हूं । मुझसे जो दूसरे पूज्यगण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं, उन्हें यह पद दिया जाए ।

समिति ने उनसे आग्रह किया कि आपसे योग्य हमें कोई भी दिखाई नहीं देता । आप ही एकमात्र व्यक्ति हैं जो आचार्य बनकर हमारा नेतृत्व कर सकते हैं । इस पर यति लोग हमें निरंतर धमकियां दे रहे हैं, उनका कहना है कि हमारे रहते हुए आचार्य पदवी लेने की कौन हिम्मत कर सकता है ? जैन शासन की रक्षा के लिए आपको इतनी हिम्मत तो करनी ही होगी ।

समिति की यह बात सुनकर वे चुप हो गए । वे कोई उत्तर नहीं दे पाए । और अन्त में विवश होकर उन्होंने स्वीकृति दे दी ।

उनकी स्वीकृति का समाचार सम्पूर्ण भारत के कोने-कोने में फैल गया । जैनों के आनंद की सीमा न रही । और चातुर्मास के बाद मार्गशीर्ष वदी पंचमी, गुजराती कार्तिक वदी पंचमी के शुभ दिन पालीताणा की नरसी केशवजी धर्मशाला के विशाल प्रांगण में आचार्य पद समारोह होना निश्चित हुआ ।

'श्रीसंघ आमंत्रण' पत्रिका छपवाकर भारत के सभी श्रीसंघों को भेज दी गई । आमंत्रण प्राप्त होते ही भिन्न-भिन्न श्रीसंघों के प्रतिनिधि आने प्रारंभ हो गए ।

मार्गशीर्ष वदी पंचमी तक पैंतीस हजार लोग पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज के आचार्य पद अलंकरण के ऐतिहासिक समारोह में सम्मिलित होने के लिए आ पहुंचे । और अत्यन्त हर्ष और उल्लास के साथ हजार-हजार कंठों के जयकारों के बीच उन्हें आचार्य पद से विभूषित किया गया । नाम उनका आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरिस्वरजी महाराज रखा गया । उनकी इस आचार्य पदवी की ऐतिहासिक घटना के साथ ही जैन शासन के दो सौ साठ वर्ष का अंधकार युग समाप्त हो गया और एक उज्ज्वल एवं स्वर्णिम नव युग का शुभारंभ हो गया ।

आचार्य पद के बाद उनका नाम आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज रखा गया। फिर भी वे अपने पूर्वनाम आत्माराम से ही अधिक प्रसिद्ध हुए।

पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज के संविज्ञ दीक्षा ग्रहण से पूर्व श्वेताम्बर मूर्ति पूजक परम्परा में संविज्ञ साधुओं की कुल संख्या केवल साठ ही रह गई थी। पूज्य श्री आत्मारामजी के आने के बाद यह संख्या निरंतर बढ़ती चली गई। पंद्रह साधु स्थानकवासी सम्प्रदाय परिवर्तन के समय उन्हीं के साथ दीक्षित हो गए थे। उनके बाद उनके हाथ से पैतीस साधु नव दीक्षित हुए। तत्कालीन जैन समाज की युवा पीढ़ी को उन्होंने अपने चुंबकीय व्यक्तित्व से प्रभावित कर लिया था। अपने वैराग्यपूत प्रवचनों से उन्होंने अनेक नवयुवकों को संसार से विरक्त बना दिया था। उनके पट्टधर पंजाब केसरी, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज जैसे मेधावी व्यक्ति उनकी युवावस्था में पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज के प्रवचन सुनकर दीक्षित हो गए थे।

इस समय तपगच्छ में जितने भी आचार्य और साधु हैं, उनकी अधिकांश संख्या पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज की ही शिष्य परंपरा की है।

उस समय जैन शासन के वे एकमात्र जैनाचार्य थे। उन्होंने कई नूतन जिन मंदिरों एवं हजारों जिन बिंबों की अंजनशलाका और प्रतिष्ठा की थी।

वर्तमान में जिन शासन का जो भव्य भवन दृष्टिगत होता है, उसकी नींव में आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज हैं।

पंजाब के उद्धार का कार्य

आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज का जीवन कार्य और व्यक्तित्व बहुविध, बहुक्षेत्रीय और बहुआयामी था। उन्होंने केवल पंजाब का ही उद्धार नहीं किया था, बल्कि हम उन्हें जैन धर्म, समाज, साहित्य और दर्शन के उद्धारक कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। फिर भी उन्होंने पंजाब के उद्धारक का जो कार्य किया है, वह उनके जीवन और कार्यों की एक चिरस्मरणीय देन है। उनके जीवन का सबसे अधिक गौरवमय कार्य पंजाब का उद्धार है।

पंजाब जो सम्पूर्ण रूप से स्थानकवासी था, जहां पर मंदिर और मूर्ति के विषय में सोचना भी पाप माना जाता था, जहां मंदिर, मूर्ति और पूजा की बात करना मिथ्यात्व का परिचायक था। उस पंजाब की भूमि को जिनेश्वर परमात्मा के मंदिरों एवं मूर्तियों से विभूषित कर देना, एक नहीं दो नहीं, पांच नहीं, आठ नहीं, पर दस हजार मूर्तिपूजा के विरोधी लोगों को मूर्तिपूजक बना देना।

दो सौ वर्षों से चली आ रही स्थानकवासी रुढ़ परंपरा की जंजीरों को तोड़ डालना, दो सौ वर्षों से मिल रहे संस्कारों, विचारों और श्रद्धा को परिवर्तित कर देना, एक इतिहास को बदल देना, एक प्रबल गति से बह रही धारा को मोड़ देना उनका कितना महान, अद्वितीय और अप्रतिम कार्य था। इसका अनुमान सहज ही हो जाता है।

पूज्य श्री विजयानंद सूरि- आत्मारामजी महाराज की जन्म भूमि पंजाब थी और पंजाब में ही उनका स्वर्गवास हुआ है। उनके जीवन का अधिकांश भाग पंजाब में ही बीता है। उन्होंने बारह चातुर्मास स्थानकवासी परंपरा में और ग्यारह चातुर्मास संविज्ञ परंपरा में दीक्षित होकर पंजाब में किए हैं। इस तरह तेईस चातुर्मास उन्होंने इस भूमि पर किए। इसलिए उनका सर्वाधिक लाभ पंजाब अर्थात् उत्तरी भारत को मिला है। इस विषय में पंजाब के श्रावक भाग्यशाली थे।

स्थानकवासी परंपरा में दीक्षित होकर वे नौ वर्ष तक गहन अध्ययन में जुटे रहे। जैन शास्त्रों के अतिरिक्त हिन्दू, वैदिक, सांख्य और बौद्ध आदि धर्म और दर्शनों का भी उन्होंने उसी समय गहन ज्ञान प्राप्त किया। दसवें वर्ष में स्थानकवासी सम्प्रदाय की सत्यता को लेकर उनके मन में संशय के बीज पड़े। और पंडित रत्नचन्द्रजी से पढ़ने के बाद उनके विचार पूर्णरूपेण बदल गए। फिर वे स्थानकवासी वेश में रहकर मंदिर और मूर्तिपूजा का प्रचार करते रहे। यह कार्य उनका अंगारों पर चलने के मानिंद था। उन्हें इसके लिए अत्यन्त कठिन परिश्रम और संघर्ष करना पड़ा। ग्यारह वर्ष तक उन्होंने यह कार्य किया। इन ग्यारह वर्षों में उन्होंने पंद्रह साधुओं और सात हजार श्रावकों के विचार परिवर्तित कर दिए।

पंजाब से गुजरात आने के पूर्व उन्होंने पंजाब के सात हजार श्रावकों को कह दिया था कि “मैं गुजरात जाकर आगम सम्मत भगवान महावीर स्वामी की वास्तविक श्रमण परंपरा की दीक्षा लूंगा। मैंने तुम्हें जैन धर्म का सत्य मार्ग बताया है। तुम इस सत्य पर अटल रहना।”

यहां यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि पूज्य श्री विजयानंद सूरि महाराज ने पंजाब में स्थानकवासी लोगों को मूर्तिपूजक बनाने का जो कार्य किया उनके इस कार्य में किसी छल-कपट या द्वेष या षडयंत्र या मंत्र-तंत्र या धमकी को कोई स्थान नहीं था। उन्होंने जो कुछ किया, वह हृदय की सरलता से और मन की निर्मलता से केवल सत्य की प्रतिष्ठा के लिए लोक मंगल की विशुद्ध भावना से ही किया।

वे, प्रत्येक व्यक्ति जो सत्य जानने के जिज्ञासु होते थे, उन्हें वे शास्त्र की बात बताते और कहते कि आगम प्रमाण से मुझे यह बात सत्य लगती है इसलिए मैं मानता हूँ और यह बात मुझे

आगम प्रमाण से असत्य लगती है इसलिए नहीं मानता । यदि तुम्हें मेरी बात पर विश्वास हो तो इस सत्य परंपरा को प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार कर सकते हो और असत्य परंपरा को तिलांजलि दे सकते हो । मैंने तुम्हें सही राह बतायी है, अब मानना या न मानना, यह तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है । मेरा कोई आग्रह नहीं है ।”

उनकी बात सुनकर जो लोग वास्तव में भगवान महावीर स्वामी के सम्यक् मार्ग का अनुसरण करना चाहते थे वे आगम सम्मत मूर्तिपूजक परंपरा में सम्मिलित हो जाते थे ।

गुजरात में जाकर संविज्ञ दीक्षा अंगीकार करके उन्होंने ई. सन् १८७५ का चातुर्मास अहमदाबाद में किया । यह उनका संवेगी परंपरा का पहला और दीक्षा जीवन का बाईसवां चातुर्मास था । दूसरा ई. सन् १८७६ का चातुर्मास उन्होंने भावनगर में किया । यद्यपि वे दो वर्ष गुजरात में रहे; किन्तु पंजाब के लिए वे निरंतर चिंतित थे । उनका शरीर गुजरात में था और मन पंजाब में । वे जल्दी से जल्दी गुजरात छोड़कर पंजाब में पहुंच जाना चाहते थे ।

पंजाब में उनकी अनुपस्थिति में जो लोग उनकी प्रेरणा से मूर्तिपूजक बने थे, उन्हें स्थानकवासी प्रमुख श्रावकों एवं साधुओं ने अपनी मूर्तिपूजक विचारधारा को छोड़ देने का आग्रह किया । उन्हें विविध प्रलोभन देकर ललचाया गया । न मानने पर डराया और धमकाया गया । समाज से बहिष्कृत कर देने का भय दिखाया गया; फिर भी पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज के आदेश एवं प्रेरणा की जड़ें इतनी गहरी थी कि उसे सहज ही उखाड़ फेंकना आसान नहीं था ।

जब वे गुजरात में थे, तब सम्पूर्ण गुजरात के बड़े-बड़े श्रीसंघों ने उन्हें अपने नगर में आकर चातुर्मास करने की आग्रहपूर्ण विनती की थी । गुजरात छोड़कर कहीं न जाने की भी उनसे प्रार्थना की गई; पर उन्होंने सभी संघों की विनतियां अस्वीकृत कर दी और भावनगर से पालीताणा की यात्रा कर राजस्थान और पंजाब की ओर उग्र विहार किया । राजस्थान के जोधपुर श्रीसंघ ने उन्हें रोक लिया और ई. सन् १८७७ का चातुर्मास उन्होंने जोधपुर में किया ।

इस चातुर्मास के बाद वे बीकानेर होते हुए पंजाब में आए । पंजाब में श्रावकगण बड़ी उत्कंठा से उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे । उनके आगमन पर पंजाब में सर्वत्र आनंद की लहर दौड़ गई । तब पहली बार पंजाब के जैनों ने आगम शास्त्र के अनुरूप जैन साधु के और जैन साधु के प्राचीन शास्त्रीय वेश के दर्शन किए । शास्त्र सम्मत नये आचार-विचारों की विधिवत रूप से

प्रतिस्थापना की गई। अपने श्रावकों और श्रावकों के बालकों को गुरु वंदन की विधि, सामायिक लेने की विधि और प्रतिक्रमण करने की विधि सिखाई गई।

पांच वर्ष तक उन्होंने पंजाब में यही कार्य किया। इसके बाद उन्हें पंजाब में मंदिर बनाने की आवश्यकता हुई। इसके लिए उन्हें पुनः गुजरात में आना पड़ा। सात चातुर्मास उन्होंने गुजरात और राजस्थान में किए। गुजरात में रहकर उन्होंने पंजाब में मूर्तियां और पूजा की सामग्री भेजी। ई. सन् १८८६ में पालीताणा चातुर्मास में वे आचार्य बने। आचार्य बनने के बाद राधनपुर, मेहसाना और जोधपुर में चातुर्मास करके वे पुनः पंजाब पहुंचे। यहां पहुंचकर उन्होंने अमृतसर, जीरा, होशियारपुर, पट्टी, अम्बाला शहर, संखतरा और लुधियाना में मंदिर निर्माण का कार्य प्रारंभ करवाया। मंदिरों का कार्य पूर्ण होने पर संवत् १९४८ वैशाख सुदी छठ को अमृतसर में मगसर सुदी ग्यारस को जीरा में और माघ सुदी पंचमी को होशियारपुर के नूतन जिन मंदिर की अंजनशलाका-प्रतिष्ठा करवाई। एक ही वर्ष में उन्होंने तीन अंजनशलाकाएं और प्रतिष्ठाएं करवाई।

संवत् १९५१ में माघ सुदी तेरस को पट्टी में, संवत् १९५२ में मगसर सुदी पूर्णिमा को अम्बाला में और संवत् १९५३ वैशाख सुदी पूर्णिमा को संखतरा की प्रतिष्ठा करवाई। लुधियाना दाल बाजार स्थित नूतन जिन मंदिर की अंजनशलाका और प्रतिष्ठा होने की तैयारियां हो रही थी कि उनका स्वर्गवास हो गया।

पंजाब में उन्होंने छह नूतन जिन मंदिरों की अंजनशलाका एवं प्रतिष्ठा सम्पन्न करवाई। यह कार्य करवाकर उन्होंने वहां के श्रावकों की जैन धर्म की आगम सम्मत श्रद्धा को दृढ़ और स्थिर किया।

पंजाब में जिन मंदिरों का निर्माण कार्य पूर्ण करवाने के बाद वे वहां शिक्षा के प्रचार के लिए सरस्वती मंदिरों की स्थापना करना चाहते थे। पर उनकी यह च्छा पूर्ण न हो सकी और वे इस दुनिया से चले गए। उन्होंने अपने जीवन के अन्त तक पंजाब की चिंता की थी। जाते-जाते भी वे अपने विश्वस्त अन्तेवासी गुरु वल्लभ को पंजाब सम्हालने की आज्ञा देते गए।

इस समय पंजाब (उत्तरी भारत) के विभिन्न शहरों में पच्चीस जिन मंदिर निर्मित हो गए हैं। कुछ शहरों में हो रहे हैं। केवल लुधियाना शहर में ही आठ मंदिर विद्यमान है। प्रत्येक शहर में धार्मिक संस्कार के लिए पाठशालाएं चल रही हैं। पर्युषण पर्व के दिनों में सभी प्रमुख शहरों में

महापर्व की भव्य आराधना करवाई जाती है। अपनी सुविधा के अनुरूप वे तीर्थ यात्राएं करते हैं। कई मुमुक्षुओं ने संविज्ञ दीक्षाएं ग्रहण की हैं। कहना न होगा कि वर्तमान में पंजाब के श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज का चहुंदिस विकास हो रहा है।

आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वर जी महाराज ने पंजाब में संविज्ञ परंपरा का बीज बोया और उनके पट्टधर पंजाब केसरी आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज ने उस बीज को संवर्धित किया था।

साहित्यिक कार्य

साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। जिस युग में साहित्य-सृजन होता है उस तत्कालीन युग का प्रतिबिंब उस पर पड़ता है। ऐसे में साहित्य उस युग के इतिहास, परिस्थिति और वातावरण का प्रत्यक्ष साक्षी बन जाता है।

जिस साहित्यकार का साहित्य जितना महान, युगीन और कालजयी होता है, साहित्यकार भी उतना ही महान प्रतिभा से युक्त होता है। साहित्य सृजन के द्वारा साहित्यकार अमर हो जाता है। उसका साहित्य पढ़कर हम साहित्यकार के रचना संसार एवं उसके आन्तरिक व्यक्तित्व से भलीभांति परिचित हो सकते हैं। रचयिता उसकी रचना में जीता है। उसके हृदय की धड़कन उसके साहित्य के प्रत्येक पृष्ठ में सुनाई देती है। रचनाकार की सशक्त कलम उसके सशक्त व्यक्तित्व की पहचान होती है।

आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज का वास्तविक परिचय उनके साहित्य से मिलता है। उनके द्वारा रचित गद्य एवं पद्य साहित्य के प्रत्येक ग्रन्थ, ग्रन्थ के प्रत्येक प्रकरण, प्रकरण के प्रत्येक विषय, विषय के प्रत्येक परिच्छेद, परिच्छेद के प्रत्येक वाक्य और वाक्य के प्रत्येक शब्द में उनके प्रकांड, अगाध एवं विशाल विद्वत्ता तथा अध्ययन, अप्रतिम प्रतिभा, सूक्ष्म दृष्टि, विषय प्रतिपादन की आकर्षक शैली, निर्भय व्यक्तित्व, अपरिमेय तर्क शक्ति, सत्य के प्रति अनन्य अनुराग और जिन शासन सेवा की ललक आदि सभी विशेषताएं उजागर होती हैं।

श्री आत्मारामजी महाराज के साहित्य सृजन के पीछे निश्चित उद्देश्य थे। उनका साहित्य उस युग की मांग थी। उस युग के वातावरण की कुछ विवशताएं थीं, जिनसे विवश होकर उन्होंने अपनी कलम उठाई थी।

उस समय जैन धर्म और दर्शन के विषय में लोगों में अनेक प्रकार की अज्ञानमूलक

भ्रांतियां फैली हुई थीं। उन भ्रांतियों को मिटाना आवश्यक था। अनेक विद्वान और लेखकों ने जैन धर्म पर आक्षेपात्मक पुस्तकें और लेख लिखे थे। उनके आक्षेपों का खंडन करना जरूरी हो गया था। लोगों को संस्कृत और प्राकृत भाषा का ज्ञान नहीं था इसलिए वे जैन धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने में असमर्थ थे। सरल हिंदी भाषा में जैन धर्म की पुस्तकों का सर्वथा अभाव था। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सरल हिंदी भाषा में जैन धर्म का स्वरूप लिखना अनिवार्य हो गया था।

इन आवश्यकताओं की परिपूर्ति के लिए आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज ने हिन्दी में बारह पुस्तकें लिखी हैं।

१. नवतत्व
२. जैनतत्त्वादर्श
३. अज्ञान तिमिर भास्कर
४. सम्यक्त्व शल्योद्धार
५. जैन मत वृक्ष
६. चतुर्थ स्तुति निर्णय भाग-१
७. चतुर्थ स्तुति निर्णय भाग-२
८. जैन धर्म विषयक प्रश्नोत्तर
९. चिकागो प्रश्नोत्तर
१०. तत्त्वनिर्णय प्रासाद
११. ईसाई मत समीक्षा
१२. जैन धर्म का स्वरूप

नवतत्त्व

यह ग्रन्थ उन्होंने संवत् १९२४ में बिनौली (उत्तर प्रदेश में लिखना प्रारंभ किया था और संवत् १९२५ में बड़ौत (उत्तर प्रदेश) में पूर्ण किया। इस ग्रन्थ में नव तत्त्वों के स्वरूप को गहनता से समझाया गया है। स्थान-स्थान पर आगमों के उद्धरण उद्धृत किए हैं। इस ग्रन्थ से उनके आगम विषयक असीम ज्ञान का परिचय मिलता है।

जैनतत्त्वादर्श

यह ग्रन्थ उन्होंने संवत् १९२७ में गुजरातवाला (पाकिस्तान) में लिखना प्रारंभ किया था

और संवत् १९३८ में होशियारपुर में पूर्ण किया। इस ग्रन्थ में बारह परिच्छेद हैं। इससे जैन धर्म, दर्शन, आगम और इतिहास आदि का सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है। यह ग्रन्थ उनका गागर में सागर की तरह है।

अज्ञान तिमिर भास्कर

यह ग्रन्थ उन्होंने संवत् १९३९ में अम्बाला में लिखना प्रारंभ किया और १९४२ में खंभात (गुजरात) में पूर्ण किया। इस ग्रन्थ के नाम से इसका उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। अज्ञान रूपी अंधकार को नष्ट करने के लिए सूर्य के रूप में इस ग्रन्थ की रचना की गई है। वेद, पुराण, स्मृति और उपनिषदों का खंडन और जैन सिद्धान्तों का मंडन किया गया है। दयानंद सरस्वती द्वारा लिखित 'सत्यार्थ प्रकाश' पुस्तक में जैन धर्म और दर्शन पर किए गए मिथ्या आक्षेपों का तर्क संगत जवाब इस ग्रन्थ में है।

सम्यक्त्वशाल्योद्धार

यह ग्रन्थ उन्होंने वि. सं. १९४९ अहमदाबाद में लिखना प्रारंभ किया था और संवत् १९४१ में अहमदाबाद में ही पूर्ण किया। स्थानकवासी साधु जेठमलजी ने 'समकित सार' पुस्तक में मूर्तिपूजा का खंडन किया था। इस पुस्तक के उत्तर में आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज ने यह पुस्तक लिखी थी। इस ग्रन्थ में उन्होंने मूर्तिपूजा से संबंधित आगमों के अनेक पाठ उद्धृत करके उसे शास्त्र सम्मत सिद्ध किया है।

जैन मत वृक्ष

यह पुस्तक उन्होंने संवत् १९४२ में सूरत में लिखनी प्रारंभ की थी और उसी वर्ष सूरत में ही पूर्ण की थी। इसमें जैन धर्म और जैन श्रमणों का प्राथमिक इतिहास है।

चतुर्थ स्तुति निर्णय भाग-१

यह पुस्तक उन्होंने संवत् १९४४ में राधनपुर में लिखनी प्रारंभ की और उसी वर्ष राधनपुर में ही पूर्ण की थी।

आचार्य श्री राजेन्द्र सूरि एवं मुनि धन विजयजी ने चार थुई के स्थान पर तीन थुई का प्रवर्तन किया था। और वे तीन थुई को ही शास्त्र सम्मत सिद्ध करने का असफल प्रयत्न कर रहे थे। उनके उत्तर में उन्होंने चार थुई को शास्त्र सम्मत सिद्ध किया है और प्रमाण के रूप में पूर्वाचार्यों के ८२ ग्रन्थों के प्रमाण दिए हैं।

जैन धर्म विषयक प्रश्नोत्तर

इस पुस्तक का प्रारंभ संवत् १९४५ में पालनपुर में किया और उसी वर्ष पालनपुर में ही

समाप्त किया। इस पुस्तक में जैन धर्म से संबंधित प्रश्नों के उत्तर दिए गए हैं। जैन धर्म का प्रारंभिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।

चतुर्थ स्तुति निर्णय भाग-२

इस पुस्तक का प्रारंभ संवत् १९४८ पट्टी में किया गया और उसी वर्ष पट्टी में ही इसे समाप्त किया गया।

श्री आत्मारामजी महाराज के पूर्व पुस्तक चतुर्थ स्तुति निर्णय भाग प्रथम के विरुद्ध तीन थुई के मुनि श्रीधन विजयजी ने उनके ऊपर कुछ अनुचित आक्षेप किए थे। उन आक्षेपों के उत्तर के रूप में यह दूसरा भाग लिखा गया है।

चिकागो प्रश्नोत्तर

इस पुस्तक का प्रारंभ वि. सं. १९४९ में अमृतसर में किया गया और उसी वर्ष इसे समाप्त किया गया। ई. सन् १८९३ में चिकागों में 'विश्व धर्म परिषद्' हुई थी। इस परिषद में श्री वीरचंद राघवजी गांधी जैन धर्म के प्रतिनिधि बनकर गए थे। परिषद के आयोजकों ने पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज को परिषद के लिए अपना एक निबंध भेजने की प्रार्थना की थी। उनकी इस प्रार्थना को स्वीकार करके पूज्य श्री ने 'चिकागो प्रश्नोत्तर' पुस्तक लिखकर श्री वीरचंद राघवजी गांधी को दी थी। इसमें जैन धर्म का प्राथमिक ज्ञान है।

तत्त्व निर्णय प्रासाद

इस ग्रन्थ का प्रारंभ उन्होंने संवत् १९५१ में जीरा में किया था और संवत् १९५३ में गुजरानवाला (पाकिस्तान) में पूर्ण किया।

यह ग्रन्थ उनका अन्य सभी ग्रन्थों से अधिक विशालकाय है। इसमें ३६ प्रकरण हैं। वेद, पुराण, स्मृति और उपनिषद आदि की समीक्षा की गई है। सच्चे ब्रह्मा, विष्णु और महेश का स्वरूप बताया गया है। गृहस्थ के सोलह संस्कार तथा दिगम्बर और श्वेताम्बर परंपरा का भी विस्तार से वर्णन किया गया है।

ईसाई मत समीक्षा

यह पुस्तक एक ईसाई द्वारा जैन धर्म पर दिए गए आक्षेपों के खंडन के रूप में लिखी गई है। इस पुस्तक के पढ़ने से ज्ञात होता है कि पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज को ईसाई धर्म का कितना सूक्ष्म और विशद् ज्ञान था।

जैन धर्म का स्वरूप

यह उनकी सबसे छोटी पुस्तक है। जो लोग जल्दी ही जैन धर्म के विषय में जानना चाहते

हैं उन के लिए यह पुस्तक लिखी गई है ।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परंपरा में विशिष्ट प्रसंगों पर पूजाएं पढ़ाने का शास्त्रीय विधान है । जिनमें सत्रह भेदी पूजा, अष्ट प्रकारी पूजा, स्नात्र पूजा, नवपद पूजा आदि प्रमुख हैं । वे सभी पूजाएं गुजराती भाषा में अनेक जैन कवियों की उपलब्ध है । गुजराती में होने से इसके राग और भाव पंजाब और राजस्थान के लोग समझ नहीं पाते थे । इसलिए उनके लिए हिन्दी भाषा में पूजाओं की आवश्यकता और अनिवार्यता प्रतीत हुई । पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज ने इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए हिन्दी भाषा में पूजाओं, स्तवनों और सज्जायों की रचना की । हिन्दी भाषा में पूजाएं रचने वाले वे प्रथम जैन आचार्य कवि हैं ।

संवत् १९२७ में बिनौली में उन्होंने आत्मबावनी की रचना की । संवत् १९३० में अम्बाला में जिन चौबीसी की रचना की । संवत् १९४० में बीकानेर में बीस स्थानक पूजा की रचना की । संवत् १९४३ में पालीताणा में अष्ट प्रकारी पूजा की रचना की । संवत् १९४८ में पट्टी में नवपद पूजा की रचना की । संवत् १९५० में जंडियालागुरु में स्नात्रपूजा की रचना की ।

उनकी ये पूजाएं और स्तवन हिन्दी भाषी क्षेत्र में सर्वत्र प्रचलित हैं । और हजारों व्यक्ति इनसे लाभान्वित हो रहे हैं । उन्होंने गद्य और पद्य दोनों विद्याओं में जैन साहित्य की विपुल रचना करके जैन धर्म, दर्शन, साहित्य और समाज पर महान उपकार किया है । उनकी इस साहित्यिक देन और कार्य को कभी भुलाया नहीं जा सकता ।

धर्म प्रचार का कार्य

पंजाब देशोद्धारक, न्यायाम्भोनिधि, विश्व वंद्य विभूति आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी (आत्मारामजी) महाराज का सम्पूर्ण जीवन जिन वीतराग अरिहंत प्ररूपित जैन धर्म को समर्पित था । श्रमण भगवान महावीर स्वामी की शास्त्रीय श्रमण परंपरा के अनुरूप उन्होंने अपना जीवन यापन किया । यद्यपि वे जन्मतः जैन नहीं थे, पर जैन धर्म के क्षेत्र में आकर धर्म के अगुवा और नायक बन गए । उनका अप्रमत्त, जागृत और प्रेरक जीवन जैन धर्म की उन्नति और प्रतिष्ठा का कारण बना था । उन्होंने अपने जीवन के प्रत्येक पल का प्रयोग आत्म-साधना करते हुए जैन धर्म के प्रचार एवं प्रसार में किया । उनके जीवन का प्रत्येक दिन अपने आप में एक घटना को एक इतिहास को एक प्रेरणा को और एक गौरव को लिए हुए हैं ।

आगम साहित्य के गहन अध्ययन के बाद उन्होंने अपने जीवन का एकमात्र उद्देश्य जैन धर्म के प्रचार और प्रसार का बनाया था । वे जहां-जहां भी गए, जो-जो कहा और जो कुछ लिखा,

उन सभी का लक्ष्य यही था। उनका यह धर्म प्रचार केवल भारत तक ही सीमित नहीं था। उन्होंने श्रीवीरचंद राघवजी गांधी को जैन धर्म का प्रतिनिधि बनाकर विदेश भेजा और उनके माध्यम से उन्होंने जैन धर्म का प्रचार विदेशों में भी करवाया। एक शताब्दी पूर्व जैन धर्म को विश्व के रंग मंच पर रखने वाले वे जैन धर्म के प्रथम आचार्य थे।

उस समय जैन धर्म की श्रमण परंपरा में जैन धर्म और दर्शन का अधिकारी विद्वान पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज को छोड़कर अन्य कोई नहीं था। वे अपनी अगाध विद्वत्ता एवं अपने धर्म के प्रचार के लिए जितने भारत में प्रसिद्ध थे, उतने ही विदेशों में भी थे। कई विदेशी विद्वान उनसे जैन धर्म के विषय में मार्गदर्शन लेने के लिए आते थे। जिनमें पीटरसन, ए. एफ. रुडोल्फ, डॉ. हार्नल आदि प्रमुख हैं।

ए. एम. रुडोल्फ संस्कृत और प्राकृत के अच्छे विद्वान थे। 'उपासक दशांग' सूत्र का उन्होंने अनुवाद और संपादन किया है। जब वे इस सूत्र का सम्पादन कर रहे थे उस समय उन्हें सूत्रों के गूढार्थ को समझने में कठिनाई उत्पन्न हुई। इस कठिनाई को पूज्य श्री आत्मारामजी ने बड़ी सरलता से दूर की थी। उनके अगाध और अपरिमित ज्ञान से रुडोल्फ महोदय इतने प्रभावित और श्रद्धानत हो गए कि अपने द्वारा अनुदित एवं संपादित 'उपासक दशांग' को उन्हीं के कर कमलों में निम्न लिखित समर्पण-स्तुति करके अर्पित किया।

दुराग्रहध्वान्त विभेद भानो,

हितोपदेशामृतसिधुचित्ते ।

संदेह संदोहनिरासकारिन्,

जिनोक्त धर्मस्य धुरंधरोसि ॥१॥

अज्ञान तिमिर भास्कर मज्ञान,

निवृत्तये सहृदयानाम् ।

आर्हत्तत्वादर्श ग्रन्थ

मपरमपि भवान्कृत ॥२॥

आनंद विजय श्री मन्नात्माराममहामुने ।

मदीय निखिल प्रश्नव्याख्यातः शास्त्रपारग ॥

कृतज्ञता चिन्हमिदं ग्रन्थसंस्करणं कृतिन्,

यत्संपादितं तुभ्यं श्रद्धयोत्सृज्यते मया ॥३॥

अर्थ: दुराग्रह रूपी अहंकार को नष्ट करने में आप सूर्य समान हैं। हितकारी आदेशामृत के एक अथाह समुद्र हैं। सदेह की वल्लरी से मुक्त करने वाले और जैन धर्म की धुरा धारण करने वाले भी आप ही हैं।

सहृदय पुरुषों के अज्ञान तिमिर को विच्छिन्न करने के लिए आपने 'अज्ञान तिमिर भास्कर' एवं 'जैनतत्त्वादर्श' नाम के ग्रन्थों की रचना की है।

आपने मेरे समस्त प्रश्नों का निराकरण किया है। वास्तव में आप शास्त्र-पारंगत हैं। फलस्वरूप मेरे द्वारा यथेष्ट श्रमपूर्वक संपादित प्रस्तुत ग्रन्थ को कृतज्ञता के प्रतीक स्वरूप में श्रद्धासिक्त हो, आपको सादर समर्पित करता हूँ।

पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज ने अपनी अद्भुत प्रवचन प्रभावकता के बल पर जिन शासन की महती प्रभावना की है। पंजाब में ओसवालों के अतिरिक्त उन्होंने मालेरकोटला के अग्रवालों को और लुधियाना के अहलुवालियों को जैन बनाया था। जैन धर्म के घोर विरोधियों को भी उन्होंने जैन धर्म के प्रशंसक और उपासक बनाया।

हजारों जैन जो उस समय जैन धर्म छोड़कर अन्य धर्मों में सम्मिलित हो रहे थे उन्हें बचाया और पुनः जैन धर्म में स्थिर किया।

राजस्थान के जोधपुर शहर में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज के ५०० घर थे। वे घट कर केवल ५० रह गए थे। उन्होंने वहाँ दो चातुर्मास किए। ई. सन् १८८३ में यहाँ दयानंद सरस्वती के साथ उनका शास्त्रार्थ होना निश्चित हुआ था। परंतु इस शास्त्रार्थ होने के निश्चित दिन के पहले ही जहर खिलाने से दयानंद का देहांत हो गया। जोधपुर की जनता ने उसी वर्ष पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज को 'न्यायाम्भोनिधि' पद से विभूषित किया था।

जहाँ लेखक नहीं पहुंच पाता वहाँ उसका साहित्य पहुंच जाता है। पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज के सम्पूर्ण साहित्य का लक्ष्य जैन धर्म का प्रचार और प्रसार है। उनका साहित्य जैन धर्म और दर्शन के स्वरूप को ही व्यक्त करता है। अपने साहित्य के द्वारा उन्हें जैन धर्म के प्रचार और प्रसार में अत्यधिक सफलता मिली। मूर्तिपूजा विषयक उनकी पुस्तक पढ़कर कई स्थानकवासी साधु संविज्ञ परंपरा में दीक्षित हो गए थे। 'अज्ञान तिमिर भास्कर' पढ़कर कई हिन्दू संन्यासी जैन धर्म के प्रशंसक बने थे। उनके साहित्य के दूरगामी परिणाम के अनगिनत उदाहरण हैं। यहाँ हिन्दू संन्यासी योगजीवानंद सरस्वती का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा।

‘जैनतत्त्वादर्श’ और ‘अज्ञान तिमिर भास्कर’ पढ़कर उनके विचारों में परिवर्तन आया था । अपने में आए इस परिवर्तन को उन्होंने पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज को पत्र के द्वारा सूचित किया था । इस पत्र का उल्लेख स्वयं पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज ने अपने ग्रन्थ ‘तत्त्वनिर्णय प्रासाद’ में किया है । वह पत्र उन्हीं की भाषा में जस का तस यहां उद्धृत है ।

‘स्वस्ति श्रीमज्जैनेन्द्रचरणकमल मधुपायितमनस्क श्रीयुक्त प्ररित्राजकाचार्य परम धर्म प्रतिपालकः श्री आत्मारामजी तपगच्छीय श्रीमन्भुनि महाराज ! बुद्धिविजय शिष्य श्रीमुखजी को परित्राजक योगजीवानंद स्वामी परमहंस का प्रदक्षिणा त्रयपूर्वक क्षमाप्रार्थमेतत्- भगवन् व्याकरणादि नाना शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन द्वारा वेदमत गले में बांध मैं अनेक राजा-प्रजा के सभा विजय कर के देखा, व्यर्थ मगज मारना है इतना ही फल साधनांश होता है कि राजा लोग जानते-समझते हैं फलाना पुरुष बड़ा भारी विद्वान है परंतु आत्मा को क्या लाभ हो सकता है ? देखा तो कुछ भी नहीं । आज प्रसंगवश रेलगाड़ी से उतर के भटिंडा रामकृष्ण मंदिर में बहुत दूर से आन के डेरा किया था, सो एक जैन शिष्य के हाथ दो पुस्तकें देखीं तो जो लोग दो चार अच्छे विद्वान जो मुझसे मिलने आए थे कहने लगे कि ये नास्तिक जैन ग्रन्थ हैं, इन्हें नहीं देखना चाहिए । अन्त में उनका मूर्खपणा उनके गले उतार के निरपेक्ष बुद्धि के द्वारा विचार पूर्वक जो देखा तो वे लेख इतने सत्य और निष्पक्ष मुझे दिख पड़े कि मानो एक जगत छोड़ कर दूसरे जगत में आन खड़े हो गए । आबाल्यकाल आज ७० वर्ष में जो कुछ अध्ययन किया और वैदिक धर्म बांधे फिरा वह व्यर्थ सा मालूम होने लगा । जैन तत्त्वादर्श व अज्ञान तिमिर भास्कर इन दोनों ग्रन्थों को तमाम रात्रिदिन मनन करता, व ग्रन्थकार की प्रशंसा करता भटिंडे में बैठा हूं । सेतुबंध रामेश्वर यात्रा से अब मैं नेपाल देश चला हूं । परंतु अब मेरी ऐसी असामान्य महती इच्छा मुझे सताय रही है कि किसी प्रकार से भी एक बार आपका और मेरा परस्पर संदर्शन हो जाएं । मैं कृतकर्मा हो जाऊं । महात्मन ! हम संन्यासी हैं आजकल जो पांडित्य कीर्तिलाभ द्वारा सभा विजयी होके राजा-महाराजों में ख्याति प्रतिपत्ति कमा के नाम पंडिताई को हासिल किया है, आज हम यदि एकदम आप से मिलें तो वह कमाई कीर्ति चली जाएगी । ये हम खूब समझते व जानते हैं । परंतु हठधर्म भी शुभ परिणाम, शुभ आत्मा का धर्म नहीं । आज मैं आपके पास इतना मात्र स्वीकार कर सकता हूं कि प्राचीन धर्म, परम धर्म अगर कोई सत्य धर्म हो तो जैन धर्म था । जिसकी प्रभा नाश करने को वैदिक धर्म व षट् शास्त्र व ग्रन्थकार खड़े भये थे । परंतु पक्षपात शून्य होकर यदि कोई वैदिक शास्त्रों पर दृष्टि दें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि वैदिक बातें कही व ली गई वह सब जैनशास्त्रों से नमूना इक्कठी की है । इसमें संदेह नहीं कितनी बातें ऐसी हैं कि जो प्रत्यक्ष विचार

किए बिना सिद्ध नहीं होती है। संवत् १९४८ मिति आषाढ सुदि १० ।

पुनर्निवेदन यह है कि यदि आपकी कृपापत्री पाई तो एक दफा मिलने का उद्यम करूंगा। इति योगानंद स्वामी किंवा योगजीवानंद सरस्वती स्वामी ।

इस पत्र के साथ स्वामी योगजीवानंदजी ने उनकी स्तुति के रूप में एक श्लोक लिखकर भेजा था। वह निम्न लिखित है।

योगाभोगानुगामी द्विजभजनजनिः शारदारक्तिरक्तौ ।
दिग्जेता जेतृजेता मतिनुतिगतिभिः पूजितो जिष्णुजिह्वैः ॥
जीयाद्यायाद यात्री खल बल दल नो लोललीलस्वलज्जः ।
केदारौदास्यदारी विमलमधुम दोदामधामप्रमतः ॥१ ॥

भावार्थः योग मार्ग के अनुगामी और योग की परिपूर्णता तक पहुंचे हुए, ब्राह्मण आदि सभी द्विज उनका स्मरण करें उसी के लिए संसार में जिनका जन्म हुआ है। जो सरस्वती की उपासना में पूर्ण रूप से अनुरक्त हैं जिन्होंने सभी वादों पर विजय प्राप्त किया है। देवतागण भी जिनकी ज्ञानपूर्वक स्तुति करते हैं। संसार में खोए हुए भव्यात्माओं को जो सत्यमार्ग बताते हैं, जो दुष्ट जनों का बल नष्ट करते हैं, चंचल तृष्णा और विषयवासना की ओर जो लज्जाभाव से देखते हैं। सभी के मस्तक पर मंडराते मृत्यु के भय को समाप्त करने वाले, मृत्युंजय स्वरूप और विमल अर्थात् काम जन्य वेगों को जिन्होंने जीत लिए हैं ऐसे श्री विजयानंद सूरि महाराज सर्वत्र और सर्वदा विजयी हों।

इस श्लोक के ७५ अर्थ होते हैं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे स्वामी कितने आश्चर्यजनक विद्वान थे और पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज के दो ग्रन्थ पढ़कर उन्हें उनके ऊपर कितनी अनन्य श्रद्धा हो गई थी।

लो भाई ! अब हम चलते हैं और सबको खमाते हैं

न्यायाम्भोनिधि, पंजाब देशोद्धारक आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरिश्वरजी (आत्मारामजी) महाराज ने संवत् १९५३ में संखतरा में नूतन जिन मंदिर की अंजनशलाका एवं प्रतिष्ठा करवाई।

उस समय वे साठ वर्ष के थे। अपने द्वारा जिन शासन प्रभावना के अनगिनत एवं निरंतर सम्पन्न हो रहे कार्यों ने उन्हें थका दिया था। वे अपने शरीर को कभी विश्राम नहीं देते थे। उनके पट्टधर पंजाब केसरी, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरिश्वरजी महाराज ने, जो उनके जीवन के अन्तिम नौ वर्षों तक साथ रहे थे, लिखा है कि अत्यधिक परिश्रम के कारण उनका

स्वास्थ्य निरंतर गिरता जा रहा था। कई रोगों ने आकर उनके शरीर पर अधिकार जमा लिया था। घुटनों में दर्द रहता था, जिससे उन्हें चलने में कठिनाई होती थी। श्वास का रोग बढ़ गया था, जिससे वे थोड़ा से चलते ही हांफने लगते थे। आँखों की सर्जरी के कारण उन्हें कम दिखने लगा था। इतना होने पर भी वे अपनी कोई फरियाद नहीं करते थे। उनका सम्पूर्ण शिष्य परिवार और श्रावकगण उन्हें विश्राम लेने और औषधि सेवन का आग्रह करते थे; किन्तु उनके आग्रह पर वे कभी ध्यान नहीं देते थे। वे कहते थे कि “शरीर तो रोग का घर है। कहां तक उसकी सेवा करोगे।”

आंखों से उन्हें कम दिखता था, फिर भी वे लिखते थे। चलने से श्वास चढ़ता था; फिर भी लम्बे-लम्बे विहार करते थे। उनका मनोबल इतना दृढ़ था कि बड़े से बड़े रोग से भी कभी चिंतित और विचलित नहीं होते थे।

संखतरा के नूतन जिन मंदिर की अंजन-शलाका प्रतिष्ठा के बाद उनके जीवन का एक निर्धारित लक्ष्य पूर्ण हुआ था। पंजाब में देवालय निर्मित करवाकर वे श्रावकों की श्रद्धा को स्थिर कर देना चाहते थे। पंजाब में सात मंदिर निर्मित हो जाने से उनका एक लक्ष्य पूर्ण हुआ। दूसरे लक्ष्य के रूप में वे सरस्वती मंदिरों का निर्माण करना चाहते थे।

वे अपने अन्तेवासी मुनि श्रीवल्लभ विजयजी से बार-बार कहते थे कि “पंजाब के श्रावकों की श्रद्धा को स्थिर रखने के लिए मंदिरों की आवश्यकता है। मंदिरों के निर्माण कार्य के बाद मेरा लक्ष्य शिक्षा मंदिरों की स्थापना करना है। गुजरानवाला पहुंचकर मैं यही कार्य अपने हाथ में लूंगा।”

संखतरा से उन्होंने गुजरानवाला की ओर विहार किया। ज्येष्ठ मास की भयंकर गरमी थी। उग्र विहार करते हुए वे पसरूर में पहुंचे। वहां सभी लोग स्थानकवासी परंपरा के जैन थे। मूर्तिपूजक सम्प्रदाय का एक भी घर नहीं था। जब यहां के स्थानकवासी जैनों को पता लगा कि पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज पधार रहे हैं तो उन्होंने एकत्र होकर यह निर्णय लिया कि हममें से कोई भी व्यक्ति उन्हें न पानी देगा न आहार।

उस समय स्थानकवासियों के मन में पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज के प्रति भयंकर विद्वेष भरा हुआ था। पसरूर में न पानी मिला न आहार। किसी एक जैनेतर घर से उन्हें थोड़ी सी छाछ मिली। उसी छाछ का एक-एक घूंट पीकर सभी ने अपने सूखे कंठ गिले किए। भयानक

गरमी का वह लम्बा दिन उन्होंने बिना पानी और आहार के बिताया । शाम चार बजे फिर आगे के लिए विहार कर दिया । पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज का साठ वर्ष का शरीर विहार की इन अनगिनत प्रतिकूलताओं का सामना नहीं कर सका । वे जैसे तैसे गुजरानवाला पहुंचे । यहां भी उन्होंने शरीर को विश्राम नहीं दिया । अपनी भीतरी अस्वस्थता एवं दैहिक कष्टों का उन्होंने किसी को भी पता नहीं लगने दिया । अन्त में स्थिति यहां तक पहुंच गई कि उनका भौतिक शरीर अब अधिक समय तक यह सब सहने के लिए असमर्थ हो गया ।

संवत् १९५२ और ई. सन् १८९५ का वह वर्ष था और जेठ सुदी सप्तमी का दिन । प्रतिक्रमण के बाद उन्होंने कई जिज्ञासुओं से वार्तालाप किया । वार्तालाप के बाद उन्होंने थोड़ा सा विश्राम लिया और रात बारह बजे फिर उठ गए । उन्हें पता लग गया कि अब मेरा शरीर छोड़ने का समय आ गया है । उन्होंने सभी मुनियों को उठाया । मुनि श्रीवल्लभ विजयजी को अपने पास बुलाया और यह अन्तिम संदेश दिया कि “वल्लभ ! श्रावकों की श्रद्धा को स्थिर रखने के लिए मैंने परमात्मा के मंदिरों की स्थापना कर दी है । अब तुम सरस्वती मंदिरों की स्थापना अवश्य करना । जब तक ज्ञान का प्रचार न होगा, तब तक लोग धर्म को नहीं समझेंगे और नहीं समाज का उत्थान होगा । यह काम मैं तुम्हारे कंधों पर डालकर जा रहा हूँ ।”

इस अन्तिम संदेश और आज्ञा को गुरु वल्लभ ने ‘तहती भगवंत’ कहकर शिरोधार्य की ।

फिर हाथ जोड़कर सबकी ओर देखते हुए उन्होंने कहा- लो भाई ! अब हम चलते हैं और सब को खमाते हैं । अर्हन्... अर्हन्... रटते हुए उनके प्राणों ने प्रस्थान किया और उनका भौतिक शरीर पट्टे की एक ओर ढल गया । पीछे केवल मुनियों की अपार वेदना और संसार का रुदन रह गया ।

लो भाई ! अब हम चलते हैं और सब को खमाते हैं । यह उनका अन्तिम वाक्य था । अपनी मृत्यु के समय वे मानसिक रूप से कितने स्वस्थ थे और आत्मिक रूप से कितने जागृत थे, इसकी कल्पना सहज ही हो सकती है ।

पूज्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज के स्वर्गवास के साथ ही एक इतिहास का अन्त हो जाता है । परंतु उन्होंने जिस इतिहास का निर्माण किया है, वह अमर है । वे अपने साहित्य से और जिन शासन प्रभावना के कार्यों से सदा जीवित रहेंगे ।

कुल मिलाकर साठ वर्ष और दो महीने लगभग वे जीये हैं । इतने कम समय में भी उन्होंने

जो कार्य किया है, वह आश्चर्यजनक है। उनके महान जीवन और उदात्त कार्यों का सही और पूर्ण मूल्यांकन असंभव है। उनका जीवन और कार्य जैन इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर सदा अंकित रहेगा और आनेवाली पीढ़ियां उससे सदैव प्रेरणा लेती रहेंगी।

श्री विजयानंद सूरि महाराज के जीवन की संक्षिप्त रूपरेखा

विक्रम सं.	ईस्वी सन्	
१	१८९३	१८३६ जन्म-लहरां गांव (पंजाब) चैत्र सुदि। पिता का नाम गणेश चंद, माता का नाम रूपा देवी।
२	१९०६	१८४९ जीरा में जोधेशाह के पास रहने गए।
३	१९१०	१८५३ गुरु जीवनरामजी महाराज का जीरा में चातुर्मास और मालेरकोटला में स्थानकवासी दीक्षा।
४	१९११	१८५४ सिरसा रानिया, चातुर्मास और उत्तराध्ययन का पठन।
५	१९१२	१८५५ सरगथला, चातुर्मास और औपपत्तिक सूत्र का पठन।
६	१९१३	१८५६ जयपुर, चातुर्मास और आचारांग सूत्र का पठन।
७	१९१४	१८५७ नागौर, चातुर्मास और अनुयोगद्वार सूत्र का पठन।
८	१९१५	१८५८ जयपुर, चातुर्मास और सूत्रकृतांग का पठन।
९	१९१६	१८५९ रतलाम, चातुर्मास और प्रज्ञापना जीवाभिगम आदि सभी सूत्रों का पठन।
१०	१९१७	१८६० सरगथला चातुर्मास।
११	१९१८	१८६१ दिल्ली चातुर्मास।
१२	१९१९	१८६२ जीरा चातुर्मास।
१३	१९२०	१८६३ अमरा चातुर्मास १० वर्ष तक अध्ययन। विचारों में परिवर्तन, मुनि रतनचंदजी से वार्तालाप।
१४	१९२१	१८६४ मालेरकोटला, चातुर्मास विचार परिवर्तन का प्रचार दो श्रावकों को अपने विचारों का बनाया।
१५	१९२२	१८६५ सिरसा, चातुर्मास विचार संघर्ष, अपने विचारों के लोगों का संगठन बढ़ाया।
१६	१९२३	१८६६ होशियारपुर चातुर्मास।
१७	१९२४	१८६७ बिनौला चातुर्मास।

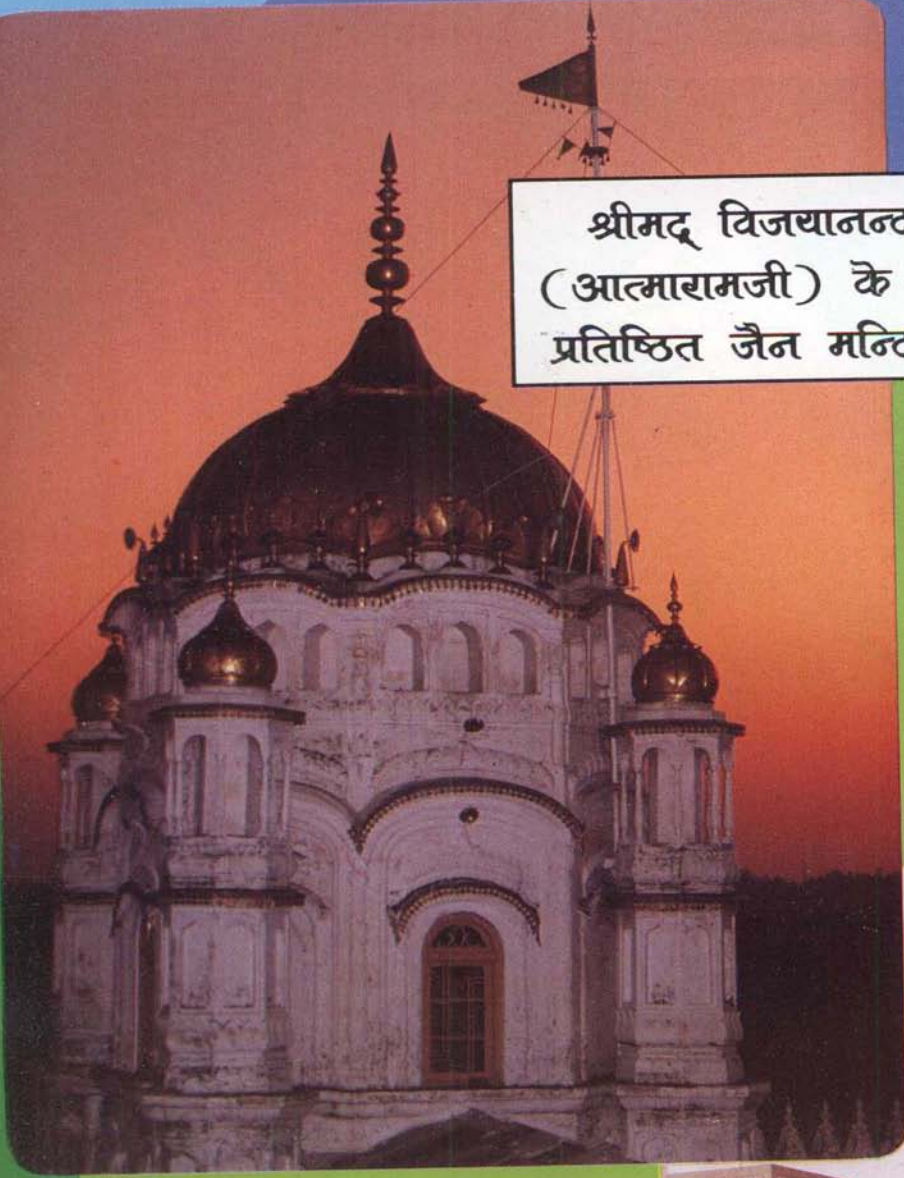
१८	१९२५	१८६८	बड़ौत चातुर्मास ।
१९	१९२६	१८६९	मालेरकोटला चातुर्मास ।
२०	१९२७	१८७०	बिनौली, चातुर्मास आत्मबावनी की रचना, मंदिर बनाने की प्रेरणा की ।
२१	१९२८	१८७१	लुधियाना, चातुर्मास पंद्रह साधु और सात हजार श्रावकों को अपने विचारों का बना दिया ।
२२	१९२९	१८७२	जीरा चातुर्मास ।
२३	१९३०	१८७३	अंबाला, चातुर्मास जिन चौबीसी की रचना की ।
२४	१९३१	१८७४	होशियारपुर, चातुर्मास तीर्थ यात्रा करने का निर्णय, सुनाम से हांसी आते हुए मुंहपत्ति का त्याग ।
२५	१९३२	१८७५	अहमदाबाद चातुर्मास पंद्रह साधुओं के साथ श्री बुटेरायजी से संवेगी दीक्षा ली, नाम आनंद विजय ।
२६	१९३३	१८७६	भावनगर, चातुर्मास शत्रुंजय की यात्रा की । दादा आदिनाथ के आगे रोते हुए अपनी व्यथा, 'अब तो पार भए हम' पद में व्यक्त की ।
२७	१९३४	१८७७	जोधपुर चातुर्मास ।
२८	१९३५	१८७८	लुधियाना चातुर्मास ।
२९	१९३६	१८७९	जंडियाला चातुर्मास ।
३०	१९३७	१८८०	गुजरांवाला चातुर्मास 'नवतत्त्व' लिखा, जैन तत्त्वादर्थ का लेखन प्रारंभ ।
३१	१९३८	१८८१	होशियारपुर चातुर्मास ।
३२	१९३९	१८८२	अंबाला, चातुर्मास जैन तत्त्वादर्थ का प्रकाशन, सत्तरभेदी पूजा की रचना ।
३३	१९४०	१८८३	बीकानेर, चातुर्मास बीस स्थानक पूजा की रचना, बीकानेर महाराजा ने प्रवचन सुना, जोधपुर में दयानंद सरस्वती से शास्त्रार्थ करने का निमंत्रण, दयानंद का स्वर्गवास, जोधपुर की जनता ने 'न्यायाम्भोनिधि' पद से विभूषित किया ।
३४	१९४१	१८८४	अहमदाबाद, चातुर्मास सम्यक्त्व शल्योद्धार लिखा, शान्तिसागरजी से शास्त्रार्थ ।

३५	१९४२	१८८५	सूरत, चातुर्मास जैनमत वृक्ष लिखा ।
३६	१९४३	१८८६	पालीताणा, चातुर्मास अष्ट प्रकारी पूजा की रचना, आचार्य पद से अलंकृत ।
३७	१९४४	१८८७	राधनपुर, चातुर्मास विजय वल्लभ की दीक्षा, चतुर्थ स्तुति निर्णय-१ लिखा, जीवन के पचास वर्ष पूर्ण हुए, स्वास्थ्य गिरने लगा, एक आंख में मोतिया आया ।
३८	१९४५	१८८८	मेहसाना चातुर्मास ।
३९	१९४६	१८८९	जोधपुर, चातुर्मास जैन धर्म विषयक प्रश्नोत्तर लिखा ।
४०	१९४७	१८९०	मालेरकोटला, चातुर्मास चतुर्थ स्तुति निर्णय भाग-२ लिखा ।
४१	१९४८	१८९१	पट्टी, चातुर्मास नवपद पूज की रचना
४२	१९४९	१८९२	होशियारपुर, चातुर्मास पचपन वर्ष की अवस्था, 'चिकागो विश्व धर्म परिषद्' में पधारने के लिए निमंत्रण 'चिकागो प्रश्नोत्तर' लिखकर वीरचंद राघवजी गांधी को भेजा ।
४३	१९५०	१८९३	जंडियालागुरु, चातुर्मास स्नात्र पूजा की रचना की ।
४४	१९५१	१८९४	जीरा चातुर्मास 'तत्त्वनिर्णय प्रासाद' लिखा ।
४५	१९५२	१८९५	अम्बाला, चातुर्मास सनखतरे में प्रतिष्ठा करवा कर गुजरानवाला पहुंचे ।
४६	१९५३	१८९६	गुजरांवाला में स्वर्गवास । उनसठ वर्ष और उनसठ दिन की कुल आयु

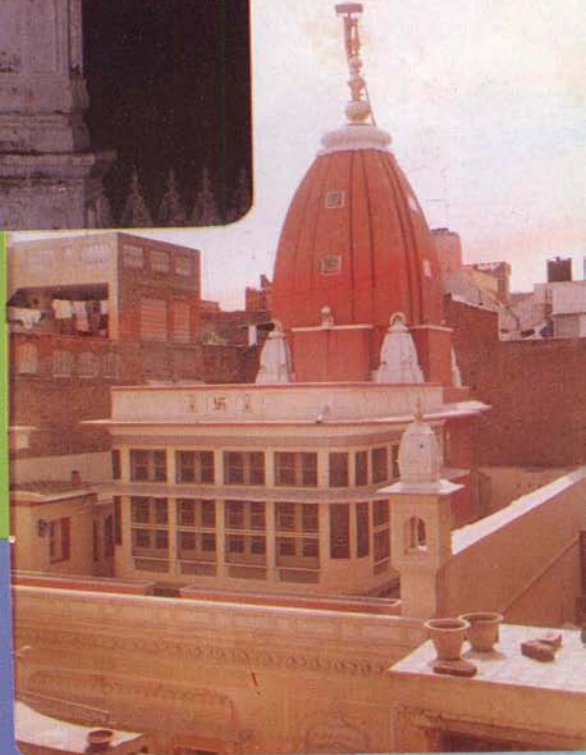
श्री विजयानंद सूरि द्वारा विरचित ग्रन्थ सूची

१	नवतत्त्व	विक्रम सं. १९२४ बिनौली में लिखना प्रारंभ किया और १९२५ में बड़ौत में समाप्त किया ।
२	जैनतत्त्वादर्श १-२	वि. सं. १९३७ में गुजरांवाला में प्रारंभ और १९३८ में होशियारपुर में समाप्त किया ।
३	अज्ञान तिमिर भास्कर	वि. सं. १९३९ अम्बाला में प्रारंभ और १९४२ में खंभात में समाप्त किया ।

श्रीमद् विजयानन्द सूरी महाराज
(आत्मारामजी) के कर कमलो द्वारा
प्रतिष्ठित जैन मन्दिर एवम् प्रतिमाएं



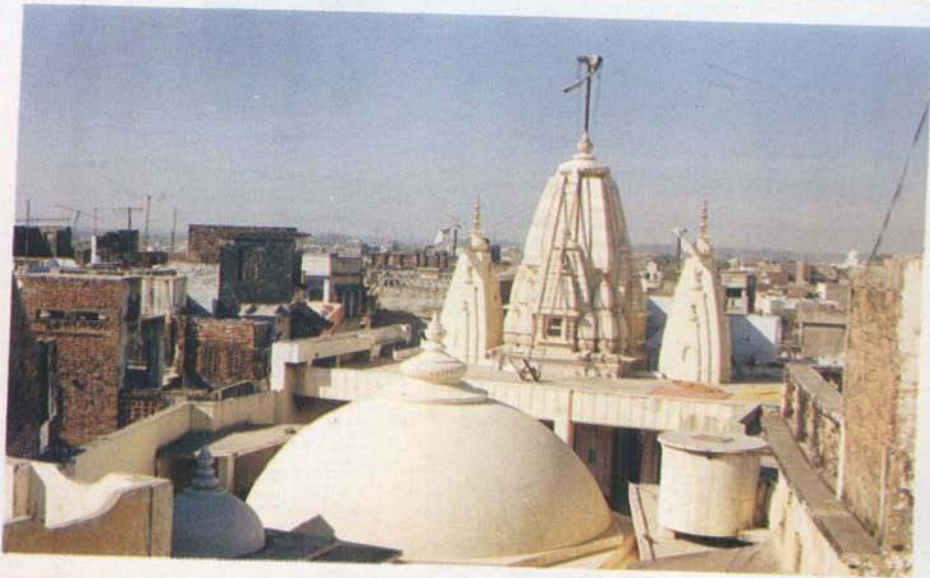
होशियारपुर जैन मन्दिर



अमृतसर जैन मंदिर



जीरा जैन मन्दिर



अम्बाला जैन मन्दिर

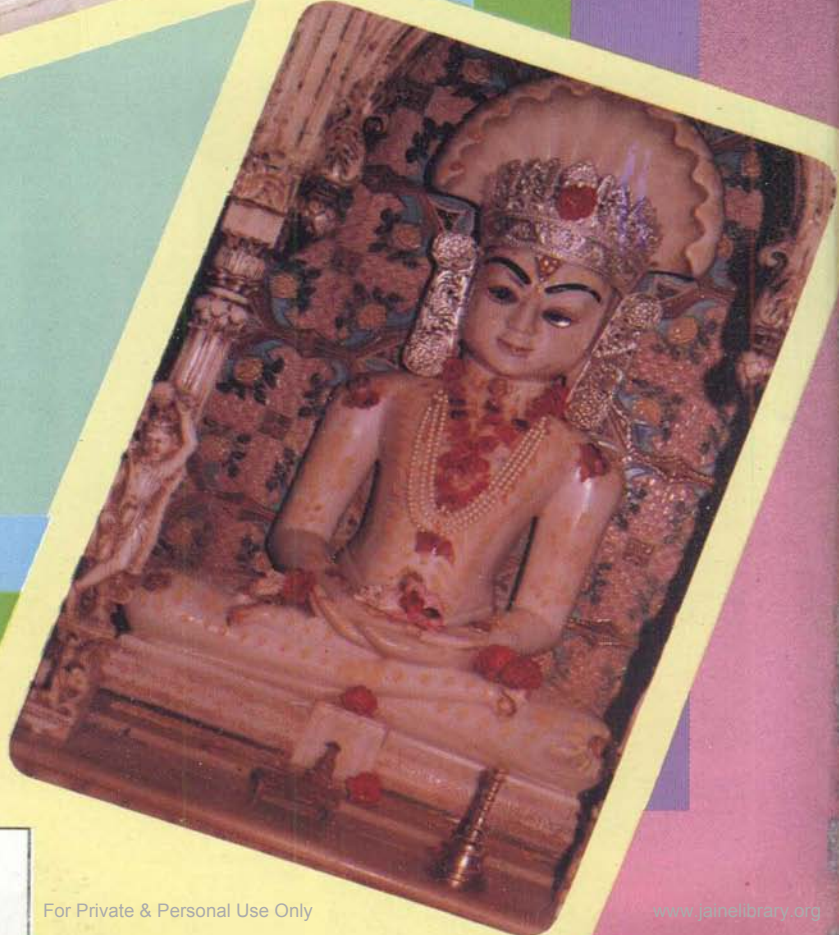
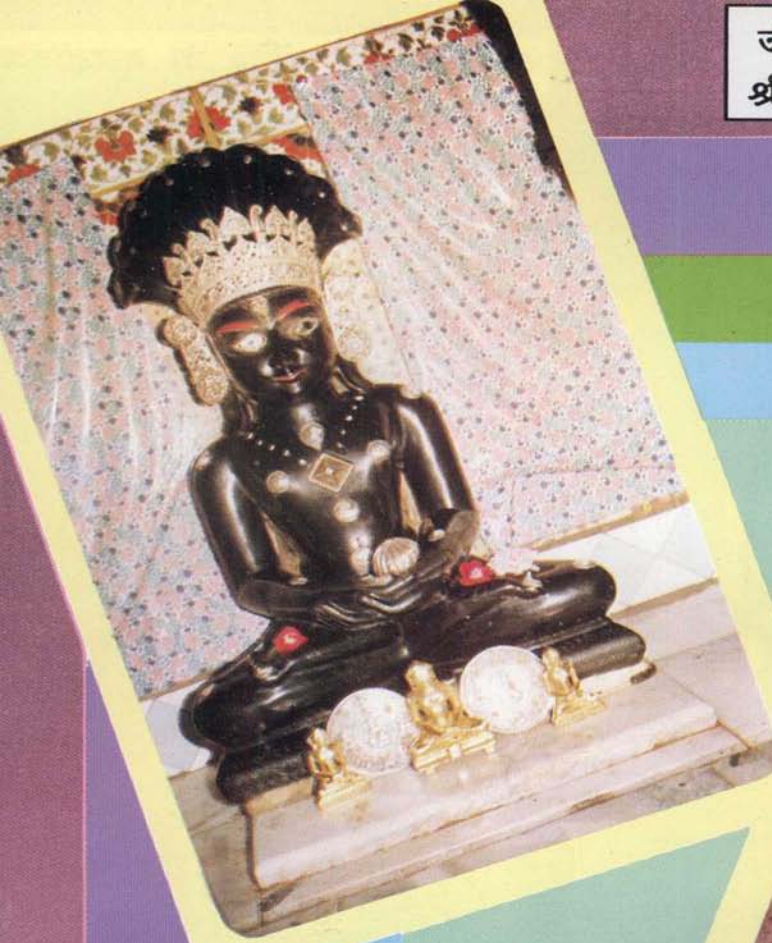
अम्बाला जैन मंदिर के मूलनायक
श्री सुपार्श्वनाथ



अमृतसर जैन मंदिर के मूलनायक
श्री अरनाथ भगवान



जीरा जैन मन्दिर के मूलनायक
श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ भगवान



पट्टी जैन मंदिर के मूलनायक
श्री पार्श्वनाथ भगवान

For Private & Personal Use Only

www.jainelibrary.org

४	सम्यक्त्व सुशल्योद्धार	वि. सं. १९४१ अहमदाबाद में प्रारंभ और वहीं पर समाप्त किया।
५	जैनमत वृक्ष	वि. सं. १९४२ में सूरत में प्रारंभ किया और वहीं समाप्त किया।
६	चतुर्थ स्तुति निर्णय१	वि. सं. १९४४ में राधनपुर में प्रारंभ किया और वहीं पर समाप्त किया।
७	जैन धर्म विषयक प्रश्नोत्तर	वि. सं. १९४५ में पालनपुर में प्रारंभ किया और वहीं पर समाप्त किया।
८	चतुर्थ स्तुति निर्णय-२	वि. सं. १९४८ में पट्टी में प्रारंभ किया और वहीं पर समाप्त किया।
९	चिकागो प्रश्नोत्तर	वि. सं. १९४९ अमृतसर में प्रारंभ किया और १९५१ में वहीं पर समाप्त किया।
१०	तत्त्व निर्णय प्रासाद	वि. सं. १९५१ में जीरा में प्रारंभ किया और १९५३ में गुजरानवाला में समाप्त।

पूजाएं तथा स्तवन

आत्मबावनी	वि. सं. १९२७	बिनौली
स्तवनावली	वि. सं. १९३०	अम्बाला
सत्रहभेदी पूजा	वि. सं. १९३९	अम्बाला
बीस स्थानक पूजा	वि. सं. १९४०	बीकानेर
अष्ट प्रकारी पूजा	वि. सं. १९४३	पालीताणा
नवपद पूजा	वि. सं. १९४८	पट्टी
स्नात्र पूजा	वि. सं. १९५०	जंडियाला गुरु

मंदिर निर्माण एवं प्रतिष्ठाएं

अमृतसर	वि. सं. १९४८	वैशाख सुदि ६	अंजनशलाका प्रतिष्ठा
जीरा	वि. सं. १९४८	मगसर शुदि ११	अंजनशलाका प्रतिष्ठा
होशियारपुर	वि. सं. १९४८	माघ सुदि ५	अंजनशलाका प्रतिष्ठा

पट्टी	वि. सं. १९५१	माघ सुदि १३	अंजनशलाका प्रतिष्ठा
अम्बाला	वि. सं. १९५२	मगसर सुदि पूर्णिमा	प्रतिष्ठा
संखतरा (पाकिस्तान)	वि. सं. १९५३	वैशाख सुदि पूर्णिमा	अंजनशलाका प्रतिष्ठा

श्री विजयानंद सूरि महाराज के साथ स्थानकवासी संप्रदाय का परित्याग कर संवेगी दीक्षा ग्रहण करने वाले उनके शिष्य-प्रशिष्य

श्री आत्मारामजी	मुनि श्री आनंद विजयजी
श्री विश्वचंदजी	मुनि श्री लक्ष्मी विजयजी
श्री चंपालालजी	मुनि श्री कुमुद विजयजी
श्री हुक्मीचंदजी	मुनि श्री रंग विजयजी
श्री सलामत रायजी	मुनि श्री चारित्र विजयजी
श्री हाकिम रायजी	मुनि श्री रत्न विजयजी
श्री खूबचंदजी	मुनि श्री संतोष विजयजी
श्री कन्हैलालजी	मुनि श्री कुशल विजयजी
श्री तुलसीराम जी	मुनि श्री प्रमोद विजयजी
श्री कल्याण चंदजी	मुनि श्री कल्याण विजयजी
श्री निहाल चंदजी	मुनि श्री हर्ष विजयजी
श्री निधानमलजी	मुनि श्री हीर विजयजी
श्री रामलालजी	मुनि श्री कमल विजयजी
श्री धर्मचंदजी	मुनि श्री अमृत विजयजी
श्री प्रभुदयाल जी	मुनि श्री चंद्र विजयजी
श्री रामलालजी	मुनि श्री राम विजयजी
श्री चंदनमलजी	मुनि श्री चंदन विजयजी



श्रीमद् विजयानंदसूरि (आत्मारामजी महाराज) शिष्य परिवार के साथ
पालीताणा सं. १९४२ में

पूज्य श्री के हाथ से दीक्षित शिष्य-प्रशिष्य

१. मुनि श्री हर्षविजयजी
३. मुनि श्री विनय विजयजी
५. मुनि श्री सुमति विजयजी
७. मुनि श्री वीर विजयजी
९. मुनि श्री हंस विजयजी
११. मुनि श्री मोहन विजयजी
१३. मुनि श्री जय विजयजी
१५. मुनि श्री अमर विजयजी
१७. मुनि श्री हेम विजयजी
१९. मुनि श्री कुंवर विजयजी
२१. मुनि श्री माणेक विजयजी
२३. मुनि श्री ज्ञान विजयजी
२५. मुनि श्री लब्धि विजयजी
२७. मुनि श्री मोती विजयजी
२९. मुनि श्री चन्दन विजयजी
३१. मुनि श्री विवेक विजयजी
३३. मुनि श्री लाभ विजयजी
२. मुनि श्री उद्योत विजयजी
४. मुनि श्री कल्याण विजयजी
६. मुनि श्री मोती विजयजी
८. मुनि श्री कांति विजयजी
१०. मुनि श्री शांति विजयजी
१२. मुनि श्री मानक विजयजी
१४. मुनि श्री सुन्दर विजयजी
१६. मुनि श्री अमृत विजयजी
१८. मुनि श्री राज विजयजी
२०. मुनि श्री संपत विजयजी
२२. मुनि श्री वल्लभ विजयजी
२४. मुनि श्री शुभ विजयजी
२६. मुनि श्री मान विजयजी
२८. मुनि श्री चंद्र विजयजी
३०. मुनि श्री राम विजयजी
३२. मुनि श्री कपूर विजयजी

श्री विजयानंद सूरि जीवन विषयक ग्रन्थ

नव युग निर्माता

श्रीमद् विजयानंद सूरि: जीवन और कार्य
क्रांतिकारी जैनाचार्य
आत्म चरित्र (उर्दू)
न्यायाम्भोनिधि विजयानंद सूरिजी (गुजराती)

आचार्य श्रीमद् विजय
वल्लभ सूरिस्वरजी महाराज
मुनि नवीनचन्द्र विजय
श्री बाबूराम जैन
श्री बाबूराम जैन
श्री सुशील

श्रीमद् विजयानंद सूरि: जीवन और कार्य

३०५

पंजाब के महान ज्योतिर्धर न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य श्री विजयानंद सूरि
श्री आत्मानंद जीवन चरित (पद्यमय)
श्री विजयानंदाभ्युदय महाकाव्यम् (संस्कृत)

श्री आत्माराम पंचरंगम काव्यम् (संस्कृत)
श्री विजयानंद सूरि: फाइट फोर टुथ
श्री आत्मानंद जन्म शताब्दी स्मारक ग्रन्थ

श्री विजयानंद सूरि स्वर्गारोहण शताब्दी स्मृति ग्रन्थ

श्री पृथ्वीराज जैन
कवि चन्दूलाल
पंडित श्री हीरालालजी,
जामनगर वाले
श्री नित्यानंद शास्त्री
श्री श्रीपाल जैन, जयपुर
संपादक : श्री मोहनलाल
दलीचंद देसाई
संपादक : मुनि नवीन चन्द्र
विजय
डॉ. श्री रमणलाल ची. शाह,
बम्बई
प्रो. श्रीपाल जैन, जयपुर



श्री विजयानंद सूरि: जीवन प्रसंग

□ मुनि श्री अमेन्द्र विजय

भक्ति का प्रभाव

नीरव रात्रि के तीन पहर बीच चुके थे। चारों ओर शान्ति का साम्राज्य फैला हुआ था। समस्त जगत निद्रालीन था। उस समय एक भक्त कवि का सुरीला स्वर हवा में बह रहा था। चारों ओर का वातावरण संगीतमय बन गया था। वह लय बद्ध मंद सुरीली तानें रात्रि की नीरवता को भंग कर रही थी। उस स्वर में कितनी कोमलता थी, कितना समर्पण था, कितनी भक्ति थी, कितना माधुर्य था। वह स्वर था कवि और भक्त हृदय आचार्य श्री विजयानंद सूरि म. का। उपाश्रय की दीवार से सटा एक मकान था। उस में एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ रहता था। उसने आचार्य श्री का स्वर सुना तो अपूर्व अह्लाद् से भर उठा। वह स्वयं संगीतज्ञ था, स्वयं गाता था शहर में उसका नाम था। पर ऐसा अद्भुत लालित्यपूर्ण राग उसके सुनने में कभी नहीं आया था।

आचार्य श्री विजयानंद सूरि महान कवि थे। उनका हृदय भक्ति और समर्पण से परिपूर्ण था। जब हृदय भक्ति से भर जाता तब अपने आप भाव मुख से प्रस्फुटित होकर भजन का रूप धारण कर लेते थे। उन्हें न शब्द योजना मिलानी पड़ती थी न तुक। जो होता था सहज, उन्होंने न तो संगीत की शिक्षा पाई थी न छंद अलंकारों का अध्ययन किया था। फिर भी उनकी बराबरी कोई संगीतज्ञ नहीं कर पाता था।

कवि प्रतिभा उनमें नैसर्गिक थी। उनके स्तवन-भजन और पूजाओ में अनूठे भाव भरे पड़े हैं। जब चारों ओर नीरवता होती, जब सारा संसार सो जाता तब आचार्य श्री भगवत् भक्ति में

लीन हो जाते, संगीत के स्वर हवा में बहने लगते । आज भी उन्होंने मद्धिम स्वर में कोई जग न जाए इस भांति मधुरता से गाया । वे मद्धिम स्वर उस संगीतज्ञ के कान में पड़े और वह जागृत होकर ध्यान पूर्वक सुनने लगा जैसे जैसे वह सुनता गया, ध्यान लीन होता गया और हृदय एक परमानंदानुभूति से भर गया ।

प्रातः काल हुआ । संगीतज्ञ उपाश्रय में आचार्य श्री विजयानंद सूरि म. के पास आया । चरण छुए और बैठ गया । पूछा-आपने संगीत विद्या कहां से सीखी, मैंने रात को आपके भजन सुने ऐसा राग मैंने पहले कभी सुना नहीं था ।

आचार्य श्री मुस्कराए । उत्तर दिया :- मैं संगीत का क, ख, ग भी नहीं जानता हृदय में जो भाव आते हैं अनायास ही मुख से निकल जाते हैं ।

तब उस संगीतज्ञ की समझ में आया कि हृदय में अगर समर्पण और भक्ति हो तो संगीत स्वयं प्रस्फुटित होता है ।

लूटेरा बना रक्षक

पंजाब की सीमा बहुत पीछे रह गई थी । राजस्थान का रेगिस्तान आ गया था । चारों ओर रेत के टीले दिखाई देते थे । न पेड़ न पौधे न नदी न नाले । आचार्य श्री विजयानंद सूरि म. और उनका मुनि मंडल इस भयानक रेगिस्तान से गुजर रहे थे । रास्ता निर्जन था ।

इतने में दूर से एक काला कलूटा आदिवासी आता दिखाई दिया । उसके हाथ में धनुषबाण थे । भूले-भटके राहगिरों को लूटना उसका मुख्य व्यवसाय था । यही उसकी जीविका का साधन था । वह मुनि मण्डल के करीब आ गया और आते ही उसने चीखते हुए कहा :- जो कुछ हो तुम्हारे पास मुझे दे दो ।

आ. श्री विजयानंद सूरि म. ने समझाया- भाई, हम तो साधु सन्त हैं रूपया गहने हमारे पास कुछ नहीं ।

उस आदिवासी पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा । उसने उतने ही जोर से और रोब से कहा :- तुम कुछ भी हो, लूटना मेरा काम है । इतना कहकर वह धनुष बाण सम्हालने लगा ।

आचार्य श्री विजयानंद सूरि म. ने देखा कि इसके आगे त्याग और अपरिग्रह की बातों का कुछ असर नहीं हो रहा है तो बात बदल कर उतने ही प्यार और स्नेह से फिर समझाया देखो भाई, तुम इस जंगल के राजा हो हम मुसाफिर तो तुम्हारे मेहमान हैं राजा का काम रक्षण करने का है । न कि लूट-खसोट का । अगर तुम हमें तीर से बेध भी डालोगे तो हम कुछ नहीं बोलेंगे । पर तुम

राजा होकर यह काम करोगे तो लोक तुम्हारी निन्दा ही करेंगे ।

आचार्य श्री ने इतने स्नेह और इतनी आत्मीयता से यह बात कही कि वह उस आदिवासी के मन में बैठ गई । उसे आज तक प्रेम से राजा कहने वाला कोई नहीं मिला था उसने स्वयं को सचमुच राजा अनुभव किया । बरबस उसके काले कलूटे मुँह पर मुस्कराहट फैल गई । उसने निकाले गए बाण को तरकस में रखा और धनुष की डोरी ढीली करदी । फिर कहा- हम तुम्हारा राजा है, हम तुम्हारा रक्षण करेगा और रास्ता बताएगा । और उसने मुनि मण्डल को गाँव की सीमा तक पहुँचा दिया ।

सच्चे साधु

आचार्य श्री विजयानंद सूरि म. को स्थानकवासी दीक्षा छोड़कर गुजरात में आए अभी थोड़े ही दिन हुए थे । उन्होंने बुटेराय जी म. का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया था । उस समय शान्तिसागर जी म. का गुजरात में नाम था ।

वे इस बात का प्रचार करते थे कि इस समय सच्ची साधुता कहीं नहीं है । आज कल के साधु सच्चे साधु नहीं है । आचार्य श्री विजयानंद सूरि म. को यह बात अनुचित लगी । उन्होंने अपने गुरु से इस विषय की चर्चा की ।

बुटेराय जी म. जो बहुत ही सरलात्मा थे, कहा :- मैं तुम्हारी तरह पढ़ा लिखा नहीं हूँ अगर तुम आगमों के रहस्यों को जानते हो तो शान्ति सागर जी से चर्चा करो । तुम दोनों की चर्चा के बाद जो निष्कर्ष निकलेगा । उसका निर्णय मैं करूँगा ।

शान्तिसागर जी म. को चर्चा के लिए तैयार किया गया । अहमदाबाद में यह चर्चा होनी निश्चित हुई । तिथि और समय निश्चित हुए । वहाँ स्थानीय विद्वान मुनि एवं श्रावक भी चर्चा में सम्मिलित हुए । दोनों महापुरुष आमने सामने बैठे और चर्चा का सूत्रपात हुआ । विजयानंद सूरि म. ने पहला प्रश्न किया :- आज कोई साधु ही नहीं है यह आप किस आधार पर कहते हैं ।

शान्तिसागर :- स्थानांग सूत्र के आधार पर ।

विजयानंद सूरि :- आपने अन्य कौन-कौन से सूत्रों का अध्ययन किया है ।

शान्तिसागर :- सूत्र तो बहुत कम पढ़े हैं ।

विजयानंद सूरि :- अच्छा, अब यह बताइए कि आपने किस गुरु-या पंडित से अध्ययन किया है ।

शान्तिसागर :- शास्त्री रामचन्द्र दीनानाथ से ।

शास्त्री रामचंद्र दीनानाथ जैन मुनियों को प्राकृत पढ़ाते थे। इन्होंने विजयानंद सूरि म. से अनुयोगद्वार आदि सूत्र पढ़ाने की विनती की थी। पर उसकी इस विनती को अनुचित जानकर अस्वीकार कर दिया था। उन्होंने कहा :- शास्त्री रामचंद्र दीनानाथ को आगम का ज्ञान नहीं के बराबर है। आपने किसी गुरु से अध्ययन ही नहीं किया। सामान्य पंडित आपको आगम क्या पढ़ा सकता है? अगर आप विनय पूर्वक किसी त्यागी गुरु से पढ़ते तो यह परिणाम न आता। स्थानांग सूत्र आदि का ज्ञान केवल अक्षरों के अर्थ रट लेने से नहीं आता। आपने उत्सर्ग और अपवाद मार्ग को समझा नहीं है। सप्तभंगी और नय निक्षेप, विधिसूत्र, उपदेशसूत्र, विवरणसूत्र आदि का आपने गम्भीरता पूर्वक अध्ययन नहीं किया है। पहले आप आगमों का तलस्पर्शी अध्ययन कीजिए उसके बाद आपको वास्तविकता का ज्ञान होगा। जैसा समय है उसके अनुरूप आज भी सच्चे साधु हैं। आज भी साधुता है। विजयानंद सूरि म. की यह बात सुनकर शान्तिसागर जी को कुछ कहते न बना। वे निरूत्तर हो गए।

वशीकरण एक मंत्र है तज दे वचन कठोर

उस समय जैन समाज पर यतियों का बहुत अधिक प्रभाव था। जादू-टोने-टोटके, मन्त्र-तन्त्र में पूरा यति समाज डूबा हुआ था। सच्चे श्रमणों का अभाव सा हो गया था। त्याग, तप, साधना, आराधना पर अंधकार छा गया था। उस समय एक प्रबल प्रतापी सूर्य का उदय हुआ जिससे समग्र भू-मण्डल प्रकाशित हो उठा। वे थे आचार्य विजयानंद सूरि म.। उनके आने से यतियों का प्रभाव घटने लगा। यहाँ तक कि उन्हें रोटी-पानी भी कठिनाई से उपलब्ध होने लगा। स्वभावतः यति समाज उनसे द्वेष करने लगा।

पालीताणा के एक प्रौढ़ यति की भी यही स्थिति हुई। जब आचार्य विजयानंद सूरि म. यहाँ पधारे। सारे लोग उन्हीं के पास दर्शन करने और प्रवचन सुनने के लिए आने लगे। यति जी की रोटी बन्द हो गई। अब वह गली गली और घर घर जाकर विजयानंद सूरि म. की निन्दा करता। उन्हें भरपेट गालियाँ देता। सारा दिन जितनी उनकी बुराई हो सकती वह करता रहता था। विजयानंद सूरि म. यह अच्छी तरह जानते थे।

एक दिन वे अपने मुनि मण्डल सहित भगवान आदिनाथ के दर्शन कर लौट रहे थे। रास्ते में उन्हें यति जी दीख पड़े। इस समय भी वे उसी कार्य में संलग्न थे। आचार्य विजयानंद सूरि म. उनके पास गए और प्रेम से पीठ सहलाते हुए कहा :- यतिजी आप को किसी ने भरमाया है। गालियाँ बकना यति धर्म को शोभा नहीं देता? अगर आप को आहार पानी की कठिनाई हो तो हमें बताइए। हमें अपना ही समझीये।

उनकी यह स्नेहपूर्ण बात सुनकर यति असमंजस में पड़ गये। वे किंकर्तव्य विमूढ से खड़े रहे। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करें। जिसे भरपेट गालियाँ दी। जिनकी बुराई करने में कोई कसर न छोड़ी वही व्यक्ति आज उतने ही स्नेह से कुशल क्षेम पूछ रहा था।

आचार्य श्री विजयानंद सूरि म. की महानता के आगे यति जी का मस्तक झुक गया। उनकी सारी कटुता, मलीनता धुल गई। वे चरणों में गिर पड़े और क्षमायाचना की।

आचार्य श्री विजयानंद सूरि म. ने श्रावकों को उपदेश देकर यति जी के आहार पानी की व्यवस्था करा दी।

निर्ग्रन्थ

जैन साधु का एक नाम निर्ग्रन्थ भी है। इसका अर्थ है, जैन साधु बिना किसी ग्रन्थी के होते हैं। अर्थात् स्वतंत्र। उन्हें दुनिया की कोई ताकत शासित नहीं कर सकती। विजयानंद सूरि म. इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनके जीवन के दो प्रसंग इसके साक्षी हैं।

अनेक आगमों के गहन अध्ययन से उन्हें यह प्रतित हो गया था कि जिन प्रतिमा पूजन शास्त्र सम्मत और मुंह पर पट्टी बाँधना अशास्त्रीय है। अतः इस विषय पर कभी कभी चर्चा चल पड़ती थी। इसी प्रकार की चर्चा चल रही थी कि एक कनिराम नाम के उनके गुरुभाई ने कहा :- लगता है अब आपको अपने गुरु एवं दादा गुरु के वचनों पर श्रद्धा नहीं रही। इस पर विजयानंद सूरि म. ने कहा :- मैं गुरु का बंधा हुआ नहीं हूँ, मुझे तो भगवान महावीर की सच्ची वाणी का प्रचार करना है। मैं सच्चाई या वास्तविकता का त्याग करने के लिए किसी भी परिस्थिति में तैयार नहीं हूँ। संसार की कोई भी शक्ति मुझे जैन धर्म के सत्य विचारों के प्रचार से रोके नहीं सकती।

दूसरा प्रसंग

सूरत का यशस्वी चातुर्मास सम्पन्न कराकर वे बड़ौदा पधारे थे। यहां कुछ दिन रुके। लोगों ने भरपूर लाभ उठाया। एक दिन प्रवचन के अन्त में अपना कार्यक्रम लोगों को बताया और कहा कि कल शाम विहार करके छाणी जाएंगे। उसी दिन शाम को कलकत्ता के एक अग्रणी बाबू बद्रीदास जिन्होंने श्री विजयानंद सूरि म. की विद्वता और प्रवचन प्रभावकता के विषय में बहुत कुछ सुना था। वे उनके चरणों में उपस्थित हुए और विनती की :- आपकी विद्वता के विषय में मैंने बहुत कुछ सुना है अगर कल का दिन आप यहाँ रुके तो हमें भी प्रवचन श्रवण का लाभ मिलेगा।

विजयानंद सूरि म. ने अपना निर्णय सुनाया :- विहार का कार्यक्रम बन गया है अब स्थगित रखना मुश्किल है ।

बाबू बद्रीदास ने बहुत अनुनय-विनय की पर उनकी विनती स्वीकृत न हुई ।

अन्त में दूसरे दिन छाणी जाकर उन्होंने आचार्य श्री का प्रवचन सुना और सुनकर बहुत प्रभावित हुए और कलकत्ता पधारने की आग्रह पूर्ण विनती की ।

बाबू बद्रीदास जी के चले जाने के बाद एक श्रावक ने पूछा आपने इतने करोड़पति सेठ की कल की विनती को स्वीकार क्यों नहीं किया ।

विजयानंद सूरि म. ने उत्तर दिया :- हम किसी श्रीमंत के गुलाम नहीं है ।

साहस

पंजाब के जीरा शहर में दिता नामका एक किशोर रहता था । वह साहसी, निर्भीक, सदाचारी और परोपकारी था । शहर के बाहर एक नदी थी । नदी में काफी पानी था । शहर के किशोरों, नवयुवकों के लिए तैराकी का वह अच्छा साधन था । शहर की महिलाएं किनारे पर बैठकर कपड़े धोती थी ।

प्रातः दस बजे का समय था । दिता को तैरने का बहुत शौक था आज वह दस बजे ही स्नान के लिए पहुँच गया । किनारे पर एक मुस्लिम महिला कपड़े धो रही थी । पास में छोटा बच्चा था । बच्चों को पानी से बड़ा लगाव होता है । वह अपनी धुन में खेल रहा था । माँ का ध्यान कपड़े धोने में था । बच्चे का पाँव फिसला वह गहरे पानी में चला गया । माँ का ध्यान गया तो होश उड़ गए । पानी इतना गहरा था कि जान का खतरा था । माँ चिल्लाई बचाओ-बचाओ, मेरा बच्चा डूब रहा है । और वह छाती पीटती हुई रोने-चिल्लाने लगी ।

दिता ने आवाज सुनी तो उधर दौड़ा बच्चे को देखा । वह अपनी जान की परवाह किये बिना, एक क्षण का विलम्ब किये कूद पड़ा और दूसरे ही क्षण एक हाथ में बच्चा लिए और एक हाथ से तैरते हुए किनारे आ गया ।

माता ने बच्चे को छाती से लगा लिया, और आँसू फोंछते हुए दिता को आशीर्वाद किया- बेटा, तेरी उम्र दराज हो ।

यही दिता भविष्य में महान जैनाचार्य विजयानंद सूरि म. बने ।

होनहार बिरवान के होते चिकने पात

उस समय फिरोजपुर जिले में चारों और लुटरो का उपद्रव बढ़ गया था । दिन दहाड़े लुटेरे

आते और डराकर, धमकाकर मारकर जो कुछ हाथ लगता लेकर चंपत हो जाते ।

एक बार लहरा गाँव में आठ दस लुटेरे आ पहुँचे । पूरे गाँव में भगदड़ मच गई । दिता की माता को भी यह समाचार मिला । वह घबड़ा गई । गणेशचन्द्र कहीं बाहर गए थे । घर में दो ही प्राणी थे । दिता और उसकी माँ रूपादेवी । दिता अभी किशोर था । अकेली अबला क्या कर सकती थी । घर में विशेष सम्पत्ति नहीं थी । फिर भी जो थी उसीसे जीवन चलता था । रूपादेवी को भयभीत देखकर किशोर दिता ने पूछा माँ तू इतनी डर क्यों रही है ।

माँ ने दिता को छाती से लगाते हुए कहा बेटा गाँव में लुटेरे आए हैं ।

दिता :- वे लुटेरे हमारा क्या कर सकते हैं । हमने तो उनका कुछ बिगाड़ा नहीं है ।

माँ :- लुटेरों का काम लूटना है, वे मारते हैं बच्चों को भी नहीं छोड़ते औरतों को भी लूटते हैं इतना कहते कहते रूपादेवी की आँखों में आँसू निकल आए ।

इतना सुनकर दिता खड़ा हो गया । एक कोने में पिता की तलवार पड़ी हुई थी । उसने दौड़कर तलवार उठा ली और तलवार को मुट्ठी में पकड़कर बोला :- माँ तू घबड़ा मत इस तलवार से मैं अपने घर की रक्षा करूँगा । और वह नगी तलवार लिए दरवाजे पर खड़ा हो गया ।

इतने में भागे हुए लोग गाँव में आने लगे । समाचार मिला कि लुटेरे भाग गए हैं । रूपादेवी ने सन्तोष की सांस ली । दिता अभी भी तलवार लिए दरवाजे पर खड़ा था । माँ ने हर्षातिरेक से दिता को गले से लगा लिया ।

यही दिता भविष्य में महान जैनाचार्य विजयानंद सूरि म. बना ।

दूध और माँस में अन्तर

एक ईसाई द्वेषी ने आकर आचार्य श्री विजयानंद सूरि जी म. से कहा :- तुम अपने को अहिंसावादी कहते हो पर तुम लोग प्रतिदिन माँस खाते हो ।

आचार्य श्री ने शान्ति और स्वस्थता के साथ पूछा :- तुम किस दृष्टि से हमें माँसाहारी कहते हो ।

ईसाई :- तुम गाय का दूध पीते हो या नहीं ?

आचार्य श्री :- पीते हैं ।

ईसाई :- गाय के दूध में और गाय के माँस में कोई अन्तर नहीं है । क्योंकि गाय के खून से

ही उसका निर्माण होता है। इसलिए गाय का दूध पीना माँस खाने के बराबर है। तुम अहिंसक नहीं माँसाहारी हो।

आचार्य श्री ने उतनी ही स्वस्थता से प्रतिवाद किया :-

माना कि गाय या भैंस के खून से दूध बनता है। पर उसका मूल रूप परिवर्तन हो जाता है। खून को देखकर घृणा होती है दूध को देखकर नहीं। बच्चा माँ का दूध पीता है। क्या हम उसके विषय में कह सकते हैं कि वह अपनी माँ का खून पीता है, कदापि नहीं।

ईसाई लोग सूअर का माँस खाते हैं जानते हो सूअर क्या खाता है गटर की गन्दगी खाता है। अब हम यह तो नहीं कहेंगे कि ईसाई लोग सूअर नहीं खाते, गटर की गन्दगी खाते हैं, पर ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि गटर की गन्दगी सूअर के माँस के रूप में परिवर्तित हो जाती है। दूध पीने में कोई हिंसा नहीं है। हाँ सूअर के माँस खाने में निश्चित हिंसा और पाप है क्योंकि सूअर को मारे बिना माँस प्राप्त नहीं हो सकता।

आचार्य श्री के उत्तर से ईसाई बहुत प्रभावित हुआ। उसका द्वेष प्रेम के रूप में परिवर्तित हो गया। वह उनके चरणों में गिर पड़ा और अपने कुतर्क के लिए खेद व्यक्त किया।

विजयानंद और दयानंद

आचार्य विजयानंद सूरि म. और दयानंद सरस्वती दोनों समकालीन थे, दोनों अपने अपने समाज में प्रसिद्ध थे, दोनों प्रकाण्ड विद्वान थे और दोनों शास्त्रार्थी भी थे।

राजस्थान के सुप्रसिद्ध नगर जोधपुर में दयानंद सरस्वती के प्रवचनों की धूम मची हुई थी। वे अपनी खण्डनात्मक शैली से सभी दर्शनों का खण्डन करते थे। जैन दर्शन का भी उन्होंने खुलकर खण्डन किया। उस समय जोधपुर महाराजा के मंत्री एक जैन सदगृहस्थ थे। उन्होंने दयानंद से कहा हमारे एक गुरु हैं आचार्य विजयानंद सूरि म. अभी उनका बीकानेर में चातुर्मास हो रहा है। वे महान् विद्वान हैं। आप दोनों एक साथ बैठकर चर्चा करें तो हमें भी कुछ नया जानने के लिए मिलेगा।

दयानंद जी ने उनकी बात स्वीकार कर ली— ठीक है, उन्हें जोधपुर बुला लो मैं चर्चा के लिए तैयार हूँ।

शास्त्रार्थ का दिन निश्चित हुआ आचार्य विजयानंद सूरि म. को जोधपुर आने में अभी बीस दिन शेष थे। इस बीच दयानंद जी ने कहा :- अभी उनके आने में पंद्रह बीस दिन और शेष हैं। तब तक मैं अजमेर हो आता हूँ। वे अजमेर चले गए।

अजमेर में जहर खिलाने से दयानंद सरस्वती का स्वर्गवास हो गया ।

अफसोस ! दो महारथियों का सम्मिलन न हो पाया । न ही शास्त्रार्थ हो पाया । नहीं तो यह चिर स्मरणीय शास्त्रार्थ बन जाता ।

खुदा की भूल

आचार्य विजयानंद सूरि जी. म. मालेरकोटला में विराजमान थे । उनका प्रभाव तेजस्वी सूर्य के समान था । एक मुल्लाजी उनसे चर्चा करने आए । मुल्लाजी अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ मानते थे और हिन्दुओं को काफिर कहकर घृणा करते थे । अनेक विषयों पर चर्चा चली । मुल्लाजी आचार्य श्री के अगाध ज्ञान के आगे टिक न पाए । निरुत्तर हो गए । पर बराबर यह कहते रहे कि हिन्दू काफिर हैं । वह इस्लाम की बराबरी नहीं कर सकता ।

अन्त में आचार्य श्री ने शान्त भाव से पूछा :- मुल्लाजी, उत्तेजित मत होइए । हम काफिर हैं एक क्षण के लिए मान लेते हैं पर एक प्रश्न का उत्तर दो ।

मुल्लाजी पहले तो सकुचाए क्योंकि बहुत से ऐसे प्रश्न पूछे गये थे जिसका उत्तर वे दे न पाए थे । फिर भी हिम्मत कर के कहा दूँगा ।

आचार्य श्री जी :- आप अपने धर्म के अनुसार बताइए कि जिसे आप काफिर कहते हैं उसे बनाने वाला कौन है ?

मुल्लाजी :- इसमें पूछने की क्या बात है । जब सारी कायनात (सृष्टि) को बनाने वाला खुदा है तो हिन्दुओं को भी उसी ने बनाया है ।

आचार्य श्री जी :- अच्छा अब बताइए कि इन हिन्दुओं को खुदा ने क्यों बनाया ? क्या वे जानते नहीं थे कि ये काफिर मेरे खिलाफ चलेंगे ।

इस उत्तर से मुल्लाजी का सारा अभिमान उतर गया । उन्होंने कभी इस दृष्टि से सोचा ही नहीं था । कुछ देर सोचने के बाद मुल्लाजी ने कहा :- आप की बात मुझे ठीक लगती है । आपने मुझे एक नयी जानकारी दी । मेरा सारा गर्व नष्ट हो गया । मैंने बेमतलब आपको तकलीफ दी । मुझे क्षमा करें । मुल्लाजी सलाम कर के चलते बने ।

करुणा

भावनगर, सौराष्ट्र का प्रमुख नगर है यह जैनधर्म का भी प्रमुख केन्द्र रहा है । आचार्य विजयानंद सूरि जी. म. के अनन्य भक्तों का यह नगर है । आचार्य श्री जब गुजरात पधारते थे तो भावनगर अवश्य जाते थे ।

भावनगर समुद्र के किनारे बसा हुआ है ।

भावनगर में आचार्य विजयानंद सूरि विराजमान थे । वे प्रतिदिन शुद्धि के लिए समुद्र के किनारे जाते थे । एक शाम जब वहाँ गए तो समुद्र के कीचड़ में एक गधा फंसा हुआ है और उसके ऊपर भारी वजनदार लकड़ी है । वह गधा निकलने के लिए बहुत प्रयत्न कर रहा था पर भारी लकड़ी को हटा नहीं पा रहा था और बेदम हो रहा था ।

आचार्य श्री ने तीरपनी और डंडा साथी मुनि को थमाया और चोल पट्टे का कच्छ कसकर उस भारी लट्टु को एक ही श्वास से उठाकर किनारे कर दिया । फिर गधे को कीचड़ से निकाल कर जमीन पर लेकर आये । बेदम गधे में चेतना लौट आई ।

भिक्षा क्यों

एक फारसी के विद्वान मुसलमान ने आचार्य श्री विजयानंद सूरि जी म. का प्रवचन सुना । उनकी अस्खलित वाक्धारा, चमत्कारी शैली और अगाध विद्वत्ता से वे अत्यन्त प्रभावित हुए ।

उस मुसलमान विद्वान ने उनकी बहुत प्रशंसा की और आचार्य श्री से एक प्रश्न पूछने की इजाजत चाही । अनुमति मिलने पर प्रश्न किया :- मेरी समझ में नहीं आता कि आप जैसे सबल विद्वान महापंडित और प्रभावशील पुरुष भिक्षा क्यों मांगते हैं, हाँ जो अपंग है, अज्ञानी हैं जिनके पास भीख के सिवा कोई उपाय नहीं है वे अगर भीख माँगते हों तो कुछ समझ में आता है, पर आप किसी की दया या श्रद्धा के ऊपर जीते हैं यह उचित नहीं लगता । अगर आप चाहें तो आराम से परिश्रम करके आजीविका चला सकते हैं ।

आचार्य श्री :- आपकी सूचना ठीक है, पर आप मुझे ऐसा उपाय बताइए कि मैंने जो आत्मकल्याण के लिए व्रत धारण किए हैं वे व्रत कायम रहते हों तो मैं मजदूरी करने के लिए भी तैयार हूँ ।

मुसलमान :- पहले मुझे अपने व्रत बताइए ।

आचार्य श्री :- आचार्य श्री ने पाँच व्रतों को संक्षेप में समझाया । मुसलमान भाई कुछ देर तक सोचते रहे । अन्त में एक बात सूझी :- आप जंगल में जाकर सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी कर बेच सकते हैं ।

आचार्य श्री :- परन्तु बिना पूछे हम लकड़ियाँ चुनेंगे तो हमें अदत्त लगेगा ।

मुसलमान :- आप जंगल के मालिक से अनुमति माँग सकते हैं ।

आचार्य श्री :- फिर माँगने ही की बात आ गई। जंगल के मालिक से अनुमति माँगने की अपेक्षा भीख माँगना क्या बुरा है। यहाँ भी माँगना है वहाँ भी माँगना है। माँगना सभी जगह एक समान है। आगे आचार्य श्री ने अपने भिक्षा की और व्याख्या करते हुए समझाया :- हम अगर कोई कार्य करने लग जाएंगे तो हमने जो आत्म कल्याण के साथ-साथ दूसरों के कल्याण का जो व्रत लिया है वह समाप्त हो जाएगा। वहाँ जीवन अपने तक ही सीमित हो जाएगा। जो अपनी चिन्ता से स्वार्थ से ऊपर नहीं उठा वह दूसरे का क्या कल्याण करेगा। दूसरी बात हम त्याग का उपदेश देते हैं। तो हमारा जीवन भी स्वार्थ से परे त्यागपूर्ण होगा तभी हमारा उपदेश असरकारक हो सकता है। तीसरी बात हम लोगों को उपदेश देते हैं, यथा शक्ति साधना करते हैं यह कार्य तब होता है जब व्यक्ति को आजीविका की चिन्ता नहीं रहती।

आचार्य श्री की भिक्षा की इस सरल सहज व्याख्या से मुसलमान विद्वान प्रभावित हुआ। उन्होंने स्वीकार किया कि जो दूसरों के लिए जीते हैं उनके लिए भिक्षा माँगना कोई बुरी बात नहीं।

प्रत्युत्पन्नमति

एक बार आचार्य विजयानंद सूरि म. और उनके मुनि मण्डल को विंध्याचल की पर्वतमालाओं के बीच होकर गुजरना पड़ा। विंध्याचल चोरों, डाकुओं, लुटेरों, और हत्यारों के लिए प्राचीन काल से ही कुख्यात रहा है। विंध्याचल से गुजरने वाले पथिकों की हत्या कर दी जाती थी या उन्हें लूट लिया जाता था। विजयानंद सूरि म. के सामने भी यही प्रश्न आकर खड़ा हुआ। जाएं तो कैसे जाएं। जीवन बचाने का भय प्रत्येक प्राणी में रहता है। अन्त में निर्भीक होकर उस भयानक वन पथ से जाना निश्चित हुआ।

चारों ओर भयानक जंगल था। बड़े बड़े पहाड़, गहरी खाइयाँ, पथरीला रास्ता। उस निर्जन पथ से वह श्रमण मंडल बढ़ा जा रहा था।

आखिर वही हुआ जिसकी आशंका थी। कुछ दूरी पर तीस-पैंतीस बन्दूक धारी लुटेरे एक छोटे से पहाड़ से उतरते हुए दिखाई पड़े। कुछ समय के बाद वे रास्ते पर आ जाएंगे। अब आगे क्या होगा। वह कल्पनातीन था। किस समय क्या होगा कुछ कहा नहीं जा सकता था। न कोई आश्रय स्थान न कोई सहायक।

विजयानंद सूरि म. ने तुरन्त एक युक्ति सोची। सब साधुओं को निर्देश दिया कि अपना जो काला डंडा है उसे कंधे पर रख लो और पंक्तिबद्ध सैनिकों की चाल में चलो।

विजयानंद सूरि म. सब से आगे चल रहे थे और पीछे लेफ्ट-राइट-लेफ्ट-राइट करता हुआ मुनि मंडल। उन लुटेरों ने उन्हें देखा तो डर गए। सोचने लगे। निश्चित ही वेश परिवर्तन कर हमें पकड़ने के लिए पुलिस यह चाल चल रही है। उन्होंने कंधे पर रखी काली लाठी को भयानक अस्त्र समझा और लेफ्ट-राइट की अदा ने पुलिस होने का प्रमाण दिया। उन्होंने साधु मण्डल को पुलिस मण्डल समझा और जिस रास्ते से आए थे उसी रास्ते से भाग खड़े हुए। और मुनि मंडल सुखपूर्वक अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गया।

कुतर्क

एक स्थानकवासी भाई श्री विजयानंद सूरि म. के पास आया और बैठ गया। सुखशाता पूछने के बाद उसने प्रश्न किया कि महाराज आप ने सम्यक्त्वशल्योद्धार में मन्दिर बनवाने वाले श्रावक को स्वर्ग की प्राप्ति लिखी है। गुरुदेव ने कहा परमात्मा का मन्दिर बनवाना सम्यक्त्व की निर्मलता का कारण है और सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्ग में ही जाता है। पांचवें श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी का वचन है कि, “सम्मदिट्टि जीवो विमाणवज्जेन बंधए। आउं।” इसलिए ऐसे पवित्र काम के करने वाले जीव का स्वर्ग में जाना शास्त्रसिद्ध है।”

प्रश्नकार ने हंस कर पूछा “महाराज मन्दिर के लिये गधा इटें लाता है, उसे बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है, वह भी किसी न किसी देवलोक में जाता ही होगा।”

यह कुतर्क था फिर भी बड़ी शान्ति से गुरुदेव ने उससे कहा कि “भाई, तुम मन्दिर को नहीं मानते और मन्दिरजी के बनवाने में पुण्य भी नहीं मानते, किन्तु साधु को दान देने में तो पुण्य मानते हो।”

प्रश्नकार ने कहा “बेशक साधु को दान देने से मनुष्य को स्वर्ग और मोक्ष मिलता है।”

गुरुदेव ने तर्क किया- एक साधु ने कुछ दिनों तक उपवास किये। पारणे का दिन आया। तुमने साधु महाराज को घर बुलाकर दूध वहोराया। तुम्हें बड़ी खुशी हुई। तुमने बड़ा पुण्य बांधा, तुमको ऊँचा स्वर्ग मिलेगा। मगर दूध देने वाली भैंस को भी तो स्वर्ग मिलना चाहिये।”

जवाब सुनकर प्रश्नकार खामोश हो गया और मनोमन लज्जित भी।

फूलों में जीव

एक बार एक महाशय जो पूरे चलते पुर्जे थे और स्थानकवासी सम्प्रदाय के मानने वाले थे, आचार्य देव के पास उपस्थित हुए। पढ़े लिखे अच्छे थे, किन्तु शास्त्रज्ञान से अधूरे थे।

आते ही प्रश्न किया “महाराज मैं आप से कुछ बहस करना चाहता हूँ, किन्तु वह शास्त्रों के

आधार पर न हो कर केवल तर्क के ही आधार पर होगी ।”

गुरुदेव ने कहा- “ठीक; जैसी तुम्हारी इच्छा ।”

“फूलों में जीव होता है और उन्हें आप मूर्तियों पर चढ़ाने का उपदेश करते हैं । क्या इस में हिंसा नहीं होती ?” उन का पहला ही प्रश्न था ।

“मुझे फूलों के जीव को तो पहिले दिखा दो तब मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूँ ।”

“वाह । इस में क्या बात है ? फूलों में जीव तो होता ही है ।” उन्होंने कहा ।

“इस का प्रमाण क्या है ?” आचार्यदेव ने पूछा ।

“सारे शास्त्रों में लिखा हुआ है सब लोग मानते हैं ।” उन्होंने उत्तर दिया ।

“भाई तुम तो शास्त्रों को मानते ही नहीं हो, फिर किस लिए उनका प्रमाण देते हो ?”
आचार्यदेव ने कहा

वे महाशय लज्जित हुए और उठकर चलते बने ।

इज्जत का बोझ

पटियाला में लाला सीसूमल नाम के एक स्थानकवासी श्रावक रहा करते थे । वे स्थानकवासी पंथ के कट्टर अनुयायी थे और श्री विजयानंद सूरि म. के संवेगी दीक्षा लेने के कारण उनसे बड़े नाराज थे ।

एक बार वे दूसरे शहर में गए और उन्होंने वहाँ कहा “आत्मारामजी सब जगह तो जाते हैं, किन्तु पटियाला में नहीं आते हैं डरके मारे इधर आने का नाम भी नहीं लेते । यदि आ जायँ तो उनकी इज्जत बीच बाजार में उतार लूँ ।”

आचार्यदेव को यह बात मालूम हुई । उन दिनों वे पटियाला के पास ही थे पटियाला विहार के रास्ते में पड़ता भी था, वे पटियाला को ही चल पड़े । उनका प्रवेश हुआ । व्याख्यान भी हुआ, सहस्रों आदमी आए और सब ने एक स्वर से स्तुति की तथा पटियाला पधारने पर अपने को भाग्यशाली समझा ।

बातों ही बातों में सीसूमल का जिक्र आ गया । गुरुदेव ने कहा :- “भाई सीसूमल ने, सुनते हैं, कहा था कि पटियाला में आए कि उनकी इज्जत बीच बाजार में ले लूंगा । मैं ने भी समझा कि व्यर्थ इज्जत का बोझा कहां तक लादे फिरूँ, चलो इतना हलका तो हो जाऊंगा ।”

इस घटना को सुनकर सब ने सीसूमल पर लानत की । सीसूमल ने फिर कभी मुँह तक न दिखाया ।

षड्-दर्शन का मूल

ग्रीष्म ऋतु के आगमन का एक दिन । प्रातः से ही सप्ताश्वारोही भगवान भास्कर अपनी संतप्त किरणें पृथ्वीतल पर बिखरने लगे थे । दोपहर की गर्मी से प्रजाजनों के कंठ सूखने लगे थे और उनका जीना असह्य हो गया था । मारे गर्मी के सब बेचैन हो उठे थे ।

ऐसी परितप्त दोपहरी में मुनियों की एक टोली एक गाँव से दूसरे गाँव में विहार करते हुए पहुँची । उनके पात्र में जल की एक बूँद तक न थी और जो कुछ था, वह खत्म होने की तैयारी पर था । क्षुधा और तृष्णा से सब का बुरा हाल था । यहाँ श्रावकों की बस्ती न थी कि जहाँ से उष्ण जल की प्राप्ति हो सकती थी ।

मुनिवृंद किसी तरह गाँव में पहुँचा । बचा-खुचा जल भी उपयोग में आ चुका था । स्नान के लिए गर्म किया गया, उबाला हुआ पानी कहीं से उपलब्ध हो जाएगा, इस आशा और अपेक्षा से दो-तीन मुनियों ने पूरी बस्ती का चक्कर लगाया । गली-गली और मुहल्ले-मुहल्ले परिभ्रमण किया । परंतु हर स्थान से निराश लौटना पड़ा । साधुवृंद के उपयोग का जल कहीं प्राप्त न हुआ । एकाध पल के लिए सब को ऐसा प्रतीत हुआ कि कदाचित् जल के बिना ही पूरा दिन काटना पड़ेगा । एक तो भरी दोपहरी की असह्य गर्मी तिसपर पंजाब की खुश्क भूमि ! ऐसे में गर्म पानी भला कौन करता !

खैर, जल न मिले, तो न सही । किंतु कहीं छाछ तो मिल जाएगी न ? मुनिवृंद ने जल की आशा छोड़ छाछ की खोज शुरू की । कैसा भी देहात क्यों न हो, छाछ मिलने की संभावना अवश्य होती है । अतः कहीं न कहीं से छाछ अवश्य मिल जाएगी ।

किंतु छाछ की खोज में गए मुनिजनों को हर दरवाजे से निराश लौटना पड़ा । इधर जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया समस्या अधिकाधिक गंभीर होती गई । मुनिवृंद को आज तक ऐसी कठिन परिस्थिति का सामना नहीं करना पड़ा था । कुल मिला कर परिस्थिति अत्यधिक विकट स्वरूप धारण करती चली गई । सभी गहरे सोच में डूब गए ।

ऐसे में एक घर के द्वार पर बैठा एक वयोवृद्ध गृहस्थ दृष्टिगोचर हुआ । उसने मुनिजनों के मुख पर अंकित परिश्रम की व्यथा मन ही मन भाँप ली । उसने उन्हें संबोधित कर विनीत स्वर में कहा: “हे संतजनों ! आप किस कारण व्यथित हैं ? आपको क्या चाहिए, तनिक मुझे भी तो बताइए ।”

प्रत्युत्तर में एक मुनि ने संक्षेप में जैन श्रमण के आचार विधि से उसे अवगत कर, अपनी

कठिनाई से परिचित किया। साथ ही उसे यह बताया कि वे उबाले हुए पानी के सिवाय अन्य पानी को ग्रहण नहीं कर सकते।

“ऐसी तप्त दोपहरी में भी क्या आप सब गर्म पानी ही पीएँगे?”

“गर्म पानी ठंडा कर हम उपयोग में ला सकते हैं और यदि गर्म, उबाला हुआ जल न मिले तो छाछ से भी काम चल सकता है।” मुनि ने अधिक स्पष्टीकरण करते हुए कहा।

“लो भई, हुई न कोई बात! यदि छाछ आपके उपयोग में आ सकती है, तो पहले ही क्यों नहीं बता दिया?” वृद्ध गृहस्थ ने सोत्साह कहा। “अरे, छाछ तो आपको जितनी चाहिए, उतनी मिल सकती है।”

“हम तो घर-घर घूम लिए। लेकिन हमें छाछ कहीं भी नहीं मिली। हर दरवाजे से हमें निराश होकर ही लौटना पड़ा है।”

“कैसी बचकानी बात करते हैं, महाराज! ऐसे भला कहीं छाछ मिल सकती है? उसके लिए तो आपको हीरासिंह नामक एक सज्जन का दरवाजा खटखटाना पड़ेगा। एक तरह से वह इस बस्ती का मुखिया है, उसके यहाँ कई दुधारू गाय-भैंस हैं। उसके यहाँ दूध-घी की नदियाँ बहती हैं। अरे, यहाँ के सभी लोग उसी के घर से छाछ लाकर अपना काम चलाते हैं। ऐसी स्थिति में कोई भला आपको छाछ कैसे दे सकता है? यदि आप उसके यहाँ जाएँगे तो जितनी छाछ चाहिए उतनी आसानी से मिल जाएगी।”

मुनिवृंद हीरासिंह के द्वार पर जा पहुँचे। जैन साधुओं को अपने द्वार पर आए देख, हीरासिंह ने सोत्साह दो कदम आगे बढ़, उनका स्वागत करते हुए उल्लसित स्वर में कहा:

“आइए संतो! आज मेरा घर-आंगन पावन हो गया। कहिए, आपकी क्या सेवा करूँ?”

“बस, हमें थोड़ी छाछ की आवश्यकता है।” भारी प्यास से शुष्क बने कंठ से शब्द प्रस्फुटित हुए।

“महाराज, जितनी चाहिए उतनी दिल खोल कर ले लीजिए औ जितनी चाहिए उतनी पी लीजिए। आपकी कृपा से यहाँ छाछ-दूध की रेलपेल है!” सरदार हीरासिंह ने मानों अचानक अपने द्वार पर आए सत्यात्र को निहार, भाव-विभोर हो, कहा।

मुनिजनों ने अपने पास के पात्रों को छाछ से भर लिया और स्वस्थान लौट गए, जहाँ श्री आत्माराम जी महाराज अन्य साधुओं के साथ ठहरे उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। पड़ाव पर पहुँच,

मुनिजनों ने छाछ संबंधित पूरा वृत्तांत महाराज जी को निवेदन किया ।

जल के स्थान पर छाछ पीकर मुनिवृन्द ने तृप्त हो, संतोष अनुभव किया ।

तत्पश्चात् साथ वे सभी मुनियों को गंभीर स्वर में संबोधित करते हुए आत्माराम जी महाराज ने कहा: “आओ, आज घटित घटना का एक परमार्थ समझाता हूँ । भविष्य में जब कभी प्रस्तुत प्रसंग को लेकर चिंतन- मनन करोगे तो तुम्हें नई दिशा का बोध होगा । मुनिजन भी इस घटना का परमार्थ ज्ञात करने के लिए उत्कंठित हो गए ।

“हर घर में छाछ थी, किंतु तुम्हें देने की किसी में हिम्मत न थी या यों कहिए कि किसी की हिम्मत न चली । जब कि असली छाछ तो केवल सरदार हीरासिंह के ही पास थी । उसने तुम्हें भर पेट छाछ पीने की और साथ में ले जाने की अनुमति दी । उसके पास की छाछ का कोई हिसाब ही नहीं था ।” आत्मारामजी महाराज ने घटित घटना में से परमार्थ का निष्कर्ष निकालने हेतु प्राथमिक प्रस्तावना की ।

कई बार सामान्य सांसारिक प्रसंगों में से उनकी पैनी नजर, तेजस्वी प्रतिभा और चिंतनशील मनोवृत्ति सीधे-सादे सार्वजनिक सिद्धांतों का अन्वेषण करती ।

“बस्ती के सभी लोगों के यहाँ छाछ थी । किंतु वे यह छाछ सरदार हीरासिंह के यहाँ से ले आए थे । अर्थात् उक्त छाछ पर हीरासिंह की मालिकी होने के बावजूद भी अन्य जनों ने अपनी अनुकूलता के अनुसार उसमें कम-ज्यादा पानी मिलाकर उस पर अपनी मालिकी की मुहर लगा दी थी । जब कि हीरासिंह को ऐसा करने की कतई आवश्यकता नहीं थी ।” महाराज जी पदार्थ की व्याख्या करते हुए कहा : “यहाँ हीरासिंह की छाछ को हमें जैन दर्शन की संज्ञा देनी चाहिए । जैन दर्शन के अमुक-अमुक सिद्धांतों को अपनाकर अन्य दर्शनावलंबियों ने अपने-अपने पंथ, संप्रदाय प्रस्थापित कर उसका सर्वत्र प्रचार-प्रसार किया । किंतु यह सनातन सत्य है कि उक्त पंथ, संप्रदाय, ठीक वैसे ही उनके सिद्धांत सब के लिए समान रूप से उपभोग्य सिद्ध नहीं हो सकते । जिस तरह अपने यहाँ छाछ लाकर ग्रामजनों ने अपनी-अपनी सुविधानुसार उसमें पानी मिला दिया, ठीक उसी तरह अन्य दर्शनावलंबी जिनशासन के सिद्धांतों में भी एकांतवाद का पानी मिलाते हैं । क्योंकि ऐसा कुछ किए बिना तो छाछ अधिक समय तक टिक नहीं सकती । हीरासिंह की भाँति जिनशासन प्रणीत विशुद्ध सिद्धांत एकमात्र अक्षय भंडार है । जो जितना चाहे उसने निर्दोष, मिलावट विहीन सिद्धांत उसमें से बिना किसी कठिनाई के अपना सकता है । जिनशासन को कदापि किसी प्रकार का संकोच अथवा हानि नहीं होगी । हीरासिंह की छाछ

जिस घर जाएगी, उसी की कहलाएगी; अलबत् उसकी वास्तविक मालिकी तो हीरासिंह की ही मानी जाएगी। ठीक उसी भाँति जैन दर्शन के सिद्धांत भले ही अन्य दर्शनावलंबियों ने स्वीकर कर लिए हों— अपना लिए हों, उन पर तथाकथित दर्शन की मुहर लग गई हो— फिर भी जो सच्चा तत्त्वचिंतक, दार्शनिक होगा वह निःसकोच यह घोषणा करते तनिक भी नहीं हिचकिचाएगा कि षड्दर्शन यह जिनशासन का मूल अंग है और अन्य दर्शनावलंबियों ने जिनशासन रूपी प्रवाह के ही उक्त जल को बेखटके अपने-अपने पात्र में भर लिया है— संगृहीत कर लिया है। तथापि अपने पात्र का जल कभी भी कम होने अथवा खत्म होने का डर बना रहना सहज स्वाभाविक है। क्योंकि उधार लिया हुआ उक्त जल तुम्हें पर्याप्त मात्रा में संतुष्ट नहीं कर सकता, साथ ही संभव है कि वह उतना निर्मल भी नहीं होगा। जब कि जिनशासन के संबंध में ऐसा कोई डर मन में संजोने की कतई जरूरत नहीं है। जिनशासन प्रायः कहता है : तुम भला बार-बार विभिन्न स्थानों पर क्यों भटकते हो ? उक्त स्वच्छ शुद्ध-विशुद्ध सोने का परित्याग कर— हीरासिंह की असली छाछ को छोड़ कर दर-दर की ठोकें क्यों खाते हो ? अरे, अपने आप में आत्म-विश्वास पैदा कर जिनशासन के सिद्धांत विषयक द्वार खोलो: यह सब संत-महंत और अपने मन में सदा-सर्वदा कल्याण -भावना संजो कर रखने वाले का स्वागत करने के लिए सदैव सन्नद्ध है। जिस तरह हीरासिंह तुम्हारा स्वागत करने के लिए तैयार था, उसी तरह जिनशासन भी प्राणिमात्र के लिए अहर्निश खुला है। मन में आए उतना उसका पान कर लो और चाहो जितना संगृहीत कर लो। वह कभी कम नहीं होगा, ना ही कभी खत्म होगा।”

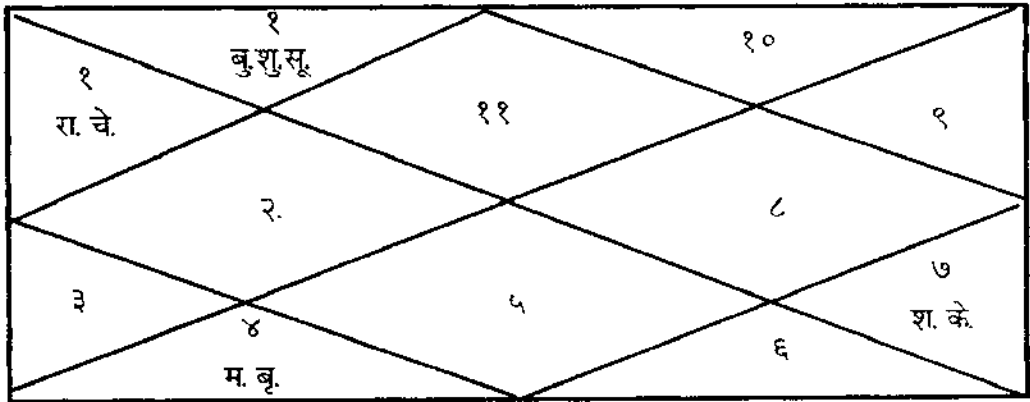


श्रीमद् विजयानंद सूरि महाराज की जन्म कुंडली

□ पंडित जानकी प्रसाद, चामुंडेरी (राजस्थान)

संसार के प्रत्येक महापुरुष की जन्म कुंडली में कुछ न कुछ विशेषताएं अवश्य रहती हैं। प्रसिद्धि, धन, वैभव और सत्ता आदि तो साधारणतः प्रत्येक मनुष्य प्राप्त कर सकता है। परंतु ऐसे व्यक्ति विरले ही होते हैं जो धन, सत्ता और वैभव आदि को तजकर विरक्त भाव से निस्पृह होकर आत्मा के अखंड आनंद में प्रवेश करते हैं।

मनुष्य का वास्तविक मूल्यांकन उसके नश्वर शरीर की उपस्थिति में नहीं हो सकता। शरीर विलय के बाद संसार में उसकी यश-कीर्ति कितनी फैलती है, लोग उसे कितनी श्रद्धा और



आदर के साथ याद करते हैं, उसके जीवन एवं कार्यों से कितनी और कैसी प्रेरणा लेते हैं, उसीसे व्यक्ति की वास्तविक पहचान हो सकती है ।

इस दृष्टि से न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरेश्वरजी (आत्मारामजी) महाराज का यश-शरीर हमारे समक्ष विद्यमान है और हम इसकी कल्पना कर सकते हैं कि वे कितने महान थे ।

श्रीमद् विजयानंद सूरि और आत्मारामजी महाराज के नामों का हम चिंतन करें तो प्रतीत होगा कि महापुरुषों के नामों में भी कितना अर्थ गांभीर्य होता है । विजयानंद का अर्थ है जिसने विजय प्राप्त करली है अर्थात् काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि आन्तरिक शत्रुओं पर जिसने विजय प्राप्त करली है और उस आत्मिक विजय के आनंद में जो डूब गए हैं, आत्म रमणता में जो निमज्जित हो गए हैं, वे विजयानंद और आत्माराम है ।

जन्म कुण्डली पर दृष्टिपात करें तो आत्माराम जी महाराज की मेष राशि तथा कुम्भ लग्न है । ज्योतिष शास्त्रानुसार पुरुष अपने हाथ में दो घट लिये हुए कुम्भ लग्न का प्रतीक माना गया है । दो घटों का अर्थ है धर्म और अधर्म । राम चरित्र मानस में तुलसी दास जी ने लिखा है कि एक बार त्रेता युग में शम्भू कुम्भज ऋषि के समीप गए ।

‘रामकथा मुनिवर्यबखानी, सुनि महेश महा सुखमानी ।’ अतः धर्म और अधर्म के रहस्य से परिपूर्ण कुम्भ राशि सिद्ध होती है । यही कुम्भ राशि आत्माराम जी महाराज का लग्न है । जो शनि की मूल त्रिकोण अर्थात् पवित्र राशि है । शनि सुख दुःख और ज्ञान का कारक माना जाता है । अतः देखा गया है कि कुम्भ लग्न वालों का जीवन प्रायः संघर्ष में ही व्यतीत होता है, परन्तु फिर भी आपत्ति सहन करता हुआ जातक कष्ट से विचलित नहीं होता । वह दृढ़ निश्चयी क्रान्तिदूत होता है, और आत्मा को ज्ञान से परिपूर्ण रखता है और अन्त में अपने मत स्थापित कर विश्व को आश्चर्यमुग्ध करता है । आत्माराम जी महाराज के जीवन पर दृष्टिपात करें तो उपरोक्त बातें सही उतरती है ।

जन्म कुण्डली में स्त्री, आयु और भाग्य पति क्रमशः सूर्य बुद्ध और शुक्र द्विस्वभाव राशि में हैं । ज्योतिष में चर राशि से स्थिर और स्थिर से द्विस्वभाव राशि को अधिक बलवान माना गया है । उपरोक्त ग्रह गुरु की राशि मीन में अवस्थित है तथा उच्चस्थ गुरु अपने ही घर को नवम पूर्ण दृष्टि से देख रहा है । गुरु दीप्त है और दीप्त ग्रह को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है । कहा गया है-

दीप्ते विचरति पुरुषः प्रताप विषमाग्नि दग्ध रिपु वर्गः ।

लक्ष्म्यालिङ्गल देहो गज मद संसिक्त भू पृष्टः ॥

अर्थात्- अपने प्रताप रूपी अग्नि से जातक शत्रु वर्ग को भस्म कर देता है । लक्ष्मी उसका आलिङ्गन करती है और हाथियों के मद से पृथ्वी का ऊपरी भाग भीग जाता है । वास्तव में आत्मारामजी महाराज के सामने धर्म चर्चा में कोई भी नहीं टिक पाता था ।

महाराज साहिब की कुण्डली में गुरु और मंगल छठे स्थान में हैं । कहा जाता है कि छठे घर में शुभ ग्रह शुभ फल प्रदाता नहीं होते । यहां पर गुरु जो शुभ है, उच्च और प्रदीप्त है, अशुभ फल देना चाहिये था परन्तु ऐसा नहीं है । ज्योतिष शास्त्रानुसार शष्ठ स्थान का गुरु शत्रुहंता होता है, अतः शुभ फल ही देता है । इसके अतिरिक्त यह गुरु धन भाव को जो उसका अपना ही घर है, पूर्ण दृष्टि से देखता है और अपने घर को कोई भी ग्रह बिगाड़ता नहीं । और फिर गुरु की दृष्टि में अमृत होता है । इस कारण ऐसा जातक नित्य प्रति यश और कीर्ति का लाभ प्राप्त करने वाला होता है । और फिर सूर्य, बुद्ध और शुक्र, गुरु ग्रह के प्रभाव क्षेत्र में होने के कारण जातक को पंडित, रूपवान, धर्मात्मा, सुशील, बली और यशस्वी बनाते हैं । ऐसा व्यक्ति सत्य भाषी, लोक मान्य, विख्यात, राजा तुल्य और विश्व प्रेमी होता है । यों इस गुरु पर शनि की दशम दृष्टि भी है, जो पापी होती है और जीवन को आधिव्याधि से ग्रसित रखती है पर शनि पर भी नीचस्थ मंगल की चतुर्थ पूर्ण दृष्टि है, जिससे शनि की धृष्टता का नाश होता है ।

महाराज साहिब की कुण्डली में छठे स्थान में नीच मंगल स्थित है परन्तु शुभ ग्रह गुरु के साथ होने से उसका नीचत्व समाप्त हो जाता है । वैसे भी शष्ठ स्थान का मंगल शुभ फलदाता ही माना जाता है । मंगल तृतीय भाव का स्वामी होने के कारण आक्रमेश भी है और तृतीय और छठे भाव में परिवर्तन योग भी है । अर्थात् तृतीयेश छठे भाव में और छठे भाव का स्वामी चंद्र तृतीय भाव में है । दशम भाव का स्वामी भी मंगल है जो कर्माधिपति कहलाता है । कर्म स्थान पर शुभ ग्रह गुरु की पंचम पूर्ण दृष्टि है । अतः ऐसा जातक जो भी कार्य करता है वह धर्म प्रवृत्ति से प्रेरित होता है और उस कार्य में भी मान मर्यादा अनुशासन का समावेश रहता है । ऐसा व्यक्ति जो भी कार्य हाथ में लेता है, उसे पूर्ण करके ही छोड़ता है और अंत में विजय श्री प्राप्त करता है । मंगल की पूर्ण दृष्टि तन अर्थात् प्रथम भाव पर भी है जिससे महाराज साहिब का शरीर बलिष्ठ और लालिमा युक्त रहा ।

षष्ठस्थ मंगल के लिये ज्योतिष में कहा है-

यदा शत्रु स्थाने गत बलि कुजे जन्म समये ।
पलायंते भीता सर्पाद समेत शत्रुनिवहा ॥
विचारज्ञा प्रज्ञा, भवंति न सुखम मातु कुले ।
विलयन्ते चार्या पुनरापि ॥२ ॥

अर्थात्- ऐसे जातक के शत्रु भयाक्रान्त हो, संग्राम से शीघ्र ही भाग जाते हैं। मातृ कुल में कष्ट, संचित धन नष्ट हो जाता है, परन्तु पूर्व धन के नष्ट होने के अनुस्तर अन्य धनों अर्थात् यश विद्या, कीर्ति वैभव आदि की प्राप्ति होती है।

भट्ट नारायण के मतानुसार शत्रु स्थानस्थ मंगल सामर्थ्यशाली, शत्रु नाशक, विचारवान तथा प्रौढावस्था में सुखी और तीव्र पाचन शक्तिदाता होता है। ऐसा मंगल प्रभावक मुख जो शत्रु को क्रोध युक्त दिखाई दे, पर वास्तव में प्रशान्त, मेल जोल बढ़ाने वाला और सज्जनों का साथ देने वाला होता है। ऐसा व्यक्ति जन समूह का मुखिया होता है। षष्ठस्थ मंगल से अग्नि का भय भी होता है और वह मस्तक को राजपद देता है। वृद्धावस्था में ऐसा जातक यकृत रोग तथा संधिवात से पीड़ित हो सकता है परन्तु फिर भी उसमें कार्य शक्ति बनी रहती है।

इस प्रकार धन भाव से लेकर तन भाव तक समस्त ग्रह गुरु और मंगल के प्रभुत्व में हैं। मंगल क्रान्तिकारी अग्नि ग्रह माना गया है और गुरु सात्विक और गुरुता के कारण समस्त ग्रहों में श्रेष्ठ माना गया है। गुरु देवाचार्य भी है। जन्म समय का शुक्र जो दैत्याचार्य कहलाता है, दूसरे भाव में उच्च हो कर स्थित है। विरक्ति और ज्ञान प्रदाता शनि उच्च होकर नवम अर्थात् धर्म भाव में स्थित है। ज्योतिष के नियमानुसार जिस जातक के जन्म समय तीन या चार ग्रह उच्च के हों वह जातक प्रतापी, मंत्री या राजा होता है या राजा जैसा वैभव प्राप्त करता है। इस प्रकार महाराज साहिब की कुण्डली में पूर्ण रूपेण राज योग लागू होता है। यहां यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि राजयोग का अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति राजा होगा, अथवा राजकीय पदवी ग्रहण करेगा। राजयोग का अर्थ होता है—प्रमुखता और प्रभाव जो राजा तुल्य हो।

महाराज साहिब की कुण्डली में केन्द्र अर्थात् प्रथम, चतुर्थ, सप्तम और दशम भाव में कोई भी शुभ अथवा अशुभ ग्रह नहीं। ज्योतिष नियमानुसार साधारणतः केन्द्र और विशेष रूप से दशम भाव में शुभ ग्रह का अवस्थित होना शुभ माना गया है, पर ज्योतिष का एक नियम यह भी

है कि यदि केन्द्र ग्रह रहित हो और समस्त ग्रह उपचय और वर्णक में हों तो भी एक प्रकार का राज योग होता है जो केन्द्र स्थित शुभ ग्रह जैसा ही महत्त्व का होता है महाराज आत्माराम जी की कुण्डली में समस्त ग्रह दूसरे, तीसरे, छठे और नवम् भाव में स्थित है। अतः यह शुभ सूचक है। शुभ ग्रह गुरु और शुक्र जो देवाचार्य और दैत्याचार्य कहलाते हैं, पर्याप्त बलवान हैं। गुरु लाभाधिपति तथा धनपति होने से शुभ भावों का स्वामी है और वाक् पटुता भी देता है। शुक्रसुखाधिपति तथा भाग्याधिपति और कुम्भ लग्न वालों के लिये योग कारक माना जाता है। वह द्वितीय भाव में उच्च का होकर अवस्थित है। नवम अर्थात् भाग्य भाव में उच्च का शनि मित्र क्षेत्री है अतः धीरे धीरे भाग्य की अभिवृद्धि करता है। शनि प्रबल वैराग्य का भी विधाता माना जाता है। भाग्येश शुक्र ने जो उच्च है आत्मारामजी को सदा विजयी और यशस्वी बना रखा।

पाप ग्रह राहु तृतीय स्थान में चन्द्र के साथ है, जिससे ग्रहण योग बनता है जो शुभ नहीं कहा जाता और जीवन में सतत् संघर्ष का द्योतक है। परन्तु ज्योतिष का एक नियम यह भी है कि तृतीय भाव में शत्रु क्षेत्री राहु प्रबल भाग्य वर्धक और शुभफलदाता होता है। केतु जो ज्योतिष में कजवत अर्थात् मंगल समान माना जाता है। शनि के साथ नवम भाव में युति कर रहा है जो मंत्रेश्वर के अनुसार दरिद्र तथा पितृ-सुख हीन करता है। महाराज साहिब का प्रारम्भिक जीवन इस बात की पुष्टि करता है। बाल्य काल में ही उन्हें पिता के स्नेह से वंचित होना पड़ा था।

ज्योतिष शास्त्र की मान्यता है कि कुण्डली में यदि शुभ योग हों तो बालक होनहार होता है। महाराज साहिब की कुण्डली में भी कतिपय बलवान शुभ योग हैं। सर्व प्रथम संख्या योग को लें तो हमें कुण्डली में केदार योग परिलक्षित होता है। जिस कुण्डली में समस्त ग्रह चार भावों में स्थित हों, वहां केदार योग का नाम दिया जाता है। इसके लिये कहा है-

सुवहनामुपयोज्याः कृषिवलाः सत्यवादिनः सुखिन् ।

केदारे सम्भूताश्च स्वभावा धनैयुक्ता ॥

अर्थात्- केदार योग वाला उपकारी, जन्म से कृषि कर्ता, सत्यवादी, सुखी, धनी और प्रबल संचालक होता है।

कुण्डली में दूसरा योग शंख योग है। यदि लग्नेश तथा कर्मेंश दोनों चर राशि में हो और भाग्येश बलवान हो तो शंख योग होता है। महाराज साहिब की कुण्डली में लग्नेश शनि और कर्मेंश मंगल दोनों ही तुला और कर्क (जो चर राशियां हैं) राशियों में स्थित हैं। भाग्येश शुक्र उच्च का हो कर धन भाव में स्थित है और भाग्य स्थान में उच्च का शनि स्थित है। लग्न भी

बलवान है। अतः शंख योग होता है। इस योग वाला जातक धार्मिक कार्यों का भोग करने वाला, दयालु, शिष्यों से युक्त, पुण्य कर्म करने वाला, पण्डित, सज्जन और ७०/८० वर्ष तक जीने वाला हो सकता है।

कुण्डली में पारिजात योग भी है। ज्योतिष नियमानुसार लग्नेश जिस राशि में हो, और उस राशि का स्वामी जिस राशि में हो उस राशि का स्वामी यदि उच्च हो तो पारिजात योग होता है। महाराज साहिब की कुण्डली में लग्नेश शनि शुक्र की तुला राशि में है। और शुक्र गुरु की राशि मीन में और गुरु कर्क राशि में उच्च का होकर अवस्थित है। इस योग में जन्मा-जातक मेधावी, अन्तिम अवस्था में सुखी, राजा से भी वन्दनीय, समयानुसार युद्धप्रिय, वैभव में हाथी घोड़े से युक्त, धर्म कर्म में रत और दयालु होता है।

कुण्डली में गज केशरी योग भी है क्योंकि गुरु चन्द्र परस्पर केन्द्र स्थित हैं। गुरु उच्च है। इसके प्रभाव से जातक वाक् पटु चतुर तथा गुणवान होता है।

इस प्रकार महाराज आत्मारामजी की कुण्डली का अध्ययन उनके जीवन पर प्रकाश डालता है और कुण्डली की सत्यता प्रमाणित करता है।



श्री विजयानंद सूरि एवं चिकागो विश्व धर्म परिषद्

□ मुनि श्री रत्नसेन विजय

ईस्वी सन् १८९३ में विश्व स्तर पर सर्वप्रथम बार अमेरिका के चिकागों शहर में 'सर्व धर्म परिषद्' का आयोजन किया गया था। इस परिषद् में भाग लेने के लिए समूचे विश्व के समस्त धर्मों के प्रतिनधियों को ससम्मान आमंत्रित किया गया था।

स्वामी विवेकानंद ने इस परिषद् में 'वैदिक धर्म' का प्रतिनिधित्व किया था।

इस 'विश्व धर्म परिषद्' में भाग लेने के लिए जैन धर्म के प्रतिनिधि के रूप में 'पूज्य आत्मारामजी म.' को आमंत्रण मिला था।

जैन साधु की आचार-संहिता का पालन करते हुए पू. आत्मारामजी म. का चिकागो की इस परिषद् में भाग लेना संभव नहीं था।

पूज्य आत्मारामजी म. उच्च कोटि के विद्वान व सुविशुद्ध संयम पालक थे।

एक ओर विश्व के रंगमंच पर विश्व के धुरंधर विद्वानों के समक्ष जैन धर्म के शाश्वत सत्यों के प्रस्तुतीकरण का एक सुन्दर अवसर था... तो दूसरी ओर वहां पहुंचने में श्रमण-जीवन की सर्वोच्च मर्यादाओं के उल्लंघन का सवाल सामने खड़ा था।

भूतकाल के इतिहास में जगद्गुरु पू. आ. श्री हीर सूरि जी म. के जीवन में अनेक प्रसंग घटित हुए हैं। 'धर्म-प्रचार' के प्रलोभन में आकर भी उन्होंने कभी भी श्रमण-धर्म की मर्यादाओं

का उल्लंघन नहीं किया था। वास्तव में देखा जाय तो यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि उपदेश से भी आचार पालन की प्रभावकता अधिक है। इस सत्य को ध्यान में रखते हुए जगद्गुरु आ. हीर सूरि जी म. ने अपने संयम जीवन की समुचित मर्यादाओं का पालन करते हुए अपने धर्मोपदेश द्वारा जैन शासन की अद्भुत प्रभावना की थी।

पूज्य आत्मारामजी म. सूक्ष्म प्रज्ञा के धनी थे। अपनी आचार मर्यादाओं को प्रधानता देकर जब उन्होंने 'विश्व धर्म परिषद्' में भाग लेने से इन्कार कर दिया। तब उनकी विद्वता और महानता से प्रभावित होकर परिषद् के अध्यक्ष ने उन्हें जैन धर्म के प्रतिनिधित्व रूप में एक निबंध भिजवाने हेतु और अपने प्रतिनिधि को भिजवाने के लिए आमंत्रण दिया। जब पूज्य आत्मारामजी म. ने इस बात को स्वीकार किया तब परिषद् ने उनका अत्यंत ही आभार मानते हुए जो पत्र लिखा, उससे हमें पूज्य आत्मारामजी म. की विश्व-प्रसिद्धि का आभास हुए बिना न रहेगा।

Chicago, U.S.A.

June 12th 1893

My Dear Sir,

I am desired by the Rer. Barrows to make an immediate acknowledgment of Your Favour of May १३th it is eminently to be derired that there should be present at the Parliament of Religions, a learned representative of the Jain Community.

We are indeed sorry that there is no prospect of having the Muni Atmaramji With us and trust the Community over which he presides will depute some one to represent, If you therefore decide to send a representative, will you kindly cable the fact to me! The paper which learned Muni is preparing, will indeed be very welcome and will be given a place in the programmme in keeping with Chicago are a long distance from you, the name of Muni Atmaramji is frequently alluded to in religious discussions!

I am

very truly yours

William pipe

(Private Secretary)

इस पत्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दुस्तान में रहते हुए भी पूज्य आत्मारामजी म. कितने अधिक लोकप्रिय थे ।

विश्व के सुप्रसिद्ध विद्वानों के बीच जैन धर्म के प्रतिनिधि के रूप में किसे भेजा जाय ? यह जानने के लिए पू. आत्मारामजी म. ने श्रावक संघ पर अपनी नजर दौड़ाई । उस समय श्रावक संघ में जैन धर्म के सूक्ष्म विद्वान श्रावक बहुत ही अल्प थे । आखिर उन्होंने 'वीरचंद राघवजी गांधी' को पसंद किया । वीरचंद भाई उम्र में काफी छोटे थे, फिर भी उनकी सूक्ष्म प्रज्ञा, नम्रता, विशिष्ट वक्तृत्व शैली आदि गुणों से पू. आत्मारामजी म. को काफी संतोष था । पूज्य आत्मारामजी म. ने वीरचंद गांधी को अपने पास रखकर जैन धर्म का गहन अध्ययन कराया । तीव्र मेधा के कारण वीरचंद गांधी ने अल्पावधि में ही जैन धर्म का गहन अध्ययन कर लिया । वीरचंदजी राघवजी गांधी के प्रभावक व्यक्तित्व व वक्तृत्व से पू. आत्मारामजी म. को पूर्ण संतोष था । महान प्रभावक गुरुवर के अंतःकरण की शुभाशीष को प्राप्त कर वीरचंद राघवजी गांधी ने अमेरिका के लिए प्रयाण किया । पूज्य आत्मारामजी म. ने विश्व धर्म परिषद् के लिए 'चिकागो प्रश्नोत्तर' नामक निबंध तैयार किया था, वह निबंध वीरचंद गांधी को दिया था ।

अमेरिका के चिकागो शहर में आयोजित यह 'विश्व धर्म परिषद्' १९ दिन तक चलती रही । वीरचंद गांधी ने अपने प्रभावक वक्तृत्व के द्वारा विश्व के इस मंच पर उन्होंने जैनधर्म का वास्तविक स्वरूप प्रगट किया । उस समय अनेक पत्रों में परिषद् के सामाचार प्रकाशित हुए थे ।

वीरचंद गांधी ने अपने वक्तृत्व के द्वारा लोगों को कितना अधिक प्रभावित किया, उसका पता हमें उस समय प्रकाशित अमेरिकन समाचार पत्र से लगता है-

"A number of distinguished Hindu scholars, philosophers and religious teachers attended and addressed the Parliament, Some of them taking rank with the highest of any race for learning, eloquence and piety. But it is safe to say that no one of the oriental Scholars was listened to with greater interest than the Young layman (Virchand Gandhi) of Jain Community as he

declared the ethics and Philosophy of his People.'

विश्व धर्म परिषद् के बाद अमेरिकन वासियों के अति आग्रह एवं उनकी तत्व जिज्ञासा की पूर्ति के लिए वीरचंद गांधी लगभग दो वर्ष तक अमेरिका में रहे और वहां पर उन्होंने अमेरिका के मुख्य-मुख्य नगरों में जैन धर्म विषयक अनेक प्रवचन कर लोगों को बहुत प्रभावित किया ।

अमेरिका के एक समाचार पत्र ने उनका परिचय इस प्रकार दिया -

'Mr. V.R. Gandhi, B.A. of the University of Bombay, India, is a brilliant lawyer of Unusual attainments and is master of Fourteen languages including English. He is the Honorary Secretary of the Jain Association of India, and enjoys the distinction of being the only gentleman from India. He is a man of Strong personality, Filled with enthusiasm, sincere and earnest in purpose, a man of unflinching moral courage and the Soul of Honour..... he will answer all questions after the lecture that any one from the audience may choose to ask. There cannot be much said in praise of this grand and noble man who daily lives up to the principles of purity which he advocates.'

चिकागो परिषद् के बाद वीरचंद गांधी ने **steinway Hall** में अपना प्रवचन दिया था । लोगों के आग्रह से गांधी ने **Masonic Temple** नामक **Building** की १३ वीं मंजिल पर अपनी **Office** स्थापित की ।

मेनीस्टी शहर में 'युनीटेरियन पंथ के क्रिश्चियन लोगों का सम्मेलन था, वहां पर वीरचंद गांधी ने '**Occultism in India**' विषय पर भाषण किया था । ओशकोश शहर में कॉन्ग्रेगेशनल पंथ के क्रिश्चियन पादरी रेवरंड मी. स्मीथ के आग्रह से वीरचंद गांधी ने 'हिन्दुस्तान का प्राचीन धर्म' विषय पर भाषण दिया था । इस प्रकार रेसीन, ओकपार्क, एवंस्टन, एंगलवुड, रेवीड्ज, चार्लोट, बोस्टन, वाशिंगटन, क्लीवलेड, डीट्रोइट, रोचेस्टर, ग्रांडरेपीड्ज आदि अनेक शहरों में विविध विषयों पर भाषण किए थे ।

उनके भाषणों से प्रभावित होकर अनेक विद्वानों ने तत्कालीन पत्रों में अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त की थीं-

R.A. White of Chicago लिखते हैं-

'I Consider Mr. Gandhi one of the best equipped of many scholarly men who represented the Various religions of India in the recent Parliament of Religions.

Public lecture given by him in My Church was, in my opinion, a most scholarly production, both in matter and form and showed a thorough grasp of oriental philosophy. Mr. Gandhi has a fine command of English tongue, and is altogether a most interesting man in every way.'

Rev. Addison Parker लिखते हैं-

'During the meeting of the parliament of Religions at Chicago, I had the pleasure of listening to Mr. Gandhi's address upon the Jain' of India, and also of a brief personal Conversation with him, He impressed me as one of the brainest and most stirring of the representatives of the far East.

वीरचंद गांधी ने अपनी अमेरिकन यात्रा में जो कुछ सफलताएं हासिल की, उसका संपूर्ण यश पू. आत्मारामजी म. को जाता है। वीरचंद गांधी को भी तैयार करने वाले वे स्वयं ही थे।

लंदन से प्रकाशित **'The World's Parliament of Religions'** के २१ वें पृष्ठ पर पूज्य आत्मारामजी म. का फोटों छपा है। उस फोटों के नीचे उनके व्यक्तित्व के परिचायक निम्न शब्द हैं-

No man has so peculiarly indentified him self with the interests of the Jain Community as Muni Atmaramji. He is one of the noble bards sworn from the day of Initiation to the end of life to work day and night for the high mission they have undertaken. He is the High priest of the Jain community and is recognised as the highest living authority on Jain Religion and literature by Oriental Scholars.

महान पुरुषों का जीवन ही ऐसे पद्-चिन्ह है कि जिन पद्-चिन्हों पर चलकर सामान्य

व्यक्ति भी अपने जीवन को उन्नत बना सकता है । **Longfellow** ने ठीक ही कहा है-

**‘Lives of great men all remind us,
We can make our lives sublime,
And departing leave behind us
Foot prints on the Sand of time.**

आज पूज्य आत्मारामजी म. को इस संसार से विदाई लिए एक सौ वर्ष पूर्ण हुए हैं । इन सौ वर्ष की अवधि में विश्व में बहुत परिवर्तन आया है । फिर भी पूज्य आत्मारामजी म. के प्रभावशाली व्यक्तित्व और अद्भुत कर्तृत्व की सुगंध आज भी जगत् में विद्यमान है । उन्होंने अपने जीवन में जैन शासन की जो सेवाएं की है, उन्हें हम कदापि भूल नहीं सकते ।



पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज : लोक-मंगल के लिए अर्पित जीवन

□ डॉ. जवाहरचन्द्र पट्टनी

विश्व में महान विभूतियां लोक मंगल की ज्योति फैलाने के लिए अवतरित होती है। उनके जीवन का प्रकाश अंधकार को सदा दूर करता है। इस विषय में कविवर लांगफेलों की ये अमर पंक्तियां स्मरण हो आती है।

‘महापुरुषों के जीवन हमें स्मरण दिलाते हैं कि हम भी अपने जीवन को उदात्त बना सकते हैं। वे इस विश्व से विदा होने पर समय के बालूकणों पर अपने चरण अंकित कर देते हैं।’

निश्चय ही पूज्य आत्मारामजी महाराज ने अपने जीवन को लोक-मंगल के लिए अर्पित कर अमरत्व प्राप्त किया।

उन्नीसवीं शताब्दी में जन्में इस महर्षि ने लोकांधकार को अपने ज्ञान प्रकाश से दूर किया। इनकी विद्वता देश-विदेश में फैल चुकी थी। उनकी ज्ञान-गरिम से प्रभावित होकर संस्कृत के महान विद्वान अंग्रेज डॉ. ए. एफ. रूडॉल्फ हार्नल ने अपने संपादित महान ग्रंथ ‘उपासकदशांग’ में कृतज्ञता पूर्वक ये उद्गार प्रकट किए-

दुराग्रह ध्वान्त विभेद भानो । हितोपदेशामृत सिन्धुचित्ते ॥

संदेह सन्दोह निरास कारिन् । जिनोक्त धर्मस्य धुरंधरोसि ॥१ ॥

पूज्य आत्मारामजी महाराज की ख्याति दूर-दिगन्त में फैल चुकी थी। अतः उन्हें ई. सन्

१८९३ में अमेरिका के चिकागो शहर में आयोजित सर्वधर्म परिषद् में पधारने का आमंत्रण मिला। परंतु वे जैन धर्म के अहिंसा-सिद्धान्त के अनुसार नौका-विहार कर विदेश पहुंचने में असमर्थ थे। उन्होंने बैरिस्टर वीरचन्द्र राघवजी को जैन दर्शन के निबन्ध के साथ चिकागो भेजा। यद्यपि वे सर्व धर्म परिषद् में नहीं जा सके; परन्तु वहां पर उनका विशाल रम्य चित्र रखा गया तथा उसके नीचे यह प्रशस्ति आलेखित की गई 'मुनि आत्मारामजी ने जैन समाज के हितों का जितना ध्यान रखा है, ऐसा किसी ने नहीं रखा। ये महामुनि दिनरात जैन दर्शन के अहिंसा और अनेकान्तवाद को जगत में फैलाकर सबको मैत्री और प्रेम सूत्र में आबद्ध करना चाहते हैं। जगत का कल्याण जैन दर्शन का मर्म है और ये महामुनि अपने इस परम पावन मिशन को अहोनिशि जगत में फैल रहे हैं। ये महाशय जैन दर्शन और भारतीय दर्शन के प्रख्यात विद्वान हैं। (चिकागो स्मारिका से उद्धृत)

पंडित श्री सुखलालजी ने उनकी प्रशस्ति में कहा है: 'श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय के बाद श्रुताभ्यास प्रायः बंद हो गया था। पूज्य आत्मारामजी महाराज ने श्रुताभ्यास का स्थान सम्हाल लिया। उन्होंने बहुश्रुतता की भागीरथी प्रवाहित की। ये महर्षि संप्रदाय से ऊपर उठकर लोकमंगल के लिए सदा समर्पित रहे।'

श्री सुशील 'न्यायाम्भोनिधि श्री विजयानंद सूरि' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज ने शुद्ध कंचन के समान जैन संघ को सुशोभित किया। इस संबंध में वे उनके बाल्य जीवन के एक प्रसंग का उल्लेख करते हैं।

'आत्मारामजी महाराज बाल्यावस्था में थे। रात्रि के समय वे अपने मातुश्री के पास शान्त मुद्रा में सोए हुए थे। माता भी निद्रालीन थी। इतने में एक चोर घर में घुसा। आत्मारामजी के हाथ-पांव में सोने के कड़े थे। चोर की नजर स्वर्ण आभूषणों पर पड़ी। उसने कड़े चुराने का चुपचाप प्रयास किया। इतने में मातुश्री जाग गई। उसने आनन-फानन में चोर को पकड़ लिया। चोर ने छुटने का अथक प्रयास किया; परंतु सब विफल। अन्त में उसने माफी मांगी और फिर भाग गया।'

सारांश यह है कि माता रूपादेवी एवं पिता गणेशचन्द्र के जुझारूपन ने पुत्र आत्मारामजी को दिव्यता, साहसिकता एवं क्रांतिकारिता से विभूषित कर दिया। जैन समाज तो क्या विश्व ऐसे महापुरुष से शुद्ध कंचन के समान सुशोभित हुआ है।

पूज्य मुनि भूषण श्रीमद् वल्लभदत्त विजयजी ने 'बिखरे मोती' पुस्तक में उनकी प्रशस्ति

में लिखा है-

सच्चे बादशाह के दरबार में- 'मैं जीरा पहुंचा । पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज की जन्मभूमि के दर्शन की तीव्र ललक थी । जीरा से मैं लहरा पहुंचा, जहां श्रीसंघ ने गुरुमंदिर का निर्माण करवाया है । साध्वी श्रीमृगावतीजी की प्रेरणा से कीर्तिस्तम्भ का निर्माण हुआ है । मैंने जब गुरुदेव के दर्शन किए तो मुझे जो आनंदानुभूति हुई वह अवर्णनीय है । मन में हर्ष समा नहीं रहा था । नयन पुलकित थे । वाणी रोमांचित थी । आनंद की अमृतधारा से मैं भीग रहा था । मुझे ऐसा लगा मानो अक्षयनिधि मिल गई हो ।

मैंने वहां के लोगों से इस महात्मा के बारे में पूछा । एक सरदारजी ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक बताया- महाराजजी ! ये सच्चे बादशाह थे । मेरे दादाजी कहा करते थे कि ये महात्मा बड़े चमत्कारी थे । वे कहते थे कि जब ये बाबा आठ-दस वर्ष के बालक थे, तब एक ज्योतिषी ने कहा था कि यह बालक वजीर होगा या महान संत जिसे सब पूजेंगे । जो इस बाबा की मनौती मन से करता है उसका बेड़ा पार हो जाता है । उसकी सारी मुरादे पूरी होती है ।

सरदारजी ने उनके चमत्कार की एक बात सुनाई । एक सोलह वर्षीय लड़के ने उन्हें चढ़ाए हुए लड्डू चुरा लिए । उस लड़के के अंग सूज गए और वह भयंकर पीड़ा से छटपटाने लगा । जब उसकी माता ने उससे पूछा कि तुमने कोई गड़बड़ तो नहीं की । तो उसने कहा- मैं उस बाबा के मंदिर से लड्डू चुरा कर लाया हूं । इस पर माता ने उसे कहा- 'क्षमा मांग और मनौती कर कि चार लड्डू चढ़ाऊंगा । मुझ पर कृपा करो, अब मैं कभी चोरी नहीं करूंगा । हे दीनदयालु, मुझ पर कृपा करो । ऐसी विनती से वह लड़का तुरंत चंगा हो गया । इस महात्मा के लिए ऐसी कितनी ही चमत्कारपूर्ण बातें वहां के लोगों में प्रचलित हैं । वे उन्हें सच्चे बादशाह कहते हैं ।

महान साहित्यकार के रूप में पूज्य आत्मारामजी महाराज की तुलना किससे की जाय ? वे तो अतुलनीय एवं अप्रतिम साहित्य मनीषी थे, उनका एक-एक शब्द ज्ञान-प्रकाश से प्रकाशमान था । उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में साहित्य सृजन किया । उनका गद्य साहित्य दर्शन की विभूति से सुसम्पन्न है । गद्य ग्रन्थों में 'नव तत्त्व' 'जैन तत्त्वादर्श' 'अज्ञान तिमिर भास्कर' 'सम्यक्त्वशाल्योद्धार', 'जैन मत वृक्ष', 'चतुर्थ स्तुति निर्णय', 'ईसाई मत समीक्षा' आदि पद्य में उनका साहित्य भक्तिरसामृत से भीगा हुआ है । पद्य में आत्मबावनी, स्तवनावली, सत्तरभेदी पूजा, बीस स्थानक पूजा, अष्ट प्रकारी पूजा, नवपद पूजा, स्नात्र पूजा आदि है ।

उनका काव्य निर्मल गंगधारा के समान परम पावन एवं लोकमंगल से परिपूर्ण है ।

गुरुदेव रचित 'अष्टप्रकारी पूजा' में दीपक पूजा कि एक करुणारस से युक्त बानगी निहारिए:

'करुणारस से धरी शुभ फानस,
मरत न जेम पतंग ।
जगमग ज्योति सुन्दर दीपे,
अनुभव दीप अभंग ॥

दीपक को करुणारस के घृत से भरो । इसे इस प्रकार प्रज्वलित कीजिए कि एक कीट-पतंग जलने न पावें । यहां पर यह उल्लेखनीय है कि जैन धर्म के प्रत्येक भक्ति कार्यक्रम में जीवदया का पूर्ण परिपालन आवश्यक है ।

प्रभु भक्ति से सब प्रकार के आनंद प्राप्त होते हैं । सत्तर भेदी पूजा में इसका एक छन्द कितना सरस है:

आतम आनंद, तुम चरण बंद ।
सब करत फंद, भयो शिशिर चंद ॥
जिन पठित छंद, ध्वज पूजन कीनो ॥

पद्य की सरलता मन भावनी है । अनुप्रास, रूपक आदि अलंकारों से काव्य मनोहर बन गया है ।

पूज्य श्री ने आत्माबावनी में अध्यात्म की रसवंती गंग-धार प्रवाहित की है । भाषा शैली भावानुकूल एवं रससिक्त है । एक बानगी प्रस्तुत है:

"आतम अखंड भूप करतो अनंत रूप
तीन लोक नाथ हो के दीन क्यो फीरत है ।"
हे जीव ! तू आत्म-भूप अखंड है, फिर दीन-हीन क्यो फिरता है ?

भाषा की सरलता दर्शनीय है । कवि रूप में उन्होंने जो भक्तिरस की गंगा प्रवाहित की है, उसमें भीग कर कौन आह्लादित नहीं होगा ।

अपने गुरुदेव की प्रशस्ति में श्री गुरु वल्लभ ने ' जैनाचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरि चरित्र ' ढाल पांचवीं में दो काव्यमय उद्गार प्रकट किए हैं ।

‘समकित महल मनोहर, संतोष सिंहासन सार रे’
 संयम शियल रथ जानिए, शम दम सुभट परिवार रे’
 तृष्णा तरुणी दूर टारी, विरति रानी नार रे’
 युवराज कुमार संवेग है, विवेक मंत्रीधार रे’
 बैठे तहां गुरु राज आतम, मुद्रा मुनि सुखकार रे’
 चामर धम-शुक्ल दोऊ, जस कीर्ति छत्र अपार रे ॥’

गुरुदेव की विराटता, लोक मांगल्य, ज्ञान-गरिमा का रूपक अलंकार द्वारा गुरु वल्लभ ने शोभनीय वर्णन किया है ।

जैन जगत ही नहीं, समस्त जगत ऐसे विराट महर्षि को पाकर ज्योतित हुआ । उन्होंने अपने पट्टालंकार गुरु वल्लभ की आत्म-ज्योति प्रज्वलित कर जगत को अनुपम उपहार भेंट दिया । जग वल्लभ गुरुवर ने अपने गुरुदेव के मिशन को आगे बढ़ाया । सरस्वती मंदिरों की स्थापना, मानव-संस्कृति केन्द्र जिनालयों का निर्माण एवं जीर्णोद्धार, ग्रन्थ भंडारों का उद्धार तो गुरु वल्लभ ने अपने गुरुदेव के आदेश से किया ही इसके साथ अपने भक्ति काव्य से इस भौतिक युग में भक्ति की भागीरथी प्रवाहित कर जनता-जनार्दन को आत्म-सुख की ओर उन्मुख किया । परोपकार, सेवा भावना, दान, शील, तप आदि की भाव उर्मियों को जनता में उद्देलित की फलस्वरूप मानव स्वार्थ को छोड़कर निस्वार्थ की ओर मुड़ गया ।

अन्त में मैं न्यायाम्भोनिधि गुरुदेव के समग्र व्यक्तित्व पर एक शब्दचित्र ‘हरि गीतिका’ छन्द में प्रस्तुत कर इस महर्षि के चरण कमलों में अपने जीवन को कलापुष्प के समान समर्पित करता हूँ ।

गुरु-प्रशस्ति

(हरिगीतिका छन्द)

श्रीमद् विजयानंद सूरिजी,
 लोक के कल्याण थे ।
 श्री क्षीरसागर तुल्य करुणा,
 आर्त के निर्वाण थे ।
 क्रान्तिदर्शी भविष्यदृष्टा,

पूज्य आत्माराम थे ।
कविकुल भूषण मंगल सुष्टा,
सौम्य परमानंद थे ॥१ ॥

पीकर प्रेम पीयूष जिनका,
कल्पतरू-वल्लभ तरे ।
अमृतभरी वीतराग वाणी,
अधर से जिनके झरे ।
अम्भोनिधि थे न्याय के जो,
त्यागमय जीवन धरे ।
श्रद्धा निवेदित काव्य-वीणा,
चरणों में नितरस भरे ॥२ ॥



श्री विजयानंद सूरि : कवि रूप में

□ प्रो. रामकुमार जैन

काव्य हृदय का प्राकृत स्पन्दन है। वह स्पन्दन प्रकृति द्वारा या पूर्व संचित सुकर्मों द्वारा जिस भावरसज्ञ व्यक्ति को जितना अधिक प्राप्त होता है, उस व्यक्ति को काव्य प्रतिभा उतनी ही अधिक मात्रा में प्राप्त होती है। प्रतिभा केवल उत्कृष्ट बुद्धि ही नहीं है, अपितु प्राचीन प्रतिपादित वस्तु-परिख्यान में भी जो नवीनता के दर्शन करादे, वह प्रख्यापनीय प्रतिभा है। इसलिए तो 'काव्य प्रकाश' में कहा गया है 'नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिर्प्रतिभा'।

पूर्व कवियों ने क्या कुछ नहीं कहा है? भौतिक जगत का या आध्यात्मिक जगत का कौन सा कोना उनकी प्रतिभा-दृष्टि से अनिरीक्षित रहा है? परंतु जैसे वृक्ष प्रत्येक वर्ष पतझड़ में अपने पुराने पत्ते गिरा देते हैं और फिर वसंत में नवीन पत्र धारण करते हैं। इसी प्रकार सहज कवि प्राचीन वर्णनों में नवीन कल्पना, शब्द शक्ति, नवस्पन्दन का रस संचारित कर कविता को नवीन अभिरामता से सम्पन्न कर देते हैं। नैसर्गिक कवि चेतन को अचेतन और अचेतन को चेतन का रूप प्रदान कर - कविरेक प्रजापति: का पद प्राप्त कर लेते हैं।

गुरुराज विजयानंद सूरिश्वर का नाम ही स्वयं कविता का आनंद प्राप्त कराता है। न्यायाम्भोनिधि श्री विजयानंद सूरिश्वर का स्वनामधन्य ही अनुप्रास अलंकार और माधुर्यगुण से सुरम्यता प्राप्त कर मन-मयूर को नर्तन करने पर विवश कर देता है। उनके काव्यत्व पर प्रकाश डालने के लिए तो एक महानिबन्ध की आवश्यकता है। इस संक्षिप्त निबंध में तो केवल पीयूष के दो घूंट ही पान किए जाते हैं।

गुरुराज शत्रुंजय अक्षय तीर्थ पर महिमामय प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के दर्शन

करते हैं और उनके मुख कमल से कविता प्रस्फुटित हो उठती है। मानो हिमालय से गंगा की निर्झर धारा उद्भाषित हो गई हो-

*‘हम तो पार भये अब साधो ! श्री सिद्धाचल दरश करी रे ।
आतमराम अनघपद पामी... ॥१ ॥*

उपर्युक्त स्तवन में ‘साधो’ सम्बोधन कितना प्रभावोत्पादक है? वाह रे साधो ! इस शब्द का अर्थ है-

तुम आत्मा के विशुद्ध रूप के प्रतिपादक, साधना के प्रतिपादक और पुण्यशाली भव्यत्माओं को उद्बोधन देने वाले हो।

गुरुराज द्वारा रचित बारह भावनाओं के छन्द, रस, अलंकार, गुण, वृत्ति, भाव प्रवणता में तो अतिशय प्रवीण है ही साथ में काव्याचार्यों में पद्माकर, चिन्तामणि की साम्यता उनका काव्य करता है। भावभेद यही है कि गुरुराज भक्ति और वैराग्य के कवि है। और ऐसा क्यों न हो? आखिर आत्मा का असली और चरम आराम तो आत्माराम में ही है। अक्षय, अमर, अनघपद तो आत्माराम की दसा में ही मिलेगा। तभी तो गुरुराज ने भक्ति स्वर का प्रस्तार किया था कि-

*आत्मानंदी प्रथम जिनेश्वर,
तेरे चरण शरण रहिए ।
सिद्धाचल राजा, सरे सब काजा,
आनंद रस पी रहिए ॥१ ॥*

कविता के शब्द भौतिक वातावरण से निकाल कर आत्मा को आध्यात्मिक जगत में प्रवेश करा देते हैं।

गुरुराज ने जब पंचमस्वर में पुकारा कि

*“मिटगई रे अनादि पीर,
चिदानंद जागो तो सही ॥१ ॥*

इस पंच स्वर को सुनकर कोयल-शरमा गई, पीपहे का हृदय पिघल गया, नारद की वीणा झंकृत हो गई। सबने समवेत स्वर में गाना शुरू कर दिया-

*श्री अर्हन् स्वामी मेरा, छिन्न नाहिं भूलाना रे ।
तुम पूजो भवी मनरंगे, भवभय ही मिटाना रे ॥१ ॥*

इस स्तुति में 'मेरा' शब्द कितना आत्मीय है? भगवान-भक्त का तादात्म्य आत्मा को आनंद लोक में पहुंचा देता है।

गुरुराज की कविता का नाद सौन्दर्य देखिए-

'कुमति कुवास निरासनी, बासिनी चिदघन रुपे ।
मासिनी अमर अनघपद नाशिनी भवजल कूप ॥१ ॥

कहां तक कहूं? इस मिश्री का तो कण-कण मीठा है। इस अंगूर का तो कण-कण रसीला है। इस चंदन में तो प्रत्येक कण शीतल है। इस काव्यचन्द्र में तो पूर्ण पीयूष भरा हुआ है।



समर्पित शासन सेवक

□ आशीष कुमार जैन, जयपुर

जिस समय स्याद्वाद का ध्वज गिरा जा रहा था, 'प्रधानां सर्व धमार्णा' के रूप में सुप्रतिष्ठित जिन धर्म की प्रधानता एवं ऐतिहासिकता को चुनौती दी जा रही थी, विशेषतः पंजाब में उत्सूत्रवादी आगममान्य मूर्तिपूजा का जोरदार प्रतिषेध कर रहे थे, उस विकट समय में एक ऐसे लब्ध प्रतिष्ठ कर्मयोगी का अवतरण हुआ जिसने अज्ञान एवं रुढ़िवाद के अंधकार को विदीर्ण कर अपनी उच्चारित्रता, गहन अध्ययन एवं सत्यान्वेषण के बल पर 'जैन जयति शासनम्' का जयघोष आर्यभूमि पर ही नहीं वरन् सात समुद्र पार अमेरिका तक गुञ्जायमान करने में सफलता प्राप्त की।

पंजाब अपने पराक्रमी युगोत्तम महापुरुषों के लिए इतिहास में गौरवशाली रहा है। देश, धर्म हित बलिदान को उद्यत रहने वाली यहाँ की प्रजा को सरलता, सहजता, स्वाभिमानता, निश्चलता, वीरता, श्रमशीलता, सुगठित देहयष्टि और अतिथि सत्कार की भावना प्रकृतिदत्त वरदान के रूप में प्राप्त है। शिशुवय में दिता देवीदास के नाम से सम्बोधित नरकेसरी न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्री विजयानंद सूरेश्वरजी महाराज भी इसी पुण्यधरा के दैदीप्यमान सूर्य थे, जिनकी गुणगरिमा को शब्दों में निरूपित करने की यह वालचेष्टा है।

मन ही में वैरागी 'दिता'

तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों वश माता-पिता से विछोह तथा धार्मिक वृत्तिवन्त संरक्षक श्री जोधेशाह एवं स्थानकमार्गी साधुओं के प्रायः सम्पर्क रूप निमित्त से गत जन्मों के

वैराग्यवासित संस्कार उदय में आए परिणामतः अतिशय सौन्दर्य मंडित देह सौष्ठव के धनी 'दिता' चढ़ती जवानी में संयम पथ के राही बन गए। साधु जीवन का नाम मिला मुनि आत्माराम।

पवन का प्रसार और गगन का विस्तार कभी छुपा नहीं रहता। एक अविद्या प्रदान समुदाय में होते हुए भी तीक्ष्ण मेधा एवं तीव्र स्मरणशक्ति के स्वामी मुनिश्री की अदम्य ज्ञान पिपासा जागृत हो चुकी थी। तीन-२ सौ श्लोक प्रतिदिन कण्ठस्थ करते-करते मुनिश्री दूढक पंथ में श्री भद्रबाहु स्वामी के तुल्य विद्वान गिने जाते थे। ग्रामानुग्राम विचरण कर मुनिचर्या का पालन करते-करते मुनिश्री का चातुर्मास अकबर प्रतिबोधक जगद्गुरु हीर सूरेश्वर जी महाराज की कर्मस्थली आगरा में हुआ। यहां विराजित सन्त रत्न मुनि रत्नचन्द्र के पुण्य समागम से मुनिश्री को जैनागमों के विशिष्ट अभ्यास के साथ पंचांगी में स्फुट हुए अर्थों को यथार्थ रूप में समझने का अवसर मिला जिससे उनके जीवन में एक ऐतिहासिक मोड़ आया।

सत्यमार्ग शोधन हित चाल्यो निर्भय आत्माराम

सिंहनी का दूध शुद्ध स्वर्ण पात्र में ही टिक सकता है। आगमों के विशिष्ट अभ्यास से मुनिश्री को यह निश्चित हो चुका था कि मैंने जो पंथ अपनाया है उसका आचार-विचार पूर्णतः शास्त्र बाह्य है। अपने गुरु एवं प्रमुख दूढक साधुओं से आपने इस विषय का शंका निवारण चाहा, परन्तु समाधान तो दूर प्रत्युत्तर में समुदाय बाहर, आहार-पानी बंद की धमकियां मिली।

जिनकी नस-नस में पिता गणेशचन्द्र समान क्षात्रत्व का लहू प्रवाहित था, सत्य संशोधन का जोश और दृढ़ संकल्पबद्धता थी ऐसा क्रांतिकारी पौरुष भला रूढ़ि के मिथ्या चोले में कैसे कैद रह सकता था। आपने श्रमणोचित धैर्य, चातुर्य, गांभीर्य एवं दीर्घदृष्टि का परिचय देकर दूढक वेश में ही सद्धर्धप्रचार का शंखनाद कर दिया। परिश्रम जिसमें सत्य, निस्वार्थता और शासन के प्रति समर्पण भी समावेशित था, का परिणाम बहुत ही सुखद आया जब दूढक पंथ के प्रमुख सत्रह साधु एवं पंजाब के प्रत्येक नगर में सैकड़ों परिवार आपके अर्थात् शुद्ध जिनमार्ग के अनुगामी बन गए। एक मंजे हुए अनुभवी धर्मनेता की भाँति आवश्यक बल संग्रह के उपरान्त आपने सत्य मार्ग अपनाने की प्रत्यक्ष घोषणा कर दी।

संयम कबहु मिले

वीरभाषित सनातन धर्म की जयमाला वरण के उपरान्त भी आप एवं सहवर्ती साधुओं की चिरकालित उत्कृष्ट अभिलाषा अभी अधूरी थी, जिसके पूर्ण हो पाने का समय निकट आ पहुंचा

था। ढूँढक पंथ के दुर्जेय दुर्ग को ध्वस्त करने में यथेष्ट सफलता की प्राप्ति के बाद श्री सिद्धाचल महातीर्थ पर आदीश्वर दादा के दर्शन से कृतकर्मा होने एवं सद्गुरु की खोज हेतु आपने गुजरात की ओर विहार कर दिया। मार्ग में स्थान-स्थान पर स्वागतातुर जनता को लाभान्वित करते, तीर्थभूमियों की स्पर्शना करते हुए आप शत्रुंजय ऋषभप्रभु के दरबार में आ पहुँचे। कई दिनों तक यात्रा का अपूर्व आनन्द प्राप्त कर संवेगी दीक्षा हेतु धर्मनगरी अहमदाबाद पधार गए।

सत्य की खोज में निकला पथिक अधिकतम सत्य पर पहुँच कर चैन की श्वास लेता है। मुनि श्री चाहते तो दिग्म्बरत्व अपना लेते या किसी अन्य गच्छ समुदाय में दीक्षित हो जाते, परन्तु आप वास्तव में सत्य गवेषक थे। आप यह निर्णित कर चुके थे कि वीर परम्परा का अखंड प्रतिनिधित्व मात्र तपागच्छ के पास है, भगवान की आज्ञा के प्रति निष्ठा एवं पालन यहां ही है।

सत्य का पक्षपाती होने के साथ मुनि श्री अद्वितीय निस्पृही एवं निराभिमानी भी थे। ढूँढक पंथ में मिलते आदर-मान को ठोकर मार कर अपने २२ वर्ष के संयम पर्याय की परवाह न करते हुए वयोवृद्ध मुनि श्री बुद्धिविजयजी से महावीर प्रभु की सनातन प्रवज्या अंगीकार की। शास्त्र सम्मत मुनिवेष धारण करने का आप एवं साथी मुनिराजों को वैसा ही आनंद हुआ, जैसा किसी जीव को नारकीय यातना के बाद देवलोक के दिव्य सुखों से होता है। अतः गुरु बुद्धिविजय जी (बूटेरायजी महाराज) ने आपका नाम आनन्द विजय रखा। शेष मुनिवृन्द आप ही का शिष्य प्रशिष्य घोषित हुआ।

ब्रह्मचर्य से उद्दीप्त चारित्र

मुनिवेश की सार्थकता ब्रह्मचर्य के निरतिचार निष्ठापूर्ण पालन में हैं। देवी रूपा के लाल की चारित्र चादर भी रूपा (चांदी) की भांति ही उज्ज्वल थी सर्वथा बेदाग। उनके ब्रह्मतेज का ही आलौकिक प्रभाव था कि उनके दर्शन मात्र से समस्त शारीरिक एवं मानसिक व्याधि दूर हो जाती थी। वाणी में मेघ जैसा गर्जन, देवसदृश दृढ़काय, निडर व्यक्तित्व आदि अनेक वन्दनीय गुणों का मूल कारण यदि कोई है तो वह नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, जिसके प्रताप से सदा जयकमला उनकी चरणदासी बनी रही। जैन प्रजा ने आपकी अतुल गुणराशि से आकर्षित होकर तपागच्छ में लगभग तीन शताब्दियों से रिक्त आचार्य पद पर आपको सिंहासनारूढ़ किया। नमस्कार महामंत्र के मध्यपद के गौरव में अभिवृद्धि करते हुए आप विश्व विश्रुत विरल विभूति के रूप में प्रसिद्ध हुए और वीतराग प्रभु के शुद्ध सिद्धान्तों को पुनः प्रतिष्ठित कर सके।

गुरु तव ज्ञान अपारा

चारित्र स्वर्ण है तो ज्ञान उसकी सुगन्ध। पू. आत्मारामजी महाराज में इन दोनों का अपूर्व

संगम था। स्वभुजबल से जिस प्रकार भूमिपति प्रसिद्ध होता है उसी प्रकार स्वमत-परमत शास्त्रों के गंभीर वेत्ता गुरुदेव अपने ज्ञान बल से जैन जगत में उपाध्याय यशोविजयजी के पश्चात् बहुश्रुत के रूप में विख्यात हुए। आपकी विशद् ज्ञान सम्पत्ति महासागर की अथह सम्पदा को लज्जित करती थी।

श्रुतज्ञान का मूर्तिमन्त रूप होने के साथ-साथ आप ओजस्वी वक्ता, बेजोड़ तार्किकशक्ति सम्पन्न, महातपस्वी, नैमित्तिक, विद्यामन्त्रबल सिद्धियों के धारक, योगी, उत्कृष्ट कवि, संगीतज्ञ एवं सिद्धहस्त लेखक थे। संक्षेप में आपश्री आठों प्रवचन प्रभावक गुणों से समृद्ध एवं सूरिपद की आठों सम्पदाओं से संयुक्त थे। इस असाधारण प्रतिभा के कारण ही आपश्री जंगम युग प्रधान, न्यायाम्भोनिधि, तपगच्छनभोमणि के विरुद्ध से जगत् विख्यात हैं।

हृदय तंत्री के प्रत्येक तार को झंकृत करने वाली परमात्मा भक्ति से सराबोर पूंजाएं स्तवन, छंद एवं वैराग्यमय पदों की विशाल निधि आपकी कवित्व शक्ति की द्योतक हैं। इन काव्यों में प्राचीन राग रागिनी भक्तिरस के साथ गूढ तत्वों का निरूपण कर इनकी उपादेयता में शतगुणी वृद्धि की है।

यशैषणा से सदा परे रहकर आपने ज्ञान सम्पत्ति का व्यय लोककल्याण में किया। तत्व निर्णय प्रासाद, नवतत्व संग्रह, अज्ञान तिमिर भास्कर, आर्हतत्वादर्श, चिकागो प्रश्नोत्तर आदि महाग्रंथ आपके ज्ञानवैभव के उन्नत महल हैं। साहित्यिक भाषा, के पूर्ण अधिकारी होने के बावजूद भी आपके ग्रन्थों में कहीं पाण्डित्य प्रदर्शन नहीं, अपितु जन हितार्थ प्रचलित हिन्दी भाषा का प्रयोग हुआ है। आपके ग्रन्थ रत्नों का मनन कर दिग्गज प्रतिभाशाली विद्वान भी मंत्रमुग्ध रह जाते हैं। जिन अकाद्य युक्तियों से आपश्री ने जैनदर्शन के त्रिकालाबाधित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है उन्हें पढ़कर विरोधियों को भी आपकी श्लाघा के लिए विवश होना पड़ता है। जैन साहित्य को समृद्ध करने में आपका योगदान सदैव अमर रहेगा।

विप्लववादी योगी महान

षट्दर्शन प्रवीण, अगणित परिषद् परंपरा सहिष्णु विजायन्द सूरी महाराज एक समर्थ क्रान्तिकारी थे, जिनके गर्जन से रुढ़िवादी सियारों के दिल दहल गए थे। आपने अकेले हाथों प्राणशोधक रुढ़ियों, कुरीतियों, रिवाजों और संकीर्णताओं के साम्राज्य की जड़ें हिलाकर समाज में नव चेतना का संचार किया।

वर्षों तक विदेशी विधर्मियों की दासता के दुष्प्रभाव से जैनशासन के स्थानकवासी एवं

तेरापंथी नामक फिरके सनातन परम्परा से बहिष्कृत हो चुके थे। ये आगमिक परम्परा, इतिहासवाद, युक्तिवाद, आध्यात्मिक उपयोगिता एवं अनेकान्त दृष्टि का तिरस्कार कर मूर्तिपूजा का घोर विरोध कर रहे थे। सम्पूर्ण पंजाब इनके जाल में फंसा अपने दुर्भाग्य को कोसता। किसी ऐसे नरवीर की बाट निहार रहा था जो उन्हें इनके चंगुल से मुक्त कर सकें। ऐसे समय में पूज्य आत्मारामजी महाराज पंजाब के लिए संजीवनी बूटी सिद्ध हुए, जिनके पुण्य प्रभाव से सैकड़ों गगनचुम्बी मंदिरों पर आज ध्वजाएं फहर रही हैं।

गुरुदेव समय के पारखी एवं सुधारवाद के प्रबल समर्थक थे। गतानुगतिकता एवं रूढ़ परम्पराओं का मर्यादाओं की भांति पालन उन्हें प्रिय नहीं था। यही कारण था कि साधारण खाते की टूट देखकर राधनपुर में आपने स्वप्नों की बोली उसमें जमा करने का उपदेश दिया। गुजरात में प्रचलित नकराप्रथा बंद एवं स्वधर्मीवात्सल्य का वास्तविक स्वरूप आपने समझाया। तीन थुई का नया पंथ उत्पन्न करने वालों के बोध के लिए चतुर्थ स्तुति निर्णय ग्रंथ लिखकर आपने महान् उपकार किया है।

समग्र विश्व को जैन धर्म के सर्वोच्च सिद्धान्तों से अवगत कराने के लिए आपने चिकागों में आयोजित सर्व धर्म परिषद् में श्रीयुत् वीरचंद राघव गांधी को अपना प्रतिनिधि बना कर भेजा। इस नौजवान बैरिस्टर बाबू ने बड़ी कुशलता से वहां जैन सिद्धान्तों को समझाकर अनेक लोगों को मांसभक्षण आदि पापाचार का त्याग करवाया। जब श्रीगांधी भारत लौटे तो कुछ रूढ़िग्रस्तों ने समुद्र यात्रा का अभियोग लगाकर उन्हें न्यात बाहर करना चाहा, किन्तु बड़े ही मार्मिक एवं ओजस्वी शब्दों में गुरुदेव ने उनका प्रतिकार किया। इससे स्पष्ट होता है कि समाज में व्याप्त अज्ञान एवं कुरीतियों का बिछौना गोल करने में गुरुदेव कितने प्रखर एवं दक्ष थे।

आचार्य भगवन्त कल्पनाजीवी नहीं, अपितु वास्तविकता के धरातल पर आगे ही आगे कदम बढ़ाते थे। आज जैन एकता की सारहीन प्रवृत्ति को बहुत वेग मिल रहा है। जिस महाशय की महत्वाकांक्षा कहीं ओर शान्त नहीं होती वे कोई न कोई एकता मंच का प्रवर्तन कर अध्यक्षता का बोझ ढोते चारों सम्प्रदायों में एकता के लिए अपनी भाषणबाजी को भगीरथ पुरुषार्थ का खिताब देते हैं। इन स्वयंभू बुद्धिजीवियों के विपरीत आचार्य भगवन्त को यह सुज्ञात था कि आवश्यकता एकता की नहीं, वरन् एकमेक होने की है। इसके लिए समाज में ज्ञान प्रचार की पुरजोर आवश्यकता है, ताकि लोग स्वयं सत्या-सत्य का निश्चय कर कल्पित पंथ त्याग कर सनातन शुद्ध मार्गानुसारी बन सकें। यही महापुरुषोचित कार्य उन्होंने स्वयं दृढ़क पंथ को तज

तपागच्छ सुविहित परम्परा को अपनाकर किया था ।

सत्रहभेदी पूजा में उन्होंने शासन उत्थान की भावना परमात्मा को इन सुन्दर शब्दों में व्यक्त की है- “कुमति पंथ सब छिनक में नासे जिनशासन उद्धरणी ने” । मुमुक्षु आत्माओं को चाहिए वे भी इसी अनुरूप सत्यपिपासु बनकर सच्चे वीरपुत्र की तरह इन नूतन मनकल्पित पंथों को छोड़ दें तो निश्चय एकमेक रूप होकर सर्वोच्च धर्म की जय जयकार की विजयध्वनि संसार में धूम मचा सकती है ।

सारा जग करता सम्मान

जैन शासन के गगनतल पर उनकी आभा का सूर्य तो सदैव ध्रुव रहेगा ही, किन्तु उस समय जैनेतरों के हृदय में उनकी अर्थात् उनके गुणसमूह ब्रह्मतेज, प्रगल्भ ज्ञान प्रतिभा, असामान्य उत्तरदायिनी शक्ति के प्रति कितना अधिक सम्मान था ये योग स्वामी जीवानन्द सरस्वती द्वारा उनकी स्तुति में रचित श्लोक से प्रशस्त होता है । विविध ७१ अर्थ गर्भित ये मालाबन्ध श्लोक है-

योगाभोगानुगामी द्विजभजनजनिः शारदारक्तिरक्तो ।
दिग्जेता जेतृजेता मतिनुतिगतिभिः पूजितोजिष्णुजिह्वै ॥
जीयाद्वायादयात्री खलबलदलनो लोललीलस्वलज्जः
कैदारौदास्यदारी विमलमधुमदो दामधामप्रमतः ॥१ ॥

सुप्रसिद्ध विदेशी विद्वान ए. एफ. रोडेल्फ हार्नल ने स्वसंपादित उपासकदशांग सूत्र की प्रस्तावना में आचार्य देव की प्रशस्ति में चार संस्कृत श्लोकों की रचना की है । उनके इन हृदयस्पर्शी उद्गारों को पढ़ने से विदित होगा कि उनके मन में पूज्यश्री के प्रति कैसा अहोभाव था ।

अनेकानेक विद्वानों, विचारकों, लेखकों, कवियों ने आपको प्रशंसा में अपने ज्ञानार्जन को सार्थक किया है । आपके जीवन चरित्र के प्रेरणादायी प्रसंगों एवं लोकोपकारी कार्यों पर विद्वजनों ने विशाल ग्रंथागार सृजित किया है । जिज्ञासु भक्तवर्ग को इनका अवश्य अवलोकन कर कृतकृत्य होना चाहिए ।

बीसवीं शती में युगप्रधान आचार्य कोई अन्य नहीं हुआ । अपने पूर्वज हजारों धुरन्धर आचार्यों श्री हेमचन्द्र सूरि, अभयदेव सूरि, जगच्चन्द्र सूरि, हीरसूरि आदि के समान आपका भी

भारी पुण्य प्रकर्ष था । सिद्धाचल जी पर दादा की मूल टूंक में प्रतिष्ठित आप प्रथम आचार्य हैं । इतिहास में ऐसा कोई उल्लेख या साक्ष्य अनुपलब्ध है जो इस बात का प्रमाण हो कि इससे पूर्व पूर्ववर्ती किसी अन्य आचार्य भगवन्त की प्रतिमा वहां स्थापित हुई हो । इस शाश्वत तीर्थ की भांति आपकी कीर्ति भी सदा स्थाई रहेगी ।

अमर रहेगा निस्वार्थ उपकार

आचार्य भगवन्त का जीवन वृत त्याग और परिषह की अमरकथा है । सनातन जिनधर्म के प्रचार में जितने परिषहों का सामना उन्होंने किया, कई-कई दिनों तक निराहार रहकर अपमान, अवज्ञा, निंदा का कड़वा घूंट बेहिचक पिया, निश्चित है भविष्य में किसी श्रमण को इतना कष्टसाध्य परिश्रम नहीं करना पड़ेगा क्योंकि गुरुदेव के करकमलों से सिंचित संवेग धर्म का उपवन लहलहाते द्रुमदलों से सुशोभित रहेगा । और उसके सहज पके मृदुफल हमें सदैव मिलते रहेंगे ।

धार्मिक एवं समाज सुधार का ऐसा कोई क्षेत्र रिक्त नहीं, जिसके लिए आचार्य देव ने उत्सर्ग न किया हो । आज शासन प्रभावक, प्रवचन प्रभावक एवं युग प्रभावकों की भीड़ बढ़ती जा रही किन्तु आप जैसा वास्तविक रूप में समर्पित शासन सेवक कहीं दिखाई नहीं देता । यदि स्वयं वीणावादिनी मां शारदा आपकी अनूठी शासन सेवा की श्लाघा हेतु प्रशंसाओं का पर्वत खड़ा कर दे या उपमाओं का सागर सुखा दे तो भी अपने भक्तिपूरित मन को तृप्त नहीं कर पाएंगी । हंसते-हंसते कष्टों का आलिंगन करने वाले अगाध आत्मशक्ति सम्पन्न आचार्य देव के जीवन वैभव की उपर्युक्त झलक सिन्धु में बिन्दु से भी न्यून है ।



श्रीमद् विजयानंद सूरि और मूर्तिपूजा

□ साध्वी श्री किरणयशा श्री

सत्य गवेषक, तार्किक शिरोमणि, पंजाब देशोद्धारक, न्यायाम्भोनिधि, आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरिश्वरजी महाराज प्रथम स्थानकवासी परम्परा में दीक्षित हुए थे। स्थानकवासी सम्प्रदाय जैन धर्म का वह सम्प्रदाय है जो मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करता और मुख पर हमेशा पट्टी बांधे रखता है यही दो इस सम्प्रदाय की प्रमुख पहचान हैं। इस सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण पूज्य श्री विजयानंद सूरि (आत्माराम) महाराज भी मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं रखते थे और मुख पर पट्टी बांधते थे। बाद में उन्होंने जैन आगम का गहन अध्ययन किया तो उन्हें पता चला कि जिस सम्प्रदाय में मैं दीक्षित हुआ, वह आगम सम्मत नहीं है। कई वर्षों तक वे मनोमंथन करते रहे। वि. सं. १९२०के आगरा चातुर्मास में उन्हें सम्यग् दृष्टि प्राप्त हुई। इस सम्यग्दृष्टि को देने वाले थे, स्थानकवासी संत शिरोमणि श्री रत्नचंदजी महाराज।

मुनि श्री रत्नचंदजी से उन्होंने आगरा में आचारांग, स्थानांग, सूत्रकृतांग, समवायांग, नंदी, व्याख्या प्रज्ञप्ति, प्रज्ञापना, बृहत् कल्प, व्यवहार, निशीथ, दशा श्रुत स्कंध, षट्कर्मग्रन्थ, संग्रहणी, क्षेत्र समास, सिद्धपंचाशिका, सिद्ध पाहुड, निगोद छत्तीसी, पुद्गल छत्तीसी और नयचक्रसार आदि शास्त्रों का मननपूर्वक परावर्तन किया। जब मुनि श्री रत्नचंदजी को दृढ़ विश्वास हुआ कि आप सत्य गवेषक जिज्ञासु आत्मा हैं और सत्य जानकर, स्वीकार कर जीवन में अपनाने वाले हैं तब तो दिल खोल कर अपनी निजि विद्यासम्पत्ति उन्होंने आपको समर्पित कर दी।

इस अध्ययन से पू. गुरुदेव को निश्चय हो गया कि मेरे मतवाले ३२ मूलागम और उसके

भारत के विभिन्न स्थानों पर प्रतिष्ठित श्रीमद् विजयानन्द सूरि महा
(आत्माराम जी) की प्रतिमाएँ



होशियारपुर



जीरा



नकोदर



फाजिल्का

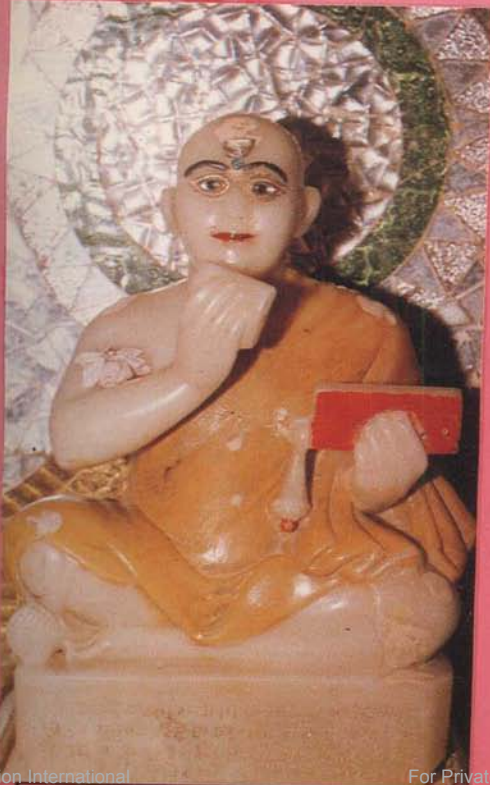


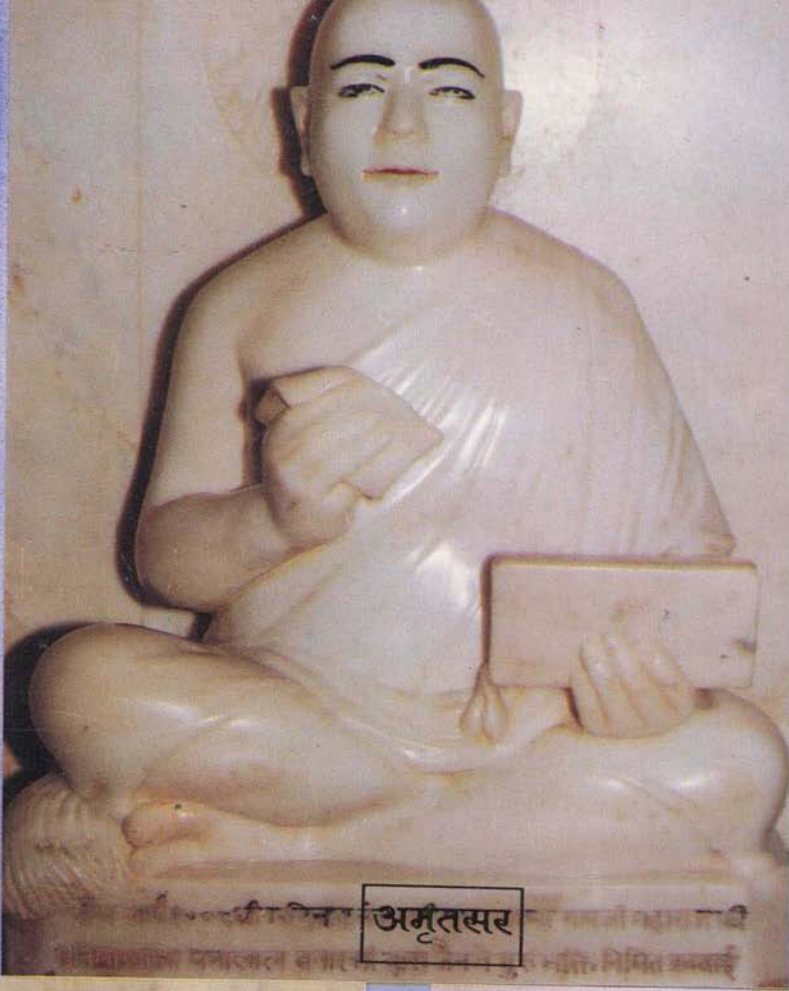
जालंधर

वि
स
प
व
मु
वि
रं
व
व
क्ष
स
रि



सुन्दरनगर (लुधियाना)

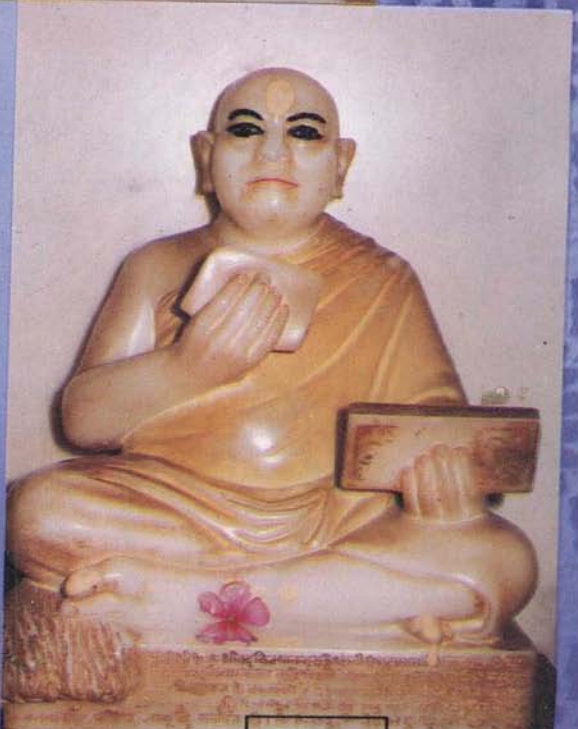




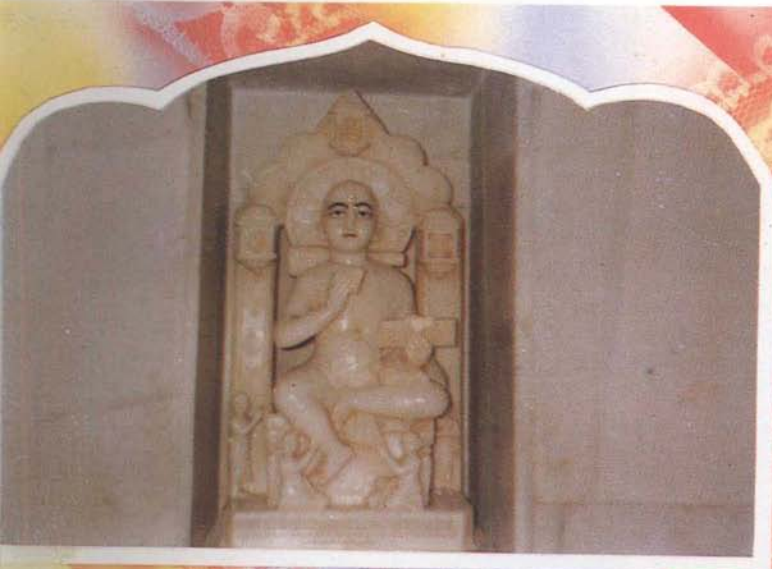
अमृतसर



भारताला (हरियाणा)



जम्मू



कच्छ मदेश्वर



रायकोट



वल्लभीपूर



खंभात



चरणापाद का हस्तिनापुर



हस्तिनापुर



गालीताणा



मुरादाबाद



बालापुर



गवालिया टैंक



दादर

**विजयानंद सूरी स्वराज
महाराज
(भावाभाऊ महाराज)**



जयपुर



जयपुर



पाली



पाली



उदयपुर

वरकाणा



मूलार्थ को ही मानते हैं, उसकी निर्युक्ति-भाष्य-चूर्णी- टीकादि, पंचांगी को नहीं, यह भी एक मिथ्या प्रपंच है, कोरा कथन है, केवल आत्म वंचना है, व्यवहार में तो वे उन्हें भी नहीं मानते- जैसे (१) भगवती सूत्र को मानते हैं। उस मूल सूत्र में द्वादशांगी का नामोल्लेख करके अन्य सब अंगके लिए नंदी सूत्र की ओर संकेत करते हुए सूत्रार्थ करने के तीन प्रकार बतलाये हैं यथा- प्रथम सूत्र देना; दूसरा निर्युक्ति मिश्रित पाठ देना, तीसरा संपूर्ण अर्थ देना। अब जब निर्युक्ति को मानते ही नहीं, तो दूसरा-तीसरा प्रकार छूट जाता है जो मूल सूत्र का ही अनादर हुआ। जब मूल में निर्युक्ति का निर्देश किया गया है तब भी उसे नहीं मानना यह आत्म वंचना-भ्रामक जाल ही हुआ।

पंचम श्रुतकेवली श्री भद्रबालु स्वामी ने आगमों की व्याख्या रूप निर्युक्ति की रचनायें की हैं। आ. श्री गंध हस्ती सूरिश्वरजी ने 'गंधहस्ती महाभाष्य' नामक भाष्य लिखा; उसीको आधारभूत बनाकर आ. श्री शीलांगाचार्य ने आगमों पर टीकायें लिखी हैं; तदनन्तर आ. अभयदेव सूरिजी ने उन्हीं के प्रमाणित टीकायें लिखी हैं- इन आगमोदधि के सर्वेसर्वा पारगामी, विशिष्ट ज्ञानी पूर्वाचार्यों के सदग्रंथों को अमान्य और अप्रभाविक इसीलिए किया कि अगर इन्हें मान्यता दें तो दूढ़क पंथ का समूलोन्मूलन हो जाता है। और इनको तो आगम निहित मूर्तिपूजा को आगम बाह्य प्रमाणित करनी है। इसलिए खुद के स्वीकृत आगम में आये 'अरिहंत चेइयाइं' आदि पाठों का 'चैत्य' शब्द का अर्थ कहीं ज्ञान और कहीं साधु किया है। इन्हें तो मूलार्थ को भी तोड़ मरोड़ कर मनगडंत अर्थ की प्रस्थापना करनी है और अज्ञ जनता में प्रतिष्ठित होना है। 'जिन पडिमा' के 'जिन' शब्द का कामदेव अर्थ दे दिया, तो शाश्वत प्रतिमाओं की देवों द्वारा की गई पूजा को 'देव करणी' कहकर टाल दिया और द्रौपदी द्वारा की गई पूजा के 'मिथ्यादृष्टि' बता दिया।

समवायांग सूत्र का पाठ "तेणं कालेणं, तेणं समएणं कप्पस्स समोसरणं णेयव्वं जावगणहरा सावच्चा निरवच्चा वोच्छिन्ना" इसका परमार्थ पूर्वाचार्यों की निर्युक्ति- भाष्य और टीका के बिना ज्ञात नहीं हो सकता। क्योंकि 'कप्पस समोसरणं' कल्प का समोसरण क्या है? कल्प से क्या अभिप्राय है? इसके मूलार्थ से जीवन पर्यंत दिमाग लडाने से पता नहीं चलेगा। पू. आ. श्री अभय देव सूरिजी म. ने अपनी टीका में इसका अर्थ इस प्रकार लिखा है- "एते च पूर्वोदिता अर्थाः समवसरण स्थितेन भगवता देशिता इति समवसरण वक्तव्यतामाह... 'कप्पस्स समोसरणं नेयव्वंति' इहांवसरे कल्प भाष्य क्रमेण समवसरणं वक्तव्यता रोया सा चावश्यकोक्ताया न व्यतिरिच्यते। वांचनान्तरे तु पर्युषण कल्पोक्त क्रमेणेत्यमिहितम्... "

अर्थात् समवसरण का यथार्थ स्वरूप जानने के लिए बृहत्कल्प भाष्य, आवश्यक सूत्र और पर्युषण कल्प-इन तीनों को देखना और मान्य करना चाहिए। समवायांग सूत्र के इस मूल पाठ से प्रमाणिक कोटि में परिगणित होने वाले इन तीनों को अमान्य करने का अर्थ है ३२ मूलागमों की मान्यता भी केवल कथन मात्र है, वास्तव में उस मूल सूत्र का भी आदर नहीं करते हैं।

स्थानांग सूत्र में तीन प्रत्यनीक- सूत्र के विरुद्ध आचरण करने वाला, अर्थ के विरुद्ध आचरण करने वाला, और दोनों के प्रतिकूल व्यवहार वाला- बताये हैं। अब इस कल्प और समवसरण के अर्थ को ग्रहण न करने से जिन प्रतिमा का विरोधी तीनों प्रकार का प्रत्यनीक हुआ। क्योंकि समवसरण में प्रभु पूर्वाभिमुख बैठते हैं और बाकी की तीन दिशा में देवता अरिहंत की मूर्ति विराजमान करते हैं। इसका वर्णन बृहत्कल्प भाष्य में इस प्रकार है-

आयाहिण पुक्वमहो, तिदिसिं पडिरुचया य देवकया ।
जेडुगणी अन्नोवा, दाहिण पुक्वे अदूरम्मि ॥” (११९३)
जे ते देवेहिं कया, तिदिसिं पडिरुवगा जिणवरस्स
तेसिंपि तप्पभावा, तयाणुरूचं हवइ रूवं ॥ (११९४)

अर्थात्- प्रभु चैत्य को प्रदक्षिणा देकर पूर्वाभिमुख विराजमान होते हैं, शेष तीन दिशाओं में देवता प्रभु के समान छत्र चामरादि से अलंकृत तीन प्रतिमा बनाकर सिंहासनारूढ़ करते हैं, जिससे चारों ही दिशा में प्रभुके दर्शन होते हैं और प्रत्येक व्यक्ति यही समझता है कि भगवान मेरी ओर मुख करके बोल रहे हैं। भगवान के अतिशय से ही प्रतिमायें भी साक्षात् प्रभु के समान भासती है। अनुयोग द्वार सूत्र में उपोद्घात निर्युक्ति को २६ द्वारों में से निगम द्वार में भ. महावीर स्वामी के केवलज्ञान बाद देव निर्मित समवसरण का वर्णन भी बिलकुल ऐसा ही किया गया है। बृहत्कल्प भाष्य में चैत्य का वर्णन करते हुए लिखा है-

साहम्मियाण अट्टा, चउव्विहे लिंगओ जह कुडुंबी ।
मंगल सासय भत्तीइ जं कयं तत्थ आदेसो ॥ (१७७४)
अरहंत पइट्टाए..... गाम अद्धेसु । (१७७६)
“निइयाइं सुरलोए भत्तिकयाइं तु भरहमाईहिं ॥ (१७७७)

अर्थात् चैत्य चार प्रकार के- साधर्मिकों के लिए बनाया गया साधर्मिक चैत्य; गृहादिके दरवाजे पर मंगल के लिए स्थान देव प्रतिमा मंगल चैत्य; चारों निकायके देवों के भवन, नगर, विमान में एवं मेरु, वैताद्वय, नंदीश्वर, रुचकप्रदेशादि के शाश्वत चैत्य, प्रभु भक्ति के लिए मानव

निर्मित-प्रतिष्ठित चैत्य-भक्ति चैत्य, इस तरह अनेक स्थानों पर अनेक गाथाओं में जिन प्रतिमा का उल्लेख है। आवश्यक सूत्र में भी इसका प्रमाण दिया है; यथा- “सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं करेमि काउसगं, वंदणवत्तियाए, पूअण वत्तियाए, सक्कार वत्तियाए सम्मान वत्तियाए, बोहिलाभ वत्तियाए” अर्थात् सर्व लोक में स्थित अर्हच्चैत्यों और तीर्थकर प्रतिमाओं के वंदन, पूजन, सत्कार, सम्मान और उससे बोधलाभ के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ। तात्पर्य कि तीर्थकर प्रतिमाओं को साक्षात् श्रद्धापूर्ण हृदय से वंदन-पूजन-सत्कार, सम्मान करने से जो पारलौकिक फल साधक को मिलता है, वह मुझे इस कायोत्सर्ग द्वारा प्राप्त हो, अर्थात् उन वंदनादि के स्थानापन्न मेरा यह कायोत्सर्ग हो, याने उसके निमित्त मैं यह कायोत्सर्ग करता हूँ। इसमें द्रव्य और भावपूजा की अनुमोदना करने का विधान है, उससे यही प्रतिभाषित होता है कि साधु द्रव्यपूजा नहीं कर सकता, लेकिन उसकी अनुमोदना अवश्य करनी चाहिए। इस संबंध में हरिभद्रसूरिजी फरमाते हैं- ‘

जइणो विहु दव्वत्थय भेदो अणुउमोयणेण आत्थित्ति ।
एयं च एत्थणेयं इय सुद्धं तंत जुत्तीए

[पंचाशिका- ६/२८]

अर्थात् भावस्तवन में आरूढ साधु भी अनुमोदन रूप द्रव्यस्तव- द्रव्य पूजा का शास्त्र सम्मत अधिकारी है, अतः वह अनवद्य निर्दोष है। आवश्यक सूत्र की २४ वीं गाथा में फर्माया है-

थूभं सयंभाउगाणं चउवीसं जिणहरे कासी ।
सव्व जिणाणं पडिमा वण्ण पमाणेहिं नियएहिं ॥

चूर्णिकार के शब्दों में - “तत्थणं देव छंदए चउवीसाए तित्थगराणं नियगप्पमाणं वन्नेहि पत्तेयं पत्तेयं पडिमाओ कारेति”

अक्सर द्रव्यपूजा में होने वाली हिंसा के नाम का बवंडर बनाकर हिंसा में होने वाले पाप का भय दिखाकर भोली जनता को पुण्यानुबंधी पुनीत कर्तव्य से जो दूर रक्खा जाता है, उसके बारे में आचारांग सूत्र में लिखा है कि- “अणाणाए एगे सोवट्टाणा आणाए एगे निरुवट्टाणा एवं ते माहोउ” अर्थात् हे शिष्य, भगवान की आज्ञा से विपरित आचरण करना और आज्ञा में प्रमाद करना याने दी हुई आज्ञा का आचरण न करना और न दी गई आज्ञा (निषेध) का आचरण करना, दोनों दुर्गति के हेतु हैं। ऐसे शास्त्रविहित आचारों की अवहेलना यह भगवान की आज्ञा का अनादर है, उल्लंघन है। ऐसा व्यक्ति आराधक नहीं विराधक है। किसी भी धार्मिक प्रवृत्ति को

इतने मात्र से अपवादित नहीं कर सकते कि उसमें एकेन्द्रिय जीवों की विराधना होती है क्योंकि ऐसी अनेक प्रवृत्तियों की शास्त्र में आज्ञा है जिसमें एकेन्द्रिय जीवों की विराधना होती है जैसा कि विहार में नदी को पार करना, जल में गिरी साध्वी को पकड़ कर बाहर निकालना, गुरु जनों के दर्शनार्थ आना-जाना, दीक्षा महोत्सव, मृतक की पालखी, उसके दाह के लिए चंदनादि की चिता, बाजे गाजे से आना-जाना इत्यादि । याने हिंसा का सूत्र कार्य करने के पीछे रही हुई मानसिक विचारधारा पर निर्भर है । आवश्यक सूत्र में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार लिखा है- “आकिसिण पवत्तगाणं, विरयाविरयाणं एस खलु जुत्तो; संसार पयणु करणे दव्वत्थए कूव दिट्ठतो ॥” (१९४) अर्थात्- शुद्ध सामर्थ्य के रहते देश विरति या सम्यक दृष्टि अविरति श्रावक को द्रव्यपूजा अवश्य करनी चाहिए, क्योंकि द्रव्य पूजा जीव को निकट संसारी बनाती है याने कर्म क्षय कारक है । जैसे कुंआ खोदने वाला पहले मिट्टी से गंदा होता है लेकिन शुद्ध पानी मिलने पर उसकी सारी गंदगी धूल जाती है; वैसे द्रव्य पूजा से होने वाली हिंसादि गंदगी आत्मा को निर्मल सम्यक्त्व और पाप क्षयकारी शुद्ध भावों के जल से साफ और निर्मल हो जाती है । अतः शुभानुबंधी और कर्म निर्जरा के हेतुभूत द्रव्य पूजा श्रावक के लिए अवश्यमेव करने योग्य है । मूर्ति को जड़ पत्थर निर्जीव मानने वालों के लिए भी तर्क बद्ध विश्लेषण करते हुए कहा है कि संसार में कोई भी व्यक्ति मूर्ति की या जड़ की पूजा नहीं करता लेकिन मूर्तिमंत परम चैतन्य के आदर्श की पूजा करता है । जैसे स्थानकवासी गुरु जनों के देह की वैयावच्च भक्ति करते हैं, वह देह क्या है ? जड़ चमड़े से मढ़ा हुआ एक ढाँचा ही है । तो फिर क्या चमड़ा पूजक नहीं कहे जायेंगे ? स्थानकवासी साधु के मुख पर मुंहपत्ति और रजोहरण न होने पर क्या वे साधु माने जायेंगे ? याने जड़ चीजों ने ही किसी व्यक्ति को साधुत्व देकर पूजनीय बनाया तो यह मुंहपत्ति और रजोहरण की पूजा हुई या उससे युक्त व्यक्ति की ? जड़ की हुई या चेतन की ? सभी मूर्तिपूजा विरोधी एक या दूसरे रूप में किसी न किसी जड़ की पूजा करते हैं जैसे मुस्लिमों का संगे अस्वद को बोसा देना, कुरान शरीफ का अदब करना, ताजिये का सम्मान- पूजा; ईसाईयों के अंजील को गोड का कलाम मानकर सम्मान देना; सिक्खों का गुरु ग्रंथ साहब को मान देना, पूजा करना, ये सभी वैसे तो जड़ की ही पूजा मानी जायेगी ? लेकिन, नहीं उस जड़ में रहे आदर्श को प्रतीक मानकर उनकी पूजा होती है । कोई भी भक्त हे देव, हे प्रभु है परमेश्वर ही उद्बोधन करेगा । कोई भी हे पत्थर, हे प्रतिमा, हे मूर्ति ऐसा नहीं कहता । तात्पर्य कि जैसे शरीर के भीतर रही हुई आत्मा को समझने के लिए शरीर साधन है उसी तरह मूर्ति की उपासना भी उपास्य देव को समझने-जानने और तादृश करने के

लिए एक साधन विशेष ही है ।

एक बात और भी है, जैन धर्म की परंपरा को प्राचीन सिद्ध करने के लिए मंदिर और मूर्ति के अलावा और कौन सा साधन है ? अगर जिन मंदिर और जिन प्रतिमा को जैन परंपरा से हटा दिया जाय तो इसकी ऐतिहासिक प्राचीनता उपहास जनक हो जायेगी, क्योंकि भूगर्भ से निकलने वाली सैंकड़ों हज़ारों सालों की जिन प्रतिमायें ही तो जैन परंपरा की प्राचीनता का जीता-जागता प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

आगरा के चातुर्मास में मुनि श्री रत्नचंदजी के सम्पर्क में आने और जैन धर्म के सिद्धान्तों का शास्त्रीय पर्यालोचन करने के बाद पू. गुरुदेव के जीवन में एक नया ही मोड़ आया । इसके पूर्व और पश्चात् के कई सालों के निरन्तर अध्ययन-अध्यापन और चिंतन-मनन के दोहन के बाद मन में दृढ़ विश्वास हो गया कि हमारा सम्प्रदाय लौंका और लवजी के असंतुष्ट और विचार भ्रष्ट मस्तिष्क की उपज है, उसे भ. महावीर के साथ जबरदस्ती जोड़ने की कोशिश हो रही है । निष्पक्ष होकर सोचें तो हमारा पंथ भगवान के निर्दिष्ट मार्ग से आचार-विचार-वेषभूषा- ज्ञान-क्रिया-सिद्धांतादि सभी से विपरित ही दृष्टिगोचर होता है । लौंकाजी ने मूर्ति का विरोध किया और लवजी ने मुंहपत्ति बांधने की प्रथा डाली । एक ने भगवान की आज्ञा का विरोध किया और दूसरे ने जिसकी आज्ञा नहीं दी थी, उसका प्रवर्तन किया ।

हमारी परंपरा लौंकाजी तक जाकर रुक जाती है । उसका भ. महावीर से कोई ऐतिहासिक संबंध नहीं इसलिए भ. महावीर की परंपरा ही प्राचीन और प्रमाणिक है । उनकी परंपरा के अनेक, आगमोदधि के सर्वेसर्वा पारगामी, विशिष्ट ज्ञानी पूर्वाचार्यों के अनेक सद्ग्रंथों की भरमार मिलती है, जबकि हमारे मत में तो एक भी ऐसा विद्वद्वर्य नहीं । वैसे देखा जाय तो सम्प्रदाय का आद्य स्थापक विशिष्ट ज्ञानी-चारित्रशील होना चाहिए, जबकि लौंकाजी और लवजी में इन चीजों का नितान्त अभाव है ।

व्याकरण को व्याधिकरण कहना और बत्तीस मूलागमों से दूसरे आगमों और उस पर लिखी निर्युक्ति-भाष्य- टीकादि पंचांगी की अवहेलना और विरोध करने का कारण केवल मूर्तिपूजा विरोधी दुर्भावना से अत्यन्त संकुचित और हठीली मनोवृत्ति ही है । जहां मूल मान्यतानुसार ३२ मूलागमों का भी मनगढंत अर्थ करके उसे मानते हुए भी उनमें लिखी बातों का भी उल्लंघन किया जाता हो, ऐसी कदाग्रही और हठाग्रही परंपरा; जो आत्मा को दुर्गति का भाजन बनाये, उस परंपरा का, मेरे जैसे सत्य गवेषक आत्मा के लिए, अनुसरण करना सर्वथा अनुचित

है। यद्यपि साम्प्रदायिक वातावरण में पले और पुष्ट हुए मानस को बदलना अत्यन्त कठिन है, लेकिन असंभव नहीं है। साम्प्रदायिक मोह को तोड़कर इस वातावरण से अब हटना होगा।

उपरोक्त विचारों को अपनाकर पू. गुरुदेव अंतरंग संवेगी और बहिरंग स्थानकवासी रखकर कुछ साल स्थानकवासी संप्रदाय में ही रहे और कुछ स्थानकवासी साधु-विश्वचंदजी, चंपालालजी, हाकम रायजी, निहाल चंदजी आदि की सहायता से श्रावक वर्ग में भी अपने विचार प्रवाह को प्रवाहित किया।

सारी पूर्व तैयारियों के पश्चात् सभी की अनुमति से अहमदाबाद में प. पू. बुटेरायजी म. सा. के चरणों में अपना जीवन समर्पित किया। वि. सं. १९३२ में संवेगी दीक्षा अंगीकार की और जिन शासन के गगनाकाश में तपगच्छ के आभामंडल में आनंद विजयजी म. सा. और बाद में पालिताणा में हिन्दुस्तान भर के सभी श्रीसंघों की विनती से प. पू. विजयानंद सूरीश्वरजी म. सा. रूप भास्कर बनकर भास्वर हुए एवं समस्त जैन-अजैन भाविक भक्तों को प्रकाशमान करने का श्रेय प्राप्त किया।



श्री विजयानंद सूरि एवं ईसाई मिशनरी

□ प्रो. पृथ्वीराज जैन

पुर्तगाल निवासी साहसी नाविक वास्को-दे-गामा ने आशा-अन्तरीप का चक्कर लगाते हुए भारत पहुंचने का नया समुद्री मार्ग खोज निकाला और उम का जहाज २२ मई १४९८ ई. को मालाबार तट पर कालीकट के पास आकर ठहरा। वहां के राजा जमोरिन ने उसका साथियों सहित स्वागत किया और उन्हें वहां रहने तथा व्यापार करने की आज्ञा दे दी। इस प्रकार युरोपियन भारत में आने लगे। ये ईसाई धर्म के मानने वाले थे। धीरे-धीरे दूसरी युरोपीय जातियां भी भारत में आईं और उन्होंने अपनी व्यापारिक कोठियों की स्थापना की। परिस्थिति से लाभ उठाकर उन्होंने अपनी राजनैतिक सत्ता भी स्थापित की और कई नगरों पर अधिकार कर लिया। पुर्तगालियों में धर्म की कट्टरता अधिक थी। वे प्रजा को जबरदस्ती ईसाई बना लेना अपना कर्तव्य समझते थे। यद्यपि युरोपीय लोगों का १५०० ई. के लगभग नए मार्ग से भारत में आगमन शुरू हो गया था और वे अपने धर्म प्रचार के काम को भी उत्साहपूर्वक करते थे, तथापि १८०० ई. तक भारत में इस धर्म का प्रचार अधिक न हो सका। जनता इन पर विश्वास न रखती थी। यह नया धर्म यहां के आदर्श के अनुकूल भी न था। अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कम्पनी की राजनैतिक सत्ता १७५७ ई. की प्लासी की लड़ाई के बाद उत्तरोत्तर बढ़ने लगी और दूसरी जातियां इस क्षेत्र में हार गईं। प्रारम्भ में कम्पनी सरकार धर्म के विषय में हस्तक्षेप करने से संकोच करती थी। उसे अपने व्यापारिक हितों की चिन्ता अधिक थी। कम्पनी सरकार ने कुछ ऐसे नियम भी बनाए थे, जिन के अनुसार कोई कर्मचारी न तो भारतीय धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप कर सकता था और न ही बाहर से कोई धर्म प्रचार के लिए आ सकता था।

अंग्रेजों की पहली व्यापारिक कोठी सूरत में सम्राट जहांगीर की इजाजत से १६१३ ई. में खुली। धीरे-धीरे उन्होंने मुग़ल सम्राटों को प्रसन्न कर व्यापार के लिए कई सुविधाएं प्राप्त कर लीं। किन्तु शुरू में अंग्रेज व्यापारियों का सदाचार व्यवहार अत्यन्त गिरा हुआ था। धोखा और बेईमानी इनकी व्यापारिक नीति के मुख्य सिद्धान्त थे। उनके व्यवहार को देख कर भारतवासी ईसाई धर्म को भी समझने लगे। एक लेखक ने लिखा है, “भारतवासी ईसाई धर्म को बहुत गिरी हुई चीज ख्याल करते थे। सूरत में लोगों के मुंह से इस प्रकार के वाक्य प्रायः सुनने में आते थे कि ‘ईसाई धर्म शैतान का धर्म है, ईसाई बहुत शराब पीते हैं, ईसाई बहुत बदमाशी करते हैं, और बहुत मारपीट करते हैं, दूसरों को बहुत गालियां देते हैं।’ टेरी साहिब ने इस बात को स्वीकार किया है कि भारतवासी स्वयं बड़े सच्चे और ईमानदार थे और अपने तमाम वादों को पूरा करने में पक्के थे। किन्तु यदि कोई भारतीय व्यापारी अपने माल की कुछ कीमत बताता था और उस कीमत से बहुत कम ले लेने के लिये उससे कहा जाता था तो वह प्रायः उत्तर देता था- ‘क्या तुम मुझे ईसाई समझते हो, जो मैं तुम्हें धोखा देता फिरूंगा?’

संभव है इस प्रकार के अपयश और अपमान से भयभीत होकर ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारियों ने धर्म के विषय में मौन रहने की नीति हितकर समझी हो। किन्तु १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही इस नीति में परिवर्तन हो गया।

माकिक्स वेल्सली भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त होने के बाद १७९८ ई. में कलकत्ते पहुंचा। वह महान ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के स्वर्ण स्वप्न लेकर भारत में आया था। वह इंग्लैंड में ही इस विषय पर मनन व अध्ययन करता रहा था तथा प्रधान मन्त्री पिट ने इस सम्बन्ध में कई दिन तक विचार विनिमय भी होता रहा था। शुद्ध राजनैतिक उद्देश्य के अतिरिक्त उसकी यह भी उत्कट अभिलाषा थी कि भारत में जोरों से ईसाई धर्म का प्रचार शुरू किया जाए। “उसने आते ही ईसाई धर्म के अनुसार अंग्रेजी इलाके के अन्दर रविवार की छुट्टी का मनाया जाना जारी किया। उस दिन समाचार पत्रों का छपना भी कानूनन बन्द कर दिया गया। कलकत्ते के फोर्ट विलियम में उसने एक कालेज की स्थापना की। इस कालेज का एक उद्देश्य विदेशी सरकार के लिए सरकारी नौकर तैयार करना था। वेल्सली के जीवन चरित्र का रचयिता आर. आर. पीयर्स साफ लिखता है कि यह कालेज भारतवासियों में ईसाई धर्म को फैलाने का भी मुख्य साधन था। इसके द्वारा भारत की सात भिन्न भिन्न भाषाओं में इंजील का अनुवाद करा कर उसका भारतवासियों में प्रचार कराया गया... उसकी इस ईसाई धर्मनिष्ठा के लिए अंग्रेज इतिहास लेखक प्रायः उसकी प्रशंसा करते हैं।”

इस प्रकार अब ईस्ट इंडिया कम्पनी सम्राज्य विस्तार के साथ साथ ईसाई धर्म का प्रचार भी उत्साह पूर्वक करने लगी। १८१३ ई. के चार्टर में यह स्पष्ट कर दिया गया कि कम्पनी भारत में धर्म और सदाचार की शिक्षा का प्रचार करना आवश्यक समझती है तथा इस लोककल्याण के कार्य के लिए लोग कम्पनी के अधिकृत प्रदेशों में जा सकेंगे। ईसाई धर्म की अनेक पुस्तकों का विविध भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराया गया। भिन्न-भिन्न विषयों पर ईसाई मिशनरी सोसाइटियों ने पाठ्यपुस्तकें भी तैयार करवाईं। ईसाई धर्म के प्रचार के लिए पानी की तरह रुपया बहाया जाने लगा। जगह जगह प्रारंभिक पाठशालाएं, अनाथालय, औषधालय आदि खोले गए और भारतीय समाज की सामाजिक बुराइयों से पूरा पूरा लाभ उठाया गया। धार्मिक पुस्तकें मुफ्त बांटी गईं। भारत के धर्मों पर अनेक आक्षेप कर उन्हें हेय बताया गया। फलस्वरूप बहुत से भारतीय ईसाई बन गए। १८५७ ई. में भारत में जो प्रथम सशस्त्र स्वतन्त्रता युद्ध प्रारंभ हुआ उसका एक मुख्य कारण भारतवासियों को ईसाई बनाने की आकांक्षा और भारतीय सैनिकों में ईसाई मत का प्रचार था। इस अशान्ति से पहले कई अंग्रेज राजनीतिज्ञ समझते थे कि भारतीयों के ईसाई हो जाने में ही अंग्रेजी साम्राज्य की स्थिरता का आधार है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के अध्यक्ष मिस्टर मैङ्गल् ने विप्लव से कुछ समय पहले १८५७ ई. में ही पार्लिमेंट में कहा था, “परमात्मा ने भारत का विशाल साम्राज्य इङ्गलिस्तान को इसलिए सौंपा है ताकि हिन्दुस्तान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक ईसा मसीह का विजयी झंडा फहराने लगे। हममें से हरेक को पूरी शक्ति इस काम में लगा देनी चाहिये, ताकि समस्त भारत को ईसाई बनाने के महान कार्य में देश भर के अन्दर कहीं पर भी किसी कारण जरा भी ढील न होने पाये।”

प्रायः उसी समय एक अन्य अंग्रेज विद्वान कैनेडी ने लिखा था, “हम पर कुछ भी आपत्तियां क्यों न आएं, जब तक भारत में हमारा साम्राज्य कायम है, तब तक हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि हमारा मुख्य कार्य उस देश में ईसाई मत को फैलाना है। जब तक कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक सारा हिन्दुस्तान ईसा के मत को ग्रहण न कर ले और हिन्दु व इस्लाम की निन्दा न करने लगे, तब तक हमें पूरी सत्ता, अधिकार व शक्ति से लगातार प्रयत्न करते रहना चाहिये।”

सन् १८०६ ई. में वेलोर में सैनिकों का जो विद्रोह हुआ था, उसका कारण भी मद्रास के तत्कालीन गवर्नर विलियम बैटिङ्ग का सेना में ईसाई मत के प्रचार का प्रयत्न था। उसने दूबॉए नामक एक फ्रांसीसी पादरी को आठ हजार रुपए नकद देकर भारतवासियों के धार्मिक और सामाजिक जीवन पर एक पुस्तक लिखवाई जिसमें अनेक झूठी बातों का संग्रह था। सरकारी

खर्च पर इंगलैंड में इस पुस्तक का खूब प्रचार कराया गया। जब वह पादरी फ्रांस वापिस गया, तो ईस्ट इंडिया कम्पनी ने उसे एक विशेष आजीवन पेंशन दी। ईसाई प्रचारकों को सब सुविधाएं दी जाती थीं। सरकारी छापेखाने उन का काम मुफ्त कर देते थे। सैनिकों को यह आज्ञा दी गई की वे वर्दी पहने हुए अपने माथे पर तिलक आदि धार्मिक चिन्ह न लगाएं, दाढ़ियां मुंडवा दें और सब एक तरह की कटी हुई मूंछे रखें। बेंटिङ्क १८३२ ई. में गवर्नर जनरल बना। उस समय यह कानून बना कि जो भारतवासी ईसाई हो जाएंगे, उन का पैतृक संपत्ति पर पूर्ववत् अधिकार बना रहेगा। लार्ड कैनिंग ने लाखों रुपए ईसाई मत प्रचारकों में बांटे थे। सरकारी खजाने से बिशपों को बड़े बड़े वेतन मिलते और उच्च अधिकारी अधीनस्थ कर्मचारियों पर ईसाई होने के लिए अनुचित दबाव डालते। पंजाब पर अधिकार हो जाने के बाद यह कोशिश की गई कि पंजाब में शिक्षा का सारा काम ईसाई पादरियों को सौंप दिया जाए। सेना में ईसाई धर्म प्रचार विशेष उत्साह से किया जाता था। धर्म परिवर्तन करने वाले सैनिकों को तत्काल उच्च पद दे दिया जाता था।

१८५७ ई. के अशांत वातावरण के बाद अंग्रेज कूटनीतिज्ञ इस बात का विशेष अनुभव करने लगे कि भारतवासियों के हृदय से राष्ट्रीयता के रहे सहे भाव भी समाप्त कर दिए जाएँ ताकि अंग्रेजी सम्राज्य की नींव सुदृढ़ रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दो उपाय सोचे गए- भारत में ईसाई मत का प्रचार और अंग्रेजी शिक्षा दीक्षा। यद्यपि महारानी विक्टोरिया ने अपनी घोषणा में यह वचन दिया था कि अंग्रेजी सरकार धर्म के विषय में पक्षपात या हस्तक्षेप न करेगी, तथापि एक वर्ष के बाद ही इंगलैंड के प्रधानमंत्री ने पादरियों के एक शिष्टमंडल से कहा, “समस्त भारत में पूरब से पश्चिम तक और उत्तर से दक्खिन तक ईसाई मत के फैलाने में जहां तक हो सके मदद देना न केवल हमारा कर्तव्य है, बल्कि इसी में हमारा लाभ है।”

ईसाई पादरी भारत के भोले भाले अनपढ़ लोगों में किस चालाकी से अपने धर्म का प्रचार किया करते थे, इसका कुछ वर्णन स्वामी विवेकानंद जी ने सर्वधर्म परिषद् चिकागों के अपने भाषण में किया था। उन्होंने कहा, “मैं जब बालक था, तब मुझे याद है कि भारतवर्ष में एक ईसाई किसी भीड़ में अपने धर्म का उपदेश कर रहा था। दूसरी मीठी बातों के साथ उसने अपने श्रोताओं से पूछा, ‘यदि मैं तुम्हारे देवता की मूर्ति को लाठी मारूं तो वह मेरा क्या बिगाड़ सकता है।’ इस पर एक श्रोता ने उलट कर उस से प्रश्न किया, ‘यदि मैं तुम्हारे ईश्वर को गाली दूं, तो वह मेरा क्या कर सकता है?’ ईसाई उपदेशक ने उत्तर दिया, ‘जब तुम मारोगे, तब तुम्हें दंड मिलेगा।’ तब उस आदमी ने प्रत्युत्तर दिया, ‘ऐसे ही जब तुम मरोगे, तब तुम्हें भी मेरे देवता दंड देंगे।’

उपर्युक्त वर्णन उस पृष्ठ भूमि का है जिसे सन्मुख रखते हुए हमारे १९ वीं शताब्दी के

सुधारकों को कार्य करना था। भारत का सौभाग्य है कि उसे ऐसे नररत्न प्राप्त हुए जिन्होंने भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति की रक्षा कर हमारी राष्ट्रीय भावना को पुष्ट किया। श्री आत्माराम जी ईसाई मिशनरियों की युक्तियों, प्रचार के ढंगों और उनके उद्देश्यों से सुपरिचित थे। वे इस बात को अच्छी तरह समझ रहे थे कि “कितने ही ईसाई जन प्रमाण और युक्ति के ज्ञान के अभाव में और अपने पंथ के चलाने वाले ईसा मसीह के अनुराग से अपने ही स्वीकृत धर्म को सत्य मानते हैं और कितने ही आर्यावर्त के रहने वालों को जिन की बुद्धि सत्य धर्म में पूरी निपुण नहीं है, अपने मत का उपदेश करते हैं।” श्री आत्माराम जी ने उन कारणों का विश्लेषण किया था जिन के आधार पर भारतीय युवक धड़ाधड़ ईसाई बन रहे थे। उन्होंने लिखा है, “निर्धन धन के लोभ से, कंवारे व रंडे विवाह के लोभ से, कुछ खानपान संबंधी स्वतन्त्रता के लोभ से, कुछ हिन्दुओं के देवों व उनकी मूर्तियों की अटपटी रीति भांति देखने से ईसाई हो जाते हैं।” एक और स्थान पर वे इसी विषय की चर्चा करते हुए लिखते हैं, “युरोपियन लोगों ने हिन्दुस्तान में ईसाई मत का उपदेश करना शुरु किया है। उपदेश से, धन से, स्त्री देने से, लोगों को अपने मत में बेपटिञ्ज दे के मिलाने हैं।”

भारतीय युवकों को ईसाई होने से बचाने के लिए हमारे तत्कालीन सुधारकों ने बड़े साहस व कौशल से काम किया। श्री आत्मारामजी भी स्वयं इस कार्यक्षेत्र में काम करते रहे। गुजराती भाषा में एक पादरी ने एक पुस्तक लिखी थी जिसके द्वारा जैन धर्म के विषय में भ्रातियां फैलाई गई थीं। आप ने उसके उत्तर में एक खोजपूर्ण पुस्तक लिखी जिसका नाम था “ईसाई मत समीक्षा”। आप ने ब्रह्मसमाज और आर्य समाज द्वारा इस विषय में किए गए कार्य को भी स्वीकार किया है। आप ने लिखा है, “ईसा के मत में बहुत अंग्रेजी फारसी के पढ़ने वाले लोग हैं। वे कदाग्रह से लोगों से मत की बाबत झगड़ते फिरते हैं। परन्तु ब्रह्मसमाजियों ने और दयानन्दजी ने कितनेक हिन्दुओं को ईसाई होने से रोका है।”

श्री आत्मारामजी अंग्रेजी पढ़े लिखें युवकों से प्रायः कहा करते थे, “होश में आओ। तुम कौन हो और किधर जा रहे हो? तुम्हारे पूर्वजों का चरित्र तुम्हारे लिए प्रकाशमान दीपक के समान है। उनके महान कार्यों को पढ़ो। तब तुम्हें ज्ञात होगा कि पूर्व ने पश्चिम को अपने प्रकाश से किस प्रकार लाभ पहुंचाया है। तुम्हें पूर्व की ओर देखना चाहिए जहां से सूर्य देवता अपना प्रकाश डालता है, न कि पश्चिम की ओर जिधर वह अस्त होता है। ईसाई मिशनरियों की चिकनीचुपड़ी बातों में मत आओ। वे तुम्हारे धर्म को अपमानित कर रहे हैं और तुम्हारी सभ्यता का परिहास कर रहे हैं। उनके मिथ्या प्रचार से बचने के लिए धर्म उपदेश सुनो और अपनी

धार्मिक पुस्तकों को ध्यानपूर्वक पढ़ों ।”

अहमदाबाद के एक सेठ दलपत भाई की एक धनिक वैष्णव से मित्रता थी । उसका बड़ा लड़का ग्रैजुएट था और पश्चिमी सभ्यता के कुसंस्कारों से प्रभावित होकर पादरियों की चाल में आ गया था । कुसंगति ने उसमें शराब व मांस की बुरी आदत भी डाल दी थी । उसे आचार से पतित देख कर माता-पिता बहुत व्यथित हुए । उन्होंने सेठ दलपत भाई को अपनी व्यथा सुनाई । सेठजी ने श्री आत्मारामजी के विषय में उन्हें बताया और कहा कि किसी प्रकार लड़के को इनके पास ले जाओ । वे अपने पुत्र को आपके पास ले आए । कुछ मिनटों के उपदेश ने ही ऐसा चमत्कारी प्रभाव डाला कि वह लड़का कुसंगति से हमेशा के लिए बच गया ।

वि. सं. १९४२ के सूरत के चतुर्मास के बाद अहमदाबाद से सेठ दलपतभाई का श्री आत्मारामजी के नाम एक पत्र आया था । उस पत्र में सेठजी ने लिखा था कि कुछ कुलीन और अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त नवयुवक पादरियों के बहकाने से ईसाई होने वाले हैं । आप शीघ्र अहमदाबाद पधारने की कृपा करें । पत्र मिलते ही आप बड़ौदा से विहार कर अहमदाबाद पहुंचे और ईसाई मिशनरियों की चालों पर एक सार्वजनिक सभा में भाषण दिया । आप ने उस व्याख्यान में यह सिद्ध किया कि ईसाई मत में जितनी खूबियां हैं, वे सब जैन धर्म से ली गई हैं । आपने बाइबल के कई उद्धरण जनता के सामने रखे, जिन का सब पर बड़ा प्रभाव पड़ा । आपने उन्हें बताया कि पादरी संस्कृत और प्राकृत भाषाओं से अनभिज्ञ होने के कारण भारतीय धार्मिक साहित्य को समझने में असमर्थ हैं और कपोलकल्पना कर हंसी उड़ाते हैं । बाइबल में कई ऐसी घटनाओं का उल्लेख है जो संभव नहीं । जो लोग शीशे के मकानों में रहते हैं, उन्हें दूसरों पर पत्थर नहीं फेंकने चाहिए । समझदार लोगों को ईसाई बनने से पहले अपने साहित्य और इतिहास की उनके साहित्य व इतिहास से तुलना अवश्य करनी चाहिए, तब उन्हें सच्चाई का ज्ञान होगा । आपके सत् परामर्श का बहुत प्रभाव पड़ा और कई नवयुवक ईसाई होने से बच गए ।

इस प्रकार भी श्री आत्मारामजी ने इस बात का अनथक परिश्रम किया कि भारतीय युवक विवेक खोकर ईसाई मिशनरियों के झूठे जाल में न फंसे । यदि उन्हें अध्ययन द्वारा ईसाई धर्म अच्छा प्रतीत होता है तो उनका कर्तव्य है कि वे पहले अपने धर्मशास्त्रों का नियमपूर्वक अध्ययन अवश्य कर लें ताकि ठीक ठीक तुलना हो सके और वे सच्चाई के ज्ञान से अनभिज्ञ न रहें । श्री आत्मारामजी ने तत्कालीन अन्य सुधारकों के समान भारतीय धर्म, दर्शन तथा इतिहास पर पश्चिम से होने वाले आक्रमणों का डट कर सामना किया और सच्ची भारतीय सभ्यता व संस्कृति का चित्र विश्व के सामने रखा ।

यहां इस बात का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि ईसाई मिशनरियों ने समाज सेवा के बहाने भारतीय लोगों को ईसाई बनाने का काम फिर भी जारी रखा। महात्मा गांधी भी इनके कामों को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने एक बार लिखा था- “विदेशी मिशनरियों के विषय में मेरे विचार किसी से छिपे नहीं हैं। मैंने कई बार मिशनरियों के सामने अपने विचार प्रगट किए हैं। यदि विदेशी मिशनरी शिक्षा और चिकित्सा सम्बन्धी सहायता जैसे मानवीय सहानुभूति के कामों तक अपनी प्रवृत्तियों को सीमित करने के स्थान पर उन्हें दूसरों का धर्म छुड़ाने के लिए काम में लाएंगे तो मैं दृढ़ता पूर्वक उन्हें कहूंगा कि ये चले जाएं। हरेक जाति अपने धर्म को दूसरे धर्म के समान अच्छा समझती है। भारत की जनता के धर्म निश्चय पूर्वक उनके लिये पर्याप्त है। भारत को एक धर्म की अपेक्षा दूसरे धर्म की श्रेष्ठता की आवश्यकता नहीं। इसी लेख में उन्होंने आगे लिखा था, “धर्म एक व्यक्तिगत विषय है। उसका संबंध हृदय से है। क्योंकि एक डाक्टर ने, जो अपने आप को ईसाई कहता है, मेरे किसी रोग की चिकित्सा कर दी तो उसका अर्थ यह क्यों हो कि डाक्टर मुझे अपने प्रभाव के अधीन देख कर मुझ से धर्म परिवर्तन की आशा रखे? क्या रोगी का स्वस्थ हो जाना और उसके परिणाम से सन्तुष्ट होना ही काफी नहीं? फिर यदि मैं ईसाईयों के किसी स्कूल में पढ़ता हूं तो मुझ पर ईसाइयत की शिक्षा क्यों ठोसी जाए? मैं धर्म परिवर्तन के विरुद्ध नहीं। किन्तु उस के वर्तमान ढंग के विरुद्ध हूं। आज तक धर्मपरिवर्तन एक धन्धा बना रहा है। मुझे याद है कि मैंने एक मिशनरी की रिपोर्ट पढ़ी थी। उस में उस ने बताया था कि एक व्यक्ति का धर्म बदलने पर कितने रुपए का खर्च होता है। यह रिपोर्ट पेश करने के बाद उस ने ‘भावी फसल’ के लिए बजट पेश किया था।”



श्रमण परम्परा के उज्ज्वलतम नक्षत्र थे गुरु विजयानंद

□ धर्मपाल जैन रोपड़वाले

इस विशाल विश्व में प्रतिदिन और प्रतिघंटे ही नहीं; अपितु प्रतिक्षण अनगिनत आत्माएं मानव के रूप में अवतरित होती हैं तथा अपनी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को अपने पूर्व संचित कर्मों के अनुसार पार करती हुई अन्त में काल का ग्रास बन कर इस भूतल से विदा हो जाती हैं।

किन्तु कौन उनका लेखा जोखा रखता है? कौन इतिहास में उन सब की जीवनियां संकलित करता है? और कौन उन सभी को स्मरण करने में अपना अमूल्य समय नष्ट करता है?

मनुष्य का स्वभाव केवल उन्हीं आदर्श पुरुषों को स्मरण करने का है, जो अपने जीवन की विशेषताओं से संसार को चमत्कृत कर जाते हैं, जो जीवन जीने की कला सिखा जाते हैं तथा अपना सम्पूर्ण जीवन संसार के अन्य प्राणियों के हितार्थ व्यतीत कर जाते हैं। ऐसे महापुरुष ही संसार में अपना नाम अमर कर जाते हैं और युगों-युगों तक समाज एवं विश्व के लिए सद् प्रेरणा का केन्द्र बने रहते हैं। अनंतकाल तक मनुष्य उन्हें स्मरण करता है और उनके जीवन से प्रेरणा लेकर अपने जीवन को भी सार्थक बनाने का प्रयास करता है।

हमारी भारत वसुन्धरा रत्नगर्भा है। इसने समय-समय पर ऐसे ही नर रत्नों को जन्म दिया है, जिन्होंने मानव को महामानव बनाने का और आत्मा को परमात्मा बनाने का प्रयत्न किया है। उसे इस धरातल पर येन-केन प्रकारेण असीम वैभव प्राप्त कर लेना या नाना प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कारों के परिणाम स्वरूप निर्मित की जानेवाली अद्भुत एवं विस्मय जनक वस्तुओं का

संग्रह कर लेना या अपने प्रकांड पांडित्य के बल पर जन मानस को मंत्र-मुग्ध करके उनसे आदर, सम्मान और यश की प्राप्ति कर लेना ही इस जीवन का लक्ष्य नहीं है ।

जीवन का लक्ष्य तो और है उसे समझें, पहचानें । धन, जन अधिकार और प्रतिष्ठा से प्राप्त होने वाला आनंद वास्तविक नहीं है । ये सभी सुख केवल सुखाभास है और अनित्य है । सच्चा सुख तो इन सभी से मुक्त हो जाने में है । और वह तभी सम्भव होगा जब वह बाह्य जगत से विमुख होकर अपनी आत्मा में प्रवेश करेगा । हमारी श्रमण संस्कृति इसी मार्ग का निदर्शन करती है ।

आत्मा के शाश्वत सुख का पथ प्रदर्शन करने वाली श्रमण संस्कृति मानव को आध्यात्मिक विकास एवं उच्चता का महत्त्व बताती है । वह अनादिकाल से आत्मा की अनंत शक्तियों को जगाने में मनुष्य की सहायक बनती आई है तथा धीरे-धीरे उसे कल्याण मार्ग पर अग्रसर करती है । श्रमण संस्कृति के सच्चे रूप में अपनाने वाले अनेक संत एवं साधक आत्म गुणों का विकास करते हुए स्व कल्याण के साथ-साथ पर कल्याण भी करते आए हैं ।

भारतीय संस्कृति की सच्चे अर्थों में रक्षा करने वाले दूसरे शब्दों में कहें तो उसे निरंतर विशुद्ध एवं ज्योतिर्मय बनाए रखने वाले केवल संत ही होते हैं । वर्तमान चौबीसी के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने इस सन्त संस्कृति को, जिसे हम श्रमण संस्कृति कहते हैं उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुंचाया था । उन्होंने चिंतन, दर्शन और साधना के क्षेत्र को विराट रूप देकर जन-समाज में क्रांति की एक अजस्र धारा प्रवाहित की थी ।

यद्यपि साधना एवं चेतना की वह वेगवती धारा काल प्रभाव से कुछ क्षीण भी दिखाई दी । मनुष्यों की आत्म चेतना पर प्रमाद, जड़ता, पाखंड एवं धार्मिक अन्ध विश्वासों की परतें छाती रहीं । किन्तु वे परतें भी साधना, भक्ति और उपासना की दिव्य ज्योति को पूर्णतया लुप्त न कर सकी । मन्द होने पर भी वह सतत प्रकाश फैलाती रही । इसका एकमात्र कारण यही है कि इस वसुन्धरा पर कुछ ऐसी ज्योतिर्धर आत्माएं अवतरित होती रहीं, जिन्होंने अपने प्राणों का बलिदान देकर भी प्रभुवीर के शाश्वत एवं उज्ज्वल आदर्शों की रक्षा की और अपने सुख और यश को तिजांजलि देकर सत्य मार्ग की प्ररूपणा की । अपने तप तेज एवं परिष्कृत साधना के द्वारा समाज का मार्ग दर्शन किया । उन्होंने समय समय पर गुमराह लोगों को सच्चे धर्म का स्वरूप बताया, जीव और जगत के रहस्य को समझाया और आत्मा को सर्वथा निर्बन्ध कर लेने का मार्ग सुझाया । इसी मनस्वी श्रमण परम्परा के उज्ज्वल नक्षत्र थे नवयुग निर्माता, जंगम युग प्रधान, पंजाब देशोद्धारक, विश्व वंद्य विभूति, महान उपकारी न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद्

विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज, प्रसिद्ध नाम आत्मारामजी महाराज, जिनकी पावन स्वर्गारोहण शताब्दी का पुण्य अवसर प्राप्त हुआ है ।

श्रमण भगवान महावीर स्वामी की सुदीर्घ अविच्छिन्न श्रमण परम्परा के वे कीर्तिकार थे । इस परम्परा को एक शिखर तक ले जाने का और विश्व से परिचित कराने का सम्पूर्ण श्रेय उन्हीं को जाता है ।

इस श्रमण परंपरा को उनकी समस्त प्राचीन विभूति के साथ उसे पुनर्जीवित कर उन्होंने केवल जैन धर्म और समाज पर ही नहीं, अपितु समस्त संसार पर अचिंत्य उपकार किया है ।

जिन शासन प्रभावना के अनगिनत कार्यों से अपने आदर्श एवं दिव्य जीवन से अपने अतुलनीय व्यक्तित्व एवं चमत्कृत ज्ञान गरिमा से और अपने साहित्य के कालजयी सृजन एवं शाश्वत सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा के लिए वे जैन इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर सदा अमर रहेंगे ।



आचार्य श्री विजयानंद सूरि एवं उनका प्रमुख ग्रन्थ 'जैनतत्त्वादर्श'

□ डॉ. रजनीकान्त एस. शाह

जिनशासन के प्रकाशमान ज्योतिपुंज न्यायाम्भोनिधि, पंजाब देशोद्धारक आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज जैन जगत के तथा जिन शासन के प्रभावक अग्रदूत थे। इस परम ज्योति स्वरूप, लोक नायक, गुरुवर आत्मानंदजी की प्रासंगिकता आज भी अक्षुण्ण बनी रही है। श्रीमद् आचार्य विजेन्द्रदिन सूरेश्वरजी साहब के शब्दों में, हमें इस बात की पुष्टि मिलती है। “उन्हीं के पुण्य प्रभाव से आज हमारा समाज पुष्पित है, पल्लवित है। उन्होंने विकट समय में अनेक बाधाओं एवं विघ्नों एवं संकटों को सहते हुए शासन की अनन्य सेवा की। सुप्त समाज में नव चेतना का संचार किया।”

गुरुकुल शिरोमणि आचार्य आत्मारामजी महाराज का जन्म पंजाब के जीरा जिला के लहरा गांव में १८३६ ईस्वी गुरुवार के पावन दिन हुआ था। जैन भारती महत्तरा साध्वी श्री मृगावती श्रीजी ने अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहा, पंजाब देशोद्धारक, न्यायाम्भोनिधि, पंजाब के महान ज्योतिर्धर, तार्किक शिरोमणि, क्रांतिकारी जैनाचार्य विजयानंद सूरि जी महाराज के अनंत उपकारों से जैन समाज सदा के लिए उनका ऋणी है। ‘तीर्थयात्रा क्या है?’ जिन मंदिर क्या है?’ प्रतिमा-पूजन का लाभ क्या है?’ इनकी उन्होंने सच्ची राह दिखायी है। जैन धर्म, कर्म-दर्शन, जैन इतिहास, संस्कृति एवं साहित्य का ज्ञान दिया।”

साहित्य जहां एक जाति और राष्ट्र की तत्कालीन अवस्था का परिचय देने का काम करता है वहां साहित्यकार की अंतरात्मा का यथार्थ चित्र भी पाठक के समक्ष समुपस्थित करता है। साहित्य के माध्यम से ही जातियों के उत्थान-पतन की क्रमिक कहानी का कथन किया जा सकता है। जिस जाति का अपना साहित्य नहीं, अथवा वह सुरक्षित नहीं, उसकी गिनती प्रगतिशील जीवित जातियों में नहीं हो सकती। साहित्य मनुष्य को अंधकार से प्रकाश की ओर, निराशा से आशा की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर, पतन से उत्थान की ओर तथा बंधन से मुक्ति की ओर प्रेरित करता है।

आचार्य आत्मारामजी म. सा. द्वारा लिखित साहित्य विशाल, गम्भीर, समृद्ध, विद्वतापूर्ण एवं ज्ञाननिधि रूप है। उनकी शैली विषय-प्रतिपादक और खण्डन-मण्डन युक्त थी। अध्ययन जन्य सुविधाओं के अभावों के बीच भी गहन अध्ययन करके गुरु प्रवर ने प्राप्त प्रामाणिक ग्रंथ सामग्री के आधार पर लोकभाषा में सार्थक साहित्य का सृजन किया।

सामान्यतया पारिभाषिक शब्दों की भरमार के कारण ग्रंथों में सहजभोग्यता का अभाव पाया जाता है। ऐसे ग्रंथ समाज में लोकभोग्य नहीं बन पाते हैं, लेकिन गुरुदेव आत्मानंद जी के द्वारा प्रणित ग्रंथ पूर्णतः धार्मिक एवं दार्शनिक होते हुए भी उन्होंने बड़ी मुश्किल से समझ में आने वाली विषम दार्शनिक बातों को भी ऐसी सरल, सुबोध एवं बुद्धिगम्य शैली में प्रस्तुत किया है कि पाठक के लिए सहज सुबोध हो जाती है। उनका साहित्य मर्मज्ञ विद्वान एवं सामान्य जिज्ञासु दोनों को तृप्ति प्रदान करता है। आपने पद्य एवं गद्य दोनों रूपों में अपनी समर्थ लेखनी का चमत्कार दिखाया है।

(अ) पद्य- गुरुवर आत्मानंद जी महाराज ने हिन्दी में अनेक स्तवन, भजन एवं पूजा गीतों की रचना करते हुए अपनी काव्य प्रतिभा का परिचय दिया है। आपकी पद्य रचनाएं इस प्रकार है।

(क) आत्म बावनी, (का) स्तवनावलि, (कि) सत्तराभेदी पूजा, (की) अष्ट प्रकारी पूजा (कु) नवपद पूजा (कू) स्नात्र पूजा।

हिन्दी में नवीन राग-रागिनियों में पूजा और स्तवन की रचना का सर्व प्रथम श्रेय गुरुदेव को मिलता है। आपने काव्य रचना ब्रजभाषा में की है तथापि इसमें पंजाबी, मारवाड़ी एवं गुजराती के शब्दों का विपुल प्रयोग मिलता है। इनमें भक्ति, वैराग्य एवं करुणा कूट कूट कर

भरी है ।

(आ) गद्य- गुरुकुल श्रेष्ठ आचार्य श्री विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज ने हिन्दी गद्य को भी समृद्ध किया है । लाला बाबूराम जी ने आपके साहित्य को श्रद्धा सुमन अर्पित करते हुए सत्य ही कहा है कि, “उनकी रचनाएं जितनी विशाल, विद्वत्तापूर्ण और दार्शनिक है उतनी ही सीधी-सादी, स्पष्ट, मधुर और मनोरंजक भी हैं ।”

गुरुदेव की श्रीलेखनी से निसृत गद्य साहित्य इस प्रकार है । (१) नवतत्त्व (२) जैनतत्त्वादर्थ भाग-१,२ (३) अज्ञान तिमिर भास्कर (४) सम्यकत्व शल्योद्धार (५) जैनमत वृक्ष (६) चतुर्थ स्तुति निर्णय भाग १ तथा २ (७) जैन धर्म विषयक प्रश्नोत्तर (८) चिकागो प्रश्नोत्तर (९) तत्त्वनिर्णय प्रासाद (१०) ईसाई मत समीक्षा (११) जैन धर्म का स्वरूप । इत्यादि ।

प्रस्तुत लेख में ‘जैनतत्त्वादर्थ’ का परिचय देने का विनम्र प्रयास है ।

न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य गुरुकुल शिरोमणि श्री विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज के निरन्तर प्रखर चिंतन का यह ग्रंथाकार है । प्रस्तुत ग्रंथ दो भागों में प्रकाशित है । ‘जैनतत्त्वादर्थ’ भाग- १ तथा ‘जैनतत्त्वादर्थ भाग- २ । इस महान रचना का प्रकाशन विक्रम संवत् १९४० में गुरुदेव के जीवन काल में ही हुआ था । आज जिसे राष्ट्र भाषा का सम्मान प्राप्त है ऐसी भारतीय जनमन को जोड़ने वाली पवित्र भारती गंगा सरिता समान सार्थक हिन्दी भाषा में इस रचना को शब्द देह प्राप्त हुआ । अनेक भाषाओं के अधिकारी विद्वान होते हुए भी गुरुदेव ने जैनतत्त्व, दर्शन को संस्कृत में न लिखते हुए आम जनता की लोक भोग्य, सहज, सरल, सुबोध हिन्दी भाषा के माध्यम से जिज्ञासुओं तक पहुंचाने का स्तुत्य प्रयत्न किया । इस महान पवित्र ग्रंथ सर्जक हिन्दी साहित्य के बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चंद्रजी के समकालीन थे । भारतेन्दुजी के द्वारा प्रणित प्रेरित हिन्दी साहित्य के नवनवोन्मेषी रूप में गद्य में लिखना पसंद किया । यह खेद की बात है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस युग पुरुष की साहित्य सेवा की स्वीकृति किसी ने नहीं की ।

प्रस्तुत ग्रंथ एक ऐसे महान ज्योतिर्धर के सार्थक परिश्रम का परिणाम है जो भावी जैन पीढ़ियों का रहबर है । इस महान ग्रंथ की रचना अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि पूर्ण घटना है । इस ग्रंथ के प्रथम भाग में छह अध्याय तथा द्वितीय भाग में सात से बारह अर्थात् छह अध्याय हैं । कुल मिलाकर बारह अध्यायों में सारगर्भित बातें बताई गई हैं । इस रचना का साद्यंत अध्ययन

करने वाला कोई भी जिज्ञासु जैन धर्म के रहस्य को छू सकता है। सचमुच यह महान ग्रंथ जैन दर्शन का सम्यक् बोध कराने वाला अद्भुत ग्रंथ है। इसके लेखक ने अलग-अलग विषयों पर अनेक संदर्भ, दृष्टांत, साक्ष्य आदि के समर्थन से अत्यंत उपयोगी बनाया है। यह जरूरी नहीं कि इस ग्रंथ का पठन मात्र विद्वान ही कर सकता है। हर कोई जिज्ञासु को अपनी जिज्ञासा तृप्ति के लिए यह सहज-सरल, सुगम रचना है। इसे यदि हम जैन धर्म का विश्व कोष (**Encyclopaedia of Jainism**) कहें तो अनुचित न होगा। इसमें सुदेव, सुगुरु, सुधर्म, गुणस्थान, सम्यक्त्व का स्वरूप, मूर्तिपूजा, चारित्र, पापस्थान, भक्ष्याभक्ष्य, श्रावक के दिवसीय कर्म, रात्रि कर्म, पर्वकर्म, जन्म कृत्य, जैनमत का इतिहास आदि सभी महत्वपूर्ण विषयों पर तर्क पूर्ण विचार किया गया है।

इस ग्रंथ के प्रथम अध्याय में देव का स्वरूप, तीर्थकरों के नाम, वर्ण, माता-पिता के नाम, चौबीस तीर्थकरों के बावन बोल आदि पर विचार व्यक्त किया गया है।

दूसरे अध्याय में कुदेव का स्वरूप निरूपित किया गया है। इसमें कुदेवों में स्त्री-सेवन आदि से सम्बंधित दूषण, जगत् के कर्ता का निर्णय, संसारोत्पत्ति से सम्बंधित वेदान्तमत का खण्डन आदि की विस्तृत चर्चा की गई है।

तीसरे अध्याय में गुरुत्व के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। इसमें पांच महाव्रतों का स्वरूप चरण सित्तरी और करण-सित्तरी के सत्तरभेद तथा शास्त्रोक्त गुरु के स्वरूप आदि मुद्दों पर प्रकाश डाला गया है।

चतुर्थ अध्याय में कुगुरु के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। क्रियावादियों के कालवादी, ईश्वरवादी, नियतवादी, आत्मवादी, स्वभाववादी आदि पांच विकल्प पाकर उनके पृथक्-पृथक् रूप में एक सौ अस्सी मत गिनाये हैं।

पांचवे परिच्छेद में धर्मत्व का स्वरूप निवेदित है जिसमें नौतत्व के प्रकारों का स्वरूप सुविस्तृत ढंग से वेदान्तवाद की तुलना करते हुए समझाया है।

छठे अध्याय में चौदह गुणस्थान के स्वरूप को दस भागों में समझाया है।

सातवें अध्याय में सम्यक्त्व दर्शन के स्वरूप की चर्चा है। जिसमें अरिहंत प्रभु की प्रतिमा की पूजा करना, गुरुत्व, धर्मत्व, निश्चय, सम्यक्त्व, उसकी करनी आदि है तथा वेद के परंपरागत अर्थ को छोड़कर नयी परिभाषा गढ़ने की आवश्यकता को रसमय शैली में समझाने का प्रयत्न किया है।

आठवें अध्याय में 'चारित्र' के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। इसमें अतिचार के स्वरूप, अठारह पापस्थानों की समझ, भक्ष्याभक्ष्य इत्यादि के दोषों का सविस्तार निरूपण किया गया है।

नवम् अध्याय में श्रावक के दिनकृत्य की करनी की सलाह देते हुए आहार-विहार, मलोत्सर्ग, दंत धावन, केश निखार, स्नान, निद्रा, द्रव्यपूजा, भावपूजा, सामयिक, स्नात्र आदि में श्रावक का व्यवहार कैसा होना चाहिए? देव-गुरु की आशातना से कैसे बचें? माता-पिता सहोदर, स्त्री, पुरुष, गुरु, स्नेही, सम्बंधी, नगरजनों से कैसा हमारा व्यवहार हो? आदि से सम्बंधित मार्गदर्शन इस लाक्षणिक ढंग से दिया गया है कि जैसे व्यवहार शास्त्र का पाठ्यक्रम कॉलेज में पढ़ाया जाता हो। अर्थात् यह ग्रंथ व्यवहार शास्त्र का भी विश्वकोष है।

दसवें अध्याय में श्रावक के रात्रिकृत्य, पर्वकृत्य, चातुर्मासिक कृत्य, सांवत्सरिक कृत्य, जन्मकृत्य आदि पांच कृत्यों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

ग्यारहवें अध्याय में श्री ऋषभदेव भगवान से श्री महावीर स्वामी तक जैन मतादिक शास्त्र के अनुसार इतिहास के रूप में पूर्ववृत्तांत दिया गया है। इसे अलग-अलग अध्यायों में विभाजित कर कुरुवंश एवं यज्ञोपवित की उत्पत्ति का वर्णन, याज्ञवल्क, सुलसा, पीप्पलाद तथा पर्वत प्रमुख से पुनः वेदों के स्थान पर हिंसा युक्त वेदों की रचना हुई। उसका स्वरूप ऊपर लिखित महापुरुषों के कथनानुसार निरूपित किया है।

बारहवें अध्याय में शासनपति श्री महावीर स्वामी से आज पर्यन्त ऐतिहासिक वृत्तांत को रचनात्मक शैली से समझा कर ग्रंथ का समापन किया है।

जैन सिद्धान्तों के जिज्ञासु के लिए यह एक मात्र ग्रंथ है जो ऐसा मार्गदर्शक है, जिससे जैन दर्शन का सर्वोत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त हो सकता है। सचमुच गुरुदेव ने 'गागर में सागर' भर दिया है।



कवि चन्दूलाल कृत श्री आत्मानंद जीवन चरित्र : परिचय एवं समीक्षा

□ डॉ. नरेश

कई वर्ष हले मैने पंजाब के एक विस्मृत हिन्दी कवि पंडित चन्दूलाल की रचनाएँ खोजने का कार्य आरम्भ किया था। कार्य आसान नहीं था लेकिन मेरे भीतर का उत्साह भी कम नहीं था। जहाँ-जहाँ भी मुझे पंडित जी की किसी रचना के उपलब्ध होने की आशा होती, मैं वहाँ जाता और जो कुछ मेरे हाथ लगता, ले आता। कई वर्षों की खोज के बाद मैं पंडित जी की सात रचनाओं की पाण्डुलिपियों को हस्तगत कर पाने में सफल हो गया।

अब एक अन्य स्थिति सामने आई। पंडित जी युवावस्था में ही अंधत्व को प्राप्त हो गए थे। अतः उनकी अधिकांश रचनाएं उनके शिष्यों द्वारा लिपिबद्ध की गई थीं। इनमें से कुछ रचनाएँ फ़ारसी अक्षरों में, कुछ गुरुमुखी में तथा शेष नागरी में थीं। फ़ारसी तथा गुरुमुखी लिपि में प्राप्त रचनाओं का लिप्यंतर कर, उनको ग्रन्थानुसार नियोजित करना था। इसमें भी काफी समय लग गया।

अस्तु, इन सात ग्रन्थों में से छह ग्रन्थ मेरे द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी श्रृंखला की अन्तिम कड़ी है। यह ग्रन्थ जैन मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के परम श्रद्धेय सन्त

तपगच्छाचार्य श्रीमद् आत्मानन्द का जीवन चरित है। मैं इस जीवनी को प्रामाणिक मानता हूँ क्योंकि अन्तः एवं बहिर्साक्ष्य से सिद्ध है कि कवि चन्दूलाल न केरल व्यक्तिगत रूप से ही श्रीमद् से परिचित थे अपितु पंजाब में कपितय मन्दिरों के निर्माण में आचार्य श्री के योगदान के साक्षी भी थे। इन नव-निर्मित मन्दिरों में मूर्तियों की प्रतिष्ठा के विभिन्न उत्सवों पर पंडित जी स्वयं उपस्थित थे। मैं तो यह भी समझता हूँ कि बहुत सम्भव है कवि चन्दूलाल ने इस रचना के कुछ अंश स्वयं आचार्य श्री को सुनाए भी होंगे।

मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ के नाम में तनिक-सा परिवर्तन किया है। कवि ने अपनी इस रचना को 'तपगच्छाचार्य महामुनिराज श्रीमद् आत्माराम जी आनन्द विजयजी का जीवन चरित्र' नाम दिया था। जैन धर्म में दीक्षित होने से पूर्व आचार्य श्री का नाम 'आत्माराम' था। दीक्षा के बाद वे 'आनन्द विजय' हुए। तथा कालान्तर में 'विजयानन्द' के नाम से प्रसिद्ध हुए। लोक में उन्हें 'आत्मानन्द' के नाम से स्मरण किया जाता है। पंजाब तथा हरियाणा में विभिन्न शिक्षण संस्थाएं भी आचार्य श्री के प्रसिद्ध नाम अर्थात् 'आत्मानन्द' का ही वहन करती हैं। अतः मैंने इस ग्रन्थ को 'श्री आत्मानन्द जीवन चरित' नाम देना उचित समझा है।

विषय-वस्तु

प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन धर्माचार्य श्री आत्मानन्द का जीवन चरित कविता बद्ध किया गया है। इस ग्रन्थ के नायक के रूप में मुनि श्री आत्मानन्द एक सुधारवादी आदर्श युगपुरुष के रूप में हमारे सामने आते हैं। कवि ने इस ग्रन्थ की रचना उन लोगों के लिए की है, जो मूर्तिपूजक सम्प्रदाय से सम्बद्ध होने के कारण, आचार्य श्री के प्रति श्रद्धावान हैं। यही कारण है कि इस ग्रन्थ का आरम्भ "सिमर श्री आत्म मुनिराया" से किया गया है। इस ग्रन्थ को चार भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम दो भागों में आचार्य श्री की क्रमबद्ध जीवनी है। इनमें उनके जन्म से लेकर स्वर्गवास होने तक की महत्वपूर्ण घटनाओं को कविताबद्ध किया गया है। तृतीय भाग में आचार्य श्री के विभिन्न नगरों में जाने पर उनका जो आदर-सत्कार तथा स्वागत किया गया, उसका वर्णन किया गया है और प्रसंगवश आचार्य श्री के गुणों का वर्णन भी किया गया है। तृतीय भाग को आचार्य श्री के जीवन का रेखाचित्र भी कहा जा सकता है। चतुर्थ भाग में आचार्य श्री के शिष्य मुनियों का आदरपूर्वक स्मरण किया गया है।

प्रथम भाग

प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुसार आचार्य श्री आत्मानन्द का जन्म आर्यकुल में हुआ था। अल्पायु

में ही उनके पिता का देहावसान हो गया. जीरा नामक स्थान पर लाकर उनकी माता ने उनका लालन-पालन किया। यहीं ढूँढक सम्प्रदाय के साधु मुनि श्री जीवन राम के प्रवचनों से प्रभावित होकर उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने, अपनी माता से अनुमति प्राप्त कर, साधु-जीवन धारण करने का निर्णय लिया। १० शुदी अगहन, सं. १९१० वि. के दिन मालेरकोटला नामक नगर में उनकी दीक्षा हुई तथा वे स्थानकवासी साधु बन गए। अपने गुरु के साथ उन्होंने गुर्जर देश (गुजरात) की यात्रा की। उनका अध्ययन विस्तृत एवं गंभीर होने के कारण उनके मन में अनेक प्रकार की शंकाएं उत्पन्न होने लगीं। गुरु के साथ ही वे आगरा गए। आगरा में वे मुनि रत्नचंद्र के सम्पर्क में आए। यहां चतुर्मास करके उन्होंने उनसे धर्मज्ञान प्राप्त किया। आगरा से विहार करके वे रोपड़ गए, जहां उन्होंने व्याकरण की विद्या प्राप्त की। रोपड़ में ही अपने गुरु का संग त्यागकर वे मालेरकोटला चले गए। वहाँ से सुनाम जाते हुए उन्होंने रास्ते में ही अपने मुख पर से पट्टी उतार दी और ढूँढक सम्प्रदाय को त्यागकर संवेगी सम्प्रदाय में सम्मिलित होने का निश्चय कर लिया। वे अहमदाबाद गए और मुनि बुद्धि विजय द्वारा संवेगी दीक्षा प्राप्त करके आत्माराम से विजयानन्द हो गए।

इसके बाद कवि ने उनके चतुर्मासों का वर्णन किया है। ढूँढक मत त्यागने के बाद उन्होंने पहला चतुर्मास अहमदाबाद में किया। उनका दूसरा चतुर्मास भावनगर में रहा। यहाँ से वे आबू और गिरनार के जैन मन्दिरों के दर्शन करने गए। उनका तीसरा चतुर्मास जोधपुर में हुआ। इन नगरों में अनेक श्रावकों को ज्ञानोपदेश से कृतार्थ कर वे लुधियाना आए और यहां चौमासा किया। यहां से अम्बाला और होशियारपुर होते हुए वे जंडियाला पहुँचे, जहां चतुर्मास के दौरान उनकी पुस्तक 'जैन तत्त्वादर्श' का प्रकाशन हुआ। इसके बाद वे दादनखां होते हुए अगले चतुर्मास के लिए होशियारपुर चले गए। उससे अगला चौमासा लुधियाना में किया और पुन गुजरात भ्रमण का निश्चय करके वे बीकानेर पहुँचे। बीकानेर में चौमासा करके वे पाली चले गए, जहाँ उनके प्रिय शिष्य श्री लक्ष्मी विजय का स्वर्गवास हो गया। पाली से वे राजनगर पहुँचे। राजनगर से उन्होंने अनेक जिन प्रतिमाएं पंजाब भिजवाई ताकि पंजाब में मूर्तिपूजा की सुदृढ़ परम्परा का सूत्रपात हो सके। राजनगर के चौमासे के बाद वे खम्भात चले गए, जहाँ उन्होंने 'अज्ञान तिमिर भास्कर' नामक ग्रन्थ की रचना की। उससे अगला चतुर्मास सूरत में व्यतीत करके वे भरहुत होते हुए सिद्धगिरी गए, जहाँ चतुर्मासोपरान्त समस्त संघ ने नरसी केशव धर्मशाला में आयोजित एक विशाल उत्सव में उनको 'आचार्य' पद प्रदान किया गया। अनेक तीर्थ-स्थानों

की यात्रा करते हुए वे राधनपुर पहुँचे, जहाँ अंग्रेज विद्वान हारनल के अनेक प्रश्नों का तर्कपूर्ण उत्तर देकर उन्होंने विशेष ख्याति प्राप्त की। यहाँ से तारंगा पालनपुर पाली होते हुए वे फिर जोधपुर गए और वहाँ एक और चतुर्मास किया। इस समय तक उनकी ख्याति देश की सीमाओं का अतिक्रमण करके यूरोप तक पहुँची थी। जोधपुर से वे दिल्ली आए, जहाँ मालेरकोटला के संघ ने उपस्थित होकर उनसे मालेकोटला चलने की प्रार्थना की। इस निमन्त्रण को सहर्ष स्वीकार करके वे मालेरकोटला गए और वहाँ चतुर्मास किया। जहाँ जहाँ भी वे गए, अपने ओजस्वी प्रवचनों द्वारा वे श्रावकों को तत्त्वज्ञान देते रहे। इस भ्रमण के दौरान उन्होंने कई जिज्ञासु श्रद्धालुओं को विधिवत् दीक्षा देकर अपने शिष्यत्व में स्वीकार किया।

द्वितीय भाग

इस भाग में मुनि आत्माराम के, आचार्य श्री विजयानन्द सूरि बनकर, गुजरात से पंजाब वापिस आने के बाद के जीवन का वर्णन किया गया है। इस भाग को आचार्य श्री के जीवन का उत्तरार्द्ध भी कहा जा सकता है। पंजाब में मूर्तिपूजा के प्रचलन के उद्देश्य से उन्होंने श्रावकों को जिन-मन्दिरों के निर्माण की ओर प्रवृत्त किया। इन मंदिरों के लिए उन्होंने गुजरात से तीर्थकरों की मूर्तियाँ मंगवाई और अनेक मन्दिरों में अपने हाथों बिम्ब प्रतिष्ठित किए।

मालेरकोटला से चलकर वे अमृतसर गए, जहाँ उन्होंने तीर्थकर अरनाथ की मूर्ति की विधिवत् स्थापना की। यहाँ से विहार करके उन्होंने अगला चतुर्मास पट्टी में किया, जहाँ दया सेठ नामक श्रावक की प्रार्थना स्वीकार करके उन्होंने अपने शिष्य मुनि श्री वल्लभ विजय से दीक्षा दिलाई। तदनन्तर वे जीरा गए जहाँ राधा बाई नामक श्राविका द्वारा बनवाए मन्दिर में बिम्बों की प्रतिष्ठा की। यहाँ से चलकर वे होशियारपुर गए और वहाँ गुज्जर मल द्वारा बनवाए मंदिर में मूर्तियाँ स्थापित कीं। अगला चतुर्मास उन्होंने होशियारपुर में ही किया और इस दौरान श्री कर्पूर विजय को दीक्षित किया। वे जंडियाला गए, जहाँ उन्हें शिकागो से विश्व धर्म सम्मेलन में भाग लेने का निमन्त्रण पहुँचा। वे स्वयं शिकागो नहीं गए लेकिन इस अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में मूर्तिपूजक जैन सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करने के लिए उन्होंने विद्वान श्रावक श्री वीरचन्द राघव जी गाँधी को भेजा। तदोपरान्त पट्टी जाकर उन्होंने अपने शिष्यों को 'बड़ी दीक्षा' दी और वहीं रहकर 'तत्त्व निर्णय प्रासाद' नामक ग्रन्थ की रचना सम्पन्न की। इसी दौरान उन्होंने पट्टी के मंदिर में तीर्थकर पार्श्वनाथ की मूर्ति प्रतिष्ठित की। यहाँ से चलकर वे अम्बाला गए और वहाँ के मन्दिर में भी तीर्थकर पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की। अम्बाला के बाद मूर्ति स्थापना के लिए वे

सनखतरा गए, जहाँ उन्हें श्वास रोग ने घेर लिया । उनके गुजरँवाला पहुँचते-पहुँचते इस रोग का प्रकोप बढ़ गया । अब उन्होंने अनुभव किया कि जीवन-लीला का अन्त निकट आ गया है, अतः गुजरँवाला में ही संधारा लेकर उन्होंने, इस नश्वर संसार को त्यागकर, स्वर्ग की ओर प्रयाण किया । समस्त मूर्ति पूजक संघ में इस समाचार से महाशोक छा गया । न्यायाम्भोनिधि तपगच्छाचार्य श्री सूरि विजयानन्द प्रसिद्ध नाम आत्माराम, के पार्थिव शरीर को गुजरँवाला में ही अग्नि के अर्पण किया गया, जहाँ उनके भौतिक अवशेष आज भी समाधि के रूप में विद्यमान हैं ।

अपने जीवनकाल में आचार्य श्री ने जिनमत के प्रचार-प्रसार के लिए अथख प्रयास किए तथा अनेक नगरों में मन्दिरों का निर्माण कराके उनमें तीर्थकरों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित कीं । उनके द्वारा रचे गए अनेक ग्रन्थ उनके गहरे चिन्तन-मनन और शास्त्रों के गंभीर अध्ययन का प्रमाण हैं ।

तृतीय भाग

तृतीय भाग में कवि ने सतगुरु-महिमा के माध्यम से पाठक के मन में गुरु के प्रति श्रद्धा जागृत करने का प्रयास किया है । इन रचनाओं में आचार्य श्री विजयानन्द का गुणगान, उनकी शास्त्र-विज्ञता एवं वाग्शक्ति का वर्णन, उनके जीवन की अनेक घटनाओं का आख्यान तथा विभिन्न नगरों में उनके आगमन पर आयोजित उत्सवों एवं समारोह का वृत्तान्त दिया गया है । इस भाग की अन्तिम रचना शोक गीत है, जो आचार्य श्री के देहावसान पर कवि द्वारा अनुभूत हार्दिक दुःख एवं करुणा की अभिव्यक्ति है । इस भाग में कुल सत्रह रचनाएँ सम्मिलित हैं ।

चतुर्थ भाग

छह रचनाओं पर आधारित इस भाग में, आचार्य श्री विजयानन्द के शिष्यों, विशेष रूप से उद्योत विजय तथा श्री सुन्दर विजय, का गुणगान किया गया है । आचार्य श्री के इन सुयोग्य शिष्यों ने स्यालकोट जिले के नारोवाल नगर में जो सम्मान प्राप्त किया तथा जो धर्मोपदेश दिया, उसका वर्णन भी कवि ने किया है ।

भाषा

प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा मूलतः खड़ी बोली हिन्दी है । इस ग्रन्थ में संकलित रचनाओं में अनेक तत्सम एवं तद्भव शब्दों का प्रयोग किया गया है । एक ओर जहाँ हमें श्रावक, विद्या, ज्ञान, मिथ्या, दीक्षा, शास्त्र, शिष्य, उपाश्रय जैसे तत्सम शब्दों का प्रयोग दिखाई देता है, वहाँ दूसरी ओर चौमासा, सोरण, तेरस, चन्द, निरत, चोर, धनु, नासे जैसे अनेकानेक तद्भव शब्दों का प्रयोग भी

मिलता है। इन दोनों रूपों के स्वतन्त्र प्रयोग के अतिरिक्त कवि ने तत्सम एवं तद्भव शब्दों को मिलाकर 'जिनचन्द' की 'ज्ञानझड़ी' जैसे कतिपय तत्सम-तद्भव-मिश्रित शब्दों की रचना भी की है।

लय बनाए रखने के लिए कवि ने अनेक शब्दों का स्वेच्छापूर्वक प्रयोग करके, उनकी मात्राएँ कमाधिक करने में भी स्वतन्त्रता ली है। आधीना, दासा, प्रस्थाना, विहारा, निवासा आदि शब्दों में, तुक मिलान के लिए, कवि ने 'आ' की मात्रा जोड़ ली है। इसी प्रकार 'होशयारपुरे' और 'विहारे' में 'ए' की मात्रा और 'विस्लामी' जैसे शब्दों में 'ई' की मात्रा जोड़ी गई है। लय के मोह में पड़कर कवि ने अनेक शब्दों को मात्रा-संयुक्त ही नहीं किया अपितु आवश्यकतानुसार शब्दों को मात्रा-विमुक्त भी किया है। यथा धर्मशाला को धर्मशशाल तथा हीरा को हीर कर दिया है। यही नहीं, कवि ने अनेक शब्दों का रूप परिवर्तन भी किया है। यथा मन्दिर का मन्द्र, करोड़ों का क्रोड़ो, भक्ति का भगत, धन्य का धन जैसे प्रयोग किए गए हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा पर अन्य भाषाओं का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। स्वयं पंजाबी भाषी होने के कारण चन्दूलाल अपनी भाषा का पंजाबी से प्रभावित होना नहीं रोक पाए। अनेक पंजाबी शब्दों के प्रयोग के अतिरिक्त चन्दूलाल ने कई स्थानों पर 'मे' का प्रयोग करने के स्थान पर, पंजाबी बोलचाल के अनुरूप, शब्द को ही अनुस्वारयुक्त ईकारान्त करके काम चला लिया है- जैसे 'चरणों में' के लिए 'चरणी' का प्रयोग। इसी प्रकार कवि ने कई बार 'ने' का प्रयोग करने के स्थान पर शब्द को अनुस्वारयुक्त आकारान्त कर लिया है- जैसे 'सेवकों' ने के लिए 'सेवकाँ' का प्रयोग। कई स्थानों पर बहुवचन बनाने में भी पंजाबी पद्धति का आश्रय लिया गया है, जैसे 'गुरु' का बहुवचन 'गुरुओं' ने बनाकर "गुराँ" बना लिया गया है।

पंजाबी के अतिरिक्त दूसरी जिस भाषा का प्रभाव इन रचनाओं पर दिखाई देता है, वह उर्दू है। हुक्म, लरजना, दाना, दरम्यान, आला, नज़र, मुल्क, अर्ज़, सलाह, जर, सानी, मुआफ़, शायर, फ़र्माया, मुख्तार, हदीस जैसे अनेकानेक उर्दू-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग इन रचनाओं में परिलक्षित होता है। इसके साथ ही 'घने', 'अगाड़ी' जैसे शब्दों के प्रयोग में बाँगरू भाषा का तथा 'कियो', 'भये' जैसे शब्दों में ब्रज भाषा का प्रभाव भी देखने को मिलता है। ब्रज से प्रभावित चन्दूलाल ने कई एक वचन शब्दों को बहुवचन बनाते समय 'न' का प्रयोग भी किया है, यथा चरणों का चरणन।

शब्द-रचना के अतिरिक्त कवि द्वारा प्रयुक्त मुहावरों पर भी विभिन्न भाषाओं के प्रभाव

को देखा जा सकता है। इन रचनाओं में जहाँ एक ओर हमें 'पेश न जाना' तथा 'चित्त भर आना' जैसे उर्दू मुहावरे प्रयुक्त हुए दिखाई देते हैं, वहाँ दूसरी ओर 'रस्ते में ढाना', 'चरण पाना', 'टहल कमाना', 'झड़ी लगाना', 'सीस निवाना' जैसे पंजाबी मुहावरे भी प्राप्त होते हैं।

कुल मिलाकर, इस ग्रन्थ की भाषा खड़ी बोली हिन्दी है। इस ग्रन्थ की रचना के समय (१९३५-५७ वि.) में कविता के लिए ब्रज भाषा को उत्तम भाषा माना जाता था। ऐसे समय में उनके द्वारा खड़ी बोली हिन्दी में काव्य-रचना बड़े साहस का कार्य था। निःसन्देह खड़ी बोली की साख बनाने में चन्दूलाल का योगदान श्लाघ्य है।



श्री विजयानन्द सूरि के साहित्य सृजन का क्रमिक इतिहास

□ अभय कुमार 'यौधेय'

ईसा की अठारहवीं शती का उत्तरकाल भारत वर्ष के लिए घोर विपत्तिकर एवं विनाशकारी था, पर उन्नीसवीं शती का काल, आरम्भ से अन्त तक, वीरता, बलिदान और रक्तपात से पूर्ण है।

भाषा, वांगमय और संस्कृति के लिए तो उसे काल रूप ही स्वीकारा जा सकता है। मुगल साम्राज्य, शक्तिहीन और खोखला हो चुका था। रोहेलों, जाटों और मराठों के निरन्तर आक्रमण ने समूचे देश में उथल-पुथल मचा रखी थी।

उस पर भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी का खूनी पंजा अपनी पकड़ मजबूत करता जा रहा था। इसलिए ब्रिटिश रीति-नीति के अनुसार संस्कृत, प्राकृत, पाली, मागधी, अर्ध मागधी, हिन्दी एवं उर्दू इत्यादि देशी भाषाओं का ऐसा अवमूल्यन हुआ कि वे लुप्त होने लगी।

इसके अतिरिक्त ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने एक ही झटके में हमारे सभी निजी उद्योग धन्धों को समाप्त कर दिया, यहां तक कि शिल्पियों और बुनकरों के हाथ तक काट दिए तो भारतीय युवक बेरोजगारी के शिकार हो गए।

इस पर अंग्रेजी सरकार ने भारत में नौकरशाही को प्रोत्साहन देने के लिए, अंग्रेजी पढ़े युवकों को सरकारी नौकरियों के लिए प्राथमिकता दी।

बुनियादी नीति के अन्तर्गत, अंग्रेजों ने कठोर नियम बनाया। तदनुसार अंग्रेजी पढ़े व्यक्ति को यदि डेढ़ सौ रुपए वेतन दिया गया तो देशी भाषाओं के पढ़े हुए कर्मचारियों को मात्र पचास रुपए वेतन ही दिया जाने लगा।

अंग्रेजी, अंग्रेजीराज और ईसाई धर्म का खुलकर प्रचार-प्रसार होने लगा और भारतीय धर्म एवं संस्कृति की खिल्ली उड़ाई जाने लगी।

भारतीय जन को अंग्रेज भक्त बनाया जाने लगा। रूप रंग से काले भारतीय होने पर भी वे नए भारतीय काले साहब लोग हृदय से अपने आप को अंग्रेज समझने लगे।

ऐसे ही भयानक काल में हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल का श्रीगणेश हुआ जिस में फोर्ट विलियम कालिज कलकत्ता के लल्लू जी लाल, सदल मिश्र और इंशाल्ला खां ने क्रमशः हिन्दी में लघु कथाओं का सृजन किया।

इन्हीं दिनों राम सेवक निरंजनी के योग वाशिष्ठ का हिन्दी अनुवाद जो देखने में आया तो उसकी भाषा और शैली भी वैसी ही है।

भारतेन्दु वि. सं. १९०७ से १९४१ वि. सं. में हुए हैं। इन्होंने कुल पैंतीस वर्ष की आयु पाई और इसी अल्प जीवन काल में लगभग ३३५ हिन्दी ग्रन्थों की रचना की। भारत दुर्दशा, मुद्रा राक्षस इत्यादि उनकी अत्यन्त परिपक्व एवं श्रेष्ठ रचनाएं हैं।

यही काल था हिन्दी गद्य और पद्य के प्रचुर नव सज्जन एवं प्रचार प्रसार का। अनेक काव्य, नाटक, आख्यान एवं कथाएं उन दिनों लिखी गईं। यह उन्नीसवीं शताब्दी का आरम्भ था।

पंजाब से आचार्य श्री विजयानन्द सूरि और गुजरात से महर्षि दयानन्द सरस्वती की हिन्दी रचनाएं प्रकाश में आकर समादृत हुईं। ये दोनों महापुरुष भारतीय अध्यात्म और हिन्दी का ध्वज ऊंचा करके कार्य क्षेत्र में आगे बढ़े

आचार्य श्री विजयानन्द सूरि की समस्त रचनाएं उत्कृष्ट हैं, पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव की दृष्टि से चिकागों प्रश्नोत्तर ग्रन्थ ने भारत के सांस्कृतिक विनाश को रोकने और मातृभूमि की अस्मिता की रक्षा में बहुत योगदान दिया।

इन्होंने फिरंगी द्वारा किए जा रहे ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार में अपनी समर्थ हिन्दी रचनाओं द्वारा एक जोरदार कील ठोक दी। इससे भारतीय संस्कृति की चादर में पड़ रही झोल

एक बार तो रुक गई ।

आचार्य श्री विजयानन्द सूरि (पू. आचार्य आत्माराम जी महाराज) के चेतन स्वर, श्री कृष्ण की मुरली की तरह श्री वीर चन्द राघवजी गांधी के माध्यम से सन् ई. १८९३ में अमरीका, फ्रांस और कैनेडा इत्यादि देशों में दूर दूर तक व्याप्त हो गए, जिसके प्रभाव से अनेक विदेशी स्त्री पुरुषों ने जैन दर्शन के अध्ययन में मन लगाया ।

आचार्यश्री के ये आध्यात्मिक स्वर अपनी तीव्र प्रभावशाली ऊर्जा के बल पर योरोपीय देशों की जनता के हृदय में उतरने लगे ।

उन देशों के तत्कालीन प्रसिद्ध समाचार पत्रों ने अनेक मास तक पूज्य आचार्य श्री विजयानन्द सूरि के जीवन दर्शन और कृतित्व पर निरन्तर चर्चा जारी रखी ।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रमुख प्रतिनिधियों ने छल बल जो भारतीय संस्कृति का विकृत रूप बनाकर अपने देशवासियों को दिखाया था, उसका प्रभाव, पूज्य आचार्य श्री के योग्य प्रतिनिधि श्री वीरचन्द राघवजी गांधी के द्वारा योरोपीय देशों में किए गए धारा प्रवाह प्रवचनों ने पर्याप्त मात्रा में समाप्त कर दिया ।

आचार्यश्री का सृजित साहित्य तब से लेकर आज तक विद्वत समाज में समादृत है । उसका अध्ययन मनन और मूल्यांकन करें तो अनेक तथ्य सामने आते हैं ।

उन्होंने जिस भाषा को अपने पद्य साहित्य में प्रयुक्त किया उसमें कोमलता और भाव प्रवणता के साथ साथ मुखरता भी है जैसे-

‘जिम पद्मिनी मन पियु बसे,
निर्धनिया हो मन-धन की प्रीत ।
मधुकर केतकी मन बसे,
जिम साजन हो विरही जन चीत ॥१ ॥

किरसन मेघ आसाढ़ ज्यों,
निज वाछड़ हो सुरभि जिम प्रेम ।
साहब अनन्त जिनन्द सों,
मुझ लागी हो, भगती मन तेम ॥२ ॥

प्रीति अनादिनी दुःख भरी,
मन कीधी हो पर पुद्गल संग ।
जगत भमियों तिन प्रीति सों,
सांगधारी हो नाच्यो, नवनवरंग ॥३ ॥

जिसको अपना जाणिया,
तिन दीया हो, छिन में अति छेय ।
पर जिन केरी प्रीतड़ी,
मै देखी हो, उनते निस नेह ॥४ ॥

मेरो नहीं कोई जगत में,
तुम छोड़ी हो जग में जगदीश ।
प्रीत करूं अब कौन सों
तुम त्राता हो, मोने विस्वांबीस ॥५ ॥

आतमाराम तो माहरो
सिर हेसरा हो, हेड़ा नवहार ।
दीन दयाल किरपा करके,
मुझ बेगा हो, पार उतार ॥६ ॥

उपरोक्त रचना में पंजाबी, गुजराती, देशी भाषाओं और राजस्थानी डिंगल भाषा का पुट स्पष्ट है । कुछ शब्द जैसे साहिब, किरसन और निर्धनियां जैसे कबीर की रचनां की सधुक्कड़ी भाषा के कहे जा सकते हैं ।

वस्तुतः भक्त के हृदय से फूटे स्वर स्वभू संगीत होते हैं और शब्द अनमोल हो जाते हैं । इसी तरह भक्ति के स्वर स्वयम् में छन्द होते हैं ।

आचार्य श्री विजयानन्द सूरि जी से कुछ शती ही पूर्व भक्त रैदास, दादू फरीद और गुरु नानक जी ने जो रचनाएं की भक्ति प्रधान होने से उनमें भी आचार्य श्री जी की तरह ही अनेक भाषाओं का मिला जुला प्रयोग हुआ है ।

यद्यपि पूजा स्तवनों में प्रायः प्रचलित राग रागिनियों के दर्शन होते हैं । पीलू आसखरी,

मल्हार, और अन्य अनेक रसीली रागनियों में ही उन प्रभु भक्ति के स्तवनों को पूज्य आचार्य श्री ने बड़ी कुशलता से बांधा है ।

अन्यत्र गीतों को परम पूज्य आचार्य श्री विजयानन्द सूरिजी ने सहज भाव से अनेक अलङ्कारों से सजाया संवारा है । छटा देखें:-

पद्म प्रभु मुझ प्यारा जी
मन मोहन गारा ।
चन्द चकोर मोर घन चाहे
पंकज रवि बिन सारा जी ॥
त्यो जिन मूरत मुझ मन प्यारी
हिरदे आनन्द अपारा जी ॥

इनकी कविताएं विविध छन्दों और गीतों में हैं और सृजन शुद्ध शास्त्रीय आधार पर है । ऐसी राग रागनियों में इन्होंने अपने छलकते भक्ति भावों को बांधा है कि कोई राग विद्या का जानकार न होने पर भी अपने ही स्वर में गा सकता है । उनके रसोद्रेके में कहीं भी त्रुटि नहीं होती ।

इतनी अल्पायु में इतने विस्तृत अध्ययन-मनन और चिन्तन के साथ पद यात्राएं भी निरन्तर चलती रहीं । श्रमण मर्यादा के अनुकूल, चारित्र-पालन करते हुए, इस तरह का बहुमुखी ज्ञान, कुछ थोड़े से व्यक्तियों में ही उपज पाता है । कला और अध्यात्म का इतना श्रेष्ठ और अद्भुत समन्वय बहुत कम व्यक्तियों में देखा सुना गया है ।

भारतीय संस्कृति का उत्थान, स्पष्ट रूप से उन्हें हिन्दी और संस्कृत के माध्यम में ही दिख पड़ा । उन्होंने भाषा को किसी जाति की विरासत न मानकर, अन्तर्भावनाओं को अभिव्यक्ति देने का माध्यम स्वीकार किया ।

यह अपने में एक श्रेष्ठ विचार था । उन्होंने ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में सामायिकता की अनिवार्यता को नकारा नहीं । उनकी दृष्टि यहां भी समन्वयात्मक ही रही । शिक्षा और अनुशासन की नई पद्धतियों में उन्हें रुचि थी, जिसका प्रभाव उनके अन्तेवासी प्रिय शिष्य एवं पट्टालंकार, युगवीर आचार्य वल्लभ सूरिजी में परिलक्षित हुआ ।



आत्माराम

□ जयचंद्र बाफना

जिन प्रतिमा प्रतिभा प्रमाण ।

हर्षोल्लास और जय जयकार ॥

सुमनों की सुवास, रत्न जटित मणि माणेक का प्रकाश, हिमगिरी से प्रपातित शुभ्र मनहर प्रपातों का रणकार, चंचल अविचल बयारों का मंगल आशीर्वाद-पंजाब की पावन भूमि पर प्रसर प्रसर कर रहा था जयकार । वसुंधरा को नंदनवन बनाने, स्वरूप सजाने, अवतरित हुए थे आत्माराम !

बचपन बीतते न बीतते उद्वेलित था यौवन उपहार । यानी मादकता लसी वसंत श्री-भर लाई थी, बहार ।

आत्माराम असाधारण मेधावी थे । पराक्रमी और पुरुषार्थी थे । अपने हित-अहित से भिन्न थे । कलह-कंकास के अशुभ परिणाम के पारखी थे । संसार के वेर झेर को पहिचानते थे । विशेषतया पल प्रतिपल के जन्म मरण के साक्षी होने से उसके करुण क्रंदन की असह्य पीड़ा से परिचित भी थे । अतः एवं उन्होंने उनकी विरह व्यथा ने, सुंदरता सजने का संकल्प किया । भव्यता के भू प्रांगण में प्रविष्टि पाने का पराक्रम किया ।

उनकी ही भावना के अनुरूप इन्हें श्री जीवनरामजीका समागम हुआ । हत्तल वसी उदारता कसमसी । संत सस्मित सुहास से वह विजडित हुई । कर्मण्य आत्माराम की सत्यमेव जयते हुई ।

बात ही बात में अनवरत प्रयास में दस वर्ष गुजर गये फिर भी मन की साध नहीं सधी,

आकांक्षाएं अतृप्त ही रहीं। पहुंचना था जहाँ वह क्षितिज रेखा ही रही।

फिर भी पुरुषोत्तम ने हिम्मत नहीं हारी। लड़खड़ाने पर भी प्रगति जारी रखी। प्रखर प्रतिभाशाली की खुशियाली, आगम अध्यवसायी होने से दिन दूनी रात चौगुणी पूंजीभूत होने लगी। रवि रश्मियां झिलमिलाने लगीं। निरंतर अध्ययन से उन्हें खरे खोटे की परख होने लगी। जिज्ञासु को छिछोरी वृत्ति नहीं जंची। अतएव उन्होंने ज्ञानोपार्जन की कोशिश जारी रखी। यही कारण था कि प्रवर्तमान पिस्तालिस आगमों की मूल ही नहीं बल्कि उसकी भाष्य, चूर्णि, निर्युक्ति, टीका प्रभृति की आवृत्ति हृदयंगम की और भगवती सूत्र की भी जानकारी हासिल की। जब उन्होंने यह पढ़ा :-

“तहिं चेइअई वंदई
तत्र चैत्यानि वंदते”

प्रभंजन हिल्लोरित हुआ। दुर्विनीत विचारों में क्रंदन हुआ। शंका-कुशंकाओं से विमुक्त होते ही प्रभाकर की प्रभा से झिलमिल हुआ। और जैसे जैसे सरिसर सर कर काल क्रम से निर्मल बनकर प्राणवल्लभा सी सुखकर हुई- आत्माराम को स्वानुभूति हुई। और क्यों न होती आगमों के आदर्श की वह ज्योति जो था।

और जब श्री आत्मारामजी की प्रतिभा सम्पन्न पूज्य रत्नचंदजी से आगरा में मुलाकात हुई, ज्ञान-गंगा निःसृत हुई। राज प्रश्नीय और जीवाभिगम आदि आगम ग्रंथों में सिद्धायतनों, जिन शाश्वत भवनों, देवाधिदेवों की दिव्य प्रतिमाओं ने अंतर अभिराम रची दिव्य दृष्टि की सृष्टि की।

गुरुवर जब तक पंजाब में विचरे तब तक उन्होंने मुनिराजों को लोगों के परिगण को, सत्य समझा समझाकर वस्तु स्थिति का ज्ञान करवाकर दिव्यता का दिग्दर्शन करवाकर जीवन धन्य बनाने का प्रयास करते रहे। मंगल महोत्सव जगह जगह मनाते रहे।

श्री आत्मारामजी नगर नगर घूमे, गांव गांव विचारे। आपने अपनी अप्रतिम प्रतिभा से, अकाट्य शास्त्रोक्तियों से एवम् वाक पटुता से ऐसा माहौल रचा कि शत्रु शत्रु न रहा मित्र हो गया। मतलब यह कि गुरुवर हुक्म के इक्के बन गये। प्राण प्राण के प्राणाधार बन गये। जहाँ जहाँ वे गये, वशीकरण करते गये, प्यार परसते गये। गणधर रचित द्वादशांगी के दुंदभी निनाद से जय जयकार करते गये।

स्थानकवासी पंथ के गगन चुंबित कगारों को जगह जगह से ढहते देख गुरुवर की सचोट सटीक प्रशस्तता देख दूढक पंथ के दिग्गज मुनिराजों को हृदय परिवर्तन देख श्रावक वर्ग को

गुरुदेव की प्रेम परिधि में आवर्तित देख, तत्कालीन स्थानकवासी संप्रदाय के मुखिया श्री अमरसिंहजी, आग बबूली ज्येष्ठ दुपहरी से धांय धांय जलने लगे। आक्रोश प्रज्वलित करने लगे। अतएव गुरुवर के विरुद्ध छल प्रवंचना का जाल बिछाने में लग गए। इसके तहत ही उन्होंने एक मेजर नामा तैयार किया, जो इस प्रकार था।

स्थानकवासी संप्रदाय का सर्वनाश करने हमारे प्रमाणित आगमों का अस्तित्व मिटाने, मंदिर मूर्ति का माया जाल फैलाने वितंडावादी गुमराह कर रहे हैं पंजाब के प्रशस्त संघ को

वास्ते गांव गांव और नगर नगर के श्री संघों से प्रार्थना है कि ऐसे विद्रोहियों के सम्पर्क में हर्गिज न आएँ न उनसे किसी भी तरह का व्यवहार ही करें, बल्कि उन विद्रोहियों को गोचरी, पानी व आवास आदि उपलब्ध न करवाकर पुण्यशाली बनें।

हुक्म की तोहिन करने वालों का संघ से विच्छेद किया जाएगा। हस्ताक्षर अमरसिंह, जीवनराम आदि आदि।

मेजर नामा हाथों हाथ घूमता रहा, लोगों को गुमराह बनाता रहा और एक दिन वह गुरुवर के समक्ष उसे तस्दीक करवाने के लिए पेश किया गया। गुरुवर ने वह पढ़ा और अपने पूज्य श्री का ध्यानाकर्षित करते हुए पूछा- क्या मुझे जिनवाणी के अक्षर को क्षर क्षर कर हस्ताक्षर करने होंगे? श्री पन्नालालजी बीच में ही टपक पड़े आपकी सुरक्षा हेतु आपको मेजरनामे पर हस्ताक्षर करना ही होगा। गुरुवर के भवें तन गये। वे चीख उठे श्री पन्नालालजी, प्रश्न मैंने आपको नहीं पूछा है? आप बीच में ही टांग क्यों अडाते हो। मैं अपना हित अहित जानता हूँ। बिचारे पन्नालालजी सकपका के रह गये, न जा सके न रुक सके- हाय तौबा बन गये। गुरुवर ने आगंतुकों को साफ साफ कह दिया “जिनाज्ञा की अवज्ञा में बर्दाश्त नहीं करूंगा।” आगंतुक बिचारे बिचारे ही बन गये।

प्रतापी प्रताप का प्रभुत्व, प्रासाद संयुक्त था अतः जो भी इनका विरोध करने आते वे गुरुवर से पुंजीभूत होकर उनके ही बन जाते थे। वे निर्युक्ति भाषा की टीका से ऐसा चित्रहार बनाते थे कि उसे परिधानकर हार जीत में परिणत कर जाते थे।

गुरुदेव केवल शास्त्रवेत्ता ही न थे बल्कि कविश्वर भी थे। श्री हुक्म मुनि के अनुनय पर उन्होंने संगीत लास्य लय ताल से सनी “जिन चौबीसी” रची जो अमर बन गई। इसके रसास्वादन से ही यह अनुभूत होगा।

कलश : चउवीस जिनवर सयल सुखकर गावतां मन गह गहे ।

संघ रंग उमंग निज गुण, भावतां शिव पदलहे ॥
नामे अम्बाला नगर, जिनवर वैन रस भविजन पिये ॥
संवच्छरो खं आनि निधि विधि रूप आतम जस किये ।
अब गुरुवर रचित दोहे का भी रस पान कीजिये ॥
जिनवर जस मन मोद थी, हुक्म मुनि के हेत ।
जो भवि गावत रंग सूं, अंजर अमर पद देत ॥

जब कि हिंदी भाषा अपने शैशव काल में थी एवम् उसकी संगीतमयता अभी तक नहीं खिल खिललाई थी ऐसे अपरिपक्व काल में ऐसी अनुपम कृति रच पाना गुरुवर की मेधावी मानस की फलद्रुपता ही कारण थी ।



पश्चिम में जैन धर्म एवं संस्कृति के सर्व प्रथम उद्घोषक : श्री वीरचन्द राघवजी गांधी

□ मधराज मेहता

अत्यंत आकर्षक व्यक्तित्व, ऊँचा कद, सुदृढ़ और संतुलित शरीर, सुन्दर और आकर्षक नाक नक्श और ओज तथा प्रतिभा से झिलमिलाता चेहरा, ये संक्षेप में श्री वीरचन्द राघवजी गांधी के व्यक्तित्व की विशेषतायें थीं। श्री वीरचन्द राघवजी गांधी का नाम जेहन में आते ही स्मरण हो आता है उस पुण्य श्लोक व्यक्ति का जिसने न्यायाम्भोनिधि, पंजाब देशोद्धारक, नवयुग निर्माता, वर्तमान युग के आद्य आचार्यश्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वरजी म. सा. के चरणों में बैठकर जैन धर्म की महत्वपूर्ण बातों को हृदयंगम किया और सन् १८९३ में उनका प्रतिनिधित्व करने सर्वधर्म परिषद् में भाग लेने अमेरिका के चिकागों नगर चल पड़ा।

श्री वीरचंद राघवजी गांधी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने पाश्चात्य जगत के समक्ष जैन धर्म की महत्वपूर्ण बातों को अत्यंत स्पष्टता और बारीकी के साथ रक्खा और उनको बताया कि जैन धर्म न तो हिन्दू धर्म की शाखा है और न ही बौद्ध धर्म की बल्कि अपने आप में एक स्वतंत्र धर्म है और भारत में अत्यंत प्राचीन काल से चला आ रहा है। यह वह समय था जब पाश्चात्य जगत को भारत की संस्कृति तथा जैन धर्म के विषय में अत्यंत न्यून ज्ञान था। भारत को अमेरिकी जनता ऐसा देश मानती थी जिसकी न तो अपनी कोई संस्कृति थी और न ही सभ्य जीवन। वे भारत को राजा महाराजाओं, चीतों, सर्पों और अंध विश्वासियों का देश मानते थे। उस समय

अमेरिका के कुछ धार्मिक विचार वाले लोगों और सोसायटियों ने ईसाई मिशन हमारे देश में हमारी जनता को संस्कृति और धर्म की शिक्षा प्रदान करने हेतु भेजे। ईसाई मिशनरियों ने अज्ञानवश अथवा समुचित ज्ञान के अभाव में इस देश के विषय में अनेक मनगढ़ंत, कपोल-कल्पित, झूठी, विकृत और भ्रांत धारणायें अमेरिकी समाज में फैलाई। श्री वीरचन्द्र राघवजी गांधी ने अपने अमेरिकी प्रवास के दौरान उनको यथा शक्ति दूर करने का प्रयत्न किया। उन्होंने अमेरिकी समाज में भारत के विषय में फैलायी गई भ्रांत धारणाओं और विकृतियों पर कड़ा प्रहार किया। उनकी भाषा में प्रहारक शक्ति थी और निर्भयता भी। उन्होंने ईसाई मिशनरियों की गतिविधियों और भ्रामक प्रचार की धज्जियां उडा दी और अमेरिकी समाज को सही स्थिति से अवगत कराया।

इस नरपुंगव का जन्म महुवा-काठियावाड़ में २५ अगस्त सन् १८६४ को एक संभ्रांत एवं प्रतिष्ठित संस्कारी जैन परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री महुवा के अत्यंत प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से थे। वे अपनी ईमानदारी, सत्य निष्ठा और धार्मिक विचारों के लिये विख्यात थे। वे एक समाज सुधारक भी थे और अपने जीवन में आदर्शों के प्रति वचनबद्ध थे। उनके पिताश्री ने उस समय प्रचलित कुछ सामाजिक बुराइयों के लिए संघर्ष किया और उनको नष्ट करने में उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। श्री वीरचन्द्र भाई की प्रारंभिक शिक्षा भावनगर में हुई। वे प्रतिभाशाली तो थे ही उन्होंने मेट्रीक की परीक्षा में सर्व प्रथम स्थान प्राप्त किया। इस उपलक्ष्य में उन्हें छात्रवृत्ति प्राप्त हुई और वे उच्च अध्ययनार्थ भावनगर से बम्बई चले गये। वहाँ उन्होंने सुप्रसिद्ध एलफिन्स्टन कॉलेज में प्रवेश लिया और वहाँ से स्नातक परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की।

२१ वर्ष की अल्पायु में श्री वीरचन्द्र भाई अपनी कुशाग्र बुद्धि एवं प्रखर वक्तृत्व शक्ति के बल पर जैन ऐसोसियेशन आफ इंडिया के सचिव बन गये। उन्होंने पालीताणा जुल्म केस और श्री मक्षीजी तीर्थ के केस में अच्छी सहायता की। सन् १८९१ में श्री सम्मत् शिखर तीर्थ पर चरबी बनाने के कारखाने के मामले में राय बहादुर बट्टीदासजी से सहयोग किया और अंततोगत्वा उस केस में विजय प्राप्त की। अंग्रेज शासकों ने हमारे परम पावन तीर्थ श्री सम्मत् शिखरजी, जहाँ बीस तीर्थकरों ने निर्वाण प्राप्त किया है, की पवित्रता को स्वीकार किया और कारखाना बनाने की आज्ञा को निरस्त किया।

सन् १८९३ का वर्ष श्री वीरचन्द्र गांधी के जीवन का अत्यंत स्वर्णिम वर्ष कहा जा सकता है क्योंकि इसी वर्ष ने उन्हें पाश्चात्य जगत में जैन धर्म के महान उद्घोषक के रूप में विश्व मंच

पर स्थापित किया। सन् १८९३ में विश्व के सभी प्रचलित धर्मों की एक कांग्रेस अमेरिका के चिकागों नगर में आयोजित की जा रही थी। इस कांग्रेस में विश्व भर के धार्मिक पुरोधाओं को आमंत्रित किया गया था। हमारे परम पूज्य महान क्रांतिकारी जैनाचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी म. सा. प्रसिद्ध नाम श्री आत्मारामजी को भी इस धर्म सभा में उपस्थित रहने के लिये आमंत्रित किया गया था पर चूंकि जैन साधु का आचार समुद्र यात्रा के लिए निषेध का था अतः आचार्य श्री तो उस धर्म सभा में उपस्थित हो नहीं सकते थे पर उनकी उत्कट इच्छा थी कि इस धर्म सभा में जैन धर्म का भी प्रतिनिधित्व होना चाहिये ताकि पाश्चात्य विश्व इस महान धर्म के बारे में आधिकारिक रूप में जान सके। उन्हें जब आमंत्रण पत्र मिला तो उन्होंने जैन एसोसियेशन आफ इंडिया बम्बई को एक पत्र लिखा कि वे ऐसे किसी विद्वान एवं समर्पित व्यक्ति का नाम सुझावे जो अमेरिका जाकर जैन धर्म का उनकी तरफ से प्रतिनिधित्व कर सके। पत्र प्राप्त कर सबकी दृष्टि श्री वीरचन्द भाई की ओर गई जो अपने धार्मिक दर्शन, गहन ज्ञान और विद्वत्ता के लिये सुविख्यात थे। आचार्य श्री को उनका नाम भेजा गया। आचार्य महाराज श्री ने उन्हें अपने पास अमृतसर में बुलाया और एक महीने तक अपने पास रखवा और जैन धर्म के बहुत से ज्ञातव्य विषयों से भली भांति परिचित कराया और अपना स्वयं का निबंध, 'चिकागों प्रश्नोत्तरी' लिख कर अपने अमोघ आशीर्वाद के साथ विदा किया। विदा के समय आचार्य श्री ने उन्हें तीन प्रतिज्ञायें भी दिलवाई। वे विदेश प्रवास के दौरान ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करेंगे। शुद्ध आहार का उपयोग करेंगे और स्वदेशी वस्त्र ही पहनेंगे। श्री गांधी ने उपर्युक्त प्रतिज्ञाओं का पाश्चात्य यात्रा में मन, वचन एवं काया से पालन करने का नियम धारण किया और पूज्य गुरुदेव से वासक्षेप प्राप्त कर बम्बई के लिये प्रस्थान किया। बम्बई श्रीसंघ ने उन्हें अत्यंत भावभीनी विदाई दी।

सर्वधर्म परिषद का अधिवेशन सितम्बर १८९३ में प्रारंभ हुआ और लगातार सत्रह दिन तक चलता रहा। आचार्य श्री के इस विद्वान प्रतिनिधि ने जिस योग्यता के साथ अपना पक्ष प्रस्तुत किया और उससे वहां की जनता पर जो प्रभाव पड़ा, उसका एक नमूना इन शब्दों में प्रतिबिंबित होता है।

“A number of distinguished Hindu Scholars, philosophers and religious teachers attended and addressed the Parliament Same of them taking rank with the highest of any race for learning,

eloquence and piety But it is safe to say that no one of oriental scholars was listened with greater interest than the young layman of the Jain Community as he declared the ethics and philosophies of his people”

भावार्थ:- “कई एक प्रसिद्धि हिन्दू विद्वान, दार्शनिक तथा धार्मिक नेताओं ने कांफ्रेंस में भाग लिया और अपने भाषण किये । उनमें से कुछ एक विद्वान तो अपनी विद्वत्ता, वाग्मिता तथा पवित्रता में किसी भी जाति के बड़े से बड़े विद्वान के साथ टक्कर ले सकते थे । पर यह बात निश्चय से कही जा सकती है कि जिस अभिरुचि से इस जैन नवयुवक का जैन तत्वज्ञान और आचार संबंधी भाषण सुना गया, उस तरह का किसी भी और पूर्वोक्त विद्वान का नहीं सुना गया ।”

श्री वीरचंद भाई दो वर्ष तक अमेरिका में रहे और उन्होंने अमेरिका के प्रसिद्ध नगरों यथा बोस्टन, न्यूयार्क और वाशिंगटन आदि शहरों में ५३५ व्याख्यान किये । कई व्याख्यानों में जनता की उपस्थिति हजारों में रही । इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अमेरिकी जनता ने उन्हें कितनी शांति और रुचि से सुना । जैन धर्म की शिक्षा के लिये श्रीगांधी ने अमेरिका में पाठशालायें स्थापित की । वाशिंगटन में “गांधी फिलासफिकल सोसायटी की स्थापना हुई । उनके उपदेशों से प्रभावित होकर बहुत से व्यक्तियों ने मांस भक्षण का त्याग कर दिया । कितने ही व्यक्तियों ने ब्रह्मचर्य अंगीकार किया । अनेकों ने श्रद्धापूर्वक जैन धर्म को मानना प्रारंभ किया । अमेरिका में जैन धर्म की सफलता के झंडे गाडने के पश्चात् श्री वीरचन्द भाई यूरोपीय देशों की यात्रा पर निकल पड़े । सन् १८९५ में रॉयल एशियाटिक सोसाटी के प्रबन्ध में लार्ड मारेल की अध्यक्षता में इंग्लैण्ड में भाषण किये । इसी प्रकार फ्रांस और जर्मनी में भी अनेक स्थानों पर उन्होंने विद्वत्तापूर्ण भाषण दिये । जुलाई १८९६ में वे वापिस बम्बई लौटे । भारत भूमि पर लौटने के उपरान्त उनका विद्वानों और वीरोचित सम्मान किया गया और विशाल मानव मेदिनी की उपस्थिति में उन्हें अभिनन्दन पत्र अर्पण किया गया । श्री वीरचन्द भाई बम्बई से सीधे चिकागों कांफ्रेंस का वृत्तान्त तथा अपनी अमेरिका और यूरोप यात्रा का लाभ अपने मुख से सुनाने के लिये अंबाला पहुँचे जहां पूज्य गुरुदेव श्री विजयानंद सूरि बिराज रहे थे । उन्होंने आचार्य श्री को बतलाया कि पाश्चात्य देशों की जनता सत्य ग्रहण एवं जानने के लिए किस प्रकार उत्कण्ठित है परन्तु उन्हें सत्य धर्म का उपदेश सुनाने वाला नहीं है ।

चिकागों सर्वधर्म परिषद के निमित्त जैनाचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरि को श्री वीरचंद राघवजी गांधी के द्वारा पाश्चात्य देशों में जैनधर्म का सन्देश पहुंचाने का अवसर मिला और विश्व रंगमंच पर जैन धर्म को स्थापित करने का सुयोग प्राप्त हुआ। साथ ही साथ पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान जैन धर्म के तत्वों की ओर भी आकर्षित हुआ।

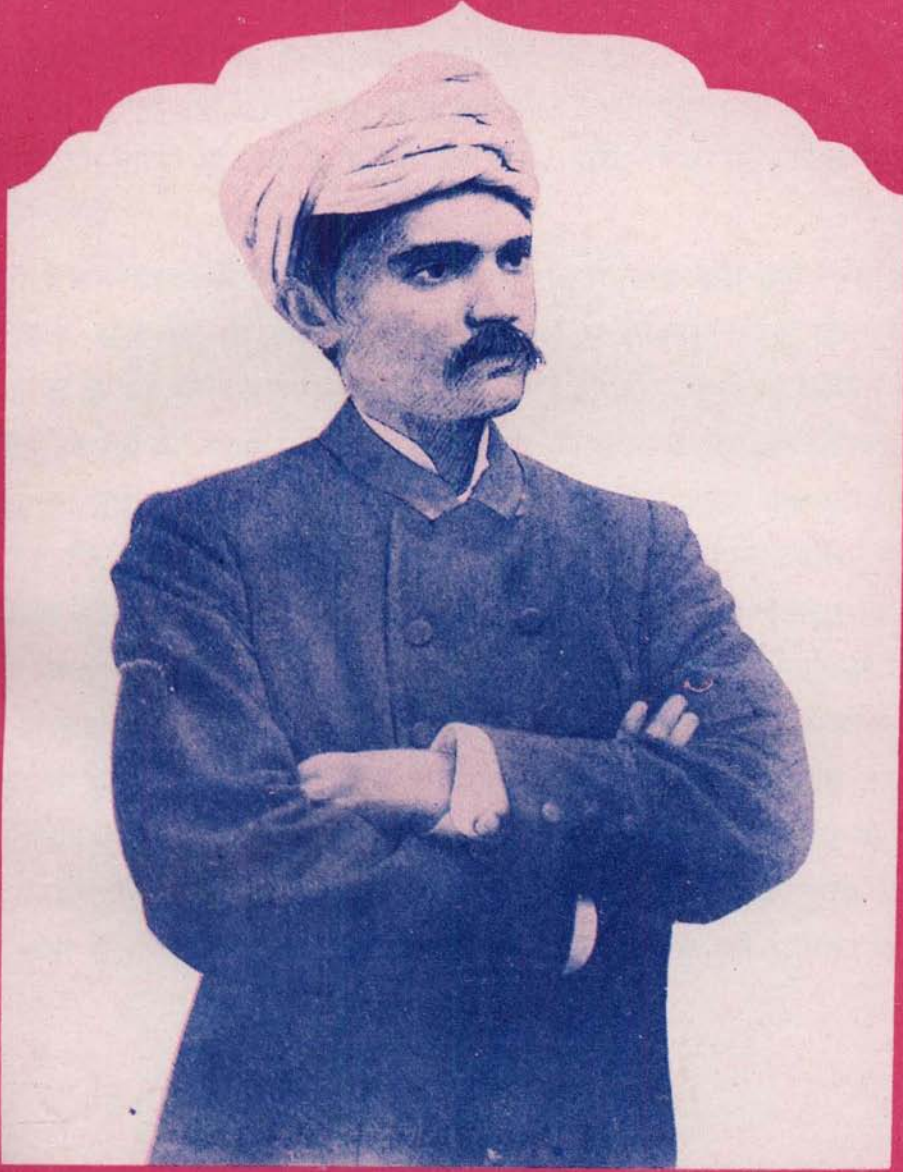
अमेरिका में श्री वीरचन्द भाई की वहां के पादरियों, सामान्य जनता तथा प्रेस ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की। श्री ए. ब. शेरमान जो कि संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्किट कोर्ट में एक महत्वपूर्ण अधिकारी थे उन्होंने निम्न भावपूर्ण शब्दों में अपनी भावना व्यक्त की है।

“It has rarely, if ever, been my good fortune to meet a man whose reading and culture have been so varied and who with all has so weet sincere and teachable a spririt as Mr. Gandhi”

अमेरिका, इंग्लेण्ड और यूरोपीय देशों की यात्रा से लौटने के पश्चात् वे धर्म और सामाजिक सेवा में लग गए और उन्होंने अपने सोलिसिटर के व्यवसाय को एक प्रकार से तिलांजलि ही दे दी और अपना सम्पूर्ण समय जैन दर्शन और समकालीन दर्शनों के गहन अध्ययन के लिये देने का निश्चय कर लिया। बम्बई में उन्होंने जैन धर्म के सिद्धान्तों के प्रचार प्रसार के लिये ‘श्री हेमचन्द्राचार्य क्लास’ की स्थापना की। यहां उन्होंने जैन धर्म के अत्यन्त गूढ विषय कर्म सिद्धान्त और निर्वाण सिद्धान्त पर अनेकों भाषण किये। आर्य समाज, बुद्धिबर्धक समाज और थियोसोफीकल सोसायटी ने उन्हें अपने यहां भाषण कर देने के लिये ससम्मान आमंत्रित किया। इसी बीच उनके अमेरिकी मित्रों ने फिर उन्हें अमेरिका आने के लिये आग्रह किया ताकि वे जैन धर्म व उसके सिद्धान्तों के बारे में और अधिक समझा सकें। उन्होंने जैन धर्म के व्यापक हित में निर्णय लिया कि उन्हें इस आमंत्रण को स्वीकार कर लेना चाहिए और सन् १८९६ में ही वे फिर अपने परिवार के साथ अमेरिका चले गये। अपने द्वितीय प्रवास में उन्होंने अपना समय अमेरिका और इंग्लेण्ड में इस प्रकार बांटा कि पहले छः महीने तक वे अमेरिका में जैन धर्म का प्रचार करने हेतु रहे तो शेष छः महीने उन्होंने इंग्लेण्ड में इस कार्य हेतु अर्पण किये। इंग्लैण्ड में रहते हुए उन्होंने कानून की सर्वोच्च उपाधि “बार एट लॉ” प्राप्त की पर कानून के स्थान पर उन्होंने अपने धर्म को अधिक महत्व दिया। वे अपने धर्म के ही बेरिस्टर बने रहे। उन्होंने फ्रांस जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशों की भी यात्रा की और वहाँ जैन धर्म पर अनेकों व्याख्यान किये।

श्री वीरचंद गांधी चौदह भाषाओं के ज्ञाता थे। उन्होंने वेदान्त तथा बौद्ध धर्म का भी गहन

श्रीमद् विजयानन्दसूरि
(आत्मारामजी महाराज) ने चीकागो (अमेरीका) की सर्व धर्म
परिषद् में अपनी तरफ से मेजा हुआ प्रतिनिधि



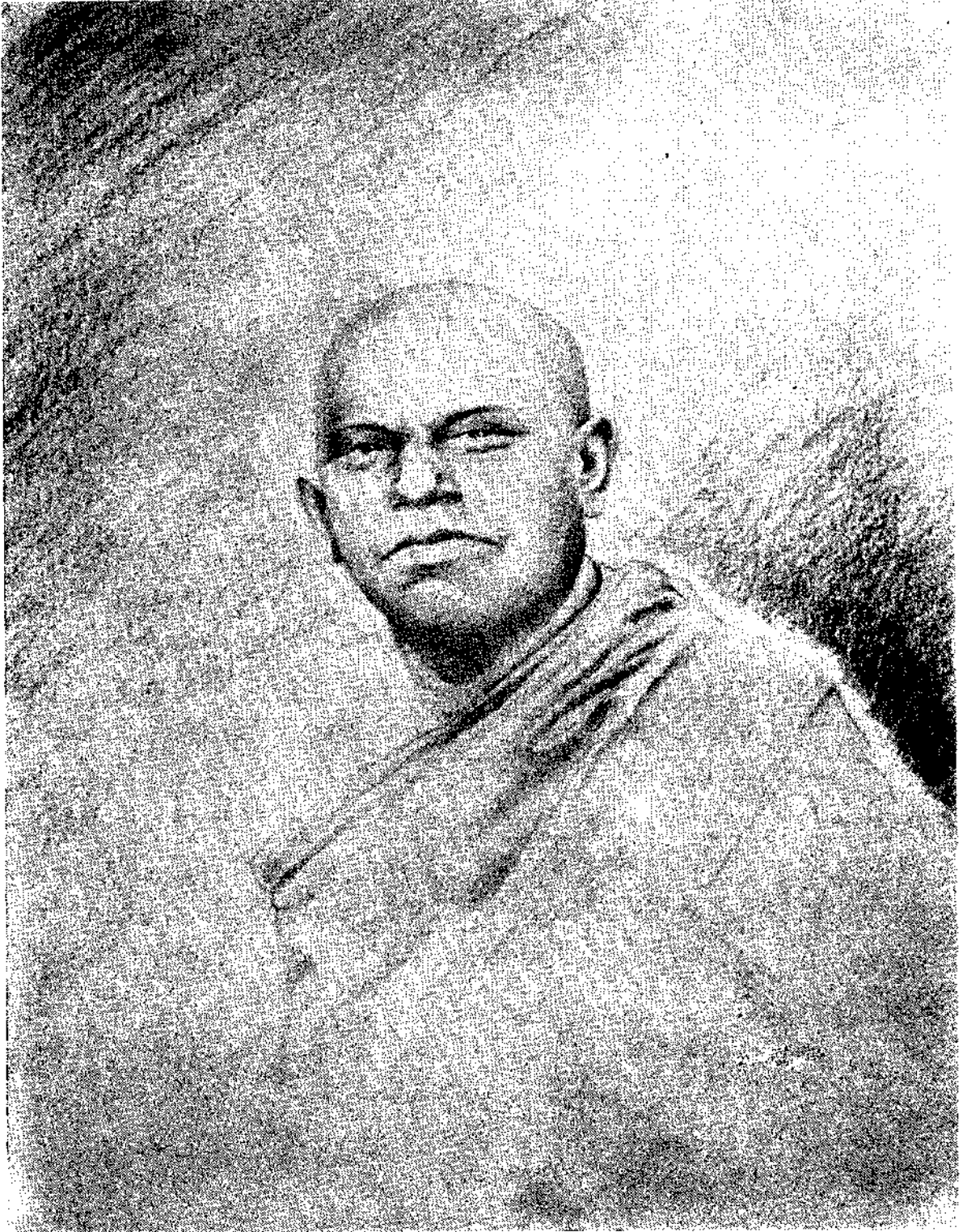
श्रीयुत वीरचंद राघवजी गांधी बार. एंट. लॉ.

अध्ययन किया था। उन्होंने ईसाई धर्म तथा अन्य पश्चिमी दर्शनों का भी अच्छा ज्ञान अर्जित कर लिया था। उनको योग का भी पर्याप्त ज्ञान था। उन्होने सभी दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन गहराई से किया था अतः वे अत्यंत विश्वास पूर्वक और अधिकार पूर्वक उन पर अपने विचार प्रकट करते थे। श्रोता उनकी प्रभावोत्पादक वक्तृत्व शैली से सम्मोहित हो जाते थे। वे धारा प्रवाह अंग्रेजी में अपने विचार श्रोताओं के समक्ष रखने में सक्षम थे।

सन् १८९८ में वे फिर बम्बई लौटे। २३ सितम्बर १८९८ को श्री महादेव गोविन्द रानाडे के सभा पतित्व में फिर उन्हें अभिनन्दन पत्र से सम्मानित किया गया। श्री वीरचन्द गांधी ने भारत के दुर्भिक्ष पीडित लोगों के लिए अमेरिकी जनता को प्रेरित किया और वहां से प्रचुर मात्रा में सहायता भिजवाई।

जब वे इंग्लैण्ड में थे तभी उनका स्वास्थ्य खराब हो गया और उन्हें भारत लौटना पड़ा। उन्हें इंग्लैण्ड में रहते हुए श्री शत्रुंजय तीर्थ के मामले में सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फार इंडिया से सफलता प्राप्त हो गई थी। ७ अगस्त १९०१ का दिन इतिहास में सदैव अंकित रहेगा जब श्री वीरचन्द भाई ३७ वर्ष की अल्पायु में इस नश्वर संसार को सदैव के लिए छोड़ गये। उनका निधन जैन समाज के लिए वज्राघात सदृश था। काश ! यदि वे अधिक समय तक जीवित रहते तो जैन धर्म और महावीर शासन की कितनी सेवा करते ? वे एक प्रतिभा संपन्न व्यक्ति थे। उनके दिल में जैन समाज और जैन धर्म की सेवा करने का एक अनोखा समर्पण युक्त भाव था। वे पहले थे जिन्होंने आज से सौ वर्ष पूर्व जैन धर्म के मानवोपयोगी सिद्धान्तों को समुद्र पार अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी में पहुँचाये। हमें याद आते हैं सम्राट अशोक जिन्होंने बौद्ध धर्म का प्रसार एवं प्रचार करने के लिए अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को आध्यात्मिक राजदूत बनाकर पूर्वीय देशों को भेजा था। वही कार्य सम्पन्न किया इस युग के आद्य आचार्य श्रीमद् विजयानन्द सूरि ने जिन्होंने श्री वीरचन्द भाई गांधी को अपना आध्यात्मिक राजदूत बनाकर पाश्चात्य देशों में भेजा और जिन्होंने अपनी आध्यात्मिक राजदूत की भूमिका को भली भांति पूरी की।





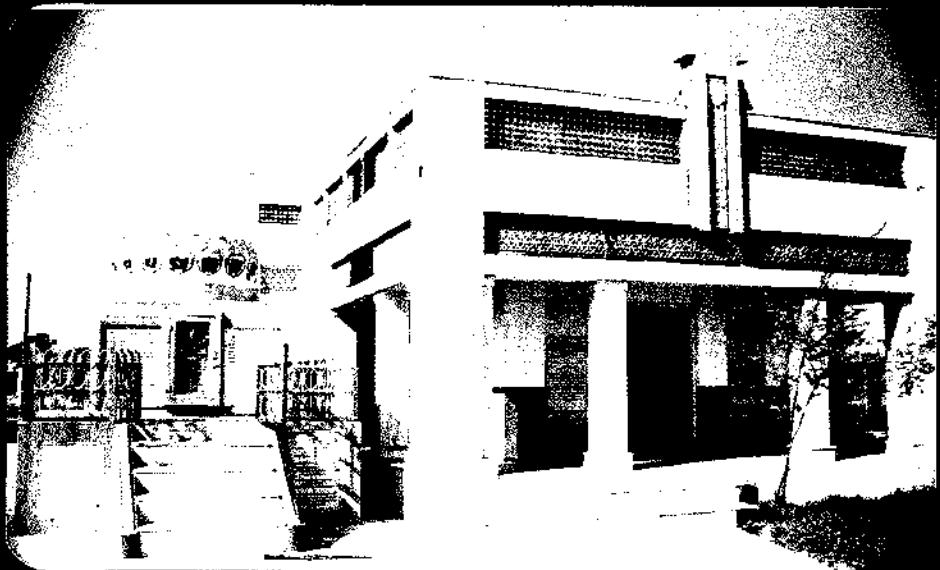


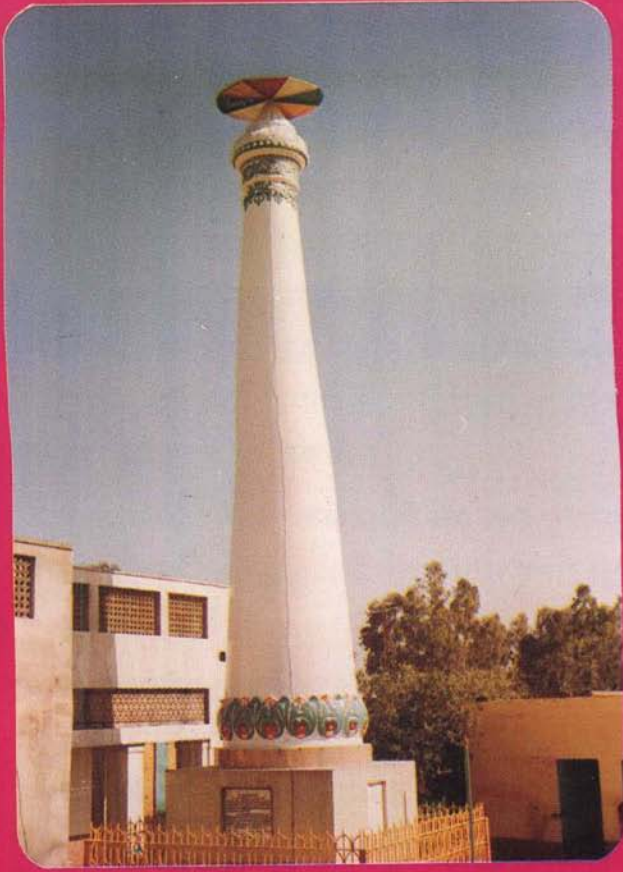
श्री विजयानंद सूरि एवं उनकी जन्म स्थली लहरा

□ सत्यपाल जैन

भारत ऋषियों, मुनियों, महात्माओं, त्यागियों, तपस्वियों, ज्ञानियों एवं आत्म-साधकों का देश है। उन दिव्यात्माओं के जन्म से यहां का कण-कण पवित्र और पावन है। इन्हीं महापुरुषों के कारण भारत युगों-युगों से विश्व का आदरणीय, पूजनीय एवं सम्माननीय बनता आया है। इसी भारत की पुण्य भूमि पर पंजाब के फिरोजपुर जिला के अन्तर्गत एक छोटे से गांव लहरा में हमारे शताब्दी नायक, पंजाब देशोद्धारक, न्यायाम्भोनिधि, विश्व वंद्य विभूति, न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरिश्वरजी (आत्मारामजी) महाराज का जन्म ई. सन् १८३६ में हुआ था।

वे केवल जैन धर्म और समाज के ही ज्योतिर्धर युग पुरुष नहीं थे, वे समग्र विश्व के ज्योतिपुंज थे। उन्होंने ई. सन् १८९३ में चिकागो विश्व धर्म परिषद् में अपने प्रतिनिधि श्री वीरचंद राघवजी गांधी को भेज कर समस्त संसार को शांति, सद्भाव, मैत्री, अहिंसा और सत्य का संदेश दिया था। यहां उन्होंने सदियों से धर्म के नाम पर चल रहे आडम्बर, मिथ्या प्रचार और मर्यादाओं से दूर चल रही धारणाओं, और परम्पराओं का वास्तविक स्वरूप समझाया और शाश्वत धर्म का अमृतपान कराया। उत्तरी भारत और विशेष रूप से पुराने पंजाब में जहां सदैव विदेशी आक्रमणकारियों ने यहां की संस्कृति को तबाह किया, जैन धर्म के विरुद्ध भी जहां तरह-तरह के पंथ और संप्रदाय खड़े हुए, जहां जैन धर्म के शास्त्र से असम्मत मूर्तिपूजा के विरोध को मानक रूप दिया गया उस स्थान पर पूज्य गुरुदेव थे जिन्होंने अपनी लेखनी और वाणी के





गुरुघाम लहरा में निर्मित
आत्म-कीर्तिस्तम्भ



लहरा गांव

द्वारा उनसे लोहा लिया। स्थान-स्थान पर सत्य के लिए शास्त्रार्थ किया और विजय प्राप्त की। जिन शासन की प्रभावना के लिए पंजाब के प्रमुख छह नगरों में गगन स्पर्शी जिन मंदिरों का निर्माण कराया, सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य से युक्त श्रावक तैयार किए। चालीस वर्ष तक यहां घोर संघर्ष करके जैन धर्म के अनुयायियों को आदर और गौरव के साथ जीने की कला सिखाई। चार सौ वर्षों से चले आ रहे यतियों के शक्तिशाली साम्राज्य को समाप्त किया और उपेक्षित श्रमण परम्परा को पुनः उच्च पद पर आसीन किया। आज तपागच्छ में जितने भी मूर्तिपूजक साधु हैं, वे सभी अपनी शृंखला उस महान प्रकाशमान ज्योति पुरुष, प्राणाधार, क्रांतिकारी गुरुदेव से जोड़ते हैं। जैन धर्म और समाज के अतिरिक्त मूर्तिपूजक, श्रमण परंपरा भी उनके इन अनंत उपकारों से कभी उच्छ्रय नहीं हो सकती।

जिस धरती ने ऐसा युग पुरुष पैदा किया, उस धरती का कण-कण पवित्र और पावन है। उस गुरु भूमि का जितना उपकार हम मानें उतना कम है। वह भूमि हमारे लिए प्रणम्य है, वंदनीय है और तीर्थ रूप है।

पूज्य गुरुदेव की यह जन्मस्थली लहरा एक छोटा सा गांव है। लगभग सौ घरों का यह गांव अत्यन्त रमणीय एवं प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण है। चारों ओर बारह मास वनश्री का घना सम्राज्य छाया रहता है। गांव में अधिकांश सिक्ख हैं और कुछ घर ब्राह्मणों के हैं। उनका जीवन कृषि पर निर्भर है। गांव में हाई स्कूल तक शिक्षा की व्यवस्था है।

गांव के मध्य में पूज्य श्री विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज की पावन स्मृति में एक गुरु मंदिर निर्मित हुआ है। उस गुरु मंदिर में पूज्य गुरुदेव की एक आकर्षक, नयनरम्य और दर्शनीय प्रतिमा स्थापित की गई है। उसी गुरु मंदिर के पास एक कीर्तिस्तम्भ का निर्माण हुआ है। पूज्य गुरुदेव की साठ वर्ष की आयु थी, इसलिए कीर्तिस्तम्भ भी साठ फुट ऊंचा बनाया गया है। इस आत्मकीर्ति स्तम्भ की प्रतिष्ठा वि. सं. २०१५ में हुई थी। इस गुरु मंदिर एवं कीर्ति स्तम्भ के आद्य प्रेरक पंजाब केसरी, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज एवं राष्ट्र संत, शांत मूर्ति आचार्य श्रीमद् विजय समुद्र सूरीश्वरजी महाराज थे। परमार क्षत्रियोद्धारक, चारित्र्य चूड़ामणि, जैन दिवाकर आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन सूरीश्वरजी महाराज के आशीर्वाद से साध्वी श्रीमृगावती श्रीजी ने इस कीर्ति स्तम्भ का कार्य पूर्ण करवाया।

प्रतिवर्ष यहां लहरा गांव में गुरु आतम जन्म जयन्ती का भव्य आयोजन होता है। जिसमें सम्पूर्ण पंजाब के जैन यहां उपस्थित होते हैं और एक मेला सा लग जाता है। इस जन्म जयन्ती के प्रसंग के अतिरिक्त अन्य दिनों में भी अपनी सुविधानुसार गुरुभक्त गण इस गुरु भूमि के

यात्रार्थ-दर्शनार्थ आते रहते हैं ।

जैनों के अतिरिक्त यहां जैनेतर सिक्ख, ब्राह्मण और अन्य जाति के लोग भी आते रहते हैं । वे इसे सच्चा दरबार और 'आतम बाबा' के नाम से जानते हैं । सम्पूर्ण गांव गुरुदेव की समाधि के प्रति श्रद्धा रखता है और प्रतिदिन दर्शन करता है । वहां की मिट्टी में इतना चमत्कार है कि इससे सभी प्रकार के रोग, दुःख, संताप और अशांति दूर होती है ।

ई. सन् १९७८ में महतरा साध्वी श्री मृगावती श्रीजी की निश्रा में लुधियाना से लहरा का छरीपालित संघ निकला था ।

ई. सन् १९८० में आचार्य श्री जनक चन्द्र सूरि महाराज ने यहां चातुर्मास किया था, उनके चातुर्मास से लहरा गांव के विकास एवं प्रगति के नये द्वार खुले थे । यह सम्पूर्ण गांव शाकाहारी है । न कोई यहां शराब पीता है न कोई अंडे खाता है ।

जैन समाज ने यहां एक हॉस्पिटल बनाया है, जो सेवा का एक उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है ।

लहरा गांव से तीन कि. मी. दूर जीरा नाम का छोटा सा शहर है । यहीं पर जोधामलजी नाम के स्थानकवासी श्रावक रहते थे । इन्हीं के पास आत्मारामजी बचपन में रहे थे । जिस घर में वे रहे थे, वह घर आज भी बूढ़ा होकर खड़ा है । इसकी जर्जरित मूक दीवारें उस बीते इतिहास की साक्षी हैं ।

जिन छह प्रमुख नगरों में पूज्य श्री विजयानंद सूरि महाराज की प्रेरणा से मंदिर बने थे, उनमें जीरा भी एक है । यहां उनकी प्रेरणा से एक भव्य जिन मंदिर का निर्माण हुआ था । जो आज भी दर्शनीय है । वि. सं. १९४८ में मौन एकादशी के दिन इस मंदिर की भव्य प्रतिष्ठा हुई थी । यह मंदिर इतना सुन्दर और कलात्मक है कि पंजाब सरकार ने इसे अमृतसर के स्वर्ण मंदिर के बाद इसे दूसरा ऐतिहासिक स्थान घोषित किया है ।

धन्य गुरुदेव

धन्य जन्म भूमि लहरा

धन्य क्रीड़ा स्थली जीरा ।



शिक्षण संस्थाएँ

श्री आत्मानंद जैन कॉ
अम्बाला



श्री एस. ए. जैन वरिष्ठ माध्यमिक
विद्यालय, अम्बाला



श्री एस. ए. जैन सीनियर मॉडल
स्कूल, अम्बाला



एस. ए. एन. जैन हायरसेकण्डरी स्कूल, लुधियाना



एस. ए. एन. जैन मोडल हाईस्कूल, लुधियाना



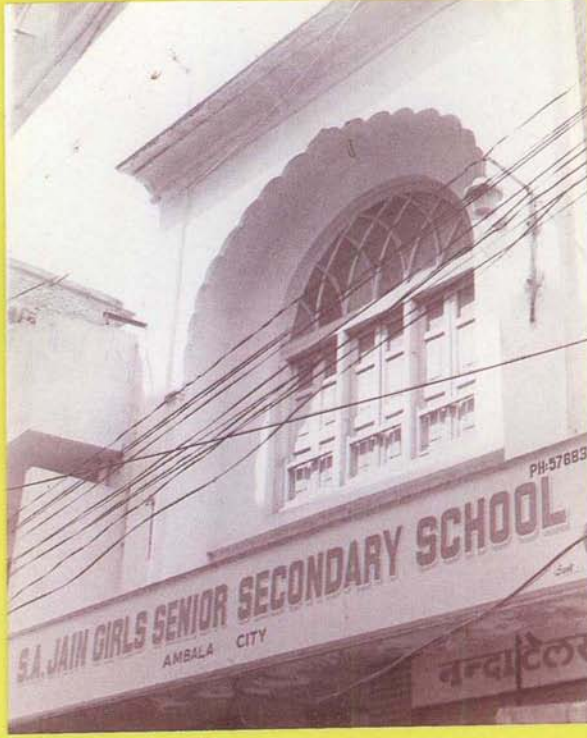
श्री आत्मानंद जैन बालाश्रम, हस्तिनापुर



श्री आत्मानंद जैन उच्च माध्यमिक विद्यालय, मालेरकोटला



श्री आत्मानंद जैन गुरुकुल, भगडिया



श्री आत्मानंद जैन कन्या सैकण्डरी स्कूल, अम्बाला सिटी



श्री आत्मानंद जैन उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, हस्तिनापुर

श्रीमद् विजयानंद सूरि (आत्मारामजी) के नाम से चलने वाली शिक्षण संस्थाएं एवं सभाएं

पंजाब देशोद्धारक, नव युग निर्माता, न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरिश्वरजी महाराज सत्य धर्म की प्रतिष्ठा के लिए आजीवन प्रयत्नशील रहे थे। उनमें वर्तमान को परखने की और भविष्य को देखने की सूक्ष्म दृष्टि थी। आने वाले युग को वे पहचान सकते थे। वे शिक्षा और ज्ञान को मनुष्य की पहली आवश्यकता समझते थे। उनका मानना था कि अज्ञानता सारे दुःखों की जड़ है और ज्ञान समस्त सुखों का। जैन धर्म और समाज में फैली तत्कालीन अज्ञानता और अशिक्षा से वे विशेष चिंतित थे। उस समय शिक्षा के प्रति घोर उदासीनता थी।

आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरिश्वरजी महाराज ने जैन धर्म के अनुयायियों को शिक्षित करने का मानसिक संकल्प किया था। उन्होंने बारह ग्रन्थ इसी उद्देश्य से लिखे थे। वे जैनों का एक महाविद्यालय निर्मित करवाना चाहते थे। इससे पहले वे श्रावकों की सम्यग् श्रद्धा की स्थिरता के लिए व्यस्त रहे थे। विशेष रूप से वे पंजाब को लेकर चिंतित थे। उन्होंने एक योजना निश्चित की थी। प्रथम सत्य धर्म का प्रचार करके श्रावकों को श्रद्धानिष्ठ बनाना। श्रद्धालु बनाने के बाद उनकी श्रद्धा को स्थिर रखने के लिए जैन मंदिर निर्मित करना और मंदिर बनाने के बाद शिक्षा के प्रचार के लिए विद्यालय बनाना।

अपने जीवन के साठ वें वर्ष के मोड़ पर उन्होंने दो कार्य पूर्ण कर लिए थे। पंजाब को सत्य धर्म का उपासक बना दिया था। उनकी धर्म श्रद्धा को स्थिर रखने के लिए स्थान-स्थान पर मंदिर खड़े कर दिए। इन दोनों कार्यों के बाद उन्होंने एक संतोष की सांस ली। इन कार्यों के बाद वे अपने तीसरे कार्य शिक्षा प्रचार को हाथ में लेना चाहते थे।

अपने ये विचार वे श्रावकों और अपने युवा प्रशिष्य मुनि श्रीवल्लभ विजय के समक्ष कई बार व्यक्त कर चुके थे।

वि.सं. १९५३ में संखतरा में नव निर्मित जिन मंदिर की अंजनशलाका-प्रतिष्ठा करने के बाद उन्होंने पंजाब के श्रीसंघों से आए लोगों को संबोधित करते हुए कहा कि आज मेरे जीवन के दो लक्ष्य सिद्ध हो गए हैं। अब मैं यहां से विहार करके गुजरानवाला जाऊंगा। वहां मैं एक महाविद्यालय बनवाना चाहता हूं। शिक्षा के प्रचार के बिना जैन समाज का उद्धार नहीं होगा। इस कार्य में हमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर जुट जाना है।

परंतु अफसोस ! इससे पहले कि वे गुजरानवाला जाकर अपना कार्य प्रारंभ करें उनका स्वर्गवास हो गया।

अपने स्वर्गगमन से पहले मुनि श्री वल्लभ विजयजी को अपने पास बुलाकर अपना अन्तिम संदेश और आदेश देते हुए कहा कि श्रावकों की श्रद्धा को स्थिर रखने के लिए मैंने जिन मंदिर निर्मित कर दिए हैं। अब विद्या मंदिर बनवाने का कार्य शेष है। इस कार्य को मैं तुम्हारे कंधों पर डालकर जा रहा हूं।

आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरि महाराज में व्यक्ति की योग्यता को पहचानने की शक्ति थी। वे आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरेश्वरजी महाराज की योग्यता और कार्यशक्ति से भलीभांति परिचित थे। इसीलिए उन्होंने शिक्षा प्रचार की जिम्मेवारी विजय वल्लभ को सौंपी थी।

आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरेश्वरजी महाराज ने गुरु आतम के इस अन्तिम आदेश को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया और वे इस शिक्षा प्रचार के कार्य में जुट गए। गुरु आतम की भावना के अनुरूप उन्होंने गुजरानवाला में आत्म और आनंद शब्द जोड़कर 'आत्मानंद' नाम से 'श्रीआत्मानंद जैन गुरूकुल-गुजरानवाला' का बीजारोपण किया। शिक्षा प्रचार का यह पहला चरण था।

इस विद्यालय के बाद उन्होंने पंजाब, हरियाणा, राजस्थान और गुजरात में शिक्षा प्रचार के

लिए अपने गुरु के नाम से विद्यालय बनवाने प्रारंभ किए। वे आजीवन इस कार्य में लगे रहे। उनकी प्रेरणा से स्थापित होने वाली अन्तिम शिक्षा संस्था है 'श्री आत्मानंद जैन गुरुकुल-झगडिया'। जिसकी स्थापना बम्बई जाते हुए उन्होंने की थी।

केवल 'आत्मानंद' के नाम से ही उन्होंने ४१ संस्थाएं और भवन स्थापित किए थे। अन्य नामों से स्थापित संस्थाएं जैसे 'महावीर जैन विद्यालय' आदि अलग हैं। उनमें कुछ संस्थाएं भारत और पाकिस्तान के विभाजन के समय पाकिस्तान में चली गईं।

गुरु वल्लभ के स्वर्गवास के बाद भी गुरु आत्म के नाम से संस्थाएं स्थापित हो रही हैं। वर्तमान में उनकी स्वर्गारोहण शताब्दी के उपलक्ष्य में उनकी पाठ परंपरा पर बिराजित वर्तमान गच्छाधिपति, परमार क्षत्रियोद्धारक, चारित्र चूड़ामणि, जैन दिवाकर आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन्न सूरीश्वरजी महाराज की प्रेरणा से अनेक संस्थाएं स्थापित हुई हैं।

गुरु वल्लभ की प्रेरणा से जो संस्थाएं स्थापित हुई थी उसकी सूची हम यहां प्रस्तुत कर रहे हैं। उनमें से कुछ संस्थाओं का संक्षिप्त परिचय और चित्र हमें उपलब्ध हुए हैं। हम उन्हें भी यहां सचित्र परिचय के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं।

श्री आत्मानंद जैन कॉलेज, अम्बाला

ई. सन् १९३८ में पंजाब केसरी, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज की निश्रा में सेठ श्री कस्तूरभाई लालभाई के कर कमलों से अम्बाला में 'श्री आत्मानंद जैन कॉलेज' का उद्घाटन हुआ।

उस समय हरियाणा में किसी कॉलेज का अस्तित्व नहीं था। इस प्रान्त में सर्व प्रथम स्थापित होने वाला यही एक मात्र कॉलेज था। यह 'जैन कॉलेज' के नाम से सम्पूर्ण हरियाणा में प्रसिद्ध है। तब से लेकर यह कॉलेज आज तक निरंतर शिक्षा का कार्य करता आ रहा है। इसके प्रमुख उद्देश्य हैं—

- (१) धार्मिक और व्यावहारिक शिक्षा का प्रबन्ध करना।
- (२) अहिंसा के सिद्धान्त का प्रचार करना।
- (३) मानव-जाति में सेवा-भावना को जागृत करना।
- (४) जैन साहित्य के अध्ययन को प्रोत्साहित करना।
- (५) विद्यार्थियों में अहिंसा, सत्य, आत्मत्याग, सहनशीलता, परोपकार तथा समन्वय की

भावनाओं का संचार करना ।

अपनी स्थापना के बाद यह कॉलेज निरंतर प्रगति करता आया है । हजारों विद्यार्थी यहां शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं । यह दस एकड़ से भी अधिक क्षेत्रफल के विस्तार में फैला हुआ है जिसके अन्तर्गत महेश भोगीलाल स्टेडियम, वल्लभ वाटिका, नेमदास छात्र कक्ष, मुक्ताकार पुस्तकालय, भव्य प्रवेश द्वार, इलेक्ट्रॉनिक्स ब्लाक, कीर्ति स्तम्भ, प्रशासनिक ब्लाक, गुरुवल्लभ की धातु प्रतिमा, प्रयोगशाला, जलपानगृह, अनुसंधान केंद्र आदि विद्यमान हैं ।

कॉलेज के पास एक विशाल पुस्तकालय है जिसमें ५७००० से अधिक पुस्तकें संग्रहित हैं । यहां जैन धर्म-ग्रन्थों का भी विशाल भंडार है । कॉलेज की ओर से 'आत्मानंद' एवं 'सरस्वती सौरभ' दो पत्रिकाएं भी प्रकाशित होती हैं ।

ई. सन् १९६४ में कॉलेज ने शान्तमूर्ति आचार्य श्रीमद् विजय समुद्र सूरीश्वरजी महाराज की निश्रा में अपना रजत जयन्ती समारोह मनाया ।

ई. सन् १९८९ में जैन दिवाकर आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन सूरीश्वरजी महाराज एवं कार्यदक्ष आचार्य श्रीमद् विजय जगच्चन्द्र सूरीश्वरजी महाराज की पावन निश्रा में कॉलेज ने अपना स्वर्ण जयन्ती समारोह मनाया ।

कॉलेज की पाठ्येत्तर गतिविधियों के अन्तर्गत

- (१) साहित्य संगम
- (२) विद्यार्थी परिषद्
- (३) वाणिज्य परिषद्
- (४) योजना मंच
- (५) भौतिक रसायन परिषद्
- (६) स्नातकोत्तर अर्थशास्त्र समिति
- (७) सामाजिक विज्ञान मंच
- (८) मानव कल्याण केन्द्र
- (९) युवा सेवा क्लब
- (१०) टैगोर नाटक परिषद्

(११) आर्केस्ट्रा क्लब

(१२) संगीत परिषद्

(१३) राष्ट्रीय सेवा एकम आदि प्रवृत्तियां संचालित होती हैं।

इस समय हरियाणा में इस कॉलेज का सर्वोपरी स्थान है। विजय वल्लभ समुदाय के गुरुभक्तों के पास केवल यही एक कॉलेज है। जो जिन शासन की सेवा और गुरुदेवों की भावना को साकार कर रहा है।

श्री आत्मानंद जैन वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय, अम्बाला

पंजाब केसरी, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज की प्रेरणा से सबसे अधिक शिक्षण संस्थाएं हरियाणा के अम्बाला शहर में स्थापित हुई थीं। यहां पर जितनी जैन शिक्षण संस्थाएं हैं उतनी किसी भी शहर में नहीं हैं।

अम्बाला की पुरानी शिक्षण संस्थाएं जिन्होंने धीरे-धीरे प्रगति करते हुए सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया उनमें 'श्रीआत्मानंद जैन वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय' का प्रथम स्थान है।

इस विद्यालय की ई. सन् १९०१ में 'श्री आत्मानंद जैन प्राइमरी स्कूल' के रूप में स्थापना हुई। १९२० में इसे मिडल स्कूल का रूप दिया गया। १९२६ में इस विद्यालय ने हाई स्कूल का रूप धारण किया। इस समय यह श्री आत्मानंद जैन वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय के नाम से शिक्षा जगत में कार्यरत है। इसकी विद्यार्थी संख्या देखकर इसकी लोकप्रियता का अनुमान हो सकता है।

विद्यार्थी संख्या :—

वर्ष	कुल
१९५५	१३२६ छात्र
१९६५	१७१४ छात्र
१९७५	२१९६ छात्र
१९८५	२६५७ छात्र
१९९०	२६५२ छात्र
१९९३	३०५० छात्र

श्रीमद् विजयानंद सूरी (आत्मारामजी) के नाम से चलने वाली शिक्षण संस्थाएं एवं सभाएं

४०५

मैट्रिक परीक्षा परिणामों की झलक

वर्ष	छात्रवृत्ति	विशेष
१९६६	२	पंजाब विश्वविद्यालय में तृतीय, जिले में प्रथम ।
१९६९	१४	पंजाब विश्वविद्यालय में प्रथम, दूसरा, तीसरा और पांचवां स्थान ।
१९७१	२०	जिला में प्रथम एवं प्रान्त में प्रथम इक्कीस में से आठ ।
१९७३	८	अम्बाला नगर एवं छावनी में पहला, पांचवां तथा सातवां स्थान ।
१९७६	११	जिला में प्रथम स्थान ।
१९७७	१६	हरियाणा में चतुर्थ, जिला में प्रथम, द्वितीय एवं छठ्ठा स्थान ।
१९७८	९	प्रान्त के छात्रों में द्वितीय ।
१९७९	१८	प्रान्त के लड़कों में द्वितीय ।
१९८०	१७	हरियाणा प्रान्त में तृतीय, जिला में प्रथम व द्वितीय ।
१९८१	२५	जिला में प्रथम स्थान ।
१९८२	२१	हरियाणा प्रान्त के लड़कों में तृतीय, जिला में प्रथम ।
१९८३	३५	प्रान्त में द्वितीय व छठ्ठा स्थान ।
१९८५	५३	हरियाणा प्रान्त में ८१७/९०० अंक लेकर पिछले सभी रिकार्ड तोड़कर सर्वप्रथम स्थान ।
१९८६	३१	हरियाणा के लड़कों में द्वितीय ।
१९८८	२८	अम्बाला नगर व छावनी में प्रथम ।
१९८९	१०	नगर के लड़कों में प्रथम ।
१९९३	५५	हरियाणा में प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान । हरियाणा प्रान्त में प्रथम २० छात्रों में ७ स्थान ।

छात्रों को सांस्कृतिक एवं धार्मिक कार्यों में भाग लेने के लिए प्रेरित किया जाता है । समय-समय पर अनेक विद्वानों एवं जैन मुनियों के प्रवचन करवाए जाते हैं । नवकार मंत्र को अर्थ सहित विद्यार्थियों की दैनन्दिनी में छापा जाता है । विद्यालय की प्रार्थना नवकार मंत्र से प्रारंभ होती है ।

श्री आत्मानंद जैन गुरुकुल पंजाब सोसाइटी (गुजरांवाला)

सीनियर मॉडल स्कूल, अम्बाला शहर

ई. सन् १९२६ में गुजरांवाला में श्री आत्मानंद जैन गुरुकुल की स्थापना हुई थी। पंजाब केसरी, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज की प्रेरणा से स्थापित होने वाला यह प्रथम विद्यालय था। इसकी स्थापना करवाने में उन्हें अत्यधिक पुरुषार्थ करना पड़ा था। जब उनके पुरुषार्थ का फल मिलने लगा जब पढ़कर स्नातक तैयार होने लगे तो भारत का विभाजन हो गया और वर्षों तक किए गए शिक्षा के स्थायी कार्य के भगीरथ पुरुषार्थ पर पानी फिर गया। लाखों और करोड़ों रुपयों की संपत्ति पाकिस्तान में छोड़कर सभी को खाली हाथ भारत में आना पड़ा।

भारत में आने के बाद भी गुजरांवाला के विद्या प्रेमी श्रावकों को श्रीआत्मानंद जैन गुरुकुल की याद बराबर आती रहती थी। चाह कर भी वे अपने रक्त से सिंचित इस विद्या वृक्ष को भूल नहीं पाते थे। परिणामतः उन्होंने गुजरांवाला के इस विद्या मंदिर की पावन स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिए अम्बाला में श्री आत्मानंद जैन गुरुकुल पंजाब सोसाइटी (गुजरांवाला) मिडल स्कूल की स्थापना की। इस विस्थापित संस्था को पुनः स्थापित करने का श्रेय श्री अमरचंद जैन एडवोकेट तथा प्रिंसिपल जी.सी. जैन को जाता है। इस संस्था का प्रमुख लक्ष्य था प्राचीन शिक्षा पद्धति के लक्ष्यों को प्राप्त करते हुए आधुनिक शिक्षा प्रणाली को अपनाना और बालकों का बहुमुखी विकास करना।

ई. सन् १९५४ में १७८ बालकों से इस विद्यालय का प्रारंभ हुआ। सन् १९७२ में विद्यालय ने साधारण मिडल स्कूल के नाम से हरियाणा शिक्षा विभाग से मान्यता प्राप्त की। सन् १९८३ में श्री आत्मानंद जैन सीनियर मॉडल स्कूल के रूप में हरियाणा शिक्षा विभाग से स्थाई मान्यता प्राप्त की।

इस तरह यह विद्यालय निरंतर प्रगति पथ पर बढ़ रहा है।

श्री आत्मानंद जैन कन्या सीनियर सैकंडरी स्कूल, अम्बाला शहर

हरियाणा के सांस्कृतिक नगर अम्बाला में पंजाब देशोद्धारक, न्यायाम्भोनिधि आचार्य

श्रीमद् विजयानंद सूरि (आत्मारामजी) के नाम से चलने वाली शिक्षण संस्थाएं एवं सभाएं

४०७

श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज (आत्मारामजी) के नाम से पांच शिक्षण संस्थाएं कार्यरत हैं। उनमें एक संस्था कन्याओं के नाम से है—‘श्री आत्मानंद जैन कन्या सीनियर सैकंडरी स्कूल’। यह शहर के मध्य में जैन मंदिर और उपाश्रय के अत्यन्त निकट है। इसकी स्थापना ई. सन् १९५० में हुई थी। स्थापना के समय इसका उद्देश्य महिलाओं को तकनीकी शिक्षा देने का था। इसका प्रारंभ शिल्प विद्यालय के रूप में हुआ था। कुछ वर्षों तक यहां कन्याओं और महिलाओं को तकनीकी शिक्षा दी जाती थी। परंतु यह प्रशिक्षण अधिक समय तक नहीं चल पाया। इसके स्थान पर शिक्षण संस्था प्रारंभ की गई।

ई. सन् १९७० में इस विद्यालय को हरियाणा सरकार की ओर से मिडिल स्कूल के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। बाद में यह दसवीं कक्षा तक पहुंच गया और अब सीनियर सैकंडरी स्कूल के रूप में केवल अम्बाला में ही नहीं, किन्तु सम्पूर्ण हरियाणा राज्य में सर्वोपरी स्थान प्राप्त कर रहा है। इस समय इस विद्यालय में ८६३ विद्यार्थियों की संख्या है और ३५ अध्यापिकाएं अध्यापनरत हैं।

श्री आत्मानंद जैन शिशु निकेतन उच्च विद्यालय, अम्बाला शहर

अम्बाला में श्री आत्मानंद जैन कन्या सीनियर सैकंडरी स्कूल के साथ ‘श्री आत्मानंद जैन शिशु निकेतन उच्च विद्यालय’ का भी शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय नाम है। इन दोनों संस्थाओं का प्रबन्ध एक ही ट्रस्ट के द्वारा हो रहा है। दोनों शिक्षा मंदिर संयुक्त रूप से जुड़े हुए हैं। दोनों साथ ही साथ बढ़े और विकसित हुए हैं।

श्री आत्मानंद जैन शिशु निकेतन उच्च विद्यालय की स्थापना ई. सन् १९७६ में हुई थी। इसका उद्देश्य नन्हें बालकों को अच्छे संस्कारों से संस्कारित करने का था। उस समय यह विद्यालय केवल पांच बालकों से प्रारंभ हुआ था। व्यवस्थापकों के उत्तम प्रबन्ध एवं शिक्षकों के परिश्रम ने इस विद्यालय की नींव को सुदृढ़ किया और अब यह नर्सरी से हाई स्कूल बन गया है। पांच बालकों से प्रारंभ होने वाले इस विद्यालय में इस समय ५६१ बालक-बालिकाएं विद्या ग्रहण कर रहे हैं और २४ अध्यापिकाएं उन्हें उच्च संस्कार प्रदान कर रही हैं।

विद्यालय की प्रमुख विशेषता यह है कि यहां उत्तम धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा-संस्कारों की शिक्षा देने के साथ-साथ गरीब एवं मध्यम वर्गीय विद्यार्थियों को विशेष सहयोग दिया जाता है।

श्री आत्मानंद जैन हायर सीनियर सैकंडरी स्कूल, लुधियाना

लुधियाना पंजाब का सबसे बड़ा जैन संघ है। इसे पंजाब का शिरोमणि श्रीसंघ होने का गौरव प्राप्त है। यहां पूज्य श्री विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज (आत्मारामजी) के नाम से दो शिक्षण संस्थाएं कार्यरत हैं—(१) श्री आत्मानंद जैन सीनियर सैकंडरी स्कूल और (२) श्रीआत्मानंद जैन मॉडल हाईस्कूल।

उनमें श्री आत्मानंद जैन सीनियर सैकंडरी स्कूल की स्थापना ई. सन् १९३३ में हुई थी। पहले यह लघु रूप में लुधियाना के पुराना बाजार स्थित उपाश्रय में चलती थी। तब इसमें धार्मिक और व्यावहारिक दोनों शिक्षाएं दी जाती थी।

भारत स्वतंत्र होने के कुछ वर्षों के बाद इस स्कूल के लिए देरसी मैदान में विशाल जगह ली गई। जिसमें विद्यालय भवन का निर्माण किया गया। विद्यालय के मध्य में पंजाब केसरी, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज की एक भव्य एवं आकर्षक खड़ी प्रतिमा स्थापित की गई। यह गुरु प्रतिमा विद्यालय का मुख्य आकर्षण है।

पंजाब सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त होने के बाद इस विद्यालय ने शीघ्र ही सरकारी मान्यता प्राप्त विद्यालयों में अपना सर्वोपरी स्थान प्राप्त कर लिया। विद्यालय के निरंतर बढ़ रहे आकर्षण, लोकप्रियता एवं अधिक से अधिक छात्र संख्या के बावजूद विद्यालय को ई. सन् १९६७ में जो मान्यता प्राप्त हुई थी और जिन सीमाओं को स्वीकृत किया गया था उन्हीं नियमों की सीमा में सीमित रहना पड़ रहा है।

विद्यालय की ओर से एक वार्षिक पत्रिका 'वल्लभ प्रभा' पिछले कई वर्षों से प्रकाशित हो रही है। आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज के जन्म दिन के उपलक्ष्य में प्रतिवर्ष विद्यालय के विशाल प्रांगण में 'वल्लभ दरबार' का भव्य आयोजन होता है। गुरु वल्लभ की स्वर्गारोहण तिथि यहां प्रतिवर्ष गुणानुवाद सभा के रूप में विद्यार्थी एवं शिक्षकगण मनाते हैं।

श्री आत्मानंद जैन मॉडल हाईस्कूल, लुधियाना

लुधियाना में 'श्री आत्मानंद जैन मॉडल हाईस्कूल' की स्थापना ई. सन् १९६९ में हुई थी। तब से यह विद्यालय निरंतर प्रगति पथ पर बढ़ता रहा है। इस समय यह विद्यालय लुधियाना शहर का मुख्य आकर्षण है। उच्च बुनियादी शिक्षा एवं संस्कार के लिए अभिभावक अपने

बालकों को इस विद्यालय में पढ़ाने का आग्रह रखाते हैं।

श्री आत्मानंद जैन सीनियर सैकंडरी स्कूल और श्री आत्मानंद जैन मॉडल हाईस्कूल दोनों विद्यालयों का प्रबंध एक ही प्रबन्ध समिति के द्वारा होता है। यह विद्यालय बिना सरकारी सहयोग के केवल समिति की सम्पूर्ण वित्तीय व्यवस्था के अनुसार ही चलता है।

विद्यालय की ओर से 'वल्लभ ज्योति' नाम की वार्षिक पत्रिका प्रतिवर्ष पंजाब केसरी, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज के जन्म दिन के अवसर पर प्रकाशित होती है।

विद्यालय में जैन धर्म के अनुयायी बालकों के लिए जैन धर्म के प्राथमिक ज्ञान की अलग व्यवस्था है। दोनों स्कूल लुधियाना जैन संघ के गौरव हैं।

श्री आत्मानंद जैन गुरुकुल, झगड़िया

झगड़िया तीर्थ नर्मदा नदी के मनोहर तट पर गुजरात के भरूच जिले में स्थित है। यह तीर्थ प्रकृति की सुरम्य गोद में बसा हुआ है। यहां पर प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव जी का भव्य, कलात्मक और प्राचीन मंदिर है।

ई. सन् १९५२ में पंजाब केसरी, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज बड़ौदा से जब बम्बई जा रहे थे उस समय उनकी भावना झगड़िया तीर्थ की यात्रा करके बम्बई की ओर बढ़ने की हुई।

वे झगड़िया पधारे। भगवान आदिनाथ के दर्शन कर उन्हें आत्मिक प्रसन्नता हुई। यहां के शान्त और सुरम्य वातावरण से वे बहुत प्रभावित हुए। उनके मन में स्वाभाविक रूप से विचार उठा कि ऐसे रम्य स्थान पर यदि गुरुकुल हो तो बच्चों में धार्मिक संस्कार डालने का उत्तम कार्य हो सकता है।

गुरु वल्लभ ने झगड़िया तीर्थ के ट्रस्टियों को अपने विचार से अवगत कराया। ट्रस्टियों ने उनके विचार का स्वागत किया और दि. २६-३-५२ को न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज के जन्म दिन के पावन प्रसंग पर एक बड़े समारोह में आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज ने यहां श्री आत्मानंद जैन गुरुकुल स्थापना की घोषणा की।

दि. १८-३-५३ के दिन बम्बई निवासी श्री पुरषोत्तमदास सुरचंदभाई धांगधा वालों के

हाथों से इस गुरुकुल का उद्घाटन हुआ। तीर्थ की धर्मशाला में ५५ विद्यार्थियों से इस गुरुकुल का प्रारंभ हुआ।

तीन वर्ष के बाद श्री आत्मानंद जैन गुरुकुल ने अपना मकान निर्मित किया। तब से यह गुरुकुल इसी मकान में कार्यरत है। इस समय यहां ७० विद्यार्थी रहकर अध्ययन कर रहे हैं। अल्प साधनों के कारण विद्यार्थियों की संख्या सीमित रखी गई है। इसलिए प्रतिवर्ष अनेक बालकों को गुरुकुल के द्वार से निराश लौटना पड़ता है। भविष्य में साधन-सुविधाएं बढ़ाने की योजना है। चार कक्षा से लेकर बारहवीं कक्षा तक विद्यार्थी पढ़ते हैं। वार्षिक शुल्क केवल १६० रुपए हैं। मध्यम वर्गीय साधारण स्थिति के विद्यार्थी को निःशुल्क रखा जाता है। धार्मिक अध्ययन अनिवार्य है। जैन धर्म के नियमों का पालन अनिवार्य है। इस समय गुरुकुल परिसर में गृह मंदिर के स्थान पर शिखरयुक्त नूतन जिन मंदिर निर्मित हो रहा है।

पंजाब केसरी, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज की प्रेरणा से स्थापित होने वाला यह अन्तिम शिक्षा मंदिर है।

श्री आत्मानंद जैन बालाश्रम, हस्तिनापुर

प्राचीन तीर्थ हस्तिनापुर में न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी (आत्मारामजी) महाराज के नाम से दो शिक्षण संस्थाएं कार्यरत हैं। (१) श्री आत्मानंद जैन बालाश्रम और (२) श्री आत्मानंद जैन उच्चतर माध्यमिक विद्यालय।

इन दोनों शिक्षण संस्थाओं की स्थापना के प्रेरक हैं महान तपस्वी, विद्यानुरागी आचार्य श्रीमद् विजय प्रकाश चन्द्र सूरीश्वर जी महाराज। ई. सन् १९६३ में अक्षय तृतीया के दिन श्री आत्मानंद जैन बालाश्रम की स्थापना हुई थी। तब से यह बालाश्रम इस क्षेत्र के बालकों को सुसंस्कारित करने का उत्तम कार्य कर रहा है। भगवान महावीर स्वामी के दिव्य संदेशों को प्रसारित करने में यह संस्था क्रियात्मक भूमिका निभा रही है।

श्री जैन श्वेताम्बर महासभा, उत्तर प्रदेश द्वारा इस संस्था का कुशलतापूर्वक संचालन होता है। यहां बालकों के लिए धार्मिक शिक्षा का प्रबन्ध है। विद्यार्थियों को प्रतिदिन मंदिर में जाकर पूजा करना अनिवार्य है। छात्रावास में बिजली, पानी एवं स्वच्छ हवादार कमरों की व्यवस्था है। परिसर में संचालित भोजनशाला में शुद्ध सात्विक भोजन की सुन्दर व्यवस्था है।

श्री आत्मानंद जैन उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, हस्तिनापुर

श्री आत्मानंद जैन उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के प्रेरक आचार्य श्रीमद् विजय प्रकाशचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज हैं। श्री आत्मानंद जैन बालाश्रम की स्थापना के एक ही वर्ष के बाद ई. सन् १९६४ में इस विद्यालय की नींव डाली गई थी। उस समय इस क्षेत्र में एक भी विद्यालय नहीं था। शिक्षा प्रचार का सर्वथा अभाव था। इस कारण शिक्षा के प्रचार-प्रसार के शुद्ध उद्देश्य से इस विद्यालय की स्थापना हुई। और शीघ्र ही यह विद्यालय इस क्षेत्र का लोकप्रिय विद्यालय बन गया।

ई. सन् १९६३ में इस विद्यालय को विज्ञान वर्ग में हाई स्कूल कक्षाएं चलाने की विभागीय अनुमति प्राप्त हुई। ई. सन् १९६४ में विज्ञान वर्ग के साथ-साथ कला संकाय की अनुमति भी शिक्षा विभाग, उत्तर प्रदेश से प्राप्त हुई। विद्यालय के पास आधुनिकतम उपकरणों से सुसज्जित विज्ञानशाला है। छात्रों एवं समाज के लिए विशाल पुस्तकालय है। इस समय ८०० से भी अधिक छात्र विद्योपार्जन कर रहे हैं। छात्रों की बढ़ती हुई संख्या के कारण विद्यालय भवन में नये कमरे निर्माण करने की महती आवश्यकता है।

विद्यालय का पाठ्यक्रम कक्षा ८ तक शिक्षा विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रकाशित है। कक्षा ९ तथा १० उत्तर प्रदेश शिक्षा परिषद् के विधानानुसार अनुमोदित, विज्ञान, साहित्य, वाणिज्य एवं कला वर्ग के विषयों में शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है। माध्यमिक स्तर तक जैन धर्म शिक्षा का पठन-पाठन अनिवार्य रूप से रखा गया है।

श्री आत्मानंद जैन उच्च माध्यमिक विद्यालय, मालेरकोटला

विश्व वंद्य विभूति, नवयुग निर्माता, महान ज्योतिर्धर, न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज की स्थानकवासी दीक्षा पंजाब के मालेरकोटला नगर में हुई थी।

जब उनके विचारों में परिवर्तन आया और शुद्ध सनातन जैन परंपरा मूर्तिपूजा को मान्यता प्रदान की तब उन्होंने सर्वप्रथम मूर्तिपूजा का प्रचार यहीं से प्रारंभ किया था। इस प्रचार के परिणाम स्वरूप दो अग्रवाल श्रावक उनके सर्व प्रथम अनुयायी बने थे। चौदह वर्षों में उन्होंने

पंजाब में सात हजार श्रावकों को अपने विचारों से सहमत बना लिया था ।

पंजाब में चार प्रकार के जैन हैं—ओसवाल, खंडेलवाल, अग्रवाल और अहलूवालिया । उनमें अग्रवाल जैन मालेरकोटला में रहते हैं । यहां साध्वी श्री देवश्री जी की प्रेरणा से एक कन्या पाठशाला स्थापित हुई थी, किन्तु किन्हीं कारणों से यह पाठशाला बंद हो गई ।

इसके कुछ वर्षों के बाद पंजाब केसरी, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी लाहौर से मालेरकोटला पधारे । आचार्य पदवी ग्रहण करने के बाद वे प्रथम बार यहां आए थे । इसलिए मालेरकोटला श्रीसंघ ने उनका भव्य स्वागत किया ।

अपनी स्वागत सभा में उन्होंने यहां मालेरकोटला में गुरु आतम के नाम से एक विद्यालय स्थापित करने की प्रेरणा की । परिणाम स्वरूप यहां 'श्री आत्मानंद जैन लोअर प्राइमरी स्कूल' की स्थापना हुई । इसके पांच वर्ष के बाद स्कूल ने अपने लिए एक भवन बनाया । ई. सन् १९३२ में इस स्कूल को मिडिल स्कूल का रूप दिया गया । धीरे-धीरे यह विद्यालय विकास करते हुए श्री आत्मानंद जैन उच्च माध्यमिक विद्यालय बना । इस समय विद्यालय के पास विशाल भवन है, प्रयोगशाला और पुस्तकालय है । केवल मालेरकोटला में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण पंजाब में इस विद्यालय का सर्वोपरी स्थान है ।

श्री आत्मानंद जैन सभाएं

श्री आत्मानंद जैन महासभा (उत्तरी भारत)

विश्व वंद्य विभूति, महान ज्योतिर्धर, नवयुग निर्माता, न्यायाम्बोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज की सबसे बड़ी देन है- उत्तर भारत के जैन समाज को जैन धर्म की शास्त्रीय प्राचीन परंपरा का अनुयायी बनाना । जिन शासन की प्रभावना का यह उनका सबसे महान कार्य है ।

पंजाब (उत्तरी भारत) उनकी जन्म स्थली, कार्यस्थली और स्वर्गवास स्थली भी है । उनके जीवन का सबसे अधिक समय इसी भूमि पर बीता है । उन्हीं की प्रेरणा से यहां मंदिरों का वैभव दृष्टिगत हुआ । विधिवत रूप से श्रीसंघों की स्थापना हुई और सर्वत्र शुद्ध सनातन जैन धर्म का ध्वज लहराना संभव हो सका ।

गुरु आतम ने यदि पंजाब में जैन धर्म का बीज बोया था तो पंजाब केसरी, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज ने उस बीज का संवर्धन किया था । उन्हीं की

प्रेरणा और परिश्रम के आज शुभ परिणाम और सुफल दिख रहे हैं ।

पूज्य श्री विजयानंद सूरि महाराज के स्वर्गवास के बाद पंजाब निरंतर प्रगति पथ पर बढ़ता रहा है । ई. सन् १९४७ में भारत विभाजन के बाद पंजाब के जैनों में थोड़ी अस्थिरता आई । किन्तु परिश्रमी और पुरुषार्थी पंजाबी जैन बन्धु शीघ्र ही अपने पांवों पर खड़े हो गए । इस समय प्रत्येक श्रीसंघ में मंदिर, उपाश्रय, पाठशालाएं और पुस्तकालय हैं ।

पंजाबी जैन श्वेताम्बर मूर्ति पूजक समाज की गुरुभक्ति, संगठन और मैत्री सदैव आदर्श रही है । सम्पूर्ण पंजाब श्री आत्म-वल्लभ-समुद्र-इन्द्र गुरु परंपरा को ही समर्पित रहा है । एक ही गुरु के विचार, आज्ञा और सिद्धान्त के अनुसार रहना ही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है ।

पंजाब में कई संस्थाएं, ट्रस्ट, समितियाँ और तीर्थ हैं । उनमें सबसे बड़ी संस्था है—श्री आत्मानंद जैन महासभा (उत्तरी भारत) । पंजाब में गुरु आत्म के नाम से चलने वाली यह सबसे बड़ी संस्था है । इसी महासभा के अन्तर्गत सम्पूर्ण पंजाब के संघ संगठित हैं । पंजाब की यही एकमात्र महासभा है जिसके सूत्र में सभी संघ एक माला के रूप में पिरोए गए हैं ।

श्री आत्मानंद जैन महासभा की स्थापना पंजाब केसरी युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरिश्वरजी महाराज के शिष्य उपाध्याय श्री सोहन विजयजी की प्रेरणा से १९ सितम्बर १९२१ ई. सन् गुजरानवाला में हुई थी ।

इसका प्रथम उद्देश्य था- पंजाब को एक सूत्र में पिरोना । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए महासभा ने पंजाब के प्रत्येक श्रीसंघ में 'श्री आत्मानंद जैन सभा' की स्थापना की । शिक्षा प्रचार और जैन धर्म का प्रचार तथा जैन साहित्य एवं संस्कृति की सुरक्षा, प्रश्रय और संवर्धन भी महासभा के लक्ष्य रहे हैं ।

प्रारंभ में मेरठ से प्रकाशित 'अफताब जैन' में महासभा के समाचार छपते रहे । फिर महासभा ने अम्बाला से 'आत्मानंद' निकालना प्रारंभ किया । ई. सन् १९५९ से 'विजयानंद' मासिक का प्रकाशन किया गया जो अब तक निरंतर प्रकाशित हो रहा है ।

ई. सन् १९२५ में महासभा ने श्री आत्मानंद जैन गुरुकुल गुजरांवाला की स्थापना की ।

साहित्य प्रकाशन के अन्तर्गत महासभा ने श्रीमद् विजयानंद सूरि महाराज का जीवन चरित्र, जैन तत्त्वादर्श, जैन विवाह पद्धति, विविध पूजा संग्रह आदि कई ग्रन्थ प्रकाशित किए हैं ।

भारत की स्वतंत्रता से पहले पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर को सहयोग देकर पंजाब के जैन ग्रन्थ भंडारों के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची प्रकाशित करवाई थी ।

कांगड़ा किले में स्थित मूर्ति को जैन पूजा विधि के आग्रह पर सरकार ने महासभा की बात स्वीकृत की थी ।

स्वतंत्रता के बाद गुजरांवाला से इसका कार्यालय ई. सन् १९४७ में जालंधर स्थानांतरित किया गया । फिर इसे अम्बाला लाया गया । इसके बाद इसका प्रमुख कार्यालय लुधियाना में स्थापित किया गया जो अब तक लुधियाना में ही सुचारू रूप से चल रहा है ।

इस समय संक्रांति वासक्षेप फंड एकत्र कर प्रतिवर्ष निराश्रित विधवाओं को वितरित होता है ।

महासभा का सुदीर्घ महान, प्रेरक, उज्ज्वल और स्वर्णिम इतिहास है ।

श्री आत्मानंद जैन महासभा के अन्तर्गत निम्नलिखित सभाएं हैं—

श्री आत्मानंद जैन सभा, लुधियाना

श्री आत्मानंद जैन सभा, अम्बाला,

श्री आत्मानंद जैन सभा, जालंधर

श्री आत्मानंद जैन सभा, होशियारपुर

श्री आत्मानंद जैन सभा, मालेरकोटला

श्री आत्मानंद जैन सभा, पट्टी

श्री आत्मानंद जैन सभा, जंडियाला

श्री आत्मानंद जैन सभा, जगाधारी

श्री आत्मानंद जैन सभा, दिल्ली

श्री आत्मानंद जैन सभा, सुनाम

श्री आत्मानंद जैन सभा, पानीपत

श्री आत्मानंद जैन सभा, जीरा

श्री आत्मानंद जैन सभा, सूरतगढ़ (राज.)

श्री आत्मानंद जैन सभा, बीकानेर (राज.)

श्री आत्मानंद जैन सभा, संगरूर

श्री आत्मानंद जैन सभा, यमुनानगर
श्री आत्मानंद जैन सभा, जम्मू
श्री आत्मानंद जैन सभा, फरीदाबाद
श्री आत्मानंद जैन सभा, साहदरा
श्री आत्मानंद जैन सभा, गुडगांव
श्री आत्मानंद जैन सभा, नकोदर
श्री आत्मानंद जैन सभा, मुरादाबाद
श्री आत्मानंद जैन सभा, आगरा
श्री आत्मानंद जैन सभा, रोपड़
श्री आत्मानंद जैन सभा, चंडीगढ़
श्री आत्मानंद जैन सभा, रायकोट
श्री आत्मानंद जैन सभा, पटियाला
श्री आत्मानंद जैन सभा, समाना
श्री आत्मानंद जैन सभा, गढ दिवाला
श्री आत्मानंद जैन सभा, बटाला
श्री आत्मानंद जैन सभा, कोटकपुरा
श्री आत्मानंद जैन सभा, कपूरथला
श्री आत्मानंद जैन सभा, अमृतसर
श्री आत्मानंद जैन सभा, शाहकोट
श्री आत्मानंद जैन सभा, शिवपुरी (म.प्र.)

श्री आत्मानंद जैन सभा, बम्बई

पंजाब केसरी, कालिकाल कल्पतरू, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वर जी महाराज की प्रेरणा से बम्बई में दो संस्थाएं स्थापित हुई थी। एक महावीर जैन विद्यालय और

दूसरी श्री आत्मानंद जैन सभा। दोनों ही संस्थाएं इस समय अपनी उन्नति और विकास के शिखर पर हैं। अपनी स्थापना से लेकर आज तक बम्बई की ये दोनों संस्थाएं अविराम आगे बढ़ती रही हैं। इस समय दोनों संस्थाओं ने विशाल वटवृक्ष का रूप धारण कर लिया है। दोनों संस्थाएं गुरुदेवों के आदर्शों और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सदैव अग्रगामी रही हैं।

न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज के नाम से कार्यरत 'श्री आत्मानंद जैन सभा' की स्थापना वि.सं. १९९७ में हुई थी। इसके प्रमुख उद्देश्य आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज के विचारों के अनुरूप साधर्मिक मध्यम वर्गीय जैन बन्धुओं का उत्कर्ष, सेवा, संगठन और जैन साहित्य का प्रचार और प्रसार करना है।

बम्बई के साधर्मिक मध्यम वर्गीय जैन भाइयों के लिए सभा ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय कार्य किया है। महावीर नगर कांदीवली में साधर्मिक भाइयों के लिए सभा ने ३४४ ब्लॉक बंधवाए हैं। उसी प्रकार नालासोपारा नाम के उपनगर में आत्म वल्लभ समाज उत्कर्ष ट्रस्ट की स्थापना करके उसके अन्तर्गत २३ मकान बंधवाकर साधर्मिक भाइयों को अर्पित किए हैं। २३ मकानों में ५०० ब्लॉक हैं। वहीं पर साधर्मिक भाइयों के लिए एक हॉस्पिटल भी चलता है। उसी में उद्योग गृह का आयोजन भी हुआ है।

मध्यम वर्गीय बन्धुओं पर अचानक आए आर्थिक संकट और असाध्य रोगों के इलाज के लिए यह सभा उदार आर्थिक सहयोग देती है।

बम्बई के ६०० मध्यम वर्गीय परिवार ऐसे हैं जिनके पालन-पोषण और अर्थ व्यवस्था की जिम्मेवारी सभा ने ली हुई है। इन ६०० कुटुम्बों के लिए सभा एक पालक माता-पिता की भूमिका निभाती है। सभा के कार्य की विशेषता यह है कि वह उन सभी परिवारों और व्यक्तियों के नाम गुप्त रखती है जिन्हें वह सहयोग देती है।

सभा ने साधर्मिक भक्ति फंड के अन्तर्गत बम्बई के १०० मंदिरों में पेटियां रखी हुई हैं। इन पेटियों में से जो पैसे प्राप्त होते हैं उन्हें मध्यम वर्गियों में वितरित किए जाते हैं।

इस तरह सभा सच्चा साधर्मिक वात्सल्य करती है। जैन धर्म और समाज में इस तरह के साधर्मिक उत्कर्ष का महान कार्य करने वाली यह एक मात्र संस्था है।

श्री आत्मानंद जैन सभा, बम्बई का दूसरा महान कार्य जैन साहित्य का प्रकाशन है। अब तक सभा की ओर से चालीस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। हिन्दी वल्लभ प्रवचन का गुजराती अनुवाद करवाकर सभा ने प्रकाशित किया है। महुवाकर द्वारा लिखित 'युगवीर वल्लभ' के छह

भागों का प्रकाशन भी सभा की ओर से हुआ है। जैन दर्शन के कई अंग्रेजी संस्करण सभा ने प्रकाशित किए हैं। श्रीमद् विजयानंद सूरि स्वर्गारोहण शताब्दी के प्रसंग पर उनकी पुस्तक 'जैन धर्म विषयक प्रश्नोत्तर' का प्रकाशन सभा के अर्थ सहयोग से हो रहा है।

साधर्मिक उत्कर्ष और साहित्य प्रकाशन के अतिरिक्त सभा संगठन का महत्वपूर्ण कार्य करती है। बम्बई में बसने वाले राजस्थानी, गुजराती और पंजाबी गुरुभक्तों के संगठन का सूत्रधार सभा ही है। सभा ने उन सभी भक्तों को एक मंच पर लाकर खड़ा किया है। सभा को अपने कार्य और नये आयोजन-उत्सव और समारोहों में उन सभी गुरुभक्तों का अपूर्व सहयोग मिलता है।

सभा की ओर से आद्य प्रेरक आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरिश्वरजी महाराज की स्वर्गवास तिथि प्रतिवर्ष बड़े समारोह पूर्वक मनाई जाती है।

श्री जैन आत्मानंद सभा, भावनगर

जैन समाज में पंजाब देशोद्धारक, नवयुग निर्माता, महान ज्योतिर्धर न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरिश्वरजी महाराज के नाम से जितनी भी शिक्षण संस्थाएं और सभाएं हैं उनमें सबसे अधिक पुरानी संस्था भावनगर की 'श्री जैन आत्मानंद सभा' है।

शत्रुंजय महातीर्थ से पचास कि.मी. की दूरी पर पूर्व दिशा की ओर भावनगर बसा हुआ है। सौराष्ट्र का यह प्रमुख व्यापारिक केन्द्र है। यह अरबी समुद्र के तट पर बसा हुआ है। व्यापार के साथ-साथ यह साहित्य, संस्कृति, कला, संस्कार और शिक्षा का भी केन्द्र रहा है। यहां के लोग धार्मिक, विद्याप्रेमी, शिक्षित, उदार और आर्थिक रूप से समृद्ध माने जाते हैं।

इस भावनगर का सौ वर्ष का धार्मिक इतिहास न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरिश्वरजी महाराज के साथ जुड़ा हुआ है। ई. सन् १८७६ में उन्होंने यहां चातुर्मास किया था। इस समय इस चातुर्मास के एक सौ अठारह वर्ष हो चुके हैं। उस समय उन्हें स्थानकवासी सम्प्रदाय को त्याग किए केवल एक ही वर्ष हुआ था। प्राचीन विशुद्ध जैन धर्म की मूर्ति मान्य प्राचीन श्रमण परंपरा को स्वीकार करके उन्होंने पहला चातुर्मास अपने गुरु श्री बुटेरायजी के साथ अहमदाबाद में किया था और दूसरा भावनगर में।

दि. २०-५-१८९६ को गुजरानवाला में आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरिश्वरजी महाराज का स्वर्गवास हुआ। उस समय भावनगर श्रीसंघ ने गहरा दुःख अनुभव किया। उस दिन भावनगर श्रीसंघ ने एक श्रद्धांजली सभा का आयोजन किया। उस सभा में सभी ने यह निर्णय

किया कि भावनगर में उनके नाम का एक जीवंत स्मारक बनना चाहिए। और उन्होंने 'श्री जैन आत्मानंद सभा' की स्थापना करने का दृढ निर्णय किया।

उनके स्वर्गवास के ठीक बाईस दिन के बाद दि. १३-६-१८९६ को इस सभा की स्थापना हुई। प्रथम इस सभा का कार्यालय भावनगर के हेरिस रोड पर किराए के एक मकान में अस्थायी रूप से प्रारंभ किया गया।

सभा के कार्यालय के उद्घाटन का एक भव्य समारोह आयोजित किया गया था। पंन्यास श्री गंभीर विजयजी की पुण्य निश्रा में एक ज्ञान यात्रा रूप शोभायात्रा निकाली गई थी। इस शोभा यात्रा में सम्पूर्ण सौराष्ट्र के श्रीसंघों को आमंत्रित किया गया था। भावनगर के प्रमुख मार्गों से होते हुए यह शोभायात्रा हेरिस रोड के उस मकान पर पहुंची जहां 'श्री जैन आत्मानंद सभा' के कार्यालय का उद्घाटन होने वाला था। विश्व विख्यात विद्वान श्रीवीरचंद राघवजी गांधी ने इस कार्यालय का उद्घाटन किया। वे ही इस सभा के प्रथम अध्यक्ष हुए।

इस सभा के प्रमुख उद्देश्य थे—

- (१) जैन धर्म, दर्शन, इतिहास और संस्कृति विषयक ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।
- (२) जैन धर्म का प्रत्येक अनुयायी जैन धर्म संबंधी ज्ञान प्राप्त कर सकें ऐसे उपाय करना।
- (३) धार्मिक और व्यावहारिक शिक्षा की वृद्धि के लिए यथा शक्ति प्रयत्न करना।
- (४) जैन धर्म के मूल आगम साहित्य एवं टीका, चूर्ण और उनके अनुवाद आदि प्रकाशित करना।
- (५) जैन धर्म के दुर्लभ ग्रन्थों, हस्तलिखित पत्रों आदि की सुरक्षा करना।
- (६) पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज के नाम से एक विशाल पुस्तकालय का निर्माण करना आदि।

इन प्रमुख उद्देश्यों को लेकर श्री जैन आत्मानंद सभा का प्रारंभ हुआ। धीरे-धीरे इस सभा का विकास और उन्नति होती चली गई।

वि.सं. १९६३ में सभा ने अपना स्वतंत्र भव्य भवन लिया जिसका नाम 'श्री जैन आत्मानंद भवन' रखा गया। तब से आज तक सभा की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का संचालन इसी भवन में होता आया है।

श्री जैन आत्मानंद सभा के अन्तर्गत एक के बाद एक अत्यन्त उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित

होती गई। १७३६ दुर्लभ हस्तलिखित ग्रन्थ इस सभा के पास है। पुस्तकों की सुरक्षा के लिए सभा ने एक और भवन का निर्माण किया जिसका नाम 'श्री आत्म-कांति ज्ञान मंदिर' रखा गया।

वि.सं. २००८ में इसका उद्घाटन पंजाब केसरी, युगवीर आचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वरजी महाराज की निश्रा में सम्पन्न हुआ।

सभा के द्वारा आज तक हजारों पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज की अधिकांश पुस्तकें सभा ने प्रकाशित की हैं। श्री जैन तत्त्वादर्श और सम्यक्त्वशल्योद्धार का गुजराती अनुवाद भी सभा ने प्रकाशित किया है।

इनके अतिरिक्त सभा ने अलग-अलग ग्रन्थ सीरिज प्रकाशित की है। जिनमें प्रमुख हैं—

- (१) श्री आत्मानंद जैन गुजराती ग्रन्थमाला।
- (२) श्री आत्मानंद जैन ग्रन्थरत्न माला।
- (३) श्री आत्मानंद जन्म शताब्दी सीरिज।
- (४) प्रवर्तक श्रीकांति विजयजी जैन ऐतिहासिक ग्रंथमाला।
- (५) श्री जैन सस्तुं साहित्य आदि।

इस समय सभा के पास पच्चीस हजार पुस्तकों का संकलन है।

वि.सं. १९५९ में 'श्री जैन आत्मानंद सभा' ने अपनी एक मासिक पत्रिका निकालने का संकल्प किया और 'श्री आत्मानंद प्रकाश' निकलना प्रारंभ हुआ। जो आज तक निरंतर प्रतिमास प्रकाशित होता आ रहा है। श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज की स्वर्गारोहण शताब्दी के उपलक्ष्य में जैन दिवाकर आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन सूरीश्वरजी महाराज की प्रेरणा से इस पत्रिका में हिन्दी विभाग प्रारंभ हुआ।

इस सभा के सभी पदाधिकारी और सदस्य आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीजी महाराज के स्वर्गारोहण के दिन बसों के द्वारा प्रतिवर्ष पालीताणा आते हैं और शत्रुंजय पर्वत स्थित गुरु आतम की प्रतिमा की अंग रचना कर पूजा पढ़ाते हैं और नीचे आकर स्वामी वात्सल्य करते हैं।

अब तक सभा अपना रजत महोत्सव, स्वर्ण महोत्सव, मणि महोत्सव और अमृत महोत्सव मना चुकी है। और अब उसके सौ वर्ष पूर्ण हो रहे हैं इसके उपलक्ष्य में सभा अपना शताब्दी महोत्सव मना रही है।

श्री आत्मानंद जैन सभा, अहमदाबाद

गुजरात की ऐतिहासिक नगरी अहमदाबाद जैन नगरी है। यह जैन धर्म और सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र है। यह वह नगरी है जिस नगरी में पंजाब देशोद्धारक विश्व वंद्य विभूति, महान ज्योतिर्धर, न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज ने ई. सन् १८७५ में संवेगी दीक्षा अंगीकार की थी और उस वर्ष का चातुर्मास भी उन्होंने अहमदाबाद में ही किया था।

इसी अहमदाबाद की नगरी में आचार्य श्रीमद् विजायनंद सूरीश्वरजी महाराज की स्वर्गारोहण शताब्दी के उपलक्ष्य में उनकी स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिए उनकी स्वर्गारोहण शताब्दी के प्रेरक जैन दिवाकर आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन सूरीश्वरजी महाराज की प्रेरणा से श्री आत्मानंद जैन सभा की स्थापना दि. १७-६-१९९४ को कृष्णनगर में हुई।

इस सभा के प्रमुख उद्देश्य हैं- श्री आत्म वल्लभ-समुद्र-इन्द्र गुरुदेवों के विचारों के अनुरूप कार्य करना।

सातों क्षेत्रों का सिंचन करना।

जैन साहित्य का प्रचार और प्रसार करना।

साधर्मिक बन्धुओं का उत्कर्ष करना।

जैन मध्यम वर्गीय लोगों को मेडिकल सहायता देना।

उन्हें आर्थिक सहयोग देना।

मध्यम वर्गीय जैन युवकों को धंधे पर लगाना।

जैन धर्म के उत्तम-महान सिद्धान्तों का प्रचार करना।

इस सभा के मार्गदर्शक कार्यदक्ष आचार्य श्रीमद् विजय जगच्चन्द्र सूरीश्वरजी महाराज हैं। उपाध्यक्ष हैं- श्री उत्तमचंद नागरदास मेहता (टोरेन्ट ग्रुप), उपाध्यक्ष हैं- श्री ललित भाई कांतिलाल कोलसावाला (निटेक्स ग्रुप), मंत्री हैं- श्री महेन्द्र भाई शाह (अध्यक्ष- कृष्णनगर जैन संघ)। इसका प्रमुख कार्यालय कृष्णनगर में है और कार्यक्षेत्र अहमदाबाद और अहमदाबाद जिला है।

श्री विजयानंद सूरि साहित्य प्रकाशन फाउंडेशन, पावागढ़

जैन धर्म में संत साहित्यकारों की एक सुदीर्घ परंपरा रही है। धर्मतत्त्व को जन-जन तक पहुंचाने के लिए उन्होंने हमेशा सरल-सुबोध जन भाषा में अपनी रचनाएं की हैं। प्राकृत और संस्कृत भाषा के अतिरिक्त अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती और हिन्दी आदि भाषाओं में उनका विपुल साहित्य उपलब्ध होता है। खड़ी बोली हिन्दी के बीज श्री हेमचन्द्राचार्य जी के साहित्य में दृष्टिगोचर होते हैं। श्रुतकेवली भद्रबाहु से लेकर हरिभद्र, हेमचन्द्र, समयसुन्दर, उपाध्याय यशोविजय, विनयविजय, उदयरत्न और वीरविजय तक जैन संत साहित्यकारों की ऐसी परंपरा है जिन्होंने ज्ञान और विद्या का कोई भी ऐसा विषय नहीं छोड़ा जिनका उन्होंने वर्णन न किया हो।

जैन संत साहित्यकारों की इसी परंपरा के उज्ज्वलतम नक्षत्र थे न्यायाम्भोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरिस्वरजी महाराज।

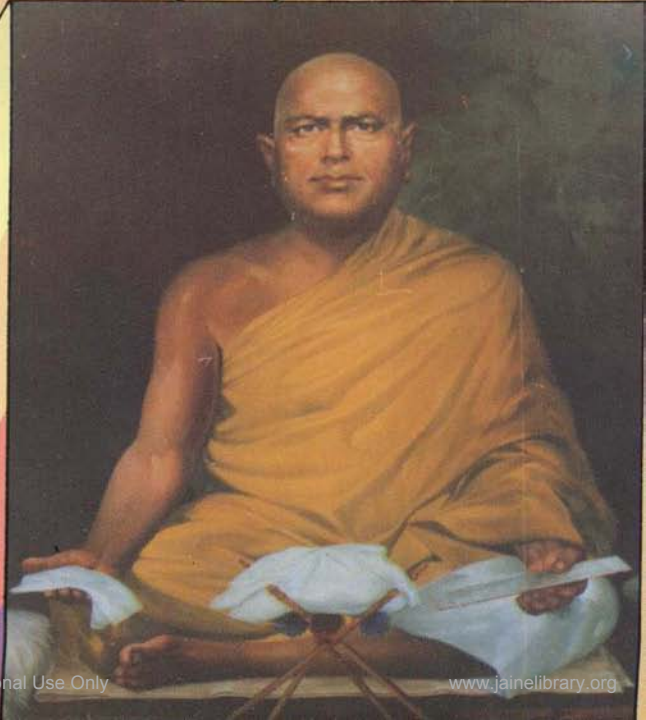
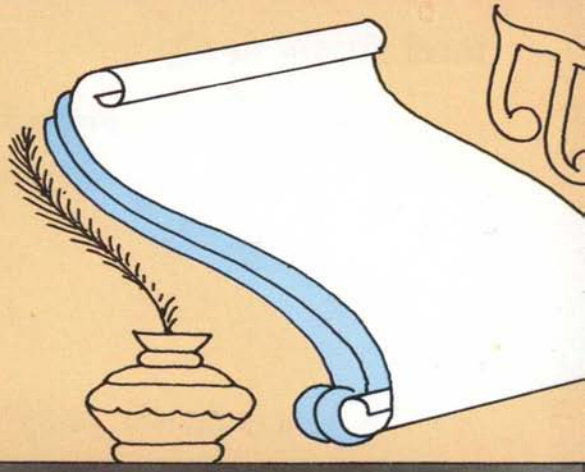
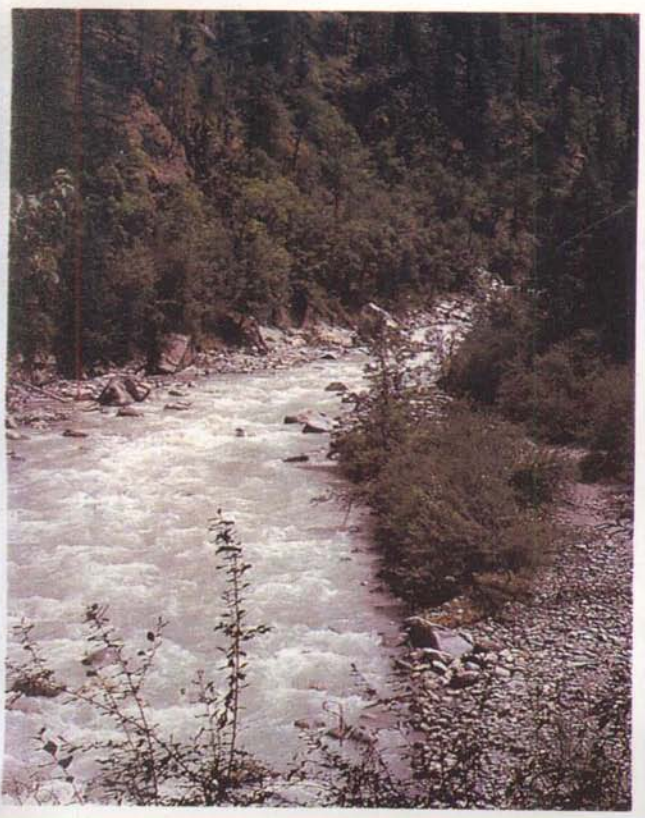
उन्होंने कुल तेरह पुस्तकें लिखी हैं।

- | | |
|-------------------------------|-------------------------------|
| १. नवतत्त्व | २. जैन तत्त्वाददर्श भाग-१ |
| ३. जैन तत्त्वाददर्श भाग-२ | ४. सम्यक्त्व शल्योद्धार |
| ५. जैन मत वृक्ष | ६. चतुर्थ स्तुति निर्णय भाग-१ |
| ७. चतुर्थ स्तुति निर्णय भाग-२ | ८. जैन धर्म विषयक प्रश्नोत्तर |
| ९. चिकागो प्रश्नोत्तर | १०. तत्त्वनिर्णय प्रासाद |
| ११. ईसाई मत समीक्षा | १२. जैन धर्म का स्वरूप |
| १३. अज्ञान तिमिर भास्कर | |

उनका सम्पूर्ण गद्य साहित्य सौ वर्ष की पुरानी हिन्दी में है जो बहुत कम समझ में आता है और वह अप्राप्य भी हो गया था। परमार क्षत्रियोद्धारक, चारित्र चूडामणि, जैन दिवाकर, शासन शिरोमणि, आचार्य श्रीमद् विजय इन्द्रदिन सूरिस्वरजी महाराज की यह हार्दिक अभिलाषा और प्रेरणा थी कि उनकी इस स्वर्गरोहण शताब्दी के उपलक्ष्य में उनके इस सम्पूर्ण साहित्य का आधुनिक हिन्दी में प्रकाशन हो और उनके साहित्य को घर-घर में पहुंचाया जाए। उनकी प्रेरणा के अनुरूप उनके सम्पूर्ण साहित्य के प्रकाशन के लिए श्री विजयानंद सूरि साहित्य प्रकाशन फाउंडेशन की स्थापना की गई। इसका प्रधान कार्यालय पावागढ़ तीर्थ में रखा गया।



काव्यांजलि



गुरुस्तुतिः

□ मुनि श्री मोक्षरति विजय

स्वयशः सुरभीकृतावनी- वलयः श्री श्रुतदेवतालयः ।

अभद् यशआह्ववाचको, विजयानन्द ! भवाँस्ततोऽनु च ॥प्रबोधता ॥

सरो हंसः स्वंसः सुजल कमलं मानसमिव,

सुधर्मा देवेन्द्रः स्वपरिषदि सिंहासनमिव ।

प्रभुदेवच्छन्दं समवसरणे श्रीजिन इव,

श्रय त्वं स्वामिन्नः ! सदय ! विजयानन्द ! हृदयम् ॥शिखरिणी ॥

विश्वेऽपि श्रीः सरतु सकले जैनधर्मस्य एतां,

श्रीसंघाशां परिफलयितुं यः क्षमः सर्वथाऽऽसीत् ।

तं सज्ञानं प्रवचनपटुं वीरचन्द्राभिधानं,

कर्तः !सूरे ! जयति विजयानन्द ! गीतार्थता ते ॥मन्दाक्रान्ता ॥

तत्त्वान्वेषणतत्परा मतिरतिस्फीता च सूक्ष्मेक्षिका,

पूर्वस्वीकृतसांप्रदायिकमतत्यागक्षमं पौरुषम् ।

वृत्तं सात्त्विकमप्रमादपरता सर्वोत्तमा सदगुणा,

एते ते कथयन्ति देव ! विजयानन्द ! प्रभुत्वं प्रभो ! ॥शार्दूलविक्रीडितम् ॥

तत्त्वादर्शादिशास्त्र प्रकटितवचसां श्री मुनीनां मुखेभ्यः,

कण्ठेभ्यः श्रावकाणां मधुररवतां गीतिकाव्योद्यतानाम् ।
अर्हच्चैत्येषु धर्मप्रभव करवर स्थानकेषु प्रकाम,
मद्यापि श्रीगुरो ! ते प्रभवति विजयानन्द ! सूरीन्द्र ! कीर्तिः ॥स्रग्धरा ॥



श्री विजयानंद प्रशस्ति

□ मुनि श्री चतुर विजय

श्रेयःश्रियां विमलकेलिगृहं विकाशि,
पादारविन्दयुगलं नृसुरौघसेव्यम् ।
भव्याङ्गिनां भवमहार्णवतारणाय,
पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य ॥१॥

मोक्ष- लक्ष्मी के विमल केलि-गृह स्वरूप, मनुष्यों और देवताओं के समुदाय से सेवनीय विकसित चरण-कमल युगल जो भव्य प्राणियों के लिए समुद्र स्वरूप संसार को पार करने के लिए जहाज तुल्य हैं, ऐसे जिनेश्वर चरणों को प्रणाम करके

कीर्तिः सितांशुसुभगा भुवि पोस्फुरीति,
यस्यानघं चरिकरीति मनो जनानाम् ।
आनन्दपूर्वविजयान्तगसूरिभर्तु,
स्तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये ॥२॥

पृथ्वी पर जिनकी स्वच्छ किरणरूपी कीर्ति प्रस्फुरित होती है, जिनका पवित्र मन मनुष्यों के पापों को दूर करता है, ऐसे महामहिम विजयानंद सूरिजी महाराज की मैं संस्तवना करूँगा ।

मन्दोथ पुण्यविकलोकृत दर्शनोपि,
मादृक् कुतः प्रभवति स्तवने शताब्द्याम् ?
आजन्मदृष्टतपनो न कदाप्युलूको,

रूपं प्ररुपयति किं किल धर्मरश्मेः ॥३॥

मैं पुण्य रहित मंद जिसने उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं किया ऐसा मुझ जैसा शताब्दी के स्तवन में कहाँ से समर्थ हो सकता हूँ? जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त सूर्य को नहीं देखने वाला उल्लू किस प्रकार सूर्य के स्वरूप को प्ररुपित कर सकता है?

सङ्ख्यातिगा गुणतति सततं स्फुरन्ती,
ज्ञानेऽपि काव्य-धिषण श्रुतदेवताभिः ।
नो गीयते मुनिपतेः प्रचयीकृतोऽपि,
मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशिः ? ॥४॥

आपके ज्ञानमय जीवन से असंख्य गुण निरंतर स्फुरायमान हो रहे हैं। ज्ञान मार्ग के काव्य, शास्त्रसेवी श्रुतदेवता से भी संग्रहित गुण गाये नहीं जा सकते, जिस प्रकार रत्न-राशि समुद्र किसी के द्वारा नापा जाना कठिन होता है।

गुर्वादिभिः श्रुतिपथं गमितैर्गुणैस्तैः,
स्वामिन् ! यथामति तव स्तवनं विधास्ये ।
स्वप्ने क्षितस्य किमु कोऽपि न चान्तिमस्य,
विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः ॥५॥

हे स्वामिन् ! गुरुवरों से शास्त्रमार्ग प्राप्त बुद्धि के अनुसार आपका स्तवन करूँगा। स्वप्नदृष्ट विषय को साक्षात् करना सब के लिए कठिन होता है, वैसे ही अपनी बुद्धि से समुद्र को विस्तारता को कहना असंभव है।

भक्त्यात्मशक्तिमविचार्य समुद्यतोऽपि
स्तोतुं न यामि विदुषामिह हास्यमार्गम् ।
संज्ञापयन्ति तरवोऽपि निजं विकारं,
जल्पन्ति वा निजगिरा ननु पक्षिणोऽपि ॥६॥

आत्मशक्ति का विचार किये बिना ही भक्तिवश मैं स्तुति करने के लिए तैयार हुआ हूँ; अतः यहाँ विद्वद्जनों के हास्य का पात्र न बनूँ। वृक्ष भी अपने भावों को विज्ञापित कर बैठता है और पक्षी भी अपनी भाषा में प्रलाप करके अपने भावों को व्यक्त करते हैं।

आस्तां स्तवः स्मरणमप्यतुलं प्रमोद-
माविष्करोत्यसुमतां तव सूरिवर्य !

ग्रीष्मेध्वगान् निबिडतापविलीनगात्रान्,
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ॥७ ॥

हे सूरेश्वर ! आपका स्तवन तो दूर, मात्र स्मरण भी प्राणियों को अतुल प्रमोद प्रकट करता है। जैसे ग्रीष्मऋतु में भयंकर ताप से पसीने से लथ-पथ बने हुए शरीर वाले पथिकों को पद्मसरोवर का सरस पवन प्रशान्त करता है।

श्रुत्वाऽभिधानमपि ते प्रतिवादिनोऽरं,
नश्यन्ति कातरतरा इह काकनाशम् ।
सर्पाःस्थितिं विदधते किमु पार्श्वभूमि,
मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ॥८ ॥

आपके नाम मात्र को सुनकर प्रतिपक्षी, कायर मनुष्यों की तरह भाग जाते हैं और कौओं की तरह उड़ जाते हैं। चंदन वृक्ष पर रहे हुए सर्प मोर के आने पर क्या चंदन वृक्ष पर रह सकते हैं ? अर्थात् नहीं।

गोभिः प्रबोधयति विश्वमशेषमेत्
सूरे ! त्वयि स्फुरिततेजसि लोकबन्धो ! ।
मुच्यन्त एव भविनो घनकर्मबन्धै
श्रौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः ॥९ ॥

हे लोकबन्धु ! स्फुरायमान तेज आपमें विद्यमान है। वह तेज संपूर्ण विश्व को किरणों से प्रबोधित करता है। आपके प्रभाव से भविजन के गाढ़ कर्मबन्ध जैसे ही छूट जाते हैं जैसेकि चोर सूर्योदय के होने पर पशुओं को छोड़कर शीघ्र भाग जाते हैं।

विश्वं प्रमोदयति शिष्यपरम्परा या,
सर्वस्तवैव मुनिपुङ्गव ! स प्रभावः ।
मूर्तिर्जडाऽपि लभते जगति प्रतिष्ठा,
मन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः ॥१० ॥

आपकी शिष्य परंपरा समस्त विश्व को प्रमोदित करती है, हे मुनिपुङ्गव ! यह सब आपका ही प्रभाव है, जैसे जड़ मूर्ति भी उसमें देवत्व के रहने से संसार में प्रतिष्ठा प्राप्त करती है।

ख्यातो जगत्त्रयविजेतृतया बलाद्दयो,
जिग्ये स कामसुभटो भवता विनास्त्रैः ।

आप्लाव्यतेऽम्बुधिजलेन जगद्धियेन,
पीतं न किं तदपि दुर्धरवाडवेन ? ॥११ ॥

हे मुनिपते ! तीनों जगत में प्रख्यात बलवान कामदेव को भी आपने बिना शस्त्र से ही जीत लिया, क्या भीगे हुए समुद्र के जल के द्वारा पीया नहीं गया ? अर्थात् पीया गया ।

ज्ञानामृतेन स्वयन् भविनो वितृष्णां,
स्तृष्णां विवर्द्धयसि पत्कजसेवनस्य ।
एतत् परस्परविरोधि गुणद्वयं ते,
चिन्तो न हन्त महतां यदि वा प्रभावः ॥१२ ॥

ज्ञानरूपा अमृत से भविजन तृष्णा रहित हो जाते हैं; परन्तु आपके चरणों की सेवा करने से तृष्णा बढ़ती है । ये दोनों परस्पर विरोधी गुण हैं, इन महामहिम महापुरुषों का प्रभाव अचिन्त्य होता है ।

सांसारिकाणि भवता चिरसेवितानि,
कर्माणि पातकमयानि विवर्जितानि ।
पातापि कृन्तति विशङ्क्य निजे ह्यपायं,
नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी ॥१३ ॥

आपके चरणारविंदों की लम्बे काल तक सेवा करने से संसारी लोगों के पापकर्म नष्ट हो जाते हैं । गिरते हुआँ को भी अपने प्रभाव से रोग रहित बना देते हैं, क्या बर्फीले प्रदेश के जंगल में नीलद्रुमाणि नहीं होते हैं ? अर्थात् होते हैं ।

लोके कलङ्कविकलं सकलं चरित्रं,
चित्तं कषायरहितं च दयाप्लुतं ते
कर्मक्षये मुनिप ! तेन शिवाङ्गनाया,
दक्षस्य सम्भवि पदं ननु कर्णिकायाः ॥१४ ॥

लोक में कलंक रहित संपूर्ण चरित्र, कषाय रहित चित्त और दया से परिपूरित हे मुनिवर कर्मक्षय होने पर मोक्षरूपी लक्ष्मी को चतुर व्यक्ति ही प्राप्त करते हैं ।

श्यामात्मनोऽपि लघुतां गमिताश्च शिष्टैः,
कारुण्यमीश ! भविनामिह पूज्यतां च ।
सम्पर्कतोऽत्र तव सिद्धरसस्य यान्ति,

चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥१५ ॥

हे कारुण्य ईश्वर ! शिष्ट जनों के द्वारा भारी आत्मावाले भी लघु हो जाते हैं, पूज्यों के सम्पर्क मात्र से ही भविजन सिद्धि को प्राप्त करते हैं ।सिद्धिरस के संपर्क से सामान्य धातु भी सोना बन जाती है ।

आत्मा तव श्रमणपुङ्गव ! नाकगोऽपि,
संहृत्य हास्यजनकं मुनिभेदभावम् ।
एक्यं द्रुतं वितनुतादिह सम्प्रदाये,
यद्विग्रहं प्रशमयन्ति महानुभावाः ॥१६ ॥

हे श्रमणपुङ्गव ! आपकी आत्मा स्वर्ग में रहती हुई भी मुनियों के हास्यजनक भेदभावों को सहृदयी करके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में फैले हुए वैमनस्य को शीघ्र शान्त कर देती है, उनमें एकता हो जाती है यह सब महापुरुषों का ही प्रभाव है ।

आनन्दमीश ! विजयं च स्याद् विधत्ते
भिख्यापि ते तनुमतामिह चिन्त्यमाना ।
भक्त्या स्मृतं सपदि जाङ्गुलिदेवतायाः,
किं नाम नो विषविकारमपाकरोति ? ॥१७ ॥

आनंद के स्वामी ! आपके चिन्तन मात्र करने से विजय प्राप्त होती है, क्या भक्ति से गारुड़ी मंत्रों द्वारा नाम मात्र लेने से शीघ्र ही विष-विकार दूर नहीं होता ?

वेदादिवाङ्मयमशेषमृषीश ! बुद्ध्या,
सम्यक्तयाऽत्र भवता परिणामितं द्राक् ।
वाग्वर्गणा कविजनैरखिलैः किमेका,
नो गृह्यते विविधवर्णविपर्ययेण ? ॥१८ ॥

ऋषीश्वर ! आपने अपनी बुद्धि के द्वारा संपूर्ण वेद आदि वांगमय को अल्प समय में ही जान लिया, समस्त लोक में रहे हुए कवि लोग क्या विविधरूप से वाणी को ग्रहण नहीं करते ? अर्थात् करते हैं ।

गर्भागतस्य भगवंस्तव वार्तयापि,
तेजोनिधेः परिजनो मुमुदे समग्रः ।
दूरेऽस्तु भास्वदुदयः प्रभयापि तस्य,

किं वा विबोधमुपयाति न जीवलोकः ॥१९ ॥

हे तेजोनिधे ! आपके गर्भ में आने की वार्ता से परिवार के सभी लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए थे । क्या सुदूर उदित सूर्य के प्रकाश से संसार प्रकाशित नहीं होता है ? अर्थात् होता है ।

स्वीकुर्वते न वचनं तव ये हठेन,
येऽवर्णवादमपि तेऽनिशमुद्गृणन्ति ।
कृत्वा दृढानि कुधियो निजकर्मणां ते
गच्छन्ति नूनमध एव हि बन्धनानि ॥२० ॥

जो व्यक्ति हठ से आपके वचनों को स्वीकार नहीं करते , जो रात-दिन अवर्णवाद-निंदा करते हैं, वे लोग निचकर्म बांधकर अधोगति में जाते हैं ।

त्वद्देशनामृतरसं भगवन् ! निपीया,
कण्ठं जिनेन्द्र समये दृढभक्तिरङ्गः ।
धर्मोद्यमं विदधतश्च निरस्य कर्म,
भव्याव्रजन्ति तरसाप्यजरामरत्वम् ॥२१ ॥

हे भगवन ! आपकी अमृतमयी देशना को आकण्ठ पीकर जिनेश्वर परमात्मा के सिद्धान्तों में दृढ-भक्ति से रंगे हुए धर्म में पुरुषार्थ करते हुए कर्मों को नाश करके भविजन शीघ्रातिशीघ्र अजरामर पद को प्राप्त करते हैं ।

ये दर्शनं जिनपतेर्मुनिराज ! ते च,
प्राप्तास्तथा चरणपङ्कजपर्युपास्तिम् ।
सज्ज्ञानदर्शनसुसंयमभूषिताङ्गा,
स्ते नूनमूर्ध्वगतयः खलु शुद्धभावाः ॥२२ ॥

हे मुनिराज ! जिन्होंने जिनेश्वर प्रतिपादित जैनदर्शन प्राप्त किया और जिन्होंने चरणारविंदों की सेवा प्राप्त की वे सम्यक्ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र से सुशोभित अत्युत्तम उच्च भावना वाले लोग निश्चितरूप से ऊपर की ओर जाते हैं ।

श्यामाशयं जडमयं चपलात्मकं च,
सस्नेहमप्युरुखं च शरीरिणं त्वम् ।
उच्चैः पदं नयसि भो ! स्वगुणेन वायु,
श्चामीकराद्रिशिरसीव नवाम्बुवाहम् ॥२३ ॥

श्याम आशयवाले और जडयुक्त सस्नेह आवाज करने वाले शरीर को धारण करने पर भी उन्हे अपने गुण ही ऊपर की ओर ले जाते हैं; जैसे कि पवन बादलों को सोने के मेरु पर्वत की ओर ले जाता है ।

वृत्तिर्मुनीश ! मनसो विपरीतमार्ग,
यान्ति त्वया परिहता चिरलालितापि ।
दुश्चेष्टितं समवलोक्य निजाङ्गनाया,
नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि ॥२४ ॥

हे मुनीश !आपने लंबे काल से पाली हुई वृत्तियों को विपरीत मार्ग में जाती हुई देखकर उनका परित्याग कर दिया । जिस प्रकार अपनी पत्नी की कुप्रवृत्तियों को देखकर ऐसा कौन सचेत व्यक्ति है होगा जो विरक्ति को प्राप्त नहीं होता है ? अर्थात् होता है ।

सत्पूः प्रवेशसमयादिमहोत्सवेषु
नागाङ्गनादितिजकिन्नरजीयमानां ।
कीर्तिं तनोति दिवि देव ! गंभीरघोषो
मन्ये नदन्नभिनभः सुर ! दुन्दुभिस्ते ॥२५ ॥

हे देव !श्रेष्ठ नगरियों के प्रवेश आदि महोत्सवों के समय जब नागकन्याएं किन्नरों के द्वारा गीत गाती हुई आकाश में आपकी कीर्ति फैलाती हैं तब ऐसा लगता है मानो गंभीर ध्वनि आवाज से आकाश में देवों की दुन्दुभियाँ न बज रही हों ।

अद्यापि देव ! जिनशासनरक्षणार्थं,
यासि त्वमेव जनलोचनगेम्बरत्वम् ।
सत्कान्ति-हंस-कमलाभिधवर्यशिष्य
व्याजात् त्रिधा धृततनुर्ध्रुवमभ्युपेतः ॥२६ ॥

हे देव ! जिनशासन की रक्षा के लिए आप आज भी लोगों की आँखों के चमकते सितारे हो । क्योंकि मुनिराज श्री कान्तिविजय, मुनि श्री हंस विजय और मुनि श्री कमल व्रजयजी नाम के तीनों शिष्यों से मानों आप ही तीनों शरीर को धारण किये हुए हो ?

कामादिदुर्दमभटैरसमैर्मुनीशा,
ऽभेद्येन् मोहनृपतिं प्रबलं जिगीषुः ।
सज्ज्ञान-दर्शन-सुसंयमसंज्ञवज्र,

शालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि ॥२७ ॥

हे मुनीश ! काम आदि दुर्दम, अभेद्य मोहराजा को जितने की प्रबल इच्छावाले आप ज्ञान, दर्शन और सुसंयम के तीनों प्रकोटों से तीर्थकर की भाँति सुशोभित हो रहे हैं ।

उच्चत्वकाङ्क्षिण इनामलतेजसोऽरं
रज्यन्त ऊर्जितगुणेषु जनेषु नित्यम् ।
किं साम्यमीप्सव इवात्र भवद्द येऽपि,
त्वत्सङ्गमे सुमनसो न रमन्त एव ? ॥२८ ॥

जैसे सूर्य की किरणों की भाँति ऊँची आंकाक्षा रखने वाले और उपार्जित गुणवाले मनुष्यों में सामान्यजन हमेशा सुशोभित होता है; वैसे ही दोनों भवों में उच्चता की इच्छा रखने वाले मनुष्य आपके सत्संग में तल्लीन रहते हैं ।

सेव्यः सदा ततगुणै सुमनः समूहैः,
सञ्चिन्तितार्थघटनापटुरङ्गिनां च ।
संसेविनां सपदि कामघटोऽसि साक्षा
च्चित्रं विभो ! यदसि कर्मविपाकशून्यः ॥२९ ॥

हमेशा अच्छे मनवाले समूह के द्वारा उनके गुणों से सेवनीय और विद्वत्तापूर्ण अर्थ घटाने में चतुर आप कामघर के तुल्य हैं; हे विभो ! आप कर्म विपाक से शून्य हैं इसमें आश्चर्य क्या है ?

षट्खण्डभारतधरा वदनेऽच्युतस्य,
वर्षे यथा षड्दतवश्च रसाः षडुर्व्याम् ।
षड्दर्शनस्थ मुनिराज ! तथा ह्यशेषं
ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्वविकासहेतुः ॥३० ॥

जैसे विष्णु के मुख में भारतधरा के छह खण्ड हैं, वर्ष की छह ऋतुएं हैं और पृथ्वी पर छह रस विद्यमान हैं; वैसे ही हे मुनिराज ! आपमें षड्दर्शन विद्यमान हैं, ये अशेष ज्ञान विश्व कल्याण का निमित्त बनकर आप में स्फुरायमान हो रहा है ।

संविग्नमार्गमृषिराज ! सभाश्रयन्तं,
त्वां योऽरुणज्जिनवरागमबोधशून्यः ।
तीव्रैर्वचोभिरिन ! दूण्डकवर्गपूज्यो,

ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा ॥३१ ॥

हे ऋषिराज ! संविज्ञमार्ग का आश्रय लेने वाले जिन्हें जिनेश्वर प्रतिपादित धर्म का बोध नहीं है वे लोग आपको रोकते हैं परंतु हे स्वामिन् ! तीव्र वचन वाले दूण्डक सम्प्रदाय के भी आप पूज्य है ।

यः शान्तिसागर इति प्रथिताभिधानः,
शास्त्रैश्च युक्तिवचनैः प्रतिबोधितोऽपि ।
मेने वचो न भवतो विदधे हठेन,
तेनैव तस्य जिन ! दुस्तरवारिकृत्यम् ॥३२ ॥

हे सूरीश ! जो शान्तिसागर नाम से विख्यात है, उसे युक्तिवचन एवं शास्त्रार्थ के द्वारा प्रतिबोधित करने पर भी आपके वचनों को हठ से अस्वीकार किए जाने पर उसका संसार सागर से पार उतरना दुष्कर हो गया ।

जातेषु भूरिषु बुधेषु च सम्मतेषु,
सूरीश ! ते मुनिषु हुक्ममुनिर्बत स्वम् ।
ना मुञ्चदेव मुनिदेव ! दुराग्रहं यं,
सोऽस्याभवत् प्रतिभवं भवदुःखहेतुः ॥३३ ॥

हे सूरीश ! बहुत से विद्वानों ने सम्प्रदायों ने और मुनियों में हुक्म मुनि नामक मुनि ने अपना कदाग्रह छोड़ा नहीं तो वही कदाग्रह उनके भव संसार के दुःखों का हेतु बना ।

ते धर्मिणः सुमनसः सुमनः समूहैः,
संसेविताः शिवरमाश्रयिणो भवन्ति ।
येऽभ्यर्चयन्ति सुमनास्सुमनोभिरीड्यं,
पादद्वयं तव विभो ! भुवि जन्मभाजः ॥३४ ॥

धर्मी लोग श्रेष्ठ मनवाले, पुष्पोंके समूह से सेवनीय और मोक्ष की लक्ष्मी के आश्रयवाले होते हैं । हे विभो ! जो लोग पुष्पों के द्वारा आपके दोनों चरण-कमलों की सेवा करते हैं, वे धन्य हैं ।

न्यासीकृते स्वहृदये भगवंस्त्वदाज्ञा
मन्त्रे शुभे पथि च संचरतां यथेष्टम् ।
मोहोरगस्त्रिजगतीजनभीतिदायी,

किं वा विपद्विषधरी सविधं समेति ? ॥३५ ॥

हे भगवन् ! जिन लोगों ने आपकी आज्ञा शिरोधार्य कर ली, उनके लिए वह मार्ग में चलने हेतु मंत्र के समान हो गई। तीनों जगत के प्राणियों को मोहरूपी सर्प भय पहुँचाता है, परन्तु जो आपको अपने हृदय में धारण कर लेते हैं, उनके पास विषरूपी विपत्ति आ सकती है क्या ?

लब्धा मया न भगवन् ! भवदीयपादो
पास्तिः श्रुतं न वचनं भवभीतिहारि ।
तेनैव मोहधरणीशपराभवानां,
जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम् ॥३६ ॥

हे भगवन् ! मैंने आपके चरण कमलों की सेवा प्राप्त नहीं की और भवभीति हरने वाले वचनों का श्रवण भी नहीं किया, उसी कारण मोह को धारण करने में समर्थ ऐसे पराभवों के संशय का मैं घर बना हूँ ।

सर्वस्य देवनिवहस्य धुरीणभावं
भेजे भवानिति दिवि श्रमणेश ! मन्ये ।
त्वत्संस्मृतेरपि हि विघ्नभिदे व्रजेयुः
प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः कथमन्यथैते ? ॥३७ ॥

हे श्रमणेश ! स्वर्ग में आप ही सभी देव समुदाय के प्रमुख हुए हैं ऐसा मैं मानता हूँ। आपके स्मरण मात्र से ही जीवों के विघ्न दूर हो जाते हैं; मगर जिन-जिन जीवात्माओं ने निश्चयरूप से आयु का बंध किया है वे वहीं जाएँगे, अन्यत्र नहीं ।

त्वं दूढकैः श्रुतिपथं गमितश्च दृष्टो,
भक्त्या विनैव बहुधा परिषेवितोऽसि ।
सम्यक्त्वशुद्धिमपि नो किल ते प्रपन्ना,
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥३८ ॥

आप दूढक सम्प्रदाय से ज्ञान के मार्ग पर जाते हुए देखे गये। लोगों ने बिना भक्ति के आपकी सेवा भी बहुत की, परन्तु वे लोग सम्यक्त्व की शुद्धि प्राप्त नहीं कर सके; क्योंकि बिना भाव की की हुई क्रिया फलदायी नहीं होती ।

सर्वस्य संयमिगणस्य च सन्निधेहि,
दृष्टिं प्रसत्तिसुभगां भगवन्निधेहि ।

क्रोधादिदोषनिकुरम्बमरं पिधेहि
दुःखांकुरोद्दलनतत्परतां विधेहि ॥३९॥

हे भगवन् ! आप समस्त समुदाय के सुसंयमी साधु-वर्ग को प्रसन्नचित्त रखते हैं, आप उनके क्रोधादि दोषों को दूर करने में और दुःखों के अंकुरों को दूर करने में अहर्निश तत्पर रहते हैं

स्वाध्यायसंयमतपःसु परायणोऽपि,
कामक्रुदादिभटराजिविराजितेन ।
मोहद्विषा मुनिपते ! तव सेवकोऽपि,
वध्योऽस्मि चेद् भुवनपालक ! हा हतोऽस्मि ॥४०॥

हे मुनिपते ! मैं अहर्निश स्वाध्याय, संयम और तप में परायण होता हुआ भी काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोहादि शत्रुओं के रहते, आपका सेवक होने पर भी हे भुवनपालक ! मैं बुरी तरह से मारा गया हूँ ।

सम्प्राप्तभग्नवरसंयमपोतकाष्टं,
पुण्यक्रयाणकविहीनमतीव दीनम् ।
पाहि प्रभो ! विशदबोधवरत्रया मां,
सीदन्तमद्य भयदव्यसनाम्बुराशेः ॥४१॥

हे प्रभो ! मुझ टूटे हुए को श्रेष्ठ संयम प्राप्त हुआ फिर भी मैं पुण्यरहित अति दीन हूँ, अतः हे प्रभु अपने विशद श्रेष्ठ बोध से मेरी रक्षा करो, क्योंकि मैं आज दुःखों से परिपूर्ण संसार-सागर से अत्यन्त पीड़ित हूँ ।

ज्ञानप्रचारकृदलं परवादिजेता,
विस्तारयन् मुनिगणेऽमलसंयमर्द्धिम् ।
भूया मुनीश्वर ! पुनर्जिनशासनस्य,
स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि ॥४२॥

हे मुनीश्वर ! आप ज्ञान का प्रचार करने में और दूसरे वादियों को जितने में पूर्णरूपेण समर्थ हैं, अतः आप फिर से जिनशासन में उत्पन्न हो यानि हे स्वामी ! आप ही इस जिनशासनरूपी भवन में भवान्तर में भी जन्म लें ।

कृच्छ्राणि यान्ति विलयं सुखमेधते च,

लक्ष्मीः स्थिरा भवति सदानि शान्तिरेति ।
तेषां वशीभवति नाथ ! शिवाङ्गनापि,
ये संस्तवं तव विभो ! रचयन्ति भव्याः ॥४३ ॥

हे विभो ! जो भी व्यक्ति आपकी स्तुति करता है, उसके सभी प्रकार के कष्ट समूल नष्ट हो जाते हैं और वह सुख प्राप्त करता है, उसके घर में लक्ष्मी सदा-सदा के लिए स्थिर हो जाती है और तो क्या प्रभु ? उसे मोक्षरूपी लक्ष्मी भी वशीभूत हो जाती है ।

भव्या येऽमरवन्दां,
वन्दन्ते त्वां मुनीश ! विशदधियः ।
ते कर्मक्षयचतुरा
अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते ॥४४ ॥

हे मुनिश ! जो विशद बुद्धिवाले भव्य लोग देवताओं के वंदनीय आपको वंदन करते हैं, वे कर्म क्षय करने में निपुण शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

प्रशस्तिः

कल्याणमन्दिरमहास्तवतुर्यपाद
पूर्व्याङ्कितं स्तवनमीहितदानदक्षम् ।
वीरात् (२४६२) कराङ्गयुगनेत्रमिते गतेऽब्दे,
श्री विक्रमाद् (१९९२) द्विनिधिनंदसितांशुसंख्ये ॥१ ॥

वीर संवत् २४६२, विक्रमसंवत् १९९२ में महास्तवन कल्याण मंदिर की चतुर्थ पादपूर्ति की इच्छित मनोरथ को परिपूर्ण करने वाले स्तवन की रचना की ।

अमरविजयपादाम्भोजभृंगाथितेन,
चतुरविजयनाम्नो शिष्यलेशेन दृब्धम् ।
शुभवति रविवारे पोषकृष्णे दशम्यां,
जयतु सुचिरमेतद् वाच्यमानं सुधीभिः ॥२ ॥

प. पू. अमर विजय के चरण-कमलों के भ्रमर सदृश “चतुर” विजय नामक शिष्य के द्वारा पोष वदी १० मी रविवार के शुभ दिन इस स्तवन की रचना की जो स्तवन विद्वानों के द्वारा पढ़ा जाता हुआ लंबे कालतक विद्यमान रहेगा ।

एतत् कृतं विजयवल्लभसूरिवर्यं,

राज्येऽस्तदोषमपनीततमोवितानम् ।
आनन्दपूर्वविजयाभिधसूरिभर्तुः
स्तोत्रं सतां स्रगिव कण्ठमलङ्करोतु ॥३ ॥

प. पू. आचार्य श्री विजय वल्लभ सूरीश्वर के साम्राज्य में दोषों और अंधकार को नष्ट करने वाले पू. विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज के नाम यह स्तोत्र रचा गया यह सज्जनों के कण्ठ का हार बनकर उनके गले को सुशोभित करें ।

मुनिवर्यदेवविजयप्रेरणया जन्मतोऽस्य मुनिभर्तुः ॥
महसि शताब्द्याः प्रचलति रचितमिदं भूतयेऽस्तु सताम् ॥४ ॥

मुनिवर्य श्रीदेव विजय की प्रेरणा से विजयानंद सूरी के जन्म शताब्दी महोत्सव पर यह रचना सज्जनों के लिए पृथ्वी पर रची गई ।

श्रीमतो वासुपूज्यस्य तीर्थनेतुः प्रसादतः ।
संज्जाताऽमुष्य निष्पत्तिः वर्ये सैन्यापुरे पुरे ॥५ ॥

श्री वासुपूज्य स्वामी की कृपाशील से सैन्यपुर नामक नगर में इसकी श्रेष्ठ रचना हुई ।

(हिन्दी अनु. मुनि श्री इन्द्रजीत विजय)



चरणों में शत शत वन्दन

□ साध्वी श्रीलक्ष्म्यपूर्णा श्री

जैन सुशासन के सत्प्रेरक, मानवता आराधक ।
सन्त मनस्वी ज्योति पुंजवर, ज्ञान गीत के गायक ॥

सत्य अहिंसा आराधन से, था पावन तव तन-मन ।
सत्य अहिंसा साधक मुनिवर !, चरणों में शत वन्दन ॥

धर्म-सुमंगल की धारा है, धर्म सुशान्तिदायक ।
धर्मद्वार है मानवता का, धर्म सुभक्ति नायक ॥

धर्म-ध्यान ही जिसकी खातिर, था जीवन का उपवन ।
धर्म ध्यान के हे सत्प्रेरक, चरणों में शत वन्दन ॥

मौन-साधना खातिर जिसका, था जीवन धन अर्पित ।
ज्ञान-आचरण के द्वारा, जिस नर में था अवभासित ॥

ऐसे नर वन्दन से जीवन, बन जाता है पावन ।
पावनता की सजल ज्योति के, चरणों में शत वन्दन ॥

जैनधर्म की बगिया के, मुस्कराते सुमन निराले ।
उग्र-विहारी शान्त स्वभावी, दुखियों के रखवाले ॥

धन्य गुरुवर धन्य पिता-माँ, धन्य हुआ जन-जीवन ।
सत्यसाहित्य के हे निर्माता ! चरणों में शत वन्दन ॥

कर्म-शत्रु पर विजय बने अरु, आतम आनन्द पाया ।
महावीर के सिद्धान्तों को, जन-जन तक पहुँचाया ।

जैन जगत की विरल-विभूति, "लक्ष्य" शील था जीवन ।
विजय आनन्द पा आत्माराम बने, चरणों में शत वन्दन ॥



हम नत मस्तक हो जाते हैं

□ प्रो. श्रीपाल जैन

जीवन गाथा पढ़कर आत्म, हम नत मस्तक हो जाते हैं ।
श्रद्धा सुमन समर्पित करते, यादों में खो जाते हैं ॥
धन्य हुई लहरा की धरती, जन्म तुम्हारा देखा जिसने ।
धन्य हुई रूपा माता भी, कोख में तुम को पाला जिसने ॥
गुर्वोन्न मस्तक गणेश का, जिसके तुम कहलाए लाल ।
विस्मय से पूछा लोगों ने, भाग्य-सितारा 'दित्ता' किस ने ॥
किलक उठीं जीरा की गलियाँ, चूम तुम्हारा पावन पद रज ।
जोधमल भी पाकर तुम को नाम अमर हो जाते हैं ॥
जीवन का संसर्ग मिला तो, बालकपन को छोड़ दिया ।
भरी जवानी सोलह में ही, मोह बन्धन को तोड़ दिया ॥
ज्ञान पिपासु सत्य अन्वेषक, कब तक सीमाओं में टिकता ।
अथक खोज में निकला ऐसा, धारा का मुंह तोड़ दिया ॥
ललक यही थी मन में उसके, सच का दिग्दर्शन हो जाये ।
जागृत अध्ययनरत वह रहता, जब हम सब सो जाते हैं ॥
बीत गए दस वर्ष भटकते, पर हताश वह नहीं हुआ था ।
झलक नूर की देखी जिसने, क्या निराश वह कभी हुआ था ॥
“रत्न” अमूल्य मिला फिर उसको, तृप्त हुए तब नयन निरख कर ।
माथा पच्ची सफल हो गई, आकर उत्तर सही हुआ था ॥

पर चैन कहां उस दीवाने को, दुनिया को समझाना होगा ।
 सुलझ गई गुत्थी तो, सारे प्रश्न सरल हो जाते हैं ॥
 कठिन काम तब उसने जाना, लीक फकीरों को समझाना ।
 सत्ता से चिपके चींटों को, कैसे अमृत पथ दिखलाना ॥
 बारह वर्ष संघर्ष निरन्तर, लगा रहा वह मानव पुंगव ।
 ढहती दीवारों का मलबा, पावन मानस से हटवाना ॥
 उर्वर पंजाबी धरती पर, करना था उसको नव सृजन ।
 इच्छुक माली के हाथों से, वीराने खिल जाते हैं ॥
 विजय मिलेगी आत्म तत्त्व को, मन में यह विश्वास भरा था ।
 सत्यमेव जयते का आगम, पावन से यह पाठ पढ़ा था ॥
 ज्योति हुई जब “तत्त्वादर्श” की लुप्त हुआ अज्ञान तिमिर तब ।
 सुदृढ़ भित्ति पर गुरुवर का “तत्त्व निर्णय प्रासाद” सजा था ॥
 देख उल्लसित अनुयायों को, जिनकी जय जयकार बुलाते ।
 पूजा करने को आन्दोलित, काव्य मुखर हो जाते हैं ॥
 सच्चा श्रमण कहीं थकता है ?, क्षितिज पार थी मंजिल उसकी ।
 ज्ञानार्जन रत रहें श्रावक, अंतिम इच्छा थी यह मन की ॥
 उत्सुक था चल दिया प्यासा, ठीक समझ गुजरावाला को ।
 टूट गया पर स्वप्न अचानक, भावी भाव ने मानी किसकी ॥
 हतप्रभ होकर नगर निवासी, विस्मय विस्फारित से तकते ।
 रूंधे कंठ से बात न होती, तब आँसू गिर जाते हैं ॥
 जाओ गुरुवर जाओ, भूल न पाएंगे उपकार तुम्हारा ।
 पथ दिखलाया तुमने पथ पर चलना है कर्तव्य हमारा ॥
 देव लोक से तकते रहना, मार्ग भूल हम भटक न जाएं ।
 “इन्द्रदिन” के माध्यम से, हम समझ ही लेंगे तेरा इशारा ॥
 लो वचन बद्ध हैं वर्ष शत के पुण्य अवसर पर ।
 “श्रीपाल” सुन रहा ‘आत्म’, जो धर्म लाभ कह जाते हैं ॥

□

श्री विजयानंद गुण गुंजन

□ श्री कन्हैलाल जैन

- (१) नील गगन अति सघन कृष्णधन- पटलावृत था,
घोर तिमिर से दिवसनाथ- रथ छादित था ।
दिग दिगन्त कोई न उषा से आलोकित था,
जो था, कोरा क्रूर अमित बीभत्स असित था ॥
अति अन्धकार मय मार्ग था, लाखों विघ्न समूह थे ।
बचकर चलना भी कठिन था, आगे अरि के व्यूह थे ॥
- (२) उस तम-पथ का देख कहीं पड़ता न अन्त था,
घोर निराशा-पूर्ण भासता दिग दिगन्त था ।
क्रूर कुटिल का दुःसमाज फिरता अनन्त था,
था कुचक्र सर्वत्र, दुष्ट-दल अति दुरन्त था ॥
था जैन-जाति के पतन का, भीषण अवसर आ गया ।
सब ओर क्लेश का द्वेष का, दुःख घोर तर छा गया ॥
- (३) इस प्रकार जब निकट विकट संकट था आया,
फैल रही अज्ञान-तिमिर की थी जब माया ।
भूरि भ्रान्ति का भाव भूमि मण्डल को भाया,
झूठेपन का तिमिर देशभर में था छाया ॥

तब चमका सहसा तिमिर में, तेज कोटि रवि, चन्द का ।
अवतार परम पावन हुआ, श्री गुरु “विजयानन्द” का ॥

- (४) ज्योति जगमगी जगी अखिल तम-तोम हटगया,
नील गगन द्युति मान हुआ, घन-पटल फटगया ।
खल-समाज लट गया, दुष्ट दल भाग चट गया,
विध्व-वृन्द छंटगया, द्वेष, दुख, दैन्य घटगया ॥
गुरुवर के तब नेतृत्व में, साज समुन्नति का सजा ।
फिर डंका भारतवर्ष में, जैन-जाति - जय का बजा ॥
- (५) मिथ्या तम को भेद सत्य-उजियाला आया,
खल-कुतर्क उर छेदनार्थ बन भाला आया ॥
हुआ नष्ट विष-कुम्भ, अमृत का प्याला आया ।
नेता, गुरु, कवि, सन्त, ज्ञान बल वाला आया ॥
आकर उसने दिखला दिया, सत्य ज्ञान संसार को ।
था ज्ञान-दण्ड कर में लिये, मिथ्या-शल्योद्धार को ॥
- (६) जैन-जाति चिर नींद - ग्रसित थी, उसे जगाया,
सब आलस्य प्रमाद जाति का मार भगाया ।
द्वेष दूर कर हृदय प्रेम पय मध्य पगाया,
कंकड़ दिये निकाल, रत्न को ढेर लगाया ॥
फिर “जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ” कर ।
कर दिया सत्य सिद्धान्त यह, पतित-जाति- उत्थान पर ॥
- (७) अखिल देश में फिर वह जीवन-ज्योति जगाई,
जिसकी उज्ज्वल छटा दूर देशों में छाई ।
भगवन ने वह पावन-जीवन-सुधा बहाई,
जिसे पान कर जग ने तृप्ति अलौकिक पाई ॥
जो अमरीका यूरोप में, आज जैन का नाम है ।
श्री सूरि विजय आनन्द का ही, वह अद्भुत काम है ॥

- (८) लिख भेजा व्याख्यान तर्क- सिद्धान्त सुमण्डित,
चकित रह गये पढ़ कर उसे विदेशी पण्डित ।
एक वाक्य भी कर न सके उसका वे खण्डित,
देख मौन हो गये जैन - सिद्धान्त प्रचण्डित, ॥
अद्यापि शिकागों नगर के प्रश्नोत्तर पढ़कर कहीं ।
जैनी गौरव से फूलते, मोद समाता है नहीं ॥
- (९) किये जैन-सिद्धान्त तर्क-द्वारा प्रति पादित,
किये पुरातन शास्त्र युक्ति-द्वारा सम्पादित ।
किये विपक्षी-वृन्द वाद में नित्य पराजित,
किया देश में जैन धर्म जय घोष निनादित ॥
उज्ज्वल यश चमका देश में, अति प्रचण्ड मार्तण्ड सा ।
आतंक जैन का छा गया, अचल और अखण्ड सा ॥
- (१०) धूम मची छा गई लोक में कीर्ति-कहानी,
सब दिग से जिज्ञासु, हठी, वादी, अभिमानी ।
आये सम्मुख, किन्तु हुए आ पानी पानी,
हुए शीघ्र ही शिष्य सुने पर अमृत-वाणी ॥
जादू था उसकी बात में, वह आत्मिक बल पूर्ण था ।
जो सम्मुख आया हो गया, तत्क्षण ही मद - चूर्ण था ॥
- (११) नित्य आप की कीर्ति-कथा कवि-वृन्द कहेगा,
कृति-कलाप सुन सुहृद अकथा आनन्द लहेगा ।
हृदय-पटल पर चित्र विनिमित सदा रहेगा,
यशोगान की सुधा-धार में जगत बहेगा ॥
जो यत्न आपने है किये, जैन-समाज-विकास में,
वे स्वर्णाक्षर- अंकित रहें, सदा जैन- इतिहास में ॥
- (१२) सीखो युवको । आत्मत्याग-आदर्श यही है,
जीवन का साफल्य, सत्य-उत्कर्ष यही है ।

जाति-धर्म-उन्नति का मर्म-स्पर्श यही है,
विद्वत्ता का सार विचार विमर्श यही है ॥
वे महापुरुष हैं अमर कृति, जिनकी अनुकरणीय है ।
मुदमय हैं, मंगल-धाम हैं, नित प्रातः स्मरणीय हैं ॥



पार्थ समान, महाप्रण विजयी गुरुदेव

□ प्रो. राम जैन

आत्मरूप निर्झर के प्रवाहक, आतमराम गुरु ।
याद आपकी कैसे भुलादें, हे अभिराम गुरु ॥

आये थे तुम हमें तारने, भूले जग का पथ सँवारने ।
सत्रह साधु ले आगे बढ़ गये, रुके न कदम गुरु ॥

प्राणों की परवाह नहीं की, गोचरी की भी चाह नहीं की ।
पथ के मध्य में लिया नहीं, क्षणभर विश्राम गुरु ॥

सूरज बन कर चमक उठे तुम, क्रान्ति- अग्नि बन दमक उठे तुम ।
जल, थल, पवन में गूँज उठा, तेरा पैगाम गुरु ॥

अनथक योद्धा हे रण विजयी ! पार्थ समान महा प्रण विजयी !
गुजरावाला इस यात्रा का, अन्तिम धाम गुरु ॥

नव निर्माण के नायक गुरुवर शास्त्र ज्ञान- उन्नायक गुरुवर ! ।
कालजयी हो राम नाम सम, कोटि प्रणाम गुरु ॥

वि. सं. १९४० का स्वागत गीत

न्यायाभोनिधि आचार्य श्रीमद् विजयानंद सूरीश्वरजी महाराज वि. सं. १९४० में राजस्थान के अजमेर नगर में पधारे थे। अजमेर के तत्कालीन जैनों ने उनका भव्य और ऐतिहासिक स्वागत किया था। उनके स्वागत में अजमेर के श्री सुवालाल भंडारी ने एक स्वागत गीत (लावणी) की रचना की थी।

इसे अजमेर के परम गुरुभक्त श्रीसंपतराज बांठिया ने प्रस्तुत ग्रन्थ के लिए भेजा है।

मुनि आनंद विजय महाराज बड़े उपकारी,
भवि बंदो सहित समाज सकल नर नारी ॥

मुनि तज्यो जो कुगुरु संग, आत्म हितकारी,
भये जिन आज्ञानुसार पंच महाव्रत धारी ।
मुनि स्वगुण पायो रत्न कुमति कर न्यारी,
प्रभु पाले योग अखंड बाल बह्यचारी ॥१ ॥

मुनि षटकाय प्रतिपाल उग्र विहारी,
मुनि जीति इन्द्रिय पांच सुमति उरधारी ॥२ ॥

मुनि राग द्वेष दिए छोड़ क्षमा सी कटारी,
प्रभु लिए परिषह जीत आतमा तारी ॥३ ॥

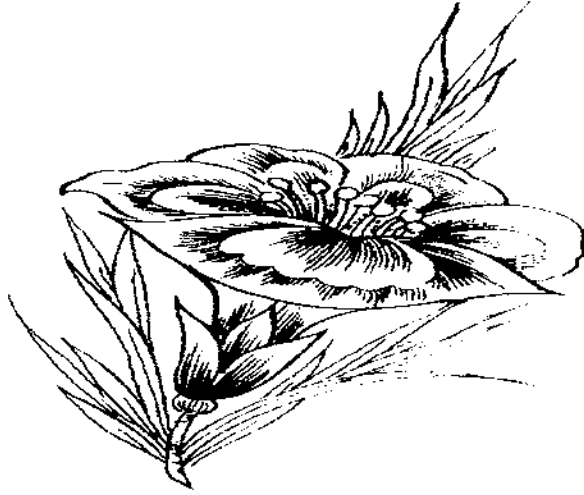
मुनि प्रतिबोद्यो पंजाब आर्य कर डारी ।

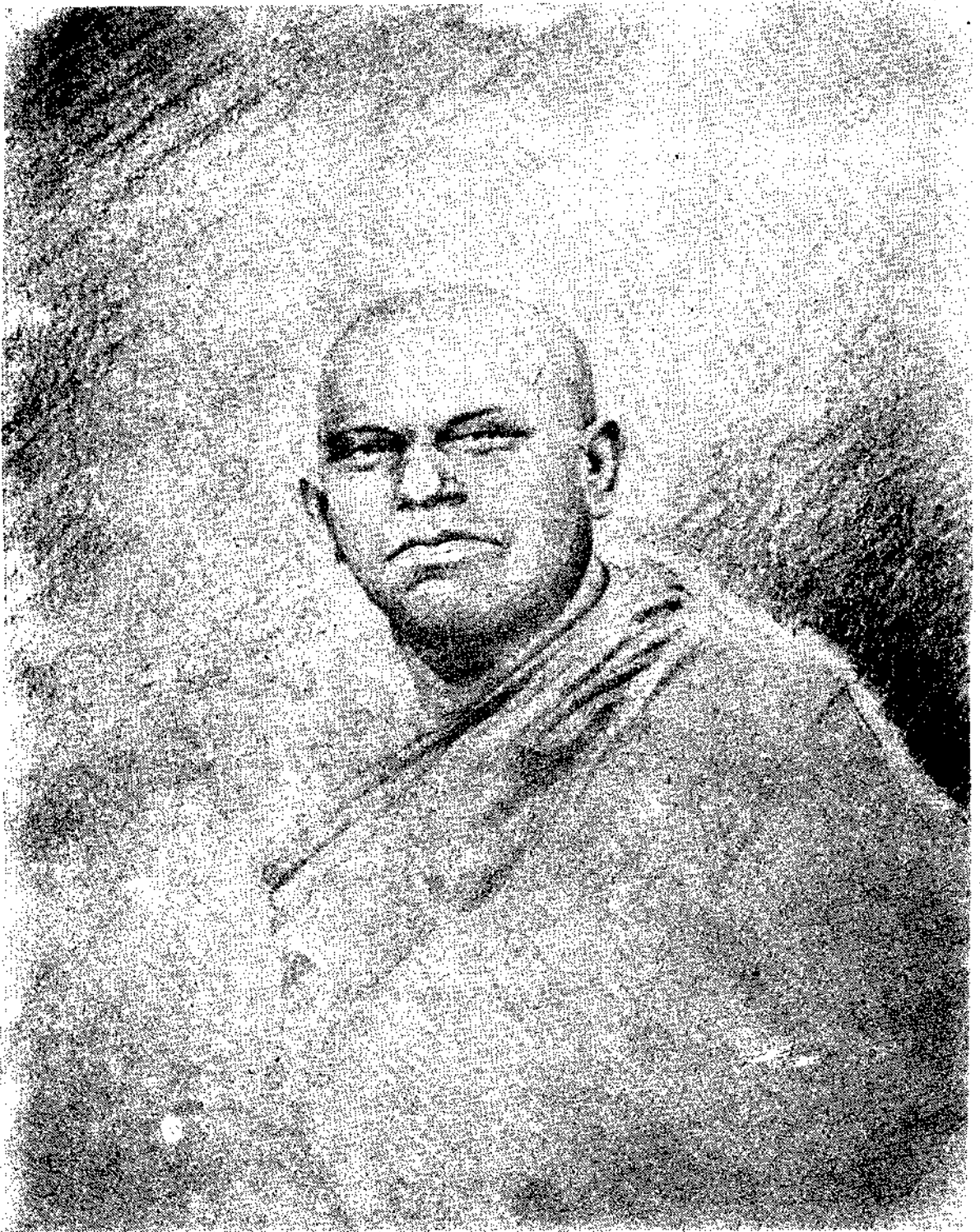
फिर क्षेत्र किते सुलटाए जावुं बलिहारी ॥४ ॥

मुनि वाणी अमृतधार देशना प्यारी,
मुनि मिटा दियो मिथ्यात्व, ग्रन्थ रचे भारी ॥५ ॥

मुनि शासन रहे दिपाय तपागच्छ धारी,
ऐसे अतिशयवंत अणगार रहो जयकारी ॥६ ॥

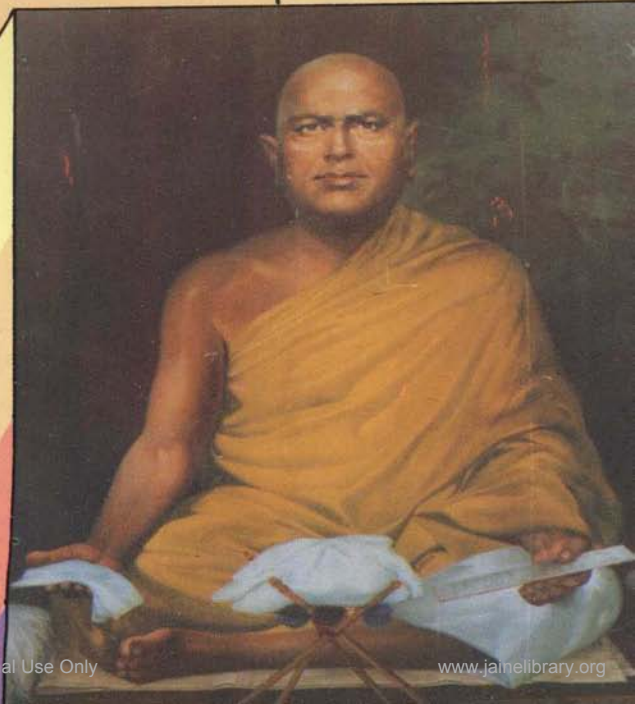
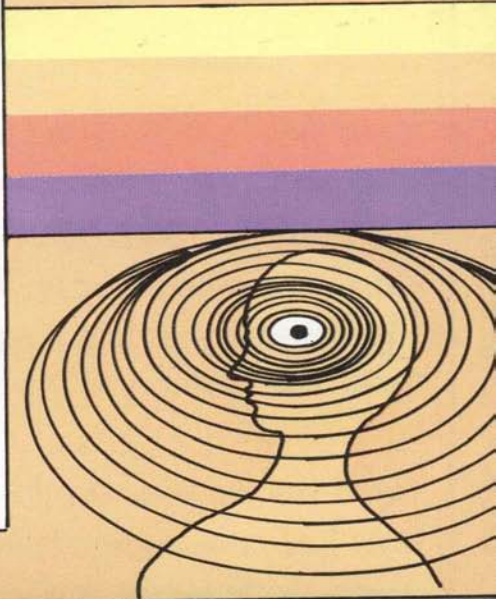
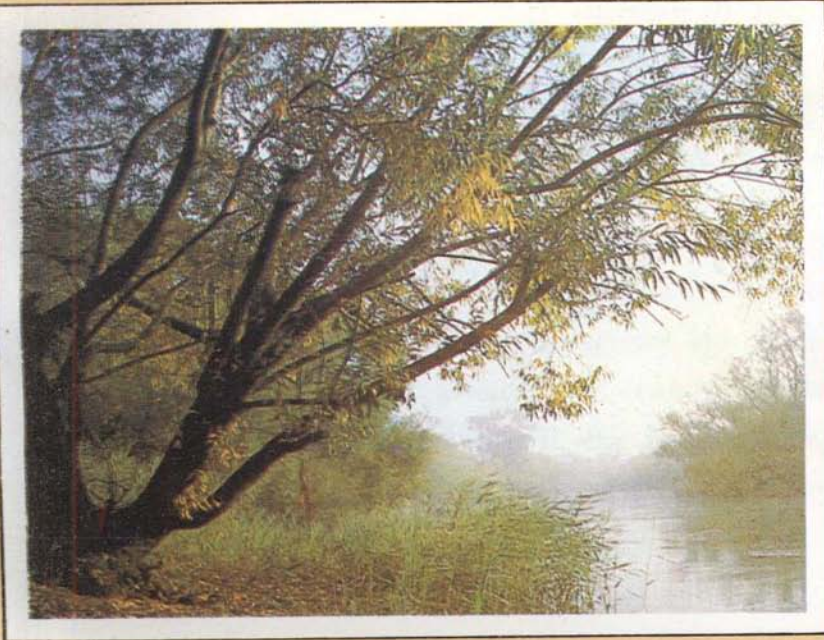
मुनि उगणीस सौ चालीस पोष पंचमीकारी,
गुण गाया श्रावक लाल गौत्र भंडारी ॥७ ॥







સ્મરણાંજલિ



ઓગણીસમી સદીના ઉત્તરાર્ધના

પંજબના ચાર ક્રાન્તિકારી મહાત્માઓ

- ડૉ. રમણલાલ ચી. શાહ

(૧)

શ્રી બુટેરાયજી મહારાજ

ઓગણીસમી સદીના ઉત્તરાર્ધમાં ગુજરાત, રાજસ્થાન અને પંજબમાં જૈન ત્યાગી સંઘની સાધુઓની સંખ્યા અલ્પ થઈ ગઈ હતી. જૈન યતિઓનો પ્રભાવપ્રચાર ઘણો વધી ગયો હતો. તે વખતે જન્મે જૈન ન હોય એવા પંજબના મહાત્માઓએ ગુજરાતમાં આવી, સંવેગી દીક્ષા ધારણ કરી સનાતન શુદ્ધ જૈન ધર્મનો ડંકો વગાડ્યો. તેમાં અગ્રેસર હતા પૂજ્ય શ્રી બુટેરાયજી મહારાજ. ત્યાગ-વૈરાગ્યની સાચી ભાવના, શાસ્ત્ર-જ્ઞાનની તીવ્ર ભૂખ, સામાજિક નીડરતા, સાચું આત્માર્થીપણું, તેજસ્વી અને પ્રતાપી મુખમુદ્રા ધરાવનાર શ્રી બુટેરાયજી મહારાજનો એ જમાનામાં જૈન ધર્મના પુનરુત્થાનમાં અનન્ય ફાળો રહ્યો છે.

શ્રી બુટેરાયજી મહારાજનો જન્મ પંજબમાં લુધિયાના પાસે દુલુઆ નામના ગામમાં વિ.સં. ૧૮૬૩માં થયો હતો. તેમના પિતાશ્રીનું નામ ટેકસિંહ હતું. તેઓ જાટ જાતિના હતા. તેમનું ગોત્ર ગિલ હતું. ટેકસિંહનાં પત્નીનું નામ કર્મો હતું. તેઓ પંજબમાં પતિયાલા રાજ્યનાં જ્ઞેધપુર નામના ગામનાં વતની હતાં.

ટેકસિંહ અને કર્મોનું દામ્પત્યજીવન સુખી હતું, પરંતુ તેમને એક વાતનું મોટું દુઃખ હતું. તેમને સંતાન થતાં, પાણુ જીવતાં રહેતાં નહિ. જન્મ પછી બાળક પંદર-વીસ દિવસે ગુજરી જતું. આથી તેઓ ધણાં નિરાશ થઈ ગયાં હતાં.

એક દિવસ ગામમાં કોઈ સંન્યાસી મહારાજ પધાર્યા હતા. તેઓ સિદ્ધ વચની તરીકે ઓળખાતા હતા. ટેકસિંહ અને કર્મો તેમની પાસે ગયાં અને પોતાનાં દુઃખની વાત કરી. તે વખતે એ સંન્યાસી મહારાજે તેમને આશીર્વાદ આપીને આગાહી કરતાં કહ્યું કે તમારે હવે એક સંતાન થશે. તે પુત્ર હશે. તમારો એ પુત્ર જીવશે, પરંતુ તે સાધુ-સંન્યાસી થઈ જશે. એને સાધુ-સંન્યાસી થતાં તમે અટકાવતા નહિ.

સાધુ મહારાજના આશીર્વાદથી ટેકસિંહ અને કર્મોને આનંદ થયો. તેમણે કહ્યું, ગુરુ મહારાજ !

અમારો દીકરો જે જીવતો રહે તો પછી ભલેને એ સાધુ-સંન્યાસી થાય. એથી અમને તો આનંદ જ થશે. એને જેઈને અમારું જીવ્યું લેખે લાગશે. અમે વચન આપીએ છીએ કે એને સંન્યાસી થતાં અમે અટકાવીશું નહિ.

ત્યારપછી સં. ૧૮૬૩માં તેમના ઘેર બાળકનો જન્મ થયો. બાળક અત્યંત તેજસ્વી હતું. પતિપત્ની બાળકને લાડકોડથી ઉછેરવા લાગ્યાં. પંદર-પચીસ દિવસ થવા છતાં બાળકને કશું થયું નહિ, એથી તેમનો ડર નીકળી ગયો. તેમનો ઉત્સાહ વધી ગયો. સાધુ મહાત્માનું વચન જાણે સાચું પડતું હોય તેવું લાગ્યું. એમ કરતાં બાળક મોટું થવા લાગ્યું.

બાળકનું નામ ટલસિંહ રાખવું એવી ભલામણ સાધુ મહાત્માએ કરી હતી. પંજબી ભાષામાં ટલ એટલે વાજિંત્ર. સાધુ મહાત્માએ કહ્યું હતું કે આ બાળક જ્યારે મોટા સાધુ-સંન્યાસી થશે ત્યારે તેઓ જ્યાં જશે ત્યાં તેમની આગળ બેન્ડવાજં વાગતાં હશે. માટે બાળકનું નામ ટલસિંહ રાખ્યો. એટલે માતા-પિતાએ બાળકનું નામ ટલસિંહ રાખ્યું. પરંતુ લોકો માટે આવું નામ તદ્દન નવીન અને અપરિચિત હતું. પંજબના લોકોમાંથી લશ્કર-દલમાં જોડાનારા ઘણા હોય છે એટલે બાળકનું નામ ટલસિંહને બદલે દલસિંહ પ્રચલિત બની ગયું. જે કે આ નામ પણ વધુ સમય ચાલુ રહ્યું નહિ, કારણ કે માતાપિતા એ ગામ છોડીને બીજે ગામ રહેવા ગયાં. ત્યાં શેરીનાં છોકરાંઓએ ટલસિંહનું નામ બુટાસિંહ કરી નાખ્યું.

લોકો બાળકના નામ માટે આજે જેટલા સભાન છે તેટલા ત્યારે નહોતા. સરકારી દફતર વગેરેમાં અધિકૃત નામ-નોંધણીના પ્રશ્નો ત્યારે તેટલા મહત્વના નહોતા. એટલે ટલસિંહને પછીથી તો માતાપિતા પણ બુટા (બુટાસિંહ) કહીને બોલાવતાં.

બુટાસિંહને પોતાને બાળપણથી જ ખાવાપીવા વગેરેમાં કે બીજી આનંદપ્રમોદની વાતોમાં બહુ રસ પડતો નહોતો. એમને સાધુ-સંન્યાસીઓની સોબતમાં અને ત્યાગ-વૈરાગ્યની વાતોમાં વધુ રસ પડતો હતો.

દલુઆ નાનું સરખું ગામ હતું. ત્યાં પ્રાથમિક શાળા પણ નહોતી એટલે બુટાસિંહને શાળામાં અભ્યાસ કરવાની કોઈ તક મળી નહોતી. ગામમાં શીખધર્મનું મંદિર ગુરુદ્વારા હતું. બુટાસિંહનાં માતા-પિતા શીખધર્મ પાળતાં હતાં અને ગુરુદ્વારામાં જતાં.

બુટાસિંહ જ્યારે આઠેક વર્ષના થયા ત્યારે એમના પિતાનું અવસાન થયું હતું. હવે કુટુંબમાં માત્ર માતા અને પુત્ર બે જ રહ્યાં હતાં. માતા પોતે જ્યારે ગુરુદ્વારામાં જતી ત્યારે તે સાથે નાના બાળક બુટાસિંહને લઈ જતી. ગુરુદ્વારામાં નિયમિત જવાને કારણે માતાની સાથે બુટાસિંહ પણ ધર્મપ્રવચન કરનાર ગ્રંથિસાહેબ જે ધર્મોપદેશ આપતા તે સાંભળતા હતા. વળી બપોરે બુટાસિંહે ગુરુદ્વારામાં જતા. ત્યાં છોકરાઓને શીખોની ગુરુમુખી ભાષાલિપિ શીખવવામાં આવતી. આમ કરતાં કરતાં



मुनिराजश्री बुद्धिविजयजी (बूटेरायजी)

બુટાસિંહને ગુરુમુખી ભાષા લખતાં-વાંચતાં આવડી ગઈ. શીખધર્મના ગ્રંથો જેવા કે ગ્રંથસાહેબ, મુખમણિ, જપુજી વગેરે વાંચવાની તક પણ તેમને સાંપડી. વળી ગુરુદ્વારામાં પધારનાર સંતોનો પરિચય પણ થવા લાગ્યો. આમ રોજ નિયમિત ગુરુવાણીના શ્રવાણ દ્વારા વધતા જતા ધર્માભ્યાસથી બુટાસિંહને ધર્મ પ્રત્યે રુચિ વધવા લાગી.

સોળેક વર્ષની ઉંમર થઈ હશે ત્યારે એક દિવસ બુટાસિંહે પોતાની માતાને કહ્યું, ‘મા ! મારે લગ્ન કરીને ઘરસંસાર માડવો નથી. મારે સાધુ થવું છે.’ એ સાંભળતાં જ માતાને સિદ્ધવચની બાબાએ કરેલી આગાહી સાચી પડતી લાગી. બુટાસિંહે જ્યારે સંન્યાસ લેવા માટે માતાની આજ્ઞા માંગી ત્યારે માતાએ એમને સમજાવતાં કહ્યું, ‘બેટા, મારા જીવનનો તું જ એક માત્ર આધાર છે. તારા પિતાનો સ્વર્ગવાસ થયો છે. તારે બીજાં કોઈ ભાઈબહેન નથી. એટલે તું ઘરની અંદર પણ સંન્યાસી તરીકે રહી શકે છે. તારો સ્વભાવ જોતાં તું તને લગ્ન કરવાનું ક્યારેય કહીશ નહિ. તારા માટે સિદ્ધવચની મહાત્માએ કરેલી આગાહી હું જાણું છું. તું સાધુ થશે એ વાત સાચી છે, પરંતુ તું ઘરમાં રહીને સાધુપણું પાળી શકે છે. એમ કરશે તો મને પણ સહારો રહેશે. તારે જો સાધુ થવું હોય તો મારા ગયા બાદ તું થજે.’

બુટાસિંહે કહ્યું, ‘માતાજી ! ઘરમાં મારું જરા પણ મન લાગતું નથી. જીવનનો ભરોસો નથી. વળી પંજબના ઈતિહાસમાં તો કેટલીય માતાઓએ ધર્મને ખાતર પોતાના સંતાનને અર્પણ કરી દીધાં હોય એવા દાખલા છે. માટે મને ઘર છોડીને જવાની આજ્ઞા આપો.’

એ વખતે માતાજીએ કહ્યું, ‘બેટા, તું જો ઘર છોડીને જવા માટે મક્કમ હોય તો મારી તને એટલી જ સલાહ છે કે આ એક ઘરસંસાર છોડીને બીજા પ્રકારનો ઘરસંસાર તું વસાવતો નહિ. તું સાચો ત્યાગી સંન્યાસી બને એ મને વધુ ગમશે. માટે ભલે વાર લાગે, પણ તું કોઈ સાચા ત્યાગી-વૈરાગી-વિદ્વાન સાધુની શોધ કરીને પછી એમની પાસે સંન્યાસ લેજે. તને જ્યાં જ્યાં જવાનું મન થાય ત્યાં ત્યાં તેવા સંન્યાસીઓ પાસે જઈને રહેજે અને તારું મન ન કરે તો ઘરે પાછો આવતો રહેજે. આ ઘર તારું જ છે. અને તારા માટે હંમેશા ખુલ્લું જ છે. તું જો મહાત્મા પાસે સંન્યાસ લેવાનું નક્કી કરે એની વાત પહેલાં મને કરજે અને પછી સંન્યાસ લેજે.’

માતાની આજ્ઞા મળતાં બુટાસિંહે સદ્ગુરુની શોધ શરૂ કરી. જ્યાંથી કંઈ માહિતી મળતી તો તે સાધુ મહાત્માને મળવા માટે તેઓ દોડી જતા અને એમની સાથે થોડા દિવસ રહેતા. એ રીતે તેઓ કોઈ વખત શીખ ધર્મગુરુ સાથે રહ્યા, કોઈ વખત ફકીરો સાથે રહ્યા, કોઈ વખત નાથ સંપ્રદાયના બાવાઓ સાથે રહ્યા, કોઈ વખત ધૂણી ધખાવનાર અને ચરસ-ગાંજો પીનાર ખાખી બાવાઓ સાથે રહ્યા, પરંતુ તેમને ક્યાંય પૂરો સંતોષ થતો નહિ. સંન્યાસીઓની સાથે રહેવાથી તે તે સંન્યાસીઓના સ્વભાવની વિચિત્રતાઓ કે મર્યાદાઓનો અને તેમના જીવનમાં ધન, મિલકત, કીર્તિ, નારી કે એવા

કોઈ માટે રહેલી વાસનાઓનો પરિચય થતો. તેઓ ઘરે આવીને પોતાની માતાને દરેકના અનુભવની વાત કરતા. માતા તેમને આશ્વાસન આપતાં કહેતી કે 'બેટા, ભલે મોડું થાય, ભલે જવા-આવવાનો ખર્ચ વધુ થાય, પણ તું ફિક્કર કરતો નહિ. આ ઘર તારું જ છે. માટે સદ્ગુરુની શોધમાં ઉતાવળે નિર્ણય લેતો નહિ.'

આ રીતે બુટાસિંહે પંજાબમાં ઠેક કાંગડા અને કુલુમનાલી સુધી અને બીજી બાજુ જમ્મુ અને કાશ્મીર સુધી સાત-આઠ વર્ષ સુધી ઘણી રખડપટ્ટી કરી, કેટલાય સંન્યાસી, ફકીર, લિંગિયા, નાથ, જોગી વગેરેનો સંપર્ક કર્યો, પરંતુ ક્યાંય એમનું મન ઠરતું નહિ. ઘણાખરા તો ગાંજો, ચરસ, અફીણ, ભાંગ વગેરેના વ્યસની હતા. કેટલાક તો ધન-દોલત અને પરિવારવાળા હતા. એમનું અંગત જીવન જોઈને એમની પાસે સંન્યાસ લેવાનું મન થતું નહિ. એમ કરતાં બુટાસિંહની ઉંમર ચોવીસ વર્ષની થવા આવી.

એક દિવસ કોઈકની પાસે બુટાસિંહે સાંભળ્યું કે મોઢે વસ્ત્રની પટ્ટી બાંધનારા જૈન સાધુઓમાં નાગરમલજી નામના એક સાધુ મહાત્મા ઘણી ઉંચી કોટિના છે. બુટાસિંહે એમનો સંપર્ક સાધ્યો. સ્થાનકમાર્ગી એ જૈન સાધુ બાવીસ ટોળાવાળા તરીકે ઓળખાતા હતા. ત્યારે સાધુઓના સમુદાય માટે ટોળા કે ટોળી શબ્દ વપરાતો અને સાધુ માટે ઋષિ કે રીખ શબ્દ વપરાતો. પંજાબમાં ત્યારે સ્થાનકવાસી સાધુઓના મુખ્ય બે સમુદાય હતા- બીસ તોલા અને બાઈસ તોલા. ઋષિ મલુકચંદજીના ટોળાના ઋષિ નાગરમલજીના પરિચયમાં આવતાંની સાથે એમના સરળ, નિર્દભ, ત્યાગી, સંયમી જીવનથી બુટાસિંહ પ્રભાવિત થયા. વળી તેમનું પ્રવચન સાંભળતાં પણ બુટાસિંહને ખાતરી થઈ કે આ સાધુ મહાત્મા વિદ્વાન છે, ત્યાગી છે, સંયમી છે અને સિદ્ધાંતોના જાણકાર છે. યુવાન, તેજસ્વી બુટાસિંહનો સંયમની કુચિ અને શાસ્ત્રજ્ઞાનની સાચી જિજ્ઞાસાનો ઋષિ નાગરમલજીને પણ પરિચય થયો. ઘરે આવીને પોતાની માતાને મુનિ નાગરમલજીની વાત કરી. એ સાંભળીને માતાજીએ એમને નાગરમલજી પાસે દીક્ષા લેવાની અનુમતિ આપી.

ઋષિ નાગરમલજી તે સમયે પંજાબમાં વિચરતા અને મોટો સમુદાય ધરાવતા સ્થાનકમાર્ગી મહાત્મા ઋષિ મલુકચંદજી મહારાજની ટોળીના સાધુ હતા. વિહાર કરતાં કરતાં તેઓ દિલ્હી પહોંચ્યા હતા. એમની પાસે દીક્ષા લેવા બુટાસિંહ દિલ્હી ગયા. દિલ્હીમાં ગુરુ મહારાજ નાગરમલજીએ એમને વિ.સં. ૧૮૮૮માં ૨૫ વર્ષની ઉંમરે દીક્ષા આપી. એમનું નામ ઋષિ બુટેરાયજી મહારાજ રાખવામાં આવ્યું.

બુટેરાયજી મહારાજે પોતાના ગુરુ મહારાજ નાગરમલજી સાથે દિલ્હીમાં ચાતુર્માસ કર્યું. ચાતુર્માસ દરમિયાન નાગરમલજી આચારાંગ સૂત્ર અને સૂચગાંગ સૂત્ર ઉપર વ્યાખ્યાનો આપતા હતા. એ વ્યાખ્યાનો બુટેરાયજી ધ્યાનપૂર્વક સાંભળતા હતા. વળી એ સૂત્રોની પોથીઓ લઈને ગુરુ મહારાજ

પાસે બેસીને તેઓ વ્યવસ્થિત અધ્યયન કરવા લાગ્યા હતા. બીજા ચાતુર્માસ દરમિયાન સંસ્કૃત અને અર્ધ માગધી ભાષા પણ એમણે શીખી લીધી હતી. વળી, પોતાની મેજે આગમગ્રંથો વાંચવાની સજ્જતા તેઓ પ્રાપ્ત કરતા જતા હતા. એમની તીવ્ર સમજશક્તિ, વધુ અધ્યયન માટેની લગની, અધરા વિષયોની ગ્રહણશક્તિ, અસાધારણ સ્મરણશક્તિ વગેરે જોઈને ગુરુ મહારાજને પણ બહુ હર્ષ થતો.

આગમગ્રંથો વિશે ગુરુ મહારાજ પાસેથી સાંભળતાં સાંભળતાં બુદેરાયજી મહારાજને જૈન સાધુઓના આચાર તથા સિદ્ધાંતો વિશે કેટલાક પ્રશ્નો થતા, પરંતુ ગુરુ મહારાજ પાસેથી તેનું સમાધાન મળતું નહિ. અલબત્ત, ગુરુ મહારાજ નાગરમલજી એટલા બધા ઉદાર હતા કે પોતાની થંકાઓના સમાધાન માટે બુદેરાયજીને જ્યાં જવું હોય ત્યાં જવાની રજા આપતા.

એ દિવસોમાં રાજસ્થાન અને પંજાબમાં સ્થાનકમાર્ગી અને તેરાપંથી સાધુઓ વચ્ચે વારંવાર વિવાદ થતો. દિલ્હીમાં એ વખતે તેરાપંથી સાધુ જિતમલજી હતા. બુદેરાયજીને તેમની પાસે જવાની જિજ્ઞાસા થઈ. ગુરુ મહારાજની આજ્ઞા લઈને તેઓ તેમને મળવા ગયા. તેમની સામાચારી જોઈને તેઓ પ્રભાવિત થયા અને પાછા આવીને પોતાના ગુરુ મહારાજને તે વિશે વાત કરી. નાગરમલજી ઉદાર મનના હતા, છતાં બુદેરાયજી તેરાપંથી સાધુઓના વધુ સંસર્ગમાં આવે એ વાત એમને ગમી નહિ.

બુદેરાયજી યુવાન સત્યશોધક સાધુ હતા. તેઓ તેરાપંથી સાધુઓ પાસે જવા ઈચ્છતા હતા. એમની પાકી મરજી જોઈ સરળ પ્રકૃતિના ઋષિ નાગરમલજીએ છેવટે આજ્ઞા આપી. બુદેરાયજી તેરાપંથીના સાધુ પાસે ફરીથી ગયા. ત્યારપછી મુનિ જિતમલજી દિલ્હીથી વિહાર કરીને જોધપુર ચાતુર્માસ કરવાના હતા. બુદેરાયજીએ જોધપુર જવાની આજ્ઞા માંગી. ગુરુ મહારાજને ગમ્યું નહિ, તેમ છતાં તેમણે જોધપુર જવા માટે આજ્ઞા આપી. બુદેરાયજીએ વિહાર કરી જોધપુર પહોંચી મુનિ જિતમલજી સાથે ચાતુર્માસ કર્યું. ચાતુર્માસમાં સતત સાથે રહેવાને કારણે તથા વિચાર-વિનિમયને કારણે ત્યાં પણ તેમને કેટલાક પ્રશ્નો થયા, જેનું સમાધાન મુનિ જિતમલજી કરી શક્યા નહિ. બુદેરાયજી મહારાજને કેટલીક અપેક્ષાએ સ્થાનકવાસી સાધુઓ કરતાં તેરાપંથી સાધુઓ ચડિયાતા લાગ્યા અને કેટલીક અપેક્ષાએ તેરાપંથી સાધુઓ કરતાં સ્થાનકવાસી સાધુઓ ચડિયાતા લાગ્યા. આથી એમનું મન ડામાડોળ રહેવા લાગ્યું. તેઓ પોતાના સ્થાનકવાસી ગુરુ નાગરમલજી સાથે રહેવાનું નક્કી કરીને જોધપુરથી વિહાર કરીને પાછા દિલ્હી આવી પહોંચ્યા. દિલ્હીમાં એમણે ગુરુ મહારાજ સાથે બે ચાતુર્માસ કર્યા.

વૃદ્ધાવસ્થા અને નાદુરસ્ત તબિયતના કારણે ઋષિ નાગરમલજીએ દિલ્હીમાં જ સ્થિરવાસ કર્યો હતો. બુદેરાયજી એમની પાસે પાછા આવ્યા હતા. પરંતુ ગુરુ મહારાજનો પહેલાં જેટલો ઉલ્લાસભર્યો ભાવ હવે જાગ્રાયો નહિ. તો પણ બુદેરાયજી દંભ-કપટ વિના સરળતાથી ગુરુ મહારાજ સાથે રહીને

તેમની વૈયાવચ્ચ કરવા લાગ્યા. બુદેરાયજીએ ગુરુ મહારાજને વિનંતી કરી કે તેઓ પોતાને વધુ શાસ્ત્રાભ્યાસ કરાવે. પરંતુ ગુરુ મહારાજ હવે મન મૂકીને શાસ્ત્રાભ્યાસ કરાવતા હોય એવું બુદેરાયજીને લાગતું નહિ.

કેટલાક સમય પછી ગુરુ મહારાજ વધુ બીમાર પડ્યા. બુદેરાયજીએ દિવસ-રાત જોયા વગર અથાગ પરિશ્રમપૂર્વક એમની સેવા -ચાકરી કરી. તેમનાં ઠલ્લો-માત્રુ પાણ તેઓ જરા પાણ કચવાટ વગર, બલ્કે હોશથી સાફ કરતા અને આસપાસ ક્યાંય જવું હોય તો બુદેરાયજી તેમને ઉંચકીને પોતાના ખભા ઉપર બેસાડીને લઈ જતા. રોજ ઉજાગરા થતા તો પાણ તેઓ ગુરુ મહારાજની પાસે ખંતથી, ઉત્સાહથી અને ગુરુસેવાના ભાવથી બેસી રહેતા અને તેમની સતત સંભાળ રાખતા અને રાત્રે જ્યારે જ્યારે સમય મળે ત્યારે પોતે ગોખેલાં સૂત્રો, થોકડા, બોલ વગેરે બોલીને વાદ કરી લેતા. બુદેરાયજીની વૈયાવચ્ચ નાગરમલજી મહારાજના હૃદયને સ્પર્શી ગઈ. તેમના હૃદયનું પરિવર્તન થયું. અંતિમ સમયે એમણે કહ્યું, 'બુટા, તેં મારી બહુ સેવાચાકરી કરી છે, મેં તને જોઈએ તેટલો અભ્યાસ કરાવ્યો નથી. તારી જિજ્ઞાસા અને જ્ઞાનની ભૂખ ઘણી મોટી છે, માટે તું આ મારી પાંચ મૂલ્યવાન હસ્તલિખિત પ્રતો તારી પાસે જ રાખજે. તું સદા સુખી રહેજે અને ધર્મનો પ્રચાર કરજે. તું કોઈ પાણ કદાચહી સાધુનો સંગ કરતો નહિ. જ્યાં તને શુદ્ધ ધર્મની પુષ્ટિ થતી લાગે ત્યાં તું રહેજે અને તે પ્રમાણે કરજે.' આમ આશિષ આપી ઋષિ નાગરમલજી મહારાજ કાળધર્મ પામ્યા.

પોતાના ગુરુ મહારાજના કાળધર્મ પછી બુદેરાયજી મહારાજ વિહાર કરીને પતિવાલા પધાર્યા. એમનામાં ત્યાગવૈરાગ્યના સંસ્કાર બાળપણથી હતા એટલે ઉગ્ર તપશ્ચર્યા માટે તેમને વિશેષ રુચિ હતી. પતિવાલામાં એમણે ઘણી કડક તપશ્ચર્યા થરૂ કરી હતી, તેઓ છઠ્ઠ, અઠ્ઠમ કે પંદર દિવસના ઉપવાસ વારંવાર કરતા. આયંબિલ તો એમનાં વખતોવખત ચાલુ રહેતાં. ગોચરી વહોરવા જ્ય ત્યારે તેઓ જુદા જુદા અભિગ્રહ ધારણ કરીને જતા. ગોચરીને માટે તેઓ એક જ પાત્ર રાખતા, બધા લોકો ભોજન કરી લે તે પછી તેઓ ગોચરી વહોરવા જતા. બધો જ આહાર તેઓ એક જ પાત્રમાં લેતાં અને તે ભેગો કરીને ખાતા અને સ્વાદ ઉપર વિજ્ય મેળવવા પ્રયત્ન કરતા. ઘણું ખરું તેઓ દિવસના એક જ વખત આહાર લેતા. ગોચરીમાં પાણ તેઓ લુખ્ખો આહાર પસંદ કરતા. તેઓ ટાઢ-તડકાના પરીપહો સ્વેચ્છાએ વધુ અને વધુ સહન કરતા. દિવસે એક જ વસ્ત્ર ધારણ કરતા અને શિયાળાની કડકડતી ઠંડીમાં રાત્રે ઓઢવા માટે ફક્ત એક જ સુતરાઉ વસ્ત્ર પાસે રાખતા. કેટલીક વાર તો રાત્રે તેઓ વસ્ત્ર ઓઢતા નહિ. વળી તેઓ શિયાળાની ઠંડીમાં પાણ દિવસે છાતી ઉપર કોઈ વસ્ત્ર ધારણ કરતા નહિ. પોતાની આત્મિક શક્તિ ખીલવવા માટે તેઓ શિયાળાની કડકડતી ઠંડીમાં એક બંધ કમરામાં આખી રાત નગ્ન અવસ્થામાં પચાસન વાળીને બેસવાની તપશ્ચર્યા કરતાં. આવી રીતે તેમણે પોતાના શરીરને ઘણું કસ્યું હતું.

તેઓ ત્યારપછી માલેરકોટલામાં ચાતુર્માસ હતા. ત્યારે લગભગ છ મહિના સુધી રોજેરોજ

અભિગ્રહપૂર્વક ગોચરી વહોરી લાવતા. આમ બુટેરાયજી મહારાજ યુવાન વયથી જ ઉગ્ર તપસ્વી બન્યા હતા.

બુટેરાયજી મહારાજ તપશ્ચર્યાની સાથે સાથે સ્વાધ્યાય પણ કરતા અને ઉપાશ્રયમાં વ્યાખ્યાન પણ આપતા. આથી એમનો ચાહકવર્ગ વધતો ગયો હતો. દરમિયાન ખાનદાન કુટુંબના બે યુવાનોએ એમની પાસે દીક્ષા લીધી હતી.

તેઓ પંજબથી વિહાર કરી દિલ્હી પધાર્યા, ત્યાં સ્થાનકમાર્ગી સમુદાયના ઋષિ રામલાલજીનું ચાતુર્માસ હતું. તેઓ કવિ પણ હતા. તેમની પાસે અમૃતસરના એક ઓસવાલે દીક્ષા લીધી હતી. એમનું નામ ઋષિ અમરસિંહજી રાખવામાં આવ્યું હતું. અમરસિંહે ગુરુ મહારાજ પાસે સારો સ્વાધ્યાય કર્યો હતો. તેઓ બુદ્ધિશાળી અને તેજસ્વી હતા. એટલે વ્યાખ્યાન આપવાની જવાબદારી અમરસિંહજીએ લીધી હતી. બુટેરાયજી અમરસિંહજીના સંપર્કમાં આવ્યા. બુટેરાયજી યુવાન, બુદ્ધિશાળી તથા સંસ્કૃત-અર્ધમાગધીના જાણકાર અને જિજ્ઞાસુ છે એ જાણી અમરસિંહજીને એમનો સંગ ગમી ગયો. તેઓ પાસે જે કંઈ નવી નવી પોથીઓ આવતી તે બુટેરાયજીને બતાવતા અને વાંચવા આપતા.

એક દિવસ અમરસિંહજીએ બુટેરાયજીને વિપાકસૂત્રની પોથી બતાવી પૂછ્યું, 'આ તમે વાંચ્યું છે?' પોથી જોઈ બુટેરાયજીએ કહ્યું, 'વિપાકસૂત્ર મેં વાંચ્યું તો નથી, પણ એનું નામ પણ આજે પહેલીવાર તમારી પાસેથી સાંભળું છું.' અમરસિંહજીએ વિપાકસૂત્ર બુટેરાયજીને વાંચવા આપ્યું.

બુટેરાયજી વિપાકસૂત્ર બહુ રસપૂર્વક, ચીવટથી વાંચી ગયા. શાસ્ત્રોનું અધ્યયન કરવાની એમની ભૂખ ગુરુ મહારાજે પૂરી સંતોષી નહોતી, એટલે તે વાંચતાં વધુ આનંદ થયો. પરંતુ વિપાકસૂત્ર વાંચતાં તેમાં આવતો મૃગા-લોઢિયાનો પ્રસંગ પણ તેમણે વાંચ્યો. તેમાં વર્ણવ્યા પ્રમાણે ગૌતમસ્વામી મૃગાવતીના માંસના લોચા જેવા, સતત લોહી અને પરુ નીકળતા, તીવ્ર દુર્ગંધ મારતા પુત્રને જેવા જાય છે, તે વખતે દુર્ગંધને કારણે મૃગાવતી ગૌતમસ્વામીને મોઢે વસ્ત્ર ઢાંકવા કહે છે. એનો અર્થ એ થયો કે ત્યારે ગૌતમસ્વામીએ મોઢે મુહપત્તી બાંધી નહોતી. મોઢે મુહપત્તી બાંધવાનું ફરમાન આગમસૂત્રોમાં આવતું નથી. એટલે એમણે પોતાની શંકા અમરસિંહજી પાસે દર્શાવી. અમરસિંહજી પાસે એનો જવાબ નહોતો. એટલે ગુરુ રામલાલજીને પૂછ્યું. એમની પાસે પણ જવાબ નહોતો. એમણે એટલું જ કહ્યું કે 'આપણે મોઢે મુહપત્તી ન બાંધીએ તો લોકો આપણને યતિ કહે. માટે મોઢે મુહપત્તી બાંધવી જરૂરી છે.'

પરંતુ આ ખુલાસાથી બુટેરાયજીને સંતોષ થયો નહિ. વળી જિન પ્રતિમાનાં દર્શન-વંદનનો નિષેધ આગમસૂત્રમાં ક્યાંય આવતો નથી. એ વિશે પણ એમણે અમરસિંહજી પાસે પોતાની શંકા વ્યક્ત કરી, પરંતુ તેનો પણ કોઈ સંતોષકારક ખુલાસો મળ્યો નહિ.

દિલ્હીના ચાતુર્માસ પછી બુટેરાયજી પોતાના શિષ્યો સાથે પતિયાલા, અમૃતસર, સિયાલકોટ,

રાવલપિંડી વગેરે સ્થળોએ વિચરી પાછા પતિયાલા પધાર્યા. ત્યાં રસ્તામાં અમરસિંહજી મળી ગયા. તેમણે બુટેરાયજીને કહ્યું 'બુટેરાયજી, તમે સારો શાસ્ત્રાભ્યાસ કર્યો છે. મારા કરતાં તમે મોટા છો. આપણે એક જ ગુરુ ઋષિ મલુકચંદજીના ટોળાના છીએ તો આપણે સાથે વિચરીએ તો કેમ ?'

અમરસિંહજીની દરખાસ્ત બુટેરાયજીએ સ્વીકારી લીધી. તેઓ સાથે વિહાર કરવા લાગ્યા. એમ કરતાં અમૃતસર તેઓ બંને પધાર્યા, પરંતુ અમૃતસરમાં બુટેરાયજી મુહપત્તી અને જિનપ્રતિમા વિશેના પોતાના વિચારો બીજા સાધુઓ પાસે વ્યક્ત કરતા તે અમરસિંહજીને ગમતું નહિ. બુટેરાયજી સાથે શાસ્ત્રાર્થ કરવાનું પણ એમનું ગજું નહોતું. અમરસિંહજી અમૃતસરના મોટા શ્રીમંત પરિવારમાંથી આવેલા હતા. એટલે અમરસિંહજીનો અનુયાયી વર્ગ મોટો હતો. પોતાના અનુયાયી વર્ગ પાસે બુટેરાયજી મુહપત્તી અને જિન પ્રતિમાની વાત કરે તે તેમને ગમતું નહિં. આથી બુટેરાયજી અને અમરસિંહજી વચ્ચે મતભેદ ચાલુ થયો. છેવટે બંને જુદા પડ્યા. પછી બુટેરાયજીની વિરુદ્ધ અમરસિંહજીએ પ્રચાર ચાલુ કરી દીધો, શ્રાવકોને મોકલીને તેઓ વ્યાખ્યાનમાં શું બોલે છે, લોકો સાથે શી વાત કરે છે તેની જાસૂસી કરવા લાગ્યા. પોતાને કોઈ મળવા આવે તો તેનો બુટેરાયજી માટે અભિપ્રાય પૂછતા અને કોઈ સારો, ઊંચો અભિપ્રાય આપતા તે તેમને ગમતું નહિ. વળી તેઓ શ્રાવકોને તૈયાર કરીને બુટેરાયજીની પાસે મોકલીને મુહપત્તી અને પ્રતિમાપૂજન વિશે પ્રશ્ન કરાવતા, બુટેરાયજીને લાગ્યું કે હવે બધાંને સ્પષ્ટ વાત કરવાનો વખત પાકી ગયો છે. એટલે તેમણે પોતાના વિચારો શાસ્ત્રના જાણકાર કરમચંદજી શાસ્ત્રી, ગુલાબરાયજી વગેરે શ્રાવકોને જાણાવ્યા. બીજી બાજુ અમરસિંહજીએ બુટેરાયજીનો જાહેરમાં વિરોધ ચાલુ કરી દીધો, આથી શ્રાવકોમાં પણ બે પક્ષ પડી ગયા. પંજબમાં બધે આ બાબત જાહેર ચર્ચાનો વિષય બની ગઈ. અમરસિંહજીએ પોતાના ક્ષેત્રના શ્રાવકોને તૈયાર કર્યા હતા અને ધમકી આપી કે બુટેરાયજી જે પોતાના ક્ષેત્રમાં આવશે તો એમનો વેશ ખેંચી લેવામાં આવશે.

આ સમય દરમિયાન બુટેરાયજી પાસે ખાસ કોઈ શિષ્યો રહ્યા ન હતા. સ્થાનકવાસી સંપ્રદાયના બાવીસ ટોળામાં તેમણે ચાર શિષ્યો બતાવ્યા હતા. પરંતુ એમાંથી માલેરકોટલાવાળા બે શિષ્યો એમને છોડીને ચાલ્યા ગયા હતા. એક શિષ્ય કાળધર્મ પામ્યા હતા. એક જાટ જાતિના શિષ્ય હતા, તેમણે દીક્ષા છોડી દઈને ગૃહસ્થ વેશ અંગીકાર કર્યો હતો. આથી બુટેરાયજી એકલા પડી ગયા હતા. પરંતુ આવી ધાકધમકીઓથી તેઓ ડરતા નહોતા, કારણ કે તેઓ આત્માર્થી હતા અને જિનતત્ત્વમાં અડગ શ્રદ્ધા ધરાવનાર હતા.

એવામાં પ્રેમચંદજી નામના એક સાધુએ પોતાના ગુરુમહારાજને છોડીને બુટેરાયજી પાસે આવીને ફરીથી દીક્ષા લીધી હતી. તેઓ તેમની સાથે ચારેક વર્ષ રહ્યા હતા. બુટેરાયજીએ પ્રેમચંદજીને આગમશાસ્ત્રોનો સારો અભ્યાસ કરાવ્યો હતો. પરંતુ ગુજરાનવાલા નગરમાં તેઓ ચાતુર્માસ હતા ત્યારે એક દિવસ મુનિ પ્રેમચંદજીએ કહ્યું, ગુરુદેવ, મારાથી હવે દીક્ષા પળાતી નથી. મારું મન ડામાડોળ થઈ ગયું છે. મારી કામવાસના બહુ જાગ્રત રહે છે. મારાં ભોગાવલી કર્મનો ઉદય થયો લાગે

છે. માટે મને દીક્ષા છોડવાની આજ્ઞા આપો.

બુટરાયજી મહારાજે એમને ખૂબ સમજાવ્યા, પરંતુ જ્યારે લાગ્યું કે એ સાધુજીવનમાં હવે ટકી શકે તેમ નથી, ત્યારે તેમણે દીક્ષા છોડવાની અનુમતિ આપી. મુનિ પ્રેમચંદજીએ દીક્ષા છોડીને, લજ્જ કરીને ગૃહસ્થ જીવન સ્વીકાર્યું. લાહોરમાં જઈને એમણે સિપાઈની નોકરી લીધી. ગૃહસ્થ વેશે તેઓ કોઈ કોઈ વાર ગુરુ મહારાજને વંદન કરવા આવતા.

સં. ૧૯૦૨નું ચાતુર્માસ બુટરાયજી મહારાજે પસરુરમાં કર્યું. તે વખતે એક નવવયુવાન એમના સંપર્કમાં આવ્યો. એમનું નામ મૂળચંદ હતું. એમની ઉંમર નાની હતી, પણ એમની બુદ્ધિની પરિપક્વતા ઘણી હતી. વળી એમણે જુદા જુદા સાધુઓ પાસે શાસ્ત્રાભ્યાસ પણ કર્યો હતો. બુટરાયજીના મુહપત્તી અને પ્રતિમાપૂજનના વિચારો એમણે જાણી લીધા હતા, અને તે પોતાને સાચા જણાતાં તેમણે પણ ચર્ચા ઉપાડી હતી. ત્યાર પછી સોળ વર્ષની વયે એમણે બુટરાયજી પાસે દીક્ષા લીધી. તેમનું નામ મૂળચંદ હતું એટલે સાધુ તરીકે તેમનું નામ મુનિ મૂળચંદજી રાખવામાં આવ્યું. તેમણે ગુરુ મહારાજ બુટરાયજી સાથે રામનગરમાં ચાતુર્માસ કર્યું.

મૂળચંદજી મહારાજ જેવા તેજસ્વી અને નીડર શિષ્ય મળતાં બુટરાયજીની નૈતિક હિંમત હતી તે કરતાં પણ વધી ગઈ. વિ.સં. ૧૯૦૩નું ચાતુર્માસ તેઓ બંનેએ લાહોર પાસે ચંદ્રભાગા નદીના કિનારે આવેલા રામનગરમાં કર્યું. તે વખતે ગુરુ શિષ્ય વચ્ચે મુહપત્તી વિશે ઘણી વિચારણા થઈ, અને ચાતુર્માસ પછી માગસર મહિનામાં તેઓ બંનેએ રામનગરમાં મુહપત્તીનો દોરો તોડી નાખ્યો. તેઓએ મુહપત્તી હવેથી હાથમાં રાખશે એવું જાહેર કર્યું. પંજાબમાં આ ક્રાંતિકારી ઘટનાથી ઘણો ખળભળાટ મચી ગયો. હવે સ્થાનકમાર્ગી ઉપાચાર્યોમાં જવું તેમને માટે મુશ્કેલ બની ગયું, અલબત્ત આટલા સમય દરમિયાન તેમની સાથે સંમત થનાર શ્રાવકોનો સમુદાય હતો, પરંતુ પરિસ્થિતિ હવે વિકટ થવાની હતી.

આ સમય દરમિયાન દીક્ષા છોડી જનાર પ્રેમચંદજીને ગૃહસ્થ જીવનના કડવા અનુભવો થતાં અને વૈરાગ્યનો ઉદય થતાં તેઓ ફરી દીક્ષા લેવા તૈયાર થયા. પરંતુ તે વખતે બુટરાયજીને શિયાલકોટ જવાનું અનિવાર્ય હતું. એટલે તેમણે પોતાના શિષ્ય મૂળચંદજી મહારાજને પિંડદાદનખા નામના ગામે પ્રેમચંદજીને ફરી દીક્ષા આપવા મોકલ્યા. પરંતુ પ્રેમચંદજી હવે દીક્ષા માટે એટલા બધા અધીરા થઈ ગયા હતા કે વિહાર કરી મૂળચંદજી મહારાજ ત્યાં પહોંચે તે પહેલાં તો તેમણે બુટરાયજી મહારાજને પોતાના ગુરુ તરીકે ધારણ કરીને, સંઘ સમક્ષ તથા જિનપ્રતિમાની સાક્ષીએ સાધુનાં વસ્ત્ર પહેરી લીધા હતાં. ત્યારપછી તેઓ મૂળચંદજી મહારાજ સાથે વિહાર કરીને બુટરાયજી મહારાજ સાથે જોડાઈ ગયા હતા.

બુટરાયજી મહારાજે મુહપત્તીનો દોરો કાઢી નાખ્યો તે પછી પંજાબમાં વિચરવાનું આરંભમાં

એમને માટે બહુ કઠિન બની ગયું. તેમ છતાં એવા વિરોધના વંટોળ વચ્ચે પણ તેઓ સ્વસ્થતાથી અને નીડરતાથી વિચરતા રહ્યા હતા.

એક બાજુ એમની વિદ્વતા, વિનમ્રતા, સરળતા અને લોકપ્રિયતા કેવી હતી અને બીજી બાજુ તેમને માથે કેવા સંકટો આવી પડ્યા હતાં તેના કેટલાક પ્રસંગો નોંધાયા છે. શરૂઆતનો એક પ્રસંગ પતિયાલા શહેરનો છે.

પંજાબના સ્થાનકવાસી સંપ્રદાયના મુખ્ય ઋષિ અમરસિંહજી ત્યારે પતિયાલામાં બિરાજમાન હતા. અમરસિંહજીના ગુરુભાઈએ સિત્તેર જેટલા ઉપવાસની તપશ્ચર્યા કરવા ધારી હતી. સાઠ જેટલા ઉપવાસ પછી તપશ્ચર્યા દરમ્યાન જ તેઓ કાળધર્મ પામ્યા. એ પ્રસંગે પતિયાલામાં એક ગુણાનુવાદ મહોત્સવ રાખવામાં આવ્યો હતો. એ અવસરે ચારે બાજુથી હજારો શ્રાવક-શ્રાવિકાઓ તથા અનેક સંતો-મહાસતીઓ પતિયાલા પધાર્યા હતાં. તે વખતે માલેરકોટલાથી દિલ્હી તરફ વિહાર કરતા બુદેરાયજી મહારાજ પોતાના શિષ્ય મુનિ પ્રેમચંદ્રજી સાથે પતિયાલા પધાર્યા હતા. ત્યાં આવતાં જ તેમણે જોયું કે તેમણે મુહપત્તીનો જે દોરો છોડી નાખ્યો છે તેની ચર્ચા પતિયાલામાં ઠેકઠેકાણે ચાલી રહી હતી. બુદેરાયજીનો વિરોધ કરવા માટે પણ પ્રવૃત્તિઓ ચાલી રહી હતી. આટલા બધાં સાધુ સાધ્વીઓ એકત્ર થયાં છે તેનો લાભ લઈ તે બધાંની સમક્ષ બુદેરાયજી મહારાજે વિચાર્યું કે આવી પરિસ્થિતિમાં અહીં પતિયાલામાં રહેવું પોતાને માટે ઉચિત નથી. અહીં રહીને સંઘર્ષ કરવાનો કે લોકોના ઉપદ્રવનો ભોગ બનવાનો કોઈ અર્થ નથી. અહીં ટોળાની સામે શાસ્ત્રસિદ્ધાંતની વાત ચાલશે નહિ. માટે પતિયાલા છોડીને આગળ વિહાર કરવો યોગ્ય છે.

આમ વિચારીને બુદેરાયજી મહારાજે ગોચારી-પાણી કર્યા પછી તરત પતિયાલામાંથી વિહાર કર્યો. જ્યારે અમરસિંહને આ વાતની ખબર પડી ત્યારે તેઓ અને તેમના સાધુઓ વિચારમાં પડી ગયા, કારણ કે બુદેરાયજીને પાઠ ભણાવવાની તેમની યોજના નિષ્ફળ થતી હતી.

તેઓએ થોડાક યુવાનોને બોલાવીને સમજાવ્યું કે તમે બુદેરાયજી પાસે જાવ અને તેમની પ્રસંશા કરી, તથા તેમને આગ્રહ પૂર્વક વિનંતી કરી ગમે તે રીતે યુક્તિપૂર્વક સમજાવીને અહીં પાછા બોલાવી લાવો.

તેઓ બુદેરાયજી મહારાજ પાસે પહોંચી ગયા. એમની મુહપત્તીની ઘટનાની તેઓએ બહુ પ્રશંસા કરી. પછી બહુ જ આગ્રહપૂર્વક જાતજાતનાં વચનો આપીને તેઓ બુદેરાયજી મહારાજને પતિયાલા પાછા તેડી લાવ્યા. બુદેરાયજી મહારાજે પોતાના શિષ્યો સાથે પતિયાલાનગરમાં પાછો પ્રવેશ કર્યો. સ્થાનક તરફ તેઓ જ્યારે જતા હતા તે વખતે જે રીતે કેટલાક શ્રાવકો તેમના તરફ કરી નજરથી જોતા હતા અને કાનમાં વાતો કરતા હતા તે પરથી તેમને લાગ્યું કે તેમને માટે વાતાવરણ ધારવા કરતાં વધુ પ્રતિકૂળ અને તંગ બન્યું છે. પરંતુ હવે બીજી વાર પાછાં ફરવાનું તેમના જેવા સાધુ

માટે યોગ્ય ન કહેવાય. એટલે હવે તો જે થવાનું હશે તે થશે એમ સમજીને તેઓ શ્રાવકો લઈ ગયા તે સ્થાનકમાં ઊતર્યા. તેઓ ત્યાં બેઠા હતા એટલામાં પચીસેક સાધુઓ અને લગભગ ૪૦૦ સ્ત્રીપુરુષો ત્યાં આવીને તેમને ઘેરી વળ્યાં. અમરસિંહજીની યોજના એવી હતી કે બુટેરાયજી પાસે મુહપત્ની મોઢે બંધાવવી અને જે ન બાંધે તો બધાંએ ભેગા મળી તેમનો સાધુવેશ ખેંચી લેવો.

ભેગા થયેલા ટોળામાંથી ગંગારામ નામના એક સાધુ કે જે જબરા હતા અને જે પોતાને ધણા વિદ્વાન અને શાસ્ત્રના જાણકાર તરીકે ઓળખાવતા હતા તેમણે ઊભા થઈને બધાની વચ્ચે જોરથી મોટા અવાજે બધાને સંભળાય તે રીતે બુટેરાયજીને કહ્યું, 'બુટેરાયજી, જે તમે આગમ સૂત્રોને માનતા હો તો પછી આચાર્યનું કહ્યું પણ તમારે માનવું જોઈએ. પરંતુ તમે તે માનતા નથી.'

બુટેરાયજીએ કહ્યું, 'હું સૂત્ર સિદ્ધાંતમાં માનું છું, અને આચાર્યનું કહેવું પણ માનું છું.'

ગંગારામજીએ કહ્યું, 'જે તમે આચાર્યનું કહ્યું માનતા હો તો તમારા ગુરુ નાગરમલજી મુહપત્ની મોઢે બાંધતા હતા અને જિનપ્રતિમામાં માનતા નહોતા, તો તમે એમની વિરુદ્ધ કેમ વર્તો છો? તમે તમારા ગુરુની આજ્ઞાનું ઉલ્લંઘન કેમ કરો છો? તમે મૃષાવાદી છો; તમે નિહનવ છો; તમે મિથ્યાદષ્ટિ પતિત છો.'

આ સાંભળી બુટેરાયજીએ કહ્યું, 'મને મારા ગુરુ નાગરમલજીએ શિખવાડ્યું છે કે-

અરિહંતો મહ દેવો જાવજ્જજીવં સુસાહુણો ગુરુણો ।

જિણપત્રતં તત્તં, ઇહ સમ્પતં મણ ગહિયં ॥

(સુદેવ અરિહંત, સુસાધુ ગુરુ તથા જિનેશ્વર ભગવાન દ્વારા પ્રરૂપિત તત્ત્વ(ધર્મ)નું જાવ જીવ હું શરણ ગ્રહણ કરું છું.)

મારા ગુરુ નાગરમલજીએ મને જે આ શિખવાડ્યું છે તેનો હું સ્વીકાર કરું છું, એમાં સૂત્ર સિદ્ધાંત અને ગુરુની આજ્ઞા બંનેનો સ્વીકાર આવી જાય છે. મારે માટે એ પ્રમાણ છે. કુદેવ, કુગુરુ, કુધર્મ મારે માટે પ્રમાણ નથી.'

આ સાંભળી નક્કી કરેલી યોજના પ્રમાણે ગંગારામજીએ બૂમ પાડીને બધાને કહ્યું, 'ભાઈઓ ! બુટેરાયજી સાથે વધારે વાત કરવાનો કોઈ અર્થ નથી. જે તેઓ અત્યારે મુહપત્ની ન બાંધે તો તમે બધા અત્યારે જ એમનો વેશ ઉતારી લો અને એમને મારીને અહીંથી બહાર કાઢી મૂકો.'

આમ વાદવિવાદ ઉગ્ર ઝગડામાં પરિણમ્યો. એ જે વધે તો જૈન સાધુઓની શોભા નહી રહે એમ સમજીને બુટેરાયજીના એક અનુરાગી બનાતીરામ નામના એક જબરા શ્રાવકે ઊભા થઈને મોટા અવાજે સંત-મહાસતીઓને કહ્યું કે 'શું તમે બધા અહીં શાસ્ત્રની ચર્ચા કરવા આવ્યા છો? તમને જૈન સાધુ-સાધ્વીઓને આમ કરવું શોભે છે? તમે બધાં અહીંથી હઠો અને પોતપોતાના સ્થાને જાવ.

ખબરદાર, બુટેરાયજીને કોઈએ હાથ અડાડ્યો તો.’

બનાતીરામના અવાજથી બધા ડઘાઈ ગયા. એમની સાથે બીજા કેટલાક શ્રાવકો પણ જોડાઈ ગયા. ગંગારામજીને ખાતરી થઈ ગઈ કે અહીં પોતાનું કશું ચાલશે નહિ. તેઓ ત્યાંથી આઘા ખસી ગયા. ત્યાર પછી તેમણે પોતાના કેટલાક સંત-સતીઓને એક બાજુએ લઈ જઈ ને ધીમા અવાજે ખાનગીમાં કહ્યું, બુટેરાયજી અહીં પતિયાલામાં વારંવાર આવે છે. અહીં ઘણી તપશ્ચર્યા કરી છે. એટલે એમના અનુરાગી શ્રાવકો અહીં ઘણાં છે. એટલે તેઓ બુટેરાયજીનો વેશ ઉતારવા દેશે નહિ. પરંતુ હવે બુટેરાયજી અહીંથી અંબાલા તરફ વિહાર કરવાના છે. જો કે અંબાલામાં પણ તેમના અનુરાગી શ્રાવકો ઘણાં છે, તો પણ આપણા શ્રાવકો પણ ઓછા નથી. એમના દ્વારા ત્યાં આપણે એમનો વેશ ઉતારાવી લઈશું. છતાં જો અંબાલાના શ્રાવકો તેમ નહિ કરે તો મારા ઘણાં વૈષ્ણવ ભક્તો છે. તેમની પાસે આપણે એ કામ કરાવી લઈશું. માટે આપણે બધાં અહીંથી જલદી વિહાર કરીને અંબાલા પહોંચી જઈએ અને બુટેરાયજી ત્યાં આવે તે પહેલાં લોકોને તૈયાર કરી દઈએ.

ગંગારામજી તરત વિહાર કરીને પોતાના સાધુઓ સાથે અંબાલા પહોંચી ગયા. બુટેરાયજીએ પાંચેક દિવસ પતિયાલામાં સ્થિરતા કરીને અંબાલા તરફ વિહાર કર્યો.

અંબાલાના કાવતરાની તેમને ખબર ન હતી. વિહાર કરતાં કરતાં જ્યારે તેઓ અંબાલા શહેર તરફ જતા હતા ત્યારે રસ્તામાં કેટલાક અનુરાગી શ્રાવકોએ બુટેરાયજીને ચેતવ્યા કે ‘ગુરુદેવ, અંબાલા શહેરમાં વાતાવરણ બહુ તંગ થઈ ગયું છે. વખતે આપના ઉપર સંકટ આવી પડે. માટે અંબાલા પ્રવેશ કરવો તે આપને માટે હિતાવહ નથી. આપ આગળ ચાલ્યા જવ.’

બુટેરાયજીને એમના શિષ્ય મુનિ પ્રેમચંદ્રજીએ પણ વિનંતી કરી કે ગુરુ મહારાજ, અંબાલા શહેરમાં આપના માથે ભય છે. માટે આપણે અંબાલા શહેરમાં ન જતાં અંબાલા કેન્ટોનમેન્ટ-છાવાણી તરફ વિહાર કરીએ.

બુટેરાયજીએ કહ્યું, ‘ભાઈ પ્રેમચંદ્ર ! એમ ઉપસર્ગોથી ડરી જઈએ તે કેમ ચાલે? ભગવાન મહાવીરને પણ ઉપસર્ગો અને પરીવહો થયા હતા. એટલે આપણે ડરવું ના જોઈએ. પરંતુ જો તને ડર લાગતો હોય તો તું સીધો અંબાલા છાવાણી પહોંચી જ. હું અંબાલા શહેરમાં બે ત્રણ દિવસ રોકાઈને પછી ત્યાં આવીશ.’

મુનિ પ્રેમચંદ્રજી સાથે જ ડરી ગયા હતા. તેઓ અંબાલા શહેરમાં ન જતાં સીધા છાવાણીમાં પહોંચી ગયા. બુટેરાયજી એકલા વિહાર કરતાં અંબાલા શહેરમાં પધાર્યા. પોતે સ્થાનકમાં ઊતર્યા અને ગોચરી લાવીને આહાર પાણી કર્યા.

અંબાલા શહેરમાં ઋષિ અમરસિંહ, ગંગારામજી વગેરે અગાઉ આવી ગયા હતા. અંબાલામાં મોહોરસિંહ નામના એક જૈન શ્રાવક હતા તેઓ સૂત્ર-સિદ્ધાંતના અભ્યાસી હતા અને બુટેરાયજીના

પણ અનુરાગી હતા. ગંગારામજીએ બુટેરાયજીને સમજાવવા માટે મોહોરસિંહને મોકલ્યા. મોહોરસિંહ બુટેરાયજી પાસે આવ્યા અને મુહપત્તીની ચર્ચા કરી. બુટેરાયજીએ કહ્યું, 'ભાઈ મોહોરસિંહ તમે સૂત્રસિદ્ધાંતના અભ્યાસી છો. તમે એમાંથી મુહપત્તી મોઢે બાંધવાનો પાઠ બતાવો તો હું મુહપત્તી મોઢે બાંધી લઈશ.'

તેઓ બંને વચ્ચે મુહપત્તી વિશે શાસ્ત્રનાં વચનોની ચર્ચાવિચારણા થઈ. એથી મોહોરસિંહને ખાત્રી થઈ કે મુહપત્તીની મોઢે બાંધવાની વાત જિનાગમમાં કયાંય આવતી નથી. એટલે એમણે કહ્યું 'ગુરુદેવ, આપની વાત સત્ય છે. હું સ્વીકારું છું. પરંતુ અહીંનું વાતાવરણ પ્રતિકૂળ છે. અહીં આપનું અપમાન થવાના સંજોગો છે. જો અમે આપના પક્ષે રહીએ તો અમારે પણ તકલીફ ભોગવવાની આવે, માટે આપ મુહપત્તી મોઢે બાંધી લો તે સારી વાત છે.' પરંતુ બુટેરાયજીએ તેમ કરવાનો સ્પષ્ટ ઈન્કાર કરી દીધો.

મોહોરસિંહે આવીને ગંગારામજીને કહ્યું કે બુટેરાયજી મુહપત્તી મોઢે બાંધવાની સ્પષ્ટ ના કહે છે. તેઓ પોતાની શ્રદ્ધામાં અને પોતાના નિશ્ચયમાં બિલકુલ અડગ છે.

બીજે દિવસે અંબાલા શહેરમાં એક સ્થાનકમાં બધાં સાધુ-સાધ્વી એકત્ર થયાં અને તેઓએ શ્રાવકોની સભા ભરીને કહ્યું, બુટેરાયજી જે આવતી કાલે સવારે પ્રતિક્રમણ કરતી વખતે મોઢે મુહપત્તી ન બાંધી લે તો તે જ વખતે એમનો વેશ છીનવી લઈને, એમને નજ્ર કરીને અને મારીને સ્થાનક બહાર કાઢી મૂકીશું.

સભાનો આવો નિર્ણય જાણીને બુટેરાયજીના અનુરાગી શ્રાવકો મોહોરસિંહ, સરસ્વતીદાસ વગેરેને લાગ્યું કે આ બરાબર નહિ થાય. એમાં શાસનની અવહેલના થશે. જૈન સાધુ-સમાજની કોઈ શોભા નહિ રહે. માટે તેઓ રાતને વખતે બુટેરાયજી પાસે પહોંચ્યા, તેઓએ કહ્યું, 'ગુરુદેવ, આપને માથે ભયંકર સંકટ છે. માટે આપ સૂર્યોદય પહેલાં શહેરમાંથી વિહાર કરી જજો અને પ્રતિક્રમણ વગેરે આવશ્યક ક્રિયાઓ પછી ત્યાં કરજો.'

બુટેરાયજીએ તેમને કહ્યું, 'ભાઈઓ, આવી રીતે ગભરાઈને હું કેટલા દિવસ રહી શકું? મને કોઈનો ડર નથી. માટે સવારે જ્યારે બધા લોકો મારો વેશ ઉતારવા આવે ત્યારે તમે મને બચાવવા આવશો નહિ. હું મારું સંભાળી લઈશ. હું જાટનો દીકરો છું. મને કોઈ હાથ અડાડશે તો હું જોઈ લઈશ. હું તો એકલો છું. મારી પાછળ કોઈ રોવાવાળું નથી. જે શ્રાવકો મારો વેશ ઉતારવા આવે તેઓને કહેજો કે પોતાની બેરીનાં બલોયાં ફોડીને મારી પાસે આવે. અહીં રાજ અંગ્રેજનું છે. મારો વેશ કોઈ ઉતારશે તો તેને પૂછનાર પણ કોઈ સત્તાવાળા હશે ને? મારે કાંઈ ડરી જવાનું કારણ નથી. હું મારા નિર્ણયમાં અડગ છું. જેઓ વેશ છીનવી લેવા આવે તેઓને કહેજો કે તેઓ પોતાનું ઘર સંભાળીને આવે. વગર લેવેદેવે સરકાર તરફથી તેમને કંઈ તકલીફ ન થાય.'

બુટેરાયજીની નીડરતા અને આત્મવિશ્વાસ જોઈને તથા વેશ ખેંચવા જતાં મારામારી થાય તો પોલીસનું લફરું થાય એ બીકે કોઈ આવ્યું નહીં. બુટેરાયજીએ ત્યાંજ સવારનું પ્રતિક્રમણ કર્યું અને ત્યાં જ ત્રણેક દિવસ રોકાયા. શ્રાવકોમાં પાણ બે ભાગલા પડી ગયા. એટલે પાણ આ વિવાદ થાળે પડવા લાગ્યો. બુટેરાયજી તપશ્ર્ચર્યા, શાસ્ત્રાભ્યાસ અને ચારિત્રપાલનમાં ઉચ્ચ કોટિના હતા, જે દિવસે દિવસે વધતો જતો હતો. અમરસિંહજી અને એમના શિષ્યો તરફથી શ્રાવકોને ચઢાવવામાં આવતા કે જેથી બુટેરાયજીને સ્થાનકમાં ઊતરવાની સગવડ કે ગોચરી-પાણી મળે નહિ, પરંતુ તેઓ બહુ ફાવતા નહિ.

અંબાલાના આ પ્રસંગ પછી બુટેરાયજી મહારાજ અંબાલા છાવાણી ગયા. ત્યાંથી મુનિ પ્રેમચંદ્રજીને સાથે લીધા. ત્યાંથી વિહાર કરીને મેરઠ થઈ દિલ્હી પધાર્યા. એક મહિનો ત્યાં રહી ફરી પંજાબ તરફ પધાર્યા. અંબાલા, માલેરકોટલા, પતિયાલા, લુધિયાના, હોશિયારપુર, જલંધર, જંડિયાલા ગુરુ. અમૃતસર વગેરે સ્થળે વિચરી તેઓ ગુજરાતવાલા પધાર્યા. પોતાના શિષ્ય મુનિ મૂળચંદ્રજી અહીં કર્મચંદ્રજી શાસ્ત્રી પાસે અભ્યાસ કરવા રોકાયા હતા તેમને લઈ વિહાર કરતાં તેઓ દિલ્હી પધાર્યા. દિલ્હીમાં સં. ૧૯૦૮માં તેમણે બે યુવાનનોને બહુ ધામધૂમ પૂર્વક દીક્ષા આપીને એકનું નામ રાખ્યું વૃદ્ધિચંદ્રજી અને બીજાનું નામ રાખ્યું મુનિ આનંદચંદ્રજી.

બુટેરાયજી મહારાજની ભાવના હતી સિદ્ધાયલજીની યાત્રા કરવાની અને ગુજરાતના સાધુઓનો સમાગમ કરી પોતાની શંકાઓનું સમાધાન કરવાની. એટલા માટે દિલ્હીથી એમણે પોતાના ચારે શિષ્યો મુનિ મૂળચંદ્રજી, મુનિ પ્રેમચંદ્રજી, મુનિ વૃદ્ધિચંદ્રજી અને મુનિ આનંદચંદ્રજીની સાથે ગુજરાત તરફ પહોંચવાની ભાવના સાથે વિહાર કર્યો. એક પછી એક ગામે વિહાર કરતા તેઓ પાંચેય જયપુર મુકામે પધાર્યા. ચાતુર્માસ પછી તેઓ બધા વિહાર કરી કિસનગઢ થઈ ને અજમેર પહોંચ્યા. નાગોરમાં મુનિ વૃદ્ધિચંદ્રજીના પગમાં સંધિવાના કારણે અસહ્ય પીડા થવા લાગી. એટલે તેઓને નાગોરમાં રોકાઈ જવું પડ્યું. દરમિયાન મૂલચંદ્રજી મહારાજને ગુજરાત બાજુ વિહાર કર્યો. આનંદચંદ્રજી મહારાજનું ચિત્ત સંયમપાલનમાં ડગુમગુ રહેવા લાગ્યું. થોડા વખતમાં તેઓ સાધુનો વેશ છોડીને યતિ બની ગયા અને જ્યોતિષનો વ્યવસાય કરવા લાગ્યા.

થોડા વખત પછી બિકાનેરથી સંઘના આગેવાનો નાગોર આવ્યા અને બુટેરાયજી મહારાજને બિકાનેર ચાતુર્માસ માટે પધારવા વિનંતી કરી. એ વિનંતીનો સ્વીકાર કરી બુટેરાયજી મહારાજે બિકાનેર તરફ વિહાર કર્યો. દરમિયાન વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજને પગની પીડા ઓછી થઈ ગઈ, એટલે તેઓ પાણ ગુરુ મહારાજની સાથે બિકાનેર પધાર્યા. પ્રેમચંદ્રજી મહારાજ ચાતુર્માસ માટે નાગોરમાં જ રોકાયા. મૂલચંદ્રજી મહારાજ વિહાર કરતા કરતા પાલિતાણા પહોંચી ગયા અને એમણે ચાતુર્માસ પાલિતાણામાં કર્યું.

વિ.સ. ૧૯૧૦નું ચાતુર્માસ આ રીતે બુટેરાયજી મહારાજે પોતાના શિષ્ય વૃદ્ધિચંદ્રજીની સાથે

બિકાનેરમાં કર્યું. ત્યાં ઓસવાલ જૈનોનાં ૨૭૦૦ જેટલાં ઘર હતાં. બુદેરાયજી મહારાજની વાણીથી તેઓમાં સારી ધર્મજાગૃતિ આવી ગઈ. બિકાનેરના ખરતરગચ્છના યતિઓને પણ બુદેરાયજી પ્રત્યે આદરભાવ થયો. તેઓએ પણ પોતાની પૌપથશાળામાં સ્થિરતા કરવા માટે એમને વિનંતી કરી.

બિકાનેરથી બુદેરાયજી મહારાજની ભાવના શરૂઆતની યાત્રા કરવાની હતી. પરંતુ અજમેરના સંઘનો પત્ર આવ્યો કે કુંડિયાના પૂજ્ય રતનચંદ્રજી રીખ આપની સાથે મૂર્તિપૂજા વિશે શાસ્ત્રાર્થ કરવા ઈચ્છે છે. આ પત્ર મળતાં બુદેરાયજી મહારાજે ગુજરાત તરફ વિહાર ન કરતાં અજમેર તરફ પોતાના શિષ્ય વૃદ્ધિચંદ્રજી સાથે વિહાર કર્યો. શાસ્ત્રાર્થ કરવા માટે તેઓ ઈચ્છતા હતા. કારણ કે એ વિષયમાં એમનો અભ્યાસ ઘણો ઉડો થયો હતો. તેઓ અજમેર તરફ જઈ રહ્યા હતા ત્યારે માર્ગમાં જાણવા મળ્યું કે મુનિ રતનચંદ્રજીએ તેરાપંથીના મતનું ખંડન કરતી એક પ્રત લખી છે. એની તપાસ કરાવીને બુદેરાયજી મહારાજે એ પ્રત મેળવી લીધી. એ વાંચતાં જ એમને લાગ્યું કે મુનિ રતનચંદ્રજીનાં પોતાનાં જ વાક્યો વડે મૂર્તિપૂજા સાબિત થઈ શકે એમ છે.

વિહાર કરતાં કરતાં તેઓ પોતાના શિષ્ય સાથે અજમેર પહોંચ્યા. પરંતુ ત્યારે આશ્ચર્ય સાથે જાણ્યું કે મુનિ રતનચંદ્રજી અજમેરથી ચૂપચાપ વિહાર કરીને બીજે ચાલ્યા ગયા છે. બુદેરાયજી સાથે મૂર્તિપૂજા વિશે પોતે શાસ્ત્રાર્થ નહિ કરી શકે અને કરશે તો પરાજિત થશે એવો ડર એમને લાગ્યો હતો.

બુદેરાયજી મહારાજ જે હેતુથી અજમેર પધાર્યા તે હેતુ હવે રહ્યો નહિ. પરંતુ અજમેર પધારવાના કારણે એક વિશેષ લાભ થયો. અજમેરથી એ વખતે એક સંઘ કેસરિયાજીની યાત્રા કરવા માટે જઈ રહ્યો હતો. જૈનોના ઘરબાર વગરના પ્રદેશમાં એકલા વિહાર કરવા કરતાં સંઘ સાથે વિહાર કરવામાં મુનિમહારાજને સૂઝતા આહાર વગેરેની અનુકૂળતા રહે છે. બુદેરાયજી મહારાજ એ રીતે સંઘ સાથે કેસરિયાજી પધાર્યા. તીર્થયાત્રાનો આ એમનો પ્રથમ અનુભવ હતો. કેસરિયાજીના આદિનાથ ભગવાનની ચમત્કારિક પ્રતિમાના હર્ષોહ્વાસપૂર્વક દર્શન કરીને તેઓએ અત્યંત ધન્યતા અનુભવી.

કેસરિયાજીના મુકામ દરમ્યાન વળી બીજે એક અનુકૂળ યોગ સાંપડ્યો. ગુજરાતમાંથી તે વખતે કેસરિયાજીની યાત્રા કરવા માટે એક સંઘ આવ્યો હતો. સંઘપતિ પ્રાંતિજ પાસે આવેલા કલોલ નગરના શેઠ બેચરદાસ માનચંદ હતા. તેઓ બીજા આગેવાનો સાથે બુદેરાયજી મહારાજને મળવા આવ્યા. તેમણે કહ્યું, ‘મહારાજશ્રી ! અમને થોડીક જિજ્ઞાસા થઈ છે. આપને દેરાસરમાં દર્શન કરતા જોયા હતા. આપના વેશ પરથી આપ સ્થાનકમાર્ગી સાધુ લાગો છો. પરંતુ સ્થાનકવાસી સાધુ મુહપત્તી મોઢે બાંધે, જ્યારે આપ મુહપત્તી હાથમાં રાખો છો. તેથી અમને પ્રશ્ન થાય છે. અમને જણાવશો કે આપ કોણ છો તો આનંદ થશે.’

બુદેરાયજી મહારાજે કહ્યું, ‘ભાઈ હું જન્મથી અજૈન છું. અમારો પરિવાર શીખધર્મને પાળે છે. મેં યુવાનવયે સ્થાનકમાર્ગી બાવીસ ટોળામાં દીક્ષા લીધી હતી. પરંતુ શાસ્ત્રોનું ઊંડું અધ્યયન કર્યા પછી

મને ખાત્રી થઈ ગઈ કે જિન પ્રતિમાનો સિદ્ધાંત સાચો છે. વળી મોઢે મુહપત્તી બાંધવાનું આગમસૂત્રમાં ક્યાંય ફરમાન નથી. એટલે મુહપત્તી હાથમાં રાખું છું. અમારી ભાવના ગુજરાત તરફ વિહાર કરી થતુંજયતીર્થની યાત્રા કરવાની છે.’

સંઘવીએ કહ્યું, તો પછી ગુરુ મહારાજ ! આપ બંને અમારા સંઘ સાથે જોડાઈને અમને લાભ આપો. વળી અમને પણ અનુકૂળતા રહેશે, કારણ કે રસ્તામાં ઘણે ઠેકાણે જૈનોના ઘર આવતાં નથી.

બુટેરાયજી મહારાજ અને વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજે સંઘપતિની વિનંતીનો સ્વીકાર કર્યો અને તેઓ સંઘ સાથે જોડાઈ ગયા. પ્રાંતિજ સુધી સંઘ સાથે તેઓ વિહાર કરી અમદાવાદ પહોંચ્યા. નગર બહાર શેઠ હઠીસિંહની વાડીએ ઊતર્યા.

એમના આગમનના સમાચાર અમદાવાદના સંઘમાં પહોંચી ગયા. સૌભાગ્યવિજયજી મહારાજે માણસ મોકલી એમને ઉપાશ્રયે તેડાવ્યા. દાદા મણિવિજયજી, સૌભાગ્યવિજયજી વગેરે સંવેગી સાધુઓનાં દર્શન કરી તેઓએ ધન્યતા અનુભવી. થોડા દિવસ રોકાઈને’ થતુંજયની તીર્થયાત્રા પહેલી વાર કરીને તેઓએ અનન્ય ધન્યતા અને પ્રસન્નતા અનુભવી. થોડા દિવસ તેઓ ત્યાં રોકાયા. ત્યાં યતિઓનું જોર ઘણું હતું. એટલે ચાતુર્માસ આસપાસ કરવાનો એમણે વિચાર કર્યો. નજીકમાં વિહાર કરીને વૃદ્ધિચંદ્રજી અને પ્રેમચંદજી મહારાજે ભાવનગરના સ્થળની અનુકૂળતા જોઈ આવ્યા. ભાવનગરના સંઘે પાલિતાણા આવીને તેમને વિનંતી કરતાં બુટેરાયજી મહારાજે ગુજરાતમાં પ્રથમ ચાતુર્માસ ભાવનગરમાં કર્યું.

ભાવનગરના ચાતુર્માસ પછી ફરી તેઓ ભાવનગરના સંઘ સાથે સિદ્ધાયલજીની યાત્રાએ ગયા. પાલિતાણામાં થોડો સમય રોકાઈ તેમણે અમદાવાદ તરફ વિહાર કર્યો. વૃદ્ધિચંદ્રજી અને પ્રેમચંદજી મહારાજે ગિરનારની યાત્રા માટે જૂનાગઢ તરફ વિહાર કર્યો. શામાનુશામ વિહાર કરતા બુટેરાયજી મહારાજ અને મૂળચંદજી મહારાજ લીંબડી પધાર્યા. ત્યાં થોડા દિવસ રોકાયા તે દરમિયાન મૂળચંદજી મહારાજને તાવ આવ્યો અને તે ઊતરતો નહોતો. એ સમયે ગુરુ મહારાજ બુટેરાયજીએ પોતાના શિષ્ય મૂળચંદજી મહારાજની ઘણી સેવાચાકરી કરી હતી. એવામાં વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ ગિરનારની જાત્રા કરી ત્યાં આવી પહોંચ્યાં હતા. મુનિ પ્રેમચંદજી છૂટા પડી એકલવિહારી થઈ ગયા હતા.

મૂળચંદજી મહારાજને તદ્દન સાદું થઈ ગયું ત્યાર પછી વિહાર કરીને તેઓ ત્રણે અમદાવાદ આવી પહોંચ્યા અને ઉજ્જમફોઈની ધર્મશાળામાં ઊતર્યા. ત્યાં પંચાસ દાદા મણિવિજયજી તથા ગણિ સૌભાગ્યવિજયજીના ગાઠ સમાગમમાં તેઓ આવ્યા. અને તેઓ ત્રણેએ મણિવિજયજી દાદા પાસે મૂર્તિપૂજક સમુદાયમાં સંવેગી દીક્ષા લેવાનો નિર્ણય કર્યો. એ માટે સૌભાગ્યવિજયજી મહારાજ પાસે યોગવહન પણ કર્યા. ત્યાર પછી સં. ૧૯૧૨માં ચતુર્વિધ સંઘ સમક્ષ મણિવિજય દાદાએ ત્રણેને સંવેગી દીક્ષા આપી. મુનિ બુટેરાયજીનું નામ બુદ્ધિવિજયજી, મુનિ મૂલચંદજીનું નામ મુનિ

મુકિતવિજયજી અને મુનિ વૃદ્ધિચંદ્રજીનું નામ મુનિ વૃદ્ધિવિજયજી રાખવામાં આવ્યું. સંવેગી દીક્ષા ધારણ કરીને તેઓ ત્રણેએ હર્ષોદ્ઘાસ સાથે કૃતાર્થતા અને ધન્યતા અનુભવી. જૈન શાસનના ઇતિહાસમાં આ એક જબરજસ્ત ક્રાંતિકારી ઘટના બની. એથી પંજબથી આત્મારામજી મહારાજને પણ બીજા સત્તર સાધુઓ સાથે ગુજરાતમાં આવી સ્થાનકમાર્ગી દીક્ષા છોડી સંવેગી દીક્ષા ધારણ કરવાની પ્રેરણા મળી. આમ ગુજરાત ઉપર પંજબી સાધુઓના આગમનનો ઘણો પ્રભાવ પડ્યો.

બુટેરાયજી મહારાજ ખરેખર એક ઊંચી કોટિના સાધુ હતા. તેઓ બ્રહ્મચર્યના પાલનમાં તથા સ્વાદેન્દ્રિય ઉપર વિજય મેળવવામાં ઘણા મક્કમ હતા. તપશ્ચર્યા, વિહાર વગેરે કરવા માટે તેમની પાસે સારું શરીરબળ અને મનોબળ હતું. ભાવનગરમાં ચાતુર્માસ કર્યા પછી બુટેરાયજી મહારાજ પોતાના શિષ્યો સાથે પાલિતાણા પધાર્યા હતા. તે સમયના બે એક પ્રસંગો નોંધાયેલા છે. પાલિતાણામાં મૂળચંદ્રજી મહારાજ ગોચરી વહોરવા જતા. તેઓ પણ પોતાના ગુરુ મહારાજની જેમ એક જ પાત્રમાં બધી ગોચરી વહોરી લાવતા. એવી રીતે મિશ્ર થઈ ગયેલી ગોચારી તેઓ વાપરતા જેથી સ્વાદ ઉપર વિજય મેળવાય.

પંજબના લોકો દાળશાકમાં ગોળ ન નાખે. એક દિવસ મૂળચંદ્રજી મહારાજ ગોચરી વહોરી લાવ્યા હતા. ગોચરી વાપરતાં બુટેરાયજી મહારાજે મૂળચંદ્રજીને કહ્યું, 'મૂલા, આ કઢી બહુ ગળી લાગે છે.' તે વખતે મૂળચંદ્રજી મહારાજે કહ્યું, 'ગુરુદેવ, એ કઢી નથી પણ કેસરિયા દૂધ છે. એ તો ગળ્યું જ હોય.'

આમ બુટેરાયજી મહારાજે ખાવાની વાનગીઓમાં રસ લીધો નહોતો. પાત્રમાં જે આવે તે તેઓ વાપરી લેતા. શિખંડ, દૂધપાક કે કઢી વચ્ચે એમને બહુ ફેર જણાતો નહિ.

પાલિતાણામાં એક દિવસ મૂળચંદ્રજી મહારાજ એક શ્રાવકના ઘરે ગોચરી વહોરવા ગયા ત્યારે તે શ્રાવક પાસે જાણવા મળ્યું કે પાલિતાણામાં ઘણા શ્રાવકો રીંગણાનું શાક ખાય છે અને સ્થાનકવાસી સાધુઓ રીંગણાનું શાક વહોરે પણ છે. બહુબીજના પ્રકારનું આ શાક અભક્ષ્ય ગણાય છે. જૈનોથી તે ખવાય નહિ. મૂળચંદ્રજી મહારાજ જ્યારે એ શ્રાવકને ઘરે ગોચરી વહોરવા ગયા ત્યારે તે શ્રાવકે અચાનક ઉત્સાહપૂર્વક રીંગણાનું શાક પાત્રમાં ઠલવી દીધું. મૂળચંદ્રજી મહારાજે ઉપાત્રપમાં આવીને ગુરુ મહારાજ બુટેરાયજીને આ વાત કહી. એ ગોચરી તો તેઓને કલ્પે નહિ, એટલે ન વાપરતાં પરકઠવી દીધી. પરંતુ બુટેરાયજી મહારાજે એ પ્રસંગે મૂળચંદ્રજી મહારાજને કહ્યું કે 'મૂલા ! આમાં શ્રાવકોનો કંઈ દોષ નથી. વસ્તુતઃ શુદ્ધ આહાર માટે ધર્મપ્રચારની જરૂર છે. ધર્મપ્રચાર સાધુઓ વગર સરખતાથી થઈ શકે નહિ. આપણા શ્વેતામ્બર સંવેગી સાધુઓ ઘણી અલ્પ સંખ્યામાં છે. જે આપણે ગુજરાત, રાજસ્થાન, પંજબ વગેરે પ્રદેશમાં સારી રીતે ધર્મપ્રચાર કરવો હશે તો ઘણા સાધુઓની જરૂર પડશે. એટલે મારી તને ભલામણ છે કે જનો ઉપદેશક બળવાન તેનો ધર્મ બળવાન એ ન્યાયે સારા ચારિત્રશીલ

સાધુઓને તૈયાર કરવા જોઈએ. એ જો થાય તો આપોઆપ આવકોનો આચાર સુધરી જશે. અત્યારે ચારે બાજુ અંધારું છે. માટે યોગ્ય પાત્ર જોઈને એમને સંયમના માર્ગે વાળવા જોઈએ. એ કામ તું બહું સારી રીતે કરી શકે એમ છે, કારણ કે તારી પાસે ધર્માનુરાગી ભક્તો ઘણા આવે છે.’

બુટેરાયજી મહારાજની આ વાત મૂળચંદ્રજી મહારાજના મનમાં વસી ગઈ. એમણે નિશ્ચય કર્યો કે યોગ્ય પાત્રોને શોધીને દીક્ષા આપીને સંવેગી સાધુઓની સંખ્યા વધારવી જોઈશે. એ કામ એમણે હોંશભેર ઉપાડી લીધું.

બુટેરાયજી મહારાજે સંવેગી દીક્ષા લીધા પછી ગુજરાતમાં અમદાવાદ, ભાવનગર વગેરે સ્થળે છ ચાતુર્માસ કર્યા. તે સમય દરમિયાન તેમણે શાસ્ત્રીય અધ્યયન સારી રીતે કર્યું. ભાવનગરમાં હતા ત્યારે જપ આગમોનો પંચાંગી સહિત અભ્યાસ કરી લીધો હતો. અમદાવાદના અને ભાવનગરના સંઘોએ એમને માટે પંડિતોની વ્યવસ્થા કરી આપી હતી. તે વખતના જાણીતા પંડિત હરિનારાયણ પાસે એમણે હરિભદ્રસૂરિ, હેમચંદ્રાચાર્ય, લક્ષ્મીસૂરિ, વિનયવિજયજી ઉપરાંત ઉપાધ્યાય યશોવિજયજીના સંસ્કૃત, પ્રાકૃત અને ગુજરાતીમાં લખાયેલા ગ્રંથોનો ઊંડાણથી અભ્યાસ કર્યો. એમાં યશોવિજયજી ઉપાધ્યાયના ગ્રંથોએ એમને બહુ પ્રભાવિત કર્યા. એમાં તર્ક અને ન્યાયયુક્ત એ ગ્રંથોના અભ્યાસથી એમની દષ્ટિ ખૂલી ગઈ. એમની શ્રદ્ધા અડગ થઈ ગઈ. એમણે પોતે જ પોતાના આત્મકથનમાં લખ્યું છે :

“ઉપાધ્યાયજીકે ગ્રંથોંકી રચના દેખકે મેરેકો પરમ ઉપકારી ઉત્તમ પુરુષ દીસે હૈ, તત્ત્વ તો કેવલજ્ઞાની જાણે ! મેરેકો મહારાજજી ઇસ ભવમેં મિલે નથી। પરભવકા સંબન્ધ તો જ્ઞાની મિલસે તબ પુછસું ।.....પિણ મેરી સરથા તો શ્રી જશોવિજયજીકે સાથ ઘણી મિલે હૈ ।

પંજાબથી નીકળ્યાને મહારાજશ્રીને ઘણાં વર્ષ થઈ ગયાં હતા. રેલવે કે તારટપાલ વગરના એ દિવસોમાં પંજાબના રામનગર, જમ્મુ, ગુજરાનવાલા વગેરે શહેરોમાંથી એમના ભક્તો પંજાબ પધારવા માટે જતા-આવતા મુસાફરો સાથે વિનંતીપત્ર મોકલતા. આથી સં. ૧૯૧૮માં અમદાવાદમાં ચાતુર્માસ કરી બુટેરાયજી મહારાજે પંજાબ તરફ વિહાર કર્યો. પાલી અને દિલ્હી ચાતુર્માસ કરી તેઓ પંજાબમાં પતિયાલા, અમૃતસર વગેરે સ્થળે વિચર્યા અને લોકોને બોધ આપ્યો. હવે મુહપત્તી અને પ્રતિમાપૂજનની ચર્ચા કરવાની એમની ભાવના ન હતી. પરંતુ અમરસિંહના આવકોએ ૧૯૨૩માં ફરી ચર્ચા ઉપાડી. શાસ્ત્રાર્થ કરવા માટે બુટેરાયજીને પડકાર કર્યો. એમણે એ પડકાર ઝીલી લીધો. એમના દેવીસહાય નામના શ્રાવકભક્તે સામેવાળા સાથે શરત કરી કે શાસ્ત્રાર્થ કરવામાં સાક્ષી તરીકે તટસ્થ પંડિતો પાણ રાખવા પડશે, અને તોફાન ન થાય એટલા માટે બેચાર સિપાઈઓ પાણ રાખવા પડશે. પરંતુ અમરસિંહે એક અથવા બીજું બહાનું કાઢી શાસ્ત્રાર્થ કરવાનું ટાળ્યું. અમરસિંહના શ્રાવક ભક્તોએ પાણ એમને ચર્ચા ટાળવાનું અને ખમતખામાણાં કરી લેવાનું સમજવ્યું. એ જાણી બુટેરાયજી અમરસિંહજી પાસે

ગયા અને ખમતખામણા કરી આવ્યા. પરંતુ એથી અમરસિંહજીના શ્રાવકોએ એવી વાત ઉડાડી કે બુદેરાયજી ખમતખામણા કરવા આવ્યા હતા પણ અમરસિંહજીએ તો એમની સાથે કંઈ ચર્ચા કરવાની ના પાડી દીધી.

બીજે દિવસે અમરસિંહજીના કેટલાક ભક્તો અમરસિંહજી પાસે ગયા અને કહ્યું કે જેમ બુદેરાયજી મહારાજે તમારી પાસે ખમતખામણા કર્યા છે તેમ તમારે પણ એમની પાસે જઈને ખમતખામણા કરવા જોઈએ. પરંતુ એટલી વાત થતાંમાં તો અમરસિંહજીના શ્રાવકોએ બુદેરાયજીના શ્રાવકોને ધક્કા મારી બહાર કાઢ્યા, અને અમરસિંહજીનો બીજા દિવસનો વિહાર પણ જાહેર કરી દીધો.

પરંતુ બીજે દિવસે સવારે બુદેરાયજી જંગલમાં કહે ગયા ત્યારે અમરસિંહજી ત્યાં રસ્તામાં મળ્યાં. એમણે બુદેરાયજીને કહ્યું, 'બુદેરાયજી ! હું તમને ખમતખામણા કરવા આવતો હતો, પરંતુ શ્રાવકોએ મને અટકાવ્યો. લોકો બહુ વિચિત્ર છે. હું તમને વારંવાર ખમાવું છું.' આમ બુદેરાયજી મહારાજ સાથે શાસ્ત્રચર્ચા નિવારી અમરસિંહજીએ ક્ષમાપના કરી લીધી. એથી વિવાદનો વંટોળ શમી ગયો અને જેમાં શ્રદ્ધા હોય તે પ્રમાણે આચરણ કરવા લાગ્યા. અલભત્ત બુદેરાયજી મહારાજ ના આગમનના કારણે પંજબમાં આત્મારામજી મહારાજ વગેરે બીજા ઘણાં સાધુ-મહાત્માઓએ પણ પોતાના સંપ્રદાયમાંથી નીકળી ગુજરાતમાં જઈ સંવેગી દીક્ષા લેવા માટે હિલચાલ ચાલુ કરી દીધી હતી.

પંજબનાં પોતાનાં ક્ષેત્રો સંભાળી, ઠેર ઠેર જિનમંદિરના નિર્માણની યોજના કરી ગુજરાત તરફ આવવા માટે બુદેરાયજી મહારાજે પંજબથી નીકળી સં. ૧૯૨૭નું ચાતુર્માસ બિકાનેરમાં કર્યું. તેઓ ગુજરાત તરફ આવી રહ્યા છે એ સમાચાર મળતાં એમના શિષ્યો મૂળચંદ્રજી મહારાજ અને વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ તેમને લેવા માટે ગુજરાતથી વિહાર કરી આબુથી આગળ પાલી સુધી પહોંચ્યા હતા.

અમદાવાદમાં આવીને બુદેરાયજી મહારાજે પોતાના શિષ્યો સાથે જૈન શાસનની ઉત્તતિ માટે વિવિધ યોજનાઓ વિચારી. તેમણે અમદાવાદ, ભાવનગર, પાલિતાણા વગેરે સ્થળે ચાતુર્માસ કર્યાં. અમદાવાદમાં તેઓ હતા ત્યારે યતિમાંથી સાધુ થયેલા રતનવિજયજી નામના એક શિથિલાચારી સાધુએ પંજબી સાધુઓને ઉતારી પાડવા પ્રયત્નો કરેલા, પરંતુ અમદાવાદના સંઘના શ્રેષ્ઠીઓએ એમને ફાવવા દીધા નહોતા.

વિ. સં. ૧૯૩૨માં બુદેરાયજી મહારાજ ભાવનગરથી અમદાવાદ પધાર્યાં. તેમની ઉંમર હવે ૬૫ વર્ષ વટાવી ગઈ હતી. તેમની તબિયત હવે જોઈએ તેવી સારી રહેતી નહોતી. એ વર્ષે પંજબના તેજસ્વી મહાત્મા આત્મારામજી મહારાજ અમદાવાદ આવી પહોંચ્યા. બુદેરાયજી મહારાજે એમને તથા એમની સાથે આવેલા બીજા ૧૭ સ્થાનકમાર્ગી સાધુઓને સંવેગી દીક્ષા આપી. આમ સંવેગી સાધુઓની સંખ્યા વધતી ગઈ.

બુદેરાયજી મહારાજે પોતાના ત્રણ મુખ્ય શિષ્યોમાં ક્ષેત્રોની વહેંચણી કરી આપી. મૂળચંદ્રજી

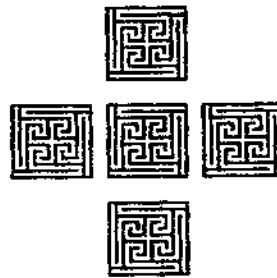
મહારાજ અમદાવાદ અને ગુજરાત સંભાળે, વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ કાઠિયાવાડ સંભાળે અને આત્મારામજી મહારાજ પાછા પંજબ પધારે અને પંજબનાં ક્ષેત્રો સંભાળે.

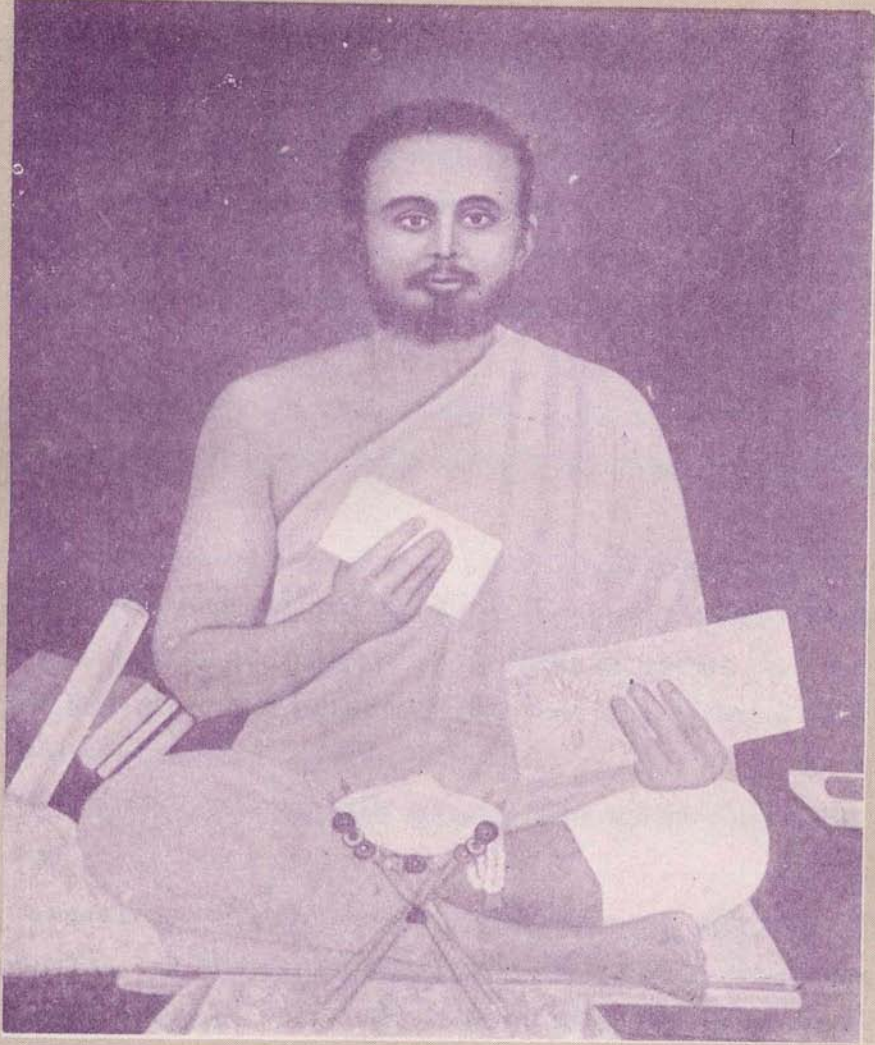
બુદેરાયજી મહારાજે સં. ૧૯૩૨ થી ૧૯૩૮ સુધી, જીવનના અંત સુધી અમદાવાદમાં સ્થિરવાસ કર્યો. તેઓ હવે આત્મધ્યાનમાં વધુ મગ્ન રહેતા. શિષ્યોને તેઓ જરૂર પૂરતું માર્ગદર્શન આપતા. તેમની પાસે શેઠ પ્રેમાભાઈ, શેઠ દલપતભાઈ, શેઠ હેમાભાઈ વગેરે અમદાવાદના શ્રેષ્ઠીઓ આવતા અને તેમની સંભાળ લેતા. મહારાજશ્રી નગરશેઠના વડે છેલ્લાં પાંચ-છ વર્ષ સ્થિરવાસ રહ્યા હતા. અમદાવાદમાં તે જમાનામાં નગરશેઠનું સ્થાન અને માન ઘણું મોટું હતું. શેઠ દલપતભાઈનાં પત્ની ગંગા શેઠાણી પણ ધર્માનુરાગી જાળવલ્યમાન નારી હતાં. છતાં બ્રહ્મનિષ્ઠ મહારાજ એટલા બધા નિસ્પૃહ અનાસક્ત હતા કે પોતાને વંદન કરવા આવનારી બહેનામાં ગંગા શેઠાણી કોણ છે તે જાણવાની ક્યારેય ઉત્સુકતા દર્શાવી નહોતી.

વિ. સં. ૧૯૩૫ના આસો મહિનામાં દાદાગુરુ ગણિ મણિવિજયજી અમદાવાદમાં કાળધર્મ પામ્યા.

વિ. સં. ૧૯૩૮માં બુદેરાયજી મહારાજે અમદાવાદમાં પંચોતેર વર્ષની ઉંમરે પંદર દિવસની બીમારી પછી ફાગણ વદ અમાસ (પંજબી ચૈત્ર વદ અમાસ)ના રોજ રાત્રે સમાધિપૂર્વક દેહ છોડ્યો. એમના કાળધર્મના સમાચાર ગુજરાત, રાજસ્થાન અને પંજબમાં ઝડપથી પ્રસરી જતાં ત્યાં ત્યાં એમના ભક્તવર્ગમાં શોક છવાઈ ગયો. ચૈત્ર સુદ એકમના રોજ સાબરમતી નદીના કિનારે ચંદનની ચિતામાં એમના પાર્થિવ દેહનો જ્યારે અગ્નિસંસ્કાર કરવામાં આવ્યો ત્યારે ત્યાં હજારો નગરજનોની આંખોમાંથી આંસુ વહ્યાં હતાં.

બુદેરાયજી મહારાજને અંજલિ આપતાં શ્રી ન્યાયવિજયજી મહારાજે લખ્યું છે કે 'બુદેરાયજીની દેહમુદ્રામાં પ્રતાપ હતો, આત્મમુદ્રામાં ગુણગૌરવ હતાં અને વિશાલ લલાટપટમાં બ્રહ્મચર્યનું અલૌકિક ઓજસ હતું. એમના પંજબી ખડતલ દેહમાં સુંદરતા, સુકુમારતા અને સજ્જનતા તરવરતી. બુદેરાયજી મહારાજ એટલે પરમ ત્યાગમૂર્તિ, મહા યોગીરાજ, સત્ય અને સંયમની પ્રતિમા.'





श्री मूलचंदजी (मुक्तिविजयजीगणी) महाराज

(૨)

ગણિવર્ષ શ્રી મુક્તિવિજયજી મહારાજ

(શ્રી મૂળચંદ્રજી મહારાજ)

વિક્રમની વીસમી સદીની શરૂઆતમાં જૈન શાસનમાં સાધુ-સાધ્વીઓની સ્થિતિ જોઈએ તેવી સંતોષકારક નહોતી. સાચા ત્યાગી, વૈરાગી, સંવેગી સાધુઓની સંખ્યા ઘણી ઘટી ગઈ હતી. શ્રીપૂજ્યો, યતિઓ વગેરેનું વર્ચસ્વ વધી ગયું હતું. ઠેર ઠેર એમની ગાદીઓ સ્થપાયેલી હતી. બીજી બાજુ પંજબમાં સ્થાનકવાસી સાધુઓમાં મૂર્તિપૂજા અને મુહપત્તી વિશે ખળભળાટ મચી ગયો હતો. એ વખતે પંજબથી, પોતાની શંકાઓના સમાધાન માટે વિહાર કરી ગુજરાતમાં આવનાર ક્રાંતિકારી સાધુઓમાં પૂ. શ્રી બુટેરાયજી મહારાજ મુખ્ય હતા. એમની સાથે મૂળચંદ્રજી મહારાજ તથા વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ પણ હતા.

મૂળચંદ્રજી મહારાજનો જન્મ પંજબમાં શિયાલકોટમાં વિ. સં. ૧૮૮૬માં ભાવડા જૈન જ્ઞાતિમાં ઉપકેશવંશમાં, બરડ ગોત્રમાં થયો હતો. એમના પિતાનું નામ સુખા શાહ હતું. માતાનું નામ બકોરબાઈ (મહતાબદેવી) હતું.

બાળક મૂળચંદ્ર નાનપણથી જ બહુ તેજસ્વી હતો. દેખાવે પણ તે સશક્ત અને પ્રતિભાશાળી હતો. પાંચ વર્ષની ઉંમરે એને નિશાળમાં મૂકવામાં આવ્યો હતો. નિશાળમાં વ્યાવહારિક શિક્ષણ લેવા ઉપરાંત તે સ્થાનકમાં જાય, સામાયિક કરે, પ્રતિકમાણ કરે અને થોકડાનો મુખપાઠ કરે. તે સાધુઓના પરિચયમાં આવીને તેમની પ્રેરણાથી ઘણાં નિયમો લેતો. એમ કરતાં કિશોર મૂળચંદ્રને દીક્ષા લેવાની ભાવના થઈ. માતા-પિતાએ એ પ્રસ્તાવને અનુમોદન આપ્યું.

સોળ વર્ષની ઉંમરે વિ. સં. ૧૯૦૨માં ઋષિ બુટેરાયજી પાસે મૂળચંદ્રે દીક્ષા લીધી અને તે મૂળચંદ્રજી સ્વામી બન્યા.

એ દિવસોમાં પંજબના સાધુઓમાં બુટેરાયજી મહારાજનું નામ ઘણું મોટું હતું. ચારિત્રના પાલનમાં તેઓ અત્યંત કડક અને શુદ્ધ હતા. શાસ્ત્રોનો ઘણો ઊંડો અભ્યાસ એમણે કર્યો હતો. એમની જ્ઞાનની ભૂખ ઘણી મોટી હતી. તેઓ જન્મે જાટ કોમના હિન્દુ હતા. સંસ્કૃત ભાષાનું જ્ઞાન તેમને નાનપણથી જ વારસામાં મળ્યું હતું. સોળ વર્ષની વયે દીક્ષા લીધા પછી તેમણે પોતાના ગુરુ ઋષિ નાગરમલજી પાસે, ઋષિ અમરસિંહજી પાસે તથા શ્રી પૂજ્ય(યતિ) રામલાલજી પાસે આગમ ગ્રંથો ઉપરાંત વ્યાકરણ, ન્યાય વગેરેનો પણ ઘણો સારો અભ્યાસ કર્યો. જેમ જેમ તેઓ વધુ ને વધુ અભ્યાસ કરતા ગયા તેમ શાસ્ત્રોમાં એવા એવા પાઠ એમના વાંચવામાં આવ્યા કે જે વિશે એમના મનનું સમાધાન કોઈ કરી શકતું નહિ. જિનપ્રતિમાની પૂજા કરવી કે નહિ તથા મુહપત્તિ મોઢે બાંધવી

કે નહિ તે વિશે બુટેરાયજી અને એમના શિષ્ય મૂળચંદ્રજીસ્વામીએ ઘણાની સાથે શાસ્ત્રચર્ચા કરી, પરંતુ તેમ છતાં મનનું સમાધાન ન થતાં તેઓ બંનેએ વિ. સં. ૧૯૦૩માં પંજબમાં રામનગરમાં મુહપત્તિનો દોરો તોડી નાખ્યો. એથી સંઘમાં ઘણો ઊંડાપોહ થયો હતો.

પોતાની શંકાઓના સમાધાન માટે બુટેરાયજી મહારાજે પોતાના બે શિષ્યો મૂળચંદ્રજી અને વૃદ્ધિચંદ્રજી સાથે ગુજરાત બાજુ વિહાર કરવાનું નક્કી કર્યું. એક હજાર કરતાં વધુ માઈલનો એ કઠિન અને ઉચ્ચ વિહાર હતો. રસ્તામાં યોગ્ય ગોચરી-પાણી પણ મળે નહિ, તેમ છતાં તેઓની લગની એટલી બધી તીવ્ર હતી કે બધાં કષ્ટો સહન કરીને પણ તેઓ અમદાવાદ આવી પહોંચ્યા. ત્યાં તેઓ પં. શ્રી મણિવિજયજી દાદાને મળ્યા. તેમની સાથે સત્સંગ કર્યો, શાસ્ત્રચર્ચા કરી અને બધી શંકાઓનું સમાધાન મેળવ્યું. તેઓએ નિર્ણય કર્યો કે પ્રથમ શત્રુંજય મહાતીર્થની યાત્રા કરવી અને પછી પં. મણિવિજયજી દાદા પાસે ફરીથી સંવેગી દીક્ષા લેવી. તેઓએ અમદાવાદથી વિહાર કરીને શત્રુંજયની યાત્રા કરી અને ચાતુર્માસ ભાવનગરમાં કર્યું. ત્યાર પછી વિ. સં. ૧૯૧૨માં અમદાવાદમાં આવીને પૂ. મણિવિજયજી દાદા પાસે તેઓએ સંવેગી દીક્ષા લીધી. બુટેરાયજીનું નામ બુદ્ધિવિજયજી, મૂળચંદ્રજીનું નામ મુકિતવિજયજી અને વૃદ્ધિચંદ્રજીનું નામ વૃદ્ધિવિજયજી રાખવામાં આવ્યું. જે કે આ નવાં નામ કરતાં પોતાના જૂનાં નામથી જ તેઓ વધુ ઓળખાતા રહ્યા હતા.

ગુજરાતમાં એ સમયે સાચા ત્યાગી, સંવેગી સાધુઓની સંખ્યા ઘણી જ ઓછી થઈ ગઈ હતી. કઠિન સાધના-માર્ગ અને પ્રતિકૂળ સંજોગોને કારણે સમગ્ર ગુજરાત, સૌરાષ્ટ્ર, કચ્છ, રાજસ્થાન અને પંજબમાં મળીને પચીસથી ત્રીસ જેટલાજ સંવેગી સાધુઓ છૂટાછવાયા વિચરતા હતા. યતિ અને શ્રીપૂજની સંખ્યા ઉત્તરોત્તર વધતી જતી હતી અને મોટાં મોટાં નગરોમાં તેઓનું બળ ઘણું રહ્યું હતું. પંજબથી આવેલા આ ત્રણ સ્થાનકવાસી સાધુ મહારાજોએ જૈન સાધુસંસ્થામાં એક ક્રાંતિકારક પગલું ભર્યું હતું. અને તેને લીધે બુટેરાયજી મહારાજ સંવેગી મૂર્તિપૂજક સમુદાયની સંવેગી દીક્ષા ધારણ કર્યા પછી જ્યારે પંજબ પાછા ફર્યા ત્યારે ત્યાં ઘણો ખળભળાટ મચી ગયો હતો. એમના પ્રભાવથી ત્યારપછી પંજબના વતની અને જન્મે બ્રહ્મક્ષત્રિય એવા આત્મારામજી મહારાજ અને એમની સાથે પંદરથી વધુ સાધુઓ પણ પંજબમાંથી વિહાર કરીને ગુજરાતમાં આવ્યા અને તેઓએ પણ સંવેગી દીક્ષા ધારણ કરી. આમ પંજબી સાધુઓનો ગુજરાત ઉપર ઘણો મોટો ઉપકાર થયો. બુટેરાયજી, મૂળચંદ્રજી અને વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજના એ ઉપકારના કારણે એક સૈકા જેટલા સમયમાં સંવેગી સાધુઓની સંખ્યા અઢી હજારથી વધુ થઈ ગઈ તે માટે ગુજરાત પંજબી સાધુઓનું હંમેશાં ઋણી રહેશે.

બુટેરાયજી મહારાજ પ્રખર શાસ્ત્રજ્ઞાતા હતા. મૂળચંદ્રજી મહારાજ અનુશાસનના આગ્રહી હતા અને તેમની પાસે વ્યવસ્થાશક્તિ ઘણી સારી હતી. મૂળચંદ્રજી મહારાજે જ્યેષ્ઠ કે સાધુ વગર શાસનનો ઉદ્ધાર નથી માટે જેમ બને તેમ વધુ દીક્ષા આપવી જોઈએ. એમનો પ્રભાવ પણ એવો મોટો હતો કે

મળવા આવનાર યુવાનને એમની પાસેથી ખસવાનું મન ન થાય. દીક્ષાની શક્યતા જાણાય ત્યાં તેઓ વિલંબ કરતા નહિ. જ્યાં દીક્ષાર્થીની સંમતિ હોય, પરંતુ સ્વજનોનો વિરોધ હોય ત્યાં અમદાવાદના નગરશેઠ પ્રેમાભાઈ સાથે એવી યોજના કરી હતી કે ગુજરાતના એવા દીક્ષાર્થીઓને પંજબ મોકલવામાં આવે અને ત્યાં આત્મારામજી મહારાજ દીક્ષા તેમને આપે અને પંજબના એવા દીક્ષાર્થીઓ હોય તો તેમને ગુજરાતમાં મોકલવામાં આવે અને તેમને મૂળચંદ્રજી મહારાજ દીક્ષા આપે. આ રીતે થોડાંક વર્ષોમાં જ સાધુઓની સંખ્યા જે ૨૫-૩૦ ની હતી તેમાંથી એકસો ઉપર થઈ ગઈ. આમ છતાં જોવાનું એ હતું કે મૂળચંદ્રજી મહારાજ જેને પણ દીક્ષા આપે તેને પોતાનો ચેલો ન બનાવતાં બુદેરાયજી મહારાજનો અથવા વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજનો ચેલો બનાવતા, એટલે કે પોતાના હાથે થનાર નવદીક્ષિત સાધુને પોતાના શિષ્ય તરીકે સ્થાપવાને બદલે પોતાના ગુરુભાઈ તરીકે સ્થાપીને પોતાનો આદર નવદીક્ષિત પ્રત્યે વ્યક્ત કરતા. પૂ. આત્મારામજી મહારાજે પોતાની ગામઠી હિંદી ભાષામાં એમને કહ્યું, 'મેં તુમહારા શિષ્ય હોનેકું આયા હું.' પરંતુ આત્મારામજી મહારાજને પણ સંવેગી દીક્ષા આપ્યા પછી અને તેમનું નામ મુનિ આનંદવિજય રાખ્યા પછી તેમને પોતાના શિષ્ય ન બનાવતાં પોતાના ગુરુભાઈ બનાવ્યા એટલે કે બુદેરાયજી મહારાજના શિષ્ય બનાવ્યા. મૂળચંદ્રજી મહારાજનો આ એક ઘણો મોટો ગુણ હતો. એટલા માટે આત્મારામજી મહારાજે પોતે રચેલી પૂજની ઢાળમાં મુક્તિવિજયજી મહારાજને સંપ્રતિ રાજ તરીકે બિરદાવતાં લખ્યું છે

મુક્તિ ગણિ સંપ્રતિરાજા,

મુક્તિ ગણિ ચંગી;

તસ લઘુ ભ્રાતા આનંદવિજય.

મૂળચંદ્રજી મહારાજે ભાવનગર, પાલનપુર, વડોદરા, શિહોર, પાલિતાણા, અમદાવાદ એમ ગુજરાતમાં ઘણાં સ્થળે ચાતુર્માસ કર્યા. તેઓ જ્ઞાન-ધ્યાનમાં પણ એટલા જ મગ્ન રહેતા. તેઓ સાધુ-સાધ્વીઓને નિયમિત વાચના આપતા. તેઓ રોજ ઓછામાં ઓછા ત્રણ કલાક તો ધ્યાન ધરતા હતા. તેમણે જ્યાં જ્યાં ચાતુર્માસ કર્યું ત્યાંનાં સંઘો તેમનાથી ખૂબ પ્રભાવિત થયા હતા. શિહોર જેવા નાના ક્ષેત્રમાં પણ તેમના ચાતુર્માસથી વાતાવરણ ઘણું પ્રોત્સાહિત થયું હતું. શિહોરમાં તેઓ ગામની પાસેની એક ટેકરી (જે શત્રુંજયની મરુદેવા ટુંક તરીકે ઓળખાય છે) ઉપર બપોરે ધ્યાન ધરવા જતા.

વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજના આગ્રહથી છેવટે મૂળચંદ્રજી મહારાજને પોતાના કેટલાક શિષ્યો કરવા પડ્યા હતા, જેમાં હંસવિજય, ગુલાબવિજય, કમલવિજય, થોભાણવિજય, દાનવિજય વગેરે મુખ્ય હતા. મૂળચંદ્રજી મહારાજે સંઘની વારંવાર વિનંતી છતાં આચાર્યની પદવી લેવાની ના પાડી હતી અને જીવનના અંત સુધી ગણિ રહ્યા હતા. તે દિવસોમાં ફોટોગ્રાફીની શોધ થઈ હતી. અને આવા મહાન શાસનપ્રભાવકનો ફોટો લેવડાવવા માટે શેઠ પ્રેમાભાઈ અને બીજાઓએ બહુ આગ્રહ કર્યો હતો, પરંતુ

તેવો ફોટો તેમણે ક્યારેય લેવા દીધો નહોતો. એમના કાળધર્મ પછી એમનું આબેહૂબ તેલચિત્ર હંસવિજયજી મહારાજને બનાવડાવીને અમદાવાદમાં ઉજ્જમબાઈની ધર્મશાળામાં રખાવેલું તે એક ચિત્ર આજે ઉપલબ્ધ છે.

એ સમયે સાધુઓ ઓછા હતા અને ક્ષેત્રો ઘણાં હતાં એટલે તેઓએ ક્ષેત્રો વહેંચી લીધાં હતાં. મૂળચંદ્રજી મહારાજ વિશેષતઃ અમદાવાદ કે એની આસપાસ વિચરતા. વૃદ્ધચંદ્રજી સૌરાષ્ટ્રમાં ગોહિલવાડમાં વિચરતા. બૂટેરાયજી મહારાજ પોતે અને આત્મારામજી મહારાજ પંજાબમાં વિચરતા. નીતિવિજયજીને સૂરત, ખાંતિવિજયજીને હાલાર અને ઝાલાવાડ, ગુણવિજયજી અને ઘોભાગવિજયજીને ઝાલાવાડ અને દાનવિજયજીને કચ્છ સંભાળવાનું સોંપવામાં આવ્યું હતું.

મુક્તિવિજય ગણિ આચારપાલનમાં ઘણા ચુસ્ત હતા અને પોતાના શિષ્યો માટે પણ ઘણા કડક રહેતા. તેમની સંઘવ્યવસ્થા નમૂનારૂપ ગણાતી. તેમની પાસે સરસ કાર્યશક્તિ અને ત્વરિત નિર્ણય લેવાની સૂઝ હતી. તેમની અંતરંગ નીતિ અને બહિરંગ નીતિ પરસ્પર સુસંવાદી હતી. તેઓ શિષ્યોને અત્યંત વાત્સલ્યભાવથી રાખતા, પણ પ્રસંગે એટલા જ કડક થઈ શકતા. તેઓ પોતાના ગુરુ મહારાજની આજ્ઞા શિષ્યો પાસે બરાબર પળાવતા અને ન પાળે તો દંડ અથવા પ્રાયશ્ચિત આપતા. તેમનો પ્રભાવ એટલો બધો હતો કે તેમના શિષ્યો કોઈ પણ સંઘમાં હોય અને કંઈ પ્રશ્ન ઊભો થાય અને સંઘના આગેવાનો માત્ર એટલું જ કહે, ‘ભલે, અમે એ બાબતમાં મૂળચંદ્રજી મહારાજને લખીશું’ તો પરિસ્થિતિ તરત બદલાઈ જતી.

તેમના એક શિષ્ય ઉત્તમવિજયે એક નાના છોકરાની મશ્કરી કરી અને છોકરાએ મહારાજને લાત મારી, તો ભાષા સમિતિ ન સાચવવા માટે એમને મૂળચંદ્રજી મહારાજે અફમનું પ્રાયશ્ચિત આપ્યું હતું. તેવી જ રીતે દંડસાગ ન વાપરવાને કારણે એક શિષ્યને કૂતરું કરડ્યું તો તેમને પણ અફમનો દંડ આપ્યો હતો. મુનિ ભક્તિવિજય પોતાની સંસારી પત્ની માટે કડવા શબ્દો, ના પાડવા છતાં બોલ્યા તો તેમને ઉપાશ્રયની બહાર ચાલ્યા જવાની આજ્ઞા કરી. તેઓ ઉજ્જમબાઈના ઉપાશ્રયેથી હડીભાઈની વાડીના ઉપાશ્રયે ગયા ત્યાં તેમને પોતાની ભૂલ માટે બહુ પશ્ચાત્તાપ થયો અને જ્યાં સુધી મૂળચંદ્રજી મહારાજ પોતાને પાછા ન બોલાવે અને એમનાં દર્શન ન થાય ત્યાં સુધી આહારપાણીનો ત્યાગ કર્યો. એમ ચાર ઉપવાસ થયા ત્યારે શેઠ ધોળશાજીને ખબર પડી તો તેમણે મૂળચંદ્રજી મહારાજને સમજાવ્યા અને સમાધાન કરાવી આપ્યું. પાછા ઉજ્જમબાઈના ઉપાશ્રયે આવી ભક્તિવિજય મુનિએ આંખમાં આંસુ સાથે વંદન કરી જમા માગી. ત્યારપછી એમની પાત્રતા જોઈ એમને મૂળચંદ્રજી મહારાજે પંન્યાસપદ આપ્યું હતું. લીંબડીના સંઘે પત્ર લખવામાં અવિનય દ્રાખ્યો તો મહારાજે લીંબડીમાં સાધુઓનો વિહાર બંધ કરાવ્યો. એક શિષ્ય મુનિ મોતીવિજય તબિયતને કારણે, પણ આજ્ઞા વગર લીંબડી ગયા તો મૂળચંદ્રજી મહારાજે એમને સંઘાડા બહાર મૂક્યા. પરંતુ ત્યારપછી મોતીવિજયે માફી માગી અને ગુરુભાઈ વૃદ્ધચંદ્રજીનો ભલામણપત્ર આવ્યો કે તરત એમને પાછા સંઘાડામાં લઈ લીધા

હતા. મૂળચંદ્રજી મહારાજ આજ્ઞાપાલનમાં કેટલા યુક્ત હતા તે આ ઉપરથી જાણાઈ આવે છે. પોતે પણ ગુરુભાઈ વૃદ્ધિચંદ્રજીનો બોલ આજ્ઞાની જેમ ઉઠાવતા. ગુરુમહારાજનો અમદાવાદથી એક વખત ભાવનગર પત્ર આવ્યો કે તરત જ ઉનાળામાં ભરબપોરે પોતે અમદાવાદ તરફ વિહાર ચાલુ કરી દીધો હતો.

મુક્તિવિજય ગણિ-મૂળચંદ્રજી મહારાજ વિશે કેટલાક પ્રસંગો મુનિ દર્શનવિજયજીકૃત 'આદર્શ ગચ્છાધિરાજ'માં નોંધાયા છે. કેટલાક પ્રસંગો અનુશ્રુતિથી પ્રાપ્ત છે. અહીં એવા કેટલાક પ્રસંગો આપ્યા છે.

મૂળચંદ્રજી મહારાજ યુવાનોને દીક્ષા આપી સમુદાયની વૃદ્ધિ કરતા હતા. તેની સામે અમદાવાદમાં કેટલાકે વિરોધ વ્યક્ત કર્યો અને નગરશેઠ પાસે સંઘ ભેગો કરાવી તેમાં પં. દયાવિમળજી, પં. રત્નવિજયજી ગણિ અને ગણિવર્ષ મૂળચંદ્રજી મહારાજ વગેરે બધા મહાત્માઓને પણ ઉપસ્થિત રહેવા નિમંત્રણ અપાયું હતું. તે સભામાં એક વૃદ્ધ શેઠે ઊભા થઈ હિંમતપૂર્વક ફરિયાદ કરી કે, મુક્તિવિજયજી મહારાજ માતા-પિતાની રજા વગર જેને-તેને મૂંડી નાખે છે તે બરાબર નથી. સભામાં આ રીતે કેટલોય ઊડાપોહ થયો, એટલે મૂળચંદ્રજી મહારાજે ઊભા થઈ કહ્યું કે સંઘ જે નિર્ણય કરશે તે આજ્ઞા તરીકે હું માથે ચડાવીશ. પરંતુ આ બાબતમાં ઉતાવળો નિર્ણય ન થાય તે જેવા વિનંતી છે. પાટ ઉપર બિરાજમાન સર્વ મહાત્માઓ પ્રત્યે તમને બધાને અત્યંત પૂજ્યભાવ છે એ હું જાણું છું. તમારી હાજરીમાં જ હું એ બધાને પૂછું છું કે તેઓમાંથી કોણે કોણે પોતાનાં માતાપિતાની રજા લઈને દીક્ષા લીધી હતી ? એક પછી એક સાધુ ભગવંતોને સંઘ સમક્ષ પૂછવામાં આવ્યું અને એ બધામાંથી એક પણ સાધુ ભગવંતે એમ કહ્યું નહિ કે પોતે માતા-પિતાની રજા લઈને દીક્ષા લીધી છે. એ જાણી સંઘના આગેવાનોને પણ આશ્ચર્ય થયું. મૂળચંદ્રજી મહારાજે પોતાના પંજાબી બુલંદ અવાજથી પછી સંઘને કહ્યું, તમે બધા જેઈ શકો છો કે તમને જેમના તરફ અત્યંત પૂજ્યભાવ છે અને જેમના વડે શાસનની શોભા છે એવા આપણા આ બધા જ બિરાજમાન પૂજ્ય સાધુ ભગવંતોએ દરેકે પોતાનાં માતાપિતાની રજા વગર દીક્ષા લીધી છે. તેઓએ ભલે એવી રીતે દીક્ષા લીધી હોય પરંતુ આજે તેઓ સંઘના પૂજ્ય બન્યા છે અને તેમને જેઈને તેમનાં માતા-પિતા પણ આજે તો બહુ રાજી થાય છે. દીક્ષા માટે રજા જરૂરી છે પરંતુ આ વિષમ કાળમાં એવાં વિવેકી અને જ્ઞાની માતા-પિતા ક્યાં છે કે જે પોતાના પુત્રને દીક્ષા માટે સહર્ષ રજા આપે. આપણને સારા સારા સાધુઓ જેઈએ છે, શાસનના સૂત્રધારો જેઈએ છે, પરંતુ ચેલાઓ ઝાડ ઉપર કંઈ ઊગતા નથી, કે હલાવીને પાડી લેવાય. એ તો તમારામાંથી જ આવવાના છે, અને તમે જે એને આવવા નહિ દો તો પરિસ્થિતિ કેવી થશે તેનો વિચાર કરો. માટે રજા સિવાય દીક્ષા આપવી નહિ એવો ઠરાવ કરવા કરતાં જેને દીક્ષા લેવાની ભાવના હોય તેને માતા-પિતા મારે નહિ, ત્રાસ ન આપે, સાધુ પાસે આવતાં ન અટકાવે એવો ઠરાવ કરવો જેઈએ.

મૂળચંદ્રજી મહારાજની આ વાણી સાંભળી સંઘ વિચારમાં પડી ગયો. સાચી પરિસ્થિતિ સમજી ગયો અને કંઈપણ કરાવ કર્યા વિના વિખરાઈ ગયો.

ધ્રાંગધ્રામાં દેવશી અને ગુણશી બે ભાઈઓ હતા. તેઓ મૂર્તિપૂજના વિરોધી હતા. તેમણે આગમ-બત્રીસીનો અભ્યાસ કર્યો હતો. તેમણે ધ્રાંગધ્રામાં વિરોધનો વંટોળ ઊભો કર્યો હતો. મૂળચંદ્રજી મહારાજે એ વાત જાણી ત્યારે તેમણે પોતાના શિષ્ય મહાન તપસ્વી, જ્ઞાની અને સારી તર્કશક્તિ ધરાવનાર મુનિ દાનવિજયજીને ત્યાં મોકલ્યા. તેમણે ત્યાં જઈને પ્રેમ, શાંતિ, ધીરજ અને વાત્સલ્યભાવથી બંને ભાઈઓને શાસ્ત્રોના પાઠો બતાવી એવો સરસ પ્રતિબોધ કર્યો કે બંને તેમની પાસે દીક્ષા લેવા તૈયાર થઈ ગયા. દાનવિજયજીએ તેઓ બંનેને મૂળચંદ્રજી મહારાજ પાસે મોકલ્યા. મૂળચંદ્રજી મહારાજે એ બંનેને દીક્ષા આપી અને દેવશી તે મુનિ દેવવિજય થયા અને ગુણશી તે મુનિ ગુણવિજય થયા. તેઓ બંનેએ આગમશાસ્ત્રોનો એટલો સરસ ઊંડો અભ્યાસ કર્યો હતો કે ત્યારપછી પંજબથી આવેલા આત્મારામજી મહારાજને મૂર્તિપૂજા વિશે કેટલીક શંકાઓ હતી તો તેનું સમાધાન કરવાનું કામ ગુણવિજયજીને સોંપવામાં આવ્યું. ગુણવિજયજી પાસે બેસીને આત્મારામજી મહારાજે પોતાની શંકાઓનું સરસ સમાધાન કરી લીધું અને મૂળચંદ્રજી મહારાજ પાસે ગુણવિજયજીની ખૂબ ખૂબ પ્રશંસા કરી. એ વખતે મૂળચંદ્રજી મહારાજે આત્મારામજીને એટલું જ કહ્યું કે ગુણવિજયજી મહાન જ્ઞાની મહાત્મા છે. પરંતુ તેમનું આયુષ્ય ટૂંકું છે. વધુમાં વધુ તેઓ છ મહિના સુધી વિદ્યમાન રહેશે. ત્યારપછી ગુણવિજયજી મહારાજ મૂળચંદ્રજી મહારાજે કરેલી આગાહી પ્રમાણે છ મહિનામાં કાળર્ધમ પામ્યા.

મૂળચંદ્રજી મહારાજ દીક્ષા આપવાના ઉત્સાહી હતા, પરંતુ તે પછી પદવી આપવાની બાબતમાં એટલાજ કડક હતા. એમના એક શિષ્ય દર્શનવિજયજી મહારાજે યોગવહનની ક્રિયા કરી લીધી હતી. એટલે એમને પદવી આપવા માટે પ્રેમાભાઈ શેઠ અને સંઘના આગેવાનોએ ભલામણ કરી હતી. પરંતુ પોતાને યોગ્ય લાગશે તે પછી જ પદવી આપશે એમ મૂળચંદ્રજી મહારાજે કહ્યું હતું. ત્યારપછીનું દર્શનવિજયજીનું ચોમાસું વડોદરામાં હતું અને મૂળચંદ્રજી મહારાજનું કેટલાક માઈલ દૂર છાણી ગામમાં હતું. એક દિવસ મૂળચંદ્રજી મહારાજે દર્શનવિજયજીને સંદેશો કહેરાવ્યો કે અત્યંત તાકીદનું કામ છે એટલે તરત તમે છાણી આવી પહોંચો, જ્યારે સંદેશો આપવામાં આવ્યો ત્યારે દર્શનવિજયજી મહારાજ ગોચરી વહોરીને આવ્યા હતા અને વાપરવાની તૈયારી કરતા હતા. એમની સાથેના સાધુઓએ કહ્યું કે ગોચરી વાપરીને પછી જવ, પરંતુ ગુરુ મહારાજનો સંદેશો હતો એટલે દર્શનવિજયજી ગોચરી વાપરવા રોકાયા નહિ. તેઓ તરત જ સીધા ચાલ્યા છાણી તરફ. લાંબો વિહાર કરી તેઓ મૂળચંદ્રજી મહારાજ પાસે આવ્યા. સુખશાતા પૂછી અને શું કામ છે તે જાણવા માટે ઉત્સુક રહ્યા, પરંતુ વિનય અનુસાર પૂછ્યું નહિ અને ગુરુમહારાજ કહે તેની રાહ જોતા રહ્યા. લગભગ દોઢ-બે કલાક ગુરુમહારાજે બીજી બધી વાતો કરી, પરંતુ શા માટે બોલાવ્યા છે તે કંઈ કહ્યું નહિ. ચાતુર્માસના દિવસો હતા એટલે

પોતાને ઉપાશ્રય પાછા આવવું અનિવાર્ય હતું. ફરી લાંબો વિહાર કરીને દર્શનવિજયજી વડોદરાના ઉપાશ્રયે પાછા ફર્યા.

મૂળચંદ્રજી મહારાજે સંદેશાવાહક દ્વારા જાણ્યું હતું કે દર્શનવિજયજી ગોચરી વાપર્યા વિના ચાલ્યા આવ્યા છે. ફરી એક વખત એવી જ રીતે મૂળચંદ્રજી મહારાજે સંદેશો મોકલાવ્યો. ફરી ગોચરી વાપર્યા વગર દર્શનવિજયજી આવ્યા. દોઢ-બે કલાક બેઠા, પરંતુ મૂળચંદ્રજી મહારાજે પોતે શા માટે બોલાવ્યા છે તેની કશી જ વાત કરી નહિ. દર્શનવિજયજી પ્રસન્ન ચિત્તે વડોદરા પાછા ફર્યા. થોડા દિવસ પછી ત્રીજી એક વાર મૂળચંદ્રજી મહારાજે એ જ પ્રમાણે સંદેશો કહેવરાવ્યો અને દર્શનાવિજયજી મહારાજ આવી પહોંચ્યા. જુદા જુદા વિષયો પર બીજી ઘણી વાત થઈ પણ પોતે શા માટે બોલાવ્યા છે તે મૂળચંદ્રજી મહારાજે કહ્યું નહિ. હવે દર્શનવિજયજીથી રહેવાયું નહિ. તેમણે કહ્યું, ‘ગુરુમહારાજ ! આખે મને આટલે દૂરથી વિહાર કરાવીને આ ત્રીજી વાર બોલાવ્યો, પરંતુ આપ શા માટે બોલાવો છો તે તો કંઈ કહેતા નથી.’ મૂળચંદ્રજી મહારાજે કહ્યું ‘બસ મારે જે કામ હતું તે આ જ હતું. તમારી પદવી માટે પાત્રતા જોવી હતી. તમે હજુ કાચા છો એટલે તમારાથી પૂછ્યા વગર રહેવાયું નહિ. તમે હવે વડોદરા પાછા ફરો.’

દર્શનવિજય પાછા ફર્યા. પરંતુ આખે રસ્તે વિચારમાં રહ્યા, કે ગુરુ મહારાજે ખરી કસોટી કરી. અધીરા બનવા માટે સંતાપ પોતાને થયો. થોડા દિવસ પછી પ્રેમાભાઈ શેઠ અને સંઘના આગેવાનો મળવા આવ્યા અને દર્શનવિજયજીની પદવીની વાત નીકળી ત્યારે મૂળચંદ્રજી મહારાજે કહ્યું કે એમની હજુ જોઈએ તેટલી પાત્રતા થઈ નથી. મેં એમની ત્રણ વાર કસોટી કરી. ત્રીજી કસોટીમાં તેઓ અધીરા બની ગયા અને હારી ગયા. એમ છતાં ગોચરી વાપર્યા વગર આટલો લાંબો વિહાર કરીને જવાઆવવાના તેમના કાર્યની પ્રશંસા પણ કરી. દર્શનવિજયમાં વિનય ગુણ ઘણો મોટો છે, પરંતુ હજુ તેમાં થોડી ન્યૂનતા છે તેમ મૂળચંદ્રજી મહારાજે જાણાવ્યું. આ વાત પ્રેમાભાઈએ દર્શનવિજયજીને પણ કરી. એથી દર્શનવિજયજીએ આવી કસોટી કરવા માટે ગુરુ મહારાજ પ્રત્યે રોષ વ્યક્ત ન કર્યો, પરંતુ અધીરા બની પ્રશ્ન કરવાની પોતાની ભૂલ માટે ક્ષમા માગી. ત્યારપછી થોડા જ વખતમાં દર્શનવિજયજીની હવે પાત્રતા છે એમ સમજીને તથા પ્રેમાભાઈ શેઠ અને સંઘના આગેવાનોની ભલામણથી મૂળચંદ્રજી મહારાજે દર્શનવિજયજીને પદવી આપી હતી.

જૈન શાસનના રક્ષણને માટે જલદી જલદી દીક્ષા આપવાના ઉત્સાહવાળા મૂળચંદ્રજી મહારાજ કોઈ એક યુવાનને દીક્ષા આપવાની વિધિ અમદાવાદમાં ઉજમબાઈના ઉપાશ્રયમાં કરી રહ્યા હતા. દીક્ષા અંગે તે યુવાનના કેટલાંક સગાંસંબંધીઓનો વિરોધ હતો. પરંતુ જ્યાં સુધી યુવાનની સંમતિ હતી ત્યાં સુધી મૂળચંદ્રજી મહારાજ સગાંસંબંધીઓની પરવા કરે એવા નહોતા. જ્યારે ઉપાશ્રયમાં દીક્ષાની વિધિ ચાલુ થઈ ત્યારે કેટલાંક સગાંસંબંધીઓએ ઉપાશ્રયની બહાર બૂમાબૂમ ચાલુ કરી અને વાતાવરણ ઉગ્ર બનતાં કેટલીક સ્ત્રીઓએ તો મૂળચંદ્રજી મહારાજના નામથી છાન્નિયાં લેવાં પણ

ચાલુ કર્યાં. પરંતુ એથી મૂળચંદ્રજી મહારાજ અસ્વસ્થ થાય તેવા ન હતા. તેમણે તો દીક્ષાની વિધિ યથાવત્ ચાલુ રાખી અને નિયત ક્રમાનુસાર પૂરી કરી. દીક્ષા અપાઈ ગઈ. એક નવા સાધુનો ઉમેરો થયો. સગાંસંબંધીઓ બબડતાં બબડતાં ચાલ્યાં ગયાં. બીજે દિવસે સંઘના આગેવાનોની બેઠક મળી. કેટલાક આગેવાનોએ એવો સૂર વ્યક્ત કર્યો કે ગુરુ મહારાજ ! તમારે આવી રીતે દીક્ષા ન આપવી જોઈએ.

મૂળચંદ્રજી મહારાજે શાંતિ અને સ્વસ્થતાપૂર્વક પ્રેમભાવથી કહ્યું, જુઓ ભાઈઓ! જૈનશાસનને જીવંત રાખવું હોય તો સાધુઓ જોઈએ. દીક્ષાનો પ્રસંગ એવો છે કે સગાંસંબંધીઓને પોતાના ઘરનો કોઈ યુવાન જાય એ ગમે નહિ. બહાર સ્ત્રીઓ છાજિયાં લેતી હોય અને હું દીક્ષા આપતો હોઉં તો મને પાણ એ ગમતી વાત નથી. આપણી પાસે સાધુઓ બહુ જ ઓછા છે, તો તમે મને પહેલો જવાબ એ આપો કે જૈન શાસનને જીવંત રાખવું છે કે નહિ ? બધાએ હા કહી એટલે મૂળચંદ્રજી મહારાજે કહ્યું કે તો સંઘ હવે ઠરાવ કરે કે સંઘના જેટલા આગેવાનો છે તેઓ દરેક પોતાના કુટુંબમાંથી એક યુવાનને દીક્ષા માટે અમને આપે. એમ જો થાય તો મારી પાણ સ્થિતિ આવી કફોડી ન થાય. પરંતુ સંઘનો કયો આગેવાન પોતાના સંતાનને દીક્ષા આપવા માટે સામેથી થરત સ્વીકારે ? એટલે બધા જ ચૂપ થઈ ગયા. એટલે મૂળચંદ્રજી મહારાજે તેઓને બધાને વર્તમાન દેશકાળની સ્થિતિ સમજાવી અને તેમાં અપવાદરૂપ સંજોગોમાં સગાંસંબંધીઓનો વિરોધ છતાં દીક્ષા આપવાની જરૂરિયાત દર્શાવી.

એ જમાનામાં સાધુઓ ઓછા હતા, એટલે ઘણાં નગરોને સાધુઓનો લાભ મળતો નહિ. એમાં મહેસાણામાં એક-બે તપસ્વીઓ આવેલા અને તેઓ રોટલા-રોટલીનો સુકકો ટુકડો અને થોડું પાણી વહોરતા. આથી મહેસાણાના શ્રાવકોમાં એવી માન્યતા અને પ્રથા થઈ ગયેલી કે સાધુ મહારાજ ગોચરી માટે આવે ત્યારે રોટલા-રોટલીનો લુખ્ખો નાનો ટુકડો જ માત્ર વહોરાવવો જોઈએ. જૈન સાધુને બીજું કશું વહોરાવી શકાય નહિ.

આથી બીજા સાધુઓ મહેસાણા જવાનું પસંદ કરતા નહિ. પંજાબી સાધુઓને તો મહેસાણામાં ઉણોદરી વ્રત જેવું થઈ જતું. શ્રાવકોએ સાધુભક્તિ માટે યોગ્ય દ્રષ્ટિ રાખવી ઘટે અને મહેસાણાના શ્રાવકોને માહું ન લાગે એ રીતે યુક્તિપૂર્વક ક્રમે ક્રમે સમજાવવું જોઈએ એમ મૂળચંદ્રજી મહારાજને લાગ્યું. એ માટે એમણે દેવવિજયજીને મહેસાણા ચાતુર્માસ માટે મોકલ્યા, કારણ કે દેવવિજયજીને આજીવન આયંબિલનું વ્રત હતું, એટલે તેઓ જ ત્યાં ટકી શકે. દેવવિજયજીએ મહેસાણા જઈ લુખ્ખો, નીરસ થોડો આહાર લઈ પોતાની આરાધના ચાલુ કરી. પરંતુ તેમણે વ્યાખ્યાનમાં ભગવતીસૂત્ર નો વિષય લીધો અને સુપાત્ર દાન, ગુરુભક્તિ, સાધુઓ માટેનાં શુદ્ધ આહાર-પાણી, ઉદારતા અને ઉમળકા સહિતની સાધુભક્તિ વગેરે વિષયની અનેકાન્ત દ્રષ્ટિએ લોકોને સમજાણ આપી. આથી મહેસાણાના સંઘને દાનધર્મનું સાચું રહસ્ય સમજ્યું. સાધુઓને રોટલા-રોટલીનો માત્ર લુખ્ખો ટુકડો વહોરાવવાની પ્રથામાં તેઓએ ફેરફાર કર્યો.

એક વખત મૂળચંદ્રજી મહારાજ અમદાવાદમાં ઉજમફોઈના ઉપાશ્રયમાં નીચે વ્યાખ્યાન આપી રહ્યા હતા ત્યારે ઉપાશ્રયમાં ઉપર બે નવદીક્ષિત યુવાન સાધુઓ વચ્ચે બોલાચાલી થઈ. તેઓ એટલું મોટેથી બોલતા હતા કે વ્યાખ્યાનમાં પણ તેમનો અવાજ સંભળાવા લાગ્યો. થોડી વારે ઉપરની ગરબડ શાંત થઈ. વ્યાખ્યાન પૂરું થયું અને સૌ વિખરાયા. એ વખતે પ્રેમાભાઈ શેઠ અને બીજા કેટલાક આગેવાનોએ મૂળચંદ્રજી મહારાજને એકાંત સાધીને કહ્યું, ગુરુ મહારાજ, આપના સાધુઓ આમ અંદરઅંદર લડે અને મોટેથી સામસામે બરાડા પાડે એ કેટલી શરમાવનારી વાત છે !

મૂળચંદ્રજી મહારાજે એ સાંભળી લીધું, પણ કંઈ ઉત્તર આપ્યો નહિ. થોડા દિવસ પછી પર્વનો એક દિવસ આવ્યો. વ્યાખ્યાનમાં ભાઈઓ અને બહેનોની ઘણી સારી હાજરી થઈ. વ્યાખ્યાનના અંતે પતાસાંની પ્રભાવના હતી. એ વખતે વ્યાખ્યાન પૂરું કરીને ગુરુ મહારાજ, પ્રેમાભાઈ શેઠ અને બીજા આગેવાનો સાથે ઉપાશ્રયમાં ઉપર જઈને બેઠા. એટલામાં નીચે બેરાંઓનો કોલાહલ વધતો ગયો અને મોટેમોટેથી કેટલાંક બેરાંઓ પતાસાં માટે લડતાં હોય તેવું જાણાયું. હાથ લાંબા કરીકરીને એકબીજાને તું તું કરીને લડતી સ્ત્રીઓમાં કોઈકનું હાથનું ઘરેણું પણ પડી ગયું. મૂળચંદ્રજી મહારાજે આગેવાનોને કહ્યું, જુઓ તો ખરાં. આ કંઈ બહેનો લડે છે ? આગેવાનોએ જોઈ આવીને કહ્યું કે લડનારી બહેનોમાં કેટલીક તો મોટી મોટી શેઠાણીઓ પણ છે. મૂળચંદ્રજી મહારાજે તક સાધીને કહ્યું, જુઓ ભાઈ પાંચ પતાસાં માટે આ મોટી મોટી શેઠાણીઓ પણ અંદર અંદર ઝઘડે છે. પોતાનાં ઘરેણાં કરતાં પણ પતાસાં એમને વહાલાં લાગે છે. હવે નગરની શેઠાણીઓજ ધર્મના પ્રસંગે માંડોમાંડે જે આમ બરાડા પાડતી હોય તો અમારી પાસે જે સાધુઓ આવે છે તે તમારા ઘરના જ યુવાનો છે. એટલે અમારા સાધુઓને સારા સંસ્કાર આપવાનું કામ તો અમે કરીએ જ છીએ. પરંતુ નવદીક્ષિત હોય ત્યારે પણ તેઓ સારા સંસ્કારી યુવાનો હોય એવું તમે જે ઈચ્છતા હો તો એની શરૂઆત તમારા ઘેરથી જ કરવી જોઈએ. ગુરુ મહારાજની એ ટકોર સાંભળીને સૌ આગેવાનો પરિસ્થિતિ સમજી ગયા અને સાધુઓની ટીકા કરતાં પહેલાં પોતાની જાતને અને કુટુંબને સુધારવાની પ્રથમ આવશ્યકતા છે તે તેમને સમજાયું.

મૂળચંદ્રજી મહારાજે અમદાવાદમાં યતિઓ-શ્રીપૂજેનું જેર તોડી નાખ્યું. તેમને વંદન કરવાનું, તેમના સામૈયામાં જવાનું, તેમની પાસેથી પદવી લેવાનું બંધ કર્યું. તેમના સ્થાપનાચાર્ય ઉપર છેવટે રૂમાલ ઓઠાડવાનું પણ ન સ્વીકાર્યું. એ દિવસોમાં પાલિતાણામાં પણ યતિઓનું ઘણું જેર હતું. એને લીધે પાલિતાણામાં કોઈ સાધુઓનું સામૈયું પણ કરી શકાતું નહિ. સાધુઓ શત્રુંજયની યાત્રાએ આવે તો છાનામાના યાત્રા કરીને ચાલ્યા જાય. જહોરમાં બહુ દેખાય તો યતિઓ તરફથી તેમને માર પણ પડે. યતિઓનો ડર સાધુઓને અને સંઘને ઘણો રહેતો. આવી પરિસ્થિતિમાં યતિઓનું જેર તોડવા માટે મૂળચંદ્રજી મહારાજે કમ્મર કસી. તેમણે દર્શનવિજયજી મહારાજને ચાતુર્માસ માટે પાલિતાણા મોકલ્યા. દર્શનવિજયજીએ ત્યાં જઈ હઠીભાઈની ધર્મશાળામાં ચોમાસું કર્યું. સંઘના આગેવાનો તો યતિ પાસે જતા, પરંતુ યુવાનો તો સાધુઓની સમાચારીથી પ્રભાવિત થવા લાગ્યા.

તેઓ સાધુઓ પાસે આવવા લાગ્યા અને ધર્મની વાતો સાંભળવા લાગ્યા. યુવાનોમાં નગરશેઠના બે દીકરાઓએ તો પોતાની મેળે એવી પ્રતિજ્ઞા કરી કે રોજ જ્યાં સુધી સાધુભગવંતનાં દર્શન ન થાય ત્યાં સુધી ઘી ખાવું નહિ. સાધુઓ પાસે જનાર યુવકોની સંખ્યા દિવસે દિવસે વધતી જતી હતી. એટલે યતિઓએ નગરશેઠને તે અટકાવવા માટે આગ્રહ કર્યો. જે કોઈ જાય તે સંઘ બહાર થાય તેવો ઠરાવ કરવા પાણ કહ્યું. એ પ્રમાણે સંઘની સભા બોલાવી ઠરાવ કરી તેના ઉપર સહી લેવામાં આવી. કેટલાકે સહી કરી, કેટલાકે ન કરી. જેમાણે ન કરી તેમને થોડા દિવસની મુદત આપવામાં આવી. તે મુદતમાં સહી ન કરે તો સંઘ બહાર મૂકવાની ધમકી આપવામાં આવી. પરંતુ એથી પ્રશ્ન ઊકલ્યો નહિ. ખુદ નગરશેઠ હરખચંદ શેઠના ઘરે જ પ્રશ્ન ઊભો થયો, કારણ કે એમાણે દીકરાઓને સાધુ પાસે જતા અટકાવ્યા તો તેઓએ ઘી ખાવાનું અને કુટુંબના બધા સભ્યો સાથે જમવાનું બંધ કર્યું. આવી સ્થિતિ બીજાં કેટલાંક ઘરોમાં પાણ હતી. એથી મુદત પૂરી થયા પછી સંઘ ફરી જ્યારે મળ્યો ત્યારે નગરશેઠે ઠરાવ ફાટી નાખ્યો અને કહ્યું, દરેક પોતપોતાની મરજી મુજબ કરી શકે છે. જેને યતિ પાસે જવું હોય તે યતિ પાસે જાય અને સાધુ પાસે જવું હોય તે સાધુ પાસે જાય.

યતિઓ પાણ પરિસ્થિતિને પામી ગયા અને પોતાનો આગ્રહ છોડી દીધો, આ ઘટના પછી દર્શનવિજયજી મહારાજે વ્યાખ્યાન વાંચવાનું ચાલું કર્યું. એમાણે સમરાદિત્ય કેવળી ચરિત્રનો વિષય વ્યાખ્યાનમાં શરૂ કર્યો. દિવસે દિવસે વ્યાખ્યાનમાં શ્રાવકોની સંખ્યા વધતી ગઈ અને યતિઓ તરફથી કોઈ ત્રાસ ન થાય એ માટે ધર્મશાળાના વ્યવસ્થાપકોએ અને ગામના સશક્ત યુવકોએ સંગઠિત થઈને પાકી વ્યવસ્થા કરી. એ વર્ષથી પાલિતાણામાં સાધુઓના વ્યાખ્યાનની શરૂઆત થઈ અને યતિઓનું જોર નબળું પડ્યું.

ત્યારપછી મૂળચંદજી મહારાજ પાણ પાલિતાણા આવ્યા. તેઓ યુવાનોને શાસ્ત્રજ્ઞાન આપતા અને ભક્તિ સંગીત સહિત રાગ-રાગિણીમાં પૂજા ભાગાવવાનું શીખવતા. એ વખતે સંઘમાં હજુ પાણ કેટલાક લોકો યતિઓ પાસે જતા હતા. આમ સંઘમાં બે ભાગ પડી ગયા હતા. મૂળચંદજી મહારાજે પોતાના અનુયાયીઓ માટે સંઘ શબ્દ વાપરવામાં વ્યવહારુ મુશ્કેલીઓ જોઈ. એટલે એમાણે સંઘ ને બદલે ટોળી શબ્દ વાપર્યો અને પોતાને પક્ષે વધુ માણસો હતા એટલે ‘મોટી ટોળી’ એવો શબ્દ પ્રયોજ્યો અને એ વર્ષે શ્રી સિદ્ધક્ષેત્ર જૈન મોટી ટોળી ની સ્થાપના થઈ. (આ નામ આજે પાણ પાલિતાણાના સંઘ માટે ચાલુ છે. યતિઓમાં ભળેલા સમુદાય માટે ત્યારે નાની ટોળી એવો વપરાયેલો શબ્દ, તેઓ યતિઓમાંથી નીકળી ગયા પછી પાણ તેમને માટે ચાલુ રહ્યો છે. મોટી ટોળી સંગીત સાથે તાલબદ્ધ રીતે પૂજાઓ ભાગાવવા માટે પાલિતાણામાં આજે પાણ જાણીતી છે.)

કેટલાક માણસોને નિંદારસથી અને દોષદૃષ્ટિથી એક સાધુની વાત બીજા સાધુને અને બીજા સાધુની વાત ત્રીજા સાધુને કરવાની ટેવ હોય છે. તેવો એક માણસ એક દિવસ મૂળચંદજી મહારાજ પાસે આવ્યો અને કહ્યું, ‘ગુરુ મહારાજ ! આપ હલે જઈ આવ્યા પછી કેટલું ઓછું પાણી વાપરો છો.

જ્યારે વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ તો કેટલું બધું પાણી વાપરે છે.’

મૂળચંદ્રજી મહારાજ એ વ્યક્તિને જાણતા હતા અને વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ સાથે વિસંવાદ કરાવવા માટે આવું તે બોલ્યો હતો એ તેઓ તરત સમજી ગયા. એમણે તેને સમજાવીને કહ્યું, ‘ભાઈ, પૂર્વના પહેલા સંસ્કારો જલદી જતા નથી. ગયા જન્મમાં વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ બ્રાહ્મણ હતા. હું મુસલમાન હતો અને તું ચમાર હતો. વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ બ્રાહ્મણ હતા. એટલે પાણી બહુ વાપરે એ દેખીતું છે, કારણ કે કહેવત છે કે ભેંસ, બ્રાહ્મણ ને ભાજી, પાણી જેઈ થાય રાજી. ગયા જન્મમાં હું મુસલમાન હતો. મુસલમાનો અઠવાડિયે એક દિવસ, જુમ્માના દિવસે ઓછા પાણીથી નહાય. એટલે હું ઓછું પાણી વાપરું તે યોગ્ય છે. અને ગયા જન્મમાં તું ચમાર હતો. ચામડા ચૂંથવાનું કામ તું કર્યા કરતો હતો. એટલે આ જન્મમાં પણ તું બધાના આત્મા સામે નહિ, પરંતુ શરીરની ચામડી સામે જોવા કરે છે. બધાંની ચામડીના દુર્ગુણો તને દેખાય છે. તું ચમાર હતો. એટલે તારામાં દોષદષ્ટિ આવે એ સ્વાભાવિક છે.’ આમ કલ્પિત વાત કરીને મૂળચંદ્રજી મહારાજે એ માણસને યુક્તિપૂર્વક ચમાર જેવો કહ્યો. ત્યારથી એ માણસ સાધુઓના દોષ જોતો બંધ થયો.

અમદાવાદના નગરશેઠ પ્રેમાભાઈ ને રોજનો નિયમ હતો કે ઘરેથી પાલખીમાં ઉપાશ્રયે આવી સામાયિક લઈ વ્યાખ્યાન સાંભળવા બેસે અને વ્યાખ્યાન પૂરું સાંભળે. એક વખત પ્રેમાભાઈ શેઠે કોઈકને મોકલે કહ્યું કે આપણો વેપારીઓનો સમય તો બજારમાં ક્યાં ચાલ્યો જાય તેની ખબર પડે નહિ, પરંતુ આપણા જૈન સાધુઓ આખો દિવસ ઉપાશ્રયમાં બેસીને શું કરતા હશે ? એમનો સમય કેમ કરીને પસાર થતો હશે ? તેમને કંટાળો નહિ આવતો હોય ?

પ્રેમાભાઈ શેઠે કરેલી આ ટીકા ફરતી ફરતી મૂળચંદ્રજી મહારાજને કાને આવી. એમને એમ લાગ્યું કે પ્રેમાભાઈ શેઠને આ ટીકાનો જવાબ યુક્તિથી આપવો જોઈશે. એક દિવસ એમણે પોતાના શિષ્યોને સૂચના આપી કે આજે મારું વ્યાખ્યાન ગમે તેટલું મોડે સુધી ચાલે તો પણ તમે મને સમયની યાદ અપાવતા નહિ. પછી એ દિવસે એમને વ્યાખ્યાનમાં અધ્યાત્મનો એવો સરસ વિષય વિવિધ દૃષ્ટાંતો સાથે ચાલુ કર્યો અને ત્રણ સામાયિક કરતાં પણ વધુ સમય એ વિષય ચલાવ્યો. પ્રેમાભાઈ શેઠ અને બીજા બધા શ્રોતાઓ તો તહીન બનીને સાંભળી જ રહ્યા હતા.

વ્યાખ્યાન પૂરું થયું ત્યારે પ્રેમાભાઈ શેઠને ખબર પડી કે આજે તો એક નહિ પણ ત્રણ સામાયિક જેટલો સમય પસાર થઈ ગયો હતો. એમણે મહારાજને કહ્યું, ‘ગુરુ મહારાજ ! અધ્યાત્મની વાતોમાં આજે તો એટલો બધો રસ પડ્યો કે સમય ક્યાં પસાર થઈ ગયો તેની ખબર જ ન પડી.’ મૂળચંદ્રજી મહારાજે કહ્યું, ‘પ્રેમાભાઈ, તમે તો કોઈક જ દિવસ આવી અધ્યાત્મની ઊંડી વાતમાં રસ લેનારા છો, પરંતુ અમે સાધુઓ તો અધ્યાત્મની આવી વાતોમાં દિવસ-રાત રસ લેનારા રહ્યા. અમારો સમય ક્યાં પસાર થઈ જાય તેની ખબર જ ન પડે. ઊલટું અમને તો આવી વાતોમાં દિવસ-રાત વીતી જાય તો પણ સમય ઓછો પડે.’

ગુરુ મહારાજનો આ જવાબ સાંભળી પ્રેમાભાઈ સમજી ગયા કે ગુરુ મહારાજે આજે વ્યાખ્યાન શા માટે વધુ સમય ચલાવ્યું હતું. અગાઉ બીજા આગળ પોતે કરેલી અજ્ઞાનયુક્ત ટીકા માટે પશ્ચાત્તાપ થયો અને તે માટે તેમણે મૂળચંદ્રજી મહારાજની ક્ષમા માગી.

એક વખત પ્રેમાભાઈ શેઠના વડે વૈષ્ણવોની નવનાત મળી હતી. તે વખતે નાતના એક-બે આગેવાનોએ જૈન સાધુઓના આચાર વિશેના પોતાના અજ્ઞાનને કારણે મજાક કરતાં કહ્યું કે જૈન સાધુઓને ખાવાપીવાની કોઈ ચિંતા નહિ. રોજ મિષ્ટાન્ન મળે. અને સારું સારું ખાઈને લહેર કરે. એ ટીકા પ્રેમાભાઈએ સાંભળી. એમણે મૂળચંદ્રજી મહારાજને તે કહી. એટલે મહારાજે કહ્યું કે, ફરી વૈષ્ણવોની નવ ન્યાત મળે ત્યારે મને જાણાવજો. કેટલાક દિવસ પછી પ્રેમાભાઈના વડે વૈષ્ણવોની નવનાત ફરી એકઠી થઈ. પ્રેમાભાઈ એ એ વાત મહારાજને જાણાવી. એટલે તેઓ મધ્યાહ્નના સમયે એક તરપણી લઈને તરત વહોરવા નીકળ્યા અને વડે જઈ પ્રેમાભાઈને ધર્મલાભ કહ્યું. મહારાજ વહોરવા પધાર્યા છે એમ જાણી પ્રેમાભાઈ સભામાંથી તરત ઊભા થઈ ગયા અને ગુરુમહારાજને રસોડે લઈ ગયા. બે-ત્રણ મિનિટોમાં જ મહારાજ પાછા ફર્યા અને પ્રેમાભાઈ શેઠ તરત પાછા આવીને ન્યાતના આગેવાનો પાસે બેઠા. કોઈકે કુતૂહલથી પૂછ્યું, તમારા મહારાજ વહોરવા પધાર્યા અને બસ બે મિનિટમાં જ પાછા ફર્યા ? પ્રેમાભાઈએ કહ્યું, હા, એમને માત્ર ચપટી મીઠાનો જ ખપ હતો, એટલે તે વહોરીને પાછા ગયા. એ જાણી આગેવાનો બોલ્યા, ઓહો ! એક ચપટી મીઠા માટે તમારા મહારાજ ભરઉનાળામાં આ વેળાએ ઉઘાડા પગે કેટલે દૂરથી વહોરવા પધાર્યા ? શું એટલું મીઠું એમની પાસે નહોતું ? પ્રેમાભાઈએ કહ્યું, અમારા જૈન સાધુઓ કશી જ ખાદ્ય વાનગી પોતાની પાસે વધુ સમય રાખી ન શકે. દરેક ટીકે વહોરી લાવીને તે વાપરી લેવી પડે. ઘણાખરા મહાત્માઓ તો દિવસમાં એક જ વખત આહાર કરે અને કેટલાયને તો ઘી-દૂધ-દહીં-મીઠાઈ વગેરેની યાવત જીવન બાધા હોય. સૂર્યાસ્તથી બીજા દિવસે સૂર્યોદય સુધી કોઈ પાણીનું ટીપું સુધ્ધાં મુખમાં નાખે નહિ.

પ્રેમાભાઈની આ વાત સાંભળી જૈન સાધુઓના આચાર વિશે નહિ જાણનાર અજ્ઞેન લોકોને આશ્ચર્ય થયું. જૈન સાધુઓ માલ-પાણી ઉડાવીને લહેર કરે છે એવી ટીકા કરનારા વૈષ્ણવ આગેવાનોએ પોતાની અજ્ઞાનયુક્ત ટીકા માટે ક્ષમા માગી.

આમ, મૂળચંદ્રજી મહારાજના વ્યક્તિત્વ અને ચારિત્રપાલન ઉપર પ્રકાશ પાડનારા ઘણા પ્રસંગો છે.

મૂળચંદ્રજી મહારાજે વિ.સં. ૧૮૪૪ નું ચોમાસું પાલિતાણામાં શત્રુંજય ગિરિરાજની છાયામાં કર્યું. અહીં તેમની તબિયત બગડવા લાગી હતી. પગમાં જે ફોહો ઊઠ્યો હતો તે મટતો ન હતો. છાતીમાં પણ દરદ થતું હતું. ઉપચારો કરવા છતાં આરામ થતો ન હતો. એટલે એમને ચાતુર્માસ પછી પાલિતાણાથી ભાવનગર પધારવા માટે વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજે વિનંતી કરી હતી. તે પ્રમાણે વિનંતી કરવા ભાવનગર સંઘના આગેવાનો પાલિતાણા પહોંચ્યા હતા. મહારાજશ્રી શિષ્યપરિવાર સાથે ભાવનગર પધાર્યા. વૈદોએ જુદા જુદા ઉપચારો કર્યા, પરંતુ ખાસ ફરક પડ્યો નહિ. અશક્તિ

દિવસે દિવસે વધવા લાગી. વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ ખડે પગે તેમની વૈયાવચ્ચ કરવા લાગ્યા. સં. ૧૯૪૫ ના માગસર વદ-૬ (મારવાડી મિતિ પોષ વદ ૬) ના દિવસે મૂળચંદ્રજી મહારાજની તબિયત વધારે બગડી. તેઓ પોતાનો અંતિમ સમય પારખી ગયા અને અનશન સ્વીકારી લીધું. તેઓ બોલ્યા

भाई वृद्धिचन्द्रजी ! अब तो हम चले । सबको सम्हालना हम जिन शासनकी प्रभावना उपासना जो कुछ बन पडी, सो कर ली अब तुम ही सब सम्हालना बस ! नमो अरिहंताणम् ॥

બપોરે ત્રણ કલાક અને વીસ મિનિટના સમયે એમણે ૫૯ વર્ષની વયે દેહ છોડ્યો. ભાવનગરના સંઘે દાદાસાહેબના કમ્પાઉન્ડમાં તેમના પાર્થિવ શરીરનો અગ્નિસંસ્કાર કર્યો. જૈન સંઘના એક મહાન યુગપ્રભાવક મહાત્મા સ્વર્ગે સીધાવ્યા. દાદાસાહેબના કમ્પાઉન્ડમાં એમના અગ્નિસંસ્કારના સ્થળે ત્યારપછી સમાધિ મંદિર બાંધવામાં આવ્યું.

મુક્તિવિજયજી ગણિવર્ષને એટલે કે મૂળચંદ્રજી મહારાજને ગચ્છાધિરાજ તરીકે તથા વીસમી સદીના જૈન શાસનના રાજ તરીકે ઓળખાવવામાં આવતા હતા. એમના કાળધર્મ વખતે વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ બોલી ઊઠ્યા કે મારું તો છત્ર ગયું છે. એ વખતે આત્મારામજી મહારાજ રાધનપુરમાં હતા. કાળધર્મના સમાચાર સાંભળતાં જ તેમણે પોતાના સાધુઓને ગંભીર સ્વર કહ્યું,

साधुओ, शासन का सम्राट चला गया। वे बड़े थे, बड़े गंभीर गुणज्ञ और समयज्ञ थे ।

इनमें शासनके नेता बनने के गुण थे और वो ही शासन के सच्चे शिरताज थे ।

મુક્તિવિજયજી (મૂળચંદ્રજી) મહારાજને અંજલિ આપતાં કેટલાંક ગીતો લખાયાં છે. એમાંથી થોડીક પંક્તિઓ જુઓ

जय मुक्तिविजय गणि मडाराज,

जय मूलचंद्र गणि मडाराज,

जय तपागच्छक नायक ताज,

शासन सम्राट गुरुराज.



મહાવીર વચન કે સુભટ થે,

महाह जिन शासन नैयाका,

चारित्र सुदर्शन गुगु भडे ऐसे,

गुरुदेवको वंदन डो !

તેમને અંજલિ આપતાં શ્રી દર્શનવિજયજી (ત્રિપુટી) મહારાજે લખ્યું છે :

“गुरु ब्रह्मचारी धर्मधोरी महावती गुगुपावना
पंजबपाणी सकलवाणी महाज्ञानी शुभमना
श्री जैनशासन ऐकछत्र सुराज्य शासक मंडना,
ते मुक्तिविजय गणींद्र गुरुनां चराणोमां डो वंदना.”

(૩)

શ્રી વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ

પોતાના ગુરુવર્ય શ્રી બુટેરાયજી મહારાજ તથા ગુરુબંધુ શ્રી મૂળચંદ્રજી મહારાજ સાથે પંજબથી ગુજરાતમાં આવીને સ્વ. પૂ. શ્રી વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજે જે ભગીરથ કાર્ય કર્યું તેનો ઈતિહાસ ભવ્ય છે.

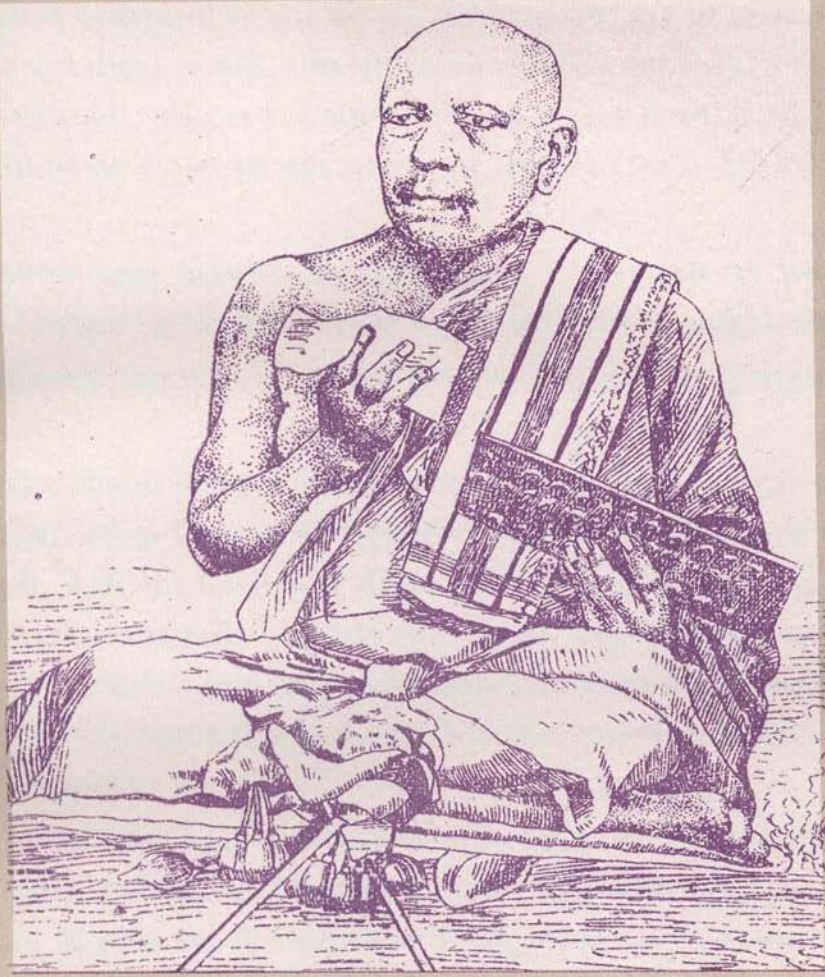
શ્રી વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજનો જન્મ પંજબમાં ગુજરાનવાલા જિલ્લામાં રામનગર નામના શહેરમાં વિ. સં. ૧૮૯૦ ના પોષ સુદ ૧૧ના રોજ થયો હતો. માતાપિતાએ એમનું નામ કૃપારામ રાખ્યું હતું. એમના પિતાનું નામ હતું લાલા ધર્મચંદ્રજી અને માતાનું નામ હતું કૃષ્ણાદેવી. તેઓ વીસા ઓસવાલ જ્ઞાતિના, ભાવડા વંશના અને ગદહિયા ગોત્રના જૈન હતા.

કૃપારામને ચાર ભાઈઓ અને એક બહેન હતાં. ભાઈઓનાં નામ હતાં (૧) લાલચંદ, (૨) મુસદ્દીલાલ, (૩) હજીરીમલ અને (૪) હેમરાજ. બહેનનું નામ હતું રાધાદેવી.

લાલા ધર્મચંદ્રજી સુખી શ્રીમંત હતા. તેમનો વેપાર સોનાચાંદીનો, કાપડનો અને શરાફીનો હતો. શહેરમાં તેમની મોટી દુકાન હતી. કૃપારામે ગામની શાળામાં અભ્યાસ કર્યો અને ચૌદ વર્ષની ઉંમર થતાં પિતાની દુકાને સોનાચાંદીના વેપારમાં જોડાઈ ગયા હતા. એ દિવસોમાં નાની ઉંમરમાં લગ્ન થતાં. કૃપારામના મોટા ભાઈઓનાં લગ્ન થઈ ગયાં હતાં. ત્યારપછી કૃપારામની સગાઈ કરવામાં આવી હતી. પરંતુ કોઈક કારણસર એ સગાઈ તૂટી ગઈ હતી. એટલે એમની બીજી સગાઈ કરવા માટે માતાપિતા વાતચીત ચલાવી રહ્યાં હતાં.

પરંતુ કૃપારામનો જીવનનો રાહ કંઈ જુદો જ હતો. એ દિવસોમાં રામનગરમાં પૂજ્ય બુટેરાયજી મહારાજનું ચોમાસું હતું. એમની સાથે એમના શિષ્ય મૂળચંદ્રજી મહારાજ પણ હતા. મૂળચંદ્રજી પંજબના એ પ્રદેશમાં એ કાળે લુકાપંથી સ્થાનકવાસી સાધુ, ઢુંઢક રીખી (જ્ઞપિ) હતા. ધર્મચંદ્રજીનું કુટુંબ એમની મધુર વાણી સાંભળવા ઉપાશ્રયે જતું. કિશોર કૃપારામ ઉપર એની ઘણી પ્રબળ અસર પડી. એમણે પોતાની સગાઈ કરવાનો માતાપિતાને ઈન્કાર કરી દીધો અને પોતાને દીક્ષા લેવાનો ભાવ થયો છે એમ જણાવ્યું. આથી માતાપિતા, ભાઈભાંડુઓ ચિંતામાં પડી ગયાં. તેઓ કૃપારામને ઉપાશ્રયે જતા અટકાવવા લાગ્યાં, એટલે લાગ જોઈ ઉપાશ્રયે જઈ ત્યાં જ દિવસ-રાત રહેવાનું કૃપારામે ચાલુ કર્યું. માતા-પિતાએ કૃપારામને શ્રીમંત સુખી ઘરની સગવડો, કૌટુંબિક જીવનનો આનંદ, સાધુપણાનાં કષ્ટો વગેરે સમજાવવા માંડ્યાં. પણ કૃપારામ તો હક લઈને બેઠા હતા કે પોતાને દીક્ષા જ લેવી છે.

ચાતુર્માસ પછી બુટેરાયજી મહારાજ તો વિહાર કરીને ચાલ્યા ગયા. તાર-ટપાલ કે રેલવે વગરના એ દિવસોમાં એમનો સંપર્ક રાખવાનું સહેલું નહોતું. પરંતુ કૃપારામે તો દીક્ષા લેવાની જ વાત કર્યા



मुनिराजश्री वृद्धिचंद्रजी महाराज

કરી. એથી પિતાજી તથા મોટા ભાઈઓ એમને વારંવાર ધમકાવવા લાગ્યા. ક્યારેક મારવા લાગ્યા. તેમ છતાં તેની કાંઈ અસર ન થઈ. કૃપારામ માન્યા નહિ. આથી કોથે ભરાયેલા ભાઈઓએ શહેરના તહસિલદાર હાકિમ પાસે જઈને ફરિયાદ કરી. શહેરના શ્રીમંત વેપારી એટલે તરત ફરિયાદની અસર થઈ. તહસિલદાર શેખ જાતિનો મુસલમાન હતો. આગે સિપાઈઓને મોકલ્યા. કૃપારામને પકડી લાવીને કચેરીમાં પૂરવામાં આવ્યા. તહસિલદારે પણ કૃપારામને ધમકાવ્યા, સતાવ્યા, પણ કૃપારામે એમની સાથે સંસારની અસારતાની જ વાત કરી અને પોતે દીક્ષા લેવા માટે પ્રતિજ્ઞાબદ્ધ છે એમ કહ્યું. છેવટે તહસિલદાર પણ થાક્યા. એમણે લાલા ધર્મચશજીને બોલાવીને કહ્યું કે તમારો દીકરો કોઈ પણ રીતે માનશે નહિ. સંસારની અસારતા એને સમજાઈ છે. વૈરાગ્ય એના દિલમાં સાચી રીતે વસ્યો છે. દીક્ષા લેવાનો એનો નિર્ધાર છે. એ લજ્જ નહિ જ કરે. માટે તમે એને દીક્ષા લેવાની રજા આપો એ જ બરાબર છે.

આ રીતે સમજાવવામાં, ધાકધમકી આપવામાં, હેરાન કરવામાં ત્રણ વર્ષ પસાર થઈ ગયાં. છેવટે માતાપિતાને લાગ્યું કે દીકરાને દીક્ષા આપવી જ પડશે એટલે તેઓએ નાદૂટકે સંમતિ આપી.

તે વખતે બુટરાયજી મહારાજ વિહાર કરીને દિલ્હી પહોંચ્યા હતા. તેમનું ચાતુર્માસ દિલ્હીમાં હતું.

કૃપારામને દીક્ષા લેવાની સંમતિ મળી એટલે એમના એક અજ્ઞેન મિત્ર અરોડા જાતિના યુવાન જીવનમલે પણ દીક્ષા લેવાનો વિચાર કર્યો. આગે પણ દીક્ષા માટે માતાપિતા પાસે ઘણી મહેનત પછી સંમતિ મેળવી. તેઓ બંને દિલ્હી જવા નીકળ્યા. એ દિવસોમાં ત્યાં રેલવે નહોતી. પ્રવાસનાં ખાસ સાધનો નહોતાં. બજાદગાડી અને ઘોડા ઉપર પ્રવાસ થતો. કૃપારામને માતાપિતા અને કુટુંબીજનોએ ભારે હેયે વિદાય આપી. તેમની સાથે માસીના દીકરા તથા એક નોકરને મોકલ્યા. વળી બુટરાયજી મહારાજને ભલામણચિઠ્ઠી લખી કે હાલ કૃપારામને ગૃહસ્થવેશે અભ્યાસ કરાવજો અને ચાતુર્માસ પછી દીક્ષા આપજો.

કૃપારામ અને જીવનમલ દિલ્હી આવી પહોંચ્યા. બુટરાયજી મહારાજ પાસે અભ્યાસ ચાલુ કર્યો. એમ કરતાં દોઢ મહિનો થઈ ગયો. હવે ચાતુર્માસ શરૂ થવાને થોડા દિવસ હતા. કૃપારામનો વૈરાગ્ય એટલો તીવ્ર હતો કે ચાતુર્માસ પહેલાં દીક્ષા લેવાનો તેમણે આગ્રહ રાખ્યો, કારણ કે ચાતુર્માસમાં દીક્ષા અપાય નહિ. વળી ચાર મહિનામાં સંજોગો કેવા બદલાઈ જાય એની શી ખબર પડે ? એટલે અવસર બરાબર જાણી લઈ તથા બંને યુવાનોના વૈરાગ્યના ભાવની બરાબર કસોટી કરીને ગુરુમહારાજે ચાતુર્માસ બેસતાં પહેલાં અષાઢ સુદ ૧૩, સં. ૧૯૦૮ ના રોજ તેઓ બંનેને દીક્ષા આપી. કૃપારામનું નામ મુનિ વૃદ્ધિચંદ્રજી રાખવામાં આવ્યું અને જીવનમલનું નામ મુનિ આનંદચંદ્રજી રાખવામાં આવ્યું.

ચાતુર્માસ પહેલાં દીક્ષા આપવામાં આવી એ સારું જ થયું, કારણ કે દીક્ષા પછી થોડા દિવસે

રામનગરથી કૃપારામને તેડી જવા માટે પિતાશ્રીનો માગસ આવ્યો હતો, કારણ કે કૃપારામના એક ભાઈનું અવસાન થયું હતું. દીક્ષા સમયસર લેવાઈ ગઈ એથી મુનિ વૃદ્ધિચંદ્રજીને બહુ આનંદ થયો.

દિલ્હીથી વિહાર કરી બુટરાયજી મહારાજ પોતાના શિષ્યો સાથે જયપુર પધાર્યા. એમની ભાવના ગુજરાત બાજુ વિહાર કરવાની હતી. વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજે સં. ૧૯૦૯ નું ચાતુર્માસ ગુરુ મહારાજ સાથે જયપુરમાં કર્યું હતું. સાથે મુનિ મૂલચંદજી, મુનિ પ્રેમચંદજી તથા મુનિ આનંદચંદજી મહારાજ પણ હતા. આ ચાતુર્માસમાં અભ્યાસનો વિશેષ લાભ થયો કારણ કે જયપુરમાં હીરાચંદજી નામના એક વિદ્વાન યતિ હતા. વૃદ્ધિચંદ્રજીને જોતાં જ તેમને તેમના ઉપર પ્રીતિ થઈ હતી. તેમણે વૃદ્ધિચંદ્રજીને સંસ્કૃત-પ્રાકૃતમાં વ્યાકરણ ભણાવવાનું તથા બીજા કેટલાક ગ્રંથોનો અભ્યાસ કરાવવાનું ઉત્સાહથી સ્વીકાર્યું. વૃદ્ધિચંદ્રજીની સાથે અન્ય મુનિઓને પણ આ લાભ મળ્યો.

જયપુરમાં હતા ત્યારે ગુરુ મહારાજ ત્રણે શિષ્યો અને કેટલાક શ્રાવકો સાથે પાસે સાંગનેરમાં દર્શન કરવા ગયા હતા. રસ્તામાં નદી આવતી હતી તે પાર કરવાની હતી. જતાં તો તેઓ પહોંચી ગયા, પરંતુ બુટરાયજી મહારાજને પગને તળિયે ફોલા ઉપડી આવ્યા. હવે ચલાતું બંધ થઈ ગયું. એટલે તેઓને રાત્રિવાસ ત્યાં જ રહેવું પડ્યું. પરંતુ દર્દ જેટલું શમવું જોઈએ તેટલું શમ્યું નહિ. બીજે દિવસે પાછા ફરતાં ગુરુ મહારાજથી ચલાતું નહોતું. ટેકો લઈને થોડું ચાલતા, થોડો આરામ કરતા, પરંતુ નદીના કાંઠાનો પ્રદેશ આવ્યો ત્યાં તો ચાલવું અશક્ય થઈ ગયું હતું. એ વખતે વૃદ્ધિચંદ્રજીએ ગુરુ મહારાજને પોતાના ખભે ઊંચકી લીધા. બીજા શ્રાવકોએ પણ તેમાં મદદ કરી. પણ સૌથી વધુ જહેમત તો વૃદ્ધિચંદ્રજીએ ઉઠાવી હતી.

જયપુરમાં ચાતુર્માસ પછી ગુરુ મહારાજ સાથે વિહાર કરી તેઓ કિશનગઢ પધાર્યા. ત્યાંથી અજમેર પધાર્યા. તે વખતે તેઓની હવે જિનપ્રતિમામાં શ્રદ્ધા દઢ થઈ હતી એટલે શત્રુંજય તીર્થની યાત્રા કરવાની અભિલાષા જાગી. દરમિયાન બિકાનેરના શ્રાવકો ચાતુર્માસ માટે વિનંતી કરવા આવ્યા હતા. ચાતુર્માસ પછી શત્રુંજયની યાત્રા માટે તરત વિહાર કરવો હતો પણ આ વર્ષે વૃદ્ધિચંદ્રજીને પગે વાનું સખત દર્દ ચાલુ થયું હતું, એટલે તેઓ બહુ લાંબો વિહાર કરી શકતા નહિ. એટલે તેઓ ગુરુ મહારાજ સાથે બિકાનેર પધાર્યા. મૂલચંદજી મહારાજનું જંઘાબળ સાડું હતું એટલે તેઓ લાંબા વિહાર કરી શકતા. તેમણે ગુરુ મહારાજની આજ્ઞા લઈ સીધો પાલિતાણા તરફ વિહાર ચાલુ કર્યો અને ત્યાં પહોંચી શત્રુંજય મહાતીર્થની યાત્રા કરી ચાતુર્માસ ત્યાં જ કર્યું. મુનિ પ્રેમચંદજી અને મુનિ આનંદચંદજીએ ગુરુમહારાજની આજ્ઞા લઈ પોતપોતાનો સ્વતંત્ર વિહાર કરી અન્યત્ર ચોમાસું કર્યું.

બિકાનેરના ચાતુર્માસ દરમિયાન મુનિ વૃદ્ધિચંદ્રજીએ ગુરુ મહારાજ પાસે શાસ્ત્રોનો ગહન અભ્યાસ કર્યો, પરંતુ અહીં ખરતગચ્છના યતિઓનું વર્ચસ્વ વધારે હતું. શ્રાવકોની ક્રિયાવિધિ પણ જુદી હતી. એટલે તેઓ પોતાની ઢુંઢક સમાચારીમાં પણ થોડો થોડો ફેરફાર કરતા રહ્યા હતા.

મિકાનેરમાં હતા ત્યારે અજમેરના સંઘનો બુટેરાયજી મહારાજ ઉપર પત્ર આવ્યો કે અજમેરમાં હુંડીઆના પૂજ્ય રતનચંદ્રજી આપની સાથે મૂર્તિપૂજા વિશે શાસ્ત્રાર્થ કરવા માગે છે. બુટેરાયજી તો એ માટે સજ્જ જ હતા. તરત તેઓ વૃદ્ધિચંદ્રજી સાથે ત્યાંથી વિહાર કરી અજમેર પહોંચ્યા. રતનચંદ્રજીએ તેરાપંથનું ખંડન કરતી એક પ્રત લખી હતી. રસ્તામાં બુટેરાયજીને એ પ્રત મળી. તે વાંચતાં જ લાગ્યું કે રતનચંદ્રજીનાં વાક્યોથી જ મૂર્તિપૂજા સિદ્ધ થઈ શકે એમ છે. પરંતુ તેઓ અજમેર પહોંચ્યા ત્યારે આશ્ચર્ય સાથે જાણ્યું કે રતનચંદ્રજી ત્યાંથી ચૂપચાપ નીકળીને બીજે ચાલ્યા ગયા હતા. આમ અજમેર આવવાનું પ્રયોજન ન સર્વું. પરંતુ એથી બીજે એક લાભ થયો. તેઓની ઈચ્છા સિદ્ધાચલજીની યાત્રાએ જવાની હતી. વિહાર લાંબો અને કઠિન હતો. માર્ગમાં શ્રાવકોનાં ઘર ઓછાં આવતાં. એવામાં અજમેરથી કેસરિયાજીનો એક સંઘ નીકળતો હતો. તેઓએ બુટેરાયજી અને વૃદ્ધિચંદ્રજીને જોડાવા વિનંતી કરી એટલે તેઓ તેમાં જોડાઈ ગયા. તેઓએ સંઘ સાથે પ્રયાણ કર્યું. એટલે વિહાર-ગોચરી વગેરેની અનુકૂળતા પ્રાપ્ત થઈ. તે વખતે ગુજરાતમાં પ્રાંતિજથી કેસરિયાજી આવેલો એક સંઘ પાછો ફરી રહ્યો હતો. સંઘપતિએ વિનંતી કરી એનો સ્વીકાર કરી બુટેરાયજી મહારાજ તથા વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ સંઘ સાથે જોડાઈ ગયા એટલે ગુજરાત સુધીનો વિહાર કરી, તેઓ બંને અમદાવાદ પહોંચ્યા અને શહેર બહાર શેઠ હઠીસિંહની વાડીએ ઊતર્યાં.

તે વખતે દેરાસરના દર્શને આવેલા નગરશેઠ હેમાભાઈએ રસ્તામાં તેમને જોયા. કોઈ સાધુઓ આવ્યા હશે એમ માની વંદન કરી શહેરમાં ઉપાશ્રય તરફ જતા હતા ત્યાં એમને થયું કે સાધુઓ ગુજરાતી જેવા નથી. વળી અજમેરના એક વેપારીની પેઠી અમદાવાદમાં હતી ત્યાં સંદેશો આવ્યો હતો કે બે પંજબી સાધુઓ ગુજરાત તરફ આવી રહ્યા છે અને તેઓ બહુ વિદ્વાન, ગુણવાન, ચારિત્રશીલ અને પરિચય કરવા જેવા છે. એ વાત શેઠ હેમાભાઈએ સાંભળી હતી એટલે રસ્તામાં જ એમને થયું કે આ એ બે પંજબી સાધુઓ તો નહિ હોય ને ! તરત ડેલાના ઉપાશ્રયે આવીને તેઓ ગણિ સૌભાગ્યવિજયના વ્યાખ્યાનમાં બેઠા. તે દરમિયાન સૌભાગ્યવિજયજીને એ બે સાધુઓની વાત કરી. તરત તેમને તેડવા માગસ મોકલાયો. બુટેરાયજી મહારાજ તથા વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ ડેલાના ઉપાશ્રયે આવી પહોંચ્યા. તેમનો પરિચય થતાં સૌભાગ્યવિજયજી બહુ આનંદિત થયા. બીજી બાજુ ગુજરાતમાં આવા સંવેગી સાધુઓનાં દર્શન થતાં બુટેરાયજી અને વૃદ્ધિચંદ્રજીને પણ બહુ હર્ષ થયો.

તેઓ થોડા દિવસ અમદાવાદમાં રહ્યા. ત્યાં વાત સાંભળી કે કેશરીચંદ ગટા નામના એક શ્રેષ્ઠી અમદાવાદથી સિદ્ધાચલનો સંઘ લઈ જાય છે. આ બે પંજબી સાધુઓએ સિદ્ધાચલજીની યાત્રા કરવાની પોતાની ભાવના દર્શાવેલી હતી. એટલે શેઠ હેમાભાઈએ કેશરીચંદને ભલામણ કરી કે આ બે સાધુઓને પણ સાથે લઈ લેવામાં આવે. કેશરીચંદ કહ્યું કે, હા, જરૂર અમે એમને સંઘમાં સાથે લઈ લઈશું. પરંતુ અમારા સંઘમાં બધા યુવાનો છે અને જે વૃદ્ધો છે તેમને માટે ગાડાંની વ્યવસ્થા છે. અમે આઠ દિવસમાં ઝડપથી ત્યાં પહોંચવાના છીએ. બુટેરાયજી ઉંમરલાયક છે. વળી લાંબો વિહાર કરીને

આવ્યા છે માટે તેમને માટે ડોળીની વ્યવસ્થા કરીશું.

પરંતુ બુદેરાયજીએ ડોળીનો ઉપયોગ કરવાની ના પાડી અને પોતે લાંબા વિહાર કરશે એમ જાણાવ્યું. તેઓ બંને સંઘ સાથે જોડાઈ ગયા અને ચૈત્ર સુદ તેરસે પાલિતાણા પહોંચ્યા. વૃદ્ધિચંદ્રજીને પગે વાની તકલીફ હતી છતાં તે સહન કરીને પાણ તેઓ સહુની સાથે પાલિતાણા પહોંચી ગયા, એટલું જ નહિ પાણ સિદ્ધાચલજીની યાત્રાનું વર્ષોનું સ્વપ્ન સાકાર થતું હતું એટલે પાલિતાણા પહોંચીને બીજે દિવસે ચૈત્ર સુદ ચૌદસે સવારે જ ડુંગર ચડીને જત્રા કરી. આદીશ્વર દાદાનાં દર્શન કરી બંનેનાં હૃદય હર્ષથી ગદ્ગદ થઈ ગયાં. બીજે દિવસે તેઓએ ફરીથી ડુંગર ચડીને ચૈત્રી પૂનમની પાણ જત્રા કરી.

પાલિતાણામાં મૂળચંદ્રજી મહારાજ આવીને જુદી જુદી ધર્મશાળામાં ડીતર્યા હતા. હવે બુદેરાયજી મહારાજ અને વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ આવી પહોંચતાં ગુરુશિષ્યો એક વર્ષ પછી પાછા એકત્ર થયા. પાલિતાણામાં હતા ત્યાં સુધી જ્યારે જ્યારે અનુકૂળતા મળી ત્યારે ત્યારે તેઓ ડુંગર ચડીને જત્રા કરી આવતા.

તેઓ ચૈત્ર-વૈશાખ પાલિતાણામાં રોકાયા, પાણ ત્યાં યતિઓનું જોર હતું. એટલે ચાતુર્માસ બીજે કરવું હતું. એ માટે બુદેરાયજી મહારાજે વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજને આસપાસનાં ક્ષેત્રોમાં તપાસ કરવા મોકલ્યા. વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ તળાજા, મહુવા, ત્રાપજ, ધોધા, સાવરકુંડલા વગેરે સ્થળે વિહાર કરીને પછી ભાવનગર આવ્યા. અન્ય ક્ષેત્રો કરતાં ભાવનગરનું ક્ષેત્ર એમને વધુ અનુકૂળ લાગ્યું. મોટું શહેર હતું. જૈનોની વસતી સારી હતી. લોકો ધર્માનુરાગી હતા. અલબત્ત યતિ-ગોરજીને વધારે માનનારા હતા. પરંતુ વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજના પરિચયમાં આવ્યા પછી શ્રાવકોએ તેમને અને બુદેરાયજી મહારાજને ચાતુર્માસ માટે પધારવા આગ્રહપૂર્વક વિનંતી કરી. એટલે સં. ૧૯૧૧ નું ચાતુર્માસ બુદેરાયજી મહારાજે પોતાના બે શિષ્યો વૃદ્ધિચંદ્રજી અને પ્રેમચંદ્રજી સાથે ભાવનગરમાં કર્યું. મૂળચંદ્રજી મહારાજ પાલિતાણામાં યતિ અખેચંદ્રજી પાસે અભ્યાસ કરવા માટે રોકાયા.

ભાવનગરના ચાતુર્માસમાં શ્રાવકો ઉપર તેઓની ઘણી મોટી અસર પડી. તેઓના ચુસ્ત સંયમપાલન અને શાસ્ત્રજ્ઞાન માટે લોકોને બહુ આદર થયો. બુદેરાયજી મહારાજનું વ્યાખ્યાન તો સરસ રહેતું, પાણ પછીથી લોકો વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજને વધુ મળવા આવતા. કુદરતી રીતે એમણે લોકોનાં દિલ જીતી લીધાં હતાં. એમની વાતચીતની અને પ્રકૃતિની સરળતાથી, સાચા વૈરાગ્યથી, ક્રુણાદૃષ્ટિથી, તર્કયુક્ત રીતે સમજાવવાની શૈલીથી તેમજ મધુર ભાષાથી મળવા આવનારા લોકાનું એમના પ્રત્યેનું આકર્ષણ ઘણું વધી ગયું. એમને પાંચદસ મિનિટ મળવા આવેલા લોકો કલાક સુધી ખસતા નહિ. જ્યારે જુઓ ત્યારે એમની સન્મુખ શ્રાવક-શ્રાવિકાઓ બેઠેલાં જ હોય અને એમના મુખેથી નીકળતી વાણી સાંભળવામાં મગ્ન જ હોય. તેઓ પોતાની શંકાઓનું સમાધાન અને નવું માર્ગદર્શન મેળવતાં

જ હોય. વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજે પ્રથમ ચાતુર્માસમાં જ ભાવનગરના શ્રાવકોને ઘેલું લગાડી દીધું. યતિઓ તરફનો લોકોનો રાગ ઓછો થયો.

ભાવનગરમાં ચાતુર્માસ પછી વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ પાછા સિક્કાચલની યાત્રા કરવા અને ગુરુ મહારાજ સાથે રહેવા પાલિતાણા ગયા. ત્યારપછી બુટરાયજી મહારાજે તથા મૂળચંદ્રજી મહારાજે પાલિતાણાથી અમદાવાદ તરફ વિહાર કર્યો અને વૃદ્ધિચંદ્રજી તથા પ્રેમચંદ્રજી મહારાજે ગિરનારની યાત્રા માટે જૂનાગઢ તરફ વિહાર કર્યો. માર્ગમાં પ્રેમચંદ્રજી મહારાજ તેમનાથી જુદા પડી ગયા. તેઓ આચારમાં શિથિલ થતા જતા હતા.

જૂનાગઢમાં ગિરનારી યાત્રા માટે અમદાવાદથી સંઘ આવ્યો હતો, તેમાં મુનિ કેવળવિજયજી અને મુનિ તિલકવિજયજી નામના બે સાધુઓ હતા. વૃદ્ધિચંદ્રજીને મળતાં જ તેઓને પોતાની સાથે જોડાઈ જવા વિનંતી કરી જેથી એમના શાસ્ત્રજ્ઞાનનો પણ પોતાને લાભ મળે. વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજની પ્રકૃતિ એટલી સરળ અને ગમી જાય એવી હતી. તેઓ સંઘ સાથે જોડાયા, પણ પોતાની ઝડપે આગળ પ્રયાણ કરવા કહ્યું અને પોતે ધોરાજીમાં થોડા દિવસ મુકામ કરવાનો વિચાર કર્યા. પરંતુ બંને મુનિઓ, સંઘપતિ અને સંઘના માણસોને વૃદ્ધિચંદ્રજીનો સંગ છોડવાનું ગમતું નહોતું. એટલે તેઓએ પોતાની ઝડપ ઓછી કરી, નજીક નજીકના મુકામ નક્કી કર્યા અને યાત્રાનો આખો કાર્યક્રમ બદલી કાઢ્યો, પણ વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજને પોતાની સાથે જ રાખ્યા. વૃદ્ધિચંદ્રજી ત્યારે બાવીસ વર્ષના યુવાન હતા. બંને મુનિઓ કેવળવિજયજી અને તિલકવિજયજી તેમના કરતાં ઉંમરે મોટા હતા અને તપસ્વી હતા. એટલે મુકામ પર પહોંચ્યા પછી વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ તે બંને મહાત્માની સારી વૈયાવચ્ચ કરતા. વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ શાસ્ત્રાર્થ કરવામાં કુશળ હતા. તેમનો અભ્યાસ ઘણો ઊંડો હતો અને મનન પણ ઘણું કર્યું હતું. પોતે સ્થાનકવાસી હતા, પણ મૂર્તિપૂજામાં માનતા હતા. યાત્રા દરમિયાન કાલાવડ, જામનગર વગેરે સ્થળે ટુંટક મતના જે કોઈ તેમની પાસે ચર્ચા કરવા આવતા તેમને તેઓ પોતાના જ્ઞાનથી નિરુત્તર કરી દેતા.

તેઓ અમદાવાદ તરફ પાછા ફરી રહ્યા હતા ત્યારે સમાચાર મળ્યા કે બુટરાયજી મહારાજ અને મૂળચંદ્રજી મહારાજ લીંબડીમાં રોકાઈ ગયા છે, કારણકે મૂળચંદ્રજી મહારાજને તાવ આવે છે. આથી વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ તરત ત્યાં પહોંચી ગયા. બુટરાયજી મહારાજ પોતાના માંદા શિષ્યની સેવાસુશ્રૂષા પ્રેમથી કરતા હતા. હવે એ જવાબદારી વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજે લઈ લીધી. તેથી મૂળચંદ્રજી મહારાજ પ્રસન્ન થયા, કારણ કે ગુરુ મહારાજ પાસે સેવાચાકરી કરાવતાં તેમને ખેદ થતો હતો. થોડું સારું થયું એટલે તેઓ ત્રણેએ લીંબડીથી વિહાર કર્યો, પણ વિહારના શ્રમને લીધે મૂળચંદ્રજી મહારાજને પાછો તાવ આવ્યો. એટલે લીંબડી પાછા ફરવું પડ્યું. તાવ સાવ મટી ગયો ત્યારપછી વિહાર કરી તેઓ ત્રણે અમદાવાદમાં આવી ઊજમફોઈની ધર્મશાળામાં ઊતર્યા.

અમદાવાદમાં હવે તેઓ પંચાસ દાદા મણિવિજયજી તથા ગણિ સૌભાગ્યવિજયજીના વધુ ગાઠ સંપર્કમાં આવ્યા. એથી તેઓ ત્રણેને દાદા મણિવિજયજી પાસે મૂર્તિપૂજક સમુદાયમાં સંવેગી દીક્ષા લેવાની ઈચ્છા થઈ. શેઠ હેમાભાઈને વાત કરી. તેમણે દાદા મણિવિજયજીને વાત કરી. એ માટે યોગવહન કરવાની વ્યવસ્થા થઈ. યોગ પૂરા થયા એટલે સં. ૧૯૧૨ માં ચતુર્વિંશ સંઘ સમક્ષ દાદા મણિવિજયજીએ તેઓ ત્રણેને સંવેગી દીક્ષા આપી અને મુનિ બુદેરાયજીનું નામ મુનિ બુદ્ધિવિજયજી, મુનિ મૂળચંદ્રજીનું નામ મુનિ મુક્તિવિજયજી અને મુનિ વૃદ્ધિચંદ્રજીનું નામ મુનિ વૃદ્ધિવિજયજી રાખવામાં આવ્યું. જૈન ધર્મના ઈતિહાસમાં આ એક મોટી કાન્તિકારક ઘટના બની. સાચા ત્યાગી, વૈરાગી, ખમીરવંતા આ ત્રણે પંજબી મુમુક્ષ મહાત્માઓનો પ્રભાવ ગુજરાત, સૌરાષ્ટ્ર, રાજસ્થાન, પંજાબ વગેરે સ્થળે ઘણો મોટો પડ્યો. એથી પંજાબથી આત્મારામજી મહારાજ સ્થાનકવાસી સંપ્રદાય છોડીને પોતાના સત્તર બીજ સાધુઓ સાથે ગુજરાત આવી પહોંચ્યા અને તેઓએ પાણ મૂર્તિપૂજક સમુદાયમાં સંવેગી દીક્ષા લીધી.

બુદેરાયજી મહારાજ અને એમના શિષ્યોનાં નવાં નામ રાખવામાં આવ્યાં. પાણ તેઓનાં પોતાનાં મૂળ નામ એટલાં બધાં પ્રચલિત બની ગયાં હતાં કે નવાં નામો બહુ રૂઠ થયાં નહિ, એટલે મુનિ વૃદ્ધિવિજયજી પાણ વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ તરીકે જ વધુ જાણીતા રહ્યા.

સં. ૧૯૧૨નું ચાતુર્માસ તેઓ ત્રણેએ દાદા મણિવિજયજી સાથે અમદાવાદમાં જ કર્યું. પોતાની સમાચારીને પાણ બરાબર શુદ્ધ કરી લીધી. હવે ગુજરાતી ભાષા પાણ તેઓ બરાબર બોલતા થઈ ગયા હતા, એટલું જ નહિ પાણ પોતાની પંજાબી ભાષામાં બોલે-લખે તો તેમાં ગુજરાતી શબ્દો અને ભાષાપ્રયોગ અજાણતાં આવી જતા. અમદાવાદના સમય દરમિયાન તેઓ ત્રણેને અભ્યાસ કરવા માટે શેઠ હેમાભાઈ એ તથા સંઘે પંડિતોની વ્યવસ્થા કરી આપી. એમાં તે વખતના જાણીતા પંડિત હરનારાયણ શાસ્ત્રી પાસે સંસ્કૃત કાવ્યગ્રંથો ઉપરાંત ઉપાધ્યાય યશોવિજયજીના ગ્રંથોનો અભ્યાસ કરવાની સારી તક મળી.

સં. ૧૯૧૪ માં વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજે અમદાવાદથી વિહાર કરી, શત્રુંજય અને ગિરનારની યાત્રા કરીને ભાવનગરનાં ચાતુર્માસ કર્યું. ગુરુ મહારાજે એમને હવે વ્યાખ્યાન વાંચવાની આજ્ઞા આપી હતી. ત્યારે એમની ઉંમર ચોવીસ વર્ષની હતી. આ ચાતુર્માસ દરમિયાન પાણ તેમણે ભાવનગરના શ્રાવકોને ફરી પાછા ઘેલા કરી દીધા હતા.

વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજની પ્રતિભા ઘણી તેજસ્વી હતી. તેઓ શરિર ઊંચા, ગોરા અને ભરાવદાર હતા. તેમનો ચહેરો પાણ ભરાવદાર અને પ્રશાંત હતો. તેઓ બાળબ્રહ્મચારી હતા. એમનું ચારિત્ર એટલું બધું નિર્મળ હતું અને ભક્તિ, વિનય, વૈયાવચ્ચ તથા શાસ્ત્રજ્ઞાન વગેરે ગુણોથી તેમનું જીવન એટલું બધું પવિત્ર હતું કે એમની પાસે રહેવાથી ઘણાને વૈરાગ્યનો બોધ થતો હતો, કેટલાક દીક્ષા

લેવા તૈયાર થતા અને કેટલાક ગૃહસ્થો એમની પાસે આજીવન ચતુર્થ વ્રતની-બ્રહ્મચર્યની બાધા લેતા.

આ વર્ષ દરમિયાન વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજની ગુરુભક્તિનો એક વિશિષ્ટ પ્રસંગ નોંધાયેલો છે. ભાવનગરથી પોતાના ગુરુ મહારાજ શ્રી બુટેરાયજી મહારાજ તથા ગુરુ બંધુ શ્રી મૂલચંદ્રજી મહારાજ સાથે તેઓ સિદ્ધાચલજીની યાત્રાએ આવ્યા હતા. પાલિતાણામાં મુકામ કર્યો હતો. એક દિવસ મૂલચંદ્રજી મહારાજ ગુરુદેવને માટે દૂધ વહોરવા ગયા. કોઈક શ્રાવિકાને ઘરે જઈ દૂધ વહોર્યું. પરંતુ એ શ્રાવિકાએ ભૂલથી દળેલી ખાંડને બદલે દળેલું મીઠું નાખી દીધેલું. આ ભૂલની ખબર નહોતી શ્રાવિકાને કે નહોતી મૂલચંદ્રજી મહારાજને. ઉપાશ્રયમાં આવ્યા પછી જ્યારે તેઓ ગોચરી વાપરવા બેઠા ત્યારે બુટેરાયજી મહારાજે દૂધનો ઘૂંટડો પીતાં જ કહ્યું, 'મૂલા! મારી જીભ ખરાબ થઈ ગઈ લાગે છે. દૂધનો સ્વાદ કડવો લાગે છે.'

તરત ગુરુદેવના હાથમાંથી પાત્ર લઈને મૂલચંદ્રજી મહારાજે દૂધ ચાખ્યું તો ખબર પડી કે દૂધમાં સાકરને બદલે ભૂલથી મીઠું નાખાઈ ગયું છે. એટલે એમણે કહ્યું, 'ગુરુદેવ, આપ એ દૂધ પીવું રહેવા દો. હું એ દૂધ પી જઈશ.'

ત્યાં વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજે દૂધનું પાત્ર લઈ લીધું અને કહ્યું, આ દૂધ તમારા બંનેને પીવાને યોગ્ય નથી. વળી પરકવાથી જીવહાનિ થવાનો સંભવ છે. માટે હું જ આ દૂધ પી જઈ છું. એમ કહી તેઓ બંધુ દૂધ પી ગયા. બુટેરાયજી મહારાજ તથા મૂળચંદ્રજી મહારાજ તો એ જોતા જ રહી ગયા.

વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજે અપથ્ય દૂધ પી તો લીધું, પરંતુ એથી એમને ગ્રાહા થઈ ગયા. એમાંથી આગળ જતાં એમને સંગ્રહાણીનો રોગ થયો, જે ઘાગા ઔષધોપચાર કરવા છતાં જીવન પર્યંત મટકો નહિ. એથી એમનું શરીર ક્ષીણ અને અશક્ત થઈ ગયું હતું.

સં. ૧૯૧૪ના વર્ષ દરમિયાન વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજના સંસારી પિતા લાલા ધર્મચશજીના અવસાનના સમાચાર આવ્યા. મહારાજશ્રીએ એમના ઉપકારોનું સ્મરણ કર્યું. પરંતુ બધી સાંસારિક માયા હવે એમણે ઉતારી નાખી હતી.

સં. ૧૯૧૫નું ચોમાસું વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજે કેટલાક શ્રાવકોની વિનંતીથી ઘોઘામાં કર્યું. ત્યાં યતિઓનું જોર હતું. એટલે ઉપાશ્રયમાં ઊતરવા ન મળ્યું. તેઓ એક ગૃહસ્થને ઘરે ઊતર્યા. ત્યાંના યતિ દલીચંદ્રજીએ એમને વ્યાખ્યાન વાંચવાની મનાઈ ફરમાવી. આવી પરિસ્થિતિ ઊભી થશે એ તેઓ જાણતા જ હતા. એનો સરળતાથી એમણે સ્વીકાર કરી લીધો. પણ દિવસે દિવસે શ્રાવકો વૃદ્ધિચંદ્રજીના રાગી થતા ગયા. વ્યાખ્યાન પણ ચાલુ થયું. અને પર્યુષણમાં એમણે ઉપાશ્રયમાં કલ્પસૂત્ર વાંચ્યું. ત્યારથી ઘોઘામાંથી યતિનો મહિમા ઓછો થઈ ગયો.

સં. ૧૯૧૬નું ચાતુર્માસ ભાવનગરમાં કરી તેઓ સં. ૧૯૧૭માં અમદાવાદ આવ્યા, કારણ કે ગુરુદેવ બુટેરાયજી મહારાજે હવે પંજાબ બાજુ વિહાર કર્યો હતો. અમદાવાદમાં વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજે

ચાર ચાતુર્માસ કર્યા. તે દરમિયાન અમદાવાદના શ્રેષ્ઠીઓ શેઠ હેમાભાઈ, શેઠ પ્રેમાભાઈ, શેઠ દલપતભાઈ, શેઠ મગનભાઈ વગેરે ઉપર તેમનો ઘણો પ્રભાવ પડ્યો. શેઠ દલપતભાઈ ભગુભાઈએ સિદ્ધાચલજીનો સંઘ કાઢવાની ભાવના વ્યક્ત કરી, પણ તે એ શરતે કે સાથે વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ પધારે. મહારાજશ્રીએ સંમતિ આપી એટલે બહુ ધામધૂમપૂર્વક સંઘ કાઢવામાં આવ્યો. શેઠશ્રીએ આ માટે એ દિવસોમાં રૂપિયા એંસી હજારનું ખર્ચ કર્યું હતું.

ત્યાર પછી ભાવનગર, અમદાવાદ, રાધનપુર વગેરે સ્થળે મહારાજશ્રીએ ચાતુર્માસ કર્યા. ૧૯૨૭માં જ્યારે તેમણે જાણ્યું કે ગુરુવર્ય બુટેરાયજી મહારાજ પાછા ગુજરાત તરફ આવી રહ્યા છે ત્યારે તેમનું સ્વાગત કરવા મૂળચંદ્રજી મહારાજ સાથે તેઓ પાટણ, પાલનપુર થઈ ઠેઠ રાજસ્થાનમાં પાલી સુધી પહોંચ્યા હતા. ઘણાં વર્ષે પાછા તેઓ ત્રણે એકત્ર થયા. આબુની જત્રા કરી તેઓ ગુજરાતમાં પધાર્યા અને ઠેર ઠેર વિચરી યતિઓ-શ્રી પૂજ્યોના જોરને ઓછું કરી નાખ્યું.

એ દિવસોમાં ઋદ્ધિસાગર નામના એક સાધુ લોકોને મંત્ર-તંત્ર શિખવાડી વહેમમાં નાખતા અને તત્ત્વસિદ્ધાન્તથી વિમુખ બનાવતા હતા. બીકના માર્યા ઘણા લોકો ઋદ્ધિસાગરને અનુસરતા. જ્યારે વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજના જાણવામાં આ વાત આવી ત્યારે તેમણે એ દંભી સાધુના મોડમાં ન ફસાવા માટે ઘણો પ્રચાર કર્યો અને લોકોને એમની માયાજાળમાંથી છોડાવ્યા હતા.

મહારાજશ્રીએ લોકોને સન્માર્ગે વાળવા જગૃતિપૂર્વક કેવા કેવા પ્રયાસો કર્યા હતા એનો બીજે એક પ્રસંગ પણ નોંધાયેલો છે. વિ. સં. ૧૯૩૯ માં જ્ઞેઠમલજી નામના એક સાધુએ સમકિતસાર નામનો ગ્રંથ છપાવીને પ્રગટ કર્યો હતો, એમાં જૈન ધર્મની કેટલીક અવળી પ્રજ્ઞા કરવામાં આવી હતી. એ વાંચવાથી કેટલાયે લોકોના મનમાં શંકા-કુશંકા થવા લાગી હતી. મહારાજશ્રીએ જ્યારે એ ગ્રંથ વાંચ્યો ત્યારે એમને થયું કે એનું ખંડન થવું જરૂરી છે. પોતે તે લખે તેના કરતાં પોતાના લઘુ ગુરુબંધુ આત્મારામજી મહારાજ તે કામ કરવાને વધુ સમર્થ છે એમ સમજીને તેમની પાસે તે લખાવવાનું વિચાર્યું. આત્મારામજી મહારાજ ત્યારે અમદાવાદમાં હતા. વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજની આજ્ઞા થતાં તરત તેમણે સમકિત શલ્યોદ્ધાર નામનો ગ્રંથ ખંડનમંડનરૂપે હિંદીમાં લખી આપ્યો. એનું ગુજરાતી ભાષાન્તર થયું. વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ પણ એ જોઈ ગયા અને આત્મારામજી મહારાજ પણ ફરી તપાસી ગયા. ત્યારપછી જૈન ધર્મ પ્રસારક સભા તરફથી એ ગ્રંથ પ્રગટ થયો. એની સમાજ ઉપર ઘણી સારી અસર થઈ અને લોકોના મનમાં જાગેલી શંકાઓનું સમાધાન થયું.

વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજને એમના ગુરુ બુટેરાયજી મહારાજે ભલામણ કરી હતી કે જૈન શાસનને સુદૃઢ કરવું હોય તો સાધુઓ વધારવા જોઈએ. બુટેરાયજી મહારાજ પોતે તો અધ્યાત્મરસમાં વધારે લીન હતા એટલે આ જવાબદારી વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજે અને મૂળચંદ્રજી મહારાજે ઉપાડી લીધી. પરંતુ એક દિવસ રાતે એકાંતમાં બેસી બંનેએ નિર્ણય કર્યો કે કોઈએ પોતાના ચેલા ન કરવા, પરંતુ જે કોઈ

દીક્ષાર્થી હોય તેને દીક્ષા આપીને તેને ગુરુદેવ બુટેરાયજીના શિષ્ય કરવા, એટલે કે તેને પોતાના ગુરુભાઈ કરવા. શિષ્યનો મોહ કેટલો બધો હોય છે એ તો સાધુપાશામાં જ હોય તેને વધારે સમજાય. વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ અને મૂળચંદ્રજી મહારાજે શિષ્યમોહ ઉપર વિજય મેળવ્યો હતો.

પરંતુ એક દિવસ ધર્મસંકટ ઊભું થયું. મૂળચંદ્રજી મહારાજ પાસે બે યતિઓ દીક્ષા લેવા આવ્યા. તે જાણીને બુટેરાયજી મહારાજે આજ્ઞા કરી, 'મૂલા ! આ બંનેને હવે વૃદ્ધિના ચેલા બનાવજે.' ગુરુદેવે વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજને પણ કહ્યું કે 'વૃદ્ધિ ! હવે આ બેને તારા ચેલા બનાવજે.'

એ દિવસે રાત્રે ફરી વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ અને મૂળચંદ્રજી મહારાજ એકાંતમાં મળ્યા. વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજે મૂળચંદ્રજી મહારાજને કહ્યું, તમે જાણો છો કે મેં પ્રતિજ્ઞા લીધી છે કે મારે કોઈ શિષ્ય ન કરવા, એટલે તેઓને હું ચેલા તરીકે કેવી રીતે સ્વીકારી શકું ?

મૂળચંદ્રજી મહારાજે કહ્યું, તમારી પ્રતિજ્ઞાની વાત સાચી છે. મેં પણ એવી પ્રતિજ્ઞા લીધી છે. પરંતુ બીજી બાજુ ગુરુદેવની આજ્ઞાના પાલનનો પ્રશ્ન છે. હવે ગુરુદેવની આજ્ઞાનું પાલન એ અંગત પ્રતિજ્ઞા કરતાં ચડિયાતી વસ્તુ છે. માટે તમારે ચેલા સ્વીકારવા જ પડશે.

વૃદ્ધિચંદ્ર મહારાજે કહ્યું કે જો ગુરુદેવની આજ્ઞા હોય તો એક ચેલો તમે કરો અને એક ચેલો મને આપો. મૂળચંદ્રજી મહારાજે કહ્યું, એમ બની નહિ શકે, કારણકે ગુરુમહારાજે મને આજ્ઞા કરી છે કે દીક્ષા આપીને મારે એ બંનેને આપના જ શિષ્ય કરવાના છે.

છેવટે મૂળચંદ્રજી મહારાજે દીક્ષા આપીને તેમને વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજના શિષ્ય બનાવ્યા. એકનું નામ રાખવામાં આવ્યું મુનિ ગંભીરવિજયજી અને બીજાનું નામ મુનિ ચારિત્રવિજયજી.

પોતાને બે શિષ્યો થયા એટલે સમય જોઈને વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજે ગુરુદેવને કહ્યું, ગુરુદેવ ! મારે બે ચેલા છે અને મૂળચંદ્રજી મહારાજને એક પણ ચેલો નથી. એ સાંભળી બુટેરાયજી મહારાજે મૂળચંદ્રજી મહારાજને કહ્યું, 'મૂલા ! હવે જોને દીક્ષા આપે તેને તારો ચેલો બનાવજે.'

ગુરુમહારાજની આજ્ઞા થતાં કિશનગઢથી આવેલા એક યતિને દીક્ષા આપીને મૂળચંદ્રજી મહારાજે એમને પોતાના ચેલા બનાવ્યા. એમનું નામ રાખવામાં આવ્યું મુનિ ગુલાબવિજયજી. વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજની અને મૂળચંદ્રજી મહારાજની નિસ્પૃહતા અને ઉદારતા કેટલી બધી હતી તે આવા પ્રસંગો ઉપરથી જોઈ શકાય છે.

વૃદ્ધિચંદ્રજીના વડીલ ગુરુબંધુ મૂલચંદ્રજી મહારાજ એમના કરતાં ઉંમરમાં ચાર વર્ષ મોટા હતા. તેમણે દીક્ષા પણ વહેલી લીધી હતી. વળી તેઓ શરિર સુદૃઢ અને સશક્ત હતા. એટલે એમણે યોગવહન કરીને ગણિની પદવી મેળવી હતી. પરંતુ વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ પોતાની નાદુરસ્ત તબિયતને કારણે ઈચ્છા અને ભાવના હોવા છતાં યોગવહન કરી શક્યા નહોતા. એટલે એમણે પોતાના મુનિપદથી પૂરો સંતોષ માન્યો હતો. પોતાના ગુરુબંધુ પ્રત્યે તેઓ પૂરો વિનય સાચવતા. તેમની આજ્ઞા

સ્વીકારતા.વિ.સં. ૧૯૩૮માં ગુરુમહારાજ બુટેરાયજી અમદાવાદમાં કાળધર્મ પામ્યા. એથી જાગે એક આધારસ્તંભ ગયો હોય એવો એમને ખેદ થયો. હવે સમુદાયની જવાબદારી ગણિવર્ષ મૂળચંદ્રજી મહારાજ ઉપર આવી. વર્ષે વર્ષે સાધુ-સાધ્વીઓની સંખ્યા વધતી જતી હતી. પાગ એની બધી વ્યવસ્થામાં મૂળચંદ્રજી મહારાજ અત્યંત કુશળ હતા.

જૈન ધર્મ પ્રસારક સભા તરફથી વિ.સં. ૧૯૫૪ માં શ્રી વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજનું જીવનચરિત્ર ગદ્યમાં પ્રગટ થયેલું, એનો આધાર લઈને વળાવાળા શ્રી દુર્લભજી મહેતાએ પદ્યમાં સાત પરિચ્છેદમાં ઢાળ અને દુહાની મળીને ૧૧૨૫ કડીમાં રાસના પ્રકારની સુદીર્ઘ રચના સં. ૧૯૭૨ માં કરી છે. શ્રી વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ પ્રત્યે એમના ભક્તોની વાગ્વી કેવી રીતે મહોરી છે તે આના ઉપરથી જોઈ શકાય છે. અને તે ઉપરથી એ મહાત્માનો પ્રભાવ કેટલો બધો પ્રેરક અને પ્રોત્સાહક હશે તેની પ્રતીતિ થાય છે. કૃતિના આરંભમાં કવિ કહે છે :

શ્રી શુભ વીર પ્રભુ નમી, શારદા માય પવિત્ર,
મહા મુનિ વૃદ્ધિચંદ્રનું કહીશું જન્મચરિત્ર.
બ્રહ્મચારી સંયમ ગ્રહી, ભારત ભૂમિ મોજર,
વિચર્યા નિસ્પૃહ ભાવથી કીધો અતિ ઉપગાર.
શાસન સોહ વધારીને, સ્વર્ગ ગયા ગુરુરાય.
દુર્લભ પદપંકજ નમી, ગુગુ ગિરુઆ તસ ગાય.

કવિ પોતે વળાના હતા અને મહારાજશ્રીના સંપર્કમાં આવ્યા હતા એટલે એમણે બીજે ન મળતી એવી વળાની કેટલીક વિગતો આ રાસકૃતિમાં અને પાદનોધમાં વાગી લીધી છે. તેઓ લખે છે :

પ્રતિબોધ સુગતાં નિત્ય ભાવે,
મિથ્યાત્વ તિમિરને દૂર હઠાવે,
શુદ્ધ જિનમત બીજ વાવે,
મુનિ શ્રાવક આચાર બતાવે,
લોકા તપા સહુ સુગવા આવે,
શુદ્ધ પંથ જાગૃતિ થાવે.
ગોચરી રે પાગ પોતે આવે,
ભક્ષ્યાભક્ષ્ય વિવેક બતાવે,

વકાચાર સમજવે,

મિથ્યાત્વના પરવો નહી કરવા,

રસોડે પાણિયરે ચંદરવા,

સૂચવે જ્યાગા ધરવા,

કાઠી ગરાશિયાનો શિણગાર, જેતા ઘણા શ્રાવકને દ્વાર,

કહે આ શું ? વિરુદ્ધાચાર ?

લોકા તપાનો ભેદ નિવારે રે,

જિનમત શુદ્ધ સરવે દિલ ધારે રે,

ઉપગાર કર્યો એ ભારે રે.

આમ વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજે વળામાં પોતાની વાણીથી ઘણો ઉત્સાહ પ્રગટાવ્યો હતો. એમનું વ્યાખ્યાન સાંભળવા લોકા અને તપા (સ્થાનકવાસીઓ અને મૂર્તિપૂજકો) બંધા જ આવતા અને તેઓ વચ્ચેના ભેદભાવ તેમણે નિવાર્યા હતા. વળી લોકો ગરાસિયા જેવો જે આચાર પાળતા હતા તેમાં યાગ ફેરફાર કરાવ્યો હતો. કવિ પાદનોંધમાં લખે છે કે જૈનોના ઘરે ગરાસિયાની જેમ જે હુક્કા પિવાતા હતા તે તેમણે બંધ કરાવ્યા હતા. એક જ દિવસમાં ચાલીસ જેટલાં કુટુંબોમાં મહારાજશ્રીના પ્રેરક ઉપદેશથી શ્રાવકોએ હુક્કા ફોડી નાખ્યા હતા.

વળા-વલ્લભીપુરમાં એમણે દેવદિર્ગગણિની સ્મૃતિમાં દેરાસર, ઉપાશ્રય, સ્મારક વગેરે કરવા માટે યાગ ઉપદેશ આપ્યો હતો.

વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજને સિદ્ધાયલજીની યાત્રાનું આકર્ષણ અને અનુકૂળતા વિશેષ રહ્યાં હતાં. તેમણે પહેલી યાત્રા પંજબથી અમદાવાદ આવીને કરી હતી. ત્યાર પછી તેમણે જુદા જુદા સંઘો સાથે વિહાર કરીને વીસથી વધુ વાર શત્રુંજય મહાતીર્થની યાત્રા કરી હતી. એમણે એક વખત શત્રુંજય મહાતીર્થની નવ્યાણું યાત્રા યાગ કરી હતી.

વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજે શત્રુંજય તીર્થની બાબતમાં એમના જમાનાની દૃષ્ટિએ એક મહત્ત્વનું કાર્ય કર્યું હતું. પાલિતાણાના ઠાકોરે જ્યારે યાત્રિકવેરો નાખ્યો ત્યારે તેની સામે વિરોધ નોંધવવા રાજકોટમાં પોલિટિકલ એજન્ટ પાસે કેસ દાખલ કરવામાં આવ્યો હતો. તે વખતે અમદાવાદમાં રહી વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજે બધાં શાસ્ત્રો ઝીણવટપૂર્વક વાંચીને શ્રેષ્ઠીઓને શાસ્ત્રીય પુરાવાઓ આપીને અમદાવાદથી રાજકોટ મોકલ્યા હતા. ઘણાં વર્ષ કેસ ચાલ્યો હતો. પરંતુ એમની દરમિયાનગીરીથી વ્યક્તિગત યાત્રિકવેરો રદ કરવાનો અને શેઠ આણંદજી કલ્યાણજીની પેઢીએ દર વરસે રૂપિયા પંદર હજાર પાલિતાણાના ઠાકોરને આપવાનો ચુકાદો આવ્યો હતો.

સં. ૧૯૪૪ માં મૂલચંદ્રજી મહારાજની નિત્રામાં અમદાવાદથી શનુંજયનો સંઘ નીકળ્યો હતો. વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ ત્યારે પોતાની નાદુરસ્ત તબિયતને કારણે પાલિતાણા આવી શકે તેમ નહોતા. એટલે સંઘ ભાવનગર આવીને પછી પાલિતાણા જવાનો હતો. વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજને આ સંઘ નીકળવાના સમાચાર મળતાં તેઓ પોતાના ગુરુબંધુને મળવા આતુરતાપૂર્વક રાહ જોવા લાગ્યા હતા. જ્યારે સંઘ ભાવનગર આવ્યો ત્યારે વૃદ્ધિચંદ્રજી પોતાના સાધુ-સાધ્વીના સમુદાય સહિત શહેર બહાર સામેયું કરવા ગયા અને ઘણાં વરસ પછી મૂલચંદ્રજી મહારાજને મળતાં અત્યંત હર્ષ અનુભવ્યો. વડીલ ગુરુબંધુનું આગમન થતાં અને એક ઉદ્યાનમાં તેઓ પાટ ઉપર બિરાજમાન થતાં વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજે પોતાનાં સાધુ-સાધ્વી સહિત વિધિપૂર્વક વંદન કર્યાં અને મૂલચંદ્રજી મહારાજનાં ચરણકમલમાં પોતાના મસ્તક વડે સ્પર્શ કર્યો. આ દશ્ય જોનાર ભાવવિભોર બની ગયા અને જૈનધર્મમાં વિનયને કેટલું બધું મહત્વ અપાયું છે તે સમજીને તે માટે ડુચિવાળા થયા.

ત્યારપછી મૂલચંદ્રજી મહારાજના પરિવારનાં સાધુ-સાધ્વીઓએ વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજને વંદન કર્યાં. આમ પરસ્પર વંદનવિધિ પતી ગયા પછી ભાવનગર શહેરમાં સંઘનો ભવ્ય પ્રવેશ થયો. સંઘ બે દિવસ રોકાયો તે દરમિયાન બંને ગુરુબંધુઓએ પરસ્પર અનુભવોની, અધ્યયનની અને શાસનનાં કાર્યોની વિચારણા કરી.

વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજે જોયું કે પાઠશાળાઓ અને વિદ્યાશાળાઓ વગર ગ્રાવકોમાં તેજ નહિ આવે. એ માટે એમણે ઘણે સ્થળે બાળકો માટે પાઠશાળાઓ ચાલુ કરાવી હતી. પાલિતાણામાં સંસ્કૃત વગેરેના અભ્યાસ માટે મુર્શીબાદના બાબુ બુદ્ધિસિંહજીને પ્રેરણા કરીને ‘બુદ્ધિસિંહજી પાઠશાળા’ ની સ્થાપના કરાવી હતી. ભાવનગરમાં જૈન ધર્મ પ્રસારક સભા નામની સંસ્થાની સ્થાપના કરાવી હતી તથા ‘જૈનધર્મ પ્રકાશ’ પત્રનું પ્રકાશન કરાવ્યું હતું. લીંબડીમાં તેમણે જ્ઞાનભંડાર વ્યવસ્થિત કરાવ્યો હતો. જ્ઞાનવૃદ્ધિનાં આવાં અનેક કાર્યો એમના હાથે થયાં હતાં.

સં. ૧૯૪૪ના ચાતુર્માસ પછી પાલિતાણામાં ગણિવર્ષ શ્રી મૂલચંદ્રજી મહારાજની તબિયત બગડી. તેમના શરીરમાં રક્તવાતનો વ્યાધિ થઈ આવ્યો અને તે વધતો ગયો. એથી શરીરમાં ઘણી અશક્તિ આવી ગઈ અને ચાલવાની શક્તિ પણ રહી નહિ. વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ એમના સતત સમાચાર મેળવતા રહ્યા હતા, પરંતુ જ્યારે જાણ્યું કે પાલિતાણામાં ઔષધોપચારથી કંઈ ફરક પડ્યો નથી ત્યારે તેમને ભાવનગર બોલાવી સારા વૈદ્યો-ડૉક્ટરો પાસે ઉપચાર કરાવવાનું વિચાર્યું. તેમણે ભાવનગરથી શ્રેષ્ઠીઓને મોકલ્યા. ગણિવર્ષ મહારાજ ચાલી શકે એમ નહોતા. એટલે તેમના માટે ખ્યાના (પાલખી જેવું વાહન) ની વ્યવસ્થા કરાવી. તેમાં બેસી મૂલચંદ્રજી મહારાજ ભાવનગર પધાર્યાં. ભાવનગરમાં ઘણા ઉપચારો કરાવ્યા પણ વ્યાધિ વધતો રહ્યો. આયુષ્ય પૂરું થતાં સં. ૧૯૪૫ ના માગસર વદ છઠ્ઠના દિવસે એમણે દેહ મૂક્યો. ગણિવર્ષના અંતિમ અવસ્થાના સમાચાર સાંભળી એમના સંઘાડાના બાવીસ જેટલા સાધુઓ ભાવનગરમાં એકત્ર થયા હતા. મુનિ જવેરસાગરજી તો

ઉદયપુરથી વિહાર કરીને આવી ગયા હતા. સૌએ અને ખાસ કરીને તો વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજને મૂલચંદ્રજી ગણિવર્ષની ઘણી સારી સેવાભક્તિ કરી હતી. કાળધર્મ પામ્યા પછી ગણિવર્ષ મૂલચંદ્રજી મહારાજના દેહને મહારાજશ્રીની સૂચનાથી દાદાવાડીમાં અગ્નિસંસ્કાર કરવામાં આવ્યો હતો અને ત્યાં આરસની દેરી કરી એમનાં પગલાં સ્થાપન કરવામાં આવ્યાં હતાં. એ માટે ખર્ચ કરવામાં ભાવનગરના સંઘે પાછું વળીને જ્યું નથી, કારણકે તપગરછના સંવેગી સાધુઓના પુનરુત્થાનનું મહત્વનું કેન્દ્ર ભાવનગર બની ગયું હતું.

વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજના છેલ્લે દસ શિષ્યો હતા (૧) કેવળવિજયજી (૨) ગંભીરવિજયજી (૩) ઉત્તમવિજયજી (૪) ચતુરવિજયજી (૫) રાજવિજયજી (૬) હેમવિજયજી (૭) ધર્મવિજયજી (કાશીવાળા વિજયધર્મસૂરિ) (૮) નેમવિજયજી (શાસનસમ્રાટ વિજયનેમિસૂરિ) (૯) પ્રેમવિજયજી અને (૧૦) કર્પૂરવિજયજી (સન્મિત્ર), આ શિષ્યોમાં વિજયધર્મસૂરિ અને વિજયનેમિસૂરિએ શાસનનાં ભગીરથ કાર્યો કરી ઘણું ઉજ્જવળ નામ કર્યું હતું.

વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજને વિદ્યાભ્યાસ અને જ્ઞાનસંપાદન પ્રત્યે ઘણી રુચિપ્રીતિ હતી. તેમણે સ્વયં શાસ્ત્રસિદ્ધાંત ઉપરાંત વ્યાકરણ, કાવ્ય, કોશ, અલંકાર વગેરેનો સારો અભ્યાસ કર્યો હતો, એટલે ભાવનગરનાં ચાતુર્માસ અને સ્થિરવાસ દરમિયાન એ દિશામાં એમણે પોતે ઘણું સંગીન કાર્ય કર્યું હતું અને સંઘ પાસે કરાવ્યું હતું. કેટલાય જૈન યુવાનો એમની પાસે શંકા-સમાધાન માટે, જ્ઞાનચર્યા માટે કે વ્યાકરણાદિના અભ્યાસ માટે નિયમિત આવતા. ભાવનગરના કુંવરજી આણંદજી અને અમરચંદ જસરાજ તો રોજ રોજ એમની પાસે નિયમિત આવતા. તેઓ રાતના બાર-એક વાગ્યા સુધી મહારાજશ્રી સાથે જ્ઞાનગોષ્ઠિ કરતા રહેતા. અંતિમ વર્ષોમાં મહારાજશ્રીની તબિયત લથડતી જતી હતી અને ઉજ્જગરા થતા નહોતા. એ વખતે પણ તેઓ એ શ્રાવકોને વહેલાં ચાલ્યા જવાનું કહેતા નહિ. પરંતુ જ્યારે ઘણી અગવડ થવા લાગી ત્યારે એમણે પોતાના શિષ્ય મુનિ નેમવિજયજીને કહ્યું હતું, 'જે ને નેમા ! મારું શરીર આવું નરમ છે ને આ લોકો મને બહુ ઉજ્જગરા કરાવે છે.' એ સાંભળી, ગુરુ મહારાજની અનુમતિ મેળવી નેમવિજય મહારાજે શ્રાવકોને વહેલાં આવવા અને વહેલાં જવા માટે કડક સૂચના આપી હતી.

વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજના અંતિમ દિવસોમાં જે શ્રાવકોએ એમની દિવસ-રાત સેવા-ભક્તિ કરી હતી તેમાં શ્રી કુંવરજી આણંદજી અને શ્રી અમરચંદ જસરાજનાં નામ મુખ્ય હતાં.

મહારાજશ્રીને વા અને સંશ્લણીનાં અસાધ્ય દર્દો તો હતાં જ તેમાં છાતીમાં વારંવાર થઈ આવતા દુઃખાવાનું દર્દ વધતું ચાલ્યું હતું. વૈદ્યરાજેના ઉપચારો છતાં એમાં ફરક પડતો નહોતો. એટલે આવા શરીરે મહારાજશ્રી કેટલું ખેંચી શકશે એ પ્રશ્ન હતો. મહારાજશ્રીના આ અંતિમ કાળે એમની યાદગીરીરૂપે એમનો ફોટો પાડવાની ઈચ્છા સંઘના કેટલાક શ્રેષ્ઠીઓને થઈ. એ દિવસોમાં ફોટોગ્રાફીની

શોધ થઈ ચૂકી હતી અને બોક્સ કેમેરા વડે ફોટો પાડવામાં આવતો. મહારાજશ્રીએ અગાઉ કેટલીયવાર પોતાનો ફોટો પડાવવા માટે અનિચ્છા દર્શાવેલી, પરંતુ હવે તો શ્રેષ્ઠીઓ કેમેરાવાળાને પહેલાં તૈયાર રાખીને વિનંતી કરતા કે જેથી મહારાજશ્રી જે હા પાડે તો તરત જ ફોટો પાડી લેવાય. સં. ૧૯૪૮ ના પર્યુષણ પછી એક દિવસ શ્રેષ્ઠીઓએ બહુ જ આગ્રહપૂર્વક વિનંતી કરી અને સંઘના પ્રેમને વશ થઈ માત્ર દાક્ષિણ્ય ખાતર મહારાજશ્રીએ હા કહી કે તરત જ એમનો ફોટો કેમેરાવાળાએ પાડી લીધો હતો. ફોટાની અનેક નકલો કઢાવી જૈન ધર્મ પ્રસારક સભાએ ગુરુભક્તોને આપી હતી. મહારાજશ્રીનો આ એક જ ફોટો મળે છે જે આજ સુધી પ્રચલિત રહ્યો છે.

એવી જ રીતે મહારાજશ્રીનું જીવનચરિત્ર લખવા માટે કેટલાકે કોશિય કરી હતી. એ માટે જોઈતી માહિતી તો મહારાજશ્રી પાસેથી જ મળી શકે. એકબે વખત કોઈક-કોઈ કે મહારાજશ્રીને એમના જીવન વિશે પ્રશ્નો કર્યા ત્યારે મહારાજશ્રીએ સહજ રીતે એના જવાબ આપ્યા હતા, પરંતુ પછીથી જ્યારે પોતાને વહેમ પડ્યો કે જીવનચરિત્ર લખવા માટે આ પ્રશ્નો પુછાય છે ત્યારે તેમણે જવાબ આપવાનો સ્પષ્ટ ઈન્કાર કરી દીધો હતો.

મહારાજશ્રીને વિહાર કરીને સિદ્ધાચલજી અને તળાજી જવાની ભાવના વારંવાર થતી. પરંતુ ચાલવાની શક્તિ રહી નહોતી. સંઘે એમને માટે ડોળીની વ્યવસ્થા કરવાનું નક્કી કર્યું પણ ડોળીનો ઉપયોગ કરવાની એમણે સ્પષ્ટ ના પાડી દીધી હતી. તેઓ કહેતા કે પોતે સમુદાય માં વડા છે અને પોતે ડોળીનો ઉપયોગ કરે તો એમનો દાખલો લઈ બીજાઓ પણ ડોળીમાં બેસવા લાગે અને એમ કરતાં સાધુસમુદાયમાં શિથિલાચાર વધે.

મહારાજશ્રીની શારીરિક પીડા જેમ જેમ વધતી ગઈ તેમ તેમ તેમનો આત્મોપયોગ પણ વધતો ગયો. દેહભાવમાંથી છૂટી અધ્યાત્મસ્વરૂપમાં અને અનુભવજ્ઞાનમાં તેઓ વધુ લીન રહેવા લાગ્યા હતા. શરીરની વેદના તીવ્રતમ થતી ત્યારે પણ તેમના મુખમાંથી ઊંડકારો નીકળતો નહિ. તેઓ અરિહંત, સિદ્ધ, સાહુ એ ત્રણ શબ્દોનું નિરંતર રટણ કરતા રહેતા અને પોતાને મળવા આવેલાઓને પણ એ ત્રણ શબ્દોનું રટણ કરવા કહેતા. એવા અશાતાના વખતમાં પણ તેઓ ચઉસરણ પયત્રાનું રટણ કરતા અને કોઈ કોઈ ગાથાનો અર્થ ઉદ્ઘાસપૂર્વક સમજવતા, જાણે કે શરીરમાં કંઈ વ્યાધિ જ નથી.

સં. ૧૯૪૯ના વૈશાખમાં મહારાજશ્રીની તબિયત વધુ બગડી અને વૈશાખ સુદ ૭ની રાત્રે ૯-૩૦ વાગે એમણે સમાધિપૂર્વક દેહ છોડ્યો. આ શોકજનક સમાચાર સમગ્ર શહેરમાં ફરી વળ્યા. ભક્તોનાં ટોળેટોળાં ઊમટ્યાં. ગામેગામ તારથી ખબર અપાયા. બીજે દિવસે સવારે ભાવનગરમાં બધાં બજારો-શાળાઓ વગેરે બંધ રહ્યાં. સુશોભિત પાલખીમાં મહારાજશ્રીના દેહને મૂકીને ભક્તો જ્ય જ્ય નંદા, જ્ય જ્ય ભદ્રા ના ઉચ્ચારો કરતા દાદાવાડીમાં લઈ આવ્યા. હજારોની મેદની ત્યારે એકત્ર થઈ હતી. મહારાજશ્રીના દેહને ત્યાં અગ્નિસંસ્કાર કરવામાં આવ્યા. એક મહાન જ્યોતિ વિલીન

થઈ ગઈ. એ પ્રસંગે અનેક લોકોએ અને જુદા જુદા સંઘોએ એમની સ્મૃતિમાં સંસ્થાઓની સ્થાપનાના, તપશ્ચર્યાના, અનુકંપાદાન, સુપાત્રદાન વગેરેના સંકલ્પો જાહેર કર્યા હતા.

વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ પાણ પોતાના વડીલ ગુરુબંધુ મૂલચંદજી મહારાજની જેમ ૫૯ વર્ષની વયે કાળધર્મ પામ્યા. બંને ભાવનગરમાં કાળધર્મ પામ્યા. બંનેની ઉંમર વચ્ચે ચાર વર્ષનું અંતર હતું અને કાળધર્મ વચ્ચે પાણ ચાર વર્ષનું અંતર રહ્યું હતું. બંનેનો અગ્નિસંસ્કાર ભાવનગરમાં દાદાવાડીમાં થયો હતો. બંનેનાં પગલાંની દેરી પાણ પાસે પાસે કરવામાં આવી છે. પંજબથી ભરયુવાન વયે નીકળેલા આ બે સાચા સંયમી, સાચા ત્યાગી, સમર્થ ધર્મોપદેશક મહાત્માઓએ ગુજરાત ઉપર અનન્ય ઉપકાર કરી ગુજરાતમાં જ દેહ છોડ્યો.

પૂ. બુટેરાયજી મહારાજ, પૂ. મૂલચંદજી મહારાજ અને પૂ. વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ પંજબથી વિહાર કરી ગુજરાતમાં આવ્યા અને સંવેગી દીક્ષા ધારણ કરી. ત્યારપછી બુટેરાયજી મહારાજ અને મૂલચંદજી મહારાજ પંજબ જઈ આવ્યા, પરંતુ વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ તો પાછા પંજબ ક્યારેય ગયા જ નહિ. તેમણે પંજબ ઉપરથી, પોતાના વતન અને કૌટુંબિક સ્વજનો ઉપરથી આસક્તિ ક્યારનીય ઉતારી નાખી હતી. તેઓ ગુજરાતના થઈને, ગુજરાત સાથે, ભાવનગર સાથે એકરૂપ થઈને રહ્યા હતા. ગુરુમહારાજ બુટેરાયજી મહારાજે એમને કાઠિયાવાડ અને તેમાં પાણ ભાવનગર ક્ષેત્ર સંભાળવાની આજ્ઞા કરી ત્યારથી તેઓ તે ક્ષેત્રને સવિશેષપાણે સાચવવા લાગ્યા હતા. અગાઉ ગુજરાત કરતાં પાણ કાઠિયાવાડ ધર્મ અને સંસ્કારમાં પછાત હતું. વળી ત્યાં સ્થાનકવાસી માર્ગે વધુ પ્રચલિત બન્યો હતો. એ દષ્ટિએ મંદિરમાર્ગને ત્યાં વધુ ચેતનવંતો બનાવવામાં વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજનું મોટું યોગદાન રહેલું છે. સમગ્ર ભાવનગર જિલ્લા ઉપર અને તેમાં પાણ ભાવનગર શહેર ઉપર એમનો ઉપકાર ઘણો મોટો રહ્યો છે. એમણે પંજબ છોડ્યા પછી કુલ ૩૮ ચાતુર્માસ ગુજરાતમાં કર્યા એમાં ચોવીસ ચાતુર્માસ કાઠિયાવાડમાં કર્યા અને અડધા ચાતુર્માસ-૧૯ જેટલાં ચાતુર્માસ ભાવનગરમાં કર્યા. એ ઉપરથી પાણ આ વાતની પ્રતીતિ થશે. ભાવનગરના સંઘ પાસે એમણે વખતોવખત વિવિધ સુંદર ધાર્મિક, સામાજિક, શૈક્ષણિક કાર્યો કરાવ્યાં અને પરિણામે એ જમાનામાં ભાવનગર માત્ર ગુજરાતનું જ નહિ, સમગ્ર ભારતનું એક મહત્ત્વનું સંસ્કારકેન્દ્ર બની ગયું હતું.

વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજના સ્વર્ગવાસ પછી અંજલિ આપતી વિવિધ કાવ્યકૃતિઓની રચના થઈ છે. ગુજરાતીમાં રચાયેલા આઠ શ્લોકના એક અષ્ટકમાં એક કવિએ લખ્યું છે

મોટા-નાના સરવ જનને માન આપે સુહર્ષે,
હેતે બોલી મધુર વચનો ભક્તના ચિત્ત કર્ષે.
જેના ચિત્તે અવિચળ સદા તુલ્ય દષ્ટિ વિભાસે
તે શ્રી વૃદ્ધિવિજય ગુરુને કેમ ભૂલી જવાશે ?

વિદ્વાનોનાં વદન નિરખી નિત્ય આનંદ પામે,
 ગ્રંથો દેખી અભિનવ ઘણો હર્ષ જે ચિત્ત જામે,
 તત્ત્વો જાણી જિનમત તારા જ્ઞાનદષ્ટિ પ્રકાશે,
 તે શ્રી વૃદ્ધિવિજય ગુરુને કેમ ભૂલી જવાશે ?

વૃદ્ધિચંદ્રજ્ઞના પ્રશિષ્ય કાશીવાળા શ્રી વિજયધર્મસૂરિએ સ્તુતિરૂપ અષ્ટકની રચના સંસ્કૃત શ્લોકમાં કરી છે. એની વિશિષ્ટતા એ છે કે એમાણે પ્રથમ સાત શ્લોકમાં પ્રત્યેકમાં પ્રથમ ચરણમાં પહેલો શબ્દ ભેવડાવ્યો છે, જેમકે વાચંવાચં, પાવં પાવં, દાયં દાયં ઇત્યાદિ તથા તે પ્રત્યેક શ્લોકનું અંતિમ ચરણ નીચે પ્રમાણે એકસરખું જ રાખ્યું છે :

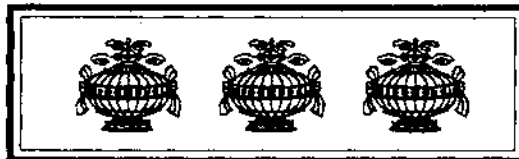
સ્વર્ગસ્થૌડસૌ વિલસતિ સુખં મદગુરુર્વૃદ્ધિચન્દ્ર : ।

પૂ. શ્રી વિજયનેમિસૂરિજી મહારાજના પ્રશિષ્ય પૂ. શ્રી વિજયનંદસૂરિએ સંસ્કૃત પદ્યમાં શ્રી વૃદ્ધિસ્તોત્રમ્ નામના કાવ્યની દસ શ્લોકમાં રચના કરી છે, જેમાંના પ્રથમ આઠ શ્લોકનું અંતિમ ચરણ સ્તુત્વે સોહં ધ્યાનો એ પ્રમાણે રાખ્યું છે. શ્રી વૃદ્ધિચંદ્રજ્ઞ મહારાજના ઉત્તમ ગુણોનો મહિમા ગાતા આ સ્તોત્રના આરંભના શ્લોકમાં તેઓ કહે છે

સદા સ્મર્યા સંઢખ્યા સ્વલિત ગુણં સંસ્મારિત યુગ-
 પ્રધાનં પીયૂષોપમમધુર વાચં વ્રતિધુરમ્ ।
 વિવેકાદિજ્ઞાતસ્વ પરસમયાશેષ વિષયં
 સ્તુત્વે સોડહં ધ્યાનોલ્લસિતહૃદયં વૃદ્ધિવિજયમ્ ॥

(સદા સ્મરણ કરવાલાયક, અસંખ્ય અને અસ્ખલિત ગુણો વડે યુગપ્રધાનનું સ્મરણ કરાવનાર, અમૃત સમાન મીઠી વાણીવાળા, મુનિઓમાં અગ્રેસર, સ્વરૂપ સિદ્ધાંતના સર્વ વિષયોને વિવેકથી જાણનાર અને ધ્યાનમાં (અથવા તે જ હું છું એવા ધ્યાનમાં) ઉલ્લસિત હૃદયવાળા શ્રી વૃદ્ધિવિજયની હું સ્તુતિ કરું છું.)

શ્રી વૃદ્ધિચંદ્રજ્ઞ મહારાજની યશોજ્જવલ ગાથાનું જેમ જેમ પાન કરીએ છીએ તેમ તેમ તેમના પ્રત્યે મસ્તક વધુ ને વધુ નમે છે.



(૪)

શ્રી વિજ્યાનંદસૂરિ મહારાજ (શ્રી આત્મારામજી મહારાજ)

ન્યાયામ્બોનિધિ, તાર્કિક શિરોમણિ, સર્વદર્શનનિષ્ણાત, નૈષ્ઠિક બાલબ્રહ્મચારી, મહાન કાન્તિકારી અને દીર્ઘદૃષ્ટા, શાસન-શિરોમણિ, યુગપ્રવૃત્તક, કવિ અને સંગીતજ્ઞ, તપસ્વી અને સંયમી, તેજસ્વી જ્યોતિર્ધર, મહાન જૈનાચાર્ય શ્રીમદ્ વિજ્યાનંદસૂરિ (શ્રી આત્મારામજી મહારાજ) નું જીવન અનેક પ્રેરક અને રોમાંચક ઘટનાઓથી અને બોધવચનોથી સભર છે.

ગત શતકમાં પંજબની શીખ પરંપરાનુસારી કોમ તરફથી જૈન ધર્મને મળેલી બે મહાન વિભૂતિઓની ભેટનો ઋણ સ્વીકાર અવશ્ય કરવો જોઈએ. જે પોતાની ધર્મપરંપરામાં તેઓ રહ્યા હોત તો જેઓ કદાચ મહાન શીખ ધર્મગુરુ બન્યા હોત તે બે મહાત્માઓ સંજોગાનુસાર મહાન જૈન સાધુ મહારાજ બન્યા. તેમનું પ્રેરક કાંતિકારી જીવન નિહાળવા જેવું છે. વિક્રમની વીસમી સદીના આરંભના એ બે મહાત્માઓ તે સ્વ. પૂજ્ય શ્રી બુદેરાયજી મહારાજ અને એમના શિષ્ય સ્વ. પૂજ્ય શ્રી આત્મારામજી મહારાજ.

પૂ. આત્મારામજી મહારાજના જીવનનાં સંસ્મરણો એટલે આજથી સવાસો - દોઢસો વર્ષ પહેલાંની પંજબની ધરતી ઉપર જૈન ધર્મના ક્ષેત્રે જે મોટો ખજાળાટ મચ્યો તેનાં ઐતિહાસિક સંસ્મરણો.

આત્મારામજી મહારાજના ગુરુનું નામ હતું બુદેરાયજી મહારાજ. બુદેરાયજી મહારાજ જન્મે શીખ હતા. એમનો જન્મ વિ.સં. ૧૮૬૩માં લુધિયાણા નજીક દુલવા ગામમાં થયો હતો. એમનું નામ બુદ્ધાસિંહ હતું. એમની માતાનું નામ કર્મો અને પિતાનું નામ ટેકસિંહ હતું. બાલ્યાવસ્થાથી જ એમને સંન્યાસ લેવાની તીવ્ર ભાવના થયા કરતી હતી. એકનો એક પુત્ર હોવાના કારણે માતા-પિતાની મરજી બુદ્ધાસિંહને સંન્યાસ લેવા દેવાની ન હતી. પરંતુ બુદ્ધાસિંહ પોતાના નિર્ણયમાં અચલ હતા.

સંન્યાસ કોની પાસે લેવો ? બુદ્ધાસિંહનું મન પોતાના શીખ ધર્મના ગુરુઓ કરતાં તે વખતે તે બાજુ વિચરતા જૈન પંથ મહાવ્રતધારી, પાદવિહારી અને રાત્રિભોજનના ત્યાગી સ્થાનકવાસી સાધુઓ તરફ ખેંચાયું હતું. પંદર વર્ષની વયે એટલે કે વિક્રમ સંવત ૧૮૮૮ માં દિલ્હીમાં આવીને એમણે સ્થાનકવાસી સાધુ મહારાજ પાસે દીક્ષા લીધી, અને એમનું નામ બુદેરાયજી રાખવામાં આવ્યું.

બુદેરાયજી તેજસ્વી સાધુ હતા, ક્રિયાકાંડમાં યુક્ત હતા. અભ્યાસ કરવામાં નિપુણ હતા. એમણે સંસ્કૃત અને અર્ધમાગધી ભાષાનો ઘણો ઊંડો અભ્યાસ કર્યો. શાસ્ત્રોનું અધ્યયન કર્યું. સ્થાનકવાસી

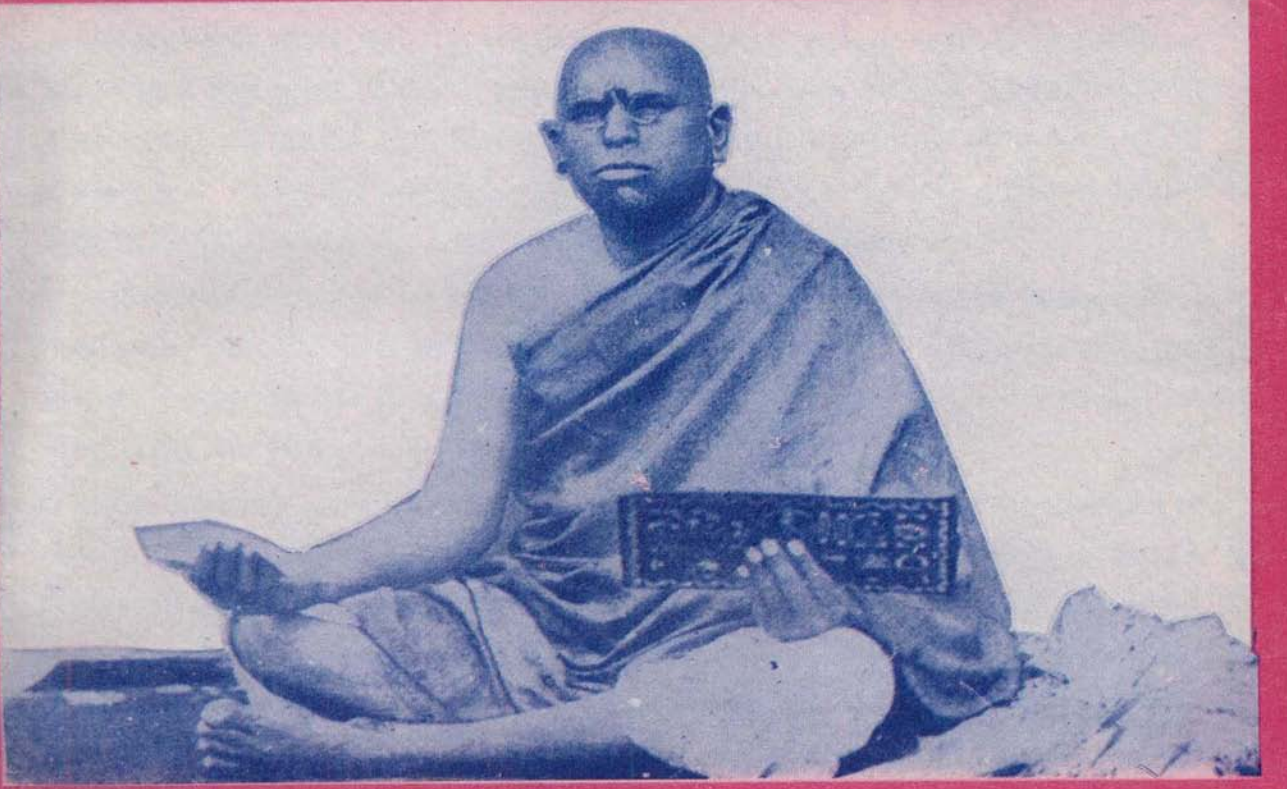
સંપ્રદાયને માન્ય એવાં બત્રીસ આગમોનું ઝીણવટપૂર્વક વારંવાર પરિશીલન કર્યું. પાંચેક વર્ષ કરેલા આગમોના અધ્યયનને કારણે મૂર્તિપૂજનો વિરોધ એમના મનમાંથી નીકળી ગયો. જેમ જેમ શાસ્ત્રના મૂળ પાઠોનું વધુ ને વધુ ચિંતવન તેઓ કરતા ગયા તેમ તેમ મૂર્તિપૂજમાં તેમની શ્રદ્ધા વધુ ને વધુ દૃઢ થતી ગઈ. અને એક દિવસ, વિ. સં. ૧૯૧૨ માં એમણે અમદાવાદ આવીને પૂ. મણિવિજયજી મહારાજ પાસે નવેસરથી સંવેગી દીક્ષા ધારણ કરી. એમનું નામ બુદ્ધિવિજયજી રાખવામાં આવ્યું, પરંતુ બુદ્ધિવિજયજી કરતાં બુટેરાયજી મહારાજ તરીકે જ તેઓ વધુ જાણીતા રહ્યા.

પંજબથી તેઓ ગુજરાતમાં આવ્યા ત્યારે પોતાના બે પંજબી શિષ્યોને પણ લઈને આવ્યા હતા : (૧) મૂળચંદ્રજી મહારાજ અને (૨) વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ તેઓ બંનેએ પણ મૂર્તિપૂજક સમુદાયમાં ફરીથી દીક્ષા ધારણ કરી અને તેઓનાં નામ અનુક્રમે મુક્તિવિજય અને વૃદ્ધિવિજય રાખવામાં આવ્યાં. પરંતુ એમના ગુરુની જેમ તેઓ પણ પોતાનાં મૂળ નામથી મૂળચંદ્રજી મહારાજ ને વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ તરીકે વધુ જાણીતા રહ્યા. પોતાના ગુરુ મહારાજ સાથે તેઓ ગુજરાતમાં વિચરતા રહ્યા.

પોતાના માર્ગે ભવિષ્યમાં આત્મારામજી નામના પોતાના કરતાં પણ વધુ તેજસ્વી અને સમર્થ એવા એક પંજબી સાધુ મહારાજ ગુજરાતમાં બીજા ઘણા સાધુ મહારાજો સાથે આવશે એવી ત્યારે એમને સ્વપ્નમાં પણ કલ્પના નહોતી.

આત્મારામજી મહારાજ જન્મે કપૂર બ્રહ્મક્ષત્રિય જાતિના હતા. એમનો જન્મ વિ. સં. ૧૮૯૨ ના ચૈત્ર સુદ ૧ ને મંગળવારના રોજ પંજબના જીરાનગર નજદીક લહેરા નામના ગામમાં થયો હતો. એમનું નામ દિત્તારામ રાખવામાં આવ્યું હતું. એમના પિતાનું નામ હતું ગણેશચંદ્ર અને માતાનું નામ હતું રૂપાદેવી. એમનો પરંપરાથી પ્રાપ્ત થયેલો કુલધર્મ તે શીખધર્મ હતો. નાનાંમોટાં રાજ્યોની સત્તા માટેની ઉથલપાથલનો એ જમાનો હતો. અંગ્રેજો સલ્તનત પણ દેશી રાજ્યોને લડાવવામાં જાતજાતના કાવાદાવા કરતી હતી. નાનપણમાં માતા-પિતા ગુમાવનાર અશક્ત ગણેશચંદ્રે ધાણેદાર તરીકે નોકરી કરી. ત્યાર પછી મહારાજ રણજિતસિંહના સૈનિક તરીકે કામ કર્યું. લહેરાના જાગીરદાર અત્તરસિંહ શીખ ધર્મગુરુ હતા. ગણેશચંદ્રના, જેતાં જ મનમાં વસી જાય એવા પુત્ર દિત્તાને શીખ ધર્મગુરુ બનાવવા તેઓ ઈચ્છતા હતા. પરંતુ પોતાના પુત્રને ધર્મગુરુ બનાવવાની ઈચ્છા ગણેશચંદ્રની ન હતી. અત્તરસિંહને એ વાતની ગંધ આવતાં ગણેશચંદ્રને કેદમાં પૂર્યા, તો પણ ગણેશચંદ્રે દિત્તાને સોંપવાનું કબુલ કર્યું નહિ.

એક દિવસ જેલમાંથી ભાગી જઈને ગણેશચંદ્ર અત્તરસિંહ સામે બહારવટે ચઢ્યા. એમ કરવામાં અંગ્રેજ કંપની સરકાર સાથે પણ તેઓ સંઘર્ષમાં આવ્યા, પકડાયા, દસ વર્ષની જેલ થઈ. આગ્રાની જેલમાં તેમને રાખવામાં આવ્યા. એક વખત ઉપરીઓ સાથેની બંદૂકની ઝપાઝપીમાં ગોળી વાગવાથી તેઓ મૃત્યુ પામ્યા. એક બહાદુર સરદાર ગણેશચંદ્રના જીવનનો આમ કડુણ અંત આવ્યો.



श्रीमद् विजयानंदसूरि महाराज चिंतन व मनन की मुद्रा में

ગણેશચંદ્રનો પુત્ર બાળક દિત્તારામ પોતાના પિતાની જેમ બહાદુર અને નીડર હતો. જ્યારે અગિયાર વર્ષનો હતો ત્યારે એક વખત તેમના લહેરા ગામ ઉપર બહારવટિયાઓની એક ટોળકીએ હુમલો કર્યો. ગણેશચંદ્રની આગેવાની હેઠળ ગામના લોકોએ બહારવટિયાઓને માર્યા અને ભગાડ્યા. પછી તેઓ જ્યારે ઘરે પાછા આવ્યા ત્યારે ગણેશચંદ્રે જ્યેષ્ઠ કે ઘરનાં બારણામાં દિત્તારામ તલવાર લઈને ઊભો હતો. પિતાએ પુત્રને પૂછ્યું, 'આ તું શું કરે છે ?' દિત્તારામે કહ્યું તલવાર લઈને ઘરનું રક્ષણ કરવા ઊભો છું. એ જવાબ સાંભળી પિતાએ બાળક દિત્તારામને શાબાશી આપી.

દિત્તારામની બહાદુરીનો બીજો એક પ્રસંગ પણ છે. એક વખત જીરા ગામને પાદરે એક મુસલમાન બાઈ કેડમાં નાનું છોકરું તેડીને તળાવના કિનારે વાંકી વળીને મોકું ધોતી હતી. એવામાં બાઈના હાથમાંથી બાળક છૂટી ગયું અને ઊંડા પાણીમાં પડ્યું. બાળકને બચાવવા બાઈ પાણીમાં પડી, પરંતુ તે પણ ડૂબવા લાગી. આ ઘટના પાસે ઊભેલા દિત્તારામે જોઈ. સોળ વર્ષની ઉંમરે એને તરતાં આવડતું હતું. વળી તે હિંમતવાળો પણ હતો અને દયાવાળો પણ હતો. એણે તરત પાણીમાં ઝંપલાવ્યું અને ડૂબતી બાઈને તથા એના બાળકને બચાવી લીધાં. ગામમાં જ્યારે બધાંને આ ઘટનાની ખબર પડી ત્યારે સૌએ શાબાશી આપવા સાથે દિત્તારામની હિંમતની પ્રશંસા કરી.

દિત્તારામ બાળપણથી જ જેમ નીડર હતો તેમ સાચું બોલવાનો આગ્રહી હતો. એનામાં ત્યાગપ્રિયતા પણ હતી. એટલે જ પોતાના ગામમાં છોકરાઓમાં જ્યારે કંઈ ઝઘડો થતો ત્યારે તેઓ સમાધાન કે નિરાકરણ માટે દિત્તારામ પાસે આવતા, કારણ કે તેઓને ખાતરી હતી કે પોતાનો આ દોસ્તદાર જૂઠું નહિ બોલે અને અન્યાય નહિ કરે.

એક બ્રહ્મક્ષત્રિય બંડખોર યોદ્ધાનો પુત્ર દિત્તારામ (અથવા દેવીદાસ અથવા આત્મારામ) તે જ આપણા આત્મારામજી મહારાજ. પિતા કેદમાં જતાં પિતાના એક જૈન મિત્ર જ્ઞેધમલ ઓસવાલને ત્યાં દિત્તાનો ઉછેર થયો. જ્ઞેધમલના એક બાઈનું નામ દિત્તામલ હતું. એટલે નામમાં ગોટાળો ન થાય તે માટે દિત્તાનું નામ દેવીદાસ રાખવામાં આવ્યું. જ્ઞેધમલને ઘરે જૈન સાધુઓ આવતા હતા. એમના સતત સંપર્કને કારણે સામાયિક-પ્રતિક્રમણ વગેરે ધર્મક્રિયાઓ કરવી અને સૂત્રો કંઠસ્થ કરવાં ઈત્યાદિ પ્રકારના સંસ્કાર બાળક દિત્તાના મન ઉપર પડ્યા. એ દિવસોમાં લહેરામાં આવેલા બે સ્થાનકવાસી સાધુઓ ગંગારામજી મહારાજ અને જીવનરામજી મહારાજની છાપ દિત્તાના મન ઉપર ઘણી મોટી પડી. એણે એની પાસે દીક્ષા લેવાનો સંકલ્પ કર્યો. પોતાના પુત્રની જેમ ઉછેરનાર જ્ઞેધમલને પણ, નામરજી છતાં દિત્તાને દીક્ષા માટે છેવટે સંમતિ આપવી પડી. દિત્તાએ વિ. સં. ૧૯૧૦માં અઠાર વર્ષની વયે માલેરકોટલામાં દીક્ષા લીધી, અને જીવનરામજી મહારાજના તેઓ શિષ્ય બન્યા. એમનું નામ આત્મારામજી રાખવામાં આવ્યું.

આત્મારામજી મહારાજને જોતાં જ હરકોઈ કહી શકે કે આ તેજસ્વી નવપુવાન સાધુ છે. એમની

મુખમુદ્રા એવી પ્રતાપી હતી. એમની શબ્દગુણશક્તિ અને સ્મરણશક્તિ અજોડ હતી. રોજની ત્રણસો ગાથાઓ તેઓ કંઠસ્થ કરી શકતા. ભાષા ઉપર તેમનું અસાધારણ પ્રભુત્વ હતું. પોતાના ગુરુ મહારાજ સાથે તેમણે પંજાબ, રાજસ્થાન અને ઉત્તર ભારતમાં જયપુર, પાલી, હોશિવારપુર, જીરા, લુધિયાણા, દિલ્હી, આગ્રા વગેરે સ્થળે વિહાર કર્યો હતો. અર્ધમાગધી ઉપરાંત સંસ્કૃત ભાષા શીખવા માટેની તેમને ઘણી લગની હતી. જેમ જેમ તેમને સંસ્કૃત ભાષા અને વ્યાકરણનો અભ્યાસ થતો ગયો તેમ તેમ આગમના કેટલાક પાઠોના ખોટા અર્થ વિશે તેમના મનમાં સંશય થવા લાગ્યો. એમને પોતાના સંપ્રદાયની જે પોથીઓ વાંચવા મળતી હતી તેમાં કેટલીક જગ્યાએ હરતાલ (પીળા રંગનું દ્રવ્ય) લગાડી શબ્દો ભૂંસી નાખવામાં આવ્યા હતા. આથી એમની શંકા ઊલટી વધતી હતી.

આત્મારામજી મહારાજની અધ્યયન-ભૂખ ઘણી મોટી હતી. તીવ્ર શબ્દગુણશક્તિ અને સ્મરણશક્તિને લીધે કોઈ પણ ગ્રંથ તેઓ ઝડપથી વાંચી લેતા. તે સમયે છાપેલા ગ્રંથો ભાગ્યે જ મળતા. હસ્તપ્રત-પોથીઓરૂપે ગ્રંથો મળતા. તે વાંચતાં તેમાંની બધી વિગતો એમને યાદ રહી જતી. તેમણે જૈન આગમ ગ્રંથો ઉપરાંત વેદો, ઉપનિષદો, પુરાણો, ભગવદ્ગીતા, રામાયણ, મહાભારત, ભાગવત, શંકરભાષ્ય ઈત્યાદિ હિન્દુ ધર્મના પણ ઘણા બધા ગ્રંથો વાંચી લીધા હતા. કુરાન અને બાઈબલનો અભ્યાસ પણ તેમણે કરી લીધો હતો. જૈન ધર્મનાં આગમો અને તેની ચૂર્ણિ, ભાષ્ય, ટીકા વગેરે ગ્રંથો ઉપરાંત બીજા ઘણા ગ્રંથોનું એમણે પરિશીલન કર્યું હતું. એથી પ્રતિમાપૂજન તથા અન્ય બાબતો વિશે તેમના મનમાં કેટલાક પ્રશ્નો ઊઠતા હતા, પરંતુ તેમના મનનું સમાધાન કરાવી શકે તેવી સમર્થ જ્ઞાની એવી કોઈ વ્યક્તિ પંજાબમાં ત્યારે દેખાતી ન હતી.

ઈ. સં. ૧૯૨૦ માં આગ્રામાં એમણે ચાતુર્માસ કર્યું તે વખતે સ્થાનકવાસી સમાજના વૃદ્ધ પંડિત, વ્યાકરણશાસ્ત્રના નિષ્ણાત રત્નચંદ્રજી મહારાજનો તેમને મેળાપ થયો. પોતાની શંકાઓનું સમાધાન કરાવી શકે એવી સમર્થ વ્યક્તિનો આ મેળાપ હતો. આત્મારામજી મહારાજના પ્રશ્નો અને સત્યશોધનની સાચી લગની જોઈને રત્નચંદ્રજી મહારાજને પણ થયું કે પોતે ખોટા અર્થો કરી ખોટે માર્ગે આત્મારામજીને દોરવા ન જોઈએ. એટલે એમણે મૂર્તિપૂજા અને મૂહપત્તિ વિષે આત્મારામજી મહારાજના મનનું સાચું સમાધાન કરાવ્યું અને કહ્યું, 'ભાઈ! આપણે સ્થાનકવાસી સાધુ ભલે રહ્યા, પણ જિનપ્રતિમાની પૂજાની તું ક્યારેય નિંદા કરતો નહિ.' આત્મારામજીએ રત્નચંદ્રજીને વચન આપ્યું અને એમનો ઘણો ઉપકાર માન્યો.

શાસ્ત્રોનું અધ્યયન-મનન આ સંદર્ભમાં ફરી એકવાર આત્મારામજી ઝીણી નજરે કરી ગયા. એવામાં એમને શીલાંકાર્યાર્થ-વિરચિત શ્રી આચારાંગસૂત્રવૃત્તિ નામની એક પોથી એક ચતિના સંગ્રહમાંથી મળી આવી. એ વાંચતાં એમની બધી શંકાઓનું બરાબર સમાધાન થઈ ગયું. મૂર્તિપૂજા અને મૂહપત્તિ વિષે સ્પષ્ટ માર્ગદર્શન એમને મળી ગયું. જેમ જેમ સ્થાનકવાસી સમુદાયમાં અન્ય

સાધુઓ સાથે તેઓ આ વિષે નિખાલસ ચર્ચા કરતા ગયા તેમ તેમ તે તે સાધુઓ એમની સાથે સહમત થતા ગયા. પરંતુ તે સમયના પંજાબના મુખ્ય સ્થાનકવાસી સાધુ અમરસિંઘજીને ભય પેદો કે રબ્બને આન્મારામજી જેવા તેજસ્વી મહારાજ બુટેરાયજીની જેમ સંપ્રદાય છોડીને ચાલ્યા જાય. એટલે એમને અટકાવવા તેમણે શક્ય એટલા પ્રયત્નો કર્યાય પરંતુ તેમાં તેઓ ફાવ્યા નહિ. તે સમયે ખજભજાટ તો ચારે બાજુ ચાલતો હતો અને ઉત્તરોત્તર આન્મારામજી સાથે સહમત થાય એવા સાધુની સંખ્યા વધતી જતી હતી.

પોતાને જે સત્યનું દર્શન થયું તે અનુસાર પોતે ધર્મ-જીવન જીવવું જોઈએ એમ સમજી આન્મારામજી મહારાજ ત્યારપછી બીજા સત્તર સાધુઓ સાથે પંજાબથી વિહાર કરી ગુજરાતમાં અમદાવાદમાં પધાર્યા. ત્યાં બુટેરાયજી મહારાજને તથા મૂળચંદજી મહારાજને મળ્યા અને પોતાની સંવેગ પક્ષની દીક્ષા ધારણ કરવાની ઈચ્છા વ્યક્ત કરી. સ્થાનકવાસી સંપ્રદાયના બાવીસ વર્ષના દીક્ષાપર્યાય પછી એમણે મૂળચંદજી મહારાજના કહેવાથી ફરીથી સંવેગ પક્ષની દીક્ષા બુટેરાયજી મહારાજ પાસે લીધી. એમનું નામ આનંદવિજય રાખવામાં આવ્યું. એમની સાથે આવેલા બીજા ૧૭ સાધુઓએ પણ નવેસરથી દીક્ષા લીધી. એ જમાનામાં આ એક મહાન ઐતિહાસિક ઘટના બની. સ્થાનકવાસી સંપ્રદાયમમાં એમની પવિત્રતા અને તેજસ્વિતાને કારણે એમને ગુરુ ગૌતમસ્વામીના અવતાર તરીકેનું માન અને સ્થાન મળ્યું હતું તે છોડીને એમણે મૂર્તિપૂજક સંપ્રદાયમાં નવેસરથી સંવેગી દીક્ષા ધારણ કરી, એમાં એમની અપૂર્વ ત્યાગભાવના નિહાળી શકાય છે.

વિ. સં. ૧૯૩૨માં સંવેગી દીક્ષા ધારણ કર્યા પછી એક ચાતુર્માસ એમણે ભાવનગરમાં કર્યું. ત્યારપછી એમણે રાજસ્થાનમાં જોધપુરમાં ચોમાસુ કરી પંજાબ તરફ વિહાર કર્યો. વિહારમાં એમને ઘણી તકલીફ પડતી, વિરોધીઓ તરફથી ઉપદ્રવ થતા, પરંતુ તેઓ હંમેશાં સમતાભાવ રાખતા. પાંચ વર્ષ પંજાબમાં લુધિયાણા, ઝંડિયાલાગુરુ, ગુજરાતવાલા, હોશિયારપુર અને અંબાલામાં ચતુર્માસ કરી એમણે સનાતન શુદ્ધ જૈન ધર્મનો ડંકો વગાડ્યો.

આન્મારામજી મહારાજ કુશાલ બુદ્ધિવાળા હતા, શાસ્ત્રજ્ઞાતા હતા, અસાધારણ તર્કશક્તિ ધરાવતા અને વાદ કરવામાં અત્યંત નિપુણ હતા. સ્વસ્થતાપૂર્વક અને ચિત્તની સમતુલા ગુમાવ્યા વગર તેઓ સમભાવપૂર્વક શાસ્ત્રાર્થ કરતા. એક વખત લુધિયાણામાં એક હાજરજવાબી બ્રાહ્મણ પંડિત બાબુ કિશનચંદે કરેલા પ્રશ્નોના જવાબ મહારાજશ્રીએ બરાબર આપ્યા. પરંતુ મહારાજશ્રીએ કરેલા પ્રશ્નોના જવાબ કિશનચંદ આપી શકતા નહોતા. એટલે એમના પક્ષના માણસોએ ઘોંઘાટ અને વિતંડાવાદ ચાલુ કરી દીધો. પરંતુ મહારાજશ્રીના પવિત્ર અને સહાનુભૂતિભર્યા વ્યક્તિત્વનો પ્રભાવ એવો પડ્યો કે કિશનચંદે જ પોતાના પક્ષના માણસોને ઘોંઘાટ કરવાની ના પાડી અને પોતાનો પરાજય સ્વીકારી લીધો. કિશનચંદ ત્યારપછી મહારાજશ્રીના પાકા ભક્ત બની ગયા. મહારાજશ્રીના

કાળધર્મ પછી પતિયાલામાં એક ઉત્સવમાં મહારાજશ્રીનાં સ્મરણો વિશે બોલવા જતાં કિશનચંદ્ર ધ્રુસકે ધ્રુસકે રડી પડ્યા હતા. સ્વસ્થ થયા પછી કિશનચંદ્રે મહારાજશ્રી વિશે એવું વક્તવ્ય રજૂ કર્યું કે લોકો મંત્રમુગ્ધ બનીને સાંભળી રહ્યા હતા.

એક વખત એક સ્થાનકવાસી ભાઈએ આવીને મહારાજશ્રીને જિનમંદિર વિશે પ્રશ્ન કરતાં કહ્યું, મહારાજજી ! આપ કહો છો કે જિનેશ્વર ભગવાનનું મંદિર બંધાવનાર સમ્યગ્દષ્ટિ જીવ સ્વર્ગમાં જાય છે, તો શું એ સાચું છે ?

મહારાજશ્રીએ કહ્યું 'હા ભાઈ ! શ્રુતકેવલી ભદ્રબાહુસ્વામીએ એ પ્રમાણે કહ્યું છે.'

'તો પછી મંદિર માટે ઈંટ પથ્થર લાવનાર ગધેડો પાણી સ્વર્ગમાં જવો જોઈએ ને ?'

'ભાઈ, તમે જિનમંદિરમાં નથી માનતા એટલે એ વાત બાજુ પર રાખીએ. પરંતુ સાધુ-સાધ્વીઓને દાન દેવાના પુણ્યથી જીવ સ્વર્ગે જાય છે એ તો માનો છો ને ?'

'જરૂર, બેશક.'

'કોઈ તપસ્વી સાધુને પારણા માટે કોઈ માણસ ભાવથી દૂધ વહોરાવે તો તેને સ્વર્ગ મળે કે નહિ ?'

'જરૂર.'

'તો પછી એ દૂધ આપનાર ભેંસને પાણી સ્વર્ગ મળે કે નહિ ? જો ભેંસને સ્વર્ગ મળે તો ગધેડાને પાણી મળે. જો ભેંસને ન મળે તો ગધેડાને પાણી ન મળે.'

મહારાજશ્રીની તર્કયુક્ત દલીલ સાંભળી એ ભાઈ ચૂપ થઈ ગયા અને શરમાઈને ચાલ્યા ગયા.

પંજાબમાં પાંચ વર્ષ વિચર્યા પછી આત્મારામજી મહારાજ વિહાર કરીને ગુજરાતમાં પધાર્યા અને ત્યાં તેમણે અમદાવાદ, સૂરત, પાલિતાણા, રાધનપુર અને મહેસાણામાં ચાતુર્માસ કર્યા. આ વખતના એમના આગમનથી આ ભવ્ય અને પ્રતાપી મુખ્યમુદ્રાવાળા પ્રખર મેધાવી પંજાબી સાધુ ભગવંતને નજરે નિહાળવા અને એમની ઉપદેશ-વાણી સાંભળવા ગામેગામ હજારો લોકો એકત્રિત થતાં. ઠેર ઠેર બહુ મોટા પાયા ઉપર એમનું શાનદાર સ્વાગત થતું. સંઘના, મહાજનના આગેવાનો પાંચ-દશ માઈલ સામે પગે ચાલીને એમનું સ્વાગત કરવા જતા. પાલિતાણામાં એમને આચાર્યની પદવી આપવામાં આવી ત્યારે પ્રવાસનાં અલ્પતમ સાધનોના એ જમાનામાં ગુજરાત, રાજસ્થાન અને પંજાબમાંથી પાંત્રીસ હજારથી વધુ માણસો એકત્ર થયા હતા. તેઓને હવે વિજ્યાનંદસૂરિ તરીકે જાહેર કરવામાં આવ્યા, પરંતુ લોકોની જીભે તો આત્મારામજી નામ જ ચડેલું રહ્યું.

પાંચ વર્ષ ગુજરાતમાં વિચર્યા પછી આત્મારામજીએ રાજસ્થાનમાં જોધપુરમાં ચોમાસું કર્યું. ત્યાંથી ફરી પાછા તેઓ પંજાબ પધાર્યા. અમદાવાદના શ્રેષ્ઠિઓ સાથે વાત થઈ હતી તે મુજબ પૂ.

મહારાજશ્રીની ભાવના અનુસાર આગંદજી કલ્યાણજીની પેઢીએ અમદાવાદથી અને પાલિતાણાથી દોઢસોથી વધુ જિનપ્રતિમાઓ પંજબનાં જિન મંદિરોના નિર્માણ માટે મોકલી આપી. પંજબનાં કેટલાંક મુખ્ય નગરોમાં એમના હસ્તે જિન પ્રતિમાની પ્રતિષ્ઠા થઈ. પંજબમાં આનંદોલાસનું એક મોજું ફરી વળ્યું.

વિ. સં. ૧૯૪૭ થી ૧૯૫૩ સુધીનાં સાત વર્ષમાં પંજબમાં તેઓ વિચર્યા અને લોકોના ધાર્મિક તેમજ સામાજિક જીવનમાં તેમણે ઘણી જાગૃતિ આણી. આત્મારામજી મહારાજ ઉદાર દષ્ટિના હતા, સર્વ જીવો પ્રત્યે સમભાવ ધારણ કરનાર હતા. એટલે એમણે પંજબમાં મૂર્તિપૂજક અને સ્થાનકવાસી સમુદાય વચ્ચેના વિષ્ણવાદને દૂર કર્યો. એટલું જ નહિ જૈન, હિન્દુ, મુસલમાન અને શીખ એ ચાર ધર્મના લોકો વચ્ચે પાણ પ્રેમ અને બંધુત્વ, સંપ અને સહકારની ભાવના ઠેરઠેર વિકસાવી. પરિણામે એમના ભક્તજનોમાં માત્ર જૈનો ન હતા, હિન્દુ, મુસલમાન અને શીખ કોમના કેટલાય માણસો પાણ એમના યુસ્ત અનુયાયી બન્યા હતા.

એમના ઉપદેશથી કેટલાયે લોકોએ માંસાહાર, દારૂ અને શિકારનો ત્યાગ કરી દીધો હતો અને ભવિષ્યમાં તેમ ન કરવા માટે પ્રતિજ્ઞા લીધી હતી. એમનામાં સામી વ્યક્તિને સમજાવવાની શક્તિ ઘણી સારી હતી. તેઓ પોતાના વર્તનમાં અભિમાન દાખવતા નહિ. તેઓ વ્યવહારકુશળ અને સ્વતંત્ર પ્રકૃતિના હતા. તેમનામાં ગજબની વિનોદવૃત્તિ પાણ રહેલી હતી. પોતાના શિષ્યો પાસે જેમ કડક શિસ્તપાલન, સંયમપાલન કરાવતા તેમ પોતે વિનોદવૃત્તિ દાખવી હળવા બનતા અને બીજાઓને હળવાશનો અનુભવ કરાવતા.

પંજબ અને રાજસ્થાનમાં એ દિવસોમાં જૈન સાધુઓ કરતાં જૈન યતિઓનું જોર ઘણું મોટું હતું. ગૃહસ્થાશ્રમી યતિઓ જુદાં જુદાં રાજ્યોમાં રાજાઓનો આશ્રય પામવાને કારણે જ્યોતિષ, આયુર્વેદ, મંત્ર-તંત્ર ઇત્યાદિ વડે રાજાઓનાં મન જીતી લઈને એમની પાસે ધાર્યું કરાવતા. રાજ્ય પાસેથી કેટલીક સત્તા ધર્મના ક્ષેત્રે તેઓ મેળવતા. એથી કેટલાંક નગરોમાં યતિઓની આજ્ઞા વગર સાધુઓથી ચાતુર્માસ થઈ શકતું નહિ. યતિઓના નિવાસસ્થાન પાસેથી પસાર થતાં સાધુઓએ યતિઓને વંદન કરવા જવું પડતું. સામેયા કે ઉજ્જમાણના પ્રસંગે માટે પાણ યતિઓની આજ્ઞા મેળવવી પડતી અથવા રાજાની આજ્ઞા યતિઓની સંમતિ મળ્યા પછી જ મળતી. આત્મારામજી મહારાજે પોતાની પ્રકાંડ વિદ્વત્તાથી કેટલાક રાજવીઓને જૈન સાધુપરંપરાનું ગૌરવ સમજાવીને નીડરતાથી લોકોના પ્રેમભર્યા સહકારથી અને રાજાઓની સંમતિથી યતિઓનો સામનો કરી એમનું જોર ઘણું નરમ કરી નાખ્યું હતું. સાધુઓને માથે ચડી બેઠેલી યતિ-સંસ્થાના પાયા આત્મારામજીએ હચમચાવી નાખ્યા હતા. આ પાણ એમની જેવી તેવી સિદ્ધિ નહોતી. બીજી બાજુ, જે યતિઓ સમજદાર અને શાસ્ત્રજ્ઞાતા હતા તેમને મહારાજશ્રી સામેથી મળવા જતા અને તેમની સાથે સુમેળ

સ્થાપતા.

આત્મારામજી મહારાજનું વ્યક્તિત્વ અત્યંત પ્રભાવશાળી હતું. પ્રથમ લલાટ, ચહેરા પર અલૌકિક તેજ, દીર્ઘ નયન, સર્વ જીવોને અભય આપવાની શોભાવાળું મુખમંડળ અને સમગ્ર દેહમાં દૈવી તેજ-એ એમના ભરાવદાર શરીરની લાક્ષણિકતા હતી. તેઓ નીડર હતા અને ક્ષત્રિય હતા એટલે શારીરિક તાકાત પણ ધરાવતા. એક વખત મારવા આવેલા એક તલવારધારી ભીલનું કાંડું પકડીને વનવગડામાંથી ગામમાં એને ઢસડી ગયા હતા. તેઓ પ્રત્યુત્પન્ન મતિવાળા પણ હતા. એક વખત એક જંગલમાંથી પોતાના શિષ્યો સાથે વિહાર કરી રહ્યા હતા ત્યારે માર્ગમાં દૂરથી બહારવટિયાઓનો અવાજ સંભળાયો. તેમણે તરત પોતાના શિષ્યોને બબ્બેની હારમાં ચાલવા કહ્યું અને દરેકને પોતાનો દંડ (લાકડી) રાઈફલની જેમ ખભે રાખવાનું કહ્યું. બહારવટિયાઓને દૂરથી એમ લાગ્યું કે આ કોઈ બંદૂકધારી સૈનિકો કૂચ કરતા ચાલ્યા આવે છે એટલે તરત તેઓ નાસી ગયા હતા.

આત્મારામજી મહારાજમાં વિનયનો ગુણ કેટલો મોટો હતો તે વિષે ભાવનગરના તે સમયના સુપ્રતિષ્ઠિત ધર્માનુરાગી શ્રાવક શ્રી કુંવરજી આણંદજી કાપડિયાએ ત્રણેક પ્રસંગો નોંધ્યા છે. બુટેરાયજી મહારાજ પાસે સંવેગી દીક્ષા લેતી વખતે બુટેરાયજીના શિષ્ય મૂલચંદજી મહારાજના શિષ્ય થવાની ઈચ્છા આત્મારામજીએ વ્યક્ત કરી હતી. પરંતુ મૂલચંદજી મહારાજનો પણ વિનય ગુણ એટલો મોટો હતો. આત્મારામજી બુટેરાયજીના જ શિષ્ય થાય તે વધુ યોગ્ય છે એવો આગ્રહ એમણે રાખ્યો હતો. આંધી મૂલચંદજી મહારાજ એમના ગુરુ નહિ પણ વડીલ ગુરુબંધુ થયા. પંજાબમાં પોતાની તબિયત બગડી તે વખતે આત્મારામજીને બેશુદ્ધ અવસ્થામાં લુધિયાણાથી અંબાલા લઈ જવામાં આવ્યા ત્યારે શુદ્ધિ આવતાં તેમણે, પોતે શાસ્ત્રજ્ઞાતા હોવા છતાં, મૂલચંદજી મહારાજને પત્ર લખીને એમની પાસે આલોચણા મંગાવી હતી.

મૂલચંદજી મહારાજ ગણિત હતા અને દીક્ષાપર્યાયમાં એમનાથી મોટા હતા, પરંતુ પોતાને આચાર્યની પદવી મળી તે પછી પણ આત્મારામજી મહારાજે મૂલચંદજી મહારાજ પ્રત્યે એટલો જ વિનય દાખવ્યો હતો. સંવેગી દીક્ષા પછી પોતાના શિષ્યોને વડી દીક્ષા કે પદવી આપવાની હોય તો પોતે આચાર્ય હોવા છતાં ન આપતાં અને તે મૂલચંદજી મહારાજ પાસે જ અપાવતા. એવી જ રીતે એક વખત આત્મારામજી મહારાજ ભાવનગરમાં વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજને મળવા આવ્યા ત્યારે વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ હજુ મુનિ હતા અને પોતે આચાર્ય થયા હતા ત્યારે અગાઉની જેમ જ તેમણે વૃદ્ધિચંદ્રજીને ખમાસમણાં દેવાપૂર્વક વંદન કર્યાં. વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજે તો પાડી ત્યારે તેમણે કહ્યું, તમે મારાથી મોટા છો. હું આચાર્ય થયો છું તે શ્રાવકોને માટે. તમારો તો હું સેવક જ છું.

એક વખત ગુજરાતના બે યુવાનો લુધિયાણામાં તેમની પાસે દીક્ષા લેવા ગયા. તેઓ દીક્ષાને માટે અયોગ્ય હતા એવું જણાતાં અમદાવાદથી શેઠ દલપતભાઈ ભગુભાઈએ મહારાજશ્રીને પત્ર

લખ્યો. પરંતુ પત્ર મોડો પહોંચ્યો અને દીક્ષા અપાઈ ગઈ હતી. તે વખતે મહારાજશ્રીએ પોતાની ભૂલનો સ્વીકાર કર્યો હતો.

બીજો પ્રસંગ ગુરુબંધુ વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ સાથેનો છે. શારીરિક અશક્તિને કારણે વૃદ્ધિચંદ્રજી મહારાજ ભાવનગરમાં સ્થિરવાસ કરીને રહ્યા હતા. ત્યારે તેમને મળવા, વંદન કરવા આત્મારામજી ગયા હતા. તે સમયે તેઓ પોતે પાટ ઉપર બેઠા નહિ. સામે નીચે બેસી ગયા. પરંતુ વૃદ્ધિચંદ્રજીએ આજ્ઞા કરી ત્યારે જ પાટ ઉપર બેઠા અને એમની આજ્ઞા થતાં તેમણે લોકોને મંગલિક સંભળાવ્યું.

આત્મારામજીના વિનય ગુણના પ્રસંગો એમના શિષ્યો-પ્રશિષ્યોએ પણ નોંધ્યા છે. પોતાનાથી દીક્ષા પર્યાયમાં જે કોઈ મોટા હોય (પછી ભલે પદવીમાં નાના હોય) તો પણ આત્મારામજી તેમને વંદન કરતા, સામી વ્યક્તિ વંદન કરવાને ના પાડે તો પણ પોતે વંદન કર્યા વગર રહેતા નહિ.

આત્મારામજી મહારાજની શારીરિક તાકાત અને કુરુણાનો એક પ્રસંગ નોંધાયો છે. તેઓ જ્યારે ભાવનગરમાં હતા ત્યારે શૈચકિયા માટે દરિયાકિનારા તરફ ફરતા હતા ત્યાં જોયું તો થોડે દૂર કમલવિજયજી તથા જશવિજયજી મહારાજ, લાકડાંની બે ભારીઓની વચ્ચે ફસાઈને પડેલા એક ગધેડાને કાઢવાનો પ્રયત્ન કરતા હતા, પરંતુ કાઢી શકતા નહોતા. એ વખતે આત્મારામજી મહારાજે પોતાના ચોલપટ્ટાને લંગોટની જેમ વાળી, પૂરી તાકાતથી લાકડાંની ભારી સાથે ગધેડાને ઊંચકીને એવો દૂર ફેંક્યો કે ગધેડાનો પગ છૂટો થઈ ગયો અને ઊભો થઈ ને તે ચાલવા લાગ્યો હતો.

આત્મારામજી મહારાજ સમય પાલનના યુક્ત આગ્રહી હતા. સાઠ વર્ષના જીવનકાળમાં તેઓ આટલું બધું કાર્ય કરી શક્યા તેનું કારણ એ છે કે એમણે એક પણ પાણ નકામી જવા દીધી નહિ. સ્વ. સુરચંદ્ર બદામીએ સુરતના ચાતુર્માસના સમયનો એક પ્રસંગ વર્ણવતાં લખ્યું છે કે સંવત્સરી પ્રતિક્રમાણ નિર્ધારિત સમયે ચાલુ કરવામાં વિલંબ થતાં મહારાજશ્રીએ સંઘના આગેવાનોને કહી દીધું કે હવે જો મોડું થશે તો અમે અમારું પ્રતિક્રમાણ કરી લઈશું. તેમ તમારું પ્રતિક્રમાણ તમારી મેજે કરી લેજો. મહારાજશ્રીની આ ચેતવણી પછી પ્રતિક્રમાણ રોજ નિશ્ચિત સમયે જ ચાલુ થઈ જતું.

એવો જ બીજો એક પ્રસંગ અમદાવાદનો છે. અમદાવાદમાં ત્યારે શેઠ પ્રેમાભાઈ સંઘના આગેવાન અને નગરશેઠ હતા. તેઓ આત્મારામજી મહારાજના વ્યાખ્યાનમાં નિયમિત આવતા. આત્મારામજી મહારાજ હવે અમદાવાદ છોડીને વિહાર કરવાના હતા. તેમણે સવારનો વિહારનો સમય જાહેર કરી દીધો અને કહ્યું કે પોતે કોઈની પણ રાહ જોયા વગર સમયસર વિહાર કરશે. સવાર થઈ. એમના વિહારસમયે સૌ કોઈ એકત્ર થઈ ગયા. સમય થયો એટલે એમણે મંગલિક સંભળાવી વિહાર ચાલુ કર્યો. એ વખતે કેટલાક શ્રેષ્ઠિઓએ કહ્યું કે નગરશેઠ પ્રેમાભાઈ હજુ આવ્યા નથી. થોડી વાર રાહ જોઈએ. પરંતુ એમણે કહ્યું કે નગરશેઠ હોય કે સામાન્ય શ્રાવક, અમારે મન બધા સરખા છે, વળી બધા જાણે છે કે હું સમયપાલનનો યુક્ત આગ્રહી છું. એટલે અમે તો વિહાર કરી દઈશું. એમણે

વિહાર કર્યો ત્યાં જ શેઠ પ્રેમાભાઈ આવી પહોંચ્યા. તેમણે મહારાજશ્રીનું માઠું ન લગાડ્યું, પરંતુ મોડા પડવા બદલ ક્ષમા માગી.

એવો જ એક પ્રસંગ વડોદરામાં બન્યો હતો. શ્રી આત્મારામજી મહારાજ વડોદરાથી છાણી વિહાર કરીને જવાના હતા. એમણે વ્યાખ્યાનમાં પોતાનો વિહાર જાહેર કરી દીધો હતો. એ વખતે કલકત્તાના ધનાઢ્ય અને જૈન આગેવાન બાબુ બદ્રીદાસજી એમની વાણી સાંભળવા કલકત્તાથી વડોદરા આવી પહોંચ્યા. મહારાજશ્રીની વિહારની વાત સાંભળી તેમણે મહારાજશ્રીને એક દિવસ વધુ વડોદરામાં રોકાઈ જવા કહ્યું. જૈન સમાજના આવા મોટા શ્રીમંત આગેવાન માટે રોકાવું કોને ન ગમે ? પરંતુ મહારાજશ્રીએ એમને જાણાવી દીધું કે અમારો વિહાર નક્કી થઈ ગયો છે. એમાં ફેરફાર નહિ થાય. માટે વ્યાખ્યાન સાંભળવું હોય તો તમે છાણી આવો. એટલે બાબુ બદ્રીદાસજી છાણી ગયા અને ત્યાં એમણે મહારાજશ્રીનું વ્યાખ્યાન સાંભળ્યું. મહારાજશ્રીની પ્રતિભા એટલી મોટી હતી કે શેઠ બદ્રીપ્રસાદે એ બાબતમાં કંઈ માઠું લગાડ્યું નહિ, બલકે પોતાનો આનંદ વ્યક્ત કર્યો.

આત્મારામજી મહારાજ સાચા ત્યાગી હતા એટલે શ્રીમંતોની શ્રીમંતાઈથી તેઓ અંજતા નહિ કે તેમના તરફ પરાધીનતાનો ભાવ ધરાવતા નહિ.

શ્રી આત્મારામજી મહારાજની હાજરજવાબીનો એક સરસ પ્રસંગ પણ નોંધાયેલો છે. આત્મારામજી એક સરદાર યોદ્ધાના પુત્ર હતા. એટલે એમનો દેહ કદાવર, સશક્ત, ખડતલ, ઊંચો અને ભરાવદાર હતો. દેખાવે તેઓ પહેલવાન જેવા, મજબૂત જેવા લાગતા હતા. એક વખત તેઓ એક ગામમાં કોઈ એક અખાડા પાસેથી પસાર થતા હતા ત્યારે તેમને જોઈને એક કુસ્તીબાજે બીજા કુસ્તીબાજને કહ્યું, 'આજે આપણા અખાડા તરફ આ કોઈ એક નવો કુસ્તીબાજ આવી રહ્યો છે. આત્મારામજીએ એ મજક સાંભળી. તેઓ પણ નિર્દોષ મજક કરવામાં નિપુણ હતા. એમણે હસતાં હસતાં એને કહ્યું, 'ભાઈ, હું કુસ્તીબાજ છું એ વાત સાચી છે. પરંતુ હું દેહ સાથે નહિ, પણ ઈન્દ્રિયો સાથે કુસ્તી લડી રહ્યો છું, અને તેમાં વિજય મેળવવાની મારી આકાંક્ષા છે. સાચી કુસ્તી એ છે.'

આત્મારામજીનો જવાબ સાંભળી પેલો કુસ્તીબાજ શરમિંદો બની ગયો.

શ્રી આત્મારામજી મહારાજ પોતે આપેલું વચન પાળવાના આગ્રહી હતા અને એ માટે જ કંઈ કષ્ટ સહન કરવાનું આવે તે સહન કરતા. એવી રીતે પોતાના શિષ્યો પાસે પણ વચનપાલન કરાવતા. એક વખત એમના એક શિષ્ય શ્રી હર્ષવિજયજી મહારાજે ઘોઘાના સંઘને ચાતુર્માસ માટે હા પાડી. પરંતુ પછીથી એમને બીજા સ્થળે વધારે સાઠું ચાતુર્માસ થાય એવી વિનંતી થઈ એટલે એમણે ઘોઘાના ગૃહસ્થોને ના પાડી. એ વાત આત્મારામજી મહારાજ પાસે આવી. એમણે હર્ષવિજયજીને કહ્યું કે તમે વચન આપ્યું છે એટલે હવે તમારે ઘોઘા જ ચોમાસું કરવું જોઈશે. વળી એમણે હર્ષવિજયજીને કહ્યું, વચન આપવાની ઉતાવળ ન કરવી જોઈએ. પણ વચન આપ્યા પછી તેનું પાલન કરવું જ જોઈએ.

તમારા શબ્દોની જે તમે જ કિંમત નહિ કરો, તો પછી તમારા શબ્દોની કોઈ જ કિંમત નહિ કરે. એમની આજ્ઞાનુસાર હર્ષવિજયજીએ એ ચાતુર્માસ ઘોઘામાં જ કર્યું.

આત્મારામજી મહારાજ પોતાના શિષ્યોની વત્સલતાપૂર્વક સારી સંભાળ રાખતા. સંયમપાલનમાં તેઓ દૃઢ રહે અને તેમનામાં કષાયો ન આવી જાય તે માટે પણ ધ્યાન રાખતા અને યથોચિત ટકોર પણ કરતા. એક વખત એમના એક શિષ્યે ફરિયાદ કરી કે અમુક કોઈક શ્રાવક ઉપાશ્રયે આવે છે ત્યારે એમને વંદન કરતા નથી. આત્મારામજી મહારાજે મીઠાશથી સમજવતાં કહ્યું, ભાઈ, દરેક જૈન રોજ નવકારમંત્ર બોલે છે અને તેમાં નમો લોએ સવ્યસાહુણં બોલે છે તેમાં આપણને સાધુઓને તે નમસ્કાર કરે છે. જે આપણમાં સાધુના ગુણ હોય તો આપોઆપ આપણને વંદન થઈ જાય છે. પછી તે ઉપાશ્રયમાં આવીને વંદન કરે કે ન કરે. જે આપણમાં સાધુ સાધુપણું ન હોય તો આપણે વંદનને પાત્ર નથી એમ સમજવું જોઈએ. આમ, આત્મારામજી મહારાજે હસતાં હસતાં એવી સરસ તર્કયુક્ત દલીલ સાથે એ સાધુ મહારાજને સમજવું કે પછી એમને કોઈ ફરિયાદ કરવાની ન રહી.

ઈ.સ. ૧૮૯૩ માં અમેરિકાના ચિકાગો (શિકાગો) શહેરમાં વિશ્વ ધર્મ પરિષદ ભરાવાની હતી. એમાં જૈન ધર્મના પ્રતિનિધિ તરીકે ભાગ લેવાને માટે આત્મારામજી મહારાજને નિમંત્રણ મળ્યું કારણકે તેઓ આંતરરાષ્ટ્રિય ખ્યાતિ ધરાવતા થયા હતા. પરંતુ જૈન સાધુઓ સમુદ્ર પાર જતા ન હોવાથી આત્મારામજી મહારાજે એ પરિષદમાં મોકલવા માટે મહુવાના યુવાન બેરિસ્ટર શ્રી વીરચંદ્ર રાઘવજી ગાંધીને પોતાની પાસે બે મહિના રાખીને તૈયાર કર્યા. વીરચંદ્ર ગાંધીને દરિયાપાર મોકલવા સામે કેટલાક લોકોએ વિરોધ કર્યો હતો, પરંતુ મહારાજશ્રીએ એનો યોગ્ય પ્રતિકાર કર્યો અને પોતાના નિર્ણયમાં મક્કમ રહ્યા હતા. વીરચંદ્ર રાઘવજીએ પરિષદમાં મહત્વનો ભાગ લીધો, એટલું જ નહિ પણ અમેરિકામાં બીજાં અનેક સ્થળોએ જૈન ધર્મ વિશે મનનીય વ્યાખ્યાનો આપ્યાં અને જૈન ધર્મનો ધણો સારો પ્રભાવ પાડ્યો હતો.

શિકાગો પરિષદ નિમિત્તે શિકાગો પ્રશ્નોત્તર નામનો ગ્રન્થ આત્મારામજીએ તૈયાર કર્યો હતો. એમાં ઈશ્વર સંબંધી જૈન ધર્મની માન્યતા બીજા ધર્મોની માન્યતા કરતાં કેવી રીતે અને શા માટે જુદી પડે છે તે સમર્થ દલીલો સાથે સમજવું છે.

પૂ. આત્મારામજી મહારાજના સમયમાં એમના જેટલો શાસ્ત્રાભ્યાસ અને એમના જેટલી વિદ્વતા અને તર્કપટતા ભાગ્યે જ કોઈની હશે. જૈન, હિંદુ, બૌદ્ધ વગેરે ધર્મના વિવિધ ગ્રન્થોના હજારો શ્લોક એમને કંઠસ્થ હતા. પાશ્ચાત્ય વિદ્વાનો પણ જૈન ધર્મ વિષે કંઈ જાણવું હોય તો અથવા કંઈ શંકાનું સમાધાન મેળવવું હોય તો એમની પાસે આવતા. રૂડોલ્ફ હર્નલ નામના પાશ્ચાત્ય વિદ્વાને પોતાનો ગ્રન્થ આત્મારામજી મહારાજને અર્પણ કર્યો છે અને એની અર્પણપત્રિકા સંસ્કૃત ભાષામાં શ્લોક-રચના કરીને મૂકી છે એ ઉપરથી પણ આત્મારામજી મહારાજની વિદેશોમાં ત્યારે પ્રસરેલી ખ્યાતિનો

ખ્યાલ આવી શકશે.

આત્મારામજી મહારાજ સંવેગી દીક્ષા લીધા પછી પંજબમાં જુદે જુદે સ્થળે જે વિહાર કર્યો અને શુદ્ધ સનાતન જૈન ધર્મનો બોધ આપ્યો તેના પરિણામે પંજબના જૈનોમાં મૂર્તિપૂજનો વિરોધ ઘણો ઘટી ગયો. સ્થાનકવાસી અને મૂર્તિપૂજક સમુદાય વચ્ચે સરસ સુમેળ સ્થપાયો. તે સમયે રાજસ્થાનમાં આર્ય સમાજના સ્થાપક સ્વામી દયાનંદ સરસ્વતી પધાર્યા હતા. કેટલાક લોકો એમ ઈચ્છતા હતા કે સમકાલીન, સમવયસ્ક જેવા, દેખાવે પણ એકબીજાને મળતા આવે તેવા આ બંને મહાપુરુષો એકબીજાને મળે તો સારું. આત્મારામજીએ દયાનંદ સરસ્વતીને જોધપુરમાં મળવાનો સમય આપ્યો. તેઓ વિહાર કરીને જોધપુર પહોંચ્યા, પરંતુ ત્યાં તો સમાચાર આવ્યા કે દયાનંદ સરસ્વતીનું અકાળ અવસાન થયું છે. આમ આ બંને મહાપુરુષો મળવાની ઈચ્છા હોવા છતાં એકબીજાને મળી શક્યા નહિ. જૈન ધર્મ ઉપરાંત હિન્દુ ધર્મશાસ્ત્રોમાં પણ પારંગત એવા આત્મારામજી મહારાજને જો દયાનંદ સરસ્વતી મળ્યા હોત તો કદાચ કંઈક જુદું જ પરિણામ આવ્યું હોત.

આત્મારામજી મહારાજ તે સમયે મોહનલાલજી મહારાજના સંપર્કમાં પણ આવ્યા હતા અને એમનાં ત્યાગ-વૈરાગ્ય તથા શાસ્ત્રજ્ઞાનથી ઘણા પ્રભાવિત થયા હતા. સૂરતનું પોતાનું ચાતુર્માસ પૂરું થયું અને સંઘના આગેવાનોએ જ્યારે એમ કહ્યું કે આપના જેવા તેજસ્વી મહાત્મા હવે અમને કોઈ નહિ મળે ત્યારે એમણે કહ્યું, મોહનલાલજી મહારાજ મારા કરતાં પણ વધારે જ્ઞાની છે અને તેજસ્વી છે. તમે એમને ચાતુર્માસ માટે વિનંતી કરજો. આમ, તેઓ બીજાની શક્તિની કદર કરનારા, ઉદાર દિલના હતા અને લીધે જ મોહનલાલજી મહારાજને આત્મારામજી મહારાજ પ્રત્યે હંમેશાં અપાર પ્રેમ-સદ્ભાવ રહ્યો હતો. આત્મારામજી મહારાજ કાળધર્મ પામ્યાના સમાચાર આવ્યા ત્યારે મોહનલાલજી મહારાજ પોતાના શિષ્યો સાથે ગોચરી વાપરવાની તૈયારી કરતા હતા તે બંધ રાખીને તેમણે તરત દેવવંદન કર્યું હતું.

આત્મારામજી મહારાજની વ્યાખ્યાનશૈલી પણ અનોખી હતી. તેઓ ગુજરાતમાં હતા ત્યારે તેમની ગુજરાતી મિશ્રિત હિંદી ભાષા અત્યંત મધુર લાગતી. તેમનો અવાજ બુલંદ હતો. તેમનાં વ્યાખ્યાનો વિદ્વતાથી સભર છતાં સામાન્ય શ્રોતાજનોને રસ પડે એવાં હતાં. તેમની વાણીમાં ઉત્સાહ, પ્રેરણા, ધગશ વરતાતાં. પરંતુ એ બધાં ઉપરાંત અનુભવીઓ કહેતા કે એમની વાણીમાં સંગીતની સુરાવટ પણ જણાતી, કારણ કે તેઓ લયબદ્ધ અને તાલબદ્ધ શબ્દો ઉચ્ચારતા. એમાં રહેલી સંગીતની સ્વરબદ્ધતાની આછી ઝણઝણાટી શ્રોતાઓનાં દિલને ડોલાવતી.

આત્મારામજી મહારાજ વિષમ પરિસ્થિતિને પણ આશાવાદી દૃષ્ટિથી જોતા અને તેનો પણ પોતાની સૂક્ષ્મ અને પ્રત્યુત્પન્નમતિથી વિશિષ્ટ રીતે અર્થ ઘટાવતા. એ દિવસોમાં વિહારમાં સાધુઓને ઘણી તકલીફ પડતી તો તે પરીપહ સમભાવપૂર્વક સહન કરવાનો ઉપદેશ પોતાના શિષ્યોને આપતા.

ઉનાળાના દિવસોમાં પંજબનાં નાનાં ગામડાંઓમાં પાણીની અછત રહેતી અને શ્રાવકોનું ઘર ન હોય એવા ગામમાંથી ઉકાળેલું પાણી તો મળતું જ નહિ. એક વાર એક ગામમાંથી પાણી ન મળ્યું અને કોઈએ છાશ પાણ ન વહોરાવી ત્યારે ગામના મુખીને ત્યાંથી જોઈએ તેટલી છાશ મળી. તે વખતે એ પ્રસંગનો પરમાર્થ શિષ્યોને સમજાવતાં એમણે કહ્યું કે મુખીની છાશ એ જૈન દર્શન છે, અને ગામના લોકોએ પોતપોતાની જરૂરિયાત પ્રમાણે તેમાં પાણી ઉમેરીને મરીમસાલા નાખ્યા હોય એ અન્ય દર્શનો છે.

આત્મારામજી મહારાજે પંજબ, રાજસ્થાન અને ગુજરાતમાં ઉચ્ચ વિહાર કર્યો. વ્યાખ્યાનપ્રવૃત્તિ ઉપરાંત તેમના દ્વારા, તેમની પ્રેરણાથી અનેક ધાર્મિક, સામાજિક પ્રવૃત્તિઓ થતી. અનેક વ્યક્તિઓ વંદન, દર્શન કે મુલાકાત માટે આવતી. પોતાની દૈનિક ધાર્મિક ક્રિયાઓ કરવા ઉપરાંત પોતાના શિષ્યોને રોજ નિયમિત તેઓ શાસ્ત્રાભ્યાસ કરાવતા. પોતાના શિષ્યોને પાણ તેમણે સંસ્કૃત ભાષામાં એટલા સરસ તૈયાર કર્યા હતા કે કેટલીક વખત તેઓ બધા માંડોમાંડે સંસ્કૃતમાં જ ચર્ચા કરતા. આટલી બધી પ્રવૃત્તિઓ છતાં આત્મારામજી મહારાજ સમય કાઢીને પોતાનું લેખનકાર્ય પાણ કરતા રહ્યા હતા. સંસ્કૃત અને અર્ધમાગધી ભાષા ઉપર એમનું એવું અસાધારણ પ્રભુત્વ હતું કે પોતે ધાર્યું હોત તો પોતાના બધા ગ્રંથો સંસ્કૃત કે અર્ધમાગધી પ્રાકૃતમાં લખી શક્યા હોત. પરંતુ પોતાના વિચારોને લોકો સુધી પહોંચાડવાની ભાવનાને લક્ષમાં રાખી એમણે પોતાના ગ્રંથો હિન્દી ભાષામાં લખ્યા હતા.

પોતાના સમયમાં લોકોની શાસ્ત્રાભ્યાસ માટેની, શાસ્ત્રગ્રંથો વાંચવા-સાંભળવા માટેની રુચિ ઓછી હતી તે વિશે ટકોર કરતાં એમણે કહેલા શબ્દો આજે પણ એટલા જ સાચા છે. તેઓ કહેતા કે શ્રાવક-વાણિયા લોકોની બે ઈન્દ્રિયો બહુ સતેજ છે. એક નાક અને બીજી જીભ. પોતાનું નાક રાખવા ખાતર લજ્જ અને બીજી સામાજિક પ્રસંગે માણસો ધામધૂમપૂર્વક ખર્ચો કરી વાહવાહ બોલાવે છે, અને પોતાની જીભના સ્વાદને ખાતર કંઈક નિમિત્ત મળતાં મોટા મોટા જમણવારો કરે છે. પરંતુ નાક અને જીભ કરતાં શ્રાવકોએ પોતાની શ્રવણેન્દ્રિયને અને નયનેન્દ્રિયને વધુ સતેજ કરવાની જરૂર છે કે જેથી શાસ્ત્રગ્રંથો વાંચવા ગમે, તત્ત્વમાં રુચિ જન્મે અને ધર્મચર્ચા સાંભળવી ગમે.

આત્મારામજી મહારાજે એટલા માટે જ જિનમંદિરોના નિર્માણની સાથે સાથે સરસ્વતીમંદિરો ઊભા કરવા ઉપર ભાર મૂક્યો હતો. તેઓ માનતા કે સંસ્કૃત અને અર્ધમાગધી ભાષાનો બરાબર અભ્યાસ કરીને માણસ જે મૂળ ભાષામાં શાસ્ત્રગ્રંથો ચીવટપૂર્વક વાંચે તો એની બધી શંકાઓનું સમાધાન થઈ જાય.

એમણે લખેલા ગ્રંથો આ પ્રમાણે છે : જૈન તત્ત્વાદર્શ, અજ્ઞાનતિમિરભાસ્કર, તત્ત્વનિર્ણય-પ્રાસાદ, સમ્યક્ત્વશલ્યોદ્ધાર, શ્રી ધર્મવિષયક પ્રશ્નોત્તર, નવતત્ત્વ તથા ઉપદેશ ભાવની, જૈન મતવૃક્ષ,

ચિકાગો પ્રશ્નોત્તર, જૈન મતકા સ્વરૂપ, ઈસાઈમત સમીક્ષા, ચતુર્થસ્તુતિનિર્ણય આ ઉપરાંત તેમણે સ્નાત્રપૂજા, અટપ્રકારી પૂજા, વીશસ્થાનક પદ પૂજા, સત્તરભેદી પૂજા, નવપદ પૂજા તેમજ સંખ્યાબંધ સ્તવનો, પદો અને સજ્જાયોની રચના કરી છે.

આ બધા ગ્રંથોમાં એમણે જૈનધર્મ અને તત્ત્વદર્શનનાં વિવિધ પાસાંઓની ઘણી વિગતે છણાવટ કરી છે. જૈન તત્ત્વાદર્શ નામનો એમનો માત્ર એક દળદાર ગ્રંથ વાંચીએ તો પણ જૈનધર્મનો સમગ્ર સાર એમાં આવી ગયેલો જણાશે. આત્મારામજી મહારાજે જૈન ધર્મની અન્ય ધર્મો સાથે પણ તટસ્થ, તુલનાત્મક સમીક્ષા કરીને જૈન ધર્મની વિશેષતા શી છે તે દર્શાવી છે. અજ્ઞાનતિમિર ભાસ્કર નામના પોતાના ગ્રંથમાં એમણે વૈદિક યજ્ઞકર્મ, વૈદિક હિંસા, માંસાહાર, યજ્ઞનું સ્વરૂપ ઇત્યાદિની વિચારણા વેદો, ઉપનિષદો, પુરાણો વગેરેમાંથી આધાર આપીને કરી છે અને તેમાં રહેલી મિથ્યાત્વભરેલી અજ્ઞાન વિચારણાનું વિવેચન કરી, બૌદ્ધ, સાંખ્ય, જૈમિનેય વગેરે દર્શનોની મુક્તિના સ્વરૂપની વિચારણાનું વિશ્લેષણ કરી જૈન દર્શનના સિદ્ધાંતો કેવા અબાધિત અને દોષરહિત છે તે બતાવ્યું છે. ચતુર્થસ્તુતિનિર્ણય નામના ગ્રંથમાં એમણે ત્રણ ધોય (સ્તુતિ) નહિ પણ ચાર ધોય જ શાસ્ત્રોક્ત છે એ પૂર્વાચાર્યોકૃત બ્યાસી ગ્રંથોના આધારો ટાંકીને સિદ્ધ કરી બતાવ્યું છે. સમ્યક્ત્વ શલ્યોદ્ધાર નામના ગ્રંથમાં જૈન ધર્મ મૂર્તિપૂજામાં શા માટે માને છે તે એમણે આગમગ્રંથો અને ઈતિહાસમાંથી પુરાવા આપી સિદ્ધ કરી બતાવ્યું છે. તેઓ કવિ હતા, એટલે એમણે વિવિધ પૂજાઓ અને સ્તવનોની રચના હિન્દી ભાષામાં કાવ્યમાં કરી છે. એમાં એમની શાસ્ત્રીય સંગીતની જાણકારી ઉપરાંત જૈન શાસ્ત્રોના સિદ્ધાંતોને લોકભાષામાં વાણી લેવાની ખૂબી પણ જોવા મળે છે. આ પ્રકારનું પૂજાસાહિત્ય હિન્દી ભાષામાં સૌ પ્રથમ તેમના તરફથી આપણને સાંપડે છે. આત્મારામજી મહારાજે પોતે રચેલા સાહિત્ય દ્વારા જૈનશાસનની બજાવેલી અનન્ય સેવાની સુવાસ અનેક વર્ષો સુધી મહેકતી રહેશે.

શ્રી આત્મારામજી મહારાજ મંત્રવિદ્યાના પણ ઘણાસારા જાણકાર તથા ઉપાસક હતા. આ માહિતી એમના એક વિદ્વાન શિષ્ય શાંતિવિજય દ્વારા યતિ શ્રી બાલચંદ્રાચાર્યને મળી હતી. શ્રી શાંતિવિજય પાસે રોગોપહારિણી, અપરાજિતા, સંપાદિની વગેરે વિદ્યાઓ હતી અને તેની પ્રતીતિ યતિ શ્રી બાલચંદ્રાચાર્યને થતાં તેમણે શ્રી શાંતિવિજયને આ વિદ્યાઓ કોની પાસેથી મેળવી એવું પૂછ્યું ત્યારે શ્રી શાંતિવિજયે અંગત ખાનગી રીતે જણાવ્યું હતું કે એમને એ વિદ્યાઓ એમના ગુરુ શ્રી આત્મારામજી પાસેથી મળી હતી. શ્રી આત્મારામજી મહારાજને આ વિદ્યાઓ કોની પાસેથી મળી હતી એવું પૂછવામાં આવતાં તેમણે કહ્યું હતું કે મેડતામાં એક વયોવૃદ્ધ યતિ ઘણી મંત્રવિદ્યાઓ જાણતા હતા, પરંતુ પાત્રતા વગરની કોઈ વ્યક્તિને તેઓ આપવા નહોતા ઈચ્છતા. શ્રી આત્મારામજી ને જોતાં જ તેમને પોતાના યોગબળથી લાગ્યું કે આ બાળબ્રહ્મચારી તેજસ્વી સાધુને એ મંત્રવિદ્યાઓ આપી શકાશે. એ એવી સિદ્ધ વિદ્યાઓ હતી કે માત્ર પઠન કરવાથી પણ સિદ્ધ થઈ શકતી હતી.

યતિશ્રીએ જ્યારે એ વિદ્યાઓ શ્રી આત્મારામજી મહારાજને આપી ત્યારે આત્મારામજીએ કહ્યું કે પોતે એ વિદ્યાઓનો ઉપયોગ પોતાના અંગત કાર્ય માટે ક્યારેય નહિ કરે, પરંતુ યોગ્ય સમયે માત્ર ધર્મના હેતુ માટે જ ઉપયોગ કરશે અને ભવિષ્યમાં યોગ્ય પાત્રને જ તે આપશે. શ્રી શાંતિવિજય ઉપરાંત શ્રી વિજયવલ્લભસૂરિને એમણે એ વિદ્યાઓ આપી હતી એવું મનાય છે.

આત્મારામજી મહારાજની મંત્રશક્તિ વિશે એક પ્રસંગ ટાંકવામાં આવે છે. બીકાનેરના ચાતુર્માસ દરમિયાન એક વખત એક યુવાનને એમની પાસે દીક્ષા લેવાની ભાવના થઈ હતી. પરંતુ માતા-પિતાનો એકનો એક પુત્ર હતો એટલે માતા-પિતા અને સગાંસંબંધીઓએ ખૂબ વિરોધ કર્યો હતો. એ યુવાન ચાતુર્માસમાં રોજ મહારાજશ્રી પાસે આવતો હતો અને ચાતુર્માસ પછી એને દીક્ષા આપવાનો દિવસ પણ નક્કી થઈ ગયો હતો. પરંતુ માતા-પિતાના વિરોધને કારણે આત્મારામજી મહારાજે એને દીક્ષા આપવાની ના પાડી દીધી હતી. એથી માતાપિતા રાજી થયાં હતાં અને વિરોધ શમી ગયો હતો. ચાતુર્માસ પછી મહારાજશ્રી વિહાર કરવાના હતા ત્યાં એક યતિએ ટકોર કરતાં કહ્યું, તમે દીક્ષા આપવાના હતા અને એની જાહેરાત થઈ ગઈ હતી. તે પછી તમારા હાથે દીક્ષા ન અપાય એ બરાબર નથી. યતિની ટકોર મહારાજશ્રી સમજી ગયા. એમણે તરત કહ્યું, ભલે તમારી જો એવી ઈચ્છા હોય તો હવે નિર્ધારિત થયેલા સમયે દીક્ષા અપાશે જ. એમ કહ્યા પછી ત્રણચાર દિવસમાં એવું પરિવર્તન આવી ગયું કે યુવાનનાં માતા-પિતાએ સામેથી રાજીખુશીથી આવીને પોતાના દીકરાને દીક્ષા આપવા સંમતિ આપી અને એ પ્રમાણે નિર્ધારિત સમયે દીક્ષા ધામધૂમ સાથે અપાઈ. એ જોઈ મહારાજશ્રીની મંત્રશક્તિની યતિશ્રીને પ્રતીતિ થઈ હતી.

આત્મારામજી મહારાજ કેટલાંક વર્ષથી પંજાબમાં વિચરતા રહ્યા હતા. હવે તેમની ઈચ્છા રાજસ્થાન અને ગુજરાત તરફ વિચરવાની હતી. પરંતુ વિ. સં. ૧૯૫૩નું ચાતુર્માસ ગુજરાનવાલા (જે હાલ પાકિસ્તાનમાં છે) માં નક્કી થયું હતું. તેઓ વિહાર કરતાં કરતાં ગુજરાનવાલા આવી પહોંચ્યા, પરંતુ માર્ગમાં એમની તબિયત બગડવા લાગી હતી. પહેલાં જેટલો ઉગ્ર વિહાર એમનાથી હવે થતો ન હતો. તરત થાક લાગી જતો, હાંફ ચઢતો. ગુજરાનવાલામાં ૧૯૫૩ ના જેઠ સુદી સાતમના રોજ સાંજે પ્રતિક્રમણ કર્યા પછી રાત્રે તેઓને એકદમ શ્વાસ ચડ્યો. એમની નિદ્રા ઊડી ગઈ. તેઓ આસન ઉપર બેઠા. તેમના શિષ્યો અને ભક્તો એમની પાસે દોડી આવ્યા. આસન પર બેસી અર્હત, અર્હત, એમ ત્રણ વાર મંત્રોચ્ચાર કરી તેઓ બોલ્યા ‘લો ભાઈ, અબ હમ ચલતે હૈં, સબકો ખમાતે હૈં.’ આટલું વાક્ય બોલી તેમણે આંખ મીંચી દીધી. થોડીક ક્ષણોમાં તેમના ભવ્યાત્માએ દેહ છોડી દીધો. એમના કાળધર્મના સમાચાર સમગ્ર ભારતમાં સેંકડો તાર દ્વારા પ્રસરી ગયા.

શ્રી આત્મારામજી મહારાજના બધા શિષ્યોમાં વડોદરાના શિષ્યો પ્રવર્તક શ્રી કાંતિવિજયજી, શ્રી હર્ષવિજયજી વગેરેનું સ્થાન મહત્ત્વનું હતું અને તેમાં પણ પ્રશિષ્ય વલ્લભસૂરિ મહારાજનું નામ

સૌથી મહત્ત્વનું હતું. વડોદરાના આ છગન નામના કિશોરને રાધનપુરમાં દીક્ષા આપ્યા પછી એમનું મુનિ વલ્લભવિજય એવું નામ રાખવામાં આવ્યું હતું. ગુરુએ એમની કુશાગ્રબુદ્ધિ, દૃઢ ચારિત્રપાલન તથા વ્યવહારદક્ષતા પારખી પોતાના આ શિષ્યને શાસ્ત્રાભ્યાસમાં સારી રીતે તૈયાર કર્યા હતા. અને એમની સમજશક્તિ, જવાબદારી વહન કરવાની શક્તિ, સમુદાયને જાળવવાની આવડત વગેરે જોઈને આત્મારામજી મહારાજે પોતાના સમુદાયની જવાબદારી વલ્લભસૂરિને સોંપી હતી. ‘મારી પાછળ વલ્લભ પંજાબને સંભાળશે’ એવા એમના કથનને વલ્લભસૂરિએ પંજાબમાં ઘણાં વર્ષ વિહાર કરીને, અનેક ધાર્મિક તેમજ સમાજોપયોગી કાર્યો કરીને સર્વ રીતે સાર્થક કરી બતાવ્યું હતું. એમણે પોતાના ગુરુ આત્મારામજીનું નામ અનેક રીતે રોશન કર્યું હતું.

સાઠ વર્ષના આયુષ્યકાળમાં આત્મારામજી મહારાજે અનેક ભગીરથ કાર્યો કર્યાં. લોકોમાં તેમણે અદ્ભુત જાગૃતિ આણી. શિક્ષણ અને સંસ્કારનાં ક્ષેત્રે પણ અનેક સમાજોપયોગી કાર્યો તેમણે કર્યાં. પોતે જ્યાં જ્યાં વિચર્યા ત્યાં ત્યાં કેટલીયે વ્યક્તિઓ, કુટુંબો, સંસ્થાઓ, સંઘો વગેરેના વ્યક્તિગત કે સામૂહિક પ્રશ્નોનાં નિરાકરણ કરાવી આપ્યાં. અનેક શુભ કાર્યો માટે લોકોને તેમણે પ્રેરણા આપી. પરિણામે એમની હવાતી દરમિયાન અને એમના કાળધર્મ પછી પંજાબ, રાજસ્થાન, ગુજરાત અને અન્યત્ર એમના નામથી અનેક સંસ્થાઓ સ્થપાઈ. આત્મારામજી અને વિજયઆનંદસૂરિ એ બંને નામોનો સમન્વય કરી આત્માનંદના નામથી શાળાઓ, કોલેજો, પાઠશાળાઓ, પુસ્તકાલયો, દવાખાનાંઓ, ધર્મશાળાઓ વગેરેની સ્થાપના થઈ. પંજાબમાં તો જ્યાં જઈએ ત્યાં આત્માનંદનું નામ ગુંજતું હોય. એમનાં નામ અને જીવનકાર્યને બિરદાવતાં અનેક પદો, ભજનો કવિઓએ લખ્યાં છે, જે આજે પણ પંજાબમાં ઉલ્લાસભર ગવાય છે. જૈન સમાજ ઉપર, વિશેષતઃ પંજાબના લોકો ઉપર આત્મારામજી મહારાજનો ઉપકાર ઘણો મોટો રહ્યો છે.

પ્રવૃત્તક શ્રી કાંતિવિજયજીએ એમને અંજલિ આપતા પદમાં લખ્યું છે

પરમ મંત્ર ગુરુ નામ હે, સાચો આતમરામ,
 તીન લોકકી સંપદા, રહનેકો વિશ્રામ.
 વીરજિનંદકી વાણી માની, ગુરુગમ અખીયાં અંજનમે,
 સંજમરાજ કીયો શિરભૂષણ, મોહરાજ દલ ખંડનમેં.
 વિષયવિરાગી, પરિગ્રહ ત્યાગી, ધૂલ પડી કહે કંચનમે,
 નમન કરત હે નરપતિ યતિપતિ, જનમ સફલ લહે વંદનમેં.
 વિજયાનંદસૂરિ મહારાજ, જય જય રહો સદાનંદનમેં.
 કાંતિવિજય ગુરુ ચરણકમલમેં વંદન હોવે અનંતનમેં.

આત્મારામજી મહારાજ જેવી મહાન જૈનપ્રતિભા છેલા દોઢ-બે સૈકામાં બીજી કોઈ જેવા નહિ મળે. ગુજરાત, રાજસ્થાન અને પંજાબ ઉપર એમનો પ્રભાવ ઘણો મોટો રહ્યો છે. એમના કાળધર્મ પછી એમની પ્રતિમાની કે પાદુકાની સ્થાપના અનેક સ્થળે કરવામાં આવી છે. શત્રુંજય તીર્થ અને ગિરનાર તીર્થ ઉપર પણ એમની પ્રતિમાની સ્થાપના કરવાનું એ સમયના ભક્તોએ અને એ તીર્થોના વહીવટકર્તાઓએ નક્કી કર્યું. એ એમના તરફની લોકભક્તિ કેટલી બધી દૃઢ અને મોટી હતી તેની પ્રતીતિ કરાવે છે.

છેલ્લા બે સૈકામાં થયેલા બહુશ્રુત પ્રભાવક આચાર્યો માં આત્મારામજી મહારાજનું સ્થાન મુખ્ય છે. એમને અંજલિ આપતાં પંડિત સુખલાલજીએ લખ્યું છે, આત્મારામજી પરમ બુદ્ધિશાળી હતા, શક્તિસંપન્ન હતા અને તત્ત્વપરીક્ષક પણ હતા. પરંતુ એ બધાં કરતાં વિશેષ તો એ છે કે તેઓ ક્રાંતિકારી પણ હતા. એમણે સંપ્રદાયબદ્ધતાની કાંચળી ફેંકી દેવાનું સાહસ કર્યું હતું તે જ બતાવે છે કે તે શાંત ક્રાંતિકારી હતા. ક્રાંતિકારીની પ્રેરણાએ જ એમને જૂના ચીલે ચાલવાની ના પાડી. રૂઢિના ચીલા એમણે ભૂંસ્યા. ત્રીસેક વર્ષ વધુ જીવ્યા હોત તો ક્ષત્રિયોચિત ક્રાંતિવૃત્તિ એમને કઈ ભૂમિકાએ લઈ જાત તે નથી કલ્પાતું.

શ્રી આત્મારામજી મહારાજના એક શિષ્ય શ્રી ચતુરવિજયજી મહારાજે સંસ્કૃત ભાષામાં કલ્યાણ મંદિરસ્તવચરણ પૂર્તિસ્વરૂપ ૪૪ શ્લોકમાં તથા પ્રશસ્તિના પાંચ શ્લોકમાં અંજલિરૂપ મનોહર રચના કરી છે, જેના આરંભના બે શ્લોક નીચે પ્રમાણે છે

શ્રેયઃ શ્રિયાં વિમલકેલિગૃહં વિકાશિ-
 પાદારવિન્દયુગલં નૃસુરૌઘસેવ્યમ્ ।
 ભવ્યાઙ્ગિનાં ભવમહાર્ણવતારણાય
 પોતાયમાનમભિનમ્ય જિનેશ્વરસ્ય ॥
 કીર્તિઃ સિતાંશુસુભગા ભુવિ પોસ્ફુરીતિ
 યસ્યાનઘં ચરિકરીતિ મનો જનાનામ્ ।
 આનન્દપૂર્વ વિજયાન્તગસૂરિભર્તુ
 સ્તસ્યાહમેષ કિલ સંસ્તવનં કરિષ્યે ॥



આત્મારામજીમહારાજનું પૂજા સાહિત્ય

ડૉ. કવિન શાહ

શ્રી આત્મારામજી મહારાજ વીસમી સદીના પ્રથમ આચાર્ય ભગવંત, શ્રુતજ્ઞાનનાં પ્રખર અભ્યાસી અને જ્ઞાનના ભવ્ય વારસાના પ્રસાર માટે જીવનભર પુરુષાર્થ કરીને યથા નામ તથા ગુણાઃ નામને ચરિતાર્થ કરી બતાવનાર મહાત્મા હતા. એમના સંયમ જીવનનો સાર શ્રુતજ્ઞાનોપાસના અને જિનશાસન પ્રત્યેની અપૂર્વ શ્રદ્ધા ભક્તિ છે. આજે સાધુ અને શ્રાવક વર્ગમાં જ્ઞાનમાર્ગ કંઈક ઉપેક્ષિત હાલતમાં છે ત્યારે આવા મહાપુરુષના જીવનની જ્ઞાનોપાસનાનો વિચાર કરતાં જિન શાસનની પ્રભાવનાના સાચા પ્રતીક સમા ગુરુદેવનું સ્મરણ પણ શ્રદ્ધેય ભક્તજનોના હૃદયને નતમસ્તક બનાવી ગુરુ તો તું જ એમ કહેવા માટેની શુભ ભાવના થાય છે.

જૈન સાધુઓએ રત્નત્રયીની આરાધનાની સાથે શ્રાવક શ્રાવિકોઓને ધર્માભિમુખ કરી ધર્મ પ્રત્યેની અડગ શ્રદ્ધા રહે તે માટે જિનવાણીનું શ્રવાણ કરવાની મહામૂલી પ્રવૃત્તિ આદરી છે. અભ્યાસ અને ઉપદેશના પરિણામ સ્વરૂપે શાસ્ત્રજ્ઞાનની કઠિન વિગતોને પોતાની આગવી શૈલીમાં પુસ્તક રૂપે પ્રગટ કરી છે. તે દૃષ્ટિએ વિચારતા અન્ય મુનિઓની માફક આત્મારામજીએ જૈન સાહિત્યમાં કલમ ચલાવીને જૈનધર્મ અને તત્ત્વજ્ઞાનના વિષયને સ્પર્શતા ૧૧ જેટલાં શાસ્ત્રીય પુસ્તકોની રચના કરી છે. એક તરફ શાસ્ત્રજ્ઞાનની શુષ્ક વિગતોને ગ્રંથસ્થ કરી તો એજ મહાત્મા એ સહૃદયતાથી ભાવધર્મની અભિવૃદ્ધિમાં ઉપકારક વૈવિધ્યપૂર્ણ પૂજાની રચના કરી છે. આ પ્રકારની રચનાઓ એમના પાંડિત્યની સાથે ભક્તહૃદયની ભક્તિ ભાવનાને મૂર્તિમંત રીતે પ્રગટ કરે છે.

૧૮ સદીમાં પૂજા સાહિત્યનો વિકાસ થયો અને ભક્તિ માર્ગના એક ભાગરૂપે પૂજા લોકપ્રિય બની.

પૂજા સાહિત્યની રચના ૧૩માં શતકમાં જૂની અપભ્રંશ ભાષામાં કવિએ મહાવીર જન્મભિષેક કળાશના નામથી કરી છે. તેમાં ભગવાન મહાવીરના જન્મ કલ્યાણક મહોત્સવનું વર્ણન કરવામાં આવ્યું છે ૧૬ માં શતકમાં શ્રાવક કવિ દેપાલે સ્નાત્રપૂજાની રચના કરી છે. તેમાં વરદ ભંડારી કૃત પાર્શ્વનાથ કળાશ અને રત્નાકર સૂરિ કૃત આદિનાથ જન્મભિષેક કળાશની રચના મિશ્રિત થયેલી છે તદુપરાંત સકલચંદ્ર ઉપાધ્યાયજી એ સત્તરભેદી પૂજાની રચના કરી છે. ૧૮ માં શતકમાં યશોવિજયજી કૃત નવપદની પૂજા અને દેવચંદ્રજી કૃત સ્નાત્ર પૂજા ની રચનાઓ ઉપલબ્ધ થાય છે. આ રીતે સમય જતાં ભક્તિ ભાવનાના અભિનવ સ્વરૂપે પૂજા સાહિત્યની રચનાઓ વિશેષ રીતે પ્રગટ થઈ. ૧૯ મી સદીમાં કવિ પંડિત વીરવિજયજી એ નવ્યાણું પ્રકારી, ચોસઠ પ્રકારી, પંચકલ્યાણક સ્નાત્ર પૂજાની રચનાથી પૂજા સાહિત્યને સમૃદ્ધ કર્યું છે.

પૂજા સાહિત્ય ભક્તિમાર્ગની પરંપરાનું અનુસંધાન કરીને આબાલવૃદ્ધ સૌ કોઈને ભક્તિ કરવા અનન્ય પ્રેરક બન્યું છે. મોક્ષ માર્ગની સાધનામાં જ્ઞાન, ભક્તિ અને સંયમની ઉપાસના અનિવાર્ય માનવામાં આવી છે. તે દૃષ્ટિએ પ્રભુ પ્રત્યેની ભક્તિભાવના કર્મ નિર્જરાની સાથે સમકિત શુદ્ધ કરવામાં મહાન ઉપકારક બને છે.

પૂજા સાહિત્યના વિષયોમાં મુખ્યત્વે તીર્થકર ભગવાનનું જીવન, જૈન તત્ત્વજ્ઞાનને લગતા વિષયો જૈન તીર્થો અને પ્રતિમા પૂજન વગેરેમાંથી પસંદ કરવામાં આવે છે. કવિ આત્મારામજીએ પૂજા સાહિત્યને સમૃદ્ધ કરવામાં મૂલ્યવાન પ્રદાન કર્યું છે. એમની પૂજા સાહિત્યની રચનાઓમાં સ્નાત્રપૂજા (સં. ૧૯૩૯) સત્તરભેદી પૂજા (સં. ૧૯૪૦) વીસ સ્થાનક પૂજા (સં. ૧૯૪૩) અષ્ટ પ્રકારી પૂજા અને નવપદની પૂજાનો સમાવેશ થાય છે.

પ્રભુની સાકાર ઉપાસના માટે નવધા ભક્તિની પ્રાણાલિકા ભારતીય સંસ્કૃતિમાં પ્રચલિત છે. તેમાં પૂજન એટલે મૂર્તિપૂજનો સમાવેશ કરવામાં આવ્યો છે. મૂર્તિનું આલંબન ભક્તિમાં અનન્ય પ્રેરક નીવડે છે. વિવિધ રીતે પ્રભુ પૂજા કરવાની વિધિમાં અષ્ટ પ્રકારી પૂજા પ્રથમ કોટિની ગણાય છે.

અષ્ટપ્રકારી પૂજા

પ્રભુની જળ, ચંદન, પુષ્પ, ધૂપ, દીપ, અક્ષત, નૈવેદ્ય અને ફળ એમ આઠ દ્રવ્યોથી ભક્તિભાવ પૂર્વક પૂજા કરવામાં આવે છે.

પૂજા, દુહા, ઢાળ અથવા ગીત કાવ્ય અને મંત્ર એમ ચાર વિભાગમાં વહેંચાયેલી છે. દુહામાં અષ્ટ પ્રકારી પૂજાનો સંક્ષિપ્ત ઉલ્લેખ કરવાની સાથે પરંપરાગત રીતે ઈષ્ટદેવની શ્રી શંખેશ્વર પાર્શ્વનાથની સ્તુતિ કરવામાં આવી છે.

પ્રભુ પૂજા બે વિભાગમાં વહેંચાયેલી છે. અંગ અને અગ્ર તેનો ઉલ્લેખ નીચેના દુહામાં થયેલો છે :

પૂજા અષ્ટ પ્રકારની, અંગતીન ચિતધાર,

અગ્રપંચ મનમોદસે, કરિ તરિપે સંસારતકત પા-૪૩

ભક્તિ કાવ્યોમાં ગેયતા મહત્ત્વની ભૂમિકા ભજવે છે. કવિ પોતે શાસ્ત્રીય સંગીતના તજજ્ઞ હોવાથી વિવિધ શાસ્ત્રીય રાગનો પ્રયોગ કરીને પૂજા રચી છે. અષ્ટપ્રકારી પૂજામાં માલકોશ, જ્ય જ્યવંતી ધન્યાશ્રી, કલિંગડો, પીલુ, ખમાચકા, તિલાના સિંધકાફી, ભૈરવી, ડુમરી, જંગલી રેયતા રાગનો પ્રયોગ થયેલો છે. કળશની રચનાએ પૂજાની પૂર્ણતાનું સૂચન કરે છે તેમાં પૂજનું ફળ, ગુરુ પરંપરા, રચના વર્ષ, સ્થળ અને કવિ નામનો ઉલ્લેખ થયેલો છે. કવિના શબ્દોમાં ઉપરોક્ત માહિતી આ મુજબ નોંધાયેલી છે.

શ્રી ગુરુ વૃદ્ધિવિજય મહારાજ,
કુમતિ કુપંથ નિકંદી ॥
શિષિ જુગ અંક ઈદુ શુભ વરસે,
પાલિતાણા સુરંગી ॥

પૂજના રચનાવર્ષને પ્રત્યક્ષ અંકોમાં દર્શાવવાને બદલે અહીં પ્રતીકાત્મક શબ્દપ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે. પૂજ સાહિત્યની આ એક વિશેષતાનું સર્વ સામાન્ય રીતે અન્ય કવિઓમાં અનુસરણ થયેલું છે. દરેક પૂજના ફળ માટે પ્રચલિત દર્શાવતો નામોલેખ છેલ્લી કડીમાં થયેલો છે. ન્હવાણ પૂજમાં સોમેશ્વરી વિપ્રવધૂ, વિલેપન પૂજ માટે જ્યસુર અને શુભમતી દંપતી, કુસુમપૂજ માટે, ધૂપ પૂજ માટે પિત્રપંધર નૃપ, દીપક પૂજ માટે જિનમતી અને ધનશ્રી, અક્ષત, નૈવેદ્ય પૂજ અને ફળ માટે કીર યુગલનાં દર્શાવતો નામોલેખ થયેલો છે. જૈન સાહિત્યમાં આ દર્શાવો વિશેષ જાણીતાં છે.

કુસુમ પૂજમાં ફૂલોની, નૈવેદ્ય પૂજમાં ભોજનની વૈવિધ્ય પૂર્ણવાનગીઓ અને ફળપૂજમાં વિવિધ ફળોનો ઉલ્લેખ થયેલો છે. આનાં ઉદાહરણ તરીકે જોઈએતો કુસુમ પૂજમાં પુષ્પોની યાદી નીચે મુજબ છે.

મોગરા, ચંપક, માલતી, કેતકી પાડલ આમ રે
જમુલ પ્રિપંગુ પુત્રાગ નાગ,
મયકુંદ, કુંદ ચંબેલિ,
જે ઉગિયાં શુભ થાન રે ॥ ૨ ॥

આત્મારામ એ કવિનું નામ છે તેનો ઉલ્લેખ આત્મ સ્વરૂપ પામવા માટે પૂજનુ વિધાન એમ દર્શાવીને ગૂઢાર્થ પામી શકાય એવો પ્રયોગ કર્યો છે ઉ.દા.જોઈએ તો :-

આતમ ચિદ્ધન સહજ વિલાસી
પામી સત ચિતપદ મહાનંદ ॥

અષ્ટ પ્રકારી પૂજમાં તેનો મહિમા ગાવામાં આવ્યો છે. કોઈ કોઈ રચનામાં ભાવવાહી પંક્તિઓ મળી આવે છે. કવિની પ્રભુ પ્રત્યેની ભક્તિભાવના અને તેની એકાગ્રતાની અનેરી મસ્તીનો પરિચય થાય છે જેમ કે :-

પૂજો અરિહંત રંગરે, ભવિ ભાવ સુરંગે
અરિહંત પદ અર્ચન કરી ચેતન,
જિન સ્વરૂપમે રમ રહીયે
મેરો મન રંગ રચ્યો, ફળ અર્ચન મેં સુખદાય ॥

એમની રચનામાં હિન્દી ભાષાનું મિશ્રણ થયેલું છે. કવિને અન્યાનુપ્રાસની ફાવટ સારી છે.

જિનવર પૂજા સુખ કંદા,

નસે અડકર્મડા ધંદા,

સુંદર ધરિ થાલ રતનંદા,

જિનાલય પૂજા જિનચંદા (પા.નં ૫૪)

આ રીતે અષ્ટ પ્રકારી પૂજા એમની પૂજાની વિશદ માહિતી આપતી ભક્તિ પ્રધાન રચના છે.

નવપદ પૂજા

નવપદની પૂજાની રચના સંવત ૧૯૪૧ માં થઈ છે તેમાં જૈન ધર્મમાં આરાધનાના પાયારૂપ નવપદની માહિતી આપવામાં આવી છે. અરિહંત, સિદ્ધ, આચાર્ય, ઉપાધ્યાય, સાધુ, દર્શન, જ્ઞાન, ચારિત્ર અને તપ એમાં નવપદનું સ્વરૂપ કવિએ પ્રચલિત દેશી ચાલનો પ્રયોગ કરીને તત્વજ્ઞાનના કઠિન વિષયને પદ્યવાણી દ્વારા જન સાધારણ સુધી પહોંચાડવાનો ભક્તિ વત્સલ બનીને સફળ પ્રયોગ કર્યો છે.

નિજ સ્વરૂપ જાને બિન ચેતન,

કોયલ ટહુક રહી મધુવનમેં.

આઈઈંદ્રનાર કર કર શુંગાર,

નિશદિન જોઉંવાટડી

બ્રહ્મજ્ઞાન નહીં જાનારે.

તેરો દરસ ભલે પાયો ॥

શિવપદ પ્રાપ્ત નવપદની આરાધનાથી પ્રાપ્ત કરનાર શ્રીપાલ અને મયાગાના તપનો પૂજામાં ઉલ્લેખ કર્યો છે.

સિરપાલ સિધયક આરાધી

મનતન રાગહરી

નવ ભવાંતર શિવ કહલાસે

આતમાનંદ ભરી

ધર્મસાહિત્યમાં સીધા ઉપદેશનો ઉલ્લેખ થયેલો હોય છે. મનુષ્ય જન્મ સફળ કરવા માટે નવપદની

આરાધના કરવા ભાગાવવામાં આવ્યું છે.

બંદે કરલે કમાઈરે

જત નરભવ સકલ કરાઈ બંદે ॥

નવપદના સ્વરૂપનો પારિભાષિક શબ્દોમાં પરિચય આપ્યો છે દા.ત., સિધ્ધ પદના દુહામાં સિધ્ધપદનો ઉલ્લેખ કરવામાં આવ્યો છે. તે કવિના શબ્દોમાં જોઈએ તો નીચે મુજબ છે.

અલખ નિરંજન અચર વિભુ અક્ષય, અમર, અપાર ॥

મહાનંદ પદવી ધરી, અવ્યય, અજર, ઉદાર ॥ ૧ ॥

અનંત ચતુષ્ઠે રૂપસે, ધારી અચલ અનંગ,

ચિદાનંદ ઈશ્વર પ્રભુ, અટલ મહોદય અંગ ॥ ૨ ॥

નવપદની પૂજા જ્ઞાનમાર્ગની કાવ્ય રચનાનો નમૂનો છે. તેમાં અષ્ટ પ્રકારી પૂજા-સમાન પરંપરાગત લક્ષણો ચરિતાર્થ થયેલાં છે. તત્ત્વ દર્શનની પ્રાથમિક ઝાંખી કરાવીને જ્ઞાન માર્ગનાં સહસ્યને પામવા માટે આ પૂજા પ્રવેશ દ્વાર સમાન છે. યશોવિજયજી ઉપાધ્યાય, પદ્મવિજયજી અને કવિ મનસુખલાલ (પંચમહાલ, ગોધરાના વતની) ની રચનાઓ પણ પ્રસિધ્ધ છે.

અષ્ટપ્રકારી પૂજા સરળ અને સુગ્રાહ્ય છે. જ્યારે નવપદની પૂજા તત્ત્વજ્ઞાનને સમજવા માટે હૃદય કરતાં બુદ્ધિને વધુ સ્પર્શે છે. અજ્ઞાન રૂપી અંધકારનો નાશ કરીને જ્ઞાનરૂપી દિવ્ય પ્રકાશ પ્રાપ્ત કરવામાં માર્ગસૂચક સ્તંભ સમાન નવપદની પૂજા દેવગુરુ અને ધર્મના સ્વરૂપને જેય પ્રયોગથી જ્ઞાનમાર્ગ તરફ ગતિશીલ થવાની ભક્તિના માધ્યમ દ્વારા અવિનાશીપદ પ્રાપ્તિનો શાશ્વત માર્ગ દર્શાવે છે.

વીસ સ્થાનક પૂજા

વીસ સ્થાનક તપની આરાધના ત્રિકરણ શુદ્ધિપૂર્વક કરવાથી તીર્થંકર નામ કર્મ ઉપાર્જન થઈ શકે છે. ભગવાન મહાવૈરિ નંદન ઋષિના ભવમાં આ તપની આરાધના કરીને તીર્થંકર નામકર્મ નિકાચિત કર્યું હતું પરિણામે આ તપની પૂર્ણાહુતિ થયા પછી કે કોઈ ધાર્મિક મહોત્સવમાં વીસ સ્થાનક પૂજા ભાવવાડી રીતે ભાગાવવામાં આવે છે. ૧૯ મી સદીમાં લક્ષ્મીસૂરિ મહારાજે વીસ સ્થાનક પૂજાની રચના કરી છે. ત્યાર પછી કવિ આત્મારામની ઉપરોક્ત વિષય પર રચના થઈ છે.

અષ્ટ પ્રકારી પૂજામાં જિનપ્રતિમા કેન્દ્ર સ્થાને છે. વીસ સ્થાનકમાં પણ તેથી આગળ વધીને અહોભાવપૂર્વક પ્રભુની પૂજા કરવામાં આવે છે. એક એક પદ ભક્તિ ભાવમાં નિમગ્ન કરે તેમ છે. વીસ સ્થાનકનાં નામ અનુક્રમે અરિહંત, સિધ્ધ, સૂરિ, સ્થવિર, પાઠકસાધુ, જ્ઞાન, દર્શન, વિનય, ચારિત્ર, બ્રહ્મચર્ય, ક્રિયા, તપ, દાન, વૈયાવચ્ચ, સમાધિ, અભિનવજ્ઞાન, શ્રુત અને તીર્થ છે.

પ્રત્યેક પદની આરાધના જીવમાંથી શિવ થવા માટે દીવાદાંડી સમાન છે આત્માના સહજ સ્વરૂપને પામવા માટે આલંબન રૂપ છે. તેમાં પૂર્વે કહેલાં નવપદનો પણ નિર્દેશ થયેલો છે. વીસ સ્થાનકપૂજા એટલે રત્નત્રયીની આરાધનાનો સુભગ સમન્વય કરાવતી જ્ઞાન અને ભક્તિના સંયોગ વાળી અપૂર્વ કાવ્ય રચના છે.

પૂજના પ્રારંભમાં વિશેષણયુક્ત શંખેશ્વર પાર્શ્વનાથ ની સ્તુતિ કરી છે.

સમરસ રસભર અઘહર, કરમ ભરમ સળનાસ,
કર મન મગન ધરમ ધર, શ્રી શંખેશ્વર પાસ ॥ ૧ ॥

કવિએ બીજા દુહામાં જિનવાણીનો મહિમા દર્શાવ્યો છે :-

વસ્તુ સકલ, પ્રકાશિની ભાસિનિ ચિદનરૂપ,
સ્વાદ્વાદ મત કાશિની જિનવાણી રસકૂપ ॥ ૨ ॥

દુહા જેવી સામાન્ય રચનામાં પણ કવિની વાર્ણીની લયબદ્ધ યોજના આકર્ષક બની રહે છે.

જૈન કવિઓએ દેશીઓનો વિશેષ પ્રયોગ કરીને કાવ્યો રચ્યાં છે. તેમાં રહેલો વિશિષ્ટ લય-તાલ અને સમુદમાં ગાઈ શકાય તેવી લાક્ષણિકતાથી દેશી વધુ પ્રચાર પામી હતી. કવિએ નીચે મુજબની દેશીઓનો પ્રયોગ કર્યો છે.

કાન્હામેં નહિ રહેગા રે, તુમયે સંગ ચલું ।
વીતરાગકો દેખ દરસ, દુવિધા મોરી મિટ ગઈરે ॥
લાગી લગન કહો કેસે છૂટે, પ્રાણજીવન પ્રભુ પ્યારે એ
નિશદિન જોવું વાટડી ઘેર આવો ઢોલા ।
માનોને ચેતનજી, મારી વાત માનોને ॥

આ દેશીઓ ઉપરાંત દુમરી, પંજબી, દીપચંદી, લાવાણી, ત્રિતાલ અને અજમેરી તાલનો પ્રયોગ કરીને સમગ્ર પૂજાની રચના સંગીત અને કવિતાનો સમન્વય સાધે છે. પ્રત્યેક પૂજામાં તે પદની શાસ્ત્રોક્ત માહિતી આપીને આરાધના કરવાનો ભાવ વ્યક્ત કર્યો છે. અષ્ટપ્રકારી પૂજાની માફક અહીં પણ તપના આરાધક આત્માનાં દૃષ્ટાંત તરીકે ઉલ્લેખ કરવામાં આવ્યો છે. દા.ત. પાંચમા સ્થવિર પદની આરાધના માટે પ્રશ્નોત્તર રાજાનો નામ નિર્દેશ કર્યો છે.

પ્રશ્નોત્તર નૃપ ઈહપદ સેવી, આત્મ અરિહંત પદ વતિપારે ॥

વીસ સ્થાનકની પૂજાને આધારે કવિની શાસ્ત્ર જ્ઞાનની તલસ્પર્શી સમજ શક્તિ અને જ્ઞાનમય આત્મસ્મરણતાનો વિસ્તારથી પરિચય થાય છે. આવો ઉલ્લેખ મનુષ્યને ચેતન નામથી ઉદ્બોધન

કરીને કરવામાં આવ્યો છે. દા.ત.

રાયોરી, ચેતનજી, મન શુદ્ધ લાગ ધારો ધારો સમાધિ કેરો રાગ

સિદ્ધ અચલ આનંદી રે, જ્યોતિ સે જ્યોતિ મિલી (પા. ૧૨૧)

અપને રંગમે, રંગદે હેરી હરી લાલા.

પાઠક પદ સુખ ચેનદેન વસ અમીરસ ભીનો રે. (પા, ૧૨૬)

મુણિંદ ચંદ ઈશમેરે તાર તાર તાર (પા. ૧૨૭)

મિટ ગઈ રે અનાદિપીર ચિદાનંદ જગો તો રહી (પા. ૭૪)

ઉપરોક્ત પંક્તિઓ કવિની આધ્યાત્મવાદની મસ્તીની ઉદાહરણ રૂપ છે કવિ આત્મારામની આત્માના સહજ સ્વરૂપ પામવા માટેની શુભભાવનાનું અહીં દર્શન થાય છે.

વીસસ્થાનકના પૂજના કેન્દ્ર સ્થાને આત્મસ્વરૂપ પામવા માટેનો કેન્દ્રવર્તી વિચાર પ્રગટ થયેલો છે. દુહા, ઢાળ કે ગીત કાવ્ય અને મંત્ર એમ ચાર વિભાગમાં પૂજા વહેંચાયેલી છે. કવિએ ઉપમા, રૂપક અને દટાંત અલંકારોનો પ્રયોગ કરીને વિચારોની અભિવ્યક્તિ ને અસરકારક બનાવી છે. છતા ઘણા બધા પરિભાષિક શબ્દ પ્રયોગોને કારણે કવિગત શાસ્ત્રીય વિચારો આત્મસાત કરવા કઠિન છે. ભક્તિ કાવ્યમાં જે લાગણી કે ઊર્મિનું તત્ત્વ જોઈએ તે અહીં ઓછું છે. છતાં અધ્યાત્મવાદ પ્રત્યેની સાચી લગન પ્રગટ કરવામાં સફળતા મેળવી છે.

સત્તરભેદી પૂજા

પૂજના વિવિધ પ્રકારોમાં સત્તરભેદી પૂજા પ્રભુભક્તિની વિશેષતાનો પરિચય કરાવે છે. પૂજના વિષયની વિવિધતામાં નવીન ભાત પાડતી કવિની સત્તરભેદી પૂજાની રચના છે. પૂર્વે ૧૭માં શતકમાં સકલચંદ્ર ઉપાધ્યાયજીએ સત્તરભેદી પૂજાની રચના કરી હતી.

અષ્ટ પ્રકારી પૂજામાં પ્રભુની આઠ પ્રકારે પૂજા કરવામાં આવે છે ત્યારે અહીં ૧૭ પ્રકારે પૂજા કરવામાં આવે છે. એટલે સત્તર ભેદી નામ રાખવામાં આવ્યું છે. તેનાં નામ અનુક્રમે નડવાણ, ચંદન, ગંધ, પુષ્પારોહણ, પુષ્પમાળા, આંગીરચના, ચૂર્ણ, ધ્વજ, આભરણ, પુષ્પગૃહ, પુષ્પવર્ષણ, અષ્ટમંગલ, ધૂપ, ગીત, નાટક, વાજિંત્ર એમ સત્તર ભેદવાળી પરંપરાગત લક્ષણો યુક્ત પૂજા રચી છે.

કવિએ પ્રથમ દુહામાં શ્રાવકો માટે વિધિપૂર્વક પૂજના ફળનો ઉલ્લેખ કરીને બીજા દુહામાં પ્રભુપૂજાનો શાસ્ત્રીય ગ્રંથોનો આધાર દર્શાવ્યો છે.

જ્ઞાતા અંગે દ્રૌપદી, પૂજે શ્રી જિનરાજ (પા-૯૧)

રાયપસોણી ઉપાંગમાં હિતસુખ શિવફલ કાજ -

જ્ઞાતાધર્મ કયા અગ્યાર અંગ સૂત્રમાં સ્થાન પામ્યું છે. જ્યારે રાયપસોણી ઉપાંગ છે. ૪૫ આગમનાં એ બે ગ્રંથો પૂજા વિશે મૂળભૂત સંદર્ભ પૂરો પાડે છે. પ્રભુ ભક્તિમાં વિશેષ તહીનતા કે ભક્તિ સરિતામાં સ્નાન કરાવનારી આ પૂજાની કેટલીક પંક્તિઓ પૂજા વિષયના વિચારોને સ્પષ્ટ કરે છે.

જિન દર્શન મોહનગારા જિન પાપ કલંક પ્યારા, માં પ્રભુ દર્શન નો મહિમા છે.

ચિદાનંદ ઘન અંતરજમી અબ મોહે પાર ઉતાર, (પા. ૯૬) માં ભક્ત ભગવાનને વિનંતી કરી પોતાનો ઉદ્ધાર કરવા પ્રાર્થના કરે છે આરંભમાં પ્રભુનાં વિશેષાગો દર્શાવ્યા છે. અર્હન જિગુંદા પ્રભુ મેરે મન વસીયાં (પા. ૯૮) માં કવિની કલ્પના શક્તિનો પરિચય થાય છે. ભક્ત કહે છે. ભગવાન તો મારા મનમા વસી ગયા છે. ભક્તિના પ્રભાવથી ભક્ત પ્રભુ સાથે તન્મયતા સાધે છે. તેનું આ ઉદાહરણ છે. ધ્વજ પૂજામાં કવિની ચિત્રાત્મક અભિવ્યક્તિનું દર્શન થાય છે.

આઈ સુંદર નાર, કર કર સિંગાર કાડી ચૈત્ય હાર, મન મહિધાર.

પ્રભુગુણ વિચાર, અધ સબ ક્ષય કીનો -

કવિની કલ્પનાની સાથે વર્ણન શક્તિના નમૂના રૂપ ધ્વજ વર્ણનનો દુહો નોંધપાત્ર છે.

પંચવરણ ધ્વજ શોભતી, ઘુઘરીનો ધબકાર,

હેમદંડ મન મોહની, લઘુ પતાકા સાર ॥ ૧ ॥

રાગઝાગ કરતી નાયતી શોભિત જિનહર શુંગ,

લહકે પવન ઝકોરસે બાજત નાદ અભંગ ॥ ૨ ॥

પતાકા જાગે કે કોઈ રચી હોય તેમ નાયતી લહરાતી અને ઘુઘરીના અવાજથી સૌને મન મોહક લાગે છે. શુદ્ધ કાવ્ય રચનાના નમૂનારૂપ આવી પંક્તિઓ સત્તરભેદી પૂજામાં જોવા મળે છે.

આભરાણ પૂજામાં પ્રભુનું વાસ્તવિક ચિત્ર આલેખવામાં આવ્યું છે. આરસપહાણની મૂર્તિ ને કિંમતી વસ્ત્રાભૂષણોથી અલંકૃત કરી પ્રભુ પ્રતિમાને ભવ્ય બતાવવા નો પ્રયત્ન કર્યો છે.

‘જિનગુણ ગાવત સુર સુંદરીથી આરંભ થતી ગીત પૂજામાં ઈદ્રાણી પ્રભુના ગુણગાન ગાય છે. તેનું આકર્ષક ચિત્ર આલેખ્યું છે.

ચંપક વરણી સુર મનહરાણી

ચંદ્રમુખ શુંગાર ધરી ॥ ૧ ॥

તાલમૃદંગ બંસરી મંડલ,

વેણુ ઉપાંગ ધુનિ મધુરી ॥ ૨ ॥

ઉપરોક્ત ઉદાહરણમાં ભક્તિ ભાવનાનું ચિત્તાર્પક અને ભાવવાહી નિરૂપણ થયેલું છે. વર્ણાનું પ્રાસની યોજનાથી મધુર પદાવલી બની રહે છે.

સત્તરભેદી પૂજા નરસિંહની પ્રેમલક્ષણા ભક્તિની સાથે સામ્ય ધરાવે છે. કવિની કવિતા કલાનો સાચો પરિચય પ્રાપ્ત થાય છે. આત્મારામજી સાચા કવિ તરીકે પ્રગટ થાય છે.

સ્નાત્રપૂજા

કવિના પૂજા સાહિત્યમાં સ્નાત્રપૂજાની રચના કવિતા અને સંગીતકલાનો સુયોગ સાધે છે. સ્નાત્રપૂજા એ પ્રભુના જન્મભિષેકનું અનુસરણ કરતી રચના છે. દેવોએ મેરૂ પર્વત ઉપર પ્રભુનો જન્મભિષેક ઉજવ્યો હતો તેના અનુસરણ રૂપે જિન મંદિરમાં પ્રતિદિન અને મહોત્સવની વિધિમાં પ્રભુની સ્થાપના કરીને જન્મ મહોત્સવની ઉજવાણી કરવામાં આવે છે. આ પૂજામાં પ્રભુ ના જન્મ કલ્યાણક નું વર્ણન અને વિશદ માહિતી આપવામાં આવી છે.

આત્મારામજીની રચના પહેલાં કવિ દેવાલ, દેવચંદ્રજી, પદમવિજયજી, વીરવિજયજી વગેરે કવિઓએ સ્નાત્રપૂજાની રચના કરી છે. પૂજાની લોકપ્રિયતાની સાથે સ્નાત્રપૂજા પાણ વિશેષ આદરપૂર્વક શ્રાવક - શ્રાવિકાઓ રાગ - રાગિણી યુક્ત વાજિંત્રના સહયોગથી ભાગાવીને ભક્તિ રસની રમઝટ જમાવે છે. સ્નાત્ર પૂજા સાથે સામ્ય ધરાવતી અન્ય રચનાઓમાં શ્રી જ્ઞાનવિમલસૂરિકૃત શાંતિજિન કળશ, શ્રીપદમવિજયજી કૃત શ્રી અજિતનાથ જિનનો કળશની સ્નાત્ર પૂજામાં મુખ્યત્વે પ્રભુના જન્મથી અખિલ વિશ્વમાં આનંદનું વાતાવરણ ફેલાય છે. અને તીર્થકરના જન્મથી હર્ષધેલાં બનેલા દેવદેવીઓ ભારે ઠાઠથી મહોત્સવ ઉજવે છે. તેમાં પ્રભુની માતાને આવેલાં ૧૪ સ્વપ્ન, ૫૬ દિક કુમારિકાઓ, ૬૪ ઈંદ્રો અને ઈંદ્રાણીઓએ પ્રભુને ભક્તિ ભાવપૂર્વક સુગંધ યુક્ત દ્રવ્યોથી અને દુધનાં મિશ્રણથી અભિષેક કરવામાં આવે છે તે દર્શાવવામાં આવ્યું છે, સ્નાત્રપૂજાની રચના એક પદ્યનાટકની સમકક્ષ સ્થાન પામે તેવી છે.

કવિ આત્મારામજીની સ્નાત્ર પૂજા છ કાવ્યોમાં વિભાજિત થયેલી છે. પ્રથમ ઢાળમાં ભૂત, ભવિષ્ય અને વર્તમાન તીર્થકરોને કુસુમાંજલિ અર્પણ કરવાની વિગત છે. બીજી ઢાળમાં ભગવાન મહાવીરે વીસસ્થાનક તપ કર્યું. તેનો ઉલ્લેખ કરી માતાએ ૧૪ સ્વપ્ન જોયાં તેની સૂચિ આપી છે. ત્રીજીમાં ૫૬ દિકકુમારિકાઓનું જન્મ મહોત્સવમાં આગમન, ચોથીમાં ઈંદ્ર સુધોપા ઘંટાનો નાદ કરીને બધા દેવોને આ મહોત્સવમાં પધારવા માટે સૂચન કરે છે. પાંચમીમાં ઉપસ્થિત દેવ દેવીઓ પ્રભુને અભિષેક કરે છે, તેનું વર્ણન છે અને છઠ્ઠીમાં પ્રભુ પૂજા કરીને દેવ દેવીઓ ઉલાસથી ગીત ગાઈને નૃત્ય દ્વારા ભક્તિભાવ પ્રગટ કરે છે, તે પ્રસંગનું નિરૂપણ છે. અને ધમાચ રાગ ઉપરાંત કવિએ દુહા, કુસુમાંજલિની ઢાળ “કોયલ ટહુકી રહી મધુવનમેં વારિ જાઉરે કેસરિયા સામરા, ગુણ ગાઉરે લાગી લગન કહો કેસે ધરે પ્રાણ જીવન” દેશીઓનો પ્રયોગ કરીને સ્નાત્રપૂજાને ગેય રચના બનાવી

છે. છઠ્ઠી ઢાળમાં કવિની કલ્પના શક્તિ અને કાવ્ય રચનાનું માધુર્ય ને સૌંદર્ય આકર્ષક બની રહે છે.

નાચત શક શકી હેરી ભાઈ નાચત શક શકી,

છં છં છં છં છ ન ન ન ન ન નાચત શક શકી

હેરી ભાઈ નાચત શક શકી ॥

સ્નાત્રને અંતે કળશની રચના પરંપરાગત રીતે કરીને ગુરુપરંપરા અને રચના સમય સ્થાનોનો ઉલ્લેખ કર્યો છે.

આત્મારામજીના પૂજા સાહિત્ય પર વિહંગાવલોકન કરતાં એટલું સ્પષ્ટ સમજાય છે કે કવિએ પૂજાના વિષય વસ્તુની પસંદગીમાં પ્રતિમા પૂજાના વિષયને સ્વીકારીને સ્નાત્રપૂજા, અષ્ટ પ્રકારી પૂજા અને સત્તરભેદી પૂજાની રચના કરી છે આ વિષય પસંદગી અંગે મારું એવું અનુમાન છે કે કવિએ પ્રથમ સ્થાનકવાસી મતની દીક્ષા લીધી હતી અને જૈન તત્ત્વજ્ઞાન અભ્યાસથી જિન પ્રતિમાના શાસ્ત્રીય સંદર્ભો જાણ્યા એટલે શ્વેતાંબર સંપ્રદાયમાં દીક્ષા લીધી. આ વિચાર પરિવર્તનની દૈઢતાના પ્રભાવથી ઉપરોક્ત વિષય પર પૂજા રચીને શાસ્ત્રીય પરંપરાનું સત્યનિષ્ઠા અને શ્રદ્ધાથી ગૌરવ વધાર્યું છે. જૈન તત્ત્વ દર્શનના અભ્યાસના ચક્ર રૂપે નવપદ અને વીસ સ્થાનક પૂજા રચીને જ્ઞાન માર્ગને સરળ બનાવવાનો પ્રયાસ કર્યો છે. વિવિધ દેશીઓ અને શાસ્ત્રીય રાગોના પ્રયોગથી કવિતા સંગીત અને ભક્તિનો ત્રિવેણી સંગ સર્જ્યો છે. લય અર્થ ગંભીરતા શબ્દ લાલિત્ય વર્ણ યોજના ચિત્રાત્મક વાણી પંક્તિઓ એમની કવિત્વ શક્તિની અભિવ્યક્તિના ઉદાહરણ રૂપ છે. પંજબના વતની હોવ છતાં ગુજરાતી ભાષામાં હિન્દીની છાંટવાળી પૂજા સાહિત્યની રચનાઓ જૈન કાવ્ય સાહિત્યનો અમૂલ્ય વારસો છે.

શંખેશ્વર પાર્શ્વનાથની સ્તુતિ ગુરુપરંપરાનો અને રચના સમય, સ્થળ, કવિના નામનાં ઉલ્લેખ વગેરે મધ્યકાલીન જૈન કવિઓની પરંપરાનું અનુસરણ થયેલું જોવા મળે છે. અષ્ટ પ્રકારી પૂજા કરતાં સત્તરભેદી પૂજા ભક્તિકાવ્યની રચના તરીકે વધુ સફળ નીવડી છે. જ્યારે નવપદ અને વીસ સ્થાનકની પૂજા ભક્તિ કરતાં જ્ઞાન માર્ગને સ્પર્શી બુદ્ધિને કસોટીએ ચઢાવીને તત્ત્વની કઠિન વાતોને સમજાવવાનો પ્રયત્ન કરે છે. આમ એમનું પૂજા સાહિત્ય જ્ઞાન અને ભક્તિનો સમન્વય કરે છે. જૈન કવિઓમાં પદ્ય રચનાની પરંપરા નહિવત સ્થાન ધરાવે છે ત્યારે આત્મારામજીની રચનાઓ લોક હૃદયમાં ભક્તિ સ્વરૂપે સ્થાન પામી છે.

સ્વરૂપ મંત્ર

પંડિત શ્રી પનાલાલ જગજીવનદાસ ગાંધી

આત્મામાં અહંકાર અને આસક્તિ એ બે મોટા દોષ છે. બીજાના ગુણ જોવાથી અને પોતાના દોષ તપાસવાથી અહંકાર અને આસક્તિ દૂર થાય છે. નમસ્કાર એ બીજાના ગુણ ગ્રહણ કરવાની અને પોતામાં રહેલા દોષો દૂર કરવાની ક્રિયા છે. નમસ્કારથી સદ્બુદ્ધિનો વિકાસ થાય છે અને સદ્બુદ્ધિના વિકાસથી સદ્ગતિ હસ્તકમલવત્ બને છે.

જેટલો અહંકાર એટલું સત્યનું પાલન ઓછું અને જેટલું સત્યનું પાલન ઓછું એટલી અનેક દોષમાં દહતા વધુ. અર્થાત્ કામ, ક્રોધ, લોભનું બળ વધારે. નમસ્કારથી વાણીની કઠોરતા અને બુદ્ધિની દુષ્ટતા નાશ પામે છે એટલું જ નહિ યાગ મનની કોમળતા-નમ્રતા, ઉદારતા અને સજ્જનતાના ગુણ વિકસિત થાય છે.

મનનું બળ મંત્રથી વિકસે છે. મન્ એટલે વિચારવું અને ત્ર એટલે રક્ષણ કરવું. મન્+ત્ર = મંત્ર. આમ મંત્ર શબ્દનો અર્થ વિચારનું રક્ષણ થાય છે. વિચારનું રક્ષણ કરવું એટલે વિચારને - વિકલ્પને શિવસંકલ્પરૂપ બનાવવા અથવા શુભ સાત્ત્વિક ભાવ સ્વરૂપ બનાવવા.

મંત્રોમાં સૌથી શ્રેષ્ઠ મંત્ર નમસ્કાર મહામંત્ર છે. કેમકે તે જીવ માત્રના સત્ય, સાધ્ય અને સાધક સ્વરૂપને કહેનારો, સમજાવનારો, જાગૃત કરનારો તેમજ સત્ય સ્વરૂપમાં લાવનારો, મનને તે મય બનાવનારો મંત્ર છે, માટે જ તેને પરમ ઈષ્ટ મંત્ર યા તો સ્વરૂપ મંત્ર કહ્યો છે.

નમસ્કારરૂપી વજ્ર, અહંકારરૂપી પર્વતનો નાશ કરે છે. નમસ્કાર માનવીના મનોમય કોષને શુદ્ધ કરે છે. અહંકારનું સ્થાન મસ્તક છે. મનોમય કોષ શુદ્ધ થવાથી અહંકાર આપોઆપ વિલય પામે છે.

નમસ્કાર શુભકર્મ, ઉપાસના અને જ્ઞાન એ ત્રણે કર્મયોગ, ભક્તિયોગ અને જ્ઞાનયોગનો સુભગ સુમેળ છે, કહો કે ત્રિવેણી સંગમ છે. શુભકર્મનું ફળ પુણ્યોદય (સુખ અનુકૂળતા) ઉપાસનાનું ફળ શાંતિ અને જ્ઞાનનું ફળ પ્રભુત્વ-પરમપદની પ્રાપ્તિ છે. કર્મફળમાં વિશ્વાસાત્મક બુદ્ધિ (શ્રદ્ધા) તે સદ્બુદ્ધિ જે શાંતિદાયક છે, અને એ નમસ્કારથી વિકસે છે. એટલું જ નહિ પરંતુ તેના પ્રભાવથી હૃદયમાં પ્રકાશ પ્રગટે છે. જ્ઞાન-વિજ્ઞાનનું સ્થાન બુદ્ધિ છે, જ્યારે શાંતિ અને આનંદનો વાસ હૃદયમાં છે. બુદ્ધિનો વિકાસ અને હૃદયમાં પ્રકાશ એ નમસ્કારનું અસાધારણ ફળ છે. નમસ્કારની ક્રિયા, શ્રદ્ધા, વિશ્વાસ અને એકાગ્રતા વધારે છે. શ્રદ્ધાથી એકલક્ષ્યતા, વિશ્વાસથી સર્વાર્પણતા, અને અભેદતાથી ચિત્ત (બુદ્ધિ) ની સ્થિરતા-એકાગ્રતા વધે છે.

નમસ્કારમાં અહંકાર વિરુદ્ધ નમ્રતા છે, પ્રમાદ વિરુદ્ધ યુગ્ધપાર્થ છે, હૃદયની કઠોરતા વિરુદ્ધ કોમળતા છે અને ઉપકારીના પ્રતિ કૃતજ્ઞતા છે. નમસ્કારના કારણે એક બાજુ મનની વાસના અને

બીજી બાજુ ચિત્તની ચંચળતા દૂર થવાની સાથે, જ્ઞાન ઉપરનું ઘોર આવરણ (અજ્ઞાન) ટળી જાય છે, અર્થાત્ દૂર થાય છે.

અઘાતિકર્મની પાપપ્રકૃતિના ઉદયને પુણ્યપ્રકૃતિમાં ફેરવી આપે છે, એ નમસ્કાર મહામંત્રનો પ્રભાવ છે. જ્યારે પરંપરાએ ઘાતિકર્મના ક્ષયપૂર્વક પાપવૃત્તિ અને પાપપ્રવૃત્તિ રહિત થવાય છે તે નમસ્કાર મહામંત્રનો સ્વભાવ છે. નમસ્કાર મહામંત્રના પ્રભાવથી વિધ્નો દૂર થાય છે. જ્યારે નમસ્કાર મહામંત્રના સ્વભાવથી વ્યક્તિ સ્વયં કેવલજ્ઞાની, અરિહંત પરમાત્મા બની જાય છે. પ્રભાવ એ ચમત્કાર છે, મહિમા છે, અતિશય છે. જ્યારે સ્વભાવ એ સ્વરૂપ પરિણમન છે. પ્રભાવ સ્થૂલ કારણ-કાર્ય ભાવની બુદ્ધિને કુંકિત કરી નાંખે છે. શંખેશ્વર પાર્શ્વનાથ કે અંતરીક્ષ પાર્શ્વનાથ શબ્દમાં શંખેશ્વર અને અંતરીક્ષ એ બનાવરૂપ પ્રભાવ છે. જ્યારે લોકોએ શિખરાસુઠ પાર્શ્વનાથ પરમાત્મતત્વ એ સ્વભાવ છે. તીર્થંકર ભગવંતના પ્રાતિહાર્યો અને અતિશય એ એમનો પ્રભાવ છે. જ્યારે કેવલજ્ઞાન એ સ્વભાવ છે.

અહંકાર કરનાર વ્યક્તિ પોતે તો ડૂબે છે પરંતુ અન્યને ડૂબવામાં નિમિત્ત બને છે. જ્યારે નમસ્કાર કરનાર વ્યક્તિ પરંપરાએ નમસ્કારના પ્રભાવે સ્વયં નમસ્કાર્ય બની જાય છે અને અન્ય સંપર્કમાં આવનારના ઉત્કર્ષમાં નિમિત્ત બને છે.

અહંકારને ઓગાળનાર, મામ (મારાપણા) ને ગાળનાર પ્રથમ મંગળરૂપ નમસ્કાર વિષયક મહાપ્રભાવક નમસ્કાર મહામંત્ર-સ્વરૂપમંત્ર નીચે પ્રમાણે છે જે પ્રાકૃત ભાષામાં છે

‘ણમો અરિહંતાણં

ણમો સિદ્ધાણં

ણમો આયરિયાણં

ણમો ઉવજ્જાયાણં

ણમો લોએ સવ્વસાહૂણં

એસો પંચ નમુક્કારો

સવ્વ પાવપ્પણાસાણો

મંગલાણં ચ સવ્વેસિં

પઠમં હવઈ મંગલં.

એના નવ પદ હોવાથી તે નવકારમંત્ર તરીકે પણ પ્રસિદ્ધ છે. એની વિશિષ્ટતા એ છે કે એમાં જે નમસ્કાર કરવામાં આવેલ છે. તે પદને-ગુણને નમસ્કાર કરવામાં આવ્યો છે. કોઈ વ્યક્તિવિશેષનો નમસ્કાર નથી અને તેથી જ આ મહામંત્રને સ્વરૂપમંત્ર કહેલ છે. માટે જ તે મંત્ર સાંપ્રદાયિક નથી. જીવમાત્રના મૂળ સત્ય સ્વરૂપને કહેનાર શબ્દરૂપ કલ્પવૃક્ષ છે, જે સહુ કોઈને લક્ષ્ય કરવા યોગ્ય છે.

એટલું જ નહિ પણ તે જીવ માત્રની માંગ છે, ચાહ છે. પછી તે જીવ ચાહે તે શાબ્દિક ધર્મનો હોય, જાતિનો હોય કે ચાહે તે દેશનો હોય. નમસ્કાર મહામંત્રને જાણતો હોય કે ન જાણતો હોય પણ પ્રત્યેક માનવ જાણે કે અજાણે નમસ્કાર મહામંત્રના ભાવને જ ચાહી રહ્યો છે, ઈચ્છી રહ્યો છે, માંગી રહ્યો છે, પ્રાર્થી રહ્યો છે.

એવો કોણ છે જે વિશ્વની અંદર પોતાથી વિરુદ્ધ યા પ્રતિકૂળ પદાર્થને ચાહતો હોય યા તો સહન કરી શકતો હોય ? જીવ માત્ર અંદરથી, પોતાથી વિરુદ્ધ પદાર્થનો વિરોધી છે અને અસહિષ્ણુ છે. વિશ્વમાં જ્યાં સુધી પોતાથી વિરોધી તત્ત્વ અથવા પ્રતિકૂળ તત્ત્વ હોય ત્યાં સુધી પોતાની અસિદ્ધિને જ અનુભવતો હોય છે. આ રીતે જીવ માત્ર અભાવમાં જ જીવતો હોય છે. બહારથી પ્રાપ્ત વસ્તુ તો માત્ર ભાસરૂપ જ હોય છે. એવો કોણ છે ? કે જે પોતાની દૃષ્ટિની સિદ્ધિને ઈચ્છતો ન હોય અને અસિદ્ધ રહેવા માંગતો હોય ? આનો આંતરિક લક્ષ્ય અર્થ તો એ થયો કે જીવ માત્ર અંદરમાં સિદ્ધત્વનું જ વાગાટ કરી રહ્યો છે. સર્વ કોઈ સર્વ પ્રકારની સર્વ સિદ્ધિને ઈચ્છે છે અને સર્વસિદ્ધિ સિદ્ધ થયા વગર પ્રાપ્ત થવી શક્ય નથી, વળી સિદ્ધ તે જ હોઈ શકે કે જેનો કોઈ શત્રુ અર્થાત અરિ નથી. અરિ થી હણાયેલો અરિહત છે જ્યારે અરિ ને જોણે હણી નાંખ્યાં છે તે અરિહંત છે.

પ્રશ્ન એ થાય કે શત્રુ કોણ ? પુદ્ગલદ્રવ્ય આત્મદ્રવ્યથી વિરુદ્ધ ગુણધર્મવાળું છે. જે વિરુદ્ધ છે તે દુશ્મન અર્થમાં છે. તે શત્રુ છે માટે પુદ્ગલ એ શત્રુ છે અરિ એવાં પુદ્ગલ દ્રવ્યના સંયોગ સંબંધનો અભાવ કરવાનો છે એટલે કે દેહાતીત (અશરીરી) અને કર્માતીત (કર્મરહિત નિરંજન) થવાનું છે. તે જ મુજબ પુદ્ગલસંગે પોતામાં રહેલ રાગ દ્વેષ આદિ, પોતાના જ હોવા છતાં તે વડે પોતાને મલિન વિકૃત કરી રહ્યો છે, તે પણ અરિ રૂપ છે. અને તેને પણ હણી નાંખવાના છે. આવા આ ઉભયપ્રકારના બહિરંગ (પુદ્ગલદ્રવ્ય) અને અંતરંગ (રાગ-દ્વેષ) અરિઓને જોણે હણી નાંખ્યા છે તે અરિહંત છે.

રાગને કારણે મોહ, માયા, મમતા, લોભની ઉત્પત્તિ છે અને રાગીને જ્યાં રાગ નથી ત્યાં દ્વેષ છે. જેના કારણે માન અને ક્રોધની ઉત્પત્તિ છે. કોઈપણ એક સામાન્ય દોષમાંથી પણ સર્વદોષની ઉત્પત્તિની શક્યતા છે. આજ અંદરના રાગ-દ્વેષ, ક્રોધ, માન, માયા, મમતા, મોહ, લોભને કારણે બહારના બીજા જીવો સાથે અર્થાત્ પરસ્પર શત્રુતા છે. તો બહારના શત્રુઓને હણ્યા વગર તેમને મિત્ર બનાવવા હોય અને અજાતશત્રુ અર્થાત્ સર્વમિત્ર થવું હોય તો અંતરમાં અંતરના શત્રુઓને હણવા પડે અને અરિહંત બનવું પડે જે બનવાની ઈચ્છા એવો કોણ છે જે ન રાખતો હોય ? સહુને સહુ કોઈ પોતાના મિત્ર બને તે પસંદ છે અને નહિ કે શત્રુ.

જગતનું એવું સ્વરૂપ નથી કે જીવ સંખ્યા માત્ર એક છે. જીવની જાતના બે વિભાગ, સંસારી અને સિદ્ધ, ઉભયમાં જીવની સંખ્યા પણ અનંત છે. સંસારી જીવને બીજા સંસારી જીવોની સાથે અને જીવોની વચ્ચે રહેવું પડે અને જીવન જીવવું પડે એવો વિશ્વનો અટલ નિયમ છે. તેથી જ પરસ્પર એકબીજાના જીવનનો આધાર થઈને અને આધાર લઈને જીવવું પડે એવો અટલ નિયમ છે. આ

નિયમથી, જીવનું જીવ પ્રત્યેનું આચરણ અને વર્તન સિદ્ધ થાય છે. ‘પરસ્પર ઉપગ્રહો જીવાનામ્’ આચરણ અને વર્તન બે પ્રકારના હોઈ શકે છે. સદ્વર્તન-સદાચાર અને અસદ્વર્તન-દુરાચાર. પરસ્પર સદ્વર્તન વડે જ જીવ, જીવની સાથે સત્ય અને પ્રમાણિક જીવન જીવી શકે છે કે જો તેને પોતાના પરમ સ્વરૂપ સુધી લઈ જાય છે અર્થાત પરમ સ્વરૂપ સુધી પહોંચાડે છે. એ જ અરિહંત અને સિદ્ધ શબ્દનો વાસ્તવિક અર્થ છે.

કોઈનો શત્રુ રહેતો નથી એને અસિદ્ધિનો પછી પ્રશ્ન રહેતો નથી. એક વ્યક્તિને સો મિત્ર હશે અને એક શત્રુ હશે, તો તે એક શત્રુ ચોવીસે કલાક યાદ આવશે પણ મિત્ર યાદ નહિ આવે. પણ જો એક વ્યક્તિને સો સંયોગ અનુકૂળ હશે અને એક સંયોગ પ્રતિકૂળ હશે, તો તે પ્રતિકૂળ સંયોગ, નિત્ય સ્મરણરૂપ બની રહેશે. અંદર ઉડાણમાં સૂક્ષ્મ રીતે અવગાહન કરીશું તો, આપણને ખાત્રી થશે કે અરિહંત અને સિદ્ધ શબ્દના અર્થની જ માંગ મારા આપણા સહુ કોઈની છે. આમ જોણે સિદ્ધ બનવું હશે, જોણે અરિહંત થવું પડશે અને તે માટે જીવ માત્ર પ્રત્યે સદ્વર્તન કરવા રૂપ સદાચારી બનવું પડશે. દયા, દાન, સેવા, પ્રેમ, કરુણા, મૈત્રી, માધ્યસ્થતા, ક્ષમા, ઉપેક્ષા, પ્રમોદ (ગુણાનુરાગ) આદિ ગુણો કેળવવાં પડશે. અનાચાર, દુરાચારથી દૂર થવું જોઈશે. એ માટે આચાર-અનાચાર, સદાચાર-દુરાચારનો વિવેક કરવો પડશે. એ વિવેક કરવા માટે અજ્ઞાનતા હઠાવવી પડશે અને જ્ઞાન મેળવવું જોઈશે તે માટે કરીને વિનયી બની નમ્રતાપૂર્વક ઉપાધ્યાય-અધ્યાપક (વિદ્યાગુરુ શિક્ષક) પાસે જઈ અધ્યયન કરવું પડશે. અધ્યયન માટે સાધના કરવી પડશે, બાધક મટી સાધક થવું પડશે. દુર્જન-દુષ્ટ મટી સજ્જન-સાધુ થવું પડશે અને અન્ય સાધકની સંગતમાં-સત્સંગમાં સહન કરતાં શીખીને તેમજ સહાયક બનીને અને સહાય લઈને સાધનાપંથે આગળ વધવું પડશે એ માટે જ

“જામો લોએ સવ્યસાહુણું” પદથી સાધુ માત્રને અર્થાત્ સર્વ સાધુ ભગવંતોને નમસ્કાર કરેલ છે અને તેથી જ પોતાના જીવનમાં સાધુરૂપ સાધક અવસ્થાની આવશ્યકતા એકાંતે ઊભી થાય છે. પરમાત્માની દ્રવ્યપૂજા ઔચિત્ય સહિત, નમ્રતાથી, વિનયપૂર્વક કરવાની છે. ત્યારબાદ જ્ઞાન અને પ્રકાશ વડે ભાવપૂજા કરતાં, મન અને બુદ્ધિ ભાવપૂજામાં પરમાત્માના ચરાણે ધરી દેવાનાં છે. જે મન અને બુદ્ધિ પરમાત્માને અર્થાત્ અરૂપી તત્ત્વને ધર્યા તેને પાછા રૂપી એવાં પર પદાર્થ, વિરુદ્ધ ધર્મી એવાં પુદ્ગલદ્રવ્ય એટલે કે શરીર, ઈન્દ્રિય આદિને ન ધરાય. સાધુ ભગવંતો તો સદા સર્વદા સતત ભાવપૂજામાં રત હોય છે. સાધુ ભગવંતો પોતાનાં મન અને બુદ્ધિ પરમાત્માને ધરી ચૂક્યા હોય છે. જેથી તેમના શરીર ઈન્દ્રિયાદિ પણ મન બુદ્ધિને આધીન રહી સતત ભાવ પરમાત્મપૂજામાં રત રહે છે અને દુન્યવી તત્ત્વોથી અલિપ્ત રહે છે. આમ સાધુ ભગવંતો સમગ્રપણે પરમાત્મમય હોય તેઓને પંચ પરમેષ્ઠિ નવકારમંત્રમાં “જામો લોએ સવ્યસાહુણું” પદથી નમસ્કાર કરવામાં આવેલ છે. સાધુ ભગવંતનું સ્થાન પંચ પરમેષ્ઠિના પાંચમાં પદમાં છે, તેજ પ્રમાણે આગળ ઉપર.

“જામો ઉવજ્જાયાણું” પદથી સર્વ ઉપાધ્યાય ભગવંતોને

‘ગુમો આચરિયાણં, પદ્ધતી સર્વ આચાર્ય ભગવંતોને,

‘ગુમો સિદ્ધાણં, પદ્ધતી સર્વ સિદ્ધ પરમાત્મ ભગવંતોને અને

‘ગુમો અરિહંતાણં’ પદ્ધતી સર્વ અરિહંત પરમાત્મ ભગવંતોને નમસ્કાર કરવામાં આવેલ છે.

આ પાંચે પદો અંતઃ કરાણમાં ભાવરૂપ છે. અંતઃ આંતરિક- અંદરમાં આપણા મતિજ્ઞાનના ઉપયોગરૂપ સાધન (કરાણ) જે આપણાથી અભેદ છે તે અંતઃ કરાણ છે. અંતઃ કરાણ એટલે કરાણના ભેદોમાં અંતિમ કરાણ-અંતિમ સાધન, જેનાથી આગળ, સાધન અર્થમાં કોઈ કરાણ નથી. તેની પૂર્વમાં અને સાથે ઉપકરાણ અને કરાણ છે, જે અંતઃ કરાણની શુદ્ધિ માટે સહાયક અને પૂરક સાધન છે. જીવનું પરમાર્થ સ્વરૂપ સિદ્ધ થયેથી, સર્વ સાધનોથી જીવ પર થઈ જાય છે. એ અપેક્ષાએ સર્વ સાધનનો અંત કરનાર જે કરાણ છે તે અંતઃ કરાણ છે. અરિહંત અને સિદ્ધ પરમાત્મામાં, પરમાત્મ તત્ત્વની પૂર્ણતા વડે તેઓ સાધન અને સાધનાથી પર છે. એ અર્થમાં અંતઃ કરાણનો આ સહસ્યમય અર્થ છે :

આ પાંચ, સદુ કોઈને પરમ ઈષ્ટ છે. તેથી તે પાંચને પાંચ પરમેષ્ઠિ તરીકે ઓળખાવેલ છે. સ્વરૂપમંત્ર-નમસ્કારમંત્ર-નવકારમંત્ર દ્વારા, તે પાંચ પરમેષ્ઠિનું સ્મરણ કરતાં કરતાં, ‘અરિહંત’ માંથી અરિહંત બનવાનું છે. અસિદ્ધમાંથી સિદ્ધ થવાનું છે. જે માટે દુર્જન મટી સજ્જન અને દુષ્ટ મટી સાધુ બનવાનું છે અભાગ-અબુઝ-ગમાર ‘અજ્ઞાની’ અભાન મટી જઈ સભાન સચેત-જ્ઞાની પાઠક ઉપાધ્યાય થવાનું છે અને આગળ ઉપર પંચાચાર પાલન કરનાર આચાર યુક્ત આચાર્ય એવાં સર્વોચ્ચ સાધક બનવાનું છે. જ્ઞાનાચાર, દર્શનાચાર, ચારિત્રાચાર, તપાચાર અને વીર્યાચારના પાલનને પંચાચાર પાલન કહે છે.

અજ્ઞાની છીએ એટલે જ દુરાચારી-અનાચારી છીએ અને તેથી જ દુષ્ટ દુર્જન છીએ, દુર્જન છીએ, તેથી દુશ્મનો છે, માટે અરિહંત છીએ. અને અગાઉ જાણાવ્યા મુજબ અરિહંત હોય તે અસિદ્ધ જ હોય ! અરિહંત એ સત્ય સ્વરૂપનામ છે. અરિહંત એ અસત્ય અને વિરૂપ નામ છે. જીવના આંતરિક આધ્યાત્મિક સાચા નામ પાંચ છે.

(૧) અરિહંત (૨) સિદ્ધ (૩) આચાર્ય (૪) ઉપાધ્યાય અને (૫) સાધુ. પ્રથમ બે નામ સાધ્ય અવસ્થાના છે અને પછીનાં ત્રણ નામ સાધક અવસ્થાના છે. આ નામથી તેઓને નમસ્કાર કરવાથી અને તે મુજબ બનવાથી ને જીવન જીવવાથી અરિહંત અને સિદ્ધ સ્વયં બની શકાય છે.

જગતમાં આધ્યાત્મ શાસ્ત્ર સમજવનારા મહાન છે. એટલે જ પંચપરમેષ્ઠિમાં આચાર્ય, ઉપાધ્યાય અને સાધુને સ્થાન મળેલ છે. તેઓ ઉચ્ચતમ એવાં પરમાત્મા સાથે સંબંધ કરી સાચું ચારિત્રયુક્ત જીવન જીવનારા છે. ઉચ્ચતમ એવાં પરમાત્મા સાથે સંબંધ અનુભવ કર્યા પછી પદવી ઉપર અવાય. પરમાત્મા કે પરમાત્મતત્ત્વ સાથે સંબંધ કર્યા વિના, સદ્વિચાર, સદ્વર્તન સત્યજ્ઞાન આવતું નથી. પરમાત્મતત્ત્વ સાથે સંબંધ રાખીને, જગત સમક્ષ આવનાર જ, લોકોનો પરમાત્મા સાથે સંબંધ

કરાવડાવી, જગત સુધારવા શક્તિમાન બને છે. પરમાત્મતત્ત્વ, નિર્મોહી-વીતરાગ દેહાતીત તત્ત્વ છે અને તેથી જો આત્મા એવા વીતરાગ પરમાત્મતત્ત્વ સાથે પોતાના મતિજ્ઞાનના ઉપયોગથી ભજે તો, આત્મા સ્વયં પરમાત્મા-સિદ્ધાત્મા બની શકે છે.

પરમાત્મ તત્ત્વ એ સર્વ ગુણની ખાણ છે. એ તત્ત્વને જેટલું લઢીએ અને જેટલું રટીએ, તેટલાં તેટલાં આત્માના ગુણ ખીલતા જાય. સર્વ સત્યનું સત્ય, સર્વના સર્વ, સર્વ સુખના સુખરૂપ, સર્વ સત્માં સત્ સ્વરૂપ, બ્રહ્માંડમાં કોઈ હોય તો તે અરિહંત પરમાત્મા અને સિદ્ધ પરમાત્મા છે. આમ સમગ્ર વિશ્વમાં સર્વે સર્વા કોઈ હોય તો તે સર્વેશ્વરા એવાં અરિહંતેશ્વરા, સિદ્ધેશ્વરા જ છે.

પરમાત્મા કેવલજ્ઞાનના ઉપયોગથી વિશ્વમૂર્તિ છે, (કેમકે કેવલજ્ઞાનમાં સમગ્ર વિશ્વ પ્રતિબિંબિત થાય છે.) તો આખા વિશ્વને પરમાત્માની મૂર્તિમાં જોતાં શીખવું જોઈએ. પરમાત્મા બનવા અહં ટાળવું જોઈએ, જે પરમાત્મા પ્રત્યે દાસત્વ ભાવના સ્વીકારવાથી ટળે છે. અહં ટાળવાથી અહં એટલે કે ત્રિલોકપૂજ્ય બનાય છે.

નવકારમંત્રમાં રહેલ પંચપરમેષ્ઠિ ભગવંત, વિશ્વના સર્વસાત્ત્વિક ભાવના સમૂહરૂપ છે. અરિહંત સિદ્ધ પરમાત્માનું કેવલજ્ઞાન મહાસાગરરૂપ છે. જ્યારે આચાર્યો, ઉપાધ્યાયો, સાધુભગવંતો અધ્યવસાય સ્થાનકરૂપી શ્રુતનદીઓ છે. શ્રુતજ્ઞાન સરિતા છે જે મહાસાગરમાંથી નીકળે છે અને મહાસાગરમાં ભજે છે. સુંદર ભાવો અધ્યવસાયરૂપ નદીઓ છે.

અરિહંત સિદ્ધ પદ એ નિર્વિકલ્પ દ્રશા, નિર્વિકલ્પ બોધ છે, જે નિરપેક્ષ શુદ્ધ સ્વરૂપ સહજવસ્થા છે. સંકલ્પ-વિકલ્પ રહિત એવી નિર્વિકલ્પ સહજત્મ સ્વરૂપ આનંદાવસ્થા એટલે અરિહંત અને સિદ્ધની અવસ્થા. એ સાધકનું સાધ્ય છે. ધ્યેય છે, સાધ્યની અવસ્થા છે, સાધ્યનું સ્વરૂપ છે, જ્યારે આચાર્ય-ઉપાધ્યાય-સાધુપદ એ સાધ્યના લક્ષ્યે સાધકની સાધકાવસ્થા છે. સાધ્યના સ્વરૂપને, સાધનામાં ઉતારી, તે મુજબ જીવવું તે જ સાધકની સાધના છે. માટે જ જેટલું નિર્વિકલ્પદ્રશામાં અર્થાત્ સ્વભાવ દ્રશામાં જીવી શકાય તેટલું નિશ્ચયથી સાધુપણું છે. બાહ્ય ચારિત્ર પાલનનો આ જ મહત્ત્વનો ભેદ ભવિ અને અભવિ વચ્ચે છે.

પંચમરમેષ્ઠિનું સ્વરૂપ એ પ્રત્યેક જીવનું સ્વ સ્વરૂપ છે એટલે કે સ્વ ગુણપર્યાય છે. જ્યારે પંચપરમેષ્ઠિ વ્યક્તિ એ સજાતિય પર દ્રવ્ય છે. પંચપરમેષ્ઠિનો શબ્દાર્થ એ જ જગતમાં સત્યજીવન છે. વિરોધી પદાર્થના સંયોગનો નાશ કરવો અથવા પુદ્ગલસંગી (દેહરૂપી પુદ્ગલાવરાણને ન ધારણ કરવા) ન બનવું તેનું નામ સિદ્ધ. સિદ્ધ જ સાચા દિગંબર છે કેમકે એમને દેહાંબર પાણ નથી. અર્થાત્ અદેહી છે.

અંતિમ સિદ્ધિને કાર્યસિદ્ધિ કહેવાય. સિદ્ધ પરમાત્માને સિદ્ધ એટલા માટે કહેલ છે કે ત્યાં આત્યંતિક એવી અંતિમ સિદ્ધિ છે. જે થયા પછી કાંઈ થવાપણું, કરવાપણું, કે બનવાપણું આગળ

રહેતું જ નથી. સિદ્ધાવસ્થામાં જતન (જળવણી-સાચવણી રક્ષણ) પતન (વિકૃતિ-અવનતિ) કે ઉત્થાન સંસ્કૃતિ (ઉત્કર્ષ-ઉન્નતિ) હોતાં નથી. જતનમાં પરાધીનતા છે વિકૃતિમાં-પતનમાં મલિનતા છે. અને સંસ્કૃતિ ઉત્થાનમાં ઊણપ અભાવ અપૂર્ણતા છે. આમાનું સિદ્ધને કશુંય હોતું નથી.

‘અરિહંત’ અને સિદ્ધ’ પદ સાથે આપણું સ્વરૂપ ઐક્ય છે, તેમજ જાતિ ઐક્ય છે. જાતિથી અરિહંત, સિદ્ધ અને આપણે સહુ જીવ જાતિના-ચૈતન્ય જાતિના છીએ. પુદ્ગલ જડ જાતિનું છે. તેમ આપણે ચૈતન્ય જાતિના છીએ. વળી સ્વરૂપથી આપણે પરમાત્મ સ્વરૂપી છીએ. અરિહંત અને સિદ્ધ અવસ્થાને પામેલ વ્યક્તિનું પરમાત્મસ્વરૂપ પ્રગટ છે. જ્યારે આપણું પરમાત્મ સ્વરૂપ સત્તામાં છે પણ વેદનમાં નથી. જે આપણે આવરણ હટાવી, કર્મના પડળો દૂર કરી પ્રગટાવવાનું છે. અનુભવમાં વેદનમાં લાવવાનું છે. તે માટે અરિહંત અને સિદ્ધ પદને, નમસ્કાર કરી તે આપણે પણ તે સ્વરૂપે પરિણમવાનું છે. તદ્વરૂપ થવાનું છે.

પંચપરમેષ્ટિ ભગવંતોને આનંદ સ્વયંના આત્મામાં છે. તેઓ સ્વરૂપ નિષ્કાવંત છે. તેથી તેઓનો પ્રેમ સમસ્ત વિશ્વ ઉપર, જીવ-અજીવ સચરાચર સમગ્ર બ્રહ્માંડ ઉપર છે. તેઓનો પ્રેમ અસીમ છે. તેઓ જ્ઞાની છે અને તેથી સ્વરૂપને વેદે છે. જ્યારે આપણા વેદનનો આધાર અજ્ઞાનવશ આપણે પર પદાર્થને બનાવ્યો છે. પરપદાર્થ નૈમિત્તિક આપણે વેદન કરીએ છીએ. તેથી પરપદાર્થમાંથી વેદન મળે છે એવું માનીએ છીએ અને તેમ સમજીએ છીએ, જેથી પર પદાર્થને આપણે સર્વરૂપ સમજીએ છીએ. પરિણામે તે પર પદાર્થ પૂરતો જ આપણા પ્રેમને સીમિત સાંકડો અને રાંકડો બનાવીએ છીએ. એટલેજ આનંદસ્વરૂપી એવાં આપણે દુઃખી થઈએ છીએ. આનું કારણ આત્માનું અર્થાત્ સ્વ સ્વરૂપનું અજ્ઞાન છે. પોતાના આત્માના સાચા શુદ્ધ સ્વરૂપથી આત્મા અભાન છે, તેથી બેભાન બની, બેજામ બની ભમે છે. ચારે ગતિમાં ફંગોળાયા કરે છે. આ અજ્ઞાનને કારણે આત્મા દોષનું સેવન કરે છે. તેથી પાપ બંધાય છે અને પરિણામે દુઃખી થાય છે.

ભૌતિક ભોગના સાધનો કરતાં ભોક્તા એવા જીવની કિંમત વધારે છે. જીવ કરતાં સાપેક્ષ સત્યની કિંમત વધારે છે અને સાપેક્ષ સત્ય કરતાં નિરપેક્ષ પરમ સત્ય એવાં પરમાત્મ તત્ત્વની કિંમત વધારે છે. પરમાત્મ તત્ત્વની એના નામ સ્થાપના દૃઢ ભાવ એમ ચારેય સ્વરૂપમાં રક્ષા કરતાં ભૌતિક દુન્યવી સાધનો, જીવ સ્વયંનો અને સાપેક્ષ સત્યનો ભોગ આપવાની તૈયારી રાખવી જોઈએ.

પરમ પંચ પરમેષ્ટિમાં, પરમેશ્વર ભગવંત

ચાર નિક્ષેપે, ધ્યાઈએ નમો નમો શ્રી જિનભાણ.

ચારે નિક્ષેપથી ભગવાનને ભજવાં, જેથી મતિજ્ઞાનમાં તેની વિસ્મૃતિ ન થાય અને સ્મૃતિ કાયમ બની રહે. એ ચાર ભેદ નીચે પ્રમાણે છે. નામ નિક્ષેપથી નામસ્મરણ, સ્થાપના નિક્ષેપથી દર્શન સ્મરણ, દ્રવ્ય નિક્ષેપથી પરમાત્મ જીવનકથાશ્રવણ, સ્મરણ અને ભાવ નિક્ષેપથી, કર્મજ્ઞય (આડ

કર્મના નાશ) થી પ્રગટ થયેલ શુદ્ધ સ્વરૂપ સ્મરણ.

પરમાત્મ તત્ત્વ નિરાલંબન, સ્વાધીન, અનૈમિત્તિક અને નિરપેક્ષ એવું પૂર્ણ તત્ત્વ છે. જેમ સો (૧૦૦) ની સંખ્યામાં નવ્યાણું (૯૯) ની સંખ્યા સમાય પણ ૯૯ માં ૧૦૦ નહિ સમાય, તેમ અપૂર્ણતત્ત્વ, પૂર્ણતત્ત્વમાં સમાય પણ અપૂર્ણ તત્ત્વમાં, પૂર્ણ તત્ત્વ નહિ સમાય.

બાહ્યદ્રશ્યની જે જે સુંદરતા છે તેના ઉપાદાન અને નિમિત્ત કારણમાં જીવ ભાવ છે. જીવ ભાવમાં શ્રેષ્ઠ ભાવ પંચપરમેષ્ઠિ પાસે છે. માટે એમના સિવાય પ્રધાન શ્રેષ્ઠતા અન્યમાં નથી. પૂર્ણ સ્વભાવમાંથી કયા પ્રભાવો નહિ નીકળે ?

આપણે અગાઉ જોયું તે મુજબ પંચપરમેષ્ઠિમાં અરિહંત અને સિદ્ધ એ બે વીતરાગ સ્વરૂપ સાધ્યપદ છે. જ્યારે આચાર્ય, ઉપાધ્યાય અને સાધુ એ ત્રણ વૈરાગી સાધકપદ છે. અરિહંત અને સિદ્ધને સાધ્યપદ કહ્યાં પરંતુ વાસ્તવિક તે ઉભય ધ્યેયપદ, લક્ષ્યપદ છે. સૂક્ષ્મ રીતે વિચારીએ તો સમભિરુઠનય પ્રમાણે શબ્દ ફરતાં અર્થ ફરે તે મુજબ સાધ્ય અને લક્ષ્ય શબ્દમાં ભેદ છે. લક્ષ્ય અરિહંત અને સિદ્ધ બનવાનું છે અને સાધ્ય વીતરાગતાની પ્રાપ્તિ છે. વીતરાગતાની સાધના છે અને વીતરાગતાની ફળપ્રાપ્તિ રૂપ અરિહંત-સિદ્ધ પદની પ્રાપ્તિ છે. તેથી જ જ્ઞાનવિમલસૂરિશ્વરજીએ ગાયું છે કે -

વીતરાગ ભાવ ન આવહી જ્યાં લગી મુજને દેવ,

ત્યાં લગે તુમ પદ કમલની સેવના રહેજે દેવ

“મનમાં આવજો રે નાથ હું થયો આજ સનાથ” તેમાંય અરિહંતને નવકારમંત્રમાં પ્રથમ સ્થાન આપેલ છે. કારણ કે અરિહંત એ સદેહી-સયોગી-સાકાર અને અષ્ટપ્રાતિહાર્યો તથા અતિશયોના પ્રભાવયુક્ત પરમાત્મ સ્વરૂપ છે. જેથી કરીને અરિહંત સાથે વ્યવહાર શક્ય છે. વળી પ્રભાવયુક્ત પ્રભાવશાળી હોવાથી સહુ કોઈ સહજ જ આકર્ષાય છે. આપણે સહુ દેહધારી છીએ. દેહધારીને દેહના માધ્યમથી વ્યવહાર છે. સિદ્ધ પરમાત્મા અશરીરી-અદેહી હોઈ, દેહનું માધ્યમ નથી. તેથી તેઓની સાથે વ્યવહાર શક્ય નથી એટલે અરિહંત ભગવંતની જેમ તેઓ વ્યવહાર ઉપકાર નિમિત્ત બની શકતા નથી. મહામહોપાધ્યાય શ્રી વશોવિજયજીએ તેથી જ ગાયું છે કે ...

સત્તા શુદ્ધ અરૂપી તેરી નહિ જગકો વ્યવહાર

કા કહીએ કછુ કહ્યો ન જાએ તું પ્રભુ અલખ અપાર.

અરિહંત ભગવંતો, અરિહંત પરમાત્મા બન્યા બાદ, દેહ હોવાના કારણે દેહ હોય ત્યાં સુધી, દેહના માધ્યમથી નિર્વાણ થતાં સુધીના શેષ આયુષ્યકાળ દરમિયાન, લોક સંપર્કમાં હોવાથી લોકો ઉપર દેશના આદિ દ્વારા ખૂબ ખૂબ ઉપકાર કરે છે. જ્યારે અરિહંત ભગવંતનું નિર્વાણ થતાં તેઓ સિદ્ધ બને છે. અદેહી થાય છે. પછી તેમની સાથે વ્યવહાર શક્ય નથી. છતાંય તેઓ સિદ્ધપદથી

ધ્રુવનારક બની આપણને સિદ્ધ બનવામાં પ્રેરણારૂપ રહે છે. બાપને ઓળખાવનાર માનું મહત્ત્વ જેમ બાપ કરતાં અધિકું છે એમ સિદ્ધને ઓળખાવનાર અને સિદ્ધ પદે પહોંચાડનાર, અરિહંત પદનું મહત્ત્વ અધિકું છે.

આ નમસ્કાર મહામંત્ર સંબંધી વળી એક શાસ્ત્રીય પાઠ છે કે :

નવકાર ઈક આખર પાવ ફેડેઈ સત્ત અયરાઈ.

સાત સાગરોપમ સુધી નર્કની અશાતા વેદનીય વેદીને જે કર્મનિર્જરા થાય, તેટલી કર્મનિર્જરા, નવકારમંત્રના એક અક્ષરના ઉચ્ચાર માત્રથી થાય છે. તો હવે પ્રશ્ન એ ઊભો થાય છે કે અરિહંત-સિદ્ધ અને આચાર્ય-ઉપાધ્યાય-સાધુમાં ભેદ હોવા છતાં પાંચે પદનું ફળ એકસરખું કેવી રીતે હોઈ શકે ? પદ ભેદ જે છે તે અવસ્થા અને વ્યવસ્થાના ભેદો છે. અરિહંત સયોગી-સદેહી વીતરાગ પરમાત્મા છે. સિદ્ધ અશરીરી અદેહી વીતરાગ પરમાત્મા છે. જ્યારે આચાર્ય શાસનપૂરા ધારક સર્વોચ્ચ વૈરાગી સાધક છે, ઉપાધ્યાય પઠન પાઠન કરાવનાર વૈરાગી સાધક છે. સાધુ, સ્વયં સાધના કરનારા, સાધના કરનાર અન્યને સહાયક થનારા તેમજ સાધનાનો આદર્શ આપનારા વૈરાગી સાધક છે. આ બધાં અવસ્થા અને વ્યવસ્થાના ભેદ છે. પરંતુ ફળપ્રાપ્તિની દૃષ્ટિએ પાંચે પદથી સરખું ફળ મળી શકે છે.

અરિહંત અને સિદ્ધના શરણથી અને હાજરી-નિશ્રામાં જ કેવલજ્ઞાન થાય અને આચાર્ય-ઉપાધ્યાય-સાધુના શરણથી અને તેમની નિશ્રામાં કેવલજ્ઞાન-મોક્ષપ્રાપ્તિ ન થાય એવું નથી. પાંચેય પદના શરણથી અને અરિહંત, આચાર્ય, ઉપાધ્યાય, સાધુની નિશ્રામાં અથવા તો માત્ર શરણથી કેવલજ્ઞાન, મોક્ષપ્રાપ્તિનું કે પછી તેની પૂર્વભૂમિકામાં પુણ્યાનુબંધી પુણ્ય, સમક્તિ, દેશવિરતિ અને સર્વવિરતિની પ્રાપ્તિનું ફળ મળી શકે છે. ફળપ્રાપ્તિ અંગે પાંચે પદ સરખું ફળ આપવા સમર્થ છે. આ અંગે મૃગાવતી સાધ્વી અને ચંદનબાગા સાધ્વીજી, અર્ણિકાપુત્ર આચાર્ય અને પુણ્યચૂલા સાધ્વીજી, ચંડુદ્રાચાર્ય અને તેમના વિનયી શિષ્ય, ગૌતમસ્વામીજી અને પંદરસો તાપસના શાસ્ત્રીય દૃષ્ટાંત આપણી પાસે મોજુદ છે. તેથી જ તો ગાયું છે કે.....

ગુરુ રહ્યાં છન્નસ્થ પાણ વિનય કરે ભગવાન....

હવે આપણે અરિહંત શબ્દ વિષે થોડી વિસ્તૃત છણાવટ કરીશું.

અરિહંતપાણું એટલે અરિહંતી દોષ જે જીવના ખરાં શત્રુ છે, તેને હાણવાની-દુર કરવાની ક્રિયા, એ જીવની સાધના છે. જ્યારે અરિહંતને અરહન્ તરીકે પણ ઓળખવામાં આવે છે. મહાદેવ વીતરાગ સ્તોત્રમાં કલિકાલ સર્વજ્ઞ હેમચંદ્રાચાર્ય ભગવંતે શબ્દની વિસ્તૃત સમજ તેના ચાર અક્ષર અને તે ઉપર એક એક શ્લોકની રચના કરીને આપી છે.

અરહન્ શબ્દના પ્રથમ અ અક્ષર ઉપર નીચે પ્રમાણેનો શ્લોક છે.

अकार आदि धर्मस्य आदि मोक्ष प्रदेशकः ।

स्वरूपे परमम् ज्ञानम् अकारस्तेन उच्यते ॥

‘अ’ नो लक्ष्य अर्थ अक्षर એટલે કે જેનો ક્ષર અર્થાત્ વિનાશ નથી તે અવિનાશી અથવા તે અક્ષર એટલે શ્રુતજ્ઞાનનું મૂળ.

ભગવાને આપેલ દ્વાદશાંગીનું મૂળ શું ? સ્વર અને વ્યંજનરૂપ વર્ણ એ દ્વાદશાંગીનું મૂળ છે એટલે કે

અક્ષરનો સમૂહ શબ્દ બને છે. કર્તા અને ક્રિયાપદ પૂર્વક શબ્દના સમૂહથી સૂત્ર બને છે. સૂત્રનો સમૂહ અધ્યાય બને છે. અધ્યાયનો સમૂહ આગમ બને છે અને આગમનો સમૂહ તે દ્વાદશાંગી. આમ દ્વાદશાંગીનું મૂળ અક્ષર છે.

જેમ કેવલજ્ઞાની સ્વયં અક્ષર છે તેમ કેવલજ્ઞાનીના વદન-કમલમાંથી મળેલ દ્વાદશાંગી પ્રમાણે શ્રુતજ્ઞાનનું મૂળ, સ્વર અને વ્યંજન રૂપ જે વર્ણ છે, તેને પાણ અક્ષર કહેવાય છે. એટલે કે અક્ષર એવાં કેવલજ્ઞાનનાં મૂળ રૂપ પાણ અક્ષર અને અક્ષરનું કૃણ પાણ અક્ષર એવું કેવલજ્ઞાન.

જેમ કેવલજ્ઞાન નિર્વિકલ્પક છે તેમ કોઈ પાણ સ્વર અને વ્યંજન રૂપ એક વર્ણાક્ષરના ચિંતવન કે ઉચ્ચારથી કોઈપણ વિકલ્પ સિદ્ધ થતો નથી. એથી કરી અક્ષર માત્રના ઉચ્ચારથી પદાર્થ સંબંધી કોઈ પાણ ભાવ થઈ શકતા ન હોવાથી માત્ર અક્ષર ઉપરનું ચિંતવન નિર્વિકલ્પકતા છે.

આમ ‘અ’ એ આદિ છે, મૂળ છે. કેવલજ્ઞાનનું બીજ છે માટે કેવલજ્ઞાન છે.

બીજો શ્લોક ‘ર’ અક્ષર ઉપર નીચે પ્રમાણે છે.

રૂપિ દ્રવ્યમ્ સ્વરૂપમ્ યા દ્રષ્ટવા જ્ઞાનેન ચક્ષુષા ।

દૃષ્ટં લોકમ્ યા રકારસ્તેન ઉચ્યતે ॥

‘ર’ નો લક્ષ્ય અર્થ રૂપીથી રૂપીનું અને અરૂપીથી રૂપીને અરૂપી ઉભયનું દર્શન છે અથવા તો લોકાલોક જ્ઞેનારું કેવલ દર્શન છે.

ત્રીજા શ્લોકમાં ‘હ’ અક્ષર ઉપરની સમજૂતી આ પ્રમાણે આપી છે....

હતા રાગાશ્ચદોષાશ્ચ હતાઃ મોહ પરિષહાઃ ।

હતાની યેન કર્માણિ હકારસ્તેન ઉચ્યતે ॥

‘હ’ નો લક્ષ્ય અર્થ રાગદેષાદિ દોષરૂપી શત્રુને હણવાની ક્રિયા જે ચારિત્ર છે. અથવા તો અભ્રતાભાવ, સંસારભાવ, દ્વેષભાવ કાઢી નાખવાથી પ્રગટ થયેલ ચારિત્ર છે. છેવટનો ચોથો અક્ષર ‘ન’ ઉપરનો શ્લોક નીચે મુજબ છે.

સંતોષેણાપિ સંપૂર્ણો પ્રતિહાર્યાષ્ટકેન ચ ।

જ્ઞાત્વા પુણ્યમ્ ચ પાપમ્ ચ ત્તકારસ્તેન ઉચ્યતે ॥

‘ન’ નો લક્ષ્ય અર્થ નિષેધ છે. પરનો નિષેધ અને સ્વનો અનુરોધ. એટલે કે ઈચ્છાનિરોધ અર્થાત્ તલપ (ઈચ્છા-તલસાટ) ઉપર તપ ક્રિયા દ્વારા વિજ્ય અને અંતે પૂર્ણકામ તૃપ્તિ જો તપ છે.

સંસારમાં રાગી આત્માને કામી કહેવાય છે જે બાંધક ભાવ છે. વૈરાગી આત્માને નિષ્કામ કહેવાય છે જે સાધક ભાવ છે અને વીતરાગીને પૂર્ણકામ કહેવાય છે જે સિદ્ધિ છે.

નકારાત્મકવૃત્તિ જે શુભાશુભ પુણ્યપાપના ઉદયને અસદ્ (નાશવંત) ગણવારૂપ વૃત્તિ છે તે તપ છે અને તેમાંથી ઉદ્ભવતી તૃપ્તિ છે તે નિરિહિભાવ છે. જે નિર્વિકલ્પ ભાવ છે.

એટલે કે પોતાના આત્માના પ્રદેશથી અભેદ એવા ચાર આધાતીકર્મ, ઔદારિક શરીર અને બાકીના ક્ષેત્રભેદથી સર્વ બાહ્ય પદાર્થોના એકસરખા જ્ઞાતા દ્રશ્ય છે. અર્થાત્ તેમાં કોઈ રાગ-દ્વેષ, હેતુ, કે પ્રયોજન છે નહિ તે તેમનો પૂર્ણ જ્ઞાતાદ્રશ્ય ભાવ છે.

આ પ્રમાણે ‘અરહન’ શબ્દનું અદ્ભુત આયોજન રહસ્ય કલિકાલ સર્વજ્ઞ હેમચંદ્રાચાર્ય ભગવંતે મહાદેવ વીતરાગ સ્તોત્ર દ્વારા સમજાવ્યું છે કે ‘અરહન’ શબ્દમાં જ્ઞાન, દર્શન, ચારિત્ર અને તપ સંકલિત થયેલ છે કે જે પાછા આત્માના સ્વરૂપગુણ છે.

અરિહંત અર્થાત્ અરહન્ ત્રૈલોક્ય પૂજ્ય હોવાથી ‘અર્હ’ તરીકે પણ ઓળખાય છે. સંસ્કૃત ભાષામાં અર્હ ધાતુનો અર્થ પૂજવાને યોગ્ય છે. આ અર્હ શબ્દનું આયોજન પણ ખૂબ સુંદર અને રહસ્યમય છે. અર્હ શબ્દમાં રામ (આત્મા) શબ્દનો સમાવેશ થઈ જવા ઉપરાંત વધારામાં ‘હ’ અક્ષર જોડાયેલ છે તે મહાપ્રાણ છે, જે હૃદયમાંથી ઉઠે છે, (ઉચ્ચારાય છે), અને સ્વર અને વ્યંજનનો સત્તાપીશ છે. ઉપરાંત અ જેમ બારાખડી વાર્ગમાળાનો આધાક્ષર છે તેમ ‘હ’ એ અંત્યાક્ષર છે. આમ આધાંતાભ્યામ્ ન્યાયે, આદિ અને અંત આવી ગયા હોય એટલે સર્વ મધ્યના અક્ષરો એમાં સમન્વિત થઈ ગયા છે એમ કહેવાય એટલે જ ઋષિમંડલસ્તોત્રનો શ્લોક છે કે....

આદ્યાંતાક્ષર સંલક્ષ્ય-મક્ષરં વ્યાપ્ય યત્સ્થિતમ્,

અગ્નિ જ્વાલાસમં નાદ, બિંદુ રેખા સમન્વિતમ્ ॥

એટલું જ નહિ પણ ‘ય’ જેમ વાયુતત્ત્વ છે. ‘વ’ જેમ જલતત્ત્વ છે ‘લ’ જેમ પૃથ્વીતત્ત્વ છે, તેમ ‘હ’ એ આકાશતત્ત્વ છે અને ‘ર’ એ અગ્નિ તત્ત્વ છે.

‘અ’ અને ‘હ’ ની વચ્ચે ‘ર’ અક્ષર જે અગ્નિ તત્ત્વ છે તેને ગોઠવવાથી ‘અ’ અને ‘હ’ અક્ષરના માથે મ ચઢી જે અહં શબ્દ બન્યો છે તે અહં ને ભસ્મીભૂત (બાળી નાખવાના) કરવાના સૂચનરૂપ છે. આવી રહસ્યમય અર્હ શબ્દની પણ વ્યુત્પત્તિ છે.

જગતમાં કોઈ ન હણાતું હોય તો તે અર્હન છે. અર્હમ્ સત્તત્ત્વ છે. અસત્ તત્ત્વ હોય તે જ હણાય. સત્ તત્ત્વ ક્યારેય હણાતું નથી. અર્હમ્નો આશરો લેનારો અર્થાત્ સત્તત્ત્વને આધાર લેનારો હણાતો નથી. જન્મ-મરણ, જીવન હણે છે. જન્મ-મરણનો અંત અર્થાત્ ભવાંત કરનારા પરમાત્મા છે જે અર્હમ્ છે.

પ્રથમ પાપવૃત્તિથી અટકી, પાપપ્રવૃત્તિથી વિરમવાનું છે. જેના અંતે પાપપ્રકૃતિનો નાશ કરવાનો છે.

પાંચ મહાવ્રતના અંગીકારથી પાપવૃત્તિ અને પાપપ્રવૃત્તિના નાશની શરૂઆત થાય છે. પરંતુ પાપપ્રકૃતિ-ઘાતિકર્મનો નાશ તો નિર્વિકલ્પ ઉપયોગમાં રહેવાથી થાય છે. માટે જ સવ્યપાવખ્યાણસાગુો એમ નવકારમંત્રમાં કહેલ છે. વળી પાપથી મુક્ત થવામાં મુક્તિ છે. પાપબંધ એ અધર્મ છે, તેથી જ અઢારે પ્રકારનાં પાપથી-પાપસ્થાનકોથી વિરમવાનું છે.

પુણ્યબંધથી થતાં પુણ્યોદયમાં સુખની ઈચ્છા, સુખની લાલસા, આસક્તિ અને મોહ હોય છે. માટે જ પુણ્યબંધનું લક્ષ્ય રાખવાનું નથી. દુઃખનો મોહ કોઈને નથી. માટે જ ખોટા સુખનો (પરાધીન સુખ) મોહ છોડી નિર્મોહી થવું તે ધર્મ છે. પુણ્યના બંધ અને પુણ્યના ઉદયનો ઉપયોગ, પાપનાશ માટે કરવાનો છે અને નહિ કે નવા પાપબંધ માટે. પાપનાશથી મોક્ષ છે. માત્ર પુણ્યપ્રાપ્તિથી મોક્ષ નથી. હા! પુણ્યપ્રાપ્તિથી દર્દ, દરિદ્રતા અને નર્ક નિર્ચય ગતિ ટળે છે તેટલા પૂરતી પુણ્યની આવશ્યકતા, પાપનાશ અને મુક્તિપ્રાપ્તિના લક્ષ્યે જરૂરી ખરી. જીવ આવા બંધનથી અટકે એટલે પુણ્યના આગમનનો સવાલ જ રહેતો નથી. શુભ ભાવથી બંધાતું પુણ્ય તે સમયે અમૃતરૂપ છે અને દશ્યરૂપે ઉદયમાં આવે ત્યારે જીવ તેનો કેવો ઉપયોગ કરે છે તે પ્રમાણે તે વિષ કે અમૃત બને છે. આથી જ યુલિકામાં સવ્યપાવખ્યાણસાગુો કહ્યું પાણ પુણ્યનો કોઈ સંકેત ન કર્યો.

અરિહન્ત શબ્દનો લક્ષ્યાર્થ છે અભેદજ્ઞાન. એટલે કે આત્માના ક્ષાયિક સ્વરૂપની પ્રાપ્તિ. જ્યારે શબ્દાર્થ છે ભેદજ્ઞાન અર્થાત્ આત્મા અને દેહ બે ભિન્ન છે તે ક્ષીરનીર રૂપ થઈ ગયા છે એને જુદાં પાડવાનું જ્ઞાન તે ભેદજ્ઞાન.

અરિહન્ત શબ્દનો નિશ્ચય અર્થ એ છે કે જોગે રાગ દ્વેષ રૂપી અંતરંગ શત્રુને હણ્યા છે તે અરિહન્ત ! જ્યારે એનો વ્યાવહારિક અર્થ એ છે કે જોગે ઘાતિકર્મોનો નાશ કર્યો છે તે અરિહન્ત છે. તેમ અરિ એટલે દ્રવ્યાનુયોગ અને હન્ત એટલે ચરણકરણાનુયોગ કહી શકાય.

અરિહન્ત શબ્દની વિચારણા બાદ હવે નવકારમંત્રની યુલિકામાંના સવ્ય પાવખ્યાણસાગુો એ સાતમા પદ વિષે વિચારીશું.

ચાર ઘાતિકર્મની બધી પ્રકૃતિ પાપ પ્રકૃતિરૂપ છે. જ્યારે ચાર અઘાતિકર્મમાં પુણ્ય-પાપ ઉભય પ્રકૃતિ છે. પાપવૃત્તિ અને પાપપ્રવૃત્તિ અટકે એટલે પાપપ્રકૃતિ નહિ બંધાય. ઘાતિકર્મ, પાપવૃત્તિ અને

પાપપ્રવૃત્તિથી બંધાય છે. સ્વરૂપની અપેક્ષાએ ચારે ધાતિકર્મ આત્માને પરમાત્મા બનવા દેતા નથી તેથી જ તેને પાપપ્રકૃતિ કહેલ છે. અહીં એક પ્રશ્ન એ ઉદ્ભવે છે કે નિદ્રા એ ધાતિકર્મમાંના દર્શનાવરણીય કર્મનો એક ભેદ છે તે નિદ્રા તો જીવને આવશ્યક છે, કેમ કે નિદ્રા વિના જીવ જીવી શકતો નથી. નિદ્રાનાશના રોગી આપઘાત કરી જીવનનો અંત આણવા સુધી જાય છે તો એને પાપ પ્રકૃતિ કેમ કહેવાય ? એનો જવાબ એ છે કે નિદ્રા એ જડવત્ દશા છે, અને પ્રમાદરૂપ હોવાથી કદીય નિદ્રાવસ્થામાં કેવલજ્ઞાન થતું નથી અર્થાત્ પરમાત્મા બની શકાતું નથી માટે તેને પાપપ્રકૃતિ કહેલ છે.

મંગલાણંચ સવ્યેસિં પદમં હવઈ મંગલં

સર્વ મંગલમાં પ્રથમ મંગલ એટલે કે ઉત્કૃષ્ટ મંગલ નમસ્કાર મહામંત્રમાંના પંચ પરમેષ્ઠિ પદોને કરવામાં આવતો નમસ્કાર છે.

અહીં હવે પ્રશ્ન એ ઉદ્ભવે છે કે આનંદ અથવા સુખનો સંકેત કેમ ન કર્યો ? પાપને ગાળે તે મંગલ એ મંગલ શબ્દનો અર્થ છે. વ્યાકરણશાસ્ત્રની પદ્ધતિએ મંગલ શબ્દના એવાં ઘણાં અર્થ થાય છે. જ્યાં આનંદ યા સુખ હોય ત્યાં મંગલ હોય પણ ખરું અને ન પણ હોય. પરંતુ જ્યાં મંગલ હોય ત્યાં આનંદ અને સુખ અવશ્ય હોય જ. મંગલ થાઓ ! એ આશીર્વાચન કલ્યાણ અને હિતને સૂચવે છે. હિત અને સુખ એ બેમાં મોટો ભેદ છે. હિત અને કલ્યાણ નિત્ય તત્ત્વ છે. જ્યારે હિત અને કલ્યાણ નિરપેક્ષ સુખ અનિત્ય છે. માટે જ નમસ્કાર મહામંત્રની ચુલિકામાં, સર્વ પાપનો પ્રાણાશ થાઓ ! અને સર્વનું મંગલ થાઓ ! એવી જ રચના છે તે જીવને પરમાર્થ તત્ત્વની મહા-મૂલ્યવાન બક્ષિસરૂપ છે.

આ રીતે નમસ્કાર મહામંત્રમાં એકેક શબ્દની રચના અને યોજના વિસ્મયકારક, અને અદ્ભુત અલૌકિક લોકોત્તર છે.

અગાઉ જોઈ ગયાં તે મુજબ હ એ મહાપ્રાણ છે, જે હૃદયમાંથી ઉચ્ચારાય છે. તેમ મંત્રાક્ષર હૃદયમાં શ્રદ્ધા અને લાગણી શુદ્ધ કરે છે માયા બીજ છે જ્યારે બુદ્ધિ શુદ્ધ કરે છે, જે મસ્તિકમાંથી ઉચ્ચારાય છે અને તે મંત્રાક્ષર પ્રાણવબીજ છે. વળી આમાં પંચ-પરમેષ્ઠિનો સમન્વય થયેલો છે જે નીચે પ્રમાણે છે.

સંસ્કૃત ભાષાના અક્ષર સંધિના નિયમ મુજબ અરિહન્તનો અ અને અશરીરી કે સિદ્ધ ભગવંતનું મુખ્ય વિશેષણ છે, તેનો અ મળી અ+અ= આ થાય છે. એમાં આચાર્ય શબ્દનો પહેલો અક્ષર આ ભળવાથી આ+આ=આ. એમાં ઉપાધ્યાય શબ્દનો પહેલો અક્ષર ઉ મળવાથી આ + ઉ=ઓ થાય છે. અને મુનિનો પહેલો અક્ષર મ જોડાવાથી ઓ+મ=ઓમ શબ્દ બને છે.

હવે પ્રશ્ન એ થાય કે પાંચમાં સાધુ પદના સાધુ શબ્દનો સા અક્ષર ન લેતાં મુનિ શબ્દનો મ અક્ષર કેમ લેવામાં આવ્યો ? તેનું કારણ એ છે કે પાંચ સમિતિ અને ત્રણ ગુમિરૂપી અષ્ટપ્રવચન માતાની આરાધાનાનું અંતિમક્રમ જો કોઈ હોય તો તે મનનું મૌન છે. અને મૌન એ અખોલ તત્ત્વ છે. એટલે

આત્મા મૌનથી પાણ પર છે તેથી મુનિ શબ્દ લક્ષ્ય અર્થથી બહુ મહત્વનો હોઈ સાધુના સ્થાને અત્રે પ્રયોજ્યો છે અને સાધુને મુનિ તરીકે પાણ ઓળખવામાં આવે જ છે.

લિપિભેદે ઓમ બે પ્રકારે લખાય છે. આ ઐં નું બીજું રહસ્ય એ છે કે સચરાચર વિશ્વ-બ્રહ્માંડ અસીમ ગોળાકાર છે. આમ અંત્યસીમાંત અને અસીમ ઉભય ગોળાકાર રૂપનું ઐં લિપિમાં આલેખન થયેલ છે.

સ્વરૂપમંત્રથી સ્વરૂપપદે પહોંચેલ પરમાત્માને નમસ્કાર થાય છે જે નમસ્કારના ત્રણ ભેદ છે.

- (૧) કાયયોગથી ચરણ, ઘૂંટણ, હસ્ત, નાસિકા અને મસ્તક એમ પાંચ અંગ ધરતી સરસા અડાડી થતો પંચાંગ પ્રાણામ-નમસ્કાર.
- (૨) વચનયોગથી પરમાત્મ ભગવંતની સ્તુતિ કરવા દ્વારા થતો નમસ્કાર.
- (૩) અને મનોયોગથી પરમાત્માના શુદ્ધ સ્વરૂપના જ્ઞાન ધ્યાનમાં લીન થવા દ્વારા અતિ સૂક્ષ્મતાએ શૂન્ય બનવા દ્વારા થતો પ્રણિધાનરૂપ સર્વોત્કૃષ્ટ નમસ્કાર કે જે ત્રીજા પ્રકારના નમસ્કાર વિષે જ કહેવાયું છે.

ઈકકોવિ નમુક્કારો જિનવર વ સહસ્સ વહ્રમાણસ્સ

સંસાર સાગરાઓ તારેઈ નરં વા નારી વા....

પંચપરમેષ્ઠિના ભાવપદને ત્રણે યોગથી નમસ્કાર કરવા દ્વારા સર્વ પાપનો પ્રાણાશ એટલે કે મૂળથી નાશ અર્થાત્ ક્ષય થાય છે. તેથી જ સવ્ય પાવપ્પાણાસાગ્રો કહેલ છે. નમસ્કાર કરવા દ્વારા સર્વ પાપના ડુંગરોને ઓળંગવાના છે. ખતમ કરવાના છે. પંચપરમેષ્ઠિની આરાધના એટલે પુણ્યના ડુંગરો ખડકવા એમ નથી સમજવાનું, પરંતુ પંચપરમેષ્ઠિને નમસ્કાર એટલે પાપોના ડુંગરોનો નાશ.

નમસ્કાર એટલે કે નમન અને નમન એટલે નમવું અર્થાત્ ઊલટવું. મનને ઊલટાવવું એટલે નમ. તેમ મનને ઊલટાવવું એટલે કે મનને અમન કરવું. આમ નમવું એટલે પરિણમવું-તદ્રૂપ થવું. અમન થવું એટલે ઈચ્છા રહિત થવું નિરિહિ થવું. વ્યાકરણશાસ્ત્રના નિયમ પ્રમાણે મન શબ્દનો અર્થ વિચારવું એટલે કે ભુદ્ધિ તત્ત્વ છે. તે જ પ્રમાણે મનની ચંચળતાના અર્થમાં મન એ વિકલ્પ અને ઈચ્છાનું પોટવું છે આમ નમસ્કાર એટલે કે નમન એ અમન-ઈચ્છારહિત-નિરિહિ-પૂર્ણકામ બની પરમાત્મ સ્વરૂપનું પ્રાગટ્ય કરવાની ક્રિયા છે. એથી જ તો શ્રીમદ્ભગવાને ગાયું છે કે...

શુભ ભાવ વડે મન સુદ્ધ કરો,

નવકાર મહાપદને સમરો,

નહિ એ સમાન સુમંત્ર કહો,

ભજીને ભગવંત ભવંત લહો.

શાસ્ત્રીય પરિપાટીથી પંચપરમેષ્ઠિમાં અરિહંત ભગવંત એ છે કે જેઓ અષ્ટ પ્રતિહાર્યો અને ચાર અતિશય મળી બાર ગુણોથી યુક્ત છે. જ્યારે આઠ કર્મોના ક્ષયથી પ્રગટેલા આઠ ગુણોથી યુક્ત છે તે સિદ્ધ ભગવંત. છત્રીસ ગુણો ધરાવે છે તે આચાર્ય છે, પચીસ ગુણોને જે ધારણ કરે છે તે ઉપાધ્યાય છે અને સત્તાવીસ ગુણોથી જે ગુણવાન છે તે સાધુ છે. બધાં મળીને $૧૨+૮+૩૬+૨૫+૨૭=૧૦૮$ ગુણો થતાં હોવાથી નવકારમંત્ર ગણવાની માળા જેને નવકારવાળી કહેવાય છે તે માળાના કુલ માગકા અથવા પારા એકસો આઠ છે.

નવકારના પદ નવ છે અને પંચ પરમેષ્ઠિના ગુણોનો સરવાળો ૧૦૮ છે તેનાય અંકોનો સરવાળો નવ છે કે જે નવનો આંક અખંડ અને અભંગ ગણાય છે. એ એક ગણિત ચમત્કાર છે કે નવના આંકને ગમે તે અંકથી ગુણીએ તો ગુણાકારની રકમનો આંકનો સરવાળો નવ જ આવશે. વળી નવના કોઠા પલાખા વિષે વિચારીશું તો ય જણાશે કે નવ એકું નવમાં, નવથી શરૂ થઈ આંકડો ક્રમબદ્ધ ઊતરતો દાયે નવે નેવુંમાં, ૯૦ના શૂન્ય સુધી પહોંચે છે. તેમ કોઈપણ ગમે તેટલા આંકડાની રકમના અંકોના સરવાળાને તે મૂળ રકમમાંથી બાદ કરતા આવતી રકમના અંકોનો સરવાળો હંમેશ નવ આવશે. જેમ ૩૩૨ ત્રણ આંકડાનો સરવાળો આઠ. ૩૩૨ માંથી આઠ જાય એટલે ૩૨૪ એ ત્રણનો સરવાળો નવ રહેશે.

પાંચ અસ્તિકાયરૂપ વિશ્વનું મૂળ એક પ્રદેશત્વ જે અવિભાજ્ય છે તે ગોળાકાર શૂન્ય રૂપ છે અને તેનો વિસ્તાર પણ અસીમ એવું આકાશ દ્રવ્ય ગોળાકાર રૂપ છે.

શૂન્ય એ મૂળ (બીજ) છે અને શૂન્ય એ રૂળ છે. અહીં શૂન્ય એટલે શૂન્યત્વ. અર્થાત્ પરમાત્મ તત્ત્વ, મૂળમાં સત્તાગત આપણામાં જ રહેલાં આપણા પરમાત્મતત્ત્વનું આપણે પ્રાગટીકરણ કરવાનું છે. સ્થૂલમાંથી સૂક્ષ્મમાં થઈ શૂન્યમાં જવાનું છે. અહીં શૂન્ય એટલે પદાર્થ-દ્રવ્યનો અભાવ નહિ પરંતુ પરસ્પર વિરુદ્ધ પદાર્થની અસરનો અભાવ. કોઈને બાધા પહોંચાડે નહિ અને કોઈથી બાધા પામે નહિ તેવી અવ્યાબાધ અવસ્થા તે શૂન્યાવસ્થા. એ અવસ્થાનો સંકેત ઉપરોક્ત ગણિત ચમત્કારમાં છે. એટલું જ નહિ પણ ગણિતમાં શૂન્યની અવસ્થા એવી જ છે. શૂન્યને કોઈ રકમમાં ઉમેરો કે કોઈ રકમમાંથી બાદ કરો, યા તો કોઈ રકમ વડે તેને ગુણો કે ભાગો તો તે રકમ અકબંધ રહેશે. કોઈ અસર તે રકમને થશે નહિ. તેમ શૂન્ય પણ શૂન્ય જ રહેશે. આમ ગણિત ચમત્કાર પણ અધ્યાત્મ તરફ દોરી જાય છે.

ઉપરાંત અરિહંત ભગવંતનો રંગ શ્વેત છે, સિદ્ધ ભગવંતનો રંગ રક્ત (લાલ) છે. આચાર્ય ભગવંતનો રંગ પીત (પીળો) છે, ઉપાધ્યાય ભગવંતનો રંગ હરિત (લીલો) છે, અને સાધુ ભગવંતનો રંગ શ્યામ (કાળો) છે.

પંચ પરમેષ્ટિના પાંચ રંગોની જે કલ્પાના કરી છે, તે કેટલી યથાચોગ્ય છે, તેનો વિચાર કરીએ.....

પંચપરમેષ્ટિ જેમ જપનો વિષય છે તેમ પરમાર્થથી ધ્યાનનો વિષય છે. ધ્યાન સાધનાના અનેક કેન્દ્રો ને ભેદો છે. તેમાં આપણા શરીરની રચનામાં મુખ્ય તાળવું છે. જ્યારે બાળક જન્મે છે ત્યારે હાડકાનો ભાગ પૂરાયેલો હોતો નથી અને તે કોમળ હોય છે. એ જ સહસ્રદલ કમલનું કેન્દ્ર છે કે જેમાં પરમાત્મપદની સ્થાપના છે. ત્યાંથી નીચે ઊતરતાં છ ચક્રમાંનું છઠું ચક્ર કે જેને આજ્ઞાચક્ર કહેવામાં આવે છે. તેનું સ્થાન બે નોગ વચ્ચે રહેલ ભ્રુકુટી છે તે ગુરુનું સ્થાન છે અને ગુરુપદને સાધીએ તો જ તેમના દ્વારા પરમાત્મદેવનું મિલન થાય છે એટલે સુખાસને બેસીને ચિત્તને સ્થિર કરીને, ચક્ષુ બંધ કરીને તે ભ્રુકુટિ સ્થાનમાં ઈચ્છા અને વિચારને સ્થગિત કરી દઈએ, ત્યાં શું બંધ આંખે દેખાય છે તે દૃષ્ટા બની જ્યાં કરવું, ધ્યાન કરવું. તે અનેક પ્રકારના ધ્યાનના ભેદોમાં મહત્ત્વનો ઊંચો ભેદ છે. કારણ કે પરમાત્મ તત્ત્વ પૂર્ણ જ્ઞાતા અને દૈષ્ટા છે. માટે સાધકે પણ કર્તા-ભોક્તા મટીને એટલે કે ઈચ્છા અને વિચારને છોડીને દૃશ્યથી જુદાં પડવા માટે દૃશ્યને જોતાં શીખવું જોઈએ. પરંતુ ઈચ્છા અને વિચાર થઈ દૃશ્ય સાથે ભળવું ન જોઈએ. આ રીતે આજ્ઞાચક્રમાં માનસિક ત્રાટક કરી ધ્યાન કરવાનું શરૂ કરીશું એટલે પહેલાં કાળુ ધબ દેખાશે ને એ પ્રમાણે સતત દર્શન કરવાથી તે કૃષ્ણવાર્ણમાં તૂટકૂટ થશે અને ક્રમિક વિકાસપ્રમાણે નીલવાર્ણ જેવું દેખાશે. આગળ તે દર્શનને દૃઢ કરતાં કરતાં વાર્ણાંતર થયાં જ કરશે અને પરિણામે પરમ ઉજ્જ્વલ. પરમ તેજસ્વી શ્વેત વાર્ણ દેખાશે. આવો આ સાધનાનો પ્રયોગ છે.

હવે કયા સાધકે પૂર્વભવમાં કેવી સાધના કરી હોય અને ક્યાં સુધી પહોંચ્યો હોય તે કહેવું અશક્ય છે. તેથી તેની સાધના જ્યાં અધૂરી રહી હોય ત્યાંથી શરૂ થાય એટલે ગમે તે વાર્ણ દેખાય. વળી સાધનામાં જો ચઢ-ઊતર થાય તો તે પ્રમાણે પણ વાર્ણાંતર થાય. પરંતુ આ વાર્ણદર્શનનો સાર એ છે કે સાધકે એ નિર્ણય કરવો કે જ્યારે જે વાર્ણ દેખાય ત્યારે તે પદનું અજ્ઞપાજ્ઞપરપે ધ્યાન થઈ રહ્યું છે. એ રીતે સતત અભ્યાસ કરી સાધકે આગળ વધવું અને અનુભવ કરવો. આ હકીકતની વાતો કરવાથી કાંઈ ન વળે પણ પ્રયોગ કરવાથી મળે.

અહીં પ્રશ્ન એ ઉદ્ભવે કે પંચપરમેષ્ટિના વાર્ણમાં, સિદ્ધ પરમાત્મા અશરીરી હોવાથી તેમના બીજી અપેક્ષાએ જે ૩૧ ગુણો વાર્ણવ્યા છે એમાં અવાર્ણ, અગંધ, અરસ આદિ ગુણો કહેલ છે, તો સિદ્ધ ભગવંતમાં લાલ વાર્ણ કેમ આરોપાય ? સાધકને ઉપર જણાવેલ પ્રયોગની અપેક્ષાએ વાર્ણન કરવામાં આવેલ છે. જેમ સૂર્યોદય વેળાએ જેને ઉષા કહેવામાં આવે છે તે વખતે સૂર્યનો વાર્ણ રક્ત હોય છે જે પછી શ્વેત બને છે તે પ્રમાણે સાધકને ધ્યાનની પ્રક્રિયામાં દર્શન થાય છે. જેવી રીતે પંચપરમેષ્ટિના પાંચ વાર્ણો છે તેવી જ રીતે ચોવીસે તીર્થંકર ભગવંતો પણ પાંચ વાર્ણમાં વહેંચાયેલાં છે.

દોય રાતા જિનવર અતિ ભલા,

દોય ધોળા જિનવર ગુણનીલા,

દોય નીલા, દોય શામળ કહ્યાં,

સોળે જિન કંચન વર્ણ લહ્યાં.

સાધુ સાધનાની પ્રાથમિક ભૂમિકામાં હોવાથી એમનો રંગ કાળો સૂચ્યો છે. વળી ધ્યાનની પ્રક્રિયામાં પણ સાધકને શરૂઆતમાં પ્રથમ કાળું ધબ દેખાય છે ત્યારબાદ સાધનામાં વિકાસ થાય છે તેના નિર્દેશરૂપ ઉપાધ્યાયનો રંગ લીલો કહ્યો છે. જે શુદ્ધિકરણ સૂચવે છે અને એ જ પ્રમાણે ધ્યાનમાં પણ કાળા રંગ બાદ જાંબળી, નીલો, લીલો રંગ દેખાય છે. તેથી આગળ સાધનામાં વિકાસની ઉપલી ભૂમિકામાં કર્મમલને ભસ્મીભૂત કરવાના સામર્થ્યરૂપ, જે તેજ પ્રગટ થયું છે એના સક્રિય રૂપે, આચાર્યનો રંગ પીળો બતાવ્યો છે. જે પ્રમાણે ધ્યાનમાં પણ અને છે એ જ પીળો રંગ પછી લાલચોળ રક્ત વર્ણ થઈ અંતે શ્વેત રંગમાં પરિણમે છે.

કોલસો પણ પહેલાં કાળો હોય છે જેને અગ્નિથી સળગાવતા એમાં પ્રથમ લીલી પીળી ઝાંચ ઊંકે છેને અંતે શ્વેત રાખ બને છે.

તેવી જ રીતે ગાઢ તિમિરમાંથી ખડો ફાટે છે જે ઉપા ટાણે રક્ત, પીત રંગ ધારણ કરે છે અને પૂર્ણ સૂર્યોદય થયાં બાદ શ્વેતવર્ણી પ્રકાશરૂપે પરિણમે છે.

અનેક મંત્રો અનેક ભિન્ન ભિન્ન પ્રકારના હોય છે. જેવી જેની વાંછના. એ મંત્રોના બે મુખ્ય ભેદ છે. કેટલાંક કૂર મંત્રના આરાધ્ય દેવ છે જે અધિષ્ઠાયક દેવતા કહેવાય છે તે પણ કૂર હોય છે જ્યારે સૌમ્યમંત્રના અધિષ્ઠાતા દેવ સૌમ્ય હોય છે. કૂર મંત્રની સાથે દાન કે તપનો કોઈ સંબંધ હોતો નથી. જ્યારે સૌમ્ય મંત્રના જપ સાથે જો દાન અને તપ ભજે છે તો તે મંત્રને બળ મળે છે જેથી તે શીઘ્ર ફળે છે. અને ફળ પણ શ્રેષ્ઠ હોય છે. નમસ્કાર મહામંત્ર એ સૌમ્ય પ્રકારનો મંત્ર છે જેનો જપ શીઘ્ર અને શ્રેષ્ઠ ફળ પ્રાપ્તિ અંગે દાન અને તપ સહિત કરવા યોગ્ય છે, કારણ કે બીજા મંત્રોના અધિષ્ઠાયક દેવોની અવસ્થા તપ, ત્યાગ અને દાન સ્વરૂપ નથી હોતી. જ્યારે પંચ પરમેષ્ઠિનાં પાંચ પદો સ્વયં તપ, ત્યાગ, દાનાદિ અનેક ગુણની પરાકાષ્ટારૂપ છે. માટે જ આનાથી ચઢિયાતો મહાન મંત્ર કયો હોઈ શકે ?

વળી અન્ય મંત્રોની આરાધનામાં ધ્યેય, ધ્યાન, ધ્યાતા ત્રણે ભિન્ન હોય છે. અને કદી અભેદ થતાં નથી. કારણ કે ધ્યાન કરનાર ધ્યાતાની જે દશા હોય છે તે જે રહે છે, અને એના માર્ગ દ્વારા પ્રાપ્ત થયેલ વાંછિત પદાર્થ કાયમ રહેતો નથી. તેને વાયકપણું પણ ટળતું નથી. એટલું જ નહિ પણ આપનાર અધિષ્ઠાયક દેવ દેવીની અવસ્થા સ્થિતિ પણ સાદિ સાન્ત હોય છે.

જ્યારે પંચ પરમેષ્ઠિ મંત્રના પદો અવિનાશી છે અને ધ્યાતાને અવિનાશી બનાવી, ધ્યાનથી પર

કરી અભેદ થાય છે, સાધનાકાળે ત્રણે ભિન્ન હોવા છતાં સાધ્ય પ્રાપ્તિ થયે ત્રણે અભેદ થાય છે.

ઉદાહરણ તરીકે કોઈ દેવદેવીના મંત્રની આરાધના-સાધના કરનાર જે સ્વયં તે દેવ કે દેવીના પદની વાંછના રાખે તો કાંઈ એવું ન બને કે તે દેવ-દેવી પદચ્યુત થઈ એમની ગાદી એમનું પદ સાધકને આપી દે. ઊલટા તેવી માગણી કરનાર ઉપર તે કોપાયમાન થાય. જ્યારે અરિહંત અને સિદ્ધ પદનો આરાધક અરિહંત અને સિદ્ધ પદની માગણી કરી શકે અને તે પદ સાધકને પ્રાપ્ત પણ થાય. નવપદજીની ઓળીમાં પ્રત્યેક પદના દુહામાં આજ પ્રકારની માંગ આવે છે.

અરિહંત પદ ધ્યાતો થકો, દલ્વહ ગુણ પજ્જાય રે,
ભેદ છેદ કરી આતમા, અરિહંત રૂપી થાય રે. વીર.
વીર જિનેશ્વર ઉપદિશે, સાંભળજે ચિત્ત લાઈ રે,
આતમ ધ્યાને આતમા, ઋદ્ધિ મળે સવિ આઈ રે.
રૂપાતીત સ્વભાવ જે, કેવલ દંસાગ નાગી રે,
તે ધ્યાતા નિજ આતમા, હોવે સિદ્ધ ગુણખાગી રે વીર.
ધ્યાતા આચારજ ભલા. મહામંત્ર શુભ ધ્યાની રે,
પંચ પ્રસ્થાને આતમા. આચારજ હોય પ્રાગી રે વીર.
તપ સજ્જાયે રત સદા, દ્વાદશ અંગનો ધ્યાતા રે,
ઉપાધ્યાય તે આતમા, જગબંધવ જગભ્રાતા રે. -વીર.
અપ્રમત્ત જે નિત રહે, નવિ હરખે નવિ શોચે રે,
સાધુ સુધા તે આતમા, શું મુડે શું લોચે રે. -વીર.
શમ સંવેગાદિક ગુણા, ક્ષય ઉપશમ તસ થાય રે,
દર્શન તેહી જ આતમા, શું હોય નામ ધરાવે રે, -વીર.
જ્ઞાનાવરાગીય જે કર્મ છે, ક્ષય ઉપશમ તસ થાય રે.
તો હુંએ એહીજ આતમા, જ્ઞાને અબોધતા જાય રે -વીર.
જાગ ચારિત્ર તે આતમા, નિજ સ્વભાવમાં રમતો રે,
લેશ્યા શુદ્ધ અલંકર્યો, મોહવને નવી ભમતો રે. વીર.

ઈચ્છારોધે સંવરી, પરિણતિ સમતા યોગે રે,
તપ તે એહી જ આતમા, વર્તે નિજ ગુણ ભોગે રે, -વીર.

આમ છતાંય સમકિતી દેવ દેવીનું મહાત્મ્ય છે, જેને માટે ચૌદપૂર્વમાંના એક પૂર્વમાં નીચે પ્રમાણેની ગાથા છે.

મમ મંગલમરિહંતા, સિદ્ધા સાહુ સુઅં ચ ધમ્મો અ,

સમ્મ-દિદ્દહી-દેવા દિતું સમાહિં ચ બોહિં ચ.

આ ગાથા એમ સૂચવે છે કે જીવને સમાધિ અને બોધિની પ્રાપ્તિ માટે અરિહંત, સિદ્ધ, આચાર્ય, ઉપાધ્યાય, સાધુ અને શ્રુતધર્મ જેટલાં સહાયક છે તેટલાં જ સમકિત દષ્ટિ દેવ દેવીઓ સહાયક છે. એ સમકિત દષ્ટિ દેવોનું વિશ્વમાં શું સ્થાન છે તે હકીકત એટલા માટે મહત્વની છે કે આ વિશ્વમાં સર્વ જીવોમાં સર્વશ્રેષ્ઠ એવાં તીર્થંકર પરમાત્મા, તીર્થંકર નામકર્મનો ભોગવટો પ્રધાનપણે દેવ નૈમિત્તિક કરે છે. આ રીતે શાસનરક્ષા અને શાસન પ્રભાવના માટે દેવોનું સ્થાન પણ એટલું જ મહત્વનું છે.

જેમ આપણી લઘુતા, નમ્રતા માટે દાસાનુદાસપણું સ્વીકારીએ છીએ તેમ દેવો પણ દાસાનુદાસપણું સ્વીકારે છે અને નમસ્કાર મંત્રના આરાધકની યથાયોગ્ય અવસરે દષ્ટ અને અદષ્ટરૂપે સહાયતા કરે છે. દેવોના જીવનમાં. તેમની સાધનામાં આ એ વિકાસ વિભાગ છે. કારણ કે તેમના નિકાચિત પુણ્યના ઉદયમાં અને ભોગ સુખમાં આપણી જેમ વિરતિધર્મનું તેઓ પાલન કરી શકતા નથી તેથી જે તે ગાયું છે કે.....

સમરો મંત્ર ભલો નવકાર, એ છે ચૌદપૂર્વ નો સાર...

દેવો સમરે, દાનવ સમરે, સમરે રાજા રંક.....

એટલું જ નહિ, પણ ૧૫૦ ગાથાના સ્તવનમાં મહામહોપાધ્યાય યશોવિજયજી મહારાજએ પણ સમકિતદષ્ટિ દેવોનું મહાત્મ્ય વર્ણવ્યું છે કે....

સમકિત દષ્ટિ સુર તાણી આશાતના કરશે જેહ લાલ રે,

બોધિ દુર્લભ તે થશે થાણાગે ભાખ્યું એહ લાલ રે...

નમસ્કાર મહામંત્રમાં નામસ્મરણ છે. અરિહંત અને સિદ્ધ એ જીવ માત્રના સ્વરૂપમાન છે. એ સ્વરૂપનામનું સ્મરણ, નમસ્કાર મહામંત્રના જાપ કરવાથી થાય છે તે નામસ્મરણની મહત્તા મહામહોપાધ્યાય યશોવિજયજી મહારાજએ આ રીતે બતાવેલ છે.

નકો મંત્ર, નવિ યંત્ર, નવિ તંત્ર મોટો,
જિસ્યો નામ તાહરો સમામૃત લોટો,
પ્રભુ નામ તુજ મુજ અક્ષય નિધાન,
ધરું ચિત્ત સંસાર તારક પ્રધાન.

આ પંક્તિનું પરમ રહસ્ય શું છે ? મનુષ્ય યોનિમાં જન્મેલો જીવ ચાહે તે જાતિ, જ્ઞાતિ કે ક્ષેત્રનો હોય પરંતુ તે વિશ્વના કોઈપણ પદાર્થના અર્થ કે ભાવની જન્મતાની સાથે જાગૃતો કે સમજતો નથી. પરંતુ બીજાના શબ્દોચ્ચાર વડે સાંભળીને, પહેલાં તો તે ઉચ્ચારાયેલ શબ્દને જ પકડે છે-ગ્રહણ કરે છે. ત્યારબાદ અવસ્થાની પરિષ્કવતાએ ધારણામાં રાખેલ તે શબ્દના અર્થ અને ભાવને પામે છે. તે પ્રમાણે આપણે પણ, આપણા સ્વરૂપમંત્ર રૂપ આ નવ પદોનાં નામોની ખૂબ સ્ટાણપૂર્વક જપ ક્રિયા કરવી જોઈએ જેથી આપણે તેના અર્થ અને ભાવને પામી શકીએ.

આમ પંચપરમેષ્ટિના શબ્દોચ્ચાર રૂપ, નામ સ્મરણ અને તેના જપનું કેટલું મહત્ત્વ છે, તે જીવનના અનુભવથી સહુ કોઈ સહજ સમજી શકે છે. આથી જ ચાર નિશ્લેષમાં નામ નિશ્લેષને પ્રથમ ક્રમકે સ્થાન આપ્યું છે.

વિશ્વમાં ગમે તે ધર્મમાં, ગમે તે ભાષામાં, ગમે તેટલા મંત્રો હોય, પરંતુ બધાય મંત્રોનું મૂળ આ પાંચ શબ્દો હોવાથી આ પાંચ પદોનું સ્મરણ કરીને જો બીજા મંત્રોની સાધના કરે તો જ તે મંત્રોને બળ મળે અને તેનું ફળ મળે. કારણ કે તેના પંચપરમેષ્ટિ શબ્દ રૂપ મંત્ર સ્વરૂપ છે. જ્યારે બીજા બધાં મંત્રો તેનાં અંશરૂપ-દેશરૂપ છે. જેમ જ્ઞાન સ્વરૂપ કહેવાય અને ક્રિયા દેશરૂપ કહેવાય એવું આ મંત્રનું છે. જ્ઞાન પરમાર્થથી અવિનાશી છે, જ્યારે ક્રિયા વિનાશી છે. અવિનાશી સ્વયંભૂ હોય જ્યારે વિનાશી એ અવિનાશીનો આધાર લઈને જ ઉત્પન્ન થાય અને વ્યય થાય ત્યારે તેમાં જ લય પામે.

પંચપરમેષ્ટિ મંત્રની સ્તુતિ નીચેના શ્લોકથી કરવામાં આવે છે.

અર્હન્તો ભગવન્ત ઈન્દ્ર મહિતા

સિદ્ધાશ્ચ સિદ્ધિસ્થિતા

આચાર્યા જિનશાસનોન્નિતકરા

પૂજ્યા ઉપાધ્યાયકા ॥

શ્રી સિદ્ધાંત સુપાઠકા મુનિવરા

રત્નત્રયા આરાધકા

પંચૈતે પરમેષ્ટિન : પ્રતિદિનં

કુર્વન્તુ વો મંગલમ્ ॥

આ શ્લોકમાં અરિહંત ભગવંતો ઈન્દ્રોને પૂજ્ય છે એમ ઈન્દ્ર મહિતા શબ્દોથી કહેવાયું છે. તો પછી પ્રશ્ન થાય કે નરેન્દ્ર-નરદેવ એવાં ચક્રવર્તી-વાસુદેવ-પ્રતિવાસુદેવ મહિતા એમ કેમ ન કહેવાયું ? એનું કારણ એ છે કે.... તીર્થકરને બાદ કરતાં સર્વાધિક પુણ્યના સ્વામિ ઈન્દ્ર જેવા ઈન્દ્ર જો અરિહંત ભગવંતની પૂજા અભિષેક, વૃષભનું રૂપ લઈને ય કરતાં હોય તો પછી બીજાં એનાથી ઊતરતાં પુણ્યશાળીઓ તેમ કરે એમાં નવાઈ શી ?

આખું વિશ્વ દ્રવ્ય ભાવાત્મક છે. દ્રવ્ય એટલે પાંચ અસ્તિકાય અને ભાવ એટલે દ્રવ્ય ગુણ અને પર્યાય. અનાદિકાળથી જીવ માત્ર પોતાના સ્વયંભૂષણથી સ્વ અસ્તિત્વથી સ્વ સત્તાથી, વ્યક્તિ રૂપે પોતે પોતાને પ્રાપ્ત છે. પરંતુ સ્વ શુદ્ધ ગુણપર્યાયથી, અપ્રાપ્ત છે. એટલે જૈનદર્શનમાં પહેલાં જીવના શુદ્ધ ગુણપર્યાયનું લક્ષ કરીને નમસ્કાર મહામંત્ર, સામાન્ય પદ રૂપે સ્થાપિત કરેલ છે. આવાં શુદ્ધ ગુણપર્યાયને જે પ્રાપ્ત કરે તે વ્યક્તિ પ્રગટ પરમાત્મ સ્વરૂપ વ્યક્તિ છે. એટલે હવે એવી વ્યક્તિના સંશોધનનો પ્રશ્ન ઉપસ્થિત થયો. એ પ્રશ્નોનો જવાબ લોગસ્સ-ચતુર્વિંશતિસ્તવ-નામસ્તવ સૂત્ર છે, જેમાં વર્તમાન ચોવીસિના ચોવીસેય તીર્થકર ભગવંતનાં નામ નિર્દેશ છે. તેથી લોગસ્સ સૂત્રમાં શુદ્ધ દ્રવ્ય ગુણ અને પર્યાય ત્રણે ય નો સમાવેશ થાય છે. માટે જ કાઉસગ્ગમાં લોગસ્સનો કાઉસગ્ગ એ મુખ્ય ધ્યાન સાધના છે, જ્યારે નમસ્કાર મહામંત્ર એ મુખ્યત્વે જપ સાધના છે.

પ્રાયઃ પ્રત્યેક મંત્રનો યંત્ર હોય છે તે પ્રમાણે નમસ્કાર મહામંત્રનો યંત્ર છે, જે સિદ્ધચક્રયંત્ર યા નવપદજી યંત્ર તરીકે પ્રસિદ્ધ છે. જેનું પૂજન, નમન, વંદન અને આરાધના થાય છે.

એ યંત્ર કમલાકારે હોય છે. કમલના મધ્ય ભાગ કેન્દ્રમાં અરિહંત ભગવંત બિરાજમાન કરવામાં આવે છે. અને તેની આસપાસ આઠે દિશામાં કમળની આઠ પાંખડીમાં સિદ્ધ, આચાર્ય, ઉપાધ્યાય, સાધુ, દર્શન, જ્ઞાન, ચારિત્ર અને તપની સ્થાપના અનુક્રમે ઉત્તર, પૂર્વ, દક્ષિણ, પશ્ચિમ, ઈશાન, નૈઋત્ય, અગ્નિ અને વાયવ્ય દિશામાં કરવામાં આવે છે.

આ યંત્રમાં રત્નત્રયી અને તત્ત્વત્રયી સમાવિષ્ટ છે. દર્શન, જ્ઞાન અને ચારિત્ર એ રત્નત્રયી છે. જ્યારે અરિહંત ને સિદ્ધ એ દેવ, આચાર્ય, ઉપાધ્યાય, સાધુ એ ગુરુ અને દર્શન, જ્ઞાન, ચારિત્રને તપ, ધર્મ છે. એમ દેવ-ગુરુ અને ધર્મ તત્ત્વત્રયી છે. વળી આમાં પાંચ ગુણી અથવા ધર્મી છે. જે પાંચ અરિહંત, સિદ્ધ, આચાર્ય, ઉપાધ્યાય અને સાધુ છે. અહીં અરિહંત અને સિદ્ધ પરમાત્માને વધુ સહાઓ ધર્મો એ અર્થમાં ધર્મી કહેલ છે જ્યારે બાકીના ચાર દર્શન, જ્ઞાન, ચારિત્ર અને તપ એ ગુણ છે અથવા ધર્મ છે. એટલું જ નહિ પણ એમાં અરિહંત અને સિદ્ધ પરમાત્મા સાધ્ય સ્વરૂપ છે. જ્યારે આચાર્ય, ઉપાધ્યાય ને સાધુ, સાધક સ્વરૂપ છે. તથા દર્શન, જ્ઞાન, ચારિત્ર ને તપ એ ચાર સ્વરૂપ છે. એ ચાર જીવના શુદ્ધ સ્વરૂપગુણ છે તે અંશ રૂપે અથવા લક્ષણચિહ્નરૂપે જીવમાત્રમાં શ્રદ્ધા (વિશ્વાસ)

બુદ્ધિ (જ્ઞાન), શ્રમ (વર્તન) અને તલપ (ઈચ્છા તપ) રૂપે અસ્તિત્વ ધરાવે છે. જે સ્વમાં સત્તાગત અંશરૂપે પાણ હોય તે જ પૂર્ણ સ્વરૂપે અશુદ્ધિ, આવરણ હટી જતાં પ્રગટે અર્થાત્ પ્રકાશમાં આવે. પર ક્યારેય સ્વ થાય નહિ. સત્તામાં રહેલ, આ શ્રદ્ધા, બુદ્ધિ, શ્રમ (વર્તન) અને ઈચ્છાને સુધારવાનાં છે. અસદ્ થયેલ છે, વિનાશી (સાદિ સાન્ત) બનેલ છે તેને સદ્-અવિનાશી બનાવવાના છે. સદ્ ઈચ્છા રાખી, સદ્બુદ્ધિ વાપરી, સદ્ વર્તન આચરી, સત્ એવા અવિનાશી પરમાત્મામાં શ્રદ્ધા-વિશ્વાસ રાખી, તેમના આદર, બહુમાન, સન્માન, વંદન, પૂજન કરવા સહ, સ્વયં પરમાત્મા બનાવાનું છે અને આત્માના ચાર શુદ્ધ સ્વરૂપગુણ દર્શન (કેવલદર્શન), જ્ઞાન (કેવલજ્ઞાન), ચારિત્ર (યથાખ્યાત ચારિત્ર સહજાનંદ સ્વરૂપ), તપ (પૂર્ણકામ) છે, તેનું પ્રાગટ્ય અશુદ્ધિ-કર્મપણ હટાવીને કરવાનું છે. તે માટે શ્રદ્ધા-બુદ્ધિ-શ્રમ અને ઈચ્છાને પરમાત્મતત્વ સાથે જોડવાનાં છે અને મોક્ષ લક્ષ્યે સમ્યગ્ બનવવાનાં છે. ત્યારબાદ દર્શનાચાર, જ્ઞાનાચાર, ચારિત્રાચાર તપાચાર અને વીર્યાચાર એ પાંચ આચાર-પંચાચારનું પાલન કરવાનું છે. માટે જ પંચપરમેષ્ઠિ નમસ્કાર મહામંત્રના જાપ કરવાના છે અને સિદ્ધચક્ર ચંત્રની નવપદ્મજીની આરાધના કરવાની છે.

નવપદ્મજીની ઓળી જે ચૈત્ર સુદી સાતમથી ચૈત્ર સુદી પૂનમ અને આસો સુદી સાતમથી આસો સુદી પૂનમ દરમિયાન વર્ષમાં બે વાર આવે છે ત્યારે આયંબિલનો તપ કરવા સહ વિશિષ્ટ રીતે એકેક પદની, એકેક દિવસ આરાધના કરવા દ્વારા નવપદ્મજીની આરાધના થાય છે. આ આરાધના પર્વને શાશ્વતી અઠ્ઠાઈ તરીકે પણ ઓળખવામાં આવે છે.

એ નવેપદની આરાધના, પૂજન દરમિયાન નીચે મુજબની ભાવના ભાવી શકાય..

અરિહંત એવો હું અરિહંત બનવા માટે, અરિહંત ભગવંતો કે જેઓએ પોતાના અત્યંત વિશુદ્ધ એવા, સાકાર પરમાત્મ સ્વરૂપનું પ્રગટીકરણ કર્યું છે અને વર્તમાને તીર્થંકર સ્વરૂપે વિહરમાન છે, તે સર્વ અરિહંત ભગવંતો તથા પૂર્વે થયેલા અને હવે થનાર સર્વ અરિહંત ભગવંતોના દર્શન, વંદન, નમન, પૂજન, સન્માન, સત્કાર, બહુમાન આ સિદ્ધચક્ર ચંત્ર દ્વારા કરતો થકો, તેના ફળ સ્વરૂપ અરિહંત પાણનો નાશ અને અરિહંતપદની પ્રાપ્તિને હું ઈચ્છું છું. મને તે પ્રાપ્ત થાઓ ! પ્રાપ્ત થાઓ ! ઠં ણમો અરિહંતાણં ॥

અસિદ્ધ એવો હું સિદ્ધ બનવા માટે, અનંત સિદ્ધ ભગવંતો કે જેઓ પોતાના અત્યંત વિશુદ્ધ એવાં નિરંજન નિરાકાર પરમાત્મસ્વરૂપનું પ્રગટીકરણ કરી સિદ્ધશિલા ઉપર લોકાગ્ર શિખરે સ્થિત થયાં છે, વર્તમાને ચૌદમાં ગુણસ્થાનકે રહી સિદ્ધ થઈ રહ્યાં છે અને જેઓ હવે સિદ્ધ થનાર છે તે સર્વે સિદ્ધ ભગવંતોના દર્શન, વંદન, નમન, પૂજન, સન્માન, સત્કાર, બહુમાન આ સિદ્ધચક્ર ચંત્ર દ્વારા કરતો થકો, તેના ફળ સ્વરૂપ, અસિદ્ધપાણનો નાશ અને સિદ્ધપદની પ્રાપ્તિને હું ઈચ્છું છું. મને તે પ્રાપ્ત થાઓ ! પ્રાપ્ત થાઓ ! ॥ ઠં ણમો સિદ્ધાણં ॥

અસદાચારી એવો હું, સદાચારી બનવા માટે, આચાર્ય ભગવંત, જેઓ અરિહંત અને સિદ્ધ બનવાના લક્ષ્યે, અરિહંત અને સિદ્ધની નિશ્રામાં, પંચાચાર પાળી રહ્યાં છે, પંચાચારની પાલના કરાવી રહ્યાં છે, અરિહંત અને સિદ્ધ બનવામાં નિમિત્તભૂત, સહાયભૂત થઈ રહ્યા છે, એવાં સર્વોચ્ચ સાધક, સર્વ આચાર્ય ભગવંતોના દર્શન, વંદન, નમન, પૂજન, સન્માન, સત્કાર, બહુમાન આ સિદ્ધચક્ર યંત્ર દ્વારા કરતો થકો તેના ફળ સ્વરૂપ અસદાચારનો નાશ અને સદાચારરૂપ પંચાચારની સર્વથી પ્રાપ્તિ સહ સર્વોચ્ચ સાધકપદની પ્રાપ્તિને હું ઈચ્છું છું. મને તે પ્રાપ્ત થાઓ ! પ્રાપ્ત થાઓ ! ॥ ઠમો આચરિયાળં ॥

અજ્ઞાની એવો જ્ઞાની બનવા માટે, અવિનયી એવો વિનયી થવા માટે ઉપાધ્યાય ભગવંતો કે જેઓ અરિહંત અને સિદ્ધ બનવાના લક્ષ્યે, અરિહંત અને સિદ્ધની નિશ્રામાં, આચાર્યના માર્ગદર્શન હેઠળ, જ્ઞાન મેળવી રહ્યાં છે અને જ્ઞાન આપી રહ્યાં છે, તેવાં વિનય ગુણથી ઓપતાં, ઉત્તમ સાધક સર્વ ઉપાધ્યાય ભગવંતના દર્શન, વંદન, નમન, પૂજન સન્માન, સત્કાર, બહુમાન, સિદ્ધચક્રયંત્ર દ્વારા કરતો થકો તેનાં ફળ સ્વરૂપ અજ્ઞાનનો નાશ, જ્ઞાનની પ્રાપ્તિ, વિનય ગુણની પ્રાપ્તિ, ઉત્તમ સાધકપદની પ્રાપ્તિને હું ઈચ્છું છું, મને તે પ્રાપ્ત થાઓ ! પ્રાપ્ત થાઓ ! ॥ ઠમો ડવજ્ઞાયાળં ॥

દુર્જન એવો સજ્જન બનવા, શઠ એવો સાધુ બનવા, બાધક મટી સાધક થવા માટે, સાધુ ભગવંતો કે જેઓ અરિહંત અને સિદ્ધ બનવાના લક્ષ્યે, અરિહંત અને સિદ્ધની નિશ્રામાં, આચાર્ય અને ઉપાધ્યાયના માર્ગદર્શન હેઠળ, સાધના કરી રહ્યા છે, સાધના કરનારાને સહાયક થઈ રહ્યાં છે, અને સાધનાનો આદર્શ આપી રહ્યાં છે, એવાં સર્વ સાધુ ભગવંતોનાં દર્શન, વંદન, નમન, પૂજન, સન્માન, સત્કાર, બહુમાન, આ સિદ્ધચક્રયંત્ર દ્વારા કરતો થકો, તેના ફળ સ્વરૂપ દુર્જનતાનો નાશ, સજ્જનતા-સાધુતાની પ્રાપ્તિ, સાધકતાની પ્રાપ્તિને હું ઈચ્છું છું, મને તે પ્રાપ્ત થાઓ ! પ્રાપ્ત થાઓ ! ॥ ઠમો લોએ સઠ્ઠસાહુળં ॥

કેવલદર્શન કે જે મારા આત્માનો પરમ વિશુદ્ધ આત્મગુણ, સહજ શુદ્ધ સ્વરૂપ ગુણ છે, તે કેવલદર્શનની પ્રાપ્તિ માટે, હું દર્શનપદનાં દર્શન, વંદન, નમન, પૂજન, સન્માન, સત્કાર, બહુમાન, આ સિદ્ધચક્ર યંત્ર દ્વારા કરતો થકો, તેના ફળ સ્વરૂપ કેવલદર્શનની પ્રાપ્તિને ઈચ્છું છું! મને તે પ્રાપ્ત થાઓ ! પ્રાપ્ત થાઓ ! જ્યાં સુધી કેવલદર્શન પ્રાપ્ત ન થાઓ ત્યાં સુધી કેવલદર્શનને આપનાર સમ્યગ્દર્શન અને તેને આપનાર સુદેવ, સુગુરુ, સુધર્મના ભક્તિ અને શ્રદ્ધામાં ઉત્તરોઉત્તર વૃદ્ધિ થાઓ. ॥ ઠમો ઢંસણસસ ॥

કેવળજ્ઞાન કે જે મારા આત્માનો પરમ વિશુદ્ધ આત્મગુણ, સહજ શુદ્ધ સ્વરૂપ ગુણ છે, તે કેવળજ્ઞાન ની પ્રાપ્તિ માટે હું જ્ઞાન પદનાં દર્શન, વંદન, નમન, પૂજન, સન્માન, સત્કાર, બહુમાન આ સિદ્ધચક્ર યંત્ર દ્વારા કરતો થકો : તેના ફળ સ્વરૂપ કેવળજ્ઞાનની પ્રાપ્તિને હું ઈચ્છું છું ! મને તે પ્રાપ્ત થાઓ! પ્રાપ્ત થાઓ! જ્યાં સુધી કેવળજ્ઞાન પ્રાપ્ત ન થાઓ ત્યાં સુધી કેવળજ્ઞાનને આપનાર સમ્યજ્ઞાન,

નમસ્કાર મહામંત્રથી લઈ દ્વાદશાંગી સુધીનું ઉત્તરોત્તર પ્રાપ્ત થાઓ. ॥ ૐ નમો નાગસ્સ ॥

વીતરાગ સ્વરૂપ યથાખ્યાત ચારિત્ર, એ મારા આત્માનો પરમ વિશુદ્ધ આત્મગુણ, સહજ શુદ્ધ સ્વરૂપ ગુણ છે, તે યથાખ્યાત ચારિત્રની પ્રાપ્તિ માટે, હું ચારિત્રપદનાં દર્શન, વંદન, નમન, પૂજન, સન્માન, સત્કાર, બહુમાન, આ સિદ્ધચક્ર ચંત્ર દ્વારા કરતો થકો તેના ફળ સ્વરૂપ યથાખ્યાત ચારિત્રની પ્રાપ્તિને હું ઈચ્છું છું ! મને તે પ્રાપ્ત થાઓ! પ્રાપ્ત થાઓ! જ્યાં સુધી યથાખ્યાત ચારિત્રની પ્રાપ્તિ ન થાઓ ત્યાં સુધી સર્વ વિરતિ ચારિત્ર, દેશવિરતિ, સદવર્તન, સદાચારની મને પ્રાપ્તિ થાઓ !

ચારિત્રને સ્વરૂપ વેદનના અર્થમાં ઘટાવીએ તો તે અપેક્ષાએ નીચે મુજબની ભાવના પાણ ભાવી શકાય.

આત્મસ્થિરતા, આત્મલીનતા, સ્વરૂપ રમણતા, સહજનંદાવસ્થા એ મારા આત્માનો પરમવિશુદ્ધ આત્મગુણ, સહજ શુદ્ધ સ્વરૂપ ગુણ છે, તે સહજનંદીતાની પ્રાપ્તિ માટે, હું ચારિત્રપદના દર્શન, વંદન, નમન, પૂજન, સન્માન, સત્કાર, બહુમાન, આ સિદ્ધચક્રચંત્ર દ્વારા કરતો થકો, તેના ફળ સ્વરૂપ આત્મસ્થિરતા, આત્મલીનતા, સ્વરૂપ રમણતા, સહજનંદાવસ્થાની પ્રાપ્તિને ઈચ્છું છું તે મને પ્રાપ્ત થાઓ ! પ્રાપ્ત થાઓ! જ્યાં સુધી સ્વરૂપાવસ્થા, સહજનંદાવસ્થાની પ્રાપ્તિ ન થાય ત્યાં સુધી સુખ અને દુઃખથી અલિપ્ત રહી, શાતા અને અશાતાથી પર થઈ, સ્વમાં સ્થિર થઈ, સ્વરૂપમાં લીન બની નિજનંદની મસ્તી માણતો માણતો સહજનંદી થાઉં ! ॥ ૐ નમો ચારિત્રસ્સ ॥

નિરિહિતા, આત્મતૃપ્તા, આગાહારિતા, વીતરાગતા, પૂર્ણકામ એ મારા આત્માનો પરમ વિશુદ્ધ આત્મગુણ છે, સહજ શુદ્ધ સ્વરૂપગુણ છે, તે નિરિહિતા, તૃપ્તતા, વીતરાગતા, પૂર્ણકામ અવસ્થાની પ્રાપ્તિ માટે, તપપદનાં દર્શન, વંદન, નમન, પૂજન, સન્માન, સત્કાર, બહુમાન આ સિદ્ધચક્રચંત્ર દ્વારા કરતો થકો તેના ફળ સ્વરૂપ આગાહારિપદ, વીતરાગતા, પૂર્ણકામને હું ઈચ્છું છું! મને તે પ્રાપ્ત થાઓ ! પ્રાપ્ત થાઓ ! જ્યાં સુધી વીતરાગતા, આગાહારિતા, પૂર્ણકામની પ્રાપ્તિ ન થાય ત્યાં સુધી સર્વ સંયોગો, પ્રસંગો અને પરિસ્થિતિમાં હું સદા સર્વદા સંતુષ્ટ રહું. સમભાવમાં વર્તું. ॥ ૐ નમો તવસ્સ ॥

નમસ્કાર મહામંત્રના પંચ પરમેષ્ઠિ પદો, તેઓના તથા પ્રકારના ગુણોને અંગે, સ્વરૂપપદ, ધ્યાનપદ, સમાધિપદ, સમતાપદ, શાંત-પ્રશાંતપદ, યોગપદ, પવિત્રપદ, આનંદપદ આદિ છે. માટે પંચપરમેષ્ઠિ પદને તથા પ્રકારના ભાવથી, ભાવવાથી, તે પ્રકારના ભાવને પામી શકાય છે. માટે

હે જીવ ! જે તું તારા વિરૂપથી, વિભાવોથી પીડાય છે તો તું પંચપરમેષ્ઠિપદને, સ્વરૂપપદે ભાવશે તો તું સ્વરૂપને, સ્વભાવદશાને પામીશ.

હે જીવ ! તું અશાંત છો ? તો પંચપરમેષ્ઠિપદને, શાંત પ્રશાંત પદે ભાવીશ તો શાંત-ઉપશાંત-પ્રશાંત ભાવને પામીશ.

હે જીવ ! તું મમતાથી મુજાણો છો ? તો આ પંચ પરમેષ્ઠિ પદોને, સમતાપદે ભાવીશ તો સમતા મેળવીશ.

હે જીવ ! તું ભોગની ભૂતાવળોથી છૂટવા ઈચ્છે છે? તો યોગની પ્રાપ્તિ થશે.

હે જીવ ! તું ઉપાધિગ્રસ્ત છો ? તો સમાધિ પદે આ પંચપરમેષ્ઠિને જીવીશ તો ઉપાધિ વચ્ચે પાગ સમાધીમાં રહી શકીશ.

આમ આ પંચપરમેષ્ઠિપદ-નમસ્કાર મહામંત્ર-સ્વરૂપમંત્ર-નવકારમંત્રનું દઢ ઈચ્છા શક્તિથી, પૂર્ણ વિશ્વાસપૂર્વક સ્મરણ કરવામાં આવે, તો તે તથા પ્રકારના ફળને આપનાર કલ્પતરુ એવો ચિંતામણિમંત્ર છે. સ્વરૂપનામ અને સ્વરૂપપદના જાપમંત્રને મેળવવા પુણ્યશાળી એવાં આપણે તે સ્વરૂપનામ-જાપ સ્મરણથી સ્વરૂપપદને પામવા ભાગ્યશાળી થઈએ એવી અભ્યર્થના !

અનાદિકાળથી સંસારી જીવ માત્ર મોહ અને અજ્ઞાનવશ, મિથ્યાત્વ, અવિરતિ અને કપાયની વૃત્તિ, પ્રવૃત્તિ કરે છે અને તેને અંગે ચાર ગતિમાં રખડે છે. તેમાં નામકર્મના ઉદયને અંગે જે ગતિના અને ઈન્દ્રિયના ભેદે નામ ઘટે છે, વ્યવહારના અંગે જે નામકરણ કરવામાં આવે છે, તે તો દશ્ય જગતના વ્યવહારિક છે, અને તે ફરતાં જ રહે છે.

પંચપરમેષ્ઠિના યથા નામા તથા ગુણા અનાદિ અનંત છે. તે વિપરીત ભાવને પામતા નથી તેમ આપણા સંસાર ભાવે-મોહ ભાવ અને ચેષ્ટાએ અંદરની દશાએ પંચપરમેષ્ઠિનાં નામોથી વિરુદ્ધનામો સર્વ જીવને સરખાં લાગુ પડે છે. એ જ જીવ માત્રના પાંચ નામ અરિહત, અસિદ્ધ, આચારભ્રષ્ટ, અભાગ-અજ્ઞાની-અબુઝ-ગમાર, અને શઠ છે. આ જીવના સંસારભાવે કલંકિત નામો છે. તેની જ સામે પંચપરમેષ્ઠિનાં નામો આપણને આપણી સાચી દશાનું ભાન કરાવનારા - સાચી દશામાં લાવનારાં છે

માટે વાચકો વિચારે કે આ પંચપરમેષ્ઠિ સ્વરૂપ મંત્રના નામો કયા સંપ્રદાયના ? કોના ધર્મના ? કયા વર્ણના ? કઈ જાતિના ? કયા દેશના ? સ્વરૂપમંત્રને કહેનારા પાંચ શબ્દોના સ્મરણ અને રટણ વિના ત્રણે કાળમાં કયા ધર્મનો ? કયા સંપ્રદાયનો ? કયા વર્ણનો ? કઈ જાતિનો ? કયા દેશનો ? કોના સંસારનો ? ઉદ્ધાર થઈ શકે ?



અસારે ખલુ સંસારે

ડૉ. બિપિનચંદ્ર હીરાલાલ કાપડિયા

આચાર્ય ભગવંતે સ્તંભન પાર્શ્વનાથની એકાગ્રચિત્તે સ્તુતિ કરનારને જોઈને એકવાર વ્યાખ્યાન દરમ્યાન ઉચ્ચાર્યું “અસારે ખલુ સંસારે સારં સારંગ લોચના” તેથી નારાજ થયેલા બે ભાઈઓમાંથી વસ્તુપાલ વ્યાખ્યાન છોડી ચાલ્યા ગયા. મહારાજ સાહેબનો સ્થિરતાનો સમય પૂરો થવાના દિવસે વ્યાખ્યાનમાં તેમણે વાક્યના અનુસંધાનમાં કહ્યું કે “યસ્યાઃ કુક્ષિ સમુત્પન્નાઃ વસ્તુપાલ ભવાદ્દશાઃ ॥”- આથી સંતુષ્ટ થયેલા વસ્તુપાલે આનંદ વ્યક્ત કર્યો. કહેવાનું તાત્પર્ય આ હતું કે અસાર એવા સંસારમાં તીર્થકરાદિ મહાન વિભૂતિઓ તથા હરિભદ્રસૂરિ, હેમચંદ્રાચાર્ય જેવાં આચાર્યો તથા જગદુશાહ, વસ્તુપાલ, જંબુસ્વામી જેવાં મહાનુભાવોને જન્મ આપનારી સ્ત્રીઓ જ છે, જેથી સંસાર સારભૂત લાગે.

આ લેખમાં વિવિધ પ્રકારની સ્ત્રીઓ જેવી કે મા, પુત્રી, પત્ની, જેઠાણી, દેરાણી, વગેરે કેવાં કેવાં ભાવો ભજવે છે તે જોઈએ. આર્યરક્ષિત પેટને ઉપયોગી વિદ્યા ભાણીને આવે છે ત્યારે તેનો લોકો દ્વારા ખૂબ સત્કાર થાય છે, પરંતુ માનું મુખ ઉદ્વિગ્ન હોય છે. આત્મવિષયક-આધ્યાત્મિક વિદ્યાનું જ્ઞાન સંપાદન ન કર્યાથી તે અસંતુષ્ટ છે. માની ખાતર મામા મહારાજ પાસે જૈન સાધુની દીક્ષા લઈ સાડા નવ પૂર્વોનો અભ્યાસ કરે છે તથા આખા કુટુંબને પછીથી દીક્ષિત કરે છે. કેવી સુંદર માતૃભક્તિ ! તેવી જ હતી કલિકાલસર્વજ્ઞ હેમચંદ્રાચાર્યની માતા માટેની ભક્તિ.

જ્ઞાનામૃતં ભોજનં કહેવાયું હોવા છતાં પણ સંસારિક જ્ઞાન ગમે તેટલું હોય તો પણ અધ્યાત્મ ક્ષેત્ર માટે તે અજ્ઞાન છે, વિભંગ જ્ઞાન ગણાય છે, કેમકે તે સમ્યગ્ દર્શન કે સમકિત વગરનું છે. નવચૈવકે પહોંચેલા તથા ચૌદ પૂર્વધારીઓ તે સ્થાનેથી પડતાં ઠેઠ નિગોદ કે પહેલા ગુણ સ્થાનકે પહોંચી જાય છે. ચારિત્રના બળે નવચૈવક સુધી પહોંચી શકાય તથા ૧૪ પૂર્વોનો અભ્યાસ પણ હોય પરંતુ જો તેની સાથે મિથ્યાત્વ નષ્ટ ન થયું હોય તો તે બધું છારમાં લીપણ સમાન છે.

આર્યરક્ષિતની મા આ સમજતી હતી. તેથી પુત્રના શાસ્ત્રીય અભ્યાસ પ્રત્યે આગ્રહનો અને તેને પોતાના મુખ પર વિષાદ દ્વારા કર્તવ્ય બતાવ્યું કે તું આત્માની વિદ્યા ભાણ અને તે માટે તેને મામા મહારાજ પાસે જવાનું થયું. ત્યાં તેણે સાડા નવ પૂર્વ સુધીનો અભ્યાસ કર્યો તથા માતૃભક્તિ સફળ કરી.

યથાર્થ કહેવાયું છે કે -

ચરાગકરાગ વિષ્પહીગો બુઝઈ સુબહુવિ જાણંતો અને પઢમં નાણં તઓ દયા.

ભગવાન ઋષભદેવ જે આ અવસર્પિણીમાં પ્રથમ તીર્થકર થયા તેમની બે પત્નીઓનાં ભરત-

બાહુબલી જેવાં ૧૦૮ સંતાનો કેવળજ્ઞાન પ્રાપ્ત કરી મોક્ષગામી થયા. કેવું ઉમદા કુળ તેથી સ્ત્રીણાં શતાનિ શતશો જનયન્તિ પુત્રાન્; નાન્યા સુતં ત્વદ્દુપમં જનની પ્રસૂતા. એમ કહેવામાં આવ્યું છે.

માતા મરૂદેવી કેવાં ધન્યાતિધન્ય કે જોગે પ્રથમ તીર્થંકર ઋષભદેવને જન્મ આપ્યો તથા પુત્રમોહથી અભિભૂત થઈ હજાર વર્ષો સુધી રડી રડીને આંખની દષ્ટિ ગુમાવી દીધી. જે તેમણે ફરીથી, કેવળી થયેલા પુત્રની જાહોજલાલી સાંભળી, માનસિક રીતે તેમને પ્રથમ જોઈ, બાદમાં દષ્ટિ પણ મેળવી એટલું જ નહીં પરંતુ પુત્રની પહેલાં અનિત્યાદિ ભાવના ભાવના કેવળી પુત્રની પહેલા મોક્ષના દ્વાર ખોલ્યાં તથા પુત્ર માટે મોક્ષવધૂ વરી લીધી. તેમની કેવી કૃપા હશે ! તેમના પુત્ર ઋષભની બે પુત્રીઓ બ્રાહ્મી અને સુંદરી પણ મોક્ષગામી થયાં, તેમનો પુત્ર ભરત આરીસા ભવન માં વીંટી પડી જવાથી મોક્ષ મેળવે છે. તેના પુત્ર તથા તેના પુત્રાદિ આઠ પેઢી સુધી આજ રીતે કેવળી થઈ મોક્ષપુરીના માનવંતા મહેમાનો બન્યા. તેઓ છે - આદિત્યયશા, મહાયશા, અભિબલ, બલભદ્ર, બલવીર્ય, કીર્તિવીર્ય, જલવીર્ય અને તેના પુત્ર દંડવીર્ય આઠ પેઢી સુધી આ રાજાઓ રાજમુગટ પહેરી ભરતની જેમ અરિસા ભુવનમાં કેવળજ્ઞાન પામ્યા અને મોક્ષે ગયા. (કલ્પસૂત્ર સચિત્રમ્ પુ-૨૬૫)

અજ્ઞેન સાહિત્યમાં ગોપીચંદ્ર વિલાસીવૃત્તિનો હોવાથી તેની મા નાખુશ હતી. એકવાર તેને સ્નાન કરાવતા તેના શરીર પર માનું અશ્રુ પડે છે. ઉપર દષ્ટિ કરતાં માને કારણ પૂછે છે તે જાણી ગોપીચંદ્ર સંસાર ત્યજી સંન્યસ્થ બની જાય છે.

છ વર્ષનો અર્ધમુક્ત જ્યારે ગણધર ગૌતમની સાથે જતાં ગોચરી ઊંચકવા જાણાવે છે ત્યારે ગૌતમસ્વામી તને ન અપાય કારણ કે તેને માત્ર સંસાર ત્યાગી જ ઉંચકી શકે. મહાવીરસ્વામીની વૈરાગ્ય ઝરતી અમોઘ વાણી સાંભળી ઘેર આવી માને દીક્ષિત થવા જાણાવે છે. તેની મા શ્રીદેવી પાસેથી સાધુ જીવનની કઠણાઈ તથા પરીપાહો વિષે સાંભળી વિગતે તેના યુક્તિ પુરઃ સર પ્રત્યુત્તર આપી દીક્ષા લઈ કેવળી બને છે.

કૃષ્ણની મા દેવકી બબ્બેના જુથમાં સાધુને ભિક્ષા માટે આવતાં જોઈ, એકના એક ફરી ફરી કેમ આવે છે તેનું કારણ જાણી પોતાના જ પુત્રો છે તે જાણી પોતે એકને સ્તનપાન કરાવે તેવી અભિલાષા સેવે છે. ગજસુકુમાલના જન્મથી તે સંતુષ્ટ થાય છે. જ્યારે તે ભગવાન નેમિનાથ પાસે દીક્ષિત થાય છે ત્યારે માતા તેને કહે છે કે 'આ ભવની તે છેલ્લી મા કરે', એટલે હવે જન્મવાનું ન રહે ને મુક્તિ પામે માનો કેવો ભવ્યાતિભવ્ય વિચાર અને આશીર્વાદ !

માતાની સાથે કુમળી વયનાં દીક્ષિત થયેલો પુત્ર, ચારિત્રના પથમાંથી પતિત થયેલા પુત્રસાધુને ફરીને માર્ગસ્થિતિ કરવા માટે પ્રયત્નશીલ, અરણિકની મા-સાધ્વી અરણિકને શોધવા ગાંડા જેવી બની 'અરણિક' 'અરણિક'ના હૃદયદ્રાવી પોકારો પાડતી ભટકી રહી છે, ત્યારે તે શબ્દો કર્ણપટ પર

અથડાતાં સફાળો થયેલો પુત્ર પ્રેયસીના પાસમાંથી છૂટો થઈ માના ચરણમાં માથું ટેકવી હૃદયનો પશ્ચાત્તાપ કરે છે ત્યારે તેને દુઃખી મા ફરીથી દીક્ષિત થવાનું કહી એટલું ઉમેરે છે કે આ ચારિત્રનો માર્ગ કંટક ભરેલો લાગે તો છેવટે અનશન પણ કરી તારો ઉદ્ધાર કરજે. કેવી કર્તવ્યનિષ્ઠ મા !

પોતાની પ્રત્યે કામાસક્તિથી પીડિત જોઈ કે જોગે કંટકરૂપી પોતાના લઘુ બાંધવાનું મૃત્યુ લાવી દીધું છે તેઓ ક્રોધકપાયથી મોઘેરુ માનવ જીવન કલુષિત ન કરે તે શુભાશયથી રંડાપાના દુઃખને દૂર કરી પોતાના પ્રિય પતિ યુગબાહુની સદ્ગતિ થાય તે માટે હૈયાને કઠોર કરી નિર્ચામાગ્ના કરાવનારી મદનરેખા ધન્ય થઈ, યશસ્વી નામના મેળવી પતિનો ઉદ્ધાર કર્યો. મૃત્યુ સમયે શુભલેશ્યા કે શુભ અધ્યવસાયો બીજા જન્મમાં સાથે આવે છે. માટે ને !

રાયપસોણીય સુત્રમાં સૂરિકંતા અને પ્રદેશીરાજનો પ્રસંગ નિરૂપાયો છે. વાસનામાં ગણાડૂબ રાજને સૂરિકંતા સર્વસ્વ હતી. તે તેની પાછળ પાગલ હતો. એક વાર વિલાસી રાજ કેશી ગાગધરની વાણી સાંભળી વિરકત બને છે, વાસનાનો કીડો હવે પ્રદેશી સંયમી બને છે. પોતાના પ્રાણપ્રિય પતિની આ પરિવર્તિત પરિસ્થિતિ સહન ન થતાં સૂરિકંતા તેના ભોજનમાં વિષ ભેળવી દે છે. તેની ગંધ આવતા સંયમી પ્રદેશી આકુળવ્યાકુળ ન થતાં જીવનની લીલા સંકેલાઈ જાય તે પહેલાં પૌષ્પવ્રત ધારણ કરી લે છે. જાગે કે સંયમી જીવનનો બદલો લેતી હોય તેમ સૂરિકંતા ત્યાં પહોંચી જાગે વ્હાલ કરી વૈયાવચ્ચ કરતી હોય તેવો ડોળ કરી ગળે ટુંપો દેતા પહેલાં આલિંગન કરી પોતાનો છૂટો કેશકલાપ ગણાની આસપાસ વીંટાળી દઈ ટુંપો દઈ પ્રિયતમ બનેલા પતિનું નિર્દયી રીતે કાશજ કાઢી નાખે છે. ક્યાં મદનરેખા અને ક્યાં સૂરિકંતા ! બંને વચ્ચે આકાશપાતાળનું અંતર છે ને ?

મહાન સમ્રાટ શ્રેણિક રાજ મિથ્યાત્વી, શિકારી, દુરાચારી જીવન જીવતા હતા. તે ચેડા રાજ કે જે યુસ્ત જૈનધર્મી હતા તેની પુત્રી જ્યેષ્ઠાના પ્રેમમાં પડી પત્ની બનાવવાનું સોનેરી સ્વપ્નું સેવતા હતા. તેને મેળવવા ખાઈ ખોદાવી ઉઠાવી જવાની સંપૂર્ણ તૈયારી કરી લીધી હોય છે. નિર્ગાયક દિવસે જ્યેષ્ઠા આવી પણ ઘરેણાંનો ડબ્બો લેવા પાછી ફરે છે. તેને વિદાય કરવા પાછળથી આવેલી ચેલાગાને જ્યેષ્ઠા છે એમ માની શ્રેણિક ચેલાગા સાથે જતા રહે છે. ખરી સ્થિતિ જાણ્યા પછી ચેલાગા મિથ્યાત્વી શ્રેણિકને ક્ષાયિક સમકિતી બનાવે છે, એટલું જ નહીં પરંતુ જૈન સાધુની પરીક્ષામાં પૂરાયેલા સાધુ અલખનિરંજન કહી જ્યારે બહાર નીકળી મેદનીને આશ્ચર્ય ચકિત કરી મૂકે છે ત્યારે ચેલાગા સંતુષ્ટ થાય છે અને પત્ની તરીકેની ફરજ સફળ કરે છે.

જેને સ્થાને તે આવી છે તે તેની બેન જ્યેષ્ઠા, આ ભવમાં બીજા પતિ પણ ભવેડો ન કરાવે તેમ માની, સંસારથી વિમુખ થઈ વૈરાગ્ય રસમાં મશગુલ થઈ ચારિત્રનો પથ પકડી લે છે. કેવી બે નિરાળી જૈનત્વથી ભાવિત થયેલી ભગિનીઓ !

નેમિનાથ જેવા પતિની સાથે જેને નવ નવ ભવનો સ્નેહતંતુ હતો તેઓ જ્યારે પશુના કલરવથી પાછા ફરે છે ત્યારે રાજમતિ દીક્ષિત થયેલા નેમિનાથ પાસે રથનેમિની સાથે દીક્ષા ગ્રહણ કરે છે. એક

વાર અચાનક વર્ષા થતાં ભીનાં કપડાં સૂકવતાં નિર્વહ રાજમતિને જોઈ કામાતુર સ્થનેમિ ભોગ ભોગવવા આમંત્રે છે, ત્યારે માર્ગચ્યુત સ્થનેમિને રાજમતિ સન્માર્ગે પ્રસ્થાપિત કરે છે, અને તપશ્ચર્યાદિ કરી, નેમિનાથને જાગે કે મળવા સિદ્ધિપુરીના દ્વારે નેમિનાથને મળવા તેમની પૂર્વે સિદ્ધિ પ્રાપ્ત કરી કેવળી બની ત્યાં તેમની સાથે સિદ્ધપાણાનું સાયુજ્ય મેળવે છે. મનથી વરેલા પતિ ન મળતા તે એક ભવમાં બીજા પતિની ઈચ્છા કરતી નથી. પરંતુ નવ નવ ભવની પ્રીતિને સિદ્ધશિલામાં સિદ્ધગતિ મેળવીને સાર્થક કરે છે. સ્ત્રીને એક ભવમાં પતિ એકજ હોય તેવો કેવો સુંદર આર્યનારીનો આદર્શ !

આનાથી વિપરીત બ્રહ્મદત્તની માતા યુલાણી પતિના મૃત્યુ પછી વિષયો ભોગવવામાં કંટક સમાન પોતાના પુત્ર બ્રહ્મદત્ત કે જ્ઞેનો જન્મ ચૌદ સ્વપ્નો જોયા પછી થયો છે તેનું કાશ્ચળ કાઢી નાંખવા લાખના ગૃહમાં બાળી નાંખવા સુધીનો માર્ગ અખત્યાર કરે છે.

શ્રીપાલરાજની પત્ની મયાણાસુંદરીને પિતાએ મમત્વ ખાતર કોઢિયા સાથે પરાણાવી હતી તે ધર્મી તથા આરાધના પરાયણ હોવાથી ભગવાન આદિનાથની પૂજાદિ કરતાં તેને ધર્મનું સાક્ષાત્ક્રમણ મળ્યું. નવાણથી પતિ તથા અન્ય ૭૦૦ નો કોઢનો રોગ દૂર થયો. પતિને પણ ધર્મપરાયણ બનાવી આયંબિલની ઓળી તથા અન્ય ધાર્મિક કાર્યો કરનારો બનાવ્યો. કર્મના સિદ્ધાંતમાં કેવી અનૂટ અડોલ અડગ શ્રદ્ધા !

શ્રીપાલની બીજી ૮ પત્નીઓ પણ ધર્મવૃત્તિવાળી હતી. તેમાંની એક તો શ્રીપાલરાજ પાસે નગરના ચાર દરવાજા બંધ થતાં બધાંને ત્રણ દરવાજા ઉઘાડીને ચકિત તથા જૈનધર્મમાં રુચિવાળા બનાવ્યા. કેવી શ્રીપાલની આદર્શ ધર્મપરાયણ પત્નીઓ !

જંબુસ્વામીની સાથે તેની ૮ પત્નીઓ પણ પતિચિંધેલા સંયમના માર્ગે ચાલી નીકળી.

ગુણસાગરની સાથે મનોરમાએ પણ સંયમનો માર્ગ સ્વીકારી લીધો. પતિની સાથે ધર્મમાં પણ અર્ધાગિની ખરીને ?

શાલિભદ્રની માતા કે જે સંપત્તિના સાગરમાં આળોટતી હતી તેણે ભદ્રા નામ સાર્થક કરી બતાવવા પુત્રને દીક્ષા અંગીકાર કરવામાં થોડી આનાકાની બાદ રજા આપીને ? સુકોમળ પુત્ર પરિષદો કેવી રીતે સહન કરશે તે વસવસાને લીધે ને ? છતાં પણ દીક્ષાના માર્ગમાં અંતરાય ના ઊભા કર્યાં ને ?

શ્રી કૃષ્ણ જૈન મત પ્રમાણે ચારિત્રમોહનીય કર્મના ઉદયને લીધે પોતે દીક્ષા લઈ શકે તેમ ન હતા છતાં પણ જે સ્ત્રીવર્ગ તે લેવા ઉત્સુક થાય તેનો ભાર પોતે વહન કરવા તૈયાર થતાં પુત્રીઓને પણ તે માટે પ્રોત્સાહિત કરતા. જે કોઈ સ્ત્રી કે પુરુષ દીક્ષા માટે તૈયાર થતાં તેના કુટુંબના ભરાણપોપણનો ભાર ઉપાડવા કટિબદ્ધ હતા. ક્ષાયિક સમકિતી હતા છતાં પણ ચારિત્રમોહનીય કર્મના ઉદય સંસાર છોડી શકતા ન હતા. બીજાને તે છોડવા ઉત્સાહિત કરતા. સ્ત્રીઓ તેણે બતાવેલા માર્ગે સંચરતી.

રથકાર નાગરસિકની પત્ની સુલસા જૈનધર્મી તથા સમકિત દષ્ટિવાળી હતી. તેની પરીક્ષા કરવા એક વાર સાધુ માટે લક્ષપાક તેલની જરૂર છે એમ કહી તેને એક શીશો તેલનો લાવવા જાણાવે છે. માર્ગમાં દેવ તે હાથમાંથી પાડી નાંખે છે. બીજે લાવે છે તેનું પાણ તેવું જ થાય છે. ત્રીજે શીશો પાણ ફૂટી જાય છે. તેથી દિવસ બાદ ફરી આવવા કહે છે ત્યારે દેવ પ્રગટ થઈ ખુશી થઈ આનંદ વ્યક્ત કરે છે.

બીજી વાર પતિની ઈચ્છા પ્રમાણે દેવની ગુટિકાઓથી ૩૨ પુત્રો થાય છે. તેને પ્રસુતિ વખતે ફરી દેવ મદદ કરે છે. પુત્રોના મૃત્યુથી તે જરા પાણ શોકાન્વિત થતી નથી. સમતા રાખે છે.

અંબડ પરિવારજક બ્રહ્મા, વિષ્ણુ, શિવ વિકુર્વી આખા નગરને ઘેલું કરે છે છતાં પાણ મિથ્યાત્વી દેવને ન માનનારી સમકિત ભ્રષ્ટ ન થાય તેથી તેઓના દર્શન માટે જતી નથી ત્યારે ચોથી વાર ૨૫મા તીર્થંકરનું રૂપ વિકુર્વે છે. ૨૪ થી ૧૫ તીર્થંકરો ન હોય તેવી દૃઢ શ્રદ્ધાથી તે વિચલિત ન થઈ કેવી અડગ શ્રદ્ધા આગામી ઉત્સર્પિણીમાં સુલસા ૧૫ મા નિર્મમ નામે તીર્થંકર થશે. તેણીને અંબડ છેવટે ભગવાન મહાવીરના તરફથી ધર્મલાભ કહેવડાવે છે. સુલસા આનંદ વિભોર થઈ જાય છે. કેવી સાલસ પત્ની !

ધારિણી રાણી રાજ્યમાં વિપ્લવ થવાથી પોતાની પુત્રી ચંદનબાળા (વસુમતિ) ને લઈને ભાગી છૂટે છે. માર્ગમાં કામાતુર કામી તેને પોતાની પત્ની બનાવવાનું કહે છે ત્યારે તે જીભ કરડી મૃત્યુ પામે છે. કેવી હતી શીલ રક્ષવા માટેની તમત્રા. પતિના મૃત્યુ બાદ મૃત્યુનું શરણ લઈ આત્માને અકલંકિત રાખે છે. આદર્શ નારી ખરીને ?

તેની પુત્રી જે પછીથી ચંદનબાળા તરીકે ખ્યાતિ પામે છે, માતાને પકડી લાવનાર તેને બજારમાં વેચી દે છે. વેશ્યા પાસેથી ફરી તેને વાંદરો છોડાવે છે. ત્યારે એક શેઠ માનવતા ખાતર તેને પોતાના ઘેર લઈ જાય છે. એકવાર શેઠના પગ ધોવાના પ્રસંગથી તેની પત્ની મૂળા શેઠાણી તેને ઓરડામાં પૂરે છે, માથું મુંડાવે છે, પગમાં પેડી પહેરાવે છે. ત્રણ દિવસના ઉપવાસ પછી શેઠ પાછા ફરે છે. ત્યારે છ મહિનાના ઉપવાસી ભગવાન મહાવીરસ્વામીને વહોરાવવા શેઠ દ્વારા અંધનમુક્ત થયેલી ચંદના પાછા ફરેલાં ભગવાનને જોતાં તેના આંખમાંથી અશ્રુબિંદુ સરી પડે છે. ભગવાનનાં અભિગ્રહ પૂર્ણ થવાથી દેવદુઃખિ સહિત છ દિવ્યો પ્રગટ્યા. કેવી શીલવતી માતાની સુશીલ પુત્રી ! બધાં સાધ્વીજીઓની તે પ્રવર્તિની બને છે.

સુપ્રસિદ્ધ સંસ્કૃત મહાકવિઓમાં જોની દાનશીલની કીર્તિ કર્ણની યાદ અપાવે તેવી છે તેની એક કૃતિ તેની પત્ની માલ્હણાદેવી ધારાનગરીના રાજા પાસે લઈ ગઈ. તેનાથી સંતુષ્ટ થયેલા રાજાએ તેને ત્રણ લાખનું દાન આપ્યું માર્ગમાં પાછા વળતા યાચકોનું ટોળું તેને વીંટળાઈ ગયું, પ્રાણ પ્રિય પતિની યશ પતાકાને ફરફરતી રાખવા મળેલું દાન તેઓને આપી દીધું. દાનેશ્વરીની પત્નીએ દાનવીરની દાનશીલતાને યશસ્વી બનાવી દીધી. ત્યારબાદ પતિ પાસે અશ્રુ સિવાય કંઈ પણ અવશિષ્ટ ન રહેતાં યાચકવર્ગને ન આપી શકવાથી તેના પ્રાણ પાણ ચાલી ગયા. કેવી આદર્શ પત્ની હતી માધની !

અભયારાણીના કપટમાં ન ફસાવાથી જેના ઉપર લાજ લૂટવાનું ખોટું આજ ચડાવવામાં આવ્યું છે તે સુદર્શન શેઠની પત્ની મનોરમા જે ધર્મનિષ્ઠ પતિની ધર્મપરાયણ પત્ની હતી તેણે તરતજ અભિગ્રહ કાયોત્સર્ગ ધારણ કરી લીધો અને જ્યારે શૂળીનું સિંહાસન થઈ ગયું ત્યારે કાયોત્સર્ગ પાળ્યું (પાર્યું). કેવી અડગ નિશ્ચયવાળી ધન્યાતિધન્ય પત્ની કે જેને પતિના ચારિત્ર વિષે લેશ પાણ શંકા ન હતી. પતિના ચારિત્રમાં પાણ લેશ માત્ર શંકા ન રાખનાર પત્નીઓ તો જૈન ધર્મના ઈતિહાસમાં જોવા મળે તેમાં કંઈ નવાઈ જ્યું નથી. પ્રાચીન સમયના સ્ત્રી-પુરુષોમાં ધર્મ તથા દર્શનના સિક્કાન્તો આત્મસાત થયેલાં હતાં.

ભગવાન ઋષભદેવની પુત્રી બ્રાહ્મી અને સુંદરી બે બહેનો હતી કે જેમાણે બાહુબલી જેવા અભિમાનરૂપી ગજ પર બેઠેલાની માનની ગાંઠોને ખોલી, તેમના અંતરનો અંધકાર મટારીને કેવળજ્ઞાનનો પ્રકાશ, કદમ ઉઠાવતાં, સમસ્ત વિકલ્પો નષ્ટ થતાં પ્રકાશી ઊઠકો. માટે સરજ અને નક્ષ બનવાની જરૂર છે.

સમ્રાટ અશોકનો પુત્ર સંપ્રતિ વિજય મેળવી પાછો ફરે છે ત્યારે નિર્દોષના વધથી નાખુશ થયેલી માતાને આનંદિત કરવા તેણે સમગ્ર રાષ્ટ્રમાં અહિંસાનો ધ્વજ ફરકાવ્યો અને માનું મુખ અહિંસાની ઘોષણાથી પુલકિત થયું.

જૈન જગતની ઝગમગતી તારિકાઓ કે જેઓ પ્રતિદિન રાઈ પ્રતિકમાણ કરતાં આપણા માનસ પર ઉદય પામી આપણા જીવનને નવો રાહ બતાવે છે તેઓ કોઈક ભદ્રિક જીવોની માતા, પુત્રી, કે પત્ની પ્રગટ થાય છે. તેઓ છે -

સુલસા, ચંદનબાળા, મણોરમા, મયણરેહા, દમયંતી, નમયાસુંદરી, સીયા, નંદા, ભદા, સુભદ્રા, રાઈમઈ, રિસિદત્તા, પઉમાવઈ, અંજણા, સિરીદેવી, જિટ્ટા, સુજિટ્ટા, મિગાવઈ, પભાવઈ, ચિહ્ણાદેવી, બંભી, સુંદરી, રૂપિણી, ધારિણી, કલાવઈ, પુષ્પયુલા, રેવઈ, કુંતી, સિવા, જયંતી, દેવઈ, દોવઈ, ગોરી, ગંધારી, લક્ષ્મણા, સુસીમા, જંબૂવઈ, સચ્ચભામા, કપટ્ટ મહારાણીઓ, જક્ષ્મા, જક્ષ્મ દિત્રા, ભૂઆ, ભૂઅદિત્રા, સેણા, વેણા, રેણા, (સ્થુલિભદ્રની સાત બેનો) વગેરે અકલંકિત શીલવિભૂષિત હોવાથી અદ્યાવધિ તેઓનો યશપગલ ત્રણે જગતમાં વાગી રહ્યો છે. તેથી તેઓને ભરહેસરની સજ્જાયમાં આપણે યાદ કરી શ્રદ્ધાંજલિ અર્પિત કરીએ છીએ. ઉપર્યુકત સન્નારીઓ વિષેની કથા સુપ્રસિદ્ધ હોવાથી વિસ્તાર ન કરતાં આટલો જ નિર્દેશ ઉપર્યુકત ગણીએ.

વીરધવલ રાજને ત્યાં વસ્તુપાલ-તેજપાલ નોકરીએ હતા. તેઓએ સંપત્તિ જીવન માટે રાખી બાકીનાનું સખાવત કરી નાંખ્યું. ઈર્ષાંજુ લોકોએ વીરધવલના કાન ભંભેર્યા કે તમારી સંપત્તિથી વસ્તુપાલ તેજપાલની લોકો યશગાથા બોલે છે. તેથી કોપાયમાન થયેલા રાજ સંન્યાસીનો સ્વાંગ સજી તેમને મારવા ભોજનાર્થે જાય છે.

તેને જોઈ તેમની પત્ની અનુપમાદેવી કે જેણે કિંમતી સાડી પહેરી હતી તેનાથી તેઓનું ધીવાણું

પાત્ર લુછે છે. વીરધવલ તેના મુખે રાજની આ સંપત્તિ છે, રાજની કૃપાથી આ બધું થાય છે, ત્યારે તે વાત જાણી વીરધવલ માફી માંગે છે અને કહે છે કે તેઓ આજે સાધુના સ્વાંગમાં તેઓને મારવા આવ્યા હતા.

બીજા પ્રસંગે જ્યારે પોતાની સંપત્તિમાં ચરૂ મળ્યા ત્યારે તેનો ઉપયોગ જિનેશ્વરના મંદિરમાં તે ચરૂ દ્વારા મળેલું ધન વાપર્યું તથા પ્રતિદિન કારીગરોને ખરેલી રજકાણના જેટલી ચાંદી અપાતી તથા તેઓના સ્વાસ્થ્યની ખરૂંપગે દરકાર કરતાં તેથી તેમને અનુપમાદેવીનું માનદ બિરૂદ મળ્યું હતું. કારીગરો પર રાતદિન દેખરેખ રાખવાથી આરોગ્યપદની ચિંતા કરવાથી, છૂટા હાથે મજૂરી ઉપરાંત દાન આપતી તમામ કોમના દીન-દુઃખિઓને તે જે ઉદારતાથી અનુકંપાદાન કરતાં તેથી તેને બધાં પરદર્શન માતા કહેતા.

પાહિણી જે બાળકને જન્મ આપ્યો તેને સાથે લઈ તે એકવાર ગુરુશ્રી દેવચંદ્રસૂરીશ્વરને વંદન કરવા આવી બાળકનું પોતાના આસન પર બેસી જવું તથા મુખ પરની કાંન્તિ જોઈ તે બાળક શાસન સમ્રાટ અને તેમ લાગવાથી ગુરુએ પાહિણી પાસે પોતાની ઈચ્છા શાસનને ચરૂગે તેની ભેટ ધરવાની જાણાવી ત્યારે પતિની ગેરહાજરીમાં હસતા મુખે બાળકને શાસનની સેવા માટે આપી દીધો એ તે સોમચંદ્રમાંથી અલૌકિક પ્રતિભા અને પ્રજ્ઞા વડે કલિકાલસર્વજ્ઞ હેમચંદ્ર બની ગુજરાતના ઈતિહાસમાં અમર નામ કરાવનાર એ સુપુત્રની માતા પાહિણીને ધન્યવાદ. એક મહાન ત્રાવિકા પોતાના કલેજના ટુકડાનું અને પુત્રમોહનું બલિદાન કેવી શાસનનિઝાથી આપી શકે છે એનું જીવંત અને જાગૃત પ્રતીક ! પ્રાંતે પાહિણીએ પુત્રના પવિત્ર પંથે પગરવ પાડી પ્રવર્તિની પદને વિભૂષિત કર્યું.

રેવતી મહાશતકની ૧૩ પત્નીઓમાંની એક હતી. તેણે ૧૨ શોક્યોમાંથી છને ઝેર આપી મારી નાંખી તથા છને શસ્ત્ર વડે હણી નાંખી. ત્યાર બાદ મહાશતકને પૌષધવ્રતમાં હોવા છતાં પણ ઝેર આપી મારી નાખવા આવી હતી. આ રેવતી મદિરા તથા માંસ ખાનારી હતી. તેનાથી વિપરીત બીજી રેવતી કે જેણે ભગવાન મહાવીરને બિજોરાપાક વહોરાવ્યો હતો. ગોશાલકે કેવળી ભગવંત મહાવીરના ઉપર તેજે લેશ્યા છોડી ત્યારે તેમને લોહીના ઝાડા થયા. તેના પ્રતિકારરૂપે બિજોરાપાકની જરૂર હતી. રેવતીએ હર્ષોહ્વાસપૂર્વક ભાવભીના હૃદયે તે વહોરાવ્યો. તે દ્વારા ઉપાર્જિત કરેલા પુણ્યાનુબંધી પુણ્યના પરિપાક રૂપે તે આગામી ઉત્સર્પિણીમાં થનારા ૨૪ તીર્થકરોમાં સત્તરમાં તીર્થકર સમાધિ નામે થશે.

જૈનધર્મમાં નાત-જાત, સ્ત્રી-પુરુષ, ઊંચ-નીચાદિનો ભેદ નથી એટલે કે જે તે જીવો ગુણસ્થાનકે ચઢવા અપૂર્વ કરણાદિ કરે તો તેઓ પણ મોક્ષ મેળવી શકે તેમ છે અને તેમાં મહિનાથ, સુલસા, રેવતી જેવાં સ્ત્રીરત્નો પણ તીર્થકર પદ પ્રાપ્ત કરે છે.

પુષ્પચૂલા તેના ભાઈ સાથે લગ્ન ગ્રંથીથી જોડાઈ છે તે જાણ્યા પછી દીક્ષા લેવા પતિને જાણાવે છે. તેના રાજ્યમાં રહેવાનું તથા પ્રતિદિન તેના દર્શન કરે તેવી બે શરતો પછી દીક્ષા લીધી. તેના જીવનમાં બાહ્ય તથા આભ્યંતર બંને પ્રકારનાં તપ હતાં. તેના રાગદેખ ખૂબ પાતળા પડી ગયા હતા

ઉત્કૃષ્ટ ભાવે વૃધ્ધ ગુરુની વૈયાવચ્ચ કરતાં આત્મસ્વરૂપના રટણ ઉપર ચઢતાં ઘાતી કર્મોનો ભય થયો, પુષ્પચૂલા સાધ્વીજીને કેવળજ્ઞાન પ્રાપ્ત થયું. અર્ણિકાપુત્ર-ગુરુને પાણ નદી પાર કરતાં કેવલી થયો તેવું કહેતાં ગોચરી બાજુ પર મૂકી ગંગા નદી પાર કરવા પ્રમાદ ન કરતાં, ચાલવાની તાકાત ન હોવા છતાં પાણ ભગવંતના વચને અપૂર્વ જોમ આવ્યું. હિંમત ભેગી કરી ઊભા થયા. પહોંચ્યા કિનારે નીકામાં બેઠા. મુસાફરોમાં તેમને નદીમાં ફેંક્યા પૂર્વના વૈરી દેવી ભાલાની આગી પર ઝીલ્યા. લોહીના પડી રહેલા ભિંદુથી પાણીમા જીવોની હિંસા થશે તેથી પાપી શરીરનો ધિક્કાર કરતાં કરતાં કેવળી થઈ ગયા. ગુરુ-શિષ્યા બંને અપ્રતિપાતી જ્ઞાનનાં અધિકારી બની ગયાં. ભાવના ભવ નાશિનીને !

પ્રભંજના રાજકુંવરીનાં લગ્નની ચોરી તૈયાર થઈ ગઈ છે. મિત્રમંડળ તથા સગાંસંબંધીથી ઘર ભરાઈ ગયું છે. સોળે શાણગાર સજી તથા વિભૂષિત થઈ તે છેલ્લે છેલ્લે સાધ્વીજીને વાંદવા ઉજ્જર સખીવૃંદ સાથે નીકળી પડે છે. તેને જોઈ સુપ્રતા સાધ્વીજી વૈરાગ્ય નિગળતી વાણીમાં ધર્મોપદેશ સંભળાવે છે. તેના પર હૃદયપૂર્વક મનન કરતાં ધર્મધ્યાન અને ત્યારબાદ શુકલધ્યાનના ચરણો ચઢતાં ચઢતાં કેવળી બની જાય છે. દેવો તેનો ઉત્સવ ઊજવવા આવે છે. પ્રભંજનાને લગ્નની ચોરીમાં મંગળફેરા ફરવાનું તો બાજુ પર રહી ગયું, પરંતુ તેણીએ ભવના ફેરા ફરવાનું હંમેશને માટે બંધ કરી દીધું. આવાં આવાં દૃષ્ટાન્તો જૈનધર્મના ઈતિહાસનાં પૃષ્ઠોને અલંકૃત કરે છે.

એક રાજાએ ચોરી કરનાર મોટા ચોરને પકડ્યો છે. તેને ફાંસી આપવાની છે. તે રાજાને ૯૯ પત્નીઓ છે. તેમાંની ૯૮ માનીતી છે અને એક આણમાનીતી. તેઓ રાજાને કહે છે ચોરે દરેકના ઘેર એકેક દિવસ આવવું અને ત્યારપછી ફાંસી આપવી. રાજા બે વાત માન્ય કરે છે. દરેકે દરેક ૯૯ રાણીઓ સારી રીતે સરભરા કરે છે, છતાં પાણ તે મૃત્યુના ભયથી ખુશ નથી. છેલ્લે આણમાનીતી રાણી તેને અભયદાન આપવાનું જાણાવે છે. રાજા તેની વાત કબૂલ કરે છે. તેની માંગણીથી રાજાની તે માનીતી બને છે. ચોર મુક્ત થાય છે. કેવો પ્રતાપ છે અભયદાનનો ! તેથી બધાં દાનમાં અભયદાનને શ્રેષ્ઠ જાણાવાયું છે.

આથી ઊલટું સમ્રાટ અશોકના પુત્ર પ્રત્યે આકર્ષિત થયેલી સાવકી મા નિષ્વરજિતા પતિ પાસેથી બે વરદાન મેળવી, જ્યારે કુણાલ તેને વશ ન થયો ત્યારે અશોકની મુદ્રાથી અંકિત થયેલા અશોકના પત્ર દ્વારા કુણાલ અધિયતામ્ ની જગ્યાએ 'કુણાલ અંધીયતામ્' એવું એના ઉપર મીંદુ મૂકી, અર્થનો અનર્થ કર્યો.

બુદ્ધદાસ નામના બૌદ્ધધર્મી એક યુવાને જૈનધર્મમાં ચુસ્ત શ્રદ્ધાળુ છું એમ કહી જૈનધર્મી કન્યા સુભદ્રા સાથે લગ્ન કર્યા. લગ્ન પછી બધાં સાસરિયા તેને દુઃખી કરે છે. એકવાર કોઈ સાધુની આંખમાંથી જીભ વડે કસ્તર કાઢી રહેલી તેને જોઈ ગયેલી સાસુ તથા પતિ વગેરે ખૂબ ત્રાસ આપે છે.

નગરના દરવાજા બંધ થઈ ગયા. બધાં ત્રાહિ ત્રાહિ પોકારી ગયાં. દેવીવાણી થઈ કે કોઈ સતી સ્ત્રી કાચા સુતરના તાંતાણે ચાણણી દ્વારા ફૂવામાંથી પાણી છાટી તો દારોદ્ધાટન થાય, તે પ્રસંગે ખુદ રાજા રાણી વગેરે તે પ્રમાણે ન કરી શકતાં સુભદ્રાએ તે માટે સાસુને વિનંતી કરી. તું કુલટા છે વગેરેથી તેને ધુત્કારી કાઢી. છતાં પાણ પ્રયત્ન કરવા જણાવ્યું. ત્યાં જઈ જો મેં મારા પતિ સિવાય કોઈને પાણ મનથી ન ઈચ્છ્યો હોય તો દાર ખૂલી જજો. તે પ્રમાણે થતાં તેનો તથા જૈન ધર્મનો જયજયકાર થયો.

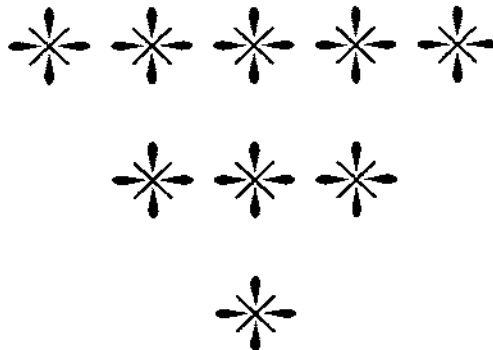
જૈન રામાયણ પ્રમાણે રાવણને ત્યાં રહેલી સતી સીતાનો રામે ત્યાગ કર્યો ત્યારે અગ્નિ પરીક્ષામાં જ્યાં સીતા અગ્નિકુંડમાં પડ્યા ત્યારે અગ્નિકુંડ તેના સતીત્વના પ્રભાવથી પાણીથી ભરાઈ ગયો અને કુંડ દેવનું વિમાન બની ગયું. મહેલમાં પાછા ન ફરતા જાણાવ્યું કે મને વારંવાર મારા કર્મે છેતરી છે. રામને કહે છે કે આપણો સંબંધ પૂરો થયો. સીતાજી દીક્ષા લે છે. સંયમ લઈ, બંને પ્રકારના પ્રસંગોમાં તત્ત્વજ્ઞાન જાણનાર સીતા સમતોલ રહે છે. કર્મના બંધનો તોડી નાંખ્યા. છેલ્લે રામને કહે છે કે મારા જેવી અનેક સીતાઓ તમને મળશે પણ આવી વીતરાગ ધર્મ વારંવાર નહિ મળે, આ મળેલા ઉત્તમ ધર્મને છેલ્લે દેશો નહિ. કેવો ઉમદા ઉપદેશ.

જૈન મહાભારત પ્રમાણે નજરાજ ગાઢ જંગલમાં સતી દમયંતીને તરછોડી ચાલી ગયા ત્યારે ઘણાં વર્ષો સુધી સતીત્વના પ્રતાપથી નવકારમંત્રના રટાણથી શીલને જરાપણ આંચ ન આવવા દીધી અને અગ્નિપરીક્ષા રૂપી દુઃખના દાવાનલમાંથી હેમખેમ બહાર આવી. દુષ્ટ તત્ત્વો લક્ષ્મણરેખા ઓળંગી ન શક્યાં.

જૈન દર્શનમાં ચાર યોગમાં ધર્મકથાનું યોગનું આગવું મહત્ત્વ છે, કેમકે સમકિતી જીવ અસાર એવા સંસારને કંસાર જેવો ન સમજી ગુણશ્રેણિ પર ક્રમિક ઉત્ક્રાંતિ કરવા સમ્યગ જ્ઞાન દર્શન ચારિત્રાણિ રૂપી મોક્ષમાર્ગને ચરિતાર્થ કરવા અપૂર્વ પુરુષાર્થ કરી ક્યારે પણ ન મેળવેલા અદ્વિતીય પુરુષાર્થ દ્વારા અહિંસા-સંયમની સાધના કરી, દાન-શીલ-તપ અને ભાવ દ્વારા અસાર એવા સંસારનો અંત લાવી સિદ્ધપુરીના પથિક બને છે. આ ઉમદા પ્રવૃત્તિમાં નારી મહત્ત્વનો ભાગ ભજવી શકે છે તે ઉપરના વિહંગાવલોકનથી જોઈ શકાય છે.

જનની જન્મભૂમિશ્ચ સ્વર્ગાદપિ ગરિયસી તથા The hand that rocks the cradle rules the world. આ બે મહાવાક્યો પ્રતિપાદિત કરે છે કે પ્રત્યેક મહાપુરુષની પાછળ કોઈ સ્ત્રીનો હાથ રહેલો છે.

જૈનોનું સાહિત્ય ઘણું વિશાળ છે. તેમાં ધાર્મિક, નીતિ, સમાજ, ખગોળ, ભૂગોળ, તત્ત્વજ્ઞાન, મોક્ષ પ્રાપ્તિના વિવિધ ઉપાયો, જ્ઞાન, દર્શન, ચારિત્રાદિ અનેકાનેક ગંભીર વિષયો પર જે લખાયું છે, તે ગણધર ભગવંતોએ ગૂંથેલા આગમોમાંથી કોઈ પણ પ્રયોગશાળા વગર ત્રિકાળાબાધિત સત્યો પ્રતિપાદિત કરેલાં છે જે સમગ્ર વિશ્વમાં બેનમૂન તથા આશ્ચર્યકારી છે.



સમતા

પ્રો. તારાબહેન રમાગલાલ શાહ

'સમતા' નો સાદો અને સામાન્ય અર્થ છે : ધીરજ રાખવી, શાંતિ રાખવી. સમ એટલે સમાન અથવા સરખું. સમતાનો વિશેષ અર્થ છે સમત્વ, મનની સ્થિરતા, સ્વસ્થતા, તટસ્થતા, અહિંસકપણું. સમતા એટલે અનુકૂળ કે પ્રતિકૂળ સંજોગોમાં, સારા કે નરસા પ્રસંગે સારી કે નરસી વ્યક્તિ માટે સ્વસ્થતાપૂર્વક સમભાવ ધારણ કરવો. આપણે જાણીએ છીએ કે જુદા જુદા કારણે ચિત્તમાં સમયે સમયે સુખદ કે દુઃખદ અનુભવો થાય છે. સુખદ અનુભવ પ્રત્યે મોહ કે રાગ ઉત્પન્ન થાય છે. સુખદ અનુભવ જ્યારે દુઃખમાં પલટાઈ જાય છે ત્યારે અધીરાઈ, ખેદ, દોષ, ઈર્ષ્યા ઈત્યાદિ અનુભવાય છે, માણસ સુખ ટકાવી રાખવા ઈચ્છે છે, પરંતુ તે ઝાઝું ટકતું નથી. માણસ દુઃખને દૂર કરવા ઈચ્છે અને છતાં દુઃખ દૂર થાય નહિ. આ બંને દશામાં મન અશાંત, બેચેન અને વિપમ બને છે. બીજી બાજુએ સુખ અને દુઃખ બંને પ્રત્યે માણસ સજાગ રહે, બંને પરિસ્થિતિમાં રાગ દ્વેષ ન અનુભવતાં સમતોલ અને શાંત રહે એ સમતા કહેવાય. ભગવદ્ગીતામાં કહ્યું છે

દુઃખેષુ અનુદ્વિગ્મનઃ સુખેષુ વિગત સ્પૃહઃ ।

દુઃખમાં ખેદ ન કરવો અને સુખમાં સ્પૃહા ન રાખવી તે સમતા.

સાધુજીવનનો સાર સમતા છે. ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર માં એક સ્થળે કહ્યું છે 'સમચાઈ સમણો હોઈ' સમતા વડે સાધુ થવાય છે, શ્રમાણ થવાય છે. શ્રમાણ શબ્દનો એક અર્થ સમતા થાય છે. સાચી સમતા પરમ પુરુષાર્થ છે, વીરતા છે. ભગવાન મહાવીરે દીક્ષા સમયે પ્રતિજ્ઞા લીધી હતી હું જિંદગીભર સમતા ધારણ કરીશ. દેવો, માનવો, નારકી, તિર્યંચ દરેક પ્રત્યે સમભાવથી વર્તીશ. ગમે તેવા વિપરીત સંજોગોમાં પણ હું ચલાયમાન થઈશ નહિ સમતાની આવી કઠિન પ્રતિજ્ઞા ભગવાને લીધી અને વીરતાપૂર્વક પાળી તેથી જ તેઓ મહાવીર કહેવાયા. ભગવાન પાર્શ્વનાથને એક બાજુ કમઠે અતિશય ત્રાસ આપ્યો, તો બીજી બાજુ ધરણેન્દ્રદેવે એમની રક્ષા કરી. પરંતુ ભગવાને કમઠ પ્રત્યે ક્રોધ કે દ્વેષનો ભાવ ન સેવ્યો અને ધરણેન્દ્ર પ્રત્યે મોહ કે રાગનો ભાવ ન સેવ્યો. બંને પ્રત્યે સમાન ભાવ સેવ્યો એટલે કે તુલ્ય મનોવૃત્તિ સેવી.

સમતા એટલે નિર્બળતા નહિ, કે કાયરતા નહિ. સમતા એટલે જડતા કે ભાવશૂન્યતા નહિ. સમતા એટલે અંતરની ઉદારતા. સમતા એટલે હૃદયનો ક્ષમાભાવ. એનો અર્થ એવો નહિ કે કોઈ પણ ઘટનાને કે હકીકતને વગર-વિચાર્યે માની લેવી કે સમતાને નામે એને સંમતિ આપવી. એમ કરવાથી અવ્યવસ્થા સર્જાય. સમતા એટલે સમજાણપૂર્વકની, વિચારપૂર્વકની સ્વસ્થતા. કસોટી કે કટોકટીની

જાગે પાણ સ્વસ્થતા. શાંત ચિત્તની સ્વસ્થતામાંથી વિવેક જન્મે છે. વિવેકી વ્યક્તિ પ્રત્યેક બાબતમાં જે સત્ય છે, શુભ છે. વાસ્તવિક અને યથાર્થ છે તેને જુએ છે. સમજે છે અને સ્વીકારે છે. જે અશુભ છે, હાનિકારક છે તેને પાણ તે સમજે છે, પારખે છે, અને ત્યજે છે. વિવેક વ્યક્તિને જગત રાખે છે. વિવેક માર્ગદર્શકનું કામ કરે છે. સમતા જ્યારે સિદ્ધ થાય ત્યારે વાણી, વિચાર અને વર્તન ઉપર સંયમ આવે છે.

વ્યક્તિમાં સમતા આવે ત્યારે શુભ પ્રવૃત્તિનો ઉદય થાય છે. સ્વ અને પર-કલ્યાણ કરવાની ઈચ્છા થાય છે. સમતા એટલે પલાયન વૃત્તિ નહિ. સમતા વ્યક્તિને જીવન પ્રત્યે અભિમુખ કરે છે બહારના ગમે તેવા વિષમ સંયોગો વચ્ચે તેની સાચી સમતા અંડીત થતી નથી. સુખ દુઃખ, હાર-જીત, નિંદા-સ્તુતિ, માન-અપમાન, લાભ કે હાનિ વગેરે અનેક દંદો સમતા ધારણ કરનાર વ્યક્તિના ચિત્તને વિચલિત કરી શકતાં નથી.

સમતા એ યોગ છે. આચાર્ય હરિભદ્રસૂરિએ યોગના પાંચ પ્રકાર બતાવ્યા છે (૧) અધ્યાત્મ, (૨) ભાવના, (૩) ધ્યાન, (૪) સમતા અને (૫) વૃત્તિ. યોગનો સાદો અર્થ છે જોડવું. સમતા સાથે ચિત્તને જોડવું અર્થાત્ સમતા સાથે એકરૂપ બની જવું, તે સમતાયોગ. વ્યાખ્યા પ્રજ્ઞપ્તિમાં કહ્યું છે. આત્મા સમત્વરૂપ છે. આત્માનું ધ્યેય સમત્વ છે. કુંદાકુંદાચાર્યે કહ્યું છે, આત્મા એ જ સમયસાર છે. સમત્વ ઘસ્ય સારં તત્ સમયસારમ્ મોહ અને ક્ષોભથી રહિત આમાની અવસ્થા તે સમત્વ છે. ભગવાન કૃષ્ણે ગીતામાં સમત્વનું ગૌરવ કરતાં કહ્યું છે : સમત્વમ્ યોગ ઉચ્યતે ।

જૈન ધર્મે સાધનાના ક્ષેત્રે મમત્વના વિસર્જન અને સમત્વના પ્રકટીકરણ ઉપર ભાર મૂક્યો છે. સમત્વથી મારાપાણનો, અહમનો ભાવ દૂર થાય છે. સમત્વ આત્માનો સહજ સ્વભાવ છે.

સાચી સમતા સેવનાર વ્યક્તિ સદાચારી બને છે. જે તે દવાનો વેપારી હોય તો ભેજસેજવાળી દવાં પોતાના સ્વજનને ન આપે, તેમ બીજને પાણ ન આપે. અનાજનો વેપારી પોતે સેડેલું અનાજ ન વાપરે. તેમ બીજને વેચે પાણ નહિ. તેવી જ રીતે વ્યવહારનાં બધાં ક્ષેત્રમાં વ્યક્તિ સમભાવને કારણે અહિતકારી નહિ પરંતુ સર્વહિતકારી વૃત્તિ ધરાવે.

જૈન દર્શનનો સાર સમતા છે. શાસ્ત્રોએ સમ્યગ્દર્શન, સમ્યક્જ્ઞાન સમ્યક્ચારિત્ર્યનો સમાવેશ સમભાવમાં જ કર્યો છે. અહિંસા, અપરિગ્રહ અને અનેતકાન્તવાદ એ ત્રણે પરસ્પરપૂરક છે, અને એ ત્રણેનો આધાર છે સમતા. સમતાના વિકાસ માટે, પોષણ માટે અને સમતાની સ્થિરતા માટે આ ત્રણે સિદ્ધાંતો આવશ્યક છે. અહિંસા એટલે જીવમાત્ર પ્રત્યે સમભાવ. સમગ્ર ચેતનસૃષ્ટિ પ્રત્યે સમભાવ દ્વારા જ માનવી સમગ્ર વિશ્વચેતના સાથે એકત્વ અનુભવી શકે છે. જેટલું પ્રથમત્વ વધારે તેટલું અહિંસાનું પાલન સારી રીતે થઈ શકે. વિશ્વપ્રેમ અહિંસા છે, સકળ જીવસૃષ્ટિ પ્રત્યે આત્મસમ દષ્ટિ તે સમતા છે.

અનેકાન્તવાદ એટલે વિચાર કે વાણી દ્વારા સમતાનું આચરણ અનેકાન્તવાદ એટલે વૈચારિક સહિષ્ણુતા. વિવિધ વ્યક્તિઓ, વાદો અને ધર્મોમાં વિચારના ભેદ તો રહેવાનાં, તેને સમભાવથી તપાસી, સમન્વય કરી, સત્ય પામવું તે સમતા. વિશ્વશાંતિ માટે અમોઘસાધન તે સમતા છે.

અનેકાન્તવાદ એટલે વૈચારિક અપરિગ્રહ. વૈચારિક પરિગ્રહ એટલે વિચારનું, મતનું મમત્વ. હું કહું તે જ સાચું- આ વલણ તે વિચારનો પરિગ્રહ. બીજાના વિચાર કે મંતવ્યમાં રહેલા સત્યનો સ્વીકાર કરવો તે વૈચારિક સમભાવ. મતાંતર કે આગ્રહીપણું ત્યજવું તે વૈચારિક અપરિગ્રહ. ધર્મ, રાજકારણ, કુટુંબ વગેરે દરેક ક્ષેત્રે મતભેદ દૂર કરવા માટે અનેકાન્તવાદ ઉત્તમ માર્ગ છે.

ભગવાન મહાવરિ ગૃહસ્થો માટે મર્યાદિત પરિગ્રહનો માર્ગ પ્રબોધ્યો. આર્થિક વિષમતાનું મૂળ તૃષ્ણા છે, સંગ્રહવૃત્તિ છે. પોતાની જરૂરિયાતથી વધારે રાખવું અને બીજાને જરૂરિયાતથી વંચિત રાખવાં એ વૃત્તિ હિંસા-વિષમતા તરફ દોરે છે. આ દોષમાંથી બચવા, ભગવાને દાનનો બોધ પાળ આપ્યો. દાન એટલે જરૂરિયાતવાળાને ઉપકારબુદ્ધિથી નહિ પરંતુ પોતાનું કર્તવ્ય કે આવશ્યક ક્રિયા સમજીને આપવું. આ ક્રિયાને સમવિભાગ કે સમવિતરણની ક્રિયા કહી શકાય. એના મૂળમાં સમતા કે સમભાવનો આદર્શ રહેલો છે.

સમતા પમાય કેવી રીતે ? એ માટે જગૃતપણે ખૂબ પુરુષાર્થ કરવો પડે. સહુ પ્રથમ હૃદયશુદ્ધિ કરવી જોઈએ. દુર્ગુણો અને દુર્વાસનાઓથી હૃદય મલીન થાય છે અરીસો ચોખ્ખો હોય તો પ્રતિબિંબ ચોખ્ખું દેખાય. ચિત્રકાર ચિત્ર કરતાં પહેલાં ફલકને સાફ કરે છે, તેવી રીતે હૈયામાં પેટેલા દુર્ગુણો દૂર કરીએ તો જ હૃદયમાં સમતા જેવા ઉચ્ચત્તમ ગુણને અવકાશ મળે આનંદધનજી લખે છે

સેવન કારણ પહેલી ભૂમિકા રે અભય, અદ્વેષ, અખેદ.

ભય અહમ્માંથી જન્મે છે. અહમ્ ઓગાળી નાખીએ તો અભય જન્મે. સત્તા, કીર્તિ, સંપત્તિની નિરર્થક હરીફાઈ છોડીએ તો અદ્વેષ પ્રગટે. અભય, અદ્વેષની વૃત્તિમાંથી અખેદ, સાત્ત્વિક આનંદ જન્મે. આ ત્રણે દ્વારા હૃદયશુદ્ધિ થાય તો સમતાપ્રાપ્તિની ભૂમિકા તૈયાર થાય.

સાધુપુરુષ કે ચારિત્ર્યશીલ વ્યક્તિઓનો સત્સંગ કેળવવાથી, એમના જીવનવ્યવહારનો અભ્યાસ કરવાથી સમતાનો ભાવ પ્રગટે. વળી તત્ત્વજ્ઞાનના અભ્યાસથી આત્મસ્વરૂપ સમજાય, આત્મા અને શરીરનો ભેદ સમજાય. શરીર નાશવંત છે, મૃત્યુ નિશ્ચિત છે. મૃત્યુનો વિચાર માણસને દુષ્કૃત્ય કરતાં અટકાવે અને પુણ્યકાર્ય ઝડપથી કરવા પ્રેરે પશ્ચાદ્ભૂમાં સમતા હોય તો જ પુણ્યકાર્ય સાર્થક થાય. કહ્યું છે :

સમતા વિણ જે આચરે પ્રાણી પુણ્યનાં કામ,
છાર ઉપર જિમ લીંપણું, જ્યું ઝાંખર ચિત્રામ.

ધર્મપાલન માટે જૈન ધર્મે જે છ આવશ્યક ક્રિયાઓ કરી છે તેમાંની એક ક્રિયા તે સામાયિક છે. સામાયિક સમતા પ્રાપ્તિનો ઉત્તમ ઉપાય છે. સામાયિકનો સૂક્ષ્મ અર્થ છે સમતાભાવ ધારણ કરવો. સામાયિક એટલે ગુરુની આજ્ઞા લઈ બે ઘડી એક આસને બેસી સર્વ પાપજનક પ્રવૃત્તિ છોડી દેવી (સાવજ્જં જોગં વચ્ચચ્ચામિ) અને પોતાનાં નિંદ્ય કૃત્યો માટે પશ્ચાત્તાપ કરવો, (નિંદામિ ગરિહામિ અપ્પાણં વોસિરામિ) બે ઘડી માટે પ્રયત્નપૂર્વક જાગ્રત રહીને સમતાભાવ ધારણ કરવો. વારંવાર સામાયિક કરવાથી સમતા ધારણ કરવાની ટેવ પડે છે. શાસ્ત્રકારોએ સામાયિકનો નિષ્કર્ષ એક શ્લોકમાં વધાર્થ રીતે દર્શાવ્યો છે :

સમતા સર્વભૂતેષુ સંયમઃ શુભ ભાવના ।

આર્તરૌદ્ર પરિત્યાગ, તદ્ધિ સામાયિકં વ્રતમ્ ॥

પ્રાણીપાત્ર પ્રત્યે પ્રેમ અને સમતાપૂર્ણ જીવનવ્યવહાર, પાંચે ઈન્દ્રિયો ઉપર સંયમ, મૈત્રી, પ્રમોદ, ક્રુણા અને માધ્યસ્થ-એ શુભ ભાવનાઓ સેવવી અને આર્તરૌદ્ર ધ્યાનનો ત્યાગ કરવો. આ વ્રતને સામાયિક વ્રત કહી શકાય.

પરકલ્યાણની ચિંતા એટલે મૈત્રી. જ્ઞાનીઓ એને આધ્યાત્મિક પ્રવૃત્તિ કહે છે. મૈત્રીનું એક અંગ છે પ્રેમ અને બીજું છે ક્ષમા. સમતાભાવ હોય તો જ પ્રેમ અને ક્ષમા ટકે. કોઈનાં વિચારો, ક્ષતિઓ, દોષો, અપરાધો તરફ સમતાભાવ હોય તો જ ચિત્તની શાંતિ જળવાય. કહેવાયું છે

અપરાધીસું પાણ ચિત્ત થકી, નવિ ચિંતવીએ પ્રતિકૂળ.

પરસુખ તુષ્ટિ મુદિતા । પારકાના સદ્ગુણોને, સુખને જોઈને આનંદ પામવો તે પ્રમોદ. સંતો, મુનિઓ, જ્ઞાનવાન, ગુણવાન, ચારિત્ર્યશીલ વ્યક્તિઓને જોઈને આનંદ અનુભવવો જોઈએ. ગુણનો પક્ષપાત કરવો જોઈએ. આમ કરવાથી આપણામાં જે ગુણો અંશત હોય તેનો વિકાસ થાય છે. વિરોધીઓના ગુણોની પણ પ્રશંસા કરવાથી તેમને મિત્ર બનાવી શકાય. પ્રમોદભાવ સમભાવને પુષ્ટ કરે છે. શરીર અને ચિત્ત બંનેને પ્રસન્ન, સ્વસ્થ રાખવામાં પ્રમોદ ભાવ સહાયભૂત બને છે.

ક્રુણાને પરદુઃખવિનાશિની કહેવામાં આવે છે. એટલે કે દુઃખી જીવોના શારીરિક તેમજ માનસિક દુઃખ દૂર કરવાનો ભાવ તે ક્રુણા. દુઃખીનાં દુઃખ ઓછાં કરવાથી કર્મની નિર્જરા થાય છે, આપણી વૃત્તિ નિર્મળ થાય છે. ભગવાન મહાવીરે સંગમદેવ પ્રત્યે અપાર ક્રુણા બતાવી. સમતાના ઉત્કૃષ્ટ ભાવ વિના તે સંભવે નહિ. હુંક, હમદદાઈ, લાગણી, સમભાવ ઈત્યાદિ દુઃખી માણસને ખરે ટાંકણે અમૃતછાંટણા બની જાય છે.

માધ્યસ્થ એટલે ક્રુણાપૂર્ણ ઉપેક્ષા. અધર્મી, માર્ગભૂલેલા, દોષિત પ્રત્યે ઉપેક્ષા સેવવી. માધ્યસ્થ એટલે ક્રોધ કે કટુતાનો ભાવ સેવ્યા વિના અલિપ્ત રહેવું. આ ઉદાસીનતા કે ઉપેક્ષા જડ નહિ પરંતુ

કુરુગાપૂર્ણ હોવી જોઈએ. કુરુગાનો ભાવ ન હોય તો આપાગામાં જડતા કે રુક્ષતા આવી જવાનો સંભવ રહે. ઉપાધ્યાય યશોવિજયજી સજ્જાયમાં કહે છે

રાગ ધરીજે જીહાં ગુણ લહીએ, નિર્ગુણ ઉપર સમચિત્ત રહીએ.

આ ચારે ભાવનાથી વિશ્વમૈત્રી સધાય છે. આ ચારે ભાવના ધર્મધ્યાનની ભાવના છે. તેનાથી આર્ત-રોદ્ર ધ્યાનથી મુક્ત થવાય છે અને સમતાયુક્ત ધર્મધ્યાન પ્રગટે છે. અનુકંપા, પ્રેમ, ઉદારતા અને દાનતાં બીજ પ્રગટે છે અને પોષાય છે. ચિત્તવૃત્તિ સ્થિર થાય છે. જેમ વૃત્તિ શુદ્ધ અને સ્થિર થાય તેમ અનિર્વચનીય આનંદ અનુભવાય છે.

સમતા અને ધ્યાન પરસ્પરપૂરક છે સમતા વિના, ચિત્તની સ્થિરતા વિના, ધ્યાન થતું નથી. ધ્યાનથી સમતા નિશ્ચલ થાય છે.

न साम्ये विना ध्यानम्, न ध्यानेन विना च यत् ।

જેમ જેમ ધ્યાનની ક્ષમતા વધતી જાય તેમ તેમ મનમાં વિશેષ પ્રકારનું ચૈતન્ય જાગૃત થાય છે. ચૈતન્ય એ સમત્વની પ્રજ્ઞા છે.

સમતા એ જ્ઞાન છે. અથવા તો એમ કહી શકાય કે જ્ઞાનનો સાર સમતા છે. ધર્મની સાધનાનો પ્રથમ ઉદ્દેશ સાચી દૃષ્ટિ અને સાચું જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરવું એ છે. જેમ જેમ રાગદ્વેષથી પર થઈએ તેમ તેમ આત્મા પરથી મોહ અને અજ્ઞાનનું આવરાગ હટતું જાય. જેમનાં જીવનમાં સમતા આવે તેવી વ્યક્તિઓને સામ્યયોગી અથવા તો પંડિતા સમદર્શિનઃ કહેવામાં આવે છે. વીતરાગપાણાની સેવનાનો આધાર સમતા છે.

સમતાના અનેક લાભ છે. સમતાથી ઉત્તમ ગુણોની રક્ષા થાય છે, ચિત્તની શાંતિ પ્રગટે છે, ગમે તેવા વિપરીત સંજોગોમાં વિચલિત થયા વિના સાચા અને સારા ત્વરિત નિર્ગુણો લઈ શકાય છે. બાહ્ય સંજોગો પરિવર્તનશીલ છે. તેના પર કદાચ આપાગો કાબૂ ન હોય, પરંતુ સમતાને કારણે આંતરવૃત્તિ પર કાબૂ મેળવી શકાય છે. પરિણામે નિષ્કપટતા અને નિષ્કપાયતા પ્રાપ્ત થાય છે. આધ્યાત્મયોગી આનંદઘનજી કહે છે

ચિત્ત પ્રસન્ને રે પૂજન ફલ કહ્યું, પૂજા અખંડિત એહ.

સમતાથી જન્મતી ચિત્તની પ્રસન્નતા એ જ સાચી ભક્તિ છે. સમતાથી માનસિક સમતુલાની સાથે શારીરિક સમતુલા પણ મેળવી શકાય. રોગને સહન કરવાની તાકાત આવે. સમતાનો અભાવ હોય તો જીવનવ્યવહારમાં કેટલીક વાર માનસિક તનાવ પેદા થાય છે, જાતજાતના ભય અકળાવે છે, જાતજાતની શંકા કુશંકા સેવાય છે. કેટલીક ચિંતા ઉન્માદ સુધી પહોંચાડે છે. મોટાભાગની બીમારી માનસિક તનાવને કારણે હોય છે. સમતા હોય તો તનાવ પર કાબૂ મેળવી શકાય છે.

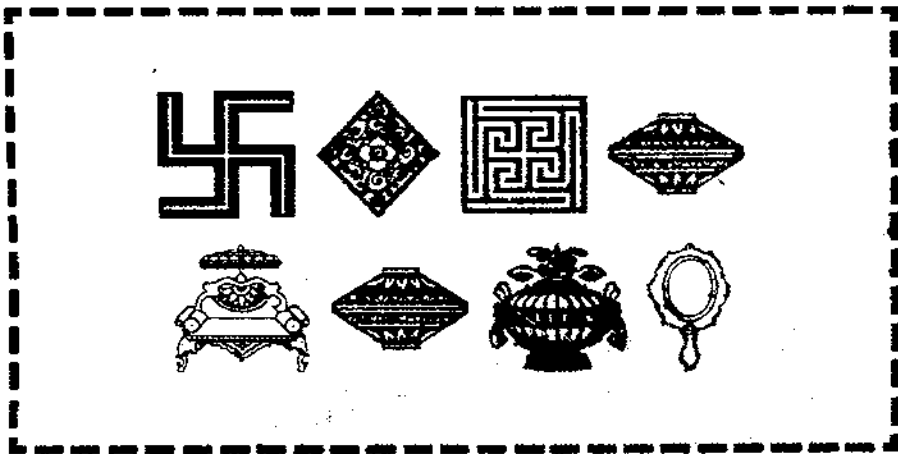
સમતા મોક્ષનું સાધન છે. સમતા દ્વારા વૈરાગ્ય પ્રાપ્ત થાય છે. વૈરાગ્યપ્રાપ્તિ માટે જે સાધના કરીએ તેમાં પ્રથમ પગથિયું એટલે કે તળેટી સમતા છે, અને ચરમ શિખર પણ સમતા છે સાધનાનો પ્રારંભ પ્રેમ, કરુણા, અહિંસા, ઉદારતા વગેરેથી થાય છે. કમશ સાધના તીવ્ર બનતાં સાધક વીતરાગતા સુધી પહોંચે છે.

શાસ્ત્રકારોએ, જ્ઞાનીઓએ સમતાનું ધ્યાનું ગૌરવ કર્યું છે.

જાનન્તિ કામાન્નિચિલી: સસંશા,
અર્થ નરા: કેઽપિ ચ કેઽપિ ચ ધર્મમ્ ।
જનં ચ કેચિદ્ ગુરુદેવશુદ્ધમ્
કેચિત્ શિવમ્ કેઽપિ ચ કેઽપિ સામ્યમ્ ॥

સર્વસંજ્ઞાવાળાં પ્રાણીઓ કામને જાણે છે. તેમાંથી કેટલાંક અર્થને (ધનને) જાણે છે. તેમાંથી કેટલાંક ધર્મને જાણે છે. તેમાંથી થોડાંક દેવગુરુયુક્ત ધર્મને જાણે છે. તેમાંથી થોડાંક મોક્ષને અને તેમાંથી થોડાંક સમતાને જાણે છે. (સમતા-અધ્યાત્મ કલ્પતરું)

સમતાનું મૂલ્ય આટલું મોટું છે. જીવનવ્યવહારમાં દરેક ક્ષેત્રે સમતાભાવ જેટલો વધારે તેટલી સુખશાંતિ વધારે. સમન્વત્ની સામૂહિક સાધના કરવામાં આવે તો સંઘર્ષરહિત, શોષણરહિત, સહિષ્ણુ સમાજ નિર્માણ થાય. સમતા જ્યારે દૃઢ બને, સહજ બને ત્યારે શ્વાસે શ્વાસે વિશ્વકલ્યાણની ભાવનાનો સ્રોત વહેવા માડે. સમતા એ અમૂલ્ય સંપત્તિ છે. આનંદરૂપી અમૃત તેમાંથી પ્રાપ્ત થાય છે. તેથી જ જ્ઞાનીઓ કહે છે સમતા એ પરમેશ્વર છે.



અપ્રમાદ

નેમચંદ એમ. ગાલા

સૂત્રોમાં કહ્યું છે : મિથ્યાદર્શન, અવિરતિ, પ્રમાદ, ક્ષાય, યોગ બન્ધ હેતવ : અર્થાત્ મિથ્યાત્વ અવિરતિ, પ્રમાદ, ક્ષાય અને યોગ એ કર્મબંધનાં પાંચ કારણો છે. હકીકતમાં વ્યવહારમાં કર્મબંધનાં કારણોમાં પ્રમાદ ને પ્રથમ મૂકવો પડે છે. સૂત્રકૃતાંગમાં કહ્યું છે. : પ્રમાદ કર્મબંધનું કારણ અને અપ્રમાદ કર્મથી મુક્ત થવાનું, કર્મબંધ ન થવાનું કારણ છે.

પ્રમાદ અનેક આયામી શબ્દ છે. એનાં સૂચિતાર્થ ગંભીર અને વ્યાપક છે.

સાદી ભાષામાં કહીએ તો અપ્રમાદ એટલે જાગૃતિ, સતત જાગૃકતાં, આંતરજાગૃતિ, સજાગતા, સતર્કતા. સરળ શૈલીમાં કહીએ તો પરમાર્થ કે મુક્તિની અપેક્ષાએ કરવા જેવું કામ ન કરવું અને ન કરવા જેવું કરવું એ પ્રમાદ. આજસ, આલસ્ય, સુસ્તતા વગેરે શબ્દો પણ પ્રમાદ માટે વપરાય છે. નવરો ધૂપ થઈ બેઠો હોય, એ પ્રમાદીમાં ખર્ચી જાય છે, અને વ્યસ્ત, સતત દોડધામ કરનાર અત્યંત ક્રિયાશીલ માણસની વાહવાહ થઈ જાય છે. પરંતુ માત્ર ક્રિયાશીલ રહેવું, ઘડીનો જંપ ન હોવો, કે નિષ્ક્રિય રહેવું એના પરથી પ્રમાદ - અપ્રમાદનો નિર્ણય થઈ શકતો નથી. જે ક્રિયા આત્માર્થે નિરર્થક છે એ ક્રિયા પણ પ્રમાદનું લક્ષણ છે. સંક્ષેપમાં કહી શકાય કે એવું કોઈ કામ ન કરીએ કે જેના મૂળમાં ધર્મ ન હોય, અને એવું કોઈ કામ ન કરીએ જેનું ફળ ધર્મસ્વરૂપ ન હોય, એ જ શુદ્ધ અપ્રમાદ છે.

ધર્મબીજનું સામાન્ય અને સંક્ષિપ્ત રૂપ એ છે કે વ્યક્તિગત તેમજ સામુદાયિક જીવન માટે જે અનુકૂળ હોય તે કરવું અને જે પ્રતિકૂળ હોય, તે ટાળવું કે એનાથી બચવું.

ધર્મનું ધ્યેય શું હોઈ શકે ? દરેકને પોતાની વૈયક્તિક અને સામાજિક જવાબદારીમાં રસ અને એ રસને મૂર્ત કરી દેખાડવા જેટલી પુરુષાર્થની જાગૃતિ હોય, એ જ ધર્મનું ધ્યેય, એટલે નિશ્ચય, નિયમન અને તેને અનુરૂપ પુરુષાર્થની જાગૃતિ.

ગીતામાં શ્રીકૃષ્ણે તો મનુષ્યને ઉદારભાવે છૂટ આપતાં એટલે સુધી કહ્યું છે કે પ્રમાદી કરતાં તો ફળની ઈચ્છાવાળો સારો. ઠેર ઠેર અનાસક્તયોગ, ફળની ઈચ્છાનો ત્યાગ વગેરેનું પ્રરૂપણ કરનાર શ્રી કૃષ્ણે પણ પ્રમાદીનું સ્થાન ફળની ઈચ્છાવાળા કરતાં નીચું ગણ્યું છે.

ક્રિયા કે અક્રિયા સાથે પ્રમાદ - અપ્રમાદનો કોઈ સંબંધ નથી. એક જ પ્રકારની ક્રિયા પ્રમાદરૂપ કે અપ્રમાદરૂપ હોઈ શકે. દા.ત, એક માણસે આખી રાતનો ઉજારો કર્યો. શા માટે કર્યો? પાનાં રમતાં હતાં, તહેવારના દિવસો છે ને ? બીજાએ પણ આખી રાતનો ઉજારો કર્યો, શામાટે કર્યો ? ધર્મગ્રંથનું વાંચન કર્યું. પવિત્ર દિવસો છે ને ? પાનાનાં જુગારમાં કઈક રકમ મળી, પણ એ નફો પણ ખોટનો સોદો છે.

શું યથાર્થ છે, શું વ્યર્થ, શું સાર્થક શું નિરર્થક, એનો ભેદ પ્રથમ જાણવો પડે છે. નાણું પયાસગું : જ્ઞાન એજ પ્રકાશ છે, અજ્ઞાન, અવિદ્યા કે મિથ્યાજ્ઞાન એ અંધકાર છે. અંધકાર સામે ગમે તેટલાં વર્ષ લડીએ, છતાં અંધકાર તો રહે જ છે. લાખો વર્ષોનું અંધારું એક નાનકડું કોડિયું પ્રગટાવતાં ક્ષણ માત્રમાં દૂર થાય છે. અંધકારનાં આપણે ગમે તેટલાં સ્વરૂપો વર્ણવીએ, પરંતુ એક પાણ સ્વરૂપ એવું નથી હોતું જે અજ્ઞવાણારૂપ હોય !

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમાં કહ્યું છે અર્થયુક્ત : અર્થાત્ સારભૂત વાતો શીખી લો અને નિરર્થક વાતો છોડી દો.

માણસોના બે પ્રકાર છે, અથવા એમ કહી શકાય, કે એક જ માણસમાં બે માણસ રહેલાં છે એક જે દિવસનાં પ્રકાશમાં ઊધે છે.

બીજો જે રાત્રિનાં અંધકારમાં જાગે છે.

પ્રકાશ હોવા છતાં, બધા પ્રકારની અનુકૂળતા સગવડો હોવા છતાં, સંયોગો હોવા છતાં સત્ કાર્ય તરફ બાહ્ય અને આંતર ચક્ષુઓ બંધ કરી, પ્રમાદમાં નિમગ્ન, પ્રકાશને પાણ પડદો ઢાંકી, અંધકાર ઊભો કરે છે, તેમાં માનુષી જીવનનો અસ્વીકાર છે.

ચોમેર વિપરીત પરિસ્થિતિ વિદ્યમાન હોવા છતાં, કોઈ અનુકૂળતા ન હોવા છતાં સર્વત્ર અંધકાર હોવા છતાં, ચક્ષુથી કોઈ પ્રકાશ નજરે ન પડતો હોવા છતાં, જે આંતર ચક્ષુ ખુલાં રાખી, અપ્રમત્ત રહી સતર્ક રહે છે, જાગરૂકતા સેવે છે, તે અંધકારમાં રાત્રિમાં તમસમાં પાણ જાગતો હોય છે.

યુવાન માણસ છે, વહેલું ઊંઠવું છે, પાણ ઉડાતું નથી. વંચાતું નથી, વ્યાયામ થતો નથી, યુવાન દેહ પાણ થાકેલો લાગે છે. જીવનનું પરોઢ છે, પાણ સંધ્યાનાં ઓછાયા લંબાતા જાય છે. કામ થતું નથી. થાય તો યે ઓછું અથવા જેમ તેમ. જીવન પાસેથી પૂરું વળતર લેવાતું નથી. મૂડી છે, પાણ વપરાતી નથી. જમીન છે પાણ ખેડાતી નથી. આજસનું બંધન છે. તમોગુણનો પ્રકોપ છે.

આજસ એ પ્રમાદનો જ પ્રકાર છે. માણસને સમય હોય છે. પુષ્કળ અવકાશ હોય છે. ત્યારે કોઈ સદ્વૃત્તિ કે રુચિ નથી હોતી, સંસ્કારસંચય કે વિદ્યાસંચયની કે આત્મિક વિકાસની કોઈ પ્રવૃત્તિમાં રસ કેળવ્યો નથી હોતો ઘરમાં કે ઘર બહાર કોઈ ઉપયોગી થવાની ઈચ્છા પ્રગટતી નથી. સમય કેમ ગાળવો એ જ વિટંબાણ સતાવતી હોય છે. સમય કેમ ગાળવો ? ત્યારે મિત્રો, ખાનપાન, હંસી-મજાકમાં જ સમય વ્યતીત કરવાનું સુજે છે. અંગ્રેજીમાં શબ્દપ્રયોગ છે To Kill Time ! સમયને હણવા માટે જ નિરુદ્દેશ-નિરર્થક કાર્યક્રમો ઘડાતાં હોય છે. પરંતુ માણસને ખબર નથી કે સમય ક્યારેય હણાતો નથી, સમયને હણી શકાતો નથી સમય તો ત્રિકાળ હોય જ છે. પાણ સમયને હણવાની ચેષ્ટા કરનાર સ્વયં માણસ જ હણાઈ જાય છે !

અંગ્રેજીનો બીજો શબ્દ પ્રયોગ છે To pass time - સમય પસાર કરવા માટે અનેક નિરર્થક

પ્રવૃત્તિ થાય છે. પાણ સમય ક્યારે પાણ વીતતો નથી. એતો સદૈવ રહે જ છે. પાણ માણસ પોતે વીતી જાય છે.

મૃત્યુને માટે પાણ કાળ શબ્દ વપરાય છે. માથે કાળ ભમે છે. મૃત્યુ માથે મંડરાય છે. તારો કાળ આવી જાય છે. તારું મૃત્યુ નજીક છે. શ્રીમાન્ કાળધર્મ પામ્યા, એટલે મૃત્યુ પામ્યા, કાળધર્મ પામ્યા એટલે કાળે પોતાનો ધર્મ બજાવ્યો. કાળનું તો કામ જ છે મનુષ્યજીવનને સમાપ્ત કરવાનું, માણસને ઉઠાવી લેવાનું.

કલિ : શ્યાનો ભવતિ સ જાગ્રદ્ દ્વાપરં યુગમ્ ।

કર્મસ્વભ્યુદ્યતસ્ત્રેતા વિચરસ્તુ કૃતં યુગમ્ ॥

(મનુ. ૯.૩૦)

અર્થાત્ સમય સૂઈ રહેલા મનુષ્ય માટે કળિયુગ છે, જાગૃત માટે દ્વાપર છે, કામ કરવા તૈયાર થયેલા માટે ત્રેતા છે અને જે કાર્યપ્રવૃત્ત છે તેના માટે તો સદાયે સત્યયુગ છે.

મનુ મહારાજે ચારે યુગનાં લક્ષણો મનુષ્યના સંદર્ભમાં બતાવી દીધાં છે. આ જ વાત સૂત્રકારે વિસ્તારથી કરી છે.

આંસ્તે ભગ આસીનસ્યોર્ધ્વીસ્તષ્ટતિ તિષ્ઠતઃ ।

શેતે નિષદ્યમાનસ્ય ચરાતિ ચરતો ભગઃ ॥

ચરૈવેતિ ।

(ઐતરેય પ્રા.)

અર્થાત્ બેઠાણું ભાગ્ય પાણ બેઠેલું રહે છે. ઊભેલાનું અર્થાત કાર્ય કરવા કટિબધ્ધ થયેલાનું ભાગ્ય ઊભું હોય છે. જે પડી રહે છે, સૂતો હોય છે. તેનું ભાગ્ય પાણ સૂઈ રહે છે. અર્થાત ભાગ્ય હોય, તો જે ફળદાઈ બનતું નથી, પાણ જે ચાલતો રહે છે, અમથરાયાણ છે, તેનું ભાગ્ય પાણ ચાલતું ફરતું રહે છે.

આ સૂત્રમાં પરિશ્રમનો જ મહિમા કર્યો છે. માત્ર મુમુક્ષુઓએ જ નહિ, પાણ સંસારીએ પાણ પ્રતિજ્ઞાણ હર હાલમાં જાગૃકતા સતત જાળવી રાખવી પડે છે.

ભયં પ્રમત્તસ્ય વનેષ્વપિ સ્યાદ્ યતઃ

સ આસ્તે સહષ્ટસપલઃ ।

જિતેન્દ્રિયસ્યાત્મરતેર્બુધસ્ય ગ્રણશ્રયઃ

કિં નુ કરોત્યવદ્યમ્ ॥

(શ્રી મદ્ ભાગવત ૫-૧-૧૭)

અર્થાત્ પ્રમાદી માણસ વનમાં પાણ ભયભીત રહે છે, કારણ કે ત્યાં પાણ રાગ દેષ વગેરે છ શત્રુઓ એનો પીછો છોડતા નથી. પરંતુ જે જિતેન્દ્રિય અને આત્મસંતુષ્ટ છે ગૃહસ્થાશ્રમ પાણ તેનું શું બગાડવાનો હતો ? અર્થાત્ જિતેન્દ્રિય અનાસક્ત વ્યક્તિ ગમે ત્યાં હોય, સુરક્ષિત રહે છે.

અપ્રમાદ કવચ સમાન છે.

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः ।

नास्त्युद्यमसमो बन्धुः यं कृत्वा नावसीदति

(નીતિશતક ૮૭)

અર્થાત્ માનવીનાં શરીરમાં છુપાઈને રહેલો મહાન શત્રુ આલસ છે. અને શરીરમાં જ રહેતો ઉત્તમ સજ્જન છે ઉદ્યમ. જે ઉદ્યમને કર્યા કરે છે તેને ધર્મ સમ કોઈ બંધુ નથી. તે હંમેશાં સુરક્ષિત હોય છે.

અપ્રમાદ એ સતત સાધના માગી લે છે એક પળે માણસ જાગતો હોય, બીજી પળે એને ઝોકું પાણ આવી શકે, એટલે અન્યંત સાવધ અને જાગૃત રહેવું પડે છે. અને દરેક ક્રિયા ચર્ચા જાગૃકતાપૂર્વક કરવી પડે જેથી પાપકર્મ ન બંધાય. દશવૈકાલિક સૂત્રના ચોથા અધ્યયનમાં એનો સુંદર વિસ્તાર કરી સમજ આપી છે.

अज्यं यरमाणो य पाण्णभूयाँ हिसँ ।

बंधँ पावयं कर्मं, तं सेडोँ कडुयं इलं ॥ (१)

અર્થાત્ અયત્ના-અનુપયોગથી ચાલતાં પ્રાણીભૂતોથી જૂદી જૂદી જાતના જીવોની હિંસા થાય છે. અને તેનાથી પાપકર્મ બંધાય છે અને તેનું કડવું ફળ નીપજે છે, જે ભોગવવું પડે છે.

अज्यं यरमाणो : अयत्नाधी चालवाधी

अज्यं - असावधानी, अजगृति, प्रमाद के असंयम के अवियारथी क्रियामां प्रवृत्त धवुं.

अज्यं यिद्रुमाणो : अयत्नाधी डीभा रडेवाधी

अज्यं आसमाणो : अयत्नापूर्वक डेसवाधी.

अज्यं सयमाणो : अयत्नापूर्वक सूवाधी

अज्यं भूँजमाणो : अयत्नापूर्वक भोजन करवाधी

अज्यं भासमाणो : अयत्नाधी वजर वियार्युं भोलवाधी.

એકથી છ શ્લોકો સુધીમાં તમામ શારીરિક આવશ્યક ક્રિયાઓ આવરી લેવાઈ છે.

સાતમાં શ્લોકમાં શિષ્ય ભગવાનને પૂછે છે, હે ભગવાન મારે કેમ વર્તવું ? શ્લોક છે :-

કહં ચરે કહં ચિદ્દે ? કહં આસે ? કહં સએ !

કહં ભુંજંતો, ભાસંતો પાવકમ્મં ન બંધઈ ॥૭॥

અર્થાત્ કેમ ચાલવું ? કેમ ઊભા રહેવું ? કેમ બેસવું ? કેમ સૂવું ? કેમ ખાવું ? અને કેમ બોલવું ? જેથી પાપકર્મ બંધાય નહિ.

ભગવાન એનો જે જવાબ આપે છે, તે સૌએ હૈયામાં કોતરી રાખવા જેવો છે. ઘરમાં કૂલોને બદલે આ શ્લોકથી ઘરને સુશોભિત કરવા જેવું છે. કહે છે :-

જયં ચરે જયં ચિદ્દે, જય માસે જયં સએ ।

જયં ભુંજતો, ભાસંતો, પાવકમ્મ ન બંધઈ ॥૮॥

અર્થાત્ ઈર્ષ્યા સમિતિપૂર્વક ચાલવું, ઉપયોગપૂર્વક ઊભા રહેવું, ઉપયોગપૂર્વક યત્નાપૂર્વક, જ્યાગાપૂર્વક બેસવું, જગૃતિપૂર્વક સૂવું, સંવિત્તિથી ભોજન કરવું અને સમજી વિચારી સંભાળપૂર્વક બોલવું. તેમ કરવાથી પાપ કર્મ બંધાય નહિં.

ચિત્ત અને ચેતનાની સતત જગૃતિપૂર્વક સાવધાની ને સાવચેતીપૂર્વક શુભ હેતુ અને ઉપયોગપૂર્વક, અપ્રમત્ત દશામાં, વિવેકપૂર્વક, અપ્રમાદપૂર્વક જ્યાગાપૂર્વક, યત્નાપૂર્વક જે ચાલે છે, ઊભો રહે છે, બેસે છે, સૂએ છે, ભોજન કરે છે અને બોલે છે, તે પાપકર્મોથી બંધાતો નથી.

માણસના બધાં કામ કુંટુંબીઓ, કર્મચારીઓ કે મશીનો કરતા હોય, તો માણસને જે નિરાંત-ફૂરસદ મળે છે, ત્યારે માણસ કઈ તરફ વળે છે ?

માણસ ફૂરસદનો સમય કેવી રીતે ગાળે છે, એ જ એનાં મનુષ્યત્વ - મનુષ્યપાણી કસોટી છે.

માણસ નિરાંત અનુભવે છે, ત્યારે નિરાંતની પળોમાં પણ નિરાંતે વિચારી શકતો નથી. વિચારવા માગતો જ નથી કે નિરાંતના સમયનો સદુપયોગ કેમ કરવો.

પ્રવૃત્તિહીન માનવી એકલો પડે છે. ત્યારે જરૂર વગર ખાય છે. માનવી પોતાની અપર્યાપ્તિ સામાન્યપણે ભોજનથી ભરતો હોય છે. પછી ઘેન ચડે છે. ઊંઘી જાય છે. ઊંઘ્યા પછી પણ મોટો પ્રશ્નાર્થ ચિહ્ન તો રાક્ષસની જેમ મોઢું ફાડી ઊભો જ હોય છે- માણસ વિડિયો ટી.વી. પાનાં શોધે છે. કલબની યાત્રા કરે છે. મિત્રો શોધે છે. અને એ અભિયાનમાં એને એજ મિત્રો મળે છે, જે એના જેવાને જ શોધતા હોય છે. એવા મિત્રો જે પોતાની કોઈ જ જીવનસાર્થકતા માટે ઉપયોગી હોતા નથી.

માત્ર સમય પસાર કરવાના, હણવાના એક સાધન તરીકે તમારો મિત્ર તમારા માટે હોય, તો એવા મિત્રનો ને એવી મૈત્રીનો અર્થ શો ?

શાસ્ત્રમાં કહ્યું છે એકલા બેસી રહેજે, પણ નકામા મિત્રોનો સંગ કરતા નહિ. પણ માણસને

હૃદયની એકાંત ગુહામાં શાંતિ જડતી નથી, ચૈન પડતું નથી, ત્યારે સંગ શોધે છે.

આ સંગ કોઈ સત્સંગ નથી હોતો. આ માત્ર કુછંદ હોય છે. હેતુવિહીન પછી વાતચીતો વાર્તાલાપ ચાલે છે. એ માત્ર મોજશોખનો વિનોદ છે. સમય ગાળવાનું એક સાધન બહાનું છે. એકાંત ખાઈ ન જાય તે માટેના ગપ્પાં જ હોય છે. જેનું આયુષ્ય ચોવીસ કલાકનું જ હોય છે એવી ઘટનાઓ વાતો જે છાપાંમાં આવતી હોય છે, એની ચર્ચા ક્યારેક ઉગ્ર ચર્ચામાં કે સિનેમાના વિશ્લેષણમાં કે કોઈની નિંદા કુથલીમાં કે પોતાના અહમ્ને છતી કરતી વાતોમાં નિર્થકપાત્રે સમય હાણાઈ જાય છે અને માણસ મગજમાં કચરો ભરી, પેટમાં કચરો ભરી પાછો ફરતો હોય છે.

માણસ એકાંતથી ડરે છે. એ એકક્ષણ પાણ એકલો રહેવા માંગતો નથી, કારણકે એકાંતમાં એને પોતાની સાથે જ મુલાકાત થઈ જાય છે. મુલાકાત જ નહિં, પાણ મુકાબલો. ત્યારે અંદરવાળો એને સત્તર સવાલ પૂછે છે, જેનો માણસ પાસે જવાબ હોતો નથી.

એકાંત સમયની નીરવતા એની આંખો સમક્ષ પોતાનીજ વશ્ચાલંકાર વિહોણી વરવી છબિ પ્રગટાવે છે એ છબિ જેનાથી એ હમેશાં ભાગતો હોય છે. આ જ દોડ માણસને પીઠા સુધી કે કોઠા સુધી લઈ જાય છે.

સમયને હણવાના સાધન તરીકે નહિ, પણ પળ જીવવાના સાધન તરીકે ઉપયોગમાં લેવા યોગ્ય મિત્રોને શોધો. શોધતા રહો. આચારાંગસૂત્રમાં કહ્યું છે કે જેના સંગથી સત્ય તરફ દ્રષ્ટિ ઢળે, તે સત્સંગ. ઉપનિષદમાં કહ્યું છે.

સત્યાત્ ન પ્રમદિતવ્યમ્ ધર્માત્ ન પ્રમદિતવ્યમ્ ।

કુશલાત્ ન પ્રમદિતવ્યમ્ ભૂત્યૈ ન પ્રમદિતવ્યમ્ ।

સ્વાધ્યાય પ્રવચનાભ્યાં ન પ્રમદિતવ્યમ્ ।

દેવપિતૃ કાર્યાભ્યાં ન પ્રમદિતવ્યમ્ ॥

અર્થાત્ સત્યમાં પ્રમાદ કરીશ નહિ. ધર્માચરણમાં પ્રમાદ કરીશ નહિ, સ્વાસ્થ્ય સાચવવામાં પ્રમાદ કરીશ નહિ. ઉત્તરિના માર્ગે આજસ કરીશ નહિ. સ્વાધ્યાય અને પ્રવચનમાં પ્રમાદ કરીશ નહિ દેવ અને પિતૃના કાર્યમાં પ્રમાદ કરીશ નહિ.

ગૌતમ સ્વામીએ ભગવાનને પૂછ્યું હે ભગવન્ ! ધર્મકથા સાંભળવાથી શું લાભ થાય ?

ભગવાને કહ્યું, હે ગૌતમ ! ધર્મકથા સાંભળવાથી સાંભળનારની તેમજ સંભળાવનારની બેઉનાં કર્મની નિર્જરા થાય છે.

ગીતામાં શ્રીકૃષ્ણ કહે છે

તપસ્ત્વજ્ઞાનજં વિદ્રિ મોહનં સર્વદેહિનામ્ ।

પ્રમાદાલસ્યનિદ્રા ખિસ્તન્નિબદ્ધનાતિ ભારત ॥

અર્થાત્ હે ભારત ! અજ્ઞાનથી ઉપજેલો તમોગુણ સૌ જીવોને મોહમાં નાખે છે, અને બધા જીવને પ્રમાદ, આજસ તથા નિદ્રાનાં બંધનથી બાંધે છે.

સત્વં સુખે સંજયતિ રજ : કર્મણિ ભારત ।

જ્ઞાનમાવૃત્ય તુ તમ : પ્રમાદે સંજયત્યુત ॥૧૧॥

અર્થાત્ હે ભારત ! સત્ત્વગુણ જીવને સુખ સાથે બાંધે છે, રજોગુણ કર્મ સાથે બાંધે છે અને તમોગુણ તો જ્ઞાનને ઢાંકી ગાંડપાણ સાથે બાંધે છે.

અપ્રકાશોપ્રવૃતિશ્ચ પ્રમાદો મોહ એવં ચ ।

તપસ્યેતાનિ જાયન્તે વિવૃદ્ધે કુરુનંદન ॥૧૩॥

અર્થાત્ હે કુરુનંદન ! જ્યારે અજ્ઞાનરૂપી અંધકાર, અપ્રવૃત્તિ, નિષ્ક્રિયતા અને પ્રમાદ, ગાંડપાણ, મોહ, મૂઢતા બધા તમોગુણની વૃદ્ધિ થતાં ઉત્પન્ન થાય છે.

એટલે તમોગુણની વૃદ્ધિ સાથે અજ્ઞાન, જડતા, ઉન્માદ અને મૂઢતા આ બધા જ ઉત્પન્ન થાય છે.

કર્મણ : સુકૃતસ્યાહુ : સાત્ત્વિકં નિર્મલં ફલમ્ ।

રજમસ્તુ ફલં દુઃખમજ્ઞાનં તમસ : ફલમ્ ॥૧૬॥

અર્થાત્ સાત્ત્વિક કર્મનું ફળ સાત્ત્વિકતાં અને શુદ્ધિ છે, રાજસી કર્મનું ફળ દુઃખ છે અને તાપસી કર્મનું ફળ અજ્ઞાન છે.

સમયં ગૌયમ મા પમાયણ સર્વજ્ઞ ભગવાન મહાવીરિ ઉચ્ચારેલા આ શબ્દો હે ગૌતમ ! જ્ઞાણ માત્રનો પ્રમાદ ન કર ! શાશ્વતીને પામી, કાળને અતિક્રમી કાળાતીત બની ગયાં. અનેક શબ્દોનાં ધ્વનિ પળમાત્રમાં કાળમાં વિલય થઈ ગરક થઈ જાય છે. પરંતુ આ ચાર અદ્ભુત શબ્દો અઢીહજાર વર્ષથી હજી પૃથ્વી પર ગુંજે છે. લોકહૈયામાં આત્મસાત્ થઈ ગયાં છે. મંત્ર સ્વરૂપ થઈ ગયાં.

કોઈપણ શબ્દની શક્તિ બોલનારનાં સામર્થ્ય અને પ્રજ્ઞા પર આધારિત છે.

યુગપુરુષ મહાવીરિ આ યુગપ્રવર્તક શબ્દો લબ્ધિધારી ગૌતમસ્વામીને ઉદ્દેશીને કહેલાં છે, પરંતુ એક અપેક્ષાએ આ શબ્દો સમસ્ત માનવજાતને ઉદ્દેશીને કહેલાં છે. દીર્ઘતપસ્વી, કેવળજ્ઞાની તીર્થકંઠ ભગવાન મહાવીરનાં હૃદયનાં અતલ ઊંડાણમાંથી સર્વ જીવોના હિત અર્થે, જ્ઞાનનાં, અનુભૂતિનાં નિયોડરૂપ મંત્રસ્વરૂપ શબ્દો દિવ્ય, પારસમણિ જેવા પારલૌકિક શબ્દો છે.

આ શબ્દો આગમ ગ્રંથોમાં અનેક વાર આવે છે. ઉત્તરાધ્યનના દસમાં અધ્યયનમાં તો પ્રત્યેક ગાથાનું આ છેલ્લું ચરણ છે.

જ્ઞાણમાત્રનો પ્રમાદ ન કરે એમાં ભગવાન મહાવીરિ પ્રમાદ આજસ નો સર્વથા નિષેધ ફરમાવી અપ્રમાદ જાગરૂકતા, અપ્રમત્ત અવસ્થાને ઉત્કૃષ્ટ પ્રતિષ્ઠા અર્પી.

હિંસામાંથી, તમસ્માંથી, અંધકારમાંથી પ્રમાદનો ઉદ્ભવ થાય છે. પ્રમાદની ભૂમિમાં કપાયના છોડ ઊગે છે.

જે પ્રકારના માણસો હોય છે. એક જે અંધકારમાં પાણ જાગે છે, અને બીજા જે પ્રકાશમાં પાણ ઊંઘતા હોય છે.

પ્રમાદ અને અપ્રમાદનો આ જ ભેદ છે. 'સમય માત્રનો પ્રમાદ ન કર' માં સમયનો સાદો અર્થ છે કાળ. જૈન પારિભાષક અર્થમાં સમય એટલે કાળનું નાનામાં નાનું, છેલ્લું અવિભાજ્ય એકમ અથવા યુનિટ આંખનાં એક પલકારામાં આઠ કરતાં પાણ વધારે સમય વીતી જાય છે.

દૃષ્ટાંતોથી એવી રીતે સમજાવી શકાય, કે ફૂલની સો કે હજાર પાંખડીઓ સાથે રાખીને ક્ષણ માત્રમાં સોયથી કોઈ આરપાર વીંધી નાખે, તો તેમાં એક પાંખડીમાંથી પસાર થઈને સોય બીજી પાંખડીમાં પ્રવેશે, એટલો સૂક્ષ્મતમ કાળને સમયની સંજ્ઞા આપવામાં આવી છે. વળી કોઈ માણસ એક લાંબા જીર્ણ વસ્ત્રને એક ઝાટકે નિમિષમાત્રમાં ફાડી નાખે, તો એક તાંતણો તૂટ્યા પછી બીજો તાંતણો તૂટે એની વચ્ચેનો સમયગાળો કેટલો ? તેટલા સૂક્ષ્મકાળને માટે સમય શબ્દ વાપરી શકાય. ઉત્તરાધ્યયનમાં દસમાં અધ્યાય-દુમપત્રક-વૃક્ષનું પાંદડુમાં પ્રથમ ગાથામાં જ કહ્યું છે.

દુમ પત્તए - પંડુयए जहा,

निवडइ राइगणाण अज्जए ।

एवं मणुयाण जीवियं

समयं गोयम ! मा पमायए ॥ (गा. ।)

જેમ રાત્રિઓ વીતતાં વૃક્ષનાં પાંદળાં પીળાં થઈ ખરી પડે છે, તેમ મનુષ્યજીવનનો પાણ ગમે ત્યારે અંત આવી જાય છે. મનુષ્યજીવન ક્ષણભંગુર અને અશાશ્વત છે, એમ સમજી હે ગૌતમ ! તું સમય માત્રનો પ્રમાદ કરીશ નહિ.

માનવભવ મળ્યા પછી પાણ યથાર્થ સાચો ધર્મ મળવો કઠિન થઈ પડે છે. ભોગ ભોગવવાની અતૃપ્ત વૃત્તિ તો દરેક જન્મમાં બાકી જ રહે છે. કોઈ કાળે પરિતૃપ્તિ પામતી જ નથી. માટે જાગૃત અને વિવેકી આત્માએ મનુષ્યજીવનના અલ્પ કાળમાં ધર્મને સાધી લેવો એ જ કર્તવ્ય છે. માટે ભગવાન મહાવીરે માત્ર ગૌતમને જ નહિ, પાણ સમસ્ત વિશ્વની માનવજાતને ઉપદેશ આપ્યો છે કે આત્મસાધનામાં ક્ષણ માત્રનો સમય માત્રનો પ્રમાદ ન કરવો.

એક તબક્કે, એક સમયે એક અવસ્થામાં લાંબુ લાગતું જીવન સરવાળે પરપોટા જેવું સાબતિ થાય છે.

અલપજલપમાં જ મનુષ્ય જીવનની સંધ્યાએ પહોંચી જાય છે.

એટલે જ મનુષ્યપાણાનો એક સમય એક ક્ષણ પરમ મૂલ્યવાન છે. એનું વૈશિષ્ટ્ય એટલે મોક્ષની

સાધનાના કારણરૂપ હોવાથી તેને મોક્ષની સાધન કહ્યું છે. સૃષ્ટિની તમામ જીવરાશિમાં મનુષ્ય ટોચ પર છે. મનુષ્ય જ બુદ્ધિ, વિવેક અને પ્રજ્ઞાથી વિભૂષિત છે. સાધના અર્થ જ એનો મહિમા છે. નહિતો પશુના દેહ જેટલી પણ તેની કિંમત નથી. ચક્રવર્તીની સમસ્ત સંપત્તિ કરતાં મનુષ્યદેહની એક પણ પણ વિશેષ મૂલ્યવાન છે.

શરીર ધર્મની આરાધના-સાધના માટેનું માધ્યમ છે. અને એજ અપેક્ષાએ મનુષ્યદેહને શુભ કહ્યો છે. બાકી તો માટીની માટી જ છે.

જેનાં વડે ઊંચામાં ઊંચું કામ લઈ શકાય એવું કોઈ શરીર હોય, તો તે માનવશરીર છે. એને આજસુ એટી બનાવાય નહિં, એને પ્રમાદવશ પાપથી અભડાવાય નહિ. એની સાથે ચેડાં ન કરાય. મંદિરની જેમ સ્વચ્છ અને પવિત્ર રાખવાની અપેક્ષાએ જ સર્જનહારે તે આપાગને સોંપ્યું છે.

પાંદડાનું જ પ્રતીક લઈ બીજી ગાથામાં ભગવાન કહે છે :

કુસંગે જહ ઓસબિન્દુએ,
થોવં ચિદ્વદ્ લમ્બમાણા ।
એવં મણુયાણ જીવિયં,
સમયં ગોયમ ! મા પમાયણ ॥

જેમ દાભની આગી પર રહેલું ઝાકળનું બિંદુ પડવાની તૈયારીમાં રહે છે, એક ક્ષણ માત્ર ટકીને સરી પડે છે, તેવી રીતે મનુષ્યનું જીવન પણ પડવાની તૈયારીમાં જ રહે છે. ઘણું અસ્થિર અને ટૂંકું છે. અલ્પ સમય જ ટકે છે. માટે હે ગૌતમ ! તું સમય માત્રનો પ્રમાદ કરીશ નહિં. કોઈ પ્રમાદ સેવવો યોગ્ય નથી. જીવન ક્ષણભંગુર છે.

સ્વીન્દ્રનાથ ટાગોર આ જ વાત કવિતામાં કહે છે :

Let your Life lightly dance on the edges of Time, like a dew drop on the tip of a leaf.

ટાગોરે અવશ્ય ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર વાંચ્યું હશે !

ક્ષણભંગુરતા વિષે સૂત્રોમાં કહ્યું છે :

જન્મ સાથે મૃત્યુ જોડાયેલું છે, અને યૌવન હડાપણ સાથે. લક્ષ્મી ચંચળ છે. આ પ્રકારે (સંસારમાં) બધું જ ક્ષણભંગુર છે, અનિત્ય છે.

સંસારમાંની બધીજ વસ્તુઓ અંગેની અનિત્યતા, ક્ષણભંગુરતા ખાસ કરીને જૈનદર્શન અને બૌદ્ધદર્શનમાં સ્પષ્ટપણે અને ભારપૂર્વક દર્શાવવામાં આવી છે.

જન્મ સાથે મૃત્યુ જોડાયેલું છે. મૃત્યુ એ કોઈ અલગ ઘટના નથી.

It is not an event, but a Process.

Death belongs to life, as Birth does. in None.

જેમ જન્મ એ જીવનનો હિસ્સો છે, તેમ મૃત્યુ પણ જીવનનો જ હિસ્સો છે.

અને End is Linked to the Beginning. અને મૃત્યુ ફરી નવા જન્મ સાથે સંકળાયેલું છે.

મૃત્યુ, અને વૃધ્ધાવસ્થાની વાસ્તવિકતા અને લક્ષ્મીની ચંચળતા પૂરી રીતે સમજવા છતાં પણ માણસ આખું જીવન તૃષ્ણામાં મૂર્છામાં વીતાવી દે છે. મૃત્યુ જાણે કદી આવવાનું જ ન હોય, એ રીતે જીવનની છેલ્લી ક્ષણ સુધી માણસ સાંસારિક એપણાઓમાં લપેટાઈ કરમાતો અને યોજનાઓમાં જ વ્યસ્ત રહે છે.

તિણ્ણો હુ સિ અણ્ણવં મહં,
કિં પુણ ચિદ્ધસિ તીરમાગઓ ।
અભિતુર પારં ગમતિણ,
સમયં ગોયમ ! મા પમાયણ ॥૩૪॥
તીર્ણ : ખલુ અસિ અર્ણવં મહાન્તં,
કિં પુનસ્તિણ્ણસિ તીરમાગત : ।
અથિત્વરસ્વ પારં ગન્તું,
સમયં ગોયમ । મા પમાયણ ॥

હે ગૌતમ ! તું સંસારસમુદ્ર, મહાસાગર, સંસારમાર્ગ તો તરી પાર કરી ગયો છે. તો હવે કઠિ-કિનારે આવીને શા માટે અટકી બેસે છે ? તું સાચી સમજણ, અને શ્રદ્ધાગુણ પ્રાપ્ત કરીને સંયમને માર્ગે જાય છે. તો હવે શા માટે પ્રમાદ સેવે છે ? હવે કઠિ આવીને શા માટે ઊભો છે ? તું સામે પાર પહોંચવા માટે શીઘ્રતા કર, ત્વરા કર. હે ગૌતમ ક્ષણ માત્રનો પ્રમાદ કર્યા વિના તુ ત્વરાથી ભવપાર કરી જા. જરી પણ પ્રમાદ કરીશ નહિ.

તીર્થકરોની સમગ્ર વાણીને જો માત્ર બે શબ્દોમાં વર્ણવવી હોય, તો તે બે શબ્દો છે : સમતા અને અપ્રમાદ. આથી જ મહાવીરસ્વામી શિષ્ય ગૌતમને વારંવાર ચેતવે છે કે હે ગૌતમ ક્ષણ માત્રનો પ્રમાદ ન કર.

અહીં ઉદાહરણ પણ સુંદર આપવામાં આવ્યું છે. અનેક તોફાની મહાસાગરો પાર કરીને કિનારા આગળ જ અટકી જવાની કે ડૂબવાની સંભાવના પ્રત્યે સાવધ કરવામાં આવ્યા છે. સાધક માટે નિરંતર ક્ષણે ક્ષણની જાગૃતિ, માત્ર આવશ્યક જ નહિં, પણ અનિવાર્ય છે. જેવી રીતે સો પગથિયાં ભારે પરિશ્રમપૂર્વક ચડયાં પછી, પર્વતની ટોચ નજીક પહોંચ્યા પછી એક પણ ક્ષણની નાનકડી બેદરકારી, બેધ્યાનપણું ઠેક નીચે સુધી પતન કરી ભોંયભેગો કરી શકે છે, તેમ વર્ષોની કઠોર સાધના માત્ર એક પળની મોહનિદ્રા એક ક્ષણના ઝોકાંથી નષ્ટ થઈ શકે છે.

આવાં અનેક દૃષ્ટાંતો કથાઓ આપણા તેમજ અન્ય શાસ્ત્રોમાં તો છે જ, પરંતુ આપણી આસપાસની દુનિયામાં છે. બહાર દૃષ્ટિ પાણ કરવાની જરૂર નથી. આપણાં મનનાં ખૂણામાં આત્મનિરીક્ષણ કરી તપાસીએ, તો પાણ જોવાં મળશે કે આણીને વખતે સ્હેજ પ્રમાદથી આપણે લક્ષ્ય ચૂકી ગયાં.

કાણનો પાણ વિવેક અને ક્ષાણનો પાણ વિવેક એ સાધનામય જીવન જીવવાનો સોનેરી મંત્ર છે.

કાણ કોઈની ખેવના કરતો નથી, કોઈ માટે થોભતો નથી. એક એક ક્ષાણ આણમોલ છે. દુનિયાભરની સંપત્તિથી પાણ વીની ગયેલી એક ક્ષાણ માત્ર પાણ શ્રીમંત માણસ ખરીદી શકતો નથી. છેલ્લે આણીને ટાંકણે પાણ જરી ઝોંકું કે ઝોંકું આવી ન જાય, એટલા માટે ભગવાને સખત ચેતવાણી આપી છે કે હે ગૌતમ ક્ષાણ માત્રનો પ્રમાદ કરીશ નહિ.

અકલેવર સેણિં ડસિયા,

સિદ્ધં ગોયમ ! લોયં ગચ્છસિ ।

ખેમં ચ સિવં અણુત્તરં,

સમયં ગોપમ ! મા પમાયણ ॥૩૫॥

હે ગૌતમ ! તું મુનિધર્મ વાળા છઠ્ઠે ગુણસ્થાનકે પ્રવર્તે છે. હવે અપ્રમાદી થઈ જા. પ્રમાદ છોડી સંયમની ઉત્તરોત્તર વૃદ્ધિ કરીને અંતર શત્રુઓને એટલે કે કપાય, વિપય, કે જે અવ્યક્ત પડયા છે, તેનો ક્ષય કરતો ક્ષયક શ્રેણીમાં ચડ. તે શ્રેણીને ચરીને તું સિદ્ધલોકને વિષે જરૂર પહોંચીશ. માટે હે ગૌતમ તું ક્ષાણ માત્રનો પ્રમાદ કરીશ નહિ. પ્રમાદ છોડી તું અપ્રમાદી બની જા.

બધ્ધે પરિ-નિવ્વુડે ચરે,

ગામગણ નગરે વ સંજણ ।

ખન્તી-મગ્ગં ચ બૂહણ,

સમયં ગોયમ મા પણાયણ ॥૩૬॥

પ્રબુદ્ધ અને નિવૃત્ત સાધુઓ સંયમ તત્ત્વને બરોબર ઓળખીને ગામ અને નગર વિષે વિચરે છે. ભવ્યજનોને પરમશાંતિનો માર્ગ ઉપદેશે છે. (આત્માની પરમશુદ્ધિ તે જ સર્વોત્તમ મુક્તિ છે. તે જ કલ્યાણકારી છે અને સર્વ પ્રકારનાં ઉપદ્રવરહિત છે.) માટે હે ગૌતમ ! સમય માત્રનો પ્રમાદ કરીશ નહિ. અપ્રમાદી બની જા.

બુદ્ધસ્સ નિસમ્મ ખાસિયં,

સુ બુહિય મદુ પક્ષોવ- સોહિયં ।

રાગં દોસં ચ છિન્દિયા,

સિદ્ધધર્મં ગણ ગોયમે ॥૩૭॥

પરમબુદ્ધ મહાવીરે સુભાષિત અને ઉપમાના દટાંતોથી અલંકૃત થયેલી વાણી સાંભળવાથી ગૌતમ સ્વામીજી રાજદેવને છેદીને દ્રવ્ય અને ભાવથી સિદ્ધિગતિને પામ્યા. કેનેથ વોકરે પોતાના પુસ્તકની અર્પણ નોંધમાં લખ્યું :

To the disturber of my sleep :-

ઉંઘમાં ખલેલ પહોંચાડનારને જાગૃત કરનારને !

એક દંતકથા એવી છે કે ભગવાન મહાવીરને જીવનનાં અંતે પ્રશ્ન પૂછાયો બસ હવે એક જ સૂત્ર એવું કહો, એક જ શીખામણ એવી આપો કે જીવનભર અમને સુખ અને શાંતિનાં પ્રદેશમાં લઈ જાય! ભગવાન ધ્યાનમાં સરી પડ્યા. ઊંડા ઊંતરી ગયા અને ધોડી વારે બોલ્યા :

જાગરહ નરા ! ણિચ્ચં, જાગરમાણસ્સ બહ્વતે બુદ્ધો ।

જો સુવત્તિ ણ સો ધત્ત્રા,

જો જગ્ગતિ સો સયા ધત્ત્રો ॥

જાગૃત નરા : નિત્વં

જાગરમાણસ્ય વર્દ્ધતે બુદ્ધિ : ।

ય: સ્વપિત્તિ ન સો ધન્ય :,

ય: જાગર્તિ સ સદા ધન્ય : ॥

અર્થાત મનુષ્યો ! સતત જાગૃત રહો. જે જાગે છે, એની બુદ્ધિ વધે છે. જે સૂએ છે, એ ધન્ય નથી, ધન્ય એ છે, જે સદા જાગતો હોય છે. હે મનુષ્ય જાગ !

આ વચનો શાસ્ત્રોમાં નોંધાયેલાં છે.

પણ દંતકથા એવી છે કે આ સૂત્ર બોલ્યા પછી ભગવાન કશું બોલ્યા જ નથી !

જ્યંતી શ્રાવિકાએ ભગવાન મહાવીરને પૂછ્યું પ્રભુ ! જાગવું સારું કે સૂવું ?

ભગવાને કહ્યું બત્રે. ધર્મી જીવ માટે જાગવું સારું અને અધર્મીને માટે સૂવું સારું.

ભગવાને અનેકાન્ત દષ્ટિથી સુંદર જવાબ આપ્યો. જે અધર્મમા વ્યસ્ત છે, તે સૂએ એજ સારું એટલો અધર્મ ઓછો થાય. દા.ત., એક ચોર રાતે જાગે છે. ચોરી કરવા માટે આવા ચોર માટે તો રાતે સૂવું જ સારું.

જ્યારે ધર્મપ્રત્યે જે અભિમુખ છે, એને માટે તો જાગવું જ સારું. એવો જીવ જો પ્રમાદમાં સરી પડે, જાગૃતિ-જાગૃક્તામાંથી ભટ થઈ જાય, તો તે જીવને જ હાનિ પહોંચે છે. આવા સાધક ખરાબ કામ ન કરે, પણ જો જાગૃતિ ન સેવે, તો ધર્મરાધનાથી વંચિત રહી જાય.

ભગવાન મહાવીરને એક પ્રશ્ન પૂછવામાં આવ્યો. પ્રભુ ! અમે શું કરીએ અને શું ન કરીએ ?

ભગવાને કહ્યું જે કંઈ કરો, તે જાગ્રત રહીને કરજો !

ભગવાને એક વાક્યમાં સાર કહી દીધો ... જે પણ કંઈ કરો તે અપ્રમત્તદશામાં કરો. પ્રમાદવશ નહિ, તો પાપકર્મ ન બંધાય. અપ્રમત્ત સાધક કદી દુષ્કર્મોમાં પ્રવિષ્ટ ન થાય. એવાં કર્મોથી ન લેવાય. જે જાગૃત છે, એના માટે ખરાબ કર્મ, વિચારવાં, બોલવાં કે આચરવાં અશક્ય બની જાય. એટલે જ છેવટે સુધી સાધકને અપ્રમત્ત દશામાં, સતત જાગૃતિની અવસ્થામાં રહેવાનું સૂચવાયું છે. ચોથા ગુણસ્થાનક પછીનાં ગુણસ્થાનકો સમ્યગ્દર્શન વાળાં જ હોય છે, કારણકે એમાં ઉત્તરોત્તર વિકાસ અને દષ્ટિની શુદ્ધિ અધિકાધિક થતી રહે છે. મોહની પ્રધાન શક્તિ, દર્શન મોહનીયનો ક્ષયોપશય કરી લીધા પછી પણ જ્યાં સુધી મોહની બીજી શક્તિ, ચારિત્રમોહનીયનો ક્ષયોપશય જ્યાં સુધી કરવામાં ન આવે ત્યાં સુધી સ્વરૂપ - સ્થિતિ પ્રાપ્ત થતી નથી. જ્યારે આત્મા ચારિત્રમોહને અંશતઃ શિથિલ કરે છે, ત્યારે આત્માની વિશેષ ઉત્તતિ થાય છે. અંશતઃ સ્વરૂપ સ્થિરતા અને પરપરિણતિ ત્યાગ થવાથી આ ગુણસ્થાનકે આત્માને સવિશે, શાંતિ મળે છે.

સમ્યગ્દષ્ટિપૂર્વક ગૃહસ્થ ધર્મનાં વ્રતોનું યથોચિત પાલન કરવું, એ દેશવિરતિ છે. સર્વથા નહિ, પણ દેશતઃ અર્થાત અંશતઃ વિરતિ એટલે ચોક્કસપણે પાપયોગથી વિરત થવું મર્યાદિત વિરતિ, પાપ વ્યાપારોનો સર્વથા ત્યાગ નથી થતો.

આ ગુણસ્થાનકે જીવ અનેક ગુણોથી સુશોભિત બને છે. જિનેન્દ્રભક્તિ, ગુરુઉપાસના, અન્ય જીવો પર અનુકંપા, સુયાત્ર દાન, સત્શાસ્ત્રનું શ્રવણ, બાર વ્રતોનું પાલન, વગેરે બાહ્ય-અભ્યંતર ધર્મ આરાધનાથી વિકાસશીલ જીવાત્માનું જીવન શોભાયમાન બને છે. છઠું પ્રમત્તસંયત ગુણસ્થાનક.

વ્યક્તાવ્યક્ત પ્રમાદે યો વસતિ ।

પ્રમત્તસંયતો ભવતિ ॥

સકલ ગુણ શીલકલિતો, મહાવ્રતી ચિત્રંલાચરણ : ॥

(સમાગસુત્ત-૫૫૪)

અર્થાત : જેણે મહાવ્રત ધારણ કરી લીધા છે, સકળ શીલ ગુણથી સમન્વિત થઈ ગયો છે, છતાં હજી જેનામાં વ્યક્ત-અવ્યક્તરૂપમાં પ્રમાદ શેષ છે, એ પ્રમત્તસંયત ગુણસ્થાનવર્તી કહેવાય છે. એનું વ્રતાચરણ કિંચિત સદોષ હોય છે.

મહાવ્રતધારી સાધુજીવનનું આ ગુણસ્થાન કહેવાય છે. આ ગુણસ્થાને આત્મામાં પૌદ્ગલિક ભાવો પ્રત્યે મૂર્છા નથી રહેતી સાધક આત્મા સ્વરૂપની અભિવ્યક્તિ કરવામાં તક્ષીન રહે છે. આ ગુણસ્થાનકે આત્માકલ્યાણની સાથે લોકકલ્યાણની ભાવના અને તદનુસાર પ્રવૃત્તિ પણ રહે છે. જેને કારણે ક્યારે-ક્યારે થોડા ઘણાં પ્રમાણમાં પ્રમાદ આવી જાય છે.

અહીં સર્વવિરતિ હોવા છતાં પ્રમાદ સંભવે છે. ક્યારેક ક્યારેક કર્તવ્ય-કાર્ય ઉપસ્થિત થવા છતાં આલસ્યને લીધે જ અનાદરબુદ્ધિ પેદા થાય છે, તે પ્રમાદ છે. પરંતુ જેમ ઉચિત માત્રામાં ભોજન કે ઉચિત માત્રમાં નિદ્રા પ્રમાદ ગણાતી નથી, તેમ કષાય પણ મંદ દશામાં હોતાં અહીં પ્રમાદ ગણવામાં આવ્યો નથી પણ જે તીવ્રતા ધારણ કરે, તો તે પ્રમાદ છે.

વળી અહીં સંજ્વલન કષાયોનો ઉદય પણ હોય છે. એને કારણે વિકથા આદિ પ્રમાદનો આત્મા પર પ્રભાવ રહે છે. માટે આ ગુણસ્થાનકનું નામ પ્રમત્ત સંયત છે. એમ તો કષાયોદય આગળ સાતમામાં પણ છે, દશમાં ગુણસ્થાનક સુધી છે. પણ મંદ થતો જતો હોઈ તે પ્રમાદ કહેવાતો નથી.

શ્રી પ્રવચન સારોદ્ધાર ગ્રંથમાં પ્રમત્ત સંયત શબ્દની વ્યુત્પત્તિ આ પ્રમાણે કરવામાં આવી છે.

સંયच्छति स्म-सर्वसावद्ययोगेभ्यः

सम्यगुपरमति स्मति स्येतः ।

प्रमाद्यति स्म - मोहनीयादिकर्मोदयप्रभावतः

संज्वलन कषायनिद्राद्यिन्यतमप्रमाद योगतः

संयमयोगेषु सीदति स्मेति प्रमत्तः स

चासौ संयतश्च प्रमत्तसंयतः ॥

સર્વ સાવદ્ય યોગોથી વિરામ પામે તે સંયત. મોહનીયાદિ કર્મોના ઉદયથી તથા નિદ્રાદિ પ્રમાદનાં કારણે સંયમયોગોમાં અતિચાર લગાડે માટે પ્રમત્ત સંયત કહેવાય.

આ ગુણસ્થાનક આત્મગુણોના વિકાસની એક ઉચ્ચ ભૂમિકા છે. અહીં આત્મા ક્ષમા-આર્જવ-માર્દવ-શૌચ-સંયમ-ત્યાગ-તપ-સત્ય-બ્રહ્મચર્ય-આક્રિયન્ય આ દસ યતિધર્મોનું પાલન કરે છે. અનિત્યાદિ ભાવનાઓથી આત્માને ભાવિત કરી, વિષય-કષાયોને વશ રાખે છે. સર્વ યાત્રોના ત્યાગરૂપ પવિત્ર જીવન જીવે છે. કોઈપણ જીવને તે દુ ખ આપતો નથી.

સમ્યગ્દર્શન અને સમ્યગ્જ્ઞાન પ્રાપ્ત થવાં સરળ નથી. એ પ્રાપ્ત થવા પછી પણ તદનુસાર સમ્યગ્ચારિત્ર ઘડવું એ પણ ઘણું દુષ્કર છે. પ્રમાદ એમાં મહત્વનો ભાગ ભજવે છે. મોહનીય કર્મ જીવને ભગાડે છે. સૂક્ષ્માતિસૂક્ષ્મ રાગ જીવથી છૂટતો નથી. વીતરાગપણું સહેલાઈથી મેળવી શકાતું નથી. અથવા મેળવ્યું હોય, મેળવ્યું હોવા છતાં પ્રમાદને કારણે ન મેળવ્યા જેવું ઘડીએ ઘડીએ ચાલ્યા કરે છે. ગુણસ્થાનકે જીવ પ્રમાદના કારણે જ સ્થિર થઈ શકતો નથી. અને છઠ્ઠા તથા સાતમા ગુણસ્થાનક વચ્ચે જીવ અનેકવાર ચઢ-ઊતર કર્યા કરે છે, ઝૂલ્યા કરે છે.

સાતમા અપ્રમત્તગુણસ્થાન માટે કહ્યું છે :

નષ્ટ્રશેષ પ્રમાદો વ્રતગુણશીલાવલિમણ્ડિતો જ્ઞાની ।

અનુપશમક : અક્ષપકો

ધ્યાનનિલીનો હિ અપ્રમત્ત : સઃ ॥

(સમગ્રસુત્તઃ ગા. ૫૫૫)

જેનું વ્યક્ત - અવ્યક્ત સંપૂર્ણ પ્રમાદ નિઃશેષ નષ્ટ થઈ ગયું છે, જે જ્ઞાની હોવાની સાથોસાથ વ્રત, ગુણ અને શીલની માળાથી સુશોભિત છે, તેમ છતાં જે ન તો મોહનીય કર્મનું ઉપશમ કરે છે, ન ક્ષય કરે છે, કેવળ આત્મજ્ઞાનમાં લીન રહે છે, એ શ્રમાગ્ર અપ્રમત્તસંયત ગુણસ્થાનવર્તી કહેવાય છે.

પ્રમાદથી મુક્ત મુનિવરનું આ સાતમું ગુણસ્થાનક છે. અહીં અપ્રમાદજનિત વિશિષ્ટ શાંતિનો અનુભવ કરવાની પ્રબળ આકાંક્ષાથી પ્રેરિત બની આત્મા પ્રમાદનો ત્યાગ કરે છે, અને સ્વરૂપની અભિવ્યક્તિને અનુકૂળ મનન ચિંતન સિવાય અન્ય બધી જ પ્રવૃત્તિઓનો ત્યાગ કરી દે છે. અહીં અપ્રમાદજન્ય ઉન્નટ્ટ સુખનો અનુભવ આત્માને એ જ સ્થિતિમાં રહેવા પ્રેરિત કરે છે, જ્યારે પ્રમાદજન્ય પૂર્વવાસનાઓ એને પોતાની તરફ ખેંચે છે. આ ખેંચતાગુમાં વિકાસગામી આત્મા ક્યારેક તંદ્રા તરફ છટકા ગુણસ્થાનક તરફ તો ક્યારેક અપ્રમાદની જગૃતિ-સાતમાગુણસ્થાનક તરફ આવતો જતો રહે છે.

સંયમી મનુષ્ય ઘણીવાર પ્રમત્ત અને અપ્રમત્ત અવસ્થામાં ઝોલાં ખાતો હોય છે. કર્તવ્યમાં ઉન્સાહ અને સાવધાની રહે, તે અપ્રમત્ત અવસ્થા છે. એ અવસ્થામાં અલિપ્તપાણું આવતાં થોડા વખત પછી પ્રમત્તતા આવી જાય છે. છટકા અને સાતમા ગુણસ્થાનક વચ્ચે આ ઝૂલાગ ચાલ્યા કરે છે.

પરંતુ વારંવાર સ્થિર થવાનો મહાવરો, અભ્યાસ, અને આયાસ જેઓ અનેક વખત કરતાં રહે છે તેઓ તેના ઉપર સ્થિર થઈ જાય છે. કોઈ વિરલ આત્માઓ જ પ્રથમ પ્રયાસે અપ્રમત્ત બનીને સ્થિર થઈ શકે છે, અને ઉર્ધ્વગામી બને છે.

ચિત્તની આ ક્રિયા અતિ સૂક્ષ્મ છે. ભગવાને એટલા માટે વારંવાર ચેતવાણી આપતાં કહ્યું છે સમયમાત્રનો પ્રમાદ ન કરીશ. કારણ સતત, અવિરત, ચૈતન્યવંત, સંપૂર્ણજગૃતિ સહ, પળે પળની, ક્ષણાર્ધથી પણ ક્ષણાર્ધની અસ્ખલિત જાગૃક દશા અપેક્ષિત છે. તે વગર આ ગુણસ્થાનકે સ્થિર થઈ અપ્રમત્ત અવસ્થામાં સ્થિર રહેવું અશક્યવત્ છે. સર્વજ્ઞ મહાવીરસ્વામીએ વારંવાર કહ્યું છે, તે મનુષ્યના ચિત્તની ચંચળતા અને માનવસહજ દુર્બળતા અને શિથિલતાને લક્ષમાં રાખી, એક મંત્રની જેમ આ આદેશનું પુન પુન ઉચ્ચારણ કર્યું છે. ભગવાનની આ વાણી-વચનને દરેકે વધોચિત ગંભીરતાપૂર્વક પ્રહાર કરવાં જોઈએ.

પ્રમાદની સાથે થતાં આંતરિક વૃત્તિઓના બુદ્ધમાં સંઘર્ષમાં આત્મા જે પોતાના ચારિત્રબળને વિશેષ રીતે અભિવ્યક્ત કરે છે, તો તે તમામ પ્રમાદો અને પ્રલોભનોને ઓળંગી, - પાર કરી, સવિશેષ પ્રમત્ત દશા - અવસ્થા પ્રાપ્ત કરી લે છે. અહિં સાધક એવી શક્તિની વૃદ્ધિ કરે છે, એવું સામર્થ્ય પ્રાપ્ત કરે છે, જેનાથી શેષ રહેલી-બચેલી મોહવાસનાને નષ્ટ કરી શકાય.

આ આરોહણ ક્રમમાં પ્રમાદની કેટલી પ્રબળતા છે, તે અસંદિગ્ધપણે અનેક રીતે દર્શાવેલી છે, જેને હળવી રીતે લેવાની નથી.

અપ્રમત્તસંયમ ગુણસ્થાનક પછી બે શ્રેણીઓનો પ્રારંભ થાય છે, ઉપશમ અને ક્ષપક.

ઉપશમ શ્રેણીવાળા તપસ્વી મોહનીય કર્મના ઉપશમ કરતાં અગિયારમાં ગુણસ્થાન સુધી ચડ્યા પછી ફરી મોહનીય કર્મનો ઉદય થવાથી નીચે પડી જાય છે. ક્ષપક શ્રેણીવાળા મોહનીય કર્મના સમૂળગા ક્ષય કરતાં આગળ વધતા જાય છે અને પરિણામે મોક્ષ પ્રાપ્ત કરે છે.

ગુણસ્થાનકો મોક્ષના લક્ષ્ય સુધી પહોંચવા માટેની નિસરણી છે. આ શ્રેણી ચઢતાં જરા પણ ગાફેલ રહે, તો નીચે પડતાં પડતાં પહેલે પગથિયે પણ જઈ પડાય. અગિયારમાં પગથિયે પહોંચેલાને પણ મોહનો ફટકો લાગવાથી એકદમ નીચે પડવાનું થાય છે. એટલે જરા પણ પ્રમાદ ન કરવાનો આદેશ આપ્યો છે. બારમું પગથિયે પહોંચ્યા પછી પડવાનો ભય રહેતો નથી. આઠમે-નવમે પગથિયે મોહનો ક્ષય શરૂ થયા પછી પડવાનો ભય બિલકુલ ટળી જાય છે.

૧૧મે પહોંચેલાને પણ નીચે પડવાનું થાય છે, તે મોહનો ક્ષય નહિ, પણ ઉપશમ કર્યો હોવાને કારણે. પણ જે આઠમે-નવમે મોહનો ઉપશમ નહિ, પણ ક્ષય કરવાની પ્રક્રિયા પ્રારંભ થઈ જાય, તો પછી નીચે પડવાનું અસંભવિત બની જાય છે. આચાર્ય હરિભદ્રસૂરિએ યોગદષ્ટિસમુચ્ચય ગ્રંથમાં ત્રણ યોગોનું પ્રતિપાદન કરેલું છે.

(૧) ઈચ્છાયોગ (૨) શાસ્ત્રયોગ (૩) સામર્થ્ય યોગ.

(૧) ઈચ્છાયોગનું વર્ણન કરતાં આચાર્ય કહે છે :

કર્તુમિચ્છોઃ શ્રુતાર્થસ્ય જ્ઞાનિનોઽપિ પ્રમાદતઃ ।

વિકલો ધર્મયોગો યઃ સ ઇચ્છાયોગઃ ઉચ્યતે ॥

જ્ઞાની પુરુષો શાસ્ત્રાનુસાર અનુષ્ઠાનની ઈચ્છા ધરાવે છે... પણ પ્રમાદથી, અસાધનાથી... એમના ધર્માનુષ્ઠાન વિકલ, અર્થાત દોષયુક્ત થાય છે, હોય છે. આ પણ ઈચ્છવાયોગ્ય છે ! સદિચ્છાને પણ પ્રાથમિક, પ્રારંભિક અવસ્થામાં એમણે યોગને પ્રવેશ આપ્યો છે !

(૨) બીજો છે : શાસ્ત્રયોગ. ગ્રંથકાર કહે છે :

શાસ્ત્રાયોગાસ્તિહ જ્ઞેયો

યથા શક્ત્યઽપ્રમાદિનઃ ।

શ્રાધસ્ય તીવ્રબોધેન

વચસાઽવિકલસ્તથા ॥

આ યોગમાં સાધક પ્રમાદનો ત્યાગ કરીને પોતાની શક્તિ અનુસાર શ્રદ્ધાયુક્ત થઈને અનુષ્ઠાન કરે છે... એ દોષરહિત ધર્મઅનુષ્ઠાન કરે છે.

આચારાંગમાં પ્રશ્ન પૂછ્યો છે : ઘણા જીવો મોક્ષાર્થી હોવા છતાં આ સંસારમાં અનેક પ્રકારે દંડાય છે, દુઃખી થાય છે, ચિંતાથી બળે છે અને રોગોથી પીડાય છે, તેનું શું કારણ હશે ? ગુરુદેવે કહ્યું મોક્ષાર્થી હોવા છતાં જે પ્રમત્ત દશામાં આવી જાય છે, તે ખરેખર આવી શિક્ષાનો અધિકારી જ છે. (કારણ કે જ્યાં સુધી પ્રમાદરૂપ કાતીલ ઝેરનું કુંડું પડ્યું છે, ત્યાં સુધી શાંતિરૂપ અમૃતનાં બિંદુઓ સ્પર્શતા નથી. અને કદાચ ભાવનારૂપે સ્પર્શે છે, તો પણ તેની અંતઃકારણ પર સ્થાયી અસર રહેતી નથી.) માટે મેધાવી સાધક, જે કાર્ય મેં પૂર્વકાળે પ્રમાદથી કરી નાખ્યું તે હવે નહિ કુંડું એવી હૃદયપૂર્વક ભાવના ભાવી સતત જગરૂક રહે.

મદ, વિષય, ક્ષયા, નિંદા અને વિકથા એ પાંચ પ્રમાદો કહેવાય છે તે ભયંકર ઝેરો કહેવાય છે. એ તરફ જે બેદરકાર રહે છે, તે દંડાય છે, પીડાય છે અને વારંવાર આધ્યાત્મિક મૃત્યુ પામે છે. અમૃતનું આસ્વાદન પ્રાપ્ત થાય કે ન થાય, પરંતુ સૌ પ્રથમ તો ઝેરનાં સંસર્ગથી દૂર રહેવાનું કોને મન ન થાય ?

અહિંસકવૃત્તિ એ પ્રમાદરૂપી ઝેરને રોકવાના સાધનરૂપ છે. સંસારનો ત્યાગ કરી સાધુજીવન સ્વીકારનાર શ્રી-પુરુષો જે પાંચ મહાવ્રતોનું પાલન જીવનપર્યંત કરવાનું છે. તેમાં પ્રથમ છે :

(૧) પ્રાણાતિપાત વિરમણ વ્રત

પ્રાણ = જીવ, અતિપાત હિંસા, વિરમણ-અટકવું. જીવહિંસાથી અટકવું, તે પહેલું મહાવ્રત છે.

પ્રમત્તયોગાત્ પ્રાણવ્યપરોપણં હિંસા ।

(તત્યાર્વસૂત્ર - અ. ૭૦

પ્રમાદથી થતા પ્રાણીવધને હિંસા કહેવાય છે.

પ્રમાદ આઠ પ્રકારનાં બતાવવામાં આવ્યા છે.

(૧) અજ્ઞાન (૨) સંશય (૩) વિપર્યાય (૪) રાગ (૫) દ્વેષ (૬) સ્મૃતિભ્રંશ (૭) યોગદુષ્પ્રણિધાન (૮) ધર્મનો અનાદર

આ આઠ પ્રમાદમાંથી ગમે તે પ્રમાદથી ત્રસ કે સ્થાવર, કોઈ પણ જીવની હિંસાથી અટકવું જોઈએ.

પ્રાણીવધાત્ સમ્યગ્જ્ઞાન - શ્રદ્ધાનપૂર્વિકા

નિવૃત્તિ: પ્રથમ વ્રતમ્ ।

(પ્રવચનસારોધારે)

આ હિંસાની નિવૃત્તિ સમ્યગ્ જ્ઞાન-દર્શન પૂર્વક હોવી જોઈએ. સાધુ મન-વચન-કાયાથી હિંસા

કરે નહિં, કરાવે નહિં, તેમજ અનુમોદે નહિં. પ્રત્યક્ષ કે પરોક્ષરૂપે એમાં રજમાત્ર સહયોગી થાય નહિં. તમામ મહાવ્રતોનાં ઉચિત પાલનમાં અપ્રમાદ નિષ્ઠા આવશ્યક છે.

સ્વયમેવાત્મનાત્માનં હિનસ્ત્યાત્યા કષાયવાન્ ।

पूर्व प्राण्यन्तराणां तु

पश्चात्स्याद्वा न वां बधः ॥

(શ્રી સર્વાર્થ સિદ્ધિ, અ. ૭ ગા. ૧૩ ટીકા)

અર્થાત્ : પ્રમાદથી યુક્ત કષાયવાન આત્મા પ્રથમ તો પોતે જ પોતાની હિંસા કરે છે. પછી અન્ય પ્રાણીઓનો ઘાત થાય કે ન થાય.

અન્ય જીવની આયુ બાકી રહી હોય તો તેને મારી શકાતો નથી. પણ જોગે મારવાના ભાવ કર્યા. એટલા માત્રથી જ તે નિઃસંદેહ હિંસક બની ચૂક્યો અને જ્યારે હિંસાનો ભાવ થયો, ત્યારે તે કષાયવાન થયો. કષાયવાન થવું તે જ આત્મઘાત છે.

પ્રમાદવશતા એ આત્માને ઘાતક-આત્માને હાણનારું પ્રથમ પગથિયું છે. હિંસાના ભાવ, મનોહિંસા એ પણ હિંસા જ છે. અનેક કારણોસર એવી હિંસકવૃત્તિથી કોઈનો ઘાત થાય કે ન થાય, પરંતુ હિંસક ભાવ સેવનારનો તો ઘાત થાય જ છે. એ આત્મઘાત છે. માનવીની શુભ વૃત્તિઓનું ઉન્મૂલન થાય છે. હિંસક ભાવો તેજબ જોવા છે. એ તેજબ અન્ય પર પડે ન પડે, અન્યને બાળે કે ન બાળે, પણ જે પાત્રમાં તેજબ હોય, એ પાત્રને તો સળગાવે જ છે. નિમિત્ત અને સંજોગો મળતાં એ અન્યને સળગાવે છે. પ્રજાળે છે અને ઘાત કરે છે. પ્રમાદ વિના હિંસકભાવ, હિંસકવૃત્તિ અસંભવ બની જાય. ગૃહસ્થોનાં બાર વ્રતો આગુવ્રતોમાં પ્રથમ છે : સ્થૂળ પ્રાણાતિપાત વિરમણ વ્રત.

પ્રાણીનાં પ્રાણ હરવા એ પ્રાણાતિપાત. તેથી હઠવું, નિવૃત્ત થવું તે પ્રાણાતિપાત વિરમણ. પ્રાણાતિપાત અથવા હિંસા પોતે જાતે કરવાથી, બીજા પાસે કરાવવાથી, અનુમોદન કરવાથી કે તેમાં નિમિત્તરૂપ થવાથી થાય છે.

મન - વાણી - શરીરબળ (૩), પાંચ ઈન્દ્રિયો (૮) અને આયુષ્ય (૯), તથા સ્વાસોચ્છવાસ (૧૦) એ દશ પ્રાણ છે.

બીજાનાં કે પોતાના, એમાનાં કોઈ પ્રાણ કે પ્રાણોને પ્રમાદથી કે દુર્બુધ્ધિથી હાણવા કે ઈજ પહોંચાડવી એ હિંસા છે.

પ્રમાદ એ જ હિંસા છે, અને અપ્રમાદ અહિંસા. પ્રમાદથી કે દ્વેષથી કોઈને માઠું લગાડવું, કોઈનું અપમાન કરવું, નિંદા-યુગલી કરવી, કોઈને ભય-ત્રાસ આપવો. ટૂંકમાં બીજાના દિલને દુઃખવવું - દુભવવું એ હિંસા છે. સ્થૂળ ક્રિયા ન હોય છતાં કોઈનું બૂઝ ચિંતવવું, તેથી પણ હિંસાનો દોષ ઉત્પન્ન થાય છે. જૂઠ, ચોરી, બેઈમાની, ઠગાઈ, ક્રોધ, લોભ, મદ, ઈર્ષ્યા, દ્વેષ વગેરે વિકારો બધાં ભારોભાર

હિંસારૂપ હોઈ પાપ છે.

મહર્ષિ ઉમાસ્વાતિએ તત્ત્વાર્થસૂત્રમાં અધ્યાય ૭મી ૮મી ગાથામાં કહ્યું છે :

પ્રમત્તયોગાત્ પ્રાણવ્યપરોપણં હિંસા ।૮।

પ્રમત્ત યોગથી, પ્રમાદથી, પ્રાણીના પ્રાણ લેવા એ હિંસા છે. તેમ જ પોતાની અસાવધાનીથી, બેદરકારીથી પ્રાણીની હિંસા થાય એ પણ પ્રમત્તયોગવાળી હિંસા છે. પ્રમત્તદશા ભાવહિંસા છે, અને પ્રાણીનાં પ્રાણનો નાશ કરવો એ દ્રવ્યહિંસા છે.

આક્રમું આગુવ્રત છે : અનર્થદંડ વિરમાણ.

અનર્થ એટલે નિરર્થક, દંડ એટલે પાપ. અનર્થદંડનો અર્થ થયો : નિરર્થક પ્રયોજન વગર પાપાયરાગુ વિના પ્રયોજને આત્મા દંડાય. આગુત્યાદંડે - અર્થ વિના દંડાય. અનો ત્યાગ તે અનર્થદંડવિરમાણ

ગૃહસ્થને ઉદ્યોગી અને આરંભી હિંસા વળગેલી છે. વિરોધી હિંસા કરવાનું પણ આવી પડે છે. કુટુંબ નિર્વાહ અર્થે ધનઉપાર્જન અને ઉચિત પરિચ્છદ પણ જરૂરી બની જાય છે. આમ ગૃહસ્થ જીવન બહુ આરંભોથી ભરેલું છે. છતાં આગુવ્રતો અને ઉપકારક વ્રતોનાં ધારણાં એમનાં નિસ્તારનો માર્ગ છે. ગૃહસ્થને જ ફરજે બજાવવી પડે છે. સંસાર ટકાવવા જે કરવું અનિવાર્ય અને આવશ્યક હોય છે તે બાબત ઉપર પૂરતું ધ્યાન આપી આ વ્રતથી ડહાપણ ભરેલી સૂચના આપતાં કહ્યું છે : નકામા પાપ ન કરો.

વિરતિરનર્થદણ્ડે, તૃતીયં, સ ચતુર્વિધઃ અપધ્યાનમ્ ।

પ્રમાદાચરિતમ્ હિંસાપ્રદાનમ્ પાપોપદેશશ્ચ ॥

પ્રયોજનવિહીન કાર્ય કરવું, કોઈને સતાવવો એ અનર્થદંડ કહેવાય છે. એમાં ચાર ભેદ છે : અપધ્યાન, પ્રમાદપૂર્ણચર્યા, હિંસાનાં ઉપકરણ વગેરે આપવા અને પાપનો ઉપદેશ આપવો એ ચારેનો ત્યાગ. અનર્થદંડ વિરતિ નામક ત્રીજું આગુવ્રત છે.

પાપોપદેશ ન કરવો, માણસ પોતે જે દુર્વ્યસનમાં ફસાયેલો હોય, તેનો શોખ બીજને લગાડવા પ્રયત્ન કરે, તે અનર્થદંડ પાપોપદેશ છે. માણસ પોતાની લત ન છોડી શકે, તો યે એણે એ ન વખાણતાં વખોડવું જોઈએ. વ્યસનનો ખેદ હોવો જોઈએ. પ્રયોજનવશ કાર્ય કરવાથી અલ્પ કર્મબંધ થાય છે. પ્રયોજન શુભ અને શુભહેતુપૂર્વકનું હોવું જોઈએ. પ્રયોજન વગર કાર્ય કરવાથી અધિક કર્મબંધ થાય છે. કારણ કે સપ્રયોજન કાર્યમાં તો દેશ-કાલ આદિ પરિસ્થિતિઓની સામેક્ષતા રહેલી છે. દેશ-કાળ-ક્ષેત્ર અને ભાવને લક્ષમાં રાખી ઉપયોગપૂર્વકની પ્રવૃત્તિ થાય છે. પરંતુ નિષ્પ્રયોજન પ્રવૃત્તિ સદા અમર્યાદિતરૂપથી કરાતી હોય છે. જ્યાં લક્ષ્ય નથી. ત્યાં મર્યાદા નથી હોતી.

નિરર્થક જમીન ખોદવી, વ્યર્થ આગ સળગાવવી વગેરે પ્રમાદચર્યા અનર્થદંડ છે. રસ્તે ચાલતાં કોઈ જનવર ઉભું હોય, ગાય કે બજાદ હોય, તેને નિઃકારણ વ્યર્થ લાકડી ફટકારી દેવી, કોઈ છોડને

મસ્તીમાં જ લાકડી ફટકારવી, વૃક્ષને પથરાં મારવા એ અનર્થદંડ છે. તળાવમાં ફક્ત ગમ્મત ખાતર પથરા ફેંકવા, વિના કારણ પાણીનો વ્યય કરવો એ અનર્થદંડ છે.

માણસ પોણો કલાક બાથરૂમમાં ન્હાય છે. સત્તર ચોરસ ફૂટની કાચા માટે આખરે કેટલું પાણી જોઈએ ? ધોધની જેમ પાણી વેડફાય છે. મહેમાનોને ગ્લાસ ભરીને પાણી આપીએ છીએ. કેટલા ઘૂંટણ પાણી પિવાય છે ? બાકીનું ખાજમાં ફેંકી દેવાય છે. આ વેડફાટ ગુનાહિત છે. ગ્લાસની સાઈઝ નાની કરવાનું કોઈને સૂઝતું નથી. એક સમયમાં પાણી માટે લોટો વપરાતો અને લોટા પર નાનકડો વાડકો રહેતો. મહેમાન પાણી જરૂરી હોય એટલું પાણી લોટામાંથી રેડીને પી લે.

અઠાર પાપસ્થાનકો - છિદ્રોમાં પાપનો આશ્રાવ અટકાવવો તે સંવર. સંવરનો ત્રીજો ભેદ છે અપ્રમાદ. મદ, વિપય, ક્ષાય, નિંદા અને વિકથા એ પાંચ પ્રમાદો મનુષ્યના દુશ્મન છે. એનાથી નિવૃત્તિ થાય, તો અપ્રમાદ સાધ્ય થાય અને પાપનો સંવર થાય. અભ્યાખ્યાન, પૈશુન્ય, પરપરિવાદ ને માયામૃષા એ નિંદાનાં જ પ્રકાર છે, પાસાં છે, અને પ્રમાદનાં આવિષ્કાર છે.

અભ્યાખ્યાન : જાણતાં કે અજાણતાં કોઈના ઉપર પાણી ખોટું આજ ચડાવવું તેને બદનામ કરવું, આજ - આરોપ મૂકવો. આ અધમ ક્ષાત્રી પ્રવૃત્તિ છે.

પૈશુન્ય : ચાડી ખાવી, યુગલી ખાવી, કોઈની ગુમ વાત, અંગત વાત ઉઘાડી ન પાડવાની શરતે કહેવામાં - જાણમાં આવી હોય, તે ખુલી કરી દેવી.

પરપરિવાદ : કોઈની નિંદા કુચલી કરવી. બીજાના અવગુણોનું આરોપણ કરી સાચાં કરવવાનો પ્રયત્ન. વાંકું બોલવું.

માયામૃષા : કપટ કરી જુદું બોલવું અને તેને સાચું કરાવવાની કોશિષ કરવી.

કર્કશ-વચન : કઠોર ભાષા વાપરવી. દિલ દુભાય એવી રીતે બોલવું. શાસ્ત્રોમાં નિર્દેશ છે કે કઠોર વચન બોલવાથી એક દિવસનાં ઉપવાસનું ફળ નષ્ટ થાય છે. ખોટું આજ ચડાવવાથી એક મહિનાનાં ઉપવાસનું ફળ નષ્ટ થાય છે. ને શ્રાપરૂપ વચનો ઉચ્ચારવાથી એક વર્ષનાં ઉપવાસનું ફળ નષ્ટ પામે છે.

જિનદર્શને નિર્દેશલાં નવ તત્ત્વો છે :

(૧) જીવ (૨) અજીવ (૩) પુણ્ય (૪) પાપ (૫) આશ્રવ (૬) સંવર (૭) નિર્જરા (૮) બંધ અને (૯) મોક્ષ

પાંચમું તત્ત્વ છે આશ્રવ તત્ત્વ

આશ્રવ એટલે કર્મોનું આવવું. આ+શ્રવ આ=ચારે બાજુએથી અને શ્રવ=આવવું તે. અર્થાત્ આત્મા તરફ કાર્મણ વર્ગણાના પુદ્ગલોનું ચારે બાજુથી આકર્ષાઈને આવવું તે આશ્રવ.

આશ્રવના સામાન્ય પ્રકારે ૨૦ ભેદ છે જેમાં પ્રથમ પાંચ મિથ્યાત્વ, અવિરતિ-અવ્રત, પ્રમાદ, ક્ષાય અને યોગ, જે કર્મબંધના મુખ્ય હેતુઓ છે. ૬ થી ૧૦ પંચમહાવ્રતનાં ભાગરૂપ છે.

વિશેષ પ્રકારે આશ્રવના ઠર ભેદ છે. જેમાં પાંચમો ભેદ છે ક્રિયા.

ક્રિયા : કાયિકી, અધિકરાણકી વગેરે રૂપ પ્રકારની ક્રિયાથી પણ પુષ્કળ કર્મોનો આશ્રવ થતો રહે છે.

જેમાં ૧૮મો ભેદ છે : વિદ્યારણીયા

૧૮મો ભેદ છે : આણભોગી

વિદ્યારણીયા : સજીવ કે નિર્જીવ વસ્તુને તોડવી ફોડવી તે.

આણભોગી : ઉપયોગ રહિત શૂન્ય ચિત્તે ક્રિયા કરવી તે.

માનવી સ્થૂળ વસ્તુઓ સાથે કેવો વ્યવહાર કરે છે, તેના પરથી એની સંસ્કારિતાનું માપ નીકલે છે. સ્થૂળ પ્રત્યે આદર, સદ્વ્યવહાર એ સભ્યતાની પારાશીશી છે. સ્થૂળ કે જડ વસ્તુઓ આપણે સમજીએ છીએ એટલી જડ નથી હોતી. તેમાં પણ સૂક્ષ્મ આણુઓનું પરિવર્તન નિરંતર થયા જ કરે છે. તેની વ્યાખ્યાઓ વૈજ્ઞાનિક દષ્ટિએ બદલાતી જાય છે. સ્થૂળમાંથી સૂક્ષ્મમાં પ્રવેશ એ ઉર્ધ્વક્રમ રહ્યો છે. નિર્જીવ ભાસતી વસ્તુ સાથે પણ દુર્વ્યવહાર કરાય નહિં.

જર્મનીના આધ્યાત્મિક કવિ રેઈનાર મારિયા રિલ્કે એક કુમળા હૃદયનાં સજ્જન હતા. દરવાજામાં પ્રવેશતાં જો કેસ વાગે, કે બારણાં સાથે અથડાય, તો બારણાની માફી માગતા ! બારણું હતું ત્યાં જ હતું, વાગી ગયું તો ચાલનારની જ ભૂલ કહેવાય. માગસને ચલતાં કોઈ પથ્થર સાથે કેસ વાગે, ઠોકર લાગે તો માગસ ગુસ્સામાં પથ્થરને જ ખરી ઠોકર મારે ! પથ્થર તો પોતાની જગ્યાએ જ હતો, પણ માગસ બેધ્યાનપણે ચાલતાં પથ્થરને જ ઠોકર મારે છે. પોતાની ભૂલથી વાગે છે, અને સજ્જ પથ્થરને આપે છે.

રિલ્કે અને જર્મન લેખક સ્ટીફાન ઝવીગની ગાઠ મૈત્રી હતી. રિલ્કે ઝવીગ પાસેથી વાંચવા માટે પુસ્તકો લઈ જાય. પુસ્તક પાછું આપે, તો એમ ને એમ ન આપે. એ પુસ્તકને સુંદર ગિફ્ટ પેપરમાં વીંટાળી, લાલ રિબિન બાંધી, જાણે કોઈ ભેટ આપતો હોય, તેમ આદરપૂર્વક પાછું આપે. આમાં માત્ર જ્ઞાનનો જ નહિ પણ સ્થૂળનો પણ આદર છે. સ્ટીફાન ઝવીગે જ્યારે પોતાની પત્ની સાથે જળસમાધિ લીધી, ત્યારે રિલ્કેનાં બધા ગિફ્ટ પેપરો અને રિબિનો શરીરને વીંટાળીને સમાધિ લીધી.

જ્યારે પુસ્તક જેવી મૂલ્યવાન સંપદા સાથે આપણે કેવો દુર્વ્યવહાર કરીએ છીએ ? કોઈનું પુસ્તક લઈ આવીએ, તો પ્રથમ તો પાછું આપવાની વાત જ ન હોય ! ક્યાં મુકાઈ ગયું છે, મળતું જ નથી. અરે મેં પણ હજી વાંચ્યું નથી. આવા મનુષ્ય માત્રએ પ્રમાદનો રસ્તો છોડી પુરુષાર્થનો માર્ગ પસંદ કરવાનો છે.

પ્રમાદથી કોઈ નુકશાન કે કષ્ટ સહન કરવું પડે તે અનિષ્ટ-ત્યાજ્ય છે. દુર્ગુણ છે. ઉત્તમ પરિણામ માટે પુરુષાર્થ કરતાં આવી પડેલું કષ્ટ સહન કરવું, એ પુરુષાર્થ છે અને તેથી ઈષ્ટ છે - સદ્ગુણ છે. કોઈ

પ્રસંગે ખામોશ રહેવાથી, મૌન જાળવવાથી, અક્રિય રહેવાથી ઈષ્ટસિદ્ધિ થતી દેખાય તો એ પ્રસંગનું મૌન, અક્રિયતા, ખામોશી એ પુરુષાર્થ છે. સદ્ગુણ છે. એ પ્રકારની અક્રિયતામાં આંતરશ્રમ છે, પ્રમાદ નહિ. તકલીફ, કષ્ટ કે નુકશાનના ભયથી સેવાનું મૌન, અક્રિયતા એ સર્વ પ્રમાદનાં રૂપો છે અને દુર્ગુણો છે, ત્યાજ્ય છે. એમાં પાણ એ પ્રમાદને સદ્ગુણનો - નીતિનો વાઘો પહેરાવી પ્રદર્શન કરવામાં આવે, ત્યારે તે મનુષ્ય ભયંકર ગીધ જેવો મનુષ્ય બની જાય છે.

સામાયિક ક્રિયા શુદ્ધિકરણની ક્રિયા છે.

મંતે ! - હે પૂજ્ય ! હે ધ્યેય !

પ્રતિક્રમમિ - પ્રમાદને હું પીઠ કરું છું. પ્રમાદથી પાછો કરું છું. પ્રમાદજન્ય ક્રિયાઓ અને ચૂપકીદિઓને છોડું છું.

નિંદમિ - પ્રમાદને અને પ્રમાદજન્ય ક્રિયા-અક્રિયાને નિંદું છું. નિન્દ્ય માનું છું.

ગરિહામિ - પ્રમાદને અને પ્રમાદજન્ય ક્રિયા-અક્રિયાને ગર્હું છું - કપકો આપું છું.

અપ્પાણં વોસિરામિ - પ્રમાદ સાથે એકરૂપ બનેલા “હું” ને હવે હું અપ્રમત્ત થઈ છોડું છું.

પ્રમાદ, લાલચ કે ભયથી થતી એક ભૂલ જે વારંવાર થતી રહે તો મનુષ્યનું માનસ જ વિકૃત થઈ જાય. તે બનવા ન પામે, ભૂલનું પુનરાવર્તન ન થાય તેટલા માટે પ્રતિક્રમણ ક્રિયા દરરોજ કરવાની માનસિક ક્રિયા યોજી છે. પોતાની બુદ્ધિની રક્ષા ન કરવાથી જ મોટામાં મોટો પ્રમાદ - મોટામાં મોટી આત્મહન્યા થઈ જાય છે.

મોહમાંથી પ્રમાદ ઉદ્ભવે છે. પ્રમાદના નાશથી મોહનાશ તરફ ગતિ થાય છે.

અધ્યાત્મ જ્ઞાનની હયાતીનું પ્રાથમિક લક્ષણ છે ધન પરના મોહનો નાશ. તે પછીનું લક્ષણ છે, શરીર પરના મોહનો નાશ અને તે પછીનું લક્ષણ છે, બુદ્ધિ પરના મોહનો નાશ.

ધન, કીર્તિ કે સત્તાની લાલસાને જ ધ્યેય બનાવનારી, એકપક્ષી બુદ્ધિ જ અનિષ્ટ તત્ત્વ છે જે વ્યક્તિ તથા સમાજના આરોગ્યને બાધક છે.

બુદ્ધિની જડતા અને હૃદયની વકતા જ સઘળાં રોગોનું મૂળ કારણ છે. સાંપ્રત કાળનાં મનુષ્યની પ્રકૃતિમાં રહેલી આ બે ખામીઓ ભગવાન મહાવીર જેઈ શક્યા હતા અને તેથી કહી ગયા હતા : હે જ્ઞાનના સાધક ગૌતમ ! હવે પછીના મનુષ્યોમાં વકતા અને જડતા ખાસ લક્ષણરૂપે હશે. ભગવાનનું આ કથન આજે પણ યથાર્થ - પ્રસ્તુત છે.

આજના પુરુષાર્થીએ કાંઈ કરવાનું હોય, તો તે વકતાને તોડવાનું અને જડતાને પિગળાવવાનું જ કામ છે. એ ક્રિયાઓથી પોતાને કે બીજાઓને તાત્કાલિક દુઃખ કે સુખ થાય, લાભ કે ગેરલાભ થાય એ કશાની ગણતરી કરવી ન પાલવે.

દરેક ક્રિયાને માપવાનો ગજ : પુરુષાર્થ કે પ્રમાદ.

ખ્રિસ્તી લોકો નવા વર્ષની ખુશાલીમાં ગ્લાસ ફોડી નાખે છે ! ગ્લાસ તૂટવો એ શુકનવંત લેખાય છે એવી પ્રચલિત માન્યતા છે. પણ તેથી જાણીબૂઝીને ગ્લાસ તોડી પરાગે શુકન ઊભા કરવા ? આ કેવો તર્ક છે ? પશુના બલિદાન કે નરબલિ પાછળ પણ આવી જ સ્વાર્થીવૃત્તિ રહેલી હોય છે.

ગાંધીજીને એક પત્ર આપ્યો. ગાંધીજીએ પત્રનાં બધા પાનાં વાંચી, એને લાગેલી પીન કાઢી એક ડબ્બીમાં સાચવીને મૂકી દીધી ! સમગ્ર પત્રમાં આ જ એક ઉપયોગી વસ્તુ હતી ! ગાંધીજી તો એક નાનકડી ચબરખી સુધ્ધા નકામી જવા દેતા નહિં. સંભાળીને રાખતાં. ઉપયોગમાં લેતા, એમને જે પત્ર આવે, તેનો જવાબ પણ હાંસિયામાં જ લખી એ પત્ર પાછો પાઠવતા.

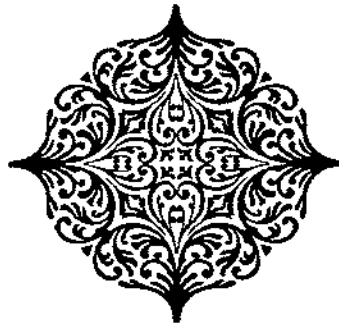
‘જડ’ ની સાથે પણ જડનાથી વ્યવહાર ન થાય.

આગાભોગી : ઉપયોગરહિત શૂન્ય ચિત્તે ક્રિયા કરવી તે આગાભોગી.

ઉપયોગ વિનાની ક્રિયા તે પ્રમાદ શૂન્યચિત્ત તે પ્રમત્તદશા.

કશા પણ પ્રયોજન વિના કંઈક ને કંઈક કર્યા જ કરવું. જે આસન પર બેઠા હોઈએ તેનાં સૂતરનાં તાંતણા કે ચટાઈનાં તાંતણાં ખેંચીખેંચી તોડ્યા કરવાં. હાથમાં બોલપેન હોય, તેની ચાંપ ને દાબી સતત ઉઘાડ-બંધ કરતા રહેવું, કોઈ વસ્તુને નિષ્કારણ ફટકારતા રહેવું. આ તમામ ચેટાઓ વિક્ષિપ્ત અશાંત મન તેમજ દુર્ધ્યાનનાં જ પ્રક્ષેપણ રૂપ છે.

આમ, જૈન ધર્મમાં વિવિધ દૃષ્ટિકોણથી પ્રમાદના સ્વરૂપની વિચારણા કરવામાં આવી છે એ વિચારમાં ધારી સૂક્ષ્મ અને વિશદ છે. અપ્રમત્ત દશા વિના જીવ કેવળજ્ઞાન તરફ, મોક્ષપ્રાપ્તિ તરફ ગતિ કરી શકતો નથી. માટે અધ્યાત્મરુચિવાળા જીવે સ્થૂળ કે સૂક્ષ્મ પ્રમાદ ન કરવા તરફ લક્ષ આપવું એ એનું કર્તવ્ય બની રહે છે.



ઉપાધ્યાય-પદની મહત્તા

ડૉ. રમણલાલ ચી. શાહ

ચૌદ પૂર્વના સારસ્વ પંચમંગલ મહાશ્રુત સ્કંધ સ્વરૂપ નવકારમંત્રમાં પંચ પરમેષ્ઠિને નમસ્કાર છે. અરિહંત, સિદ્ધ, આચાર્ય, ઉપાધ્યાય અને સાધુ એ પાંચ જગતનાં સર્વોત્કૃષ્ટ મંગલમય આરાધ્ય પદો છે.

નવકારમંત્રમાં નમો અરિહંતાણં અને નમો સિદ્ધાણં એ બે પદમાં અરિહંત અને સિદ્ધને નમસ્કાર છે. અરિહંત અને સિદ્ધમાં દેવતત્ત્વ રહેલું છે.

નમો આચાર્યાણં, નમો ઉવજ્ઞાયાણં અને નમો લોએ સવ્ય સાહુણં એ ત્રણ પદમાં આચાર્ય, ઉપાધ્યાય અને સાધુને નમસ્કાર છે. આચાર્ય, ઉપાધ્યાય અને સાધુ એ ત્રણમાં ગુરુતત્ત્વ રહેલું છે.

એસો પંચ નમુક્કારો, સવ્ય પાવપ્પાણાસાગો; મંગલાણં ચ સવ્યેસિં, પદમં ઉવઈ મંગલમ્ - ચૂલિકાનાં આ ચાર પદમાં ધર્મતત્ત્વ રહેલું છે.

દેવ, ગુરુ અને ધર્મ - એ ત્રણે તત્ત્વમાં જ્યાં સુધી સાચી સ્વાભાવિક શ્રદ્ધા ન પ્રગટે ત્યાં સુધી સમ્યક્ત્વની પ્રાપ્તિ ન થાય. જ્યાં સુધી નવકારમાં રસ-રુચિ ન થાય ત્યાં સુધી જીવ આધ્યાત્મિક માર્ગે બીજી ગમે તેટલી સાધના કરે તો પણ તે બહુ ફળદાયી ન નીવડે. એટલા માટે જ શાસ્ત્રકારે નમસ્કાર બૃહત્ ફળ પ્રકરણમાં કહ્યું છે :

સુચિરંપિ તવો તવિયં, ચિન્નં ચરણં ચ બહુ પદ્ધિયં ।

જહ તા ન નમ્મુકારે રઈ, તઓ તં ગયં વિહલં ॥

(ઘણાં લાંબા કાળ સુધી તપશ્ચર્યા કરી હોય, બહુ સારી રીતે ચારિત્રને પાળ્યું હોય, શ્રુતશાસ્ત્રનો બહુ અભ્યાસ કર્યો હોય, પરંતુ જે નવકારમંત્રમાં રતિ ન થઈ હોય (આનંદ ન આવતો હોય) તો તે સઘળું નિષ્ફળ ગયું એમ જાણવું.)

નવકારમંત્રમાં આચાર્ય, ઉપાધ્યાય અને સાધુ એ ત્રણેને કરેલા નમસ્કારમાં ગુરુને નમસ્કાર છે. કોઈકને પ્રશ્ન થાય કે દેવને નમસ્કાર કરવામાં અરિહંત અને સિદ્ધને જુદા જુદા નમસ્કાર કરાય છે, કારણ કે દેવનાં એ બે સ્પષ્ટ ભિન્ન સ્વરૂપ છે. પરંતુ આચાર્ય, ઉપાધ્યાય અને સાધુ ત્રણેને જુદા જુદા નમસ્કાર કરવાને બદલે એ ત્રણે માટે માત્ર ગુરુ શબ્દ પ્રયોજીને નમસ્કાર ન કરાય ? દેવ, ગુરુ અને ધર્મનું શરણું આપણે લઈએ છીએ ત્યારે ચાર શરણ જુદાં જુદાં બોલીએ છીએ. ચત્તારિ શરણાં.... માં અરિહંત, સિદ્ધ, સાધુ અને ધર્મ એ ચારનું શરણું લઈએ છીએ. આચાર્ય અને ઉપાધ્યાયનું જુદું શરણ લેતા નથી. સાધુના શરણમાં તેમનું શરણ આવી જાય છે. તો પછી નવકારમંત્રમાં તેમ ન કરી શકાય ?

વસ્તુતઃ આચાર્ય, ઉપાધ્યાય અને સાધુ એ ત્રણે મુખ્યતઃ અને પ્રથમતઃ સાધુ જ છે. એક અપેક્ષાએ તેઓ ત્રણે સમાન છે. તેઓ ત્રણે માટે શ્રમાણ શબ્દ જ વપરાય છે. જ્ઞાનાચાર, દર્શનાચાર, ચારિત્રાચાર, તપાચાર અને વીર્યાચાર એ પંચાચારનું પાલન, પાંચ મહાવ્રતોનું તથા સમિતિ અને ગુમિનું પાલન, બાર પ્રકારનું તપ, દસ પ્રકારનો મુનિધર્મ, પરિષદ અને ઉપસર્ગનું સહન કરવું આહાર, શય્યા, વેશ ઈત્યાદિ બાબતોમાં તેઓ વચ્ચે કોઈ ભેદ નથી. તેમ છતાં આધ્યાત્મિક વિકાસક્રમની દ્રષ્ટિએ સાધુ અને આચાર્ય વચ્ચે તરતમતાની અનેક ભૂમિકાઓ રહેલી છે. નવદીક્ષિત સાધુથી શરૂ કરીને આદર્શ આચાર્ય સુધીનો વિકાસક્રમ આરાધકના લક્ષમાં રહેવો જોઈએ. એટલા માટે જ આચાર્ય, ઉપાધ્યાય અને સાધુને જુદા જુદા નમસ્કાર કરવાની આવશ્યકતા છે.

કોઈકને કદાચ પ્રશ્ન થાય કે તો પછી આચાર્ય અને સાધુને નમસ્કાર કરવાની વાત યોગ્ય જાણાય છે, પણ વચ્ચે ઉપાધ્યાયના પદની શી આવશ્યકતા છે? દેવતત્ત્વમાં જેમ અરિહંત અને સાધુ એવા બે વિભાગ પાડ્યા તેમ ગુરુતત્ત્વમાં આચાર્ય અને સાધુ એવા બે વિભાગ શું બસ નથી? આ પ્રશ્નનો ઉત્તર એ છે કે જૈન શાસનની પરંપરા જે બરાબર વ્યવસ્થિત રીતે ચલાવવી હોય તો ઉપાધ્યાયનું પદ માત્ર આવશ્યક જ નહિ, અનિવાર્ય છે. સાધુ અને આચાર્ય વચ્ચે માત્ર ઉપાધ્યાયનું પદ જ નહિ, બીજા ધાર્મિક પદ ઊભા કરવાં હોય તો કરી શકાય. પરંતુ તેમાં આદર્શ સ્વરૂપનું સ્તંભરૂપ પદ હોય તો તે એકમાત્ર ઉપાધ્યાયનું જ છે. તીર્થંકર પરમાત્માએ પ્રબોધેલા મોક્ષમાર્ગના જ્ઞાનને લોકો સુધી, અને વિશેષપણે સર્વવિરતિ સાધુ સુધી વ્યવસ્થિત રીતે પહોંચાડવાનું કાર્ય ઉપાધ્યાય ભગવંતો જ કરતા હોય છે. વ્યવહારમાં ઉપાધ્યાય નામધારી બધા ઉપાધ્યાયો એકસરખી કોટીના ન હોઈ શકે, પરંતુ જૈન દર્શનમાં ઉપાધ્યાય ભગવંતોનો જે આદર્શ રજૂ કરવામાં આવ્યો છે અને એમના જે ગુણો દર્શાવવામાં આવ્યા છે તે જેતાં નવકારમંત્રમાં ઉપાધ્યાય-ઉવજ્જાય ભગવંતને જે નમસ્કાર કરવામાં આવે છે તેની યથાર્થતાની સર્વથા સદ્યપ્રતીતિ થયા વગર રહેશે નહિ. શ્રુતજ્ઞાનના ધારક ઉપાધ્યાય ભગવંત ન હોય તો મોક્ષમાર્ગ ઝડપથી લુપ્ત થઈ જાય. એટલા માટે જ અનાદિ સિદ્ધ નવકારમંત્રમાં તમો ઉવજ્જાયારાણં પદનું એટલું જ મહત્ત્વ રહેલું છે.

ઉપાધ્યાય (અર્ધમાગધીમાં ઉવજ્જાય) શબ્દની વ્યાખ્યા નીચે પ્રમાણે જેવા મળે છે :

उपेत्य अधीयतेऽस्मात् ।

(જેમની પાસે જઈને અધ્યયન કરવામાં આવે છે તે ઉપાધ્યાય.)

उप-समीपे अधिवसनात् श्रुतस्य आयो-लाभो भवति येष्यस्ते उपाध्यायाः ।

(જેમની પાસે રહેવાથી શ્રુતનો આય (લાભ) થાય છે તે ઉપાધ્યાય.)

હેમચંદ્રાચાર્ય અભિધાનચિંતામણિમાં કહે છે :

उपाध्यायस्तु पाठकः ।

(જે ભાગાવે, પઠન કરાવે તે ઉપાધ્યાય.)

અધિ-આધિક્યેન ગમ્યતે ઇતિ ઉપાધ્યાયઃ ।

(જેમની પાસે અધિક વાર જવાનું થાય છે તે ઉપાધ્યાય.)

સ્મર્યતે સૂત્રતો જિનપ્રવચનં ચેભ્યસ્તે ઉપાધ્યાયઃ ।

(જેમની પાસે જિનપ્રવચનનું સ્મરણ તાજું કરવામાં આવે છે તે ઉપાધ્યાય.)

ઉપાધાનમુપાધિઃ સન્નિધિસ્તેનોપાધિના ઉપાધૌ વા આયોલાભઃ શ્રુતસ્ય યેષામુપાધીનાં વા વિશેષાનાનાં પ્રક્રમાચ્છોભનાનામાયો-લાભો યેભ્યસ્તે ઉપાધ્યાયાઃ ।

(જેમની ઉપાધિ અર્થાત્ સંનિધિથી શ્રુતનો આય અર્થાત્ લાભ થાય છે તે ઉપાધ્યાય.)

આધિનાં મનઃ પીડાનામાયો લાભઃ-આધ્યાયઃ અધિયાં વા (નકાઃ કુત્સાર્થત્વાત્) કુબુધ્ધીનામાયોઽધ્યાયઃ, દુધ્યાનં વાધ્યાયઃ ઉપહતઃ આધ્યાયઃ વા યૈસ્તે ઉપાધ્યાયઃ ।

(જેઓએ આધિ, કુબુધ્ધિ અને દુધ્યાનને ઉપહત અર્થાત્ સમાપ્ત કરી દીધું છે તે ઉપાધ્યાય છે.)
આવશ્યકચૂર્ણિમાં કહ્યું છે :

તમુપેત્ય શિષ્ટા અધિવન્ત ઈત્યુપાધ્યાયઃ ।

(જેમની પાસે જઈને શિષ્ય અધ્યયન કરે છે તે ઉપાધ્યાય છે.)

આવશ્યકનિર્યુક્તિમાં કહ્યું છે :

ઉતિ ઉવઓગકરણે વત્તિ અ પાવપરિવજ્જણે હોઈ ।

જ્ઞત્તિ અ ડ્રાણસ્સ કણ ઉત્તિ અ ઓસક્કણા કમ્મે ॥

(જેઓ ઉ એટલે ઉપયોગપૂર્વક, વ એટલે પાપકર્મનું પરિવર્જન કરતાં કરતાં, જ્ઞ એટલે ધ્યાન ધરીને, વ એટલે કર્મમળને દૂર કરે છે તે ઉપાધ્યાય છે.)

રાજવાર્તિકમાં તથા સર્વાર્થ સિદ્ધિમાં ઉપાધ્યાયની વ્યાખ્યા આપતાં કહ્યું છે :

વિનયેનોપેત્ય યસ્માદ્ વ્રતશીલભાવનાધિષ્ટાનાદાગમં શ્રુતાખ્યમધિયતે ઇત્યુપાધ્યાયઃ ।

(જેમની પાસે ભવ્યજનો વિનયપૂર્વક જઈને શ્રુતનું અધ્યયન કરે છે એવા વ્રતશીલ અને ભાવનાશાળી મહાનુભાવ ઉપાધ્યાય કહેવાય છે.)

નિયમસારમાં શ્રી કુંદકુંદાચાર્યે ઉપાધ્યાય નાં લક્ષણો દર્શાવતાં કહ્યું છે :

રયણત્તયસંજુત્તા જિણકહિયપયત્થદેસયા સૂરા ।

ણિક્ખસ્વભાવસહિતા ઉવજ્ઞાયા ઇરિસા હોતિ ॥

(રત્નત્રયથી સંયુક્ત, જિનકથિત પદાર્થોનો ઉપદેશ કરવામાં શૂરવીર તથા નિઃકાંક્ષા ભાવવાળા એવા ઉપાધ્યાય હોય છે.)

દ્વિગંબર પરંપરાના ધવલા ગ્રંથમાં કહ્યું છે :

ચોદસ-પુલ્લ-મહોષહિમગમ્મ સિવરિત્થિઓ સિવત્થીણં ।

સીલધારણં વત્તા હોઈ મુળીસો ઉવજ્ઝાયો ॥

(જેઓ ચૌદ પૂર્વરૂપી મહાસાગરમાં પ્રવેશ કરીને મોક્ષમાર્ગમાં સ્થિત છે તથા મોક્ષની ભાવનાવાળા શીલધરોને (મુનિઓને) ઉપદેશ આપે છે એવા મુનીશ્વરો તે ઉપાધ્યાય છે.)

ઉપાધ્યાય ભગવંતોનો મહિમા કેટલો બધો છે તે શાસ્ત્રાકારોએ એમના ગણાવેલા ગુણો ઉપરથી સમજાય છે. પંચપરમેષ્ઠિના કુલ ૧૦૮ ગુણ ગણવામાં આવે છે. તેમાં અરિહંતના બાર, સિદ્ધના આઠ, આચાર્યના છત્રીસ, ઉપાધ્યાયના પચીસ અને સાધુના સત્તાવીસ ગુણ હોય છે.

ઉપાધ્યાય ભગવંતના પચીસ ગુણ નીચે પ્રમાણે ગણાવવામાં આવે છે :

૧૧ ગુણ : અગિયાર અંગશાસ્ત્ર પોતે ભાણે અને ગચ્છમાં બીજાઓને ભાણાવે.

૧૨ ગુણ : બાર ઉપાંગશાસ્ત્રો પોતે ભાણે અને ગચ્છમાં બીજાઓને ભાણાવે.

૧ ચરણસિત્તરી પોતે પાળે અને પળાવે.

૧ કરણસિત્તરી પોતે પાળે અને પળાવે.

આમ, ઉપાધ્યાય ભગવંતના આ પ્રમાણે જે પચીસ ગુણ ગણાવવામાં આવે છે તે સવિગત નીચે પ્રમાણે છે :

અગિયાર અંગ સૂત્રોનાં નામ નીચે પ્રમાણે છે :

(૧) આચારાંગ, (૨) સૂત્રકૃતાંગ, (૩) સ્થાનાંગ, (૪) સમવાયાંગ, (૫) વિવાહ પ્રજ્ઞમિ (ભગવતી ટીકા), (૬) જ્ઞાનાધર્મકથા, (૭) ઉપાસકદશાંગ, (૮) અંતકૃતદશાંગ, (૯) અનુત્તરોપપાતિક, (૧૦) પ્રશ્નત્યાકરણ, (૧૧) વિપાકસૂત્ર.

બાર ઉપાંગસૂત્રોનાં નામ નીચે પ્રમાણે છે :

(૧) ઓવવાઈય, (૨) રાયપસેણિય, (૩) જીવાજીવાભિગમ, (૪) પણુણવાણા, (૫) સૂરપણુણત્તિ, (૬) જંબૂદ્વીપપણુણત્તિ, (૭) ચંદપણુણત્તિ, (૮) નિરયાવલિયા, (૯) કપ્પવડંસિયા, (૧૦) પુફ્ફિયા, (૧૧) પુફ્ફૂલિયા, (૧૨) વણ્ણિહદસા.

ચરણ એટલે ચારિત્ર, સિત્તરી એટલે સિત્તર ચારિત્રને લગતા સિત્તર બોલ એટલે ચરણસિત્તરી. સાધુ-ભગવંતોએ આ સિત્તર બોલ પાળવાના હોય છે. એમાં પાણ એ પાળવામાં જ્યારે સમર્થ થાય ત્યારે તેઓ ઉપાધ્યાયપદને પાત્ર બને છે.

ચરણસિત્તરી બોલ માટે નીચે પ્રમાણે ગાથા છે :

વયસમણધમ્મ-સંજમ-વેયાવચ્ચં ચ બંભગુત્તિઓ ।

નાણાઈત્તિઅં તવ કોહનિગ્ગહાઈ ચરણમેવં ॥

(વ્રત, શ્રમણધર્મ, સંયમ, વૈયાવચ્ચ, બ્રહ્મચર્યની ગુમ્તિઓ, જ્ઞાનાદિત્રિક, તપ અને ક્રોધાદિનો નિગ્રહ એ ચરણ છે.)

આમ, ચરણસિત્તરીના સિત્તર બોલ નીચે પ્રમાણે છે :

	પ્રકાર
વ્રત (અહિંસાદિ મહાવ્રત)	૫ પ્રકારનાં
શ્રમણધર્મ	૧૦ પ્રકારનો
સંયમ	૧૭ પ્રકારનો
વૈયાવચ્ચ	૧૦ પ્રકારની
બ્રહ્મચર્યની ગુમ્તિઓ (વાડ)	૯ પ્રકારની
જ્ઞાનાદિત્રિક (જ્ઞાન, દર્શન, ચારિત્ર)	૩ પ્રકારનાં
તપ (છ બાહ્ય + છ આભ્યંતર)	૧૨ પ્રકારનાં
ક્રોધાદિનો (ચાર કપાયોનો) નિગ્રહ	<u>૪ પ્રકાર</u>
કુલ	૭૦ પ્રકાર

કરણ એટલે ક્રિયા. સિત્તરી એટલે સિત્તર બોલ. કરણ સિત્તરી વિશે નીચેની ગાથામાં કહેવાયું છે :

પિંડ વિસોહી સમિઈ, ભાવણ પડિમા ચ ઇંદિઅનિરોહો ।

પડિલેહણ ગુત્તીઓ અભિગ્ગહા ચેવ કરણં તુ ॥

(પિંડ વિશુદ્ધિ, સમિતિ, ભાવના, પ્રતિમા, ઈન્દ્રિયનિરોધ, પ્રતિલેખના, ગુમ્તિ અને અભિગ્રહ એ કરણ (ક્રિયા) છે.)

કરણસિત્તરીના સિત્તર બોલ નીચે પ્રમાણે છે :

પિંડવિશુદ્ધિ	૪ પ્રકારની
સમિતિ	૫ પ્રકારની
ભાવના	૧૨ પ્રકારની
પ્રતિમા	૧૨ પ્રકારની

ઈન્દ્રિયનિરોધ	૫ પ્રકારનો
પ્રતિલેખના	૨૫ પ્રકારની
ગુપ્તિ	૩ પ્રકારની
અભિગ્રહ	૪ પ્રકારના
કુલ	૭૦ પ્રકાર

ઉપાધ્યાય ભગવંતના પચીસ ગુણ બીજી રીતે પણ ગણાવવામાં આવે છે, જેમ કે અગિયાર અંગના અગિયાર ગુણ અને ચૌદ પૂર્વના ચૌદ ગુણ એમ અગિયાર અને ચૌદ મળીને પચીસ ગુણ. અગિયાર અંગનાં નામ જોઈ ગયા. ચૌદ પૂર્વનાં નામ આ પ્રમાણે છે : (૧) ઉત્પાદ પૂર્વ, (૨) અગ્નાયણી પૂર્વ, (૩) વીર્યપ્રવાદ પૂર્વ, (૪) અસ્તિપ્રવાદ પૂર્વ, (૫) જ્ઞાનપ્રવાદ પૂર્વ, (૬) સત્યપ્રવાદ પૂર્વ, (૭) આત્મપ્રવાદ પૂર્વ, (૮) કર્મપ્રવાદ પૂર્વ, (૯) પ્રત્યાખ્યાનપ્રવાદ પૂર્વ, (૧૦) વિદ્યાપ્રવાદ પૂર્વ, (૧૧) કલ્યાણ પૂર્વ, (૧૨) પ્રાણાયુ પૂર્વ, (૧૩) ક્રિયાવિશાલ પૂર્વ, (૧૪) લોકબિંદુસાર પૂર્વ.

શ્રી જ્ઞાનવિમલસૂરિએ 'નવકાર ભાસ' માં ઉપાધ્યાય ભગવંતના પચીસ ગુણ આ બંને રીતે દર્શાવ્યા છે. જુઓ :

અંગ અગ્યાર, ચૌદ પૂર્વ જે, વલી ભાણી ભાણાવે જેહ રે;
 ગુણ પાણવીસ અલંકર્યા, દષ્ટિવાદ અરથ જેહ રે.
 અથવા અંગ ઈગ્યાર જે વલી, તેહના બાર ઉપાંગ રે;
 ચરણકરણની સિત્તરી, જે ધારે આપાણઈ અંગ રે.

ઉપાધ્યાય મહારાજના પચીસ ગુણમાં અગિયાર અંગ, બાર ઉપાંગ તથા નંદીસૂત્ર અને અનુયોગસૂત્ર એ બે મળીને પચીસ ગુણ પણ ગણાવાય છે.

વળી, ઉપાધ્યાયના પચીસ ગુણ નીચે પ્રમાણે પણ ગણાવવામાં આવે છે :

બારસંગ વિઝબુધ્ધા કરણ ચરણ જુઓ ।

પઠ્ઠભવણા જોગ નિગો ઉવજ્ઝાય ગુણં વંદે ॥

(બાર અંગના જાણકાર, કરણસિત્તરી અને ચરણસિત્તરીના ગુણોથી યુક્ત, પ્રભાવના તથા યોગથી યુક્ત એવા ઉપાધ્યાયના ગુણોને વંદન કરું છું.)

બાર અંગના બાર ગુણ, એક ગુણ કરણસિત્તરીનો, એક ગુણ ચરણસિત્તરીનો, આઠ પ્રકારની પ્રભાવનાના આઠ ગુણ તથા મન, વચન અને કાયા એ ત્રણના યોગના ત્રણ ગુણ એમ મળીને ઉપાધ્યાયના પચીસ ગુણો ગણાવવામાં આવે છે.

જેમ આચાર્ય ભગવંતના છત્રીસ ગુણ છત્રીસ જુદી જુદી રીતે ગણાવવામાં આવે છે તેમ ઉપાધ્યાય ભગવંતના પચીસ ગુણ પચીસ જુદી જુદી રીતે ગણાવવામાં આવે છે. શ્રી જ્ઞાનવિમલસૂરિ નવકાર ભાસમાં કહે છે :

પંચવીસ પંચવીસી ગુણતાણી, જે ભાખી પ્રવચનમાંહિ રે;
મુક્તાફલ માલા પરિ, દીપે જસ અંગિ ઉછાહી રે.

ઉપાધ્યાય શ્રી યશોવિજયજી પાણ નવપદની પૂજા માં આ પચીસ પચીસનો નિર્દેશ કરતાં કહે છે 'ધરે પંચને વર્ગ વર્ગિત ગુણોઘા' અહીં એમણે ગણિતશાસ્ત્રીના પારિભાષિક શબ્દો વાપર્યા છે. પાંચનો વર્ગ એટલે $5 \times 5 = 25$. વર્ગને ફરી વર્ગિત કરવામાં આવે એટલે $25 \times 25 = 625$ થાય. ઉપાધ્યાય ભગવંત એટલા ગુણોનો ધારણ કરનાર હોય છે.

આમ શાસ્ત્રકારોએ ઉપાધ્યાય ભગવંતના 25×25 એટલે કુલ 625 ગુણ બતાવ્યા છે. અલબત્ત, આમાં અગિયાર અંગ, ચરણસિત્તરી, કરણસિત્તરી વગેરે ગુણો એકાધિક વાર આવે છે એટલે કુલ 625 ગુણ કરતાં થોડા ઓછા ગુણ થાય, તો બીજી બાજુ ચરણસિત્તરી અને કરણસિત્તરીના સિત્તર સિત્તર ગુણને એક એક ગુણ તરીકે બતાવવામાં આવ્યા છે તેને બદલે તેના પેટાભેદોને સ્વતંત્ર ગુણ તરીકે ઓળખવામાં આવે તો આ સંખ્યા ઘણી વધી જાય.

સંસ્કૃત શબ્દ ઉપાધ્યાય ઉપરથી અર્ધમાગધી-પ્રાકૃતમાં ઉવજ્જાય શબ્દ આવ્યો છે. અધ્યાપન કરાવનાર તે ઉપાધ્યાય એ અર્થમાં ભારતીય ભાષાઓમાં ઉપાધ્યાય ઉપરથી ઉપાધ્યે, પાધ્યે, ઓઝા, ઝા, જેવા શબ્દો પ્રચલિત થયા છે. પરંતુ પંચપરમેષ્ઠિમાં ઉપાધ્યાયનું પદ વિશિષ્ટ પ્રકારનું છે.

ઉપાધ્યાય શ્રી યશોવિજયજીએ પંચપરમેષ્ઠિ ગીતા માં ઉપાધ્યાયના જુદા જુદા પર્યાયો નીચે પ્રમાણે આપ્યા છે :

ઉપાધ્યાય, વરવાચક, પાઠક, સાધક, સિદ્ધ,
કરગ, ઝરગ, અધ્યાપક, કૃતકર્મા, શ્રુતવૃદ્ધા;
શિક્ષક, દીક્ષક, થવિર, થરંતન, રત્નવિશાલ,
મોહજ્યા, પારિચ્છક, જિતપરિશ્રમ, વૃતમાલ.
સામ્યધારી, વિદિત-પદવિભાગ, કુત્તિયાવાણ, વિગત દ્વેષરાગ;
અપ્રમાદી, સદા નિર્વિધાદી, અદ્યાનંદ, આતમપ્રમાદી.

આ ઉપરાંત પંડિત, પંન્યાસ, ગણિ, ગણચિંતક, પ્રવર્તક વગેરે શબ્દો પણ પ્રયોજાય છે. અલબત્ત, તેમાં ક્રિયા કર્તવ્યાદિની દૃષ્ટિએ કેટલોક પારિભાષિક ભેદ રહેલો છે.

ઉપાધ્યાય ભગવંતનાં લક્ષણો દર્શાવતાં, વિશેષાવશ્યક ભાષ્યમાં નીચેની ગાથાઓમાં કહ્યું છે :

નામં ઠવણા દવિણ ભાવે ચઽવ્વિહો ઁવજ્ઞાયો ।

દઁવ્વે લોઈવસિપ્પા ધમ્મે તહ અન્નતિત્થીયા ॥

(નામ ઉપાધ્યાય, સ્થાપના ઉપાધ્યાય, દ્રવ્ય ઉપાધ્યાય અને ભાવ ઉપાધ્યાય એમ ચાર પ્રકારે ઉપાધ્યાય કહ્યા છે. લૌકિક શિલ્પાદિનો ઉપદેશ કરનાર તથા પોતાના ધર્મનો ઉપદેશ કરનાર અન્ય તીર્થિઓ (અન્યદર્શનીઓ) તે દ્રવ્ય ઉપાધ્યાય કહેવાય છે.)

વારસંગો જિણક્રઁખાણે સજ્ઞાયો કહિંઁ ઁવે ।

જમ્હા તં ઁવઁસંતિ ઁવજ્ઞાયા નેણ વુચ્ચંતિ ॥

(દ્વાદશાંગરૂપ સ્વાધ્યાય જિનેશ્વર ભગવાને કહ્યો છે. એનો સ્વાધ્યાય શિષ્યોને ઉપદેશે છે તેથી તેઓ (ભાવ) ઉપાધ્યાય કહેવાય છે.)

ઉત્તિ ઁવઁઓગકરણે ઁજ્ઞત્તિ ઁ જ્ઞાણસ્મ હોઈ નિદ્દેસે ।

ઁણ હોઈ ઁજ્ઞા જેસો અચ્ચો વિ પજ્જાઓ ॥

(ઁ શબ્દ ઉપયોગ કરવાના અર્થમાં તથા જ્ઞા શબ્દ ધ્યાનના નિર્દેશમાં છે. એટલે ઁજ્ઞા શબ્દનો અર્થ ઉપયોગપૂર્વક ધ્યાન કરનાર એવો થાય છે. ઉપાધ્યાય શબ્દના આવા પણ બીજાં પર્યાયો છે.)

ઁવગમ્ય જઁઓઁહોયઈ જં ચોવગયમજ્ઞયાવિતિ ।

જં ચોવાયજ્ઞાયા હિયસ્સ તો તે ઁવજ્ઞાયા ॥

(જેની પાસે જઈને ભાગ્યાય અથવા જે પોતાની પાસે આવેલાને ભાગાવે, તેમ જ જે હિંતનો ઉપાય ચિંતવનાર હોય તેને ઉપાધ્યાય કહેવામાં આવે છે.)

આયારદેસણાઓ આયારિયા, વિણયણાદુવજ્ઞાયા ।

અથ પદાયગા વા ગુરવો સુત્તસ્સુવજ્ઞાયા ॥

(આચારનો ઉપદેશ કરવાથી આચાર્ય અને અન્યને ભાગાવવાથી ઉપાધ્યાય કહેવાય. વળી, અર્થપ્રદાયક તે ભગવંત આચાર્ય અને સૂત્રપ્રદાયક તે ઉપાધ્યાય કહેવાય.)

પંચાધ્યાયી માં ઉપાધ્યાયનાં લક્ષણો બતાવતાં કહ્યું છે :

ઉપાધ્યાયાઃ સમાધીયાન્ વાદી સ્વાદ્વાદકોવિદઃ ।

વાગ્મી વાગ્બ્રહ્મસર્વજ્ઞઃ સિદ્ધાન્તાગમપારગઃ ।

કવિર્જત્યગ્રસૂત્રાણાં શબ્દાર્થઃ સિદ્ધસાધનાત્ ।

ગમકોઁર્થસ્ય માધુર્યે ધુર્યો વક્તૃત્વવર્ત્મનામ્ ।

उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासोऽस्ति कारणम् ।
यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद् गुरुः ।
शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्व साधारणो विधिः ।

(ઉપાધ્યાય શંકાનું સમાધાન કરવાવાળા, વાદી, સ્યાદ્વાદમાં નિપુણ, સુવક્તા, વાગ્ બલ, સર્વજ્ઞ એટલે કે શાસ્ત્રસિધ્ધાંત અને આગમોના પારગામી, શબ્દ અને અર્થ દ્વારા વાર્તિક તથા સૂત્રોને સિદ્ધ કરવાવાળા હોવાથી કવિ, અર્થમાં મધુરતા આણનાર, વક્તૃત્વના માર્ગના અચાણી હોય છે. ઉપાધ્યાયના પદમાં શ્રુતાભ્યાસ મુખ્ય કારણભૂત હોય છે, કારણ કે તેઓ સ્વયં અધ્યયન કરતા હોય છે અને શિષ્યોને અધ્યયન કરાવનાર ગુરુ અર્થાત્ ઉપાધ્યાય હોય છે.)

ઉપાધ્યાયમાં તદુપરાંત વ્રતાદિના પાલનમાં મુનિઓના જેવી જ સર્વસાધારણ વિધિ હોય છે.)

શ્રી પદ્મવિજયજી મહારાજે નીચેની કડીમાં ઉપાધ્યાયના વિનય ગુણનો મહિમા ગાયો છે.

મારગદર્શક અવિનાશીપાણું આચાર વિનય સંકેતે જી,

સહાયપાણું ધરતાં સાધુ જી નમીએ એહિ જ હેતે જી.

ઉપાધ્યાય મહારાજના દરમ ગુણમાં વિનયનો ગુણ અનિવાર્યપણે સમાવિષ્ટ હોય જ. તેમ છતાં વિનય ગુણ ઉપર સકારાણ ભાર મૂકવામાં આવે છે. એમનો વિનય ગુણ એમના ગુરુ ભગવંત પ્રત્યેનો છે. એ ગુણ એમના વ્યવહાર-વર્તનમાં દિવસ રાત સ્પષ્ટપણે નીતરતો અન્યને જાણાય છે. એથી જ એમની પાસે સ્વાધ્યાય કરનાર મુનિઓમાં પોતાના વાચનાદાતાનો ગુણ સ્વાભાવિક રીતે જ કેળવાય છે. તેઓ વિનીત બને છે. મુનિઓ સ્વાધ્યાય કરે અને છતાં એમનામાં જે વિનય ગુણ સહજપણે ન પ્રગટે તો એમના સ્વાધ્યાયનું બહુ ફળ ન રહે. વ્યવહારમાં કહેવાય છે કે જે વડીલોને માન નથી આપતો તે બીજાઓનું માન બહુ પામી શકતો નથી. લશ્કરી જીવનમાં કહેવાય છે કે

Only those who respect their seniors can command respect from their juniors.

આવશ્યક નિર્ધુક્તિની ૯૦૩મી ગાથામાં વિણયયા શબ્દ પ્રયોજાયેલો છે. એનો અર્થ થયો વિનયનથી. વિનયન એટલે સારી રીતે દોરી જવું, સારી રીતે ભણાવવું, સારી રીતે બીજામાં સંકાન્ત કરવું, બીજામાં સવિશેષ પ્રત્યારોપણ કરવું. ઉપાધ્યાય મહારાજ સાધુઓને સ્વાધ્યાય કરાવીને તેમનામાં જ્ઞાનનું વિનયન કરે છે. અભયદેવસૂરિએ ભગવતીસૂત્રની ટીકામાં આ વિનયન દ્વારા ભવ્ય જીવો ઉપર ઉપાધ્યાય મહારાજના ઉપકારનું મહત્ત્વ દર્શાવ્યું છે.

નમસ્યતા ચૈષાં સુસંપ્રદાયાત્ જિનવચનાધ્યાપનતો વિનયનેન ભવ્યાનામુપકારિત્વાદિતિ ।

ઉપાધ્યાય મહારાજના આ વિનય અને વિનયન એ બે ગુણોને કેટલાક એક સમજે છે. જે કે એ બંને ગુણો પરસ્પર ગાઠ રીતે સંકળાયેલા છે, તો પણ તે બંનેના ભિન્ન વિશિષ્ટ સ્પષ્ટ અર્થ છે.

આચાર્ય, ઉપાધ્યાય અને સાધુ એ ત્રણ પદમાં વિકાસ ક્રમની દૃષ્ટિએ સાધુ અને ઉપાધ્યાય વચ્ચે અંતર છે તેટલું અંતર ઉપાધ્યાય અને આચાર્ય વચ્ચે નથી. ગરહવ્યવસ્થાની દૃષ્ટિએ આચાર્યનું સ્થાન ચરિયાનું છે તેમ છતાં આચાર્ય અને ઉપાધ્યાય ઘણી બધી દૃષ્ટિએ સમાન હોય છે.

કેટલીક વાર કેટલાક ગરહમાં આચાર્ય માત્ર એક જ હોય છે અને ઉપાધ્યાય એક કરતાં વધુ હોય છે. એટલે આચાર્યના પદને પાત્ર હોવા છતાં કેવલાક ઉપાધ્યાય જીવન પર્યંત ઉપાધ્યાય જ રહે છે.

ઉપાધ્યાય શ્રી યજ્ઞોવિજયજી શ્રી પંચપરમેષ્ટિ ગીતા માં ઉપાધ્યાય ભગવંત આચાર્ય ભગવંત સમાન જ છે તે દર્શાવતાં કહે છે :

જેહ આચાર્ય પદ યોગ્ય ધીર,
સુગુરુગુણ ગાજતા અતિ ગંભીર;

‘સૂત્ર ભાણીએ સખર જેહ પાસે તે ઉપાધ્યાય, જે અર્થ ભાષે તેહ આચાર્ય એ ભેદ લહીએ, દોઈમાં અધિક અંતર ન કહીએ.’

શ્રીપાલ રાસના ચોથા ખંડમાં રાજા અને રાજકુંવર (યુવરાજા)નું રૂપક પ્રયોજીને ગરહ-વ્યવસ્થાની દૃષ્ટિએ ઉપાધ્યાયના કાર્યનો મહિમા દર્શાવતાં કહેવામાં આવ્યું છે :

રાજકુંવર સરીખા ગાગચિંતક આચારિજ પદ જોગ;
જે ઉવજાયા સદા તે નમતાં, નાવે ભવ ભય રોગ.

રાજકુંવર જેવી રીતે રાજાની અનુપસ્થિતિમાં રાજાની જવાબદારી વહન કરે છે તેમ આચાર્ય ભગવંતની અનુપસ્થિતિમાં આચાર્યનું પદ પામવાને યોગ્ય એવા ઉપાધ્યાય ભગવંત ગણની-ગરહની ચિંતા કરતા હોય છે. એવા ઉપાધ્યાય ભગવંતને નમસ્કાર કરતાં ભવનો ભય કે ભયરૂપી રોગ આવતો નથી.

શ્રી જ્ઞાનવિમલસૂરિએ પણ નવકાર ભાસના ચોથા પદમાં ઉપાધ્યાયને યુવરાજા તરીકે ઓળખાવતાં કહ્યું છે :

ચોથે પદે ઉવજાયાનું, ગુણવંતનું ધરો ધ્યાન રે,
જુવરાજા સમ તે કહ્યા, પદિસૂરિને સૂરિ સમાન રે,
જે સૂરિ સમાન વ્યાખ્યાન કરિ,
પણિ નવિ ધરે અભિમાન રે
વલી સૂત્રાર્થનો પાઠ દઈ, ભવિ જીવને સાવધાન રે.

દિગંબર પરંપરાના ધવલા ગ્રંથમાં પણ કહ્યું છે

चतुर्दशविद्यास्थानव्याख्यातारः उपाध्यायाः तात्कालिक प्रवचनव्याख्यातारो वा
आचार्यस्योक्ता शेष लक्षण समन्विताः संग्रहानुग्रहादिगुणहीनाः।

ચૌદ વિદ્યાસ્થાનો વિષે વ્યાખ્યાન કરવાવાળા ઉપાધ્યાય હોય છે, અથવા તાત્કાલિક પ્રવચનો (શાસ્ત્રો) વિષે વ્યાખ્યાન કરવાવાળા ઉપાધ્યાય હોય છે. તેઓ સંગ્રહ, અનુગ્રહ વગેરે ગુણો સિવાય આચાર્યના બધા જ ગુણોથી યુક્ત હોય છે.

ઉપાધ્યાય મહારાજ શ્રુતજ્ઞાનના પારગામી હોય અને તે જ પ્રમાણે તેમનું ઉત્કૃષ્ટ સંયમમય જીવન હોય તો તેઓ અવશ્ય વધુમાં વધુ ત્રીજે ભવે મોક્ષગતિ પ્રાપ્ત કરે. જે ઉપાધ્યાય મહારાજ આ જ પ્રમાણે ગુણો ધરાવીને પછી સમયાનુસાર આચાર્યની પદવી પ્રાપ્ત કરે અને આચાર્યનો ગુણ ધરાવે તેઓ પણ અવશ્ય વધુમાં વધુ ત્રીજે ભવે મોક્ષગતિ પામે. ઉપાધ્યાયજી શ્રી યશોવિજયજી શ્રીપાલ રાસ માં લખે છે

અર્થ સૂત્ર ને દાન વિભાગે, આચાર જ ઉવજ્ઞાય

ભવ ત્રણ લહે જે શિવસંપદ, નમિયેં તે સુપસાય.

(પોતાના શિષ્યોને શાસ્ત્રોના અર્થ અને સૂત્રના દાન કરવાના વિભાગથી અનુક્રમે આચાર્ય અને ઉપાધ્યાય વચ્ચેનું અંતર છે. ઉપાધ્યાય સૂત્ર ભણાવે છે અને આચાર્ય તેના ગૂઢાર્થ સમજાવે છે. આચાર્ય અને ઉપાધ્યાય પોતપોતાનાં પદ અનુસાર ત્રણ ભવમાં શિવસંપદમોક્ષસંપત્તિ મેળવનાર છે. તેઓને પ્રસન્નતાપૂર્વક નમસ્કાર કરીને તેમનો કૃપાપ્રસાદ મેળવો.)

ઉપાધ્યાય શ્રી યશોવિજયજી પંચપરમેષ્ઠિ ગીતા માં પણ આ વાતનો નિર્દેશ કરતાં લખે છે

સંગ્રહ કરત ઉપગ્રહ નિજ વિષયે શિવ જાય,

ભવ ત્રીજે ઉત્કર્ષથી, આચારજ ઉવજ્ઞાય,

એહ વચન ઈહાં ભાખ્યો, ભગવઈવૃત્તિ લેઈ,

એક જ ધર્મિ નિશ્ચય, વ્યવહારે દોઈ ભેઈ.

ઉપાધ્યાયજી શ્રી યશોવિજયજીએ અહીં ભગવતીસૂત્રની વૃત્તિનો આધાર આપ્યો છે અને ઉપાધ્યાય તથા આચાર્યમાં વ્યવહારદષ્ટિથી ભેદ છે, નિશ્ચયદષ્ટિથી તો તેઓ બંને એક જ છે એવું સ્પષ્ટ પ્રતિપાદન કર્યું છે.

ઉપાધ્યાય ભગવંતો શાસ્ત્રોના અધ્યયન અને અધ્યાપનના કાર્યમાં સવિશેષપણે, કર્તવ્યરૂપે મજ્જ રહેતા હોવા છતાં તેમની પ્રત-તપાદિ ક્રિયાઓમાં જરા પણ ન્યૂનતા આવતી નથી. તેઓ પોતાના શિષ્યોને, અન્ય મુનિઓને વાચના આપવા ઉપરાંત ક્રિયાઓનાં સહસ્ર પણ સમજાવતા હોય છે અને અધ્યયન કરતાં કરતાં મુનિઓ ક્રિયાની બાબતમાં પ્રમાદી ન બને તે તરફ પણ પૂરતું લક્ષ આપતા હોય

છે. ઉપાધ્યાય ભગવંત સાધુમાંથી ઉપાધ્યાય થયા હોય છે એટલે સાધુ તરીકેના તેમનાં વ્રત-તપાદિ ચાલુ જ હોય છે અને સાધુના સત્તાવીસ ગુણોથી તો તેઓ યુક્ત હોય જ છે. પોતાના પંચાચારના વિશુદ્ધ પાલન દ્વારા તેઓએ વાચના લેતા મુનિઓ સમક્ષ એક અનુકરણી ઉદાહરણ પૂરું પાડવાનું હોય છે.

ઉપાધ્યાય મહારાજ બાહ્ય બધી ક્રિયાઓ ઉપયોગપૂર્વક કરતા હોવા છતાં અને પોતાના ગચ્છમાં સારાગાદિક કર્તવ્ય કરતા હોવા છતાં તેમનું ચિત્ત સતત ધ્યાનમાં રહેતું હોય છે. તેઓ આગમોના મુખ્યાર્થ ઉપરાંત અક્ષર, પદ, વાક્ય, વાક્યસમૂહનો શો તાત્પર્યાર્થ છે, તથા તેમાં કેવાં કેવાં રહસ્યો ગૂંથી લેવામાં આવ્યાં છે તેનું મનન-ચિંતન કરતા રહેતા હોય છે. તેમનું ભાવચિંતન મૌલિક અવગાહનરૂપ, અનુપ્રેક્ષારૂપ હોય છે. તેમનો રસનો વિષય જિનેશ્વરકથિત પદાર્થોનાં રહસ્યોને પામવાનો હોય છે. એથી જ તેઓ આત્મમગ્ન હોય છે અર્થાત્ આત્મારૂપી ઘરમાં રમાણ કરતા હોય છે. કહ્યું છે

સારાગાદિક ગચ્છમાંહિ કરતાં, પાણ રમતાં નિજ ઘર હો,
રંગીલે જી ઉરા તું તો પાઠક પદ મન ધર હો.

શ્રી પાલ રાસમાં પાણ કહ્યું છે

તપ સજ્જાયે રત સદા, દ્વાદશ અંગના ધ્યાતા રે,
ઉપાધ્યાય તે આત્મા, જગ બંધવ, જગ ભ્રાતા રે.

ઉપાધ્યાય ભગવંત દિવસ-રાત અન્ય ક્રિયાઓ કરતા હોવા છતાં અને સમુદાયનાં અન્ય વ્યવહારનાં કાર્યો એમણે કરવાનાં હોય તો પાણ એમનું ચિત્ત તો શ્રુતશાસ્ત્રના તમામ પદાર્થોમાં સતત રમતું હોય છે. એમને માટે ઉપમા આપવામાં આવે છે કે, જેમ જલ વિના માછલી તરફડે તેમ શ્રુતશાસ્ત્ર વિના ઉપાધ્યાય મહારાજને ચેન ન પડે. શાસ્ત્રોના અધ્યયન કે અધ્યાપનનો તેમને ક્યારેય થાક ન લાગે. વસ્તુતઃ અધ્યયન-અધ્યાપનની વાત આવે ત્યાં તેઓ ઉત્સાહમાં આવી જાય. અધ્યાપનના કાર્યનો તેમને ક્યારેય બોજો ન લાગે. દિવસરાત ક્યારેય કોઈ પાણ શિષ્ય કે અન્ય કોઈ ગૃહસ્થ શંકાસમાધાન માટે આવે ત્યારે તેઓ અવશ્ય તત્પર જ હોય. એ કાર્યમાં તેઓ ક્યારેય ઉતાવળ ન કરે તે વેઠ ન ઉતારે. પૂરી ધીરજ, ખંત, શાન્તિ અને સમભાવથી તથા એટલા જ ઉત્સાહથી તેઓ પદાર્થને, તત્ત્વને, સિદ્ધાંતને સમજાવે. ક્યારેક પૂછનાર વ્યક્તિ ગુસ્સો કરે, આવેગમાં આવીને ખોટી ખોટી દલીલો કરે તો પાણ ઉપાધ્યાય મહારાજ એટલા જ સમભાવથી અને ક્ષમાભાવથી, જરૂર પડે તો મધ્યસ્થ કે કુરુણાભાવથી તેને સમજાવે. તેઓ પોતે ક્યારેય રોષે ન ભરાય કે ઉત્તર આપવાનું રોષપૂર્વક ન ટાળે. અલભત્ત, તેઓ પાત્ર જોઈને કરે, તેની પ્રહાણશક્તિ અને સ્મરણશક્તિ એકસરખી ન હોય એટલે જે જીવ જે દશાએ હોય ત્યાંથી તેને ઊંચે ચઢાવવાની દૃષ્ટિથી પૂરા સદ્ભાવપૂર્વક તેઓ અધ્યયન કરાવે. માસનુસ મુનિનું દૃષ્ટાંત જાણીતું છે. મુનિને કશું આવડતું નહોતું અને કશું જ યાદ રહેતું નહોતું. તેમના

તેવા પ્રકારનાં જ્ઞાનાવરણીય કર્મોનો ઉદય જાગીને ઉપાધ્યાય મહારાજ તેમને રાગદ્વેષ ન કરવા માટે એક જ વાક્ય ભારપૂર્વક યાદ રાખવાનું, ગોખવાનું શિખવડે છે 'મા તુય મા રુપ.' મુનિને આ વાક્ય પાણ પૂરું યાદ રહેતું નથી અને તેઓ માસતુસ ગોખે છે, પાણ ઉપાધ્યાય મહારાજની શિખામણ પ્રમાણે અત્યંત ભાવપૂર્વક ગોખે છે. બીજાઓ એમની અજ્ઞાન દશાની હાંસી કરે છે, પાણ મુનિ તો ગુરુ મહારાજની શિખામણ યાદ રાખીને, પોતાનામાં જ મજ્જ બનીને એવી ઊંચી ભાવપરિણતિએ પહોંચે છે કે એમને કેવળજ્ઞાન થાય છે. આમ, ઉપાધ્યાય મહારાજ પાત્રાનુસાર અધ્યયન કરાવીને યોગ્ય જીવને કેવળજ્ઞાન સુધી પહોંચાડી શકે છે.

શ્રુતશાસ્ત્રનું અધ્યયન અને અધ્યાપન એ ઉપાધ્યાય મહારાજના કર્તવ્યરૂપ છે. એટલા માટે પોતાનું અધ્યયન કરવામાં અને શિષ્યોને અધ્યયન કરાવવામાં તેઓ જે પ્રમાદ સેવે અથવા મન વગર, કંટાળા કે ઉદ્વેગ સાથે તેઓ અધ્યયન કરાવે તો તેમને દોષ લાગે છે અને તેનું તેમણે પ્રાયશ્ચિત્ત લેવું પડે છે.

ઉપાધ્યાય મહારાજનો આદર્શ તો એ છે કે એમની પાસે અધ્યયન કરવા આવનારને પાણ થાક ન લાગે, પાણ તેમના અધ્યયનમાં રસ, રુચિ અને વેગ વધે. શિષ્ય તરફથી આદરભાવ, પૂજ્યભાવ ને સર્ગિક રીતે પામવો એ સહેલી વાત નથી. જ્ઞાનદાનની સાથે સાથે અપાર વાતસલ્યભાવ હોય તો જ એ પ્રમાણે બની શકે. ઉપાધ્યાય મહારાજ શિષ્યોના શ્રદ્ધેય ગુરુ ભગવંત હોવા જોઈએ. આવા ઉપાધ્યાય મહારાજ મૂર્ખ શિષ્યને પાણ જ્ઞાની બનાવી દે. તેઓ પથ્થરમાં પાણ પહ્લવ પ્રગટાવી શકે. ઉપાધ્યાય શ્રી યશોવિજયજી શ્રીપાળ રાસમાં લખે છે

મૂરખ શિષ્ય નિપાઈ જે પ્રભુ, પહાણને પહ્લવ આણે

તે ઉવજ્જાય સકલજન પૂજિત, સૂત્ર અરથ સવિ જાણે

જૈન શાસનની પરંપરામાં શિષ્યોને વાચના આપી ઉત્સાહિત કરવામાં કિશોર વયના શ્રી વજ્રસ્વામીનું ઉદાહરણ અદ્વિતીય છે. એમની પાસે વાચના લેનાર સાધુઓ એમના કરતાં ઉંમરમાં ઘણા મોટા હતા. કેટલાક અલ્પબુદ્ધિના કે મંદબુદ્ધિના હતા. તેઓને પાણ વજ્રસ્વામી પાસે વાચના લેતાં બધું આવડી જતું. કેટલાક શિષ્યોને ધાર્યા કરતાં ઘણા ઓછા સમયમાં સમજાઈ જતું અને યાદ રહી જતું. વજ્રસ્વામી પાસે અધ્યયન કરાવવાની એક વિશિષ્ટ લબ્ધિ હતી.

આમ ઉપાધ્યાય પદનો મહિમા ઘણો મોટો છે. ઉપાધ્યાય-પદના નમસ્કારનું, જાપ અને ધ્યાનનું મહત્ત્વ શાસ્ત્રકારો એ સુપેરે સમજવું છે :

શ્રી ભદ્રબાહુસ્વામી આવશ્યક નિર્બુક્તિમાં ઉપાધ્યાય ભગવંતને નમસ્કાર કરવાનો મહિમા સમજવતાં કહે છે

उवज्झायनमुक्कारो जीवं मोएई भवसहस्साओ ।
 भावेण कीरमाणो होई पुणो बोहिलाभाए ॥
 उवज्झायनमुक्कारो धन्नाणं भवक्खयं कुणंताणं ।
 हियअं अणुम्मुयं तो विसोत्तियावारओ होई ॥
 उवज्झायनमुक्कारो एस खलु वन्निओ महत्थोत्ति ।
 जो मरणम्मि उवगो अभिक्खणं कीरई बहुसो ॥
 उवज्झायनमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो ।
 मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवई मंगलं ॥

(૧) ઉપાધ્યાય ભગવંતને નમસ્કાર કરેલો નમસ્કાર જીવને હજારો ભવથી મુક્ત કરાવે છે. વળી ભાવપૂર્વક કરાતો નમસ્કાર તો બોધિલાભને માટે થાય છે. (૨) ઉપાધ્યાય ભગવંતને કરેલો નમસ્કાર ધન્ય માણસોને માટે ભવક્ષય કરનારો થાય છે તથા હૃદયમાં અનુસ્મરણ કરાતો નમસ્કાર અપધ્યાનને નિવારનારો થાય છે. (૩) ઉપાધ્યાય ભગવંતને કરાતો નમસ્કાર મહાન અર્થવાણો હોય છે એવું વાર્ગવવામાં આવે છે તથા મૃત્યુ પાસે આવ્યું હોય ત્યારે તે નમસ્કાર બહુ વાર કરાય છે. (૪) ઉપાધ્યાય ભગવંતને કરાયેલો નમસ્કાર સર્વ પાપનો વિનાશ કરનાર છે અને સર્વ મંગલોમાં પ્રથમ મંગલ છે.

શ્રી પાલ રાસના ચોથા ખંડમાં ઉપાધ્યાય ભગવંત વિશે વળી કહેવાયું છે

ભાવના ચંદન સમ રસવયાગે,
 અહિત તાપ સવિ ટાળે,
 તે ઉવજ્જાય નમીજે જે વલી,
 જિનશાસન અજુઆલે રે.

(જેઓ ભાવનાચંદનના રસ જેવાં પોતાનાં શીતળ રસવચનો વડે લોકોના અહિતરૂપી સઘળા તાપને ટાળે છે તથા જેઓ જિનશાસનને અજવાળે છે તેવા ઉપાધ્યાય ભગવંતને ભાવપૂર્વક નમસ્કાર કરો.)

ઉપાધ્યાય શ્રી યશોવિજયજી મહારાજ નવપદની પૂજા માં ઉપાધ્યાયપદની પૂજામાં રત્નશેખરસૂરિએ સિરિ સિરિવાલ કહા માં લખેલી ગાથા આદ્યકાવ્ય તરીકે નીચે પ્રમાણે આપે છે

સુત્તથવિત્થારણતપ્પરાણં, નમો નમો વાયગકુંજરાણં ।
 ગણસ્સ સાધારણ સારયાણં સવ્વક્કણા વજ્જિયમંથરાણં ॥

સૂત્રાર્થનો વિસ્તાર કરવામાં તત્પર અને વાયકમાં કુંજર (હાથી) સમાન ઉપાધ્યાય મહારાજને નમસ્કાર કરવાનું કહેવામાં આવ્યું છે. ઉપાધ્યાય મહારાજ સૂત્ર અને તેના અર્થનો વિસ્તાર કરીને

સમજાવે છે. વળી તેઓ દ્વારા સૂત્રાર્થની પરંપરા વિસ્તરતી ચાલે છે. ઉપાધ્યાય મહારાજ સૂત્રોનો અર્થ સામાન્યથી સમજાવે છે અને આચાર્ય ભગવંત વિશેષથી અર્થ સમજાવે છે અર્થાત્ જ્યાં જ્યાં અવકાશ હોય ત્યાં ત્યાં તેનાં ગૂઠ રહસ્યો પ્રકાશે છે.

પંચપરમેષ્ઠિ નમસ્કાર અને સાધનામાં પંચાસ શ્રી ભદ્રંકરવિજયજી ગણિવર લખે છે, શ્રી ઉપાધ્યાય ભગવંતનો નમસ્કાર કેવી રીતે ભાવનમસ્કાર બને છે તે જોઈએ શબ્દ, રૂપ અને ગંધ એ જોમ અનુક્રમે શ્રોત, ચક્ષુ અને ધ્યાનના વિષયો છે, તેમ રસ અને સ્પર્શ અનુક્રમે રસનેન્દ્રિય અને સ્પર્શનેન્દ્રિયના વિષયો છે અને તેનું આકર્ષણ જીવને અનાદિનું છે. તે ટાળવાના ઉપાય તરીકે અને તે દ્વારા ઉપાધ્યાયના નમસ્કારને ભાવનમસ્કાર બનાવવા માટે શ્રી ઉપાધ્યાય ભગવંતોનો સ્વાધ્યાય અને તેથી ઉત્પન્ન થતો એક પ્રકારનો રસ તે બંનેનું પ્રાણિધાન આવશ્યક છે. દ્વાદશાંગીરૂપ પ્રવચનનો સ્વાધ્યાય નિરંતર કરવો અને અન્યને કરાવવો એ શ્રી ઉપાધ્યાય ભગવંતનું સર્વશ્રેષ્ઠ કર્તવ્ય છે.. એ સ્વાધ્યાયનો રસ અતીન્દ્રિય તૃપ્તિને આપે છે, કે જે તૃપ્તિ પદ્મસયુક્ત ભોજનનો નિરંતર સ્વાદ કરનારને પણ કદી થતી નથી ... શ્રુતજ્ઞાનના અભ્યાસથી શ્રી ઉપાધ્યાય ભગવંતોને થતી તૃપ્તિ તે અનાદિવિષયની અતૃપ્તિને શમાવનારી છે અને અતીન્દ્રિય તૃપ્તિના નિરુપમ આનંદને આપનારી છે.

સ્ત્વશેષસૂરિની ગાથાને અનુસરી ઉપાધ્યાય શ્રી યશોવિજયજી કહે છે

દ્વાદશ અંગ સજ્જાય કરે જે, પારગ ધારક તાસ,
સૂત્ર અરથ વિસ્તાર રસિક તે, નમો ઉવજ્જાય ઉદ્ધાસ.

વળી તેઓ ઉપાધ્યાયપદનો મહિમા સમજાવતાં કહે છે

નામ અનેક વિવેક, વિશારદ પારદ પુણ્ય,
પરમેશ્વર-આજ્ઞાત, ગુણ સુવિશુદ્ધ અગણ્ય,
નમીએ શાસન-ભાસન, પતિતપાવન ઉવજ્જાય,
નામ જપતાં જેહનું, નવ વિધિ મંગલ થાય.

પંચાસ શ્રી ભદ્રંકરવિજયજી મહારાજ આ વિષે કહે છે, ઉવજ્જાય શબ્દ પણ ઉપયોગકરણમાં તથા ધ્યાનના નિર્દેશમાં વપરાયેલો છે. અર્થાત્ શ્રી ઉપાધ્યાય ભગવંતો સદા ઉપયોગી અને નિરંતર ધ્યાની હોય છે.

શ્રી સ્ત્વશેષરસૂરિએ શ્રીપાળરાજની કથા 'સિરિસિરિવાલ કહા' માં ઉપાધ્યાયપદનું ધ્યાન ધરવાનું કહ્યું છે

ગણતિત્તીસુ નિઉત્તે સુત્તથજ્ઞાવણંમિ ઉજ્જુતે ।
સજ્જાએ લીણમણે સમ્મં જ્ઞાએહ ઉજ્જાએ ॥

ગણ (ગચ્છ-ધર્મસંઘ) ની તૃપ્તિ (સારસંભાળ) માં નિયુક્ત (ગચ્છની સારણાવારણાદિ કરવાના અધિકારથી યુક્ત), સૂત્ર તથા અર્થનું અધ્યયન કરાવવામાં તત્પર અને સ્વાધ્યાયમાં લીન મનવાળા શ્રી ઉપાધ્યાય ભગવંતનું સમ્યક્ પ્રકારે ધ્યાન કરો.

સિરિ સિરિવાલ કહા માં નીચેની ગાથાઓમાં પણ ઉપાધ્યાયપદના ધ્યાનનું મહત્ત્વ સમજાવતાં કહ્યું છે :

જે બારસંઘસજજ્ઞાય ધારગા ધારગા તયત્થાણં ।
તદુભય વિત્થારરયા તે હં ઝાણમિ ઉજ્ઞાણ ॥
અન્નાણવહિ વિહુરાણ પાણિણં સુઅ રસાયણં સારં ।
જે દિંતિ મહાવિજ્ઞા તેહં ઝાણમિ ઉજ્ઞાણ ॥
મોહાદિ દઢ્ઢનઢ્ઢપ્પ નાણ જીવાણ ચેયણં દિંતિ ।
જે કેવિ નરિંદા ઈવ તે હં ઝાણમિ ઉજ્ઞાણ ॥

શ્રી રત્નશેખરસૂરિ ઉપાધ્યાય ભગવંત માટે વળી લખે છે :

સૂત્તથ્થ સંવેગમયં સુણં, સંનીરખીરાગય વિસ્સુણં ।
તમ્હા હુ તે ઉવજ્ઞાયરાયે, ઝાણહ નિચ્ચં પિકયપ્પસાણ ॥

(સારા શુદ્ધ જલ સમાન સૂત્રમય, ખીર સમાન અર્થમય અને અમૃત સમાન સંવેગમય એવા પ્રસિદ્ધ શ્રુતજ્ઞાન વડે જે ઉપાધ્યાયરૂપી રાજ કૃપાપ્રસાદ આપી ભવ્યાત્માને પ્રસન્ન કરે છે તેમનું હંમેશાં ધ્યાન કરો.)

શ્રુત એટલે આગમસૂત્રો. એ સૂત્રો શબ્દમય છે, તેમ જ અર્થમય છે. એમાં નિરૂપાયેલા પદાર્થનો બોધ સંવેગ જન્માવે એવો છે. આવા શ્રુતજ્ઞાનના દાતા ઉપાધ્યાય મહારાજ પોતાના શિષ્યોના ચિત્તને વિશુદ્ધ બનાવી એની પુષ્ટિ કરે છે. આવો કૃપાપ્રસાદ વરસાવનાર ઉપાધ્યાય મહારાજનું હંમેશાં ધ્યાન ધરવું જોઈએ. એમનું એવું ધ્યાન ધરવાથી એમના ગુણો પોતાનામાં આવે.

ઉપાધ્યાય શ્રી યશોવિજયજી શ્રી પંચપરમેષ્ઠિ ગીતામાં ઉપાધ્યાય ભગવંતના ધ્યાનથી યતા આધ્યાત્મિક અને લૌકિક લાભ વર્ણવતાં લખે છે

નિત્ય ઉવજ્ઞાયનું ધ્યાન ધરતાં,
પામીએ સુખ નિજ ચિત્ત ગમતાં,
હૃદય દુર્ધ્યાન વ્યંતર ન બાધે,
કોઈ વિરૂઓ ન વયરી વિરાધે.

નવપદની આરાધનામાં એટલે પંચપરમેષ્ઠિની તથા દર્શન, જ્ઞાન, ચારિત્ર અને તપની આરાધનામાં શાસ્ત્રકારોએ ભિન્ન ભિન્ન રંગની સંકલનાને ધાર્યું જ મહત્ત્વ આપ્યું છે. પંચપરમેષ્ઠિમાં અરિહંત પદનો શ્વેત, સિદ્ધ પદનો લાલ, આચાર્ય પદનો પીત (પીળો), ઉપાધ્યાય પદનો નીલો (લીલો) તથા સાધુ પદનો શ્યામ રંગ છે. દર્શન, જ્ઞાન, ચારિત્ર અને તપ એ દરેકનો શ્વેત રંગ છે. આ વર્ણોની સંકલના વિશેષત ધ્યાતા-ધ્યાનની દૃષ્ટિએ કરવામાં આવી છે અને તેમાં વિશિષ્ટ પ્રયોજન રહેલું છે. સામાન્ય અનુભવની એ વાત છે કે આંખ બંધ કરીને કોઈ પણ એક પદાર્થનું ધ્યાન ધરીએ તો આંખ બંધ થતાં જ શ્યામ વર્ણ દેખાય છે, પછી ધીમે ધીમે નીલો વર્ણ, પછી પીળો વર્ણ અને પછી શ્વેત વર્ણ દેખાય છે. ધ્યાનમાં બહુ સ્થિર થતાં બાલસૂર્ય જેવો, તેજના ગોળા જેવા લાલ વર્ણ દેખાય છે. પંચપરમેષ્ઠિમાં છેલ્લું પદ સાધુનું છે. ત્યાંથી જીવે ઉત્તરોત્તર ચઢતાં ચઢતાં સિદ્ધ દશા સુધી પહોંચવાનું છે. એટલા માટે રંગનો ક્રમ એ પ્રમાણે આપવામાં આવ્યો છે. દર્શન, જ્ઞાન, ચારિત્ર અને તપ એ આત્માના જ ગુણો હોવાથી તેનો શ્વેત વર્ણ રાખવામાં આવ્યો છે.

ઉપાધ્યાયપદનો રંગ નીલો છે. વીજળીના બે તાર અડતાં તેમાંથી ઝરતા તણખાનો જેવો ભૂરી ઝાંચવાળો લીલોરંગ હોય છે તેવા રંગથી માંડીને ઘાસના લીલા રંગ જેવા લીલા રંગ સુધીના રંગ હોય છે. નીલમણિની પ્રભા પણ શીતળ, નયનરમ્ય અને મનોહર હોય છે. ઉદ્યાનની હરિયાળી વનરાજિ પોતે પ્રસન્ન હોય છે અને જોનારને પણ પ્રસન્ન કરી દે છે. હરિયાળાં વૃક્ષો પોતાના આશ્રયે આવનારનો શ્રમ હરી લે છે અને તેમને શીતળતા, પ્રસન્નતા અર્પે છે. તેવી રીતે ઉપાધ્યાય ભગવંત પોતે હંમેશાં ઉપશાંત અને પ્રસન્ન હોય છે તથા એમના સાન્નિધ્યમાં આવનારને તેઓ શાંત અને પ્રસન્ન કરી દેતા હોય છે. ઉપાધ્યાય ભગવંત પાસે ભવનો ભય અને ટાક ઊતરે છે, શંકાનું સમાધાન થાય છે અને તે થતાં પ્રસન્નતા અનુભવાય છે.

મંત્રશાસ્ત્રમાં અંતરાયો, ઉપદ્રવો કે અશિવતા નિવારણ માટે નીલ (લીલા રંગ)નું ધ્યાન ધરવાનું વિધાન છે. ઉપાધ્યાય ભગવંત જ્ઞાનના આવરણને કે અંતરાયને દૂર કરવામાં સહાયભૂત થાય છે. એટલા માટે એમનું ધ્યાન લીલા વર્ણ સાથે કરવાનું કહેવામાં આવ્યું છે.

મંત્રશાસ્ત્રમાં (જૈન, હિંદુ અને બૌદ્ધ એ ત્રણેમાં) બતાવ્યા પ્રમાણે આ વિશ્વમાં મુખ્ય પાંચ તત્ત્વો છે. આ પંચ મહાભૂત છે : (૧) પૃથ્વી, (૨) જલ, (૩) વાયુ, (૪) અગ્નિ અને (૫) આકાશ. વર્ણમાલાના પ્રત્યેક વર્ણ (અક્ષર) સાથે કોઈ ને કોઈ તત્ત્વ સંકળાયેલું છે. મંત્રમાં વર્ણાક્ષરો હોય છે. એટલે મંત્રોચ્ચારની સાથે આ તત્ત્વોનું સૂક્ષ્મ અનુસંધાન થાય છે. નવકારમંત્રમાં પણ એ રીતે એના અક્ષરો સાથે આ પાંચે તત્ત્વો સંકળાયેલા છે. મંત્રવિદો બતાવે છે તે પ્રમાણે નવકાર મંત્રના નમો એ બે અક્ષરો ઉચ્ચારતાં આકાશ તત્ત્વ સાથે અનુસંધાન થાય છે. નમો ઉવજ્જાપણાં એ પદનો ઉચ્ચાર કરતી વખતે નમો=આકાશ, ઉ=પૃથ્વી, વ=જલ, જ્જા=પૃથ્વી અને જલ, યા=વાયુ અને ણ=આકાશ - એ પ્રમાણે તત્ત્વો સાથે અનુસંધાન થાય છે.

મંત્રશાસ્ત્રને જ્યોતિષશાસ્ત્ર સાથે સંલગ્ન કરવામાં આવે છે. પોતાને જે જે ગ્રહ નડતો હોય તેની આરાધના માટે જુદા જુદા મંત્રોનું વિધાન છે. મંત્રવિદોએ નવકાર મંત્રનો પણ એ દષ્ટિએ પરામર્શ કર્યો છે અને ઉપાધ્યાય પદનો મંત્ર 'ૐ હ્રીં નમો ઉવજ્જાયાણં' બુધના ગ્રહની શાંતિ માટે ફરમાવ્યો છે.

નવપદની આરાધનામાં, શાશ્વતી આયંબિલની ઓળીની વિધિ સહિત તપશ્ચર્યામાં ચોથા દિવસે ઉપાધ્યાય પદની આરાધના કરવાની હોય છે. ઉપાધ્યાય ભગવંતના પચ્ચીસ ગુણ હોય છે. એટલે એ દિવસે સવારે પ્રતિક્રમણ પછી લોગસ્સનો કાઉસગ્ગ કરવાનો હોય છે. ત્યાર પછી જિન મંદિરે જઈ પચ્ચીસ સાથિયા કરવાના, પચ્ચીસ ખમાસણાં દેવાના, પચ્ચીસ પ્રદક્ષિણા કરવાની ૐ હ્રીં નમો ઉવજ્જાયાણંની વીસ નવકારવાળી ગાગવાની હોય છે. ખમાસણા માટે નીચે પ્રમાણે દુહો બોલવાનો હોય છે.

તપ સજ્જાયે રત સદા, દ્વાદશ અંગના ધ્યાતારે;
ઉપાધ્યાય તે આત્મા, જગબંધવ જગભ્રાતા રે.

પ્રત્યેક પ્રદક્ષિણા અને ખમાસણા પછી નમસ્કાર કરતી વખતે ઉપાધ્યાયના એક એક ગુણના નિર્દેશ સાથે નમસ્કાર કરાય છે, જેમ કે શ્રી આચારાંગ સૂત્ર પઠન ગુણયુક્તાય શ્રી ઉપાધ્યાય નમઃ. આ રીતે અગિયાર અંગ અને ચૌદ પૂર્વ એમ મળીને પચ્ચીસના નિર્દેશ સાથે દુહા તથા ખમાસણાપૂર્વક નમસ્કાર કરાય છે.

ઉપાધ્યાય પદનો રંગ લીલો હોવાથી જેઓ તે દિવસે એક ધાનનું આયંબિલ કરવાની ભાવના ધરાવતા હોય તેઓ આયંબિલમાં મગની વાનગી વાપરે છે.

પચ્ચીસ સાથિયા કર્યા પછી જે ફળ-નેવેદ્ય મૂકવામાં આવે છે તેમાં પોતાની શક્તિ અનુસાર લીલા વર્ણના ફળ-નેવેદ્ય મૂકી શકે છે. શક્તિસંપન્ન શ્રીમંતો પચ્ચીસ મરકત મણિ પણ મૂકી શકે છે. ચોખાના સાથિયાને બદલે મગના સાથિયા પણ તે દિવસે કરી શકાય છે.

ઉપાધ્યાયપદની આરાધના કરનારને તે દિવસે એવી ભાવના ભાવવાની હોય છે કે ઉપાધ્યાય ભગવંતની જેમ હું પણ શાસ્ત્રોનું પઠન-પાઠન કરાવવાની સક્તિ પ્રાપ્ત કરું અને જ્ઞાનાન્તરાય કર્મનો ક્ષય કરી સિદ્ધ-બુદ્ધ-મુક્ત બનું.

આમ પાંચ પરમેષ્ઠિમાં ઉપાધ્યાયપદનો મહિમા પણ ઘણો મોટો છે. સાધુના પદમાંથી ઉપાધ્યાયના પદ સુધી પહોંચવાનું પણ જે એટલું સરળ ન હોય તો ઉપાધ્યાયનું પદ ઔપચારિક રીતે પ્રાપ્ત કર્યા પછી એ પદને સાર્થક કરવું એ કેટલી બધી દુષ્કર વાત છે તે સમજાય છે. એટલે જ જૈન શાસનની પરંપરામાં પોતાને મળેલા ઉપાધ્યાયના પદને ઉજ્જવળ કરનારી વિભૂતિઓ કેટલી વિરલ છે ! શ્રી હીરવિજયસૂરિના શિષ્ય, સત્તરભેદી પૂજના રચયિતા, કુંભારનું ગધેડું ભૂકે ત્યારે કાઉસગ્ગ

પારવાનો અભિગ્રહ ધારણ કરનાર અને તેથી આખી રાત ઊભા ઊભા કાઉસગ્ગ ધ્યાનમાં એ પૂજની રચના કરનાર શ્રી સકલચંદ્રજી ઉપાધ્યાયનું નામ કેટલું બધું પ્રેરક છે. એ જ પ્રમાણે શ્રી હીરવિજયજીસૂરિના શિષ્યો ઉપાધ્યાય શ્રી ભાનુચંદ્રજી અને ઉપાધ્યાય શ્રી શાંતિચંદ્રજી ગીતાર્થ પ્રભાવક ઉપાધ્યાય હતા. અનેક રાસકૃતિઓના રચયિતા ઉપાધ્યાય શ્રી સમયસુંદરજી, ઉપાધ્યાય શ્રી મેઘવિજયજી, ઉપાધ્યાય શ્રી માનવિજયજી, ઉપાધ્યાય શ્રી કલ્યાણવિજયજી, ઉપાધ્યાય શ્રી સિધ્ધિચંદ્રજી તથા ઉપાધ્યાય શ્રી કીર્તિવિજયજીનાં નામ પણ શાસનપ્રભાવકોમાં સુપરિચિત છે. તદુપરાંત શ્રીપાળ રાસ અને પુણ્યપ્રકાશનાસ્તવનના રચયિતા ઉપાધ્યાય શ્રી વિનયવિજયજી, ઉપાધ્યાય દેવચંદ્રજી મહારાજ અને આ બધા ઉપાધ્યાયોમાં જેમાણે સંસ્કૃત, અર્ધમાગધી અને ગુજરાતીમાં અનેક રચનાઓ આપી છે અને ત્રણ ત્રણ ચોવીસીઓની રચના કરી છે એવા ઉપાધ્યાય શ્રી યશોવિજયજીનું નામ ઉપાધ્યાયોમાં શિરમોર સમાન છે. જેમનું સાહિત્ય રસ અને ભાવપૂર્વક વાંચતાં જેમના ચરણમાં મસ્તક સહજપણે પૂજ્યભાવથી નમી પડે છે એવા ઉપાધ્યાય-મહોપાધ્યાય શ્રી યશોવિજયજી મહારાજે તો ઉપાધ્યાયપદને ઘણું બધું ગૌરવ અપાવ્યું. ઉપાધ્યાયજી મહારાજ એટલું બોલતાં જ એ શબ્દો શ્રી યશોવિજયજી માટે વપરાયા છે એવી તરત પ્રતીતિ થાય છે, કારણ કે ઉપાધ્યાય શબ્દ એમના નામના પર્યાય બની ગયો છે.

આ ઉપરાંત બીજા ઘણા બધા ઉપાધ્યાય ભગવંતો થઈ ગયા છે જેમાણે જૈન શાસનને દીપાવ્યું છે. વસ્તુતઃ શાસનની પરંપરા જ્ઞાનદાનમાં અદ્વિતીય એવા ઉપાધ્યાય ભગવંતો દ્વારા જ સારી રીતે ચાલી શકે છે. એટલા માટે જ તેમને શાસનના સ્થંભભૂત તરીકે ઓળખાવવામાં આવ્યા છે.

આપ આચાર્ય તહિ પણ આચાર્ય જેવા, આચાર્ય ભગવંતને સહાયરૂપ, શ્રુતજ્ઞાનરૂપી રસાયન દ્વારા શિષ્યોને માતૃસમ વાત્સલ્યભાવથી સુસજ્જ કરી શ્રુતપરંપરાને ચાલુ રાખનાર, ક્ષમા, આર્જવ, માર્દવ ઈત્યાદિ ગુણોથી યુક્ત, નિરાકાંક્ષી, નિરભિમાની, પચીસ-પચીસી જેટલા ગુણોથી યુક્ત એવા ઉપાધ્યાય ભગવંત જિનશાસનના આધારસ્થંભરૂપ છે. જૈન દર્શનમાં ઉપાધ્યાય ભગવંતનો આદર્શ ઘણો જ ઊંચો રહ્યો છે. એથી પંચપરમેષ્ઠિમાં, નવકારમંત્રમાં ઉપાધ્યાય - ઉવજ્ઞાય ભગવંતનું સ્થાન અધિકારપૂર્વક યથાર્થ સ્થાને રહેલું છે. એમને જપ-તપ ધ્યાનપૂર્વક કરાયેલો સાચો નમસ્કાર ભવભ્રમણ દૂર કરવામાં, મોક્ષપ્રાપ્તિમાં અવશ્ય સહાયરૂપ બને છે.



જૈન મૂર્તિપૂજાની પ્રાચીનતા અને જૈન મંદિરોનું સ્થાપત્ય

ડૉ. પ્રિયબાળા શાહ

જૈન ધર્મમાં જૈન અનુશ્રુતિ અનુસાર મહાવીરસ્વામીની પ્રતિમા તેમની હયાતી દરમ્યાન બનવા લાગી હતી. દીક્ષા લેતાં પહેલાં તેઓ પોતાના મહેલમાં લગભગ એકાદ વર્ષ પહેલાંથી ધ્યાન ધરતા હતા ત્યારે તે અવસ્થાની ચંદન-કાષ્ઠની પ્રતિમા બનાવવામાં આવેલી તે પ્રતિમા સિંધુ-સૌવીરના રાજા ઉદયને પ્રાપ્ત કરી. તેની પાસેથી એ ઉજ્જૈનના રાજા પ્રદ્યોત પોતાના રાજ્યમાં લઈ ગયો અને તેણે તે પ્રતિમાને વિદિશામાં પધરાવી. પ્રદ્યોતે એની કાષ્ઠ-પ્રતિકૃતિ સિંધુ-સૌવીરના વીતભય-પતનમાં રાખેલી. આ પ્રતિમા નગર વિનાશક વંટોળિયાના તોફાનમાં દટાઈ ગઈ. દંતકથા પ્રમાણે આ પ્રતિમાને ગુજરાતના સોલંકી રાજા કુમારપાળે બહાર કઢાવી આણહિલવાડ પાટણમાં મંગાવીને પધરાવી. મહાવીરસ્વામીને દીક્ષા લેવાની ઘણી પ્રબળ ઈચ્છા હતી પરંતુ વડીલબંધુના આગ્રહથી એક વર્ષ ગૃહસ્થાશ્રમમાં વધુ રહ્યા, પાળ તેઓ સાધુ જીવું જીવન રાખતાં. આવી પ્રતિમા જીવંતસ્વામી તરીકે ઓળખાય છે. વિદિશા અને વીતભયપતનની જીવંતસ્વામીની પ્રતિમાને લગતી કથા આવશ્યકચૂર્ણિ, નિશીથચૂર્ણિ અને વસુદેવહિંડીમાં આપેલી છે, જ્યારે આણ હિલવાડ પાટણમાંની પ્રતિમાને લગતો વૃત્તાંત રાજા કુમારપાળના સમકાલીન હેમાચંદ્રાચાર્યે 'ત્રિપષ્ટિશલાકાપુરુષચરિત' માં નિરૂપ્યો છે. જીવંતસ્વામીની પ્રતિમાને લગતી આ લોકકથા છઠ્ઠી-સાતમી સદીથી સાહિત્યમાં પ્રચલિત થઈ હતી એટલું જ નહિ, પાળ આવી સાંસારિક અવસ્થાની કિરીટ તથા આભૂષણોથી વિભૂષિત પ્રતિમાના નમૂના અકોટા (વડોદરા) ની ધાતુપ્રતિમાઓમાં પ્રાપ્ત થયા છે. ડૉ. ઉમાકાન્ત પ્રે. શાહ આ ધાતુપ્રતિમાને ઈ.સ. ૪૦૦ થી ૫૦૦ ના સમય જેટલી પ્રાચીન માને છે. ગુજરાતમાંથી મળતી જૈન પ્રતિમાઓમાં આ એક અતિ પ્રાચીન મૂર્તિશિલ્પ ગણાવી શકાય.

જૈન ધર્મસંપ્રદાયની અનુશ્રુતિ અનુસાર મહાવીરસ્વામી બોતેર વર્ષની વયે ઈ.પૂ. ૫૨૭માં કાલધર્મ પામ્યા હતા અને તે પહેલાં ત્રીસ વર્ષે (અર્થાત્ ઈ.પૂ. ૫૫૭માં) કેવલજ્ઞાન પામ્યા હતા. મહાવીરસ્વામીની પહેલાના તીર્થંકર પાર્શ્વનાથ મહાવીરસ્વામીની પહેલાં ૨૫૦ વર્ષ પર (અર્થાત્ ઈ.પૂ. ૭૭૭માં) નિર્વાણ પામેલા. પાર્શ્વનાથ ની પહેલાંના તીર્થંકર નેમિનાથ શ્રીકૃષ્ણ વાસુદેવના સમકાલીન હતા. એ અને તેમની પહેલાંના ૨૧ તીર્થંકર લાખો કરોડો વર્ષો પર થઈ ગયા એમ મનાય છે. આ સમયાંકને ઈતિહાસના પ્રમાણનું સમર્થન સાંપડતું નથી. ભારતમાં સહુથી પ્રાચીન પ્રતિમાઓ હડપ્પીય સભ્યતા (ઈ.પૂ. ૨૪૦૦-૧૬૦૦) ના અવશેષોમાં પ્રાપ્ત થઈ છે. એમાં હડપ્પામાં મળેલી નગ્ન ખંડિત પાપાળપ્રતિમા તીર્થંકરની હોવાનું અનુમાન થયું છે. વળી મોહેંજો-દડોની એક મુદ્રામાં

કંડારેલી લટકતા હાથ સાથે ઊભેલી આકૃતિ કાયોત્સર્ગમાં હોઈ જૈન હોવાની તેમજ ત્યાંની એક બીજી મુદ્રામાં કંડારેલી પશુપતિ જેવી આકૃતિ ઋષભદેવ જેવા તીર્થંકરની હોવાની માનવા તરફ અમુક વિદ્વાનોનું મંતવ્ય છે. આવી આકૃતિઓ, રેખાકૃતિઓ કે પ્રતિમા જૈન તીર્થંકરોની હોવા વિશે માનવાના કોઈ પ્રતીતિકારક લક્ષણ તેમાં રહેલ નથી.

શિલ્પકૃતિઓના ઉપલબ્ધ અવશેષોમાં તીર્થંકરની પ્રતિમાનો સહુથી પ્રાચીન નમૂનો મગધના પાટનગર પાટલિપુત્ર (પટના) ના વિસ્તારમાં આવેલ લોહાનીપુરમાં પ્રાપ્ત થયો છે. રેતિયા પથ્થરની એ ખંડિત પ્રતિમા મસ્તક તથા પગ વિનાની છે. તેના બંને હાથનો ઘણો ભાગ નષ્ટ થયો છે છતાં એ હાથ કાયોત્સર્ગ અવસ્થામાં હતા એ જાણવા જેટલી સ્પષ્ટ નિશાનીઓ તેમાં રહેલી છે. આ પ્રતિમા ઉપરનું પોલિશ મોર્યકાળ (ઈ.પૂ. ૩૨૨-૧૮૫) જેવું હોવાનું માલૂમ પડે છે. આ સ્થળેથી મળેલી ઈ.પૂ. પહેલી સદીની ખંડિત પ્રતિમાના હાથ કાયોત્સર્ગ અવસ્થામાં રહેલ પૂરેપૂરા જળવાઈ રહ્યા છે. તીર્થંકરની પ્રતિમાનું સ્વરૂપ યક્ષની પ્રતિમા પરથી ઘડાયું હોય એમ માનવામાં આવે છે.

મોર્ય રાજ અશોકના પૌત્ર સંપ્રતિએ અનેક જિનાલય બંધાવ્યાં એવી અનુશ્રુતિ છે, પરંતુ એમાંના કોઈ અવશેષ ઉપલબ્ધ નથી. કલિંગના રાજ ખારવેલના હાથીગુફા - લેખમાં નંદરાજ વડે અપહરત થયેલી જિનપ્રતિમા પાછી મેળવ્યાનો ઉલ્લેખ છે તે ઉપરથી જિનપ્રતિમાનું નિર્માણ મોર્યકાળ પહેલાંના નંદકાળમાં થયું હોવાનું ફલિત થાય છે.

મથુરાના પુરાવશેષોમાં ઈસ્વીસનની પહેલી સદીથી આયાગપટોમાં તીર્થંકરોની આકૃતિઓ કંડારાઈ છે; ઉપરાંત કૃપાણકાલની અનેક પ્રતિમાઓ મળે છે. આ પ્રતિમાઓ સામાન્યતઃ વિનસ્તઃ હોય છે, તેમાં તીર્થંકરની છાતી પર શ્રીવત્સનું ચિહ્ન અને મુખની પાછળ પ્રભાચક્ર હોય છે. તીર્થંકર પદ્માસનવાળીને હાથને યોગમુદ્રામાં રાખીને ધ્યાનમાં બેઠા હોય છે અથવા તો કાયોત્સર્ગ અવસ્થામાં તપ કરતા ઊભા હોય છે. તીર્થંકરની પ્રતિમામાં લાંછન ન હોવાથી પ્રતિમા કયા તીર્થંકરની છે એ ઓળખવું મુશ્કેલ છે. પાછળનાં વાળનાં ઝુલફાને લીધે ઋષભનાથની અને સર્પફણાના છત્રને લીધે પાર્શ્વનાથની પ્રતિમા જ ઓળખી શકાય છે.

હવે ચાર બાજુ ચાર તીર્થંકરોની પ્રતિમાં મૂકવાની પ્રથા પ્રચલિત થઈ. એને ચૌમુખ પ્રતિમા કહેવાય છે. આ ચૌમુખ પ્રતિમામાં ઋષભદેવ, નેમિનાથ, પાર્શ્વનાથ અને મહાવીરની પ્રતિમાઓ વધુ લોકપ્રિય છે.

બિહારમાં મળેલી પ્રાક્-કૃપાણકાલથી ગુપ્તકાળ સુધીની તીર્થંકરોની ધાતુ પ્રતિમાઓ પણ મથુરાની પાષાણપ્રતિમાઓ જેવી છે. ચંદ્રગુપ્ત બીજાના સમય (ઈ.સ. ૩૭૬-૪૧૫)ની નેમિનાથની પ્રતિમાની પીઠિકા પર શંખનું લાંછન જણાય છે. એવી રીતે ચંદ્રપ્રભની ટોચ ઉપર ચંદ્રનું લાંછન આપેલું છે.

ગુજરાતમાં અકોટાની ધાતુપ્રતિમાઓમાં પાંચમી સદીની ઋષભદેવની પ્રતિમામાં તીર્થંકરને

વસ્ત્ર પહેરાવેલું છે. સ્વેતાંબર પરંપરાની જિનપ્રતિમાઓમાં આ સહુથી પ્રાચીન જ્ઞાત નમૂનો છે. છઠ્ઠી સદીની ધાતુપ્રતિમાઓમાં તીર્થંકરની જમણી બાજુએ યક્ષ સર્વાનુભૂતિની અને ડાબી બાજુએ યક્ષી અંબિકાની પ્રતિમા મૂકવાની પ્રથા પ્રચલિત થઈ. નવમી સદી સુધી ચોવીસે તીર્થંકરોની પ્રતિમા સાથે આ યક્ષ-યક્ષીની જ પ્રતિમા મુકાતી. ચોવીસ તીર્થંકરોનાં જુદાં જુદાં ચોવીસ યક્ષ-યક્ષી નવમી સદીથી નજરે પડે છે.

જૈનધર્મમાં મૂર્તિપૂજા ક્યારે શરૂ થઈ તે ચોક્કસ કહેવું મુશ્કેલ છે પરંતુ તેનો વિશાળ સમય બતાવવો અશક્ય નથી. જો આપણે અભિલેખોના પુરાવા ઉપર આધાર રાખીએ તો સ્પષ્ટ રીતે કહી શકીએ કે શિશુનાગના સમયમાં અથવા નન્દ રાજાઓના સમયમાં અર્થાત્ કે મહાવીરના જન્મના કેટલાંક વર્ષો પછી મૂર્તિઓ હોવાનું સ્પષ્ટ થાય છે. રાજા ખારવેલના હાથીગુફા - લેખમાં (ઈ.સ. પૂ. ૧૬૧) શ્રી ઋષભદેવની પ્રતિમા પાછી મેળવીને ફરી પ્રતિષ્ઠા કર્યાનો ઉલ્લેખ છે. આ મૂર્તિ તે અગાઉ ૩૦૦ વર્ષ પહેલાં લઈ જવાઈ હતી. જ્યારે મહાવીરનો ઉન્નતિનો કાળ હતો ત્યારે બ્રાહ્મણધર્મની કળા પૂરેપૂરી ખીલેલી હતી અને તેની મૂર્તિપૂજાનો ઈતિહાસ પણ ઘણો જૂનો હતો. જૈનધર્મના પ્રચારકોએ આ પરિસ્થિતિનો લાભ લઈને પોતાના ધર્મમાં પણ મૂર્તિપૂજાની આવશ્યકતા ઊભી કરાવી. અર્થશાસ્ત્રના લેખક કૌટિલ્ય જૈન દેવોની નોંધ કરે છે તેમાં જ્યન્ત, વૈજ્યન્ત, અપરાજિતા વગેરેના ઉલ્લેખ છે. આથી મૂર્તિઓની ઉત્પત્તિ ઈ.સ. પૂ. ચોથા સૈકા જૂની તો ગણી શકાય એમ છે, 'અંતગડ દસાઓ' ગ્રંથમાં પણ મૂર્તિના ઉલ્લેખો છે. જેમ કે તે જમાનામાં ભદિલ શહેરમાં પવિત્ર અને શ્રીમંત એવા એક સદ્ગૃહસ્થ રહેતા હતા તેની પત્નીનું નામ સુલસા હતું. સુલસા જ્યારે બાળક હતી ત્યારે તેને એક ભવિષ્યવેત્તાએ કહ્યું કે તેને મૃત બાળકો જન્મશે. આથી સુલસાએ બાળપણથી હરિનેગમેષિની પૂજા કરવાનું શરૂ કર્યું. તેણે હરિનેગમેષિની મૂર્તિ કરી અને રોજ સવારે તેને સ્નાન કરાવતી.... આ સિવાયના બીજા ઉલ્લેખો મૂર્તિવિષયક જૈન સાહિત્યમાંથી મળી આવેલ છે જેમ કે ઉપદેશકોની પૂજા જૈનો અને બૌદ્ધો દેવની જેમ કરતા. જૈનોએ દરેક તીર્થંકર અને તેનું વિમાન મંદિરો અને મૂર્તિઓ વગેરે બનાવ્યા. મથુરામાંથી પુરાતત્વીય અવશેષો પ્રાપ્ત થતાં એટલું સ્પષ્ટ થયું છે કે ઈ.સ. પૂ. ૬૦૦માં મૂર્તિઓ અને તેના મંદિરો થતાં હતાં. આયાગ પટમાં લેખ કરેલો છે. આ લેખની લિપિ કુશાન રાજાઓએ વાપરેલી લિપિ જેવી છે અર્થાત્ તેનો સમય બીજા સૈકાનો મનાય છે. મથુરાના અભિલેખો સ્પષ્ટ કરે છે કે દેવોની પૂજા વગેરે ઘણાં પ્રાચીન કાળથી પ્રચલિત હતાં. તેવીસમા જિન પાર્શ્વનાથના માનમાં સ્તૂપો ઊભા કરવામાં આવ્યા હતા. આ સ્તૂપો આશરે ઈ.સ. પૂ. સાતમાં સૈકામાં બંધાયેલા હતા. મી. વિન્સેટ્ટ સ્મિથ લખે છે કે મહાવીરનું નિર્વાણ ઈ.સ. પૂ. ૫૨૭માં થયું હતું તે બરાબર હોય તો તેમને કેવળજ્ઞાન થયાનો સમય ઈ.સ. પૂ. ૫૫૦માં મૂકી શકાય. સ્તૂપનો જિર્ણોધ્ધાર ૧૩૦૦ વર્ષ પછી અથવા ઈ.સ. ૭૫૦માં થયો. તેની મૂળરચના ઈટોની પાર્શ્વનાથના સમયમાં થયેલી છે, પરંતુ લેખને આધારે તે પ્રાચીન ઈમારત ઈ.સ. પૂ. ૬૦૦ની છે તેમ સ્પષ્ટ થાય છે.

જૈન તત્ત્વજ્ઞાન પ્રમાણે જીવનું લક્ષણ ઉપયોગ છે. આ ઉપયોગ બે પ્રકારનો હોય છે એક તો જીવને પોતાની સત્તાનું ભાન પ્રાપ્ત છે કે હું છું, અને મારી આસપાસ અન્ય પદાર્થ છે. અન્ય પદાર્થમાં વૃક્ષ, પર્વત, ગુફા વગેરે, પ્રકૃતિથી વિપરીત શક્તિઓ-તોફાન, વર્ષા, તાપ વગેરેમાં રક્ષણ આપે છે. પશુપક્ષી વગેરે પ્રકૃતિના પદાર્થોનો ઉપયોગ કરતાં પોતાનું જીવન વ્યતીત કરે છે. જ્યારે મનુષ્યમાં પોતાની જ્ઞાનશક્તિને કારણે કેટલીક વિશેષતા રહેલી હોય છે. પરંતુ મનુષ્યમાં જિજ્ઞાસા હોય છે. તેને કારણે તે પ્રકૃતિને વિશેષ રૂપથી જાણવા ઈચ્છે છે. પરિણામે વિજ્ઞાન અને દર્શનશાસ્ત્રોનો વિકાસ થયો. મનુષ્યમાં બીજાં ગુણ છે સારા અને ખોટાનો વિવેક. આ ગુણની પ્રેરણાથી ધર્મ, નીતિ, સદાચારના નિયમો અને આદેશ સ્થાપ્યા અને માનવસમાજને ઉત્તરોત્તર સભ્ય બનાવ્યો. મનુષ્યનો ત્રીજાં વિશેષ ગુણ છે સૌન્દર્યની ઉપાસના. માણસ પોતાના ધોષણ અને રક્ષણ માટે જે પદાર્થોનો ઉપયોગ કરે છે, તેને ઉત્તરોત્તર સુંદર બનાવવાનો પ્રયત્ન કર્યા કરે છે. જેમ કે સુંદર વેશભૂષા, સુંદર ખાદ્યપદાર્થોની સજાવટ વગેરે. પરંતુ મનુષ્યની સૌન્દર્યોપાસના ગૃહનિર્માણ, મૂર્તિનિર્માણ, ચિત્રનિર્માણ તથા સંગીત અને કાવ્યકૃતિઓમાં ચરમ સીમાએ પહોંચી છે. આ પાંચે કલાનો પ્રારંભ જીવનમાં ઉપયોગી દૃષ્ટિથી થયો. આ રીતે ઉપયોગી કલાઓ અને લલિત કલાઓને કોઈ પણ દેશ કે સમાજની સભ્યતા અથવા સંસ્કૃતિનું અનિવાર્ય પ્રતીક માનવામાં આવે છે. જૈન પરંપરામાં કલાની ઉપાસનાને વિશિષ્ટ સ્થાન આપવામાં આવ્યું છે. પ્રાચીનતમ જૈન આગમોમાં શિલ્પો અને કલાઓના શિક્ષણ ઉપર ભાર મૂકવામાં આવ્યો છે અને તેને શિખવવા માટે શિલ્પાચાર્યો અને કલાચાર્યોના અલગ અલગ ઉલ્લેખો મળે છે. જૈન સાહિત્યમાં ૭૨ કલાઓના ઉલ્લેખ છે. તેમાં વાસ્તુકલા-સ્થાપત્યકલાનો પણ નિર્દેશ છે. વાસ્તુકલામાં મંદિરનિર્માણ તથા શિલ્પચાતુર્ય તેની દીર્ઘકાલીન પરંપરા વગર શક્ય ન બને. પથ્થરને કાપીને ગુફા-ચૈત્યોના નિર્માણની કલાની શ્રેષ્ઠતા અને તેના આધારે સ્વતંત્ર મંદિરોના નિર્માણની પરંપરા શરૂ થઈ.

સૌથી પ્રાચીન મૌર્યકાલીન જૈનમંદિરોના અવશેષો બિહાર જિલ્લાના પટણાની પાસે લોહાનીપુરમાંથી મળી આવ્યા છે. ઈ.સ. ૬૩૪નું એક મંદિર દક્ષિણ ભારતમાં બાદામીની પાસે ઐહોલમાંથી મળી આવ્યું છે. આ મંદિરની રચના ચાલુક્યનરેશ પુલકેશી દ્વિતીયના રાજ્યકાળ દરમ્યાન થઈ હતી. આ મંદિર પૂર્ણ રૂપમાં સુરક્ષિત નથી છતાં પણ જે ભાગ સચવાયો છે તેનાથી મંદિરની કલાત્મક સંયોજનામાં તેનું લાલિત્ય દૃષ્ટિગોચર થાય છે. આ મંદિર લાભું પણ ચતુષ્કોણ છે. તેના બે ભાગ છે એક પ્રદક્ષિણાસહિત ગર્ભગૃહ અને બીજાં સભાગૃહ મંડપસ્તંભો પર આધારિત છે.

ગુપ્તકાળનાં જે મંદિરો મળે છે તે ત્રણ પ્રકારનાં છે : નાગર, દ્રાવિડ અને વેસર. નાગરશૈલી ભારતમાં હિમાલયથી વિંધ્યપર્વત સુધી પ્રચલિત હતી. દ્રાવિડશૈલી વિંધ્ય પર્વત અને કૃષ્ણા નદીથી કન્યાકુમારી સુધી તથા વેસર મધ્ય ભારતમાં વિંધ્યપર્વત અને કૃષ્ણા નદીના વચલા પ્રદેશમાં પ્રચલિત હતી. હિંદુ અને જૈન મંદિરો આ શૈલીઓમાં મળી આવે છે. પરંતુ નાગર અને દ્રાવિડના પ્રકાર વિશેષ

જાગ્યા છે. સૌરાષ્ટ્રમાં શત્રુંજય પર્વત પર જેટલાં જૈનમંદિરો છે તેટલાં બીજે ક્યાંય નથી. શત્રુંજયમહાન્ય અનુસાર આ પર્વત પર પ્રથમ તીર્થકરના સમયથી જૈનમંદિરોનું નિર્માણ થવા લાગ્યું હતું. હાલમાં અગ્યારમી સદીનું સૌથી પ્રાચીન જૈનમંદિર વિમળશાહનું છે, જેણે આબુપર્વત ઉપર વિમળવસહી બંધાવ્યું છે. બારમી શતાબ્દીનું રાજા કુમારપાળનું મંદિર છે. પરંતુ વિશાળતા અને કલાસૌન્દર્યની દૃષ્ટિથી આદિનાથ મંદિર સૌથી મહત્વનું છે આ મંદિર ૫૬૦ માં બન્યું છે. જૈન મંદિરોમાં ચતુર્મુખ મંદિરની વિશેષતા છે અને ૧૬૦૮ માં આ પર્વત પર તૈયાર થયું. તેને ચારે દિશાઓમાં ચાર પ્રવેશદ્વાર છે, તેનો પૂર્વદ્વાર રંગમંડપની સન્મુખ છે. બીજા ત્રણ દ્વારોની સન્મુખ મુખમંડપ છે. આ મંદિર તેમજ અહીંનાં બીજાં મંદિરો ગર્ભગૃહ મંડપો, દેવકુલિકાઓની રચના શિલ્પ-સૌન્દર્ય વર્ગેરેમાં દેલવાડાના વિમલવસહી અને લૂગવસહીના ઓછાવત્તા પ્રમાણમાં અનુકરણ જેવા છે.

બીજું તીર્થક્ષેત્ર છે ગિરનાર. આ પર્વતનું પ્રાચીન નામ ઉર્જયન્ત અને રૈવતકગિરિ છે. ત્યાંનું પ્રાચીન નગર ગિરિનગર અને તેનો પર્વત ગિરનાર કહેવાય છે. જૂનાગઢમાં આ પર્વતની દિશામાં જતા માર્ગ પર ઈતિહાસપ્રસિદ્ધ વિશાળ શિલા મળે છે, જેના ઉપર અશોક, દુર્રદામન અને સ્કંદગુપ્ત જેવા સમ્રાટોના શિલાલેખ છે જેના ઉપર લગભગ ૭૦૦ વર્ષનો ઈતિહાસ આલેખાયેલો છે. જૂનાગઢનાં બાવાખ્યારાના મઠ પાસે જૈન ગુફા છે. આ સ્થાન ઐતિહાસિક અને ધાર્મિક બંને દૃષ્ટિએ અતિ પ્રાચીન અને મહત્વપૂર્ણ માલૂમ પડ્યું છે, કારણ કે બાવીસમા તીર્થકર નેમિનાથે અહીં તપ કરીને નિર્વાણ પ્રાપ્ત કર્યું હતું. આ તીર્થનો સર્વ પ્રાચીન ઉલ્લેખ પાંચમી સદીનો મળે છે. અહીંનું સૌથી પ્રસિદ્ધ અને સુંદર મંદિર નેમિનાથનું છે. અહીંનું બીજું મહત્વનું મંદિર વસ્તુપાળ દ્વારા નિર્મિત કરાયેલું મલ્લિનાથ તીર્થકરનું છે.

આબુનાં જૈનમંદિરોમાં માત્ર જૈનકલા નહીં પણ ભારતીય વાસ્તુકલા સર્વોત્કૃષ્ટ વિકસિત રૂપે જાગ્યા છે. આબુપર્વત ઉપર દેલવાડા ગામમાં વિમલવસહી, લૂગવસહી, પિતલહર, ચૌમુખ અને મહાવીરસ્વામીનું એમ કુલ પાંચ મંદિરો છે. આ મંદિરે જતાં દિગમ્બર જૈનમંદિર આવે છે. વિમલવસહીના નિર્માણકર્તા વિમલ શાહ પોરવાડ વંશના અને તે ચાલુક્ય વંશના નરેશ ભીમદેવ પ્રથમના મંત્રી અને સેનાપતિ હતા. દંતકથાનુસાર પોતે નિઃસંતાન હોઈને મંદિર માટે જમીન ઉપર સુવર્ણમુદ્રા પાથરીને જમીન પ્રાપ્ત કરી અને તે ઉપર આદિનાથ તીર્થકરનું મંદિર બંધાવ્યું. આ મંદિર શ્વેત સંગેમરમરના પથ્થરનું છે. જનશ્રુતિ પ્રમાણે આ મંદિરના નિર્માણમાં ૧૮ કરોડ ૫૩ લાખ સુવર્ણમુદ્રાઓ ખર્ચાઈ હતી. સંગેમરમરના મોટા મોટા પથ્થરો પર્વત ઉપર આટલી ઉંચાઈએ હાથી ઉપર લાવવામાં આવ્યા હતા. આદિનાથ તીર્થકરની વિશાળ પદ્માસનમૂર્તિ સુવર્ણમિશ્રિત પિત્તળની ૪ ફૂટ ૩ ઈંચની પ્રતિષ્ઠા કરાવેલી છે. આ પ્રતિષ્ઠા વિ. સં. ૧૦૮૮ (ઈ.સ. ૧૦૩) માં સોમનાથ મંદિરનો નાથ મહમ્મદ ઘોરીએ કર્યા પછી સાત વર્ષે થઈ. આ મંદિર વિશાળ ચોકમાં છે. તેની ચારે

બાજુએ દેવકુલો છે. દેવકુલોની સંખ્યા ૫૨ છે. દેવકુલોની સન્મુખ ચારે બાજુએ સ્તંભોની મંડપાકાર પ્રદક્ષિણાપથ છે દરેક દેવકૂલની સામે ચાર સ્તંભોની મંડપિકા છે. આ રીતે કુલ ૩૩૨ સ્તંભો છે. પ્રાંગણની મધ્યમાં મુખ્ય મંદિર છે. મંદિરની પૂર્વ બાજુએ હસ્તિશાળા છે. આ હાથીઓ ઉપર વિમળશાહ અને તેનાં વંશજોની મૂર્તિઓ છે. તેની આગળ મુખ્યમંડપ છે. સૌથી આકર્ષક મુખ્ય મંદિરનો રંગમંડપ કે સભામંડપ છે, જેનું ગોળ શિખર ૨૪ સ્તંભોને આધારે તૈયાર કરેલું છે. છતમાં પંચશિલા છે. તેની મધ્યમાં બનાવેલું લોક કારીગરીની દષ્ટિએ અદ્વિતીય છે. તેની ફરતી ૧૬ વિદ્યાધરીઓની આ આકૃતિઓ મનોહારી છે. આ રંગમંડપની સમસ્ત રચના અને કોતરકામ જોતાં જાણે કે દિવ્યલોકમાં આવી પહોંચ્યાં હોઈએ તેવો ભાસ થાય છે. રંગશાળાથી આગળ નવચોકી છે. જેની છતનો ભાગ નવ વિભાગોમાં વહેંચી દેવામાં આવ્યો છે. અને તેને કારણે તેનું નામ નવચોકી પાડવામાં આવ્યું છે. તેની આગળ ગૂઢમંડપ છે. અહીંથી મુખ્ય પ્રતિમાના દર્શન થાય છે. તેની આગળ મૂળ ગર્ભગૃહ છે તેમાં ઋષભનાથની ધાતુપ્રતિમા બિરાજમાન છે.

આ મંદિરની આગળ લુણવસહી છે. તેના મૂળ નાયકના નામ પરથી નેમિનાથ મંદિર કહેવાય છે. તેનું નિર્માણ વાઘેલા વંશના રાજ વીરધવલના બે મંત્રીભાઈઓ તેજપાલ અને વસ્તુપાલે ઈ.સ. ૧૨૩૨ માં કરાવ્યું. મંત્રી તેજપાલના પુત્ર લુણસિંહની યાદમાં આ મંદિર બનાવવામાં આવ્યું હતું. તેથી લુણવસહી તરીકે ઓળખાવા લાગ્યું. આ મંદિરની રચના આદિનાથનાં મંદિર જેવી છે. પ્રાંગણ, દેવકૂલ, સ્તંભ, મંડપ વગેરે અહીં પણ છે. રંગમંડપ, નવચોકી, ગૂઢમંડપ અને ગર્ભગૃહની રચના પહેલા મંદિર જેવી છે. હસ્તિશાળા પ્રાંગણની અંદર જ છે. પરંતુ અહીં રંગમંડપમાં સ્તંભની ઊંચાઈ કાંઈ વિશેષ છે. દરેક સ્તંભની રચના તથા તેનું તક્ષણકામ ભિન્ન ભિન્ન છે. મંડપની છત ખૂબ નાની છે. અહીંની રચનાસૌન્દર્યની પ્રશંસા કરતાં પાશ્ચાત્ય વિવેચક ફર્ગ્યુસન કહે છે કે આરસ ઉપર જે પરિપૂર્ણ લાલિત્ય સમનુલાથી અલંકૃત કરવામાં આવેલું છે તેની ઉપમાં મળવી કઠિન છે. પથ્થર ઉપર એટલું બારીક તીક્ષ્ણ કોતરકામ કરવામાં આવ્યું છે, જાણે કે મીણના પિંડમાં કોતરકામ કરવામાં આવ્યું ન હોય ! આ બંને મંદિરોની આરસપહાણની કારીગરી જોઈને કલાવિશારદો આશ્ચર્યચકિત બનીને મોંમા આંગળાં નાખી દે છે. ભારતીય શિલ્પીઓએ કલાકોશલ એવું વ્યક્ત કર્યું છે કે જેને કારણે કલાના ક્ષેત્રમાં ભારતનું મસ્તક સદા ગર્વથી ઊંચું રહેશે. કારીગરોએ ટાંકણાથી આ કામ કર્યું નથી પણ સંગેમરમરને ઘસીઘસીને આવી સૂક્ષ્મતા અને કાચ જેવી ચમક અને પારદર્શકપણું લાવી શક્યા છે. કહેવાય છે કે કારીગરોએ ઘસીઘસીને જે ભૂકો પાડ્યો તેના વજન પ્રમાણે તેઓને વેતન આપવામાં આવ્યું હતું.

અન્ય ઉલ્લેખનીય જૈન મંદિરમાં રાણકપુરનું મંદિર છે જે ૧૪૩૯ માં બનાવવામાં આવ્યું હતું. આ વિશાળ ચતુર્મુખી મંદિર છે. તેમાં ૪૨૦ સ્તંભોની બનાવટ અને શિલ્પ નિરાળાં છે. તેમાં જુદી જુદી વિશેષતા છે. મંદિરનો આકાર ચતુર્મુખી છે. મધ્યમાં મુખ્ય મંદિર છે. તેની ચારે દિશામાં બીજા

ચાર મંદિરો છે. શિખરો સિવાય બીજા મંડપોની આસપાસ ૮૬ દેવકુલિકા છે. તેઓનાં શિખર પિરામીડના આકારનાં છે. તેનો દેખાવ દૂરથી પણ અત્યંત પ્રભાવશાળી છે. મુખ્ય ગર્ભગૃહ સ્વસ્તિકાઆકારક છે. તેની ચારે બાજુ ચાર દ્વાર છે. જેમાં આદિનાથની શ્વેત સંગેમરમરની ચતુર્મુખી મૂર્તિ પ્રતિષ્ઠિત છે. તેને બે માળ છે. બીજા મંજલામાં પણ આ પ્રકારની રચના છે. આ મંદિરને જેમ બીજા જૈન દેવાલયોમાં હોય છે તેમ દરેક દ્વારની આગળ ગૂઢમંડપ નથી પરંતુ એક નાનો મુખમંડપ છે. દરેક બાજુએ જરા નિમ્ન ભૂમિ ઉપર એક એક સભામંડપ છે. જેમાં જવા માટે સીડી છે. આવી સીડીઓમાં પશ્ચિમની સીડીને વધારે પગથિયાં છે તેથી તે બાજુનું દ્વાર મુખ્ય ગણાય છે. સ્તંભોની આવી સુંદર ગોઠવણીવાળું ભારતમાં બીજું એક પણ દેવાલય નથી. ગોઠવણીની ઉત્તમતા ઉપરાંત બીજી જાણવાલાયક બાબત એ છે કે તેણે રોકેલી જગ્યા ૪૮,૦૦૦ ચો. ફુટ એટલે કે મધ્યકાલીન યુરોપીય દેવળોના જેટલી છે અને કારીગીરી તથા સુંદરતામાં તેના કરતાં ઘણી રીતે ચઢે તેમ છે. આ મંદિરમાં શિલાલેખ કોતરેલો છે અને તેમાં આ મંદિરને ત્રિભુવનદીપક તરીકે ઓળખાવવામાં આવ્યું છે. ત્યાંની પ્રચલિત વાતો તથા લેખોની હકીકત પ્રમાણે આ મંદિર બાંધનારાનાં નામ ધરાગુણા અને રત્નાશા છે આ બંને ભાઈઓ હતા. એક રાત્રે ધરાગુણાએ સ્વપ્નમાં એક વિમાન દેખ્યું તેથી તેણે કેટલાક સોમપુરાને બોલાવ્યા અને તે વિમાનનું વર્ણન કર્યું અને તેનો પ્લાન બનાવવા જણાવ્યું. દીપા નામના સોમપુરાનો પ્લાન પસંદ કરવામાં આવ્યો, કારણ કે સ્વપ્નમાં જોયેલા વિમાનની તેણે બરાબર નકલ ઉતારી હતી. આ દેવાલયને મૂળ સાત માળ કરવાના હતા, જેમાંના માત્ર ચાર કરવામાં આવ્યા હતા. આ દેવાલય અધૂરું રહ્યું હોવાથી હાલ પણ રત્નાના વંશના માણસો અસ્ત્રાથી હજામત કરાવતા નથી એમ કહેવાય છે ચૈત્ર વદિ ૧૦ ને દિવસે રાણકપુરમાં ભરાતા મેળામાં કેસર તથા અન્ન લગાડવાનો, આરતી ઉતારવાનો અને નવી ધજા ચઢાવવાનો હક્ક, આજે પણ રત્નાના વંશજો જે હાલમાં ઘાણેરાવમાં રહે છે તેઓ ધરાવે છે.

કચ્છમાં ભદ્રેશ્વર મંદિરનું મહત્વ ઘણું છે. ઈતિહાસની સાક્ષીરૂપ ભદ્રાવતી નગરીનો ઉલ્લેખ મહાભારત અને ભાગવતમાં થયેલો છે. આ પુરાણપ્રસિદ્ધ નગરીના અવશેષો અને ખંડિયેરો પરથી આ સ્થળની પ્રાચીનતાનો ખ્યાલ આવે છે. જૈન પ્રબંધોમાં ભદ્રેશ્વરને લગતાં લખાણો છે. મંદિરના સ્થાપત્યનો નીચેનો ભાગ સૌથી પુરાણો છે. ત્યાં પુરાતત્ત્વની દૃષ્ટિએ બારમી સદી પહેલાંનો એકેય અવશેષ જોવા મળતો નથી.

જૈન મંદિરો મોટે ભાગે આરસનાં બંધાયેલાં છે. મંદિરોના આરસને જાણે વાણી પ્રાપ્ત થઈ છે. ઐશ્વર્ય સાથે દાનવીરોના આદર્શો ચરિતાર્થ થતા જેઈ શકાય છે. ઉચ્ચ ધર્મપ્રેમ અને કલા તેમના પ્રતીકરૂપ આ જૈન મંદિરો પ્રત્યેક માનવી માટે દર્શનીય છે.



જૈન તીર્થ તારંગા : એક પ્રાચીન નગરી

ડૉ. કનુભાઈ વ્ર. શેઠ

ડૉ. રમણલાલ ના. મહેતા

પ્રસ્તાવિક

તારંગા પર્વત પર આવેલા પ્રાયઃ બારમી સદીના અજિતનાથના દહેરાસરને કારણે તે એક સુપ્રસિદ્ધ જૈન તીર્થ ગણાય છે. આ દહેરાસર અંગે આ પૂર્વે અધ્યયન કરવાના કેટલાક પ્રયાસ થયા છે. પણ તેનો અભ્યાસ કરતાં એમાં કેટલીક ક્ષતિઓ, વિગતદોષ આદિ જોવા મળ્યાં. દહેરાસરનું વર્ણન પણ વ્યવસ્થિત કરવામાં આવ્યું નથી. તારંગાની સ્થળતપાસ પણ વ્યવસ્થિત થઈ નથી એનો પણ ખ્યાલ આવ્યો. એટલે તારંગા પર સ્થળતપાસ કરીને ત્યાં આવેલ નગરનું અવલોકન કરી, એની સ્થાપના ઇતિહાસ આદિનો અભ્યાસ કરવાનો નિર્ણય કર્યો અને તે અનુસાર તારંગાની અમે સ્થળતપાસ કરી જે અવલોકન-અધ્યયન કર્યું તે સંદર્ભે અત્રે કેટલીક ચર્ચા વિચારણા રજૂ કરી છે.

તારંગા તીર્થ - પૂર્વ માહિતી

પ્રાચીન પ્રબંધોમાં તારંગા તીર્થ અંગે માહિતી મળે છે. તેમાં અજિતનાથના દહેરાસર અને કેટલાંક કાર્યો અંગે નોંધ છે. પણ વર્ણન નથી. વર્ણન કરી તીર્થો અને દહેરાસરોની માહિતી આપી, તેનો ઇતિહાસ તૈયાર કરવો ઇત્યાદિ પ્રવૃત્તિ ઓગણીસમી સદી પછી આરંભાઈ છે.

તારંગા તીર્થની માહિતી રાસમાળા (ફાર્બસકૃત) માં પ્રાપ્ત થાય છે તે અનુસાર અહીં કેટલાક નવાં નાનાં દહેરાસરો છે. સ્વચ્છ જલાશયો છે. પર્વત પર દેવી તારણનું મંદિર છે, તેથી તેનું નામ તારંગા પડ્યું છે. તે વેણી વન્સરાજના સમયનું છે સંભવ છે કે આ સ્થળે કુમારપાલે બંધાવેલ અજિતનાથના દહેરાસર પૂર્વે પણ કોઈ દહેરાસર હોય. આ સ્થળની ચારે તરફ જંગલો છે અને ભોમિયા વિના ત્યાં જવું મુશ્કેલ છે. અહીં પહોંચવાના બે માર્ગો છે. ઈડરની માફક અહીં નાનો દુર્ગ છે.

આ પર્વતની ખીણમાં દહેરાસર છે અજિતનાથનું. તેની આજુબાજુના ત્રણ શિખરો પર નાની છત્રીઓ છે. જે ભોમિયાનું સ્થાન લે છે.

જૈનો દર વર્ષે કાર્તિક અને ચૈત્રમાં અહીં યાત્રાએ આવે છે.

આ માહિતી પછી બર્જેસ અને કઝિન્સે આ દહેરાસરનો તલદર્શનનો નકશો બનાવ્યો તથા

દહેરાસરના કેટલાક ફોટોગ્રાફો આર્કિયોલોજિકલ સર્વે નોર્થ ગુજરાત અથવા આર્કિયોલોજિકલ એન્ટીકવટિઝ ઓફ નોર્થ ગુજરાત માં (પૃ. ૧૧૪-૧૧૬) તથા સંક્ષેપમાં નોંધ પ્રસિધ્ધ કરી. આ નોંધ પરથી અનુકાલીન લેખ લખાયા છે. જૈન તીર્થ સર્વ સંગ્રહ (પૃ. ૧૪૬-૧૫૨)માં તારંગાની નોંધ કરી છે. તેમાં તેમણે કુમારપાલ પ્રતિબોધ (સોમપ્રભાચાર્ય) ની આર્ય ખપુટાચાર્ય કથા તથા પ્રભાવકચરિત્ર આદિમાંથી સાહિત્યિક પ્રમાણોનો કેટલોક આધાર લઈને તારંગા તીર્થની સામગ્રી આપી છે. તેમાં ઘણા દોષ છે. એમાં ઐતિહાસિક ક્રમ જળવાયો નથી.

‘સોલંકી કાલીન ગુજરાત’માં કાંતિલાલ સોમપુરાએ તારંગાના અજિતનાથના દહેરાસરનું (પૃ. ૪૧૨-૪૭૫) વર્ણન કર્યું છે. તેમાં પણ ઐતિહાસિક સામગ્રીનો અભાવ છે.

આવી પરિસ્થિતિમાં દહેરાસરનું વ્યવસ્થિત વર્ણન કરવાની અને તેનો ઇતિહાસ તપાસવાની જરૂર લાગતા, આ અભ્યાસનો ઉપક્રમ કર્યો છે.

તારંગા ભૌગોલિક

તારંગા (ઉ.અ. ૨૩-૫૯; પુ.રે. ૭૨-૪૯) ગુજરાત રાજ્યના મહેસાણા જિલ્લાના ખેરાળુ તાલુકામાં આવેલું છે, તાલુકાનાં મુખ્ય મથક ખેરાળુના ઈશાન ખૂણે આશરે ૨૫ કિલો મીટર પર આવેલા તારંગાનાં દહેરાસરને ગુજરાતનાં વિવિધ સ્થળો સાથે આજે સ્ટેટ ટ્રાન્સપોર્ટ સર્વિસથી સંકળી લેવામાં આવ્યું છે. તથા મહેસાણા - તારંગા રેલ્વેથી પણ ભારતના અન્ય ભાગો સાથે સંકળાયેલું છે. તારંગાની ઉત્તરે ભેમપુરા, ટીંબા, ઈશાનમાં ખાડોમલી, પૂર્વમાં આશરે પાંચ-છ કિલોમીટર પર સાબરમતી, અગ્નિખૂણે હાડોલા, દક્ષિણે કનોરિયા, કુડા, રાજપર તથા પશ્ચિમે કારડો અને તારંગા સ્ટેશન છે. તારંગાનો પર્વત સમુદ્રની સપાટીથી આશરે ૩૬૪ મીટર ઊંચો છે. અને આજુબાજુ પ્રદેશમાં તે આશરે ૧૫૦ થી ૨૦૦ મીટર ઊંચો છે. સામાન્યતઃ ગુજરાતના સપાટ પ્રદેશની પૂર્વ તરફના પહાડી પ્રદેશની વિવિધતામાં તારંગા અરવલ્લી ગિરિમાળાના ચેનાઈટના પડો ધરાવે છે. તેથી આ હારમાળામાં ગોળાકાર ધરાવતાં, પવન અને ધોવાણની પ્રક્રિયા થી ગુફાઓવાળાં સ્થાનો ઘણાં છે. તેની સાથે આ વિસ્તારની પવનથી ઊંડી રેતના ટીંબા તથા ધારો પણ છે; આમ બે ભૂસ્તરો ધરાવતા આ વિસ્તારની પરિસ્થિતિ જોતાં પર્વતનો પશ્ચિમ તરફનો ભાગ વધુ ઢાળવાળો તથા વસવાટ માટે ઓછો અનુકૂળ છે. તેથી અહીંના નદીનાં વાંધાની નજીક કેટલાંક વસ્તીના સ્થાનો છે, તે વાંધાની પાસેની ભેખડ પર તથા ત્યાંના ખડકોની ગુફામાં દેખાય છે. આ બૌદ્ધસ્થાનો છે. તેની વધુ તપાસ અપેક્ષિત છે. આજે તારા કે ધારણ માતાનું નાનું સામરણયુક્ત મંદિર, તેની પાસેની જોગીડાની ગુફા થોડાઘણાં જાણીતાં છે. અહીં ઈંટોનો ઉપયોગ કરીને કેટલુક બાંધકામ થયું છે.

આ સ્થળની પૂર્વમાં પર્વતના ઉપરના ભાગમાં ભૌગોલિક પરિસ્થિતિ બદલાય છે. બે ધાર વચ્ચે, પવનથી ઊંડેલી રેત પથરાયેલી કંઈક ત્રિકોણાકાર ખીણ છે. આ ખીણના નીચાણવાળા ભાગો પ્રમાણમાં ઓછા ઢાળવાળા છે. અહીં ઉત્તર તથા દક્ષિણની ધારો પરથી ચોમાસામાં વહેતાં નાળાંથી બનેલી ખીણ આસરે બસો મીટર પહોળી છે. તેની બન્ને બાજુના ખડકોની તળેટીના ઢાળ પાણ સરળતાથી સમતલ બનાવાય એવા છે. આમ તારંગાની આ ખીણ માનવ વસવાટને માટે કંઈક અનુકૂળ પરિસ્થિતિ દર્શાવે છે.

આ સ્થળની ભૌગોલિક પરિસ્થિતિનો લાભ લઈને માનવ વસવાટ શરૂ થયો હોય એમ માનવામાં કોઈ બાધા નથી. અહીંના વિવિધ પુરાવયવો તે વાત પુષ્ટ કરે છે. તેની ભૌગોલિક પરિસ્થિતિ જોતાં તારંગાના પાણીના પ્રવાહો સાબરમતીમાં જવાને બદલે ઈશાનથી નૈઋત્યની સામાન્ય દિશામાં વહીને ઉત્તર ગુજરાતની રૂપેણ નદી બનાવે છે, તે અહીંની જમીનના ઢોળાવની પ્રક્રિયા છે. સાબરમતીના પાસેનાં આ પ્રદેશ તારંગાનું અજિતનાથનું દહેરાસર સોલંકીવંશના કેન્દ્રસ્થ સારસ્વતમંડળનો ભાગ હોય એમ ઉપલબ્ધ પ્રમાણો દર્શાવતા નથી. પરંતુ તે આજુના પરમારો અને ત્યાર બાદ ચૌહાણોનો પ્રદેશ હોવાનું લાગે છે.

તારંગા પુરાવયવો પાણીના પુસ્વકાની તારંગાની આ ખીણમાં સારી સગવડ હોવાથી અહીં વસતી હોવાના કેટલાંક પ્રમાણો મળે છે. તેમાં મકાન તથા માર્ગના અવશેષો, માટીકામ, પ્રતિમાઓ તેમજ દુર્ગની રચના આદિની ગણના થાય એમ છે.

મકાન અને વાસાણો

અજિતનાથની ખીણનાં વિશિષ્ટ લક્ષણોમાં પર્વતની તળેટીના ધીમા ઢોળાવો છે. આ ઢોળાવોને સમતલ કરીને મકાનોની રચના થઈ છે. તેથી તે મકાનોનું બાંધકામ કરવા માટે નાના ટેકરાની આજુબાજુ પથ્થરોની ભીત બનાવી જમીન સમતલ કરવામાં આવી છે. આવી સમતલ કરેલી જમીનના તથા ભીતોના અવશેષો અજિતનાથના દહેરાસરની બન્ને બાજુએ અને તથા પશ્ચિમમાં ઘણી જગ્યાએ દેખાય છે. આ અવશેષોમાં સ્થાનિક ગ્રેનાઈટના પથ્થરો તોડીને તે ગોઠવીને બનાવેલી ભીંતો એકબીજાને કાટખૂણે મળતી દેખાય છે. તેમાં કેટલીક વાર નીચે મોટી ભીંતથી જમીન સમતલ કરી તેની ઉપર પ્રમાણમાં નાની ભીતો બાંધેલી દેખાય છે. આ ભીંતો પથ્થરની તેમજ ઈંટોની બનાવેલી છે.

અહીંની ઈંટોની ભીતો મોટે ભાગે છિન્નભિન્ન થયેલી છે. પરંતુ કેટલીક જગ્યાએ તેના કેટલાક થરો વ્યવસ્થિત રીતે સચવાયેલા છે. આ થરોનું ચાણતર માટીનું છે. અહીં વપરાયેલી ઈંટો ૪૫ X ૩૦ X ૭ સેન્ટીનાં કદની છે. તેથી તેની સરખામણી કરતા દેવની મોરીના સ્તુપ તથા તેના સમકાલીન

બાંધકામમાં આ ઈંટોનું કદ સામાન્ય છે. તેના અનુકાલીન યુગની ઈંટો ૩૭.૫ X ૩૦ X ૭ ની છે. સુલતાન યુગમાં ૩૦ X ૨૨.૫ X ૭ ઈંટો વપરાઈ છે. તે બાબત લક્ષમાં લેતાં આ અવશેષો આજથી દોઢ હજાર વર્ષ કરતાં જૂની પરંપરા દર્શાવે છે.

આ અવશેષો પાસેથી નળિયાં, વાસાણો આદિ ઘરવખરી મળે છે. આ પ્રકારના નળિયાં આજના મેગ્લોરી ટાઈલ્સની સાથે સામ્ય ધરાવતા છે. તે બન્ને બાજુએ ઊભી ધારવાળાં સપાટ છે. આ પ્રકારના નળિયાં થાપલા ને નામે ઓળખાય છે. તે અત્યારે વપરાતા અર્ધગોળ નળિયાં કરતાં જૂની પરંપરાના છે. દેવની મોરી તથા તેના સમકાલીન સ્તરોમાંથી મળતા થેપલા બન્ને બાજુની ધારની સરખામણીમાં અહીંના થાપલા વધુ ઊંચી ધારવાળા છે. તેની બનાવટની શૈલી જોતાં તે દેવની મોરીના અનુકાલીન યુગના લાગે છે અને તેથી તેની મદદથી અહીંનાં મકાનોનો કાલનિર્ણય કરતાં તે આશરે હજાર વર્ષ કરતાં જૂનાં હોવાનું સૂચન કરે છે.

માટીનાં કોડિયા, વાડકા, કથરોટ, હાંડી જેવાં વાસાણોનાં ફીકરાં પણ અહીંથી મળે છે તે થાપલાની સાથે કાલક્રમમાં સામ્ય ધરાવતાં લાગે છે. વધુ તપાસ કરતાં જૂના ઘાટના વાસાણો મળે તો તેની મદદથી આ વસવાટનો સમય હજાર વર્ષ કરતાં કેટલો પુરાણો-પ્રાચીન છે તે બાબત સ્પષ્ટ થાય. આજની પરિસ્થિતિમાં તે આશરે હજાર-બારસો વર્ષ જૂનો ગણવામાં કોઈ બાધક પ્રમાણ દેખાતો નથી.

માર્ગો

મકાનો અને ઘરવખરી જોતાં આ મકાનો સાથે સંબંધ ધરાવતા માર્ગો બાબત તપાસ કરતાં અહીં પૂર્વ પશ્ચિમના મુખ્ય માર્ગને પર્વતની તળેટીમાં બંધાયેલાં મકાનો, તળાવ પર આવવાના માર્ગ આદિ સાથે સાંકળી લેવામાં આવ્યો હતો. તેની સાથે દુર્ગની અંદર ફરવાના માર્ગો પણ હોવાના પ્રમાણુ છે. તે પૈકી કેટલેક સ્થળે ચઢવા ઊતરવા માટે વ્યવસ્થિત પગથિયાં બાંધવામાં આવેલાં દેખાય છે.

આ પગથિયાં બાંધવામાં પણ સ્થાનિક પથ્થરોનો ઉપયોગ થયો છે. પથ્થરો ગોઠવીને પગથિયાં સમતલ કરવામાં આવ્યા છે. તેથી તૈયાર થતી સોપાનપંક્તિઓ મકાનો તરફ જતી હોવાનાં એંધાણ છે. આમ આ માર્ગો, મકાનો, ઘરવખરી આદિ તારંગા પર આશરે હજાર વર્ષ કરતાં જૂનો માનવ-વસવાટ હોવાનું સૂચવે છે. તેના એક મુખ્ય માર્ગ અને તેની સાથે તેની બન્ને બાજુએથી આવતા બીજા માર્ગોવાળાં આ ગામની ચારેબાજુ દુર્ગ પર હિલચાલ થઈ શકે એવી માર્ગોની સગવડ હતી.

દુર્ગ

તારંગાના નગરના રક્ષણ માટે દુર્ગ બાંધેલો છે. જ્યાં ભેખડો સીધી અને ચઠાણ અશક્ય છે તેવાં સ્થળો બાદ કરતાં બીજા ભાગો પર સ્થાનિક ગ્રેનાઈટ પથ્થરની ભીતો બાંધીને દુર્ગ તૈયાર કરવામાં આવ્યો હતો. તેની પંચકોણાત્મક જેવી રચના નક્શા પર દેખાય છે. આ દુર્ગને પૂર્વ અને પશ્ચિમ દિશાના દરવાજા છે. તેમાં પૂર્વના દરવાજાની રચના સુલતાન યુગની કથનવાળી છે. ત્યાં દરવાજાની પાસેની ભીત પર શિખરના ભાગો, ચક્રેશ્વરી, તીર્થંકર આદિ શિલ્પો, દેખાય તે રીતે જડી દીધેલાં છે.

દુર્ગનો પશ્ચિમનો દરવાજો પૂર્વના જેવો છે. અહીં ગણેશ, મહિપાસુર-મર્દિનીના શિલ્પો ગોખમાં છે. અને તેના ઉપર દ્વન્દ્વયુધ્ધનાં શિલ્પો છે. દરવાજાની દોઢી કે ચોકીદારોને બેસવાનાં સ્થળોની ભીતો પર રેખા બુટી આદિનાં ચિત્રો છે. ગણેશ અને મહિસાસુરમર્દિનીનાં શિલ્પો આ દરવાજાનું મહત્ત્વ દર્શાવે છે. એની યાત્રાના હેવાલો, પુષ્ટિ કરે છે. આ તરફથી તારંગા આવવાના બે માર્ગોનું વર્ણન મળે છે. આ દુર્ગ ક્યારે બંધાયો તે બાબત વધુ તપાસ અપેક્ષિત છે. પરંતુ તેના દરવાજાઓનાં ચિત્રો, રચના આદિ જોતાં તે સંભવતઃ અઢારમી સદીમાં બંધાયો છે. આ દરવાજાનો જીર્ણોદ્ધાર થઈને નવા તૈયાર થયા છે કેકિલ્લા ની ભીતના સમકાલીન છે તે બાબત અન્વેષણથી નિશ્ચિત કરવાની જરૂર છે.

કુંડ

અજિતનાથના દહેરાસરના ઈશાન ખૂણે, દિગંબરોના દહેરાસર પાસે એક સમચોરસ કુંડ છે. આ કુંડમાં બન્ને બાજુથી પ્રવેશ કરવાનાં પ્રવેશદ્વાર છે. કુંડ પથ્થરયુક્ત છે. તેની રચનામાં વપરાયેલી ઈટો તથા બીજી સુશોભન આદિ સામગ્રી પાણ તેને વાવ કરતાં વધુ પ્રાચીન હોય તેમ દર્શાવતી નથી.

કૂવો

અજિતનાથના દહેરાસરના પશ્ચિમે આવેલાં તળાવ પાસે એક નાનો પુરાઈ ગયેલો કૂવો છે. એ કૂવાની બાજુએથી અંદર ડીતરવાનાં સોપાન છે. તેથી તે ગુજરાતના સામાન્ય રીતે જાણીતા ફેરકૂવા ના પ્રકારનો લાગે છે. આવા કૂવા ચાંપાનેર, સેવાસી જેવાં સ્થળોએ જોવામાં આવ્યા છે. તથા તે ભમરિયા કૂવા કરતાં સાદા સ્વરૂપનાં છે. આવા કૂવા પંદરમી-સોળમી સદીમાં ગુજરાતમાં તૈયાર થયા છે. તેથી આ કૂવો આ યુગનો હોય તો અજિતનાથ ના દહેરાસરમાં સંવત ૧૬૪૨માં જીર્ણોદ્ધાર થયો તેનો સમકાલીન ગણાય. પરંતુ એની પ્રાચીનતાની વધુ તપાસ જરૂરી છે.

પાણીના પુરવઠાની આ ખીણમાં આવી સારી સગવડ હોવાથી અહીં માનવ વસતી હોવાના કેટલાંક પ્રમાણો મળે છે.

અજિતનાથ દહેરાસરનું સ્થાન

આમ આ સમગ્ર પરિસ્થિતિનું અવલોકન કરતાં હાલના અજિતનાથના દહેરાસરનું સ્થાન તારંગા નગરનાં કેન્દ્રસ્થાને મુખ્ય માર્ગની દક્ષિણે હોવાનું સ્પષ્ટ થાય છે. તેથી એ દહેરાસર અહીંના નગરનું મહત્ત્વનું દેવસ્થાન કે ચૈત્ય છે. આથી સ્પષ્ટ થાય છે કે અજિતનાથનું દહેરાસર તે પ્રાચીન તારંગા નગરનું મહત્ત્વનું દેવસ્થાન હતું. અહીં માનવ વસવાટ પ્રાયઃ પંદરસો વર્ષ પુરાણો હોવાનું અનુમાન કરી શકાય છે. અજિતનાથનું દહેરાસર ભમતી, પીઠ, મંડપો, ગર્ભગૃહ અંતભૂમિ, ત્રણ ભૂમિ, મંડપો પર અગાસી, સામરણ તથા ગર્ભગૃહ અને પ્રદક્ષિણા પથ, શિખર ધરાવે છે.

માનવવસવાટ માટે જરૂરી એવાં જલાશયો, તલાવ, વાવ, કુંડ, કૂવો વગેરે ધણ તારંગાની ખીણમાં અસ્તિત્વ ધરાવે છે. આ બધાંનું આ ખીણમાં થયેલી માનવ પ્રવૃત્તિને આભારી છે.

જલાશય

તારંગાની ખીણમાં આવતાં નાળાંના પ્રવાહો રોકીને કે તેની પાસેનાં જમીનની અંદરનાં પાણીનો કૂવા દ્વારા ઉપયોગ કરવામાં આવ્યો છે. આ માટે અજિતનાથનાં દહેરાસરની દક્ષિણે બાંધેલું તળાવ સૌથી મોટું છે.

આ તળાવની પાળ માટી અને પથ્થરની છે તળાવના પાણીની આવક ડુંગરપુર તરફથી થાય છે. આ આવકની પાસે બન્ને બાજુ પર સ્થાનિક ગ્રેનાઈટ પથ્થરોની પાળ બનાવીને તળાવને સુરક્ષિત અને ઊંડું બનાવવામાં આવ્યું છે. દક્ષિણ દિશામાં પાળ બાંધીને તળાવનું પાણી રોકવામાં આવ્યું છે. વધારાનું પાણી પાળને નુકશાન ન કરે તે માટે તેનો નિકાલ થાય એવી આ પાળની એક બાજુ વ્યવસ્થા ધણ છે. ડુંગર પરના તળાવની આ વ્યવસ્થા જેવી રચના ગુજરાતના ઘણા જલાશયોમાં જોવામાં આવે છે. આવાં કૃત્રિમ તળાવો જીવન જરૂરિયાત માટે આવશ્યક છે. તે આવશ્યકતા અને પૂરી પાડવાનો પ્રયાસ છે.

વાવ

આ તળાવની પૂર્વમાં, આજની બ્લોકવાળી નવી ધર્મશાળાની પાસે એક ચૂના અને ઈંટની બાંધેલી વાવ છે. તેનો કૂવાવાળો ભાગ ખુલ્લો અને ચોરસ છે. તેના પ્રવેશદ્વારનાં પગથિયાં એક માળ પર્યંત ખુલ્લાં છે. અને બીજે માળથી આરંભીને પાણી સુધી જવાના ભાગ પરનાં પગથિયા પર ગગારક, તોરાણ અને વિતાન છે. વાવની કોશ ખેંચવાની જગ્યા પર પાંચ કેન્દ્રીય કમાનો છે વાવમાં વાયુદેવની અને પાર્વતી દેવીની પ્રાચીન પ્રતિમાઓ છે. એની પ્રાચીન ઈંટો ૪૫ X ૩૦ X ૭.૫

સેન્ટીમીટરની છે.

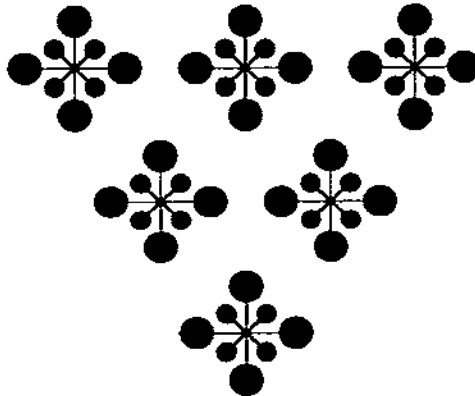
આ વાવનું સ્વરૂપ ગુજરાતમાં સામાન્યતઃ પ્રાપ્ત વાવો કરતાં ભિન્ન છે. તે રાજસ્થાની સ્વરૂપની વાવ સાથે સમાનતા ધરાવે છે. એની રચનાનાં વિવિધ અંગોમાં વપરાયેલા જૂના પદાર્થો પરથી તે બંધાઈ તે પહેલાની ઈમારતના ભાગોનો એમાં થયેલો ઉપયોગ સ્પષ્ટ જાણાઈ આવે છે. તેનાં સ્વરૂપ પરથી તે આશરે સોળમી સદી પછી રચના હોવાનું અનુમાન કરી શકાય.

શિલ્પો

આ દુર્ગ અને નગરના અવશેષોમાં કેટલાંક શિલ્પો મહત્વનાં છે. તે પૈકી અજિતનાથના હાલમાં વપરાતા દરવાજાની અંદરના ગણેશ અને વિષ્ણુનાં પથ્થરનાં શિલ્પો શૈલીની દ્રષ્ટિએ નવમી-દશમી સદીનાં છે. તેવી રીતે અજિતનાથના દહેરાસરના મુખ્ય પ્રવેશમંડપની જમાણા હાથની દેવકુલિકાની અંદર સ્થાપન કરેલી પદ્માવતી દેવીની લગભગ આ સમયની અત્યંત મનોહર પ્રતિમા છે. તેની સાથે દહેરાસરના કોટની ઉત્તરની ભીતમાં ગોખમાં ગોમુખ યક્ષની આરસની પ્રતિમા યાગ બારમી સદીના પૂર્વાર્ધની શૈલીને અનુસરે છે. તદુપરાંત સોમનાથ મહાદેવના મંદિરના પ્રવેશદ્વારની બન્ને બાજુએ ખારા પથ્થરની ઈશાન અને વાયુ દિગ્પાલની પ્રતિમાઓ યાગ બારમી સદીથી પ્રાચીન છે.

આ ઉપરાંત દુર્ગની ભીતોમાં જડાયેલાં શિલ્પો, પૂર્વના દરવાજા પાસેની ચૌહાણની કુલદેવી આશાપુરીની મહિષમર્દિની પ્રતિમા અને તેનાથી થોડે દૂર પડેલી ઘસાયેલી, ઊભેલી પ્રતિમા આદિ અહીંનાં પ્રાચીન દેવસ્થાનોના અવશેષો હોય એમ સૂચવે છે.

આ શિલ્પો ખારા પથ્થર, આરસ તથા પારેવાના પથ્થરનું છે. તેમાં ખારો પથ્થર હાથમતી નદીના વિસ્તારનો, પારેવાનો પથ્થર ડુંગરપુર તરફનો અને આરસ ચંદ્રાવતી તરફનો કે મકરાણાનો છે. આ પથ્થરો અહીં બહારથી લાવવામાં આવ્યાં હતા. તે અહીંનાં લોકની પ્રવૃત્તિ દર્શાવે છે.



જ્યવંતસૂરિ કૃત સીમંધરસ્વામીલેખ

જ્યંત કોઠારી

જ્યવંતસૂરિ સોળમા સૈકામાં થઈ ગયેલા જૈન સાધુકવિ છે. એ વડતપગચ્છની રત્નાકર શાખાના સાધુ હતા અને ઉપાધ્યાય વિનયમંડનના શિષ્ય હતા. એ પોતાને જ્યવંતસૂરિ ઉપરાંત ઘણી વાર તો જ્યવંત પંડિત તરીકે ઉલ્લેખે છે અને એમનું ગુણસૌભાગ્યસૂરિ એવું અપરનામ પણ મળે છે. કવિ સંસ્કૃત કાવ્યશાસ્ત્રના અભ્યાસી હોય એવું જાણવા મળે છે. અને સંસ્કૃત-પ્રાકૃત કાવ્યપરંપરાનો પણ એમને ઊંડો પરિચય હશે એવું એમની કૃતિઓ બતાવે છે.

કવિની બે રાસકૃતિઓ - શૃંગારમંજરી (૧૫૫૮) અને ઋષિદત્તા રાસ (૧૫૮૭) - ઉપરાંત સ્તવન, લેખ(પત્ર), સંવાદ, ફાગ, બારમાસા વગેરે પ્રકારની કેટલીક કૃતિઓ અને ૮૦ જેટલાં ગીતો મળે છે. એમાં કવિની એક ભાવ કવિ તરીકેની પ્રતિભા ઉપસી આવે છે અને અલંકારો, વિવિધ અભિવ્યક્તિ તરાહો અને વાગ્બંધિઓ, પદ્યબંધો, સમસ્યાબંધો, સુભાષિતો વગેરે પરનું કવિનું અજબ પ્રભુત્વ પ્રતીત થાય છે. કવિને સર્વ રીતિના આલેખનની ફાવટ છે, પણ એમની કૃતિઓમાં ચક્રવર્તી છે તે તો સ્નેહરસ જ. તીર્થંકર સ્તવના પણ પ્રેમલક્ષણા ભક્તિને રંગે રંગાયેલી છે. આ રીતે, ખરેખરા અને ઉચ્ચ કવિત્વગુણે કરીને આ જૈન સાધુ મધ્યકાલીન સાહિત્યના એક પ્રથમ પંક્તિના સર્જક કવિ બની રહે છે.

સીમંધરસ્વામીલેખ ક્યારેક સીમંધરસ્વામીસ્તવન તરીકે પણ ઉલ્લેખાયેલ છે. એમાં જ્યવંત પંડિત એવી કવિનામછાપ છે ને કવિએ પોતાને ઉપાધ્યાય વિનય મંડનના શિષ્ય તરીકે ઓળખાવેલ છે. એમણે આ કૃતિ આસો સુદ ૧૫ ને શુક્રવારે રચી હોવાનું પણ નિર્દેશ્યું છે. આ તિથિ-વરસ. ૧૫૯૯ એટલે ઈ. ૧૫૪૩માં પડે છે એવું કનુભાઈ શેકે (શૃંગારમંજરી, ૧૯૭૮, પૃ ૧૦) જાણાવ્યું છે. પૂર્ણ આ બાબત શંકાસ્પદ જાણાય છે. ૧૫૫૮માં શૃંગારમંજરી પોતે લઘુ વયે રચેલી છે એમ કવિએ કહ્યું છે. તેમાં લઘુ વય એટલે વીસ-પચીસ વર્ષથી વધારે ઉંમર સંભવી ન શકે, ને તો, ૧૫૪૩ માં કવિ દશેક વર્ષથી વધારે ઉંમરના ન હોઈ શકે. આમેય, આસો સુદ ૧૫ ને શુક્રવાર ઘણાં વર્ષોમાં આવી શકે.

અહીં મુદ્રિત થયેલા પાઠમાં કૃતિ ૩૭ કડી ધરાવે છે. તેમાં દૂપદ એટલે ધ્રુવપદ કે આકાળી આંચલીની પાંચ કડી છે તે ઉમેરીએ તો કુલ ૪૨ કડી થાય. કૃતિમાં ઢાળ નિર્દેશ નથી પણ એ, આ રીતે, સ્પષ્ટપણે પાંચ ઢાળની કૃતિ છે. (મધ્યકાલીન ગુજરાતી જૈન સાહિત્યમાં બે ઢાળ કહી છે તે ભૂલ છે.) બધી જ ઢાળમાં ત્રણ-ચાર ચરણની આખી કડીની ધ્રુવા એ આ કૃતિના પદ્યબંધની એક ધ્યાન ખેંચતી લાક્ષણિકતા ગણાય. બે ઢાળમાં દેશીનો નિર્દેશ છે, પણ રાગનો નિર્દેશ બધી ઢાળમાં છે. હસ્તપ્રતોમાં આ નિર્દેશો થોડા જુદા પણ પડે છે.

લેખ એટલે પત્ર. મધ્યકાલીન ગુજરાતી સાહિત્યમાં આ પ્રકારનાં પત્રકાવ્યોની એક પરંપરા જેવા મળે છે. બહુધા લેખ ને નામે, પાણ કેટલીક વાર કાગળ, પત્ર, વિજ્ઞપ્તિ એવાં નામે પાણ આ કાવ્યો ઓળખાવાયાં છે. પત્ર કાવ્ય સ્વતંત્ર કૃતિ તરીકે મળે છે, તે ઉપરાંત લાંબા કથાકાવ્યમાં પાણ એને, સ્વાભાવિક રીતે, સ્થાન મળ્યું છે. (આ વિશેની થોડી માહિતી મધ્યકાલીન ગુજરાતી જૈન સાહિત્યમાં મધ્યકાલીન જૈન કવિતામાં પત્ર/લેખ એ લેખમાંથી મળશે.) કવિ જ્યવંતસૂરિને પત્રકાવ્ય પ્રત્યે ખાસ રુચિ હોય એમ જાણાય છે. એમની શૃંગારમંજરીમાં અજિતસેને શીલવતી પર લખેલો લાંબો પત્ર અને શીલવતીએ અજિતસેન પર લખેલો એમ બે પત્રો આવે છે. પહેલો ટૂંકો, માત્ર ૧૨ કડીનો છે, પાણ બીજો ખાસ્સો લાંબો, ૯૭ કડી સુધી વિસ્તરે છે. પત્રો સ્વસ્તિ શ્રીવર વીનવઈ એવો ઔપચારિક આરંભ ધરાવે છે, કુશળ સમાચાર આપે છે. પૂછે છે અને સ્નેહાસક્તિ તથા વિરહભાવની અભિવ્યક્તિ કરે છે. અજિતસેનના પત્રમાં મુખ્યત્વે શીલવતીનો. શીલવતીના પત્રમાં પોતાથી પત્ર કેમ નથી લખાયો એનાં અનેક રસિક કારણો છે, સ્થળ-સમયના અંતરથી ન અવરોધાતા સાચા સ્નેહનો મહિમા છે, સમસ્યાગર્ભિત કથનો છે, પોતાના પ્રીતિભાવની ઉત્કટ અભિવ્યક્તિ છે અને પત્ર લખવા જતાં ક્યા અંતરાયો આવે છે તે સ્મણીય તર્કોથી બતાવ્યું છે. આ પત્રમાં છેલ્લે પત્ર લખ્યાની મિતિ પાણ છે. જ્યવંતસૂરિનાં ગીતોમાં પાણ એક સ્થૂલિભદ્રકોશાલેખ છે.

આ સીમંધરસ્વામીલેખ સ્વસ્તિશ્રી પુંડરગિણી એમ ૩૬ પત્રપદ્ધતિએ આરંભાય છે. ને અંતે પત્ર લખ્યાની મિતિ પાણ. એમાં પત્રસ્વરૂપ ચુસ્તપણે સચવાયું નથી. દૈવને તથા સુરલા (પોપટ)ને સંબોધનો તથા મોરા વાહલાનંદ કોઈ મેલવઈ જેવી કોઈ ત્રીજી વ્યક્તિને થયેલી અભ્યર્થના સીમંધરસ્વામી પરના પત્રમાં અસંગત ગણાય. એમ લાગે છે કે કવિને મન પત્રસ્વરૂપ કરતાં મનોભાવની અભિવ્યક્તિ જ વધારે મહત્ત્વની છે, એ માટે જે કોઈ પ્રયુક્તિનો આશ્રય લેવાનો થાય તે લેવાનો બાધ નથી. જૂજ સ્થાનો બાદ કરતાં કવિ પત્રના સ્વરૂપને વળગી રહ્યા છે એ જ મોટી વાત છે.

આ પત્ર પાણ સ્નેહાસક્તિ અને વિરહભાવને વાચા આપવા નિમગ્નિલા છે ને એનો એકંદરે સૂર શૃંગારમંજરીમાંના અજિતસેન અને શીલવતીના પત્રો જેવો ગણાય, ને થોડીક પંક્તિઓ પાણ બન્ને કૃતિઓમાં મળતી આવે છે. જેમકે,

માંનસ સમરઈ હંસલા રે, ચાતિક સમરઈ મેહ,

કમલ ભમર, વિંજ હાથીઆ રે, તિમ સમરું તુજ નેહ. ૨૮

(સીમંધરસ્વામી લેખ)

ભમરુ સમરઈ માલતી, હાથી સમરઈ વિંજ,

મરુથલ સમરઈ કરહું, તિમ સમરું હું તુજ. ૨૧૩૫

માનસ-સરોવર હંસ જિમ, ભમરા જિમ કમલાઈ,
 મેહ સંભારઈ મોર જિમ, તિમ તુહમ ગુણ સમરાઈ. ૨૨૨૬
 ગજવર સમરઈ વિંજ જિમ, કાંઈલિ સમરઈ અંબ,
 તિમ સમરું હૂં તુંહનઈ, સમરઈ ભમર કદંબ. ૨૨૨૭

(શુંગારમંજરી)

દઢ એકનિષ્ઠ સ્મરણપ્રીતિ દર્શાવવા માટેનાં આ બધાં પરંપરાપ્રાપ્ત ઉપમાનો છે. એનો ઉપયોગ કરવામાં મધ્યકાળના કવિઓને મૌલિકતાના કોઈ ખ્યાલો આડે આવતા નહતા. જ્યવંતસૂરિએ એક જ કૃતિમાં બન્ને પાત્રોમાં એ ઉપમાનોની પુનરુક્તિ ન થવા દેવાનું પાણ ઈચ્છ્યુ નથી. પછી બે ભિન્ન કૃતિઓમાં એ પુનરાવર્તિત થાય એમાં શી નવાઈ ? પાણ બધાં ઉપમાનો પુનરાવર્તિત થતાં નથી અને દરેક સ્થાને કંઈક જુદાપાણું વરતાય છે, એ ખ્યાલમાં રાખવું જોઈએ

જે જઈ ઘડિ ઘડિ તે વિના, તે વરસ સરીખી થાઈ. ૩.૧

(સીમંધરસ્વામીલેખ)

વાહાલેસર, એક તુજ વિના, ક્ષાણ વરસા સુ થાઈ. ૨૧૮ ૩.૧

(શુંગારમંજરી)

નવિ વીસરઈ ગુણ તોરડા, જઉ લાખ જેઆણ દૂરિ,
 પંજરડૂં સૂનું ભમઈ, તુજ પાસઈરે મન રસપૂરિ. ૧૩

(સીમંધરસ્વામીલેખ)

મ જાણસિ તું વિસરિઉ, ગયા વિદેસિ અપાર,
 મુજ જીવિત તુજ પાસિ છઈ, સૂનું અહિં ઢંઢાર. ૨૨૦૮

(શુંગારમંજરી)

કિહાં સૂરિજ કિહાં કમલિની રે, કિહાં મેહા કિહાં મોર,
 દૂરિ ગયા કિમ વીસરઈ રે, ઉત્તમ નેહ સ જોઈ. ૨૭

(સીમંધરસ્વામીલેખ)

કિહાં સૂરજ કિહાં કમલવન, કિહાં કુમુદાલી ચંદ,
 વાહલા વસઈ વિદેસડઈ, સમરિયાં દેઈ આનંદ. ૨૨૧૨.

(શુંગારમંજરી)

દોઈ આંખડી અલજઉ ધરઈ, મોરઈ ચિત્તિ તોરું ધ્યાન,
તુઝ નામ જીભ ન વીસરઈ, તોરા ગુણડા રે સુખ દિઈ કાંતિ. ૧૨

(સીમંધરસ્વામીલેખ)

ધ્યાન તુહમાર ચિતડઈ, ગુણ સુણિ સવાણ-સંતોસે,
નાંમિ પવિત્ર સ જીભડી, દો નયાણાં ધરઈ સોસ. ૨૨૦૪ (શુંગારમંજરી)
ગૂંથી તુઝ ગુણ કૂલડે, નામમંત્ર જ એહ રે
વિરહ તાણાં વિષ ટાલિવા, હું જપું નિસિદીહ રે. ૧૬ (સીમંધરસ્વામીલેખ)

હૃદયકમલિ એક તૂં રિઉં, ગૂંથી તુઝ ગુણ-માલ.

શ્રેય-મિત અભિધાન તુજ, જપતાં જઈ કાલ. ૨૨૦૬ (શુંગારમંજરી)

મનિ જે ઉપજઈ, વાતડી, (તુ) તે લેખમાં ન લખાઈ રે,

પાપી દોષી જન ઘણા, (તું) મિલ્યા પાખઈ ન કિહિવાઈ રે. ૩૩

(સીમંધરસ્વામીલેખ)

મનમાં છઈ ઘણી વાતડી, જે કાગલિ ન લિખાઈ,

દોષી દુરયન જગિ ઘણા, મિલિયા પખઈ ન કહાઈ. ૨૨૪૪

(શુંગારમંજરી)

તુજ ઉપરિ મુઝ નેહડઈ રે, સાખી ચંદ સુજાણ,

ઘણું કહું સ્યુ કારિમું રે, તુજ હાથિ મુઝ પ્રાણ. ૨૫ (સીમંધરસ્વામીલેખ)

ઘણઉં કહું સિઉં કારિમૂ, સમ કીધે સિઉં હોઈ,

તૂં એક સમય ન વીસરિઉ, થોડાઈ ઘણું સ જોઈ. ૨૨૩૦. (શુંગારમંજરી)

પસરી તુમહ મનમાંડવઈ રે, મનોહર અહા ગુણવેલિ,

નેહિં-જલિં નિતું સીંચયો રે, જિમ હુઈ રંગરેલિ. ૨૬ (સીમંધરસ્વામીલેખ)

પ્રીતિ-લતા થાલું કરિઉં, તુજ મન-મંડપિ લગ્ગ,

દુરિયન-વચન કટારડઈ, રખે છેદાઈ સુરંગ. ૨૨૦૯ (શુંગારમંજરી)

સાયર મિસિ, મેરુ લેખાગી, તુ કાગલ અંબર સાર રે,
તુહઈ મનની વાતડી તે, (તું) લિખિતાં નાવઈ પાર રે. ૩૧

(સીમંધરસ્વામીલેખ)

ભૂમંડલ કાગલ કરું, સાયર સવિ મસિ ધાઈ,
સવિ ડૂંગર કાંઠા હવઈ, તુહા ગુણ તુહિ ન લિખાઈ. ૨૨૩૭
સવિ અંબર કાગલ હવઈ, ગંગા-જલ મિસિ હોઈ,
જઉ સુરગુરુ તુહા ગુણ લિખઈ, પાર ન આવઈ તોઈ. ૨૨૩૮ (શૃંગારમંજરી)
આખિર ભાવન ગુણ ઘણા, તુ કહુ તાં કેતા લિખીઈ રે;
થોડઈ ઘણું કરી જાંગયો, (તું) સુખ હોસ્યઈ તુમહ દેખી રે. ૩૨

(સીમંધરસ્વામીલેખ)

અક્ષર ભાવન ગુણ ઘણા, કેતા લિખીઈ લેખિ;
થોડઈ ઘણું કરી જાંગયો, સુખ હોસઈ તુહા દેખિ. ૨૨૩૫ (શૃંગારમંજરી)

આ સમાંતર ઉદ્ગારોથી મધ્યકાળની કાવ્યરચના પ્રણાલિ ઉપર પ્રકાશ પડશે. પાણ એ બાબત ધ્યાન બહાર ન રહેવી જોઈએ કે શબ્દશઃ સમાન હોય એવા ઉદ્ગારો તો ઓછા છે ને સમાંતર ચાલતા ઘણા ઉદ્ગારો વિગતો કે સંદર્ભનો ઓછોવત્તો ફરક બતાવે છે. સ્થૂળ વિગતોનો ફરક બહુ મહત્વનો નથી પણ એક જ ઉદ્ગારને કે એક જ ઉપમાને નવા ભાવસંદર્ભમાં પ્રયોજવામાં કવિકૌશલ રહેલું છે એમ અવશ્ય કહેવાય. અને એ કવિકૌશલને પ્રમાણવામાં આપણે સંકોચ ન અનુભવવો જોઈએ. એવા ઉદ્ગારોના પણ થોડાક દાખલા ઉપરનાં ઉદાહરણોમાં જોવા મળશે. અને આ ઉદ્ગારો ઉપરાંત બન્ને કૃતિઓમાં જે વિશેષ છે તે તો જુદું.

સીમંધરસ્વામી લેખની વિશેષતા એ છે કે એમાં તીર્થંકરભક્તિ પ્રીતિભાવની નીકમાં વહે છે. જાણે કોઈ વિરહિણી સ્ત્રી પ્રિયતમને પત્ર લખતી ન હોય ! એવું લાગે છે. અલબત્ત, પત્ર લખનાર સ્ત્રી છે એમ કહેવા માટેનું પત્રમાં કોઈ ચિહ્ન નથી. પણ સીમંધરસ્વામીને સતત વહાલાજી તરીકે ઉલ્લેખવામાં આવ્યા છે. તીર્થંકરદેવ પ્રત્યેના આવા પ્રીતિભાવનું આલેખન ઘણા જૈનકવિઓને હાથે થયું છે, છતાં કોઈને આમાં લૌકિક રાગની છાયા દેખાય ને તેથી એમાં અતૌચિત્યનો સંશય થાય એમ બની શકે. એક શક્યતા રહે છે. આ કૃતિની બે હસ્તપ્રતોમાં વહાલાજીને સ્થાને 'અરિહંત' 'ભગવંત' 'સામી' એવા શબ્દો મળે છે. તે આવી સંશયવૃત્તિનો સંકેત કરે છે. જોકે આટલા શબ્દના પરિવર્તનથી કંઈ આખા કાવ્યનો ભાવ બદલાઈ જતો નથી.

તીર્થંકરદેવ પ્રત્યે તો ગુણાનુરાગ જ સંભવે ને ? કાવ્યને આરંભે જ સાંગ રૂપક રચનાનો આશ્રય

લઈ કવિ પોતાનો ઉત્કટ ગુણાનુરાગ વ્યક્ત કરે છે. - “ગુણકમલ તોરઈ વેધીઉ, મનભમર મુજ રસપૂરિ (તારા ગુણરૂપી કમલથી મારો મનરૂપી ભમર રસપૂર્ણતાથી વીધાયો છે, લુબ્ધ થયો છે.) પછી પણ કવિ જ્યારે એમ કહે છે કે ‘પસરી તુમ્હ મનમાંડવઈ રે, મનોહર અમ ગુણવેલિ ત્યારે ગુણવેલિ’ એટલે ગુણાનુરાગરૂપી વેલિ એમ જ અર્થ લેવો જોઈએ. (શૃંગારમંજરી માં પ્રીતિલતા જ કહેલી છે.) કવિ સીમંધરસ્વામીના નામનો મંત્ર જયે છે તે પણ એમનાં ગુણફલડાંની માળા ગૂંથીને (૧૬). તીર્થકરદેવ પ્રત્યેના કવિના ખેંચાણનું કારણ એમના ગુણો છે તે વાત એક સ્થાને માર્મિક રીતે કહેવાઈ છે - દૂતીપણું તોરા ગુણ કરે. ને સીમંધરસ્વામી ને વારે વારે સુગુણ એવું વિશેષણ લગાડાય છે અને એમના ગુણો લખતાં પાર આવે તેમ નથી એમ પણ કહેવાય છે. ગુણોનું ખેંચાણ એટલું બધું છે કે નવિ વીસરઈ ગુણ તોરડા, જઉં લાખ જોઆણ દૂરિ.

પણ વાત આટલેથી અટકતી નથી. કવિ સીમંધરસ્વામીના ગુણો પ્રત્યે જ આસક્ત નથી, તેમના રૂપની અને અંગશોભાની મોહિની પણ એ અનુભવે છે. જેમકે, સીમંધરસ્વામીના મુખચંદ્રનું આકર્ષણ :-

તુઝ દેખવા મુખચંદલઉ, દોઈ નયાણ કરઈ રુહાડિ. ૨. ૨

એમની ચાલ, એમનું બોલવું, એમની આંખના ભવાં વગેરેનું આકર્ષણ :-

ચતુર ચમકઈ ચીતડઈ, તુ ચાલંતાં ભુંઈ સોહઈરે,

અમીય ઝરઈ મુખિ બોલંતા, તું તોરઈ નયન-ભમિ સહુ મોહઈરે.

ગુણપૂજા તો દૂર રહીને પણ થઈ શકે પરંતુ કાવ્યમાં તો વહાલાજી ને સાથે આંખ મેળવવાની, એમનું દર્શન કરવાની, એમની સાથે વાત કરવાની તીવ્ર અભિલાષા વારંવાર વ્યક્ત થઈ છે, અને પ્રતીક્ષા વિરહ વ્યાકુળતા અધીરાઈ વગેરે ભાવો વ્યક્ત થયા છે જે પ્રત્યક્ષ મિલનની આકાંક્ષા સૂચવે છે. પ્રિયતમને કહેવાની મનની વાત તો એવી છે કે જે ‘પાપી (દોષી)’ જન ‘વેરી’ વગેરેથી છાની રાખવા કવિ ઈચ્છે છે. જાણે કે આ ખાનગી પ્રેમપત્ર ન હોય ! -

મનિ જે ઊપજઈ વાતડી, (તુ) તે લેખમાં ન લખાઈરે,

પાપી દોષી જન ધાગા, (તુ) મિલ્યા પાખઈ ન કિહિવાઈ. રે. ૩૩

આ રીતે કવિની પ્રીતિભક્તિનો લૌકિક પ્રીતિભાવનો રંગ લાગેલો છે એ સ્પષ્ટ છે પણ એથી આ પ્રીતિભાવ તાદ્દશ બને છે. એમાં તીક્ષ્ણતા અને તીવ્રતા પ્રતીત થાય છે, એમાં આત્મીયતા, એકેનિષ્ઠતા અને એકાન્તિકતાનો એક મનોરમ અનુભવ થાય છે. વસ્તુતઃ એ લૌકિક પ્રીતિ નથી જ. વધારે અગત્યનું તો આ મનોભાવોને કયા કાવ્યકસબોથી અભિવ્યક્ત કર્યા છે અને એને કેવા માર્મિક અને ધારદાર બનાવાયા છે તે છે. વહાલાજીને જાળવવાની ઉત્સુકતા સૂડલા (પોપટ) ને ઉદેશીને કહેવાયેલી આ પંક્તિમાં કેવી અસરકારકતાથી પ્રગટ થઈ છે તે જુઓ :

રે સૂડિલા, તોરી પાંખડી, મુઝ આપિ કરિ ઉપગાર,
નયાગસંતોષ જઈ કરું, ન ખમાઈ વેધવિકાર. ૩-૧-૨

વડાલાજી તો વિદેશમાં જ વસનારા છે. એમની સાથે વિયોગ તે તો નિત્ય વિયોગ. દેવને પૂછેલા આ પ્રશ્નમાં એની વ્યથા વેધક રીતે વ્યક્ત થઈ છે.

રે દૈવ, તઈ એક દેસડઈ, સિંઈ ન કીઆ દોઈ અવતાર. ૪.૧

ચંદ્રને સંદેશવાહક બનાવવાની એક રસિક કલ્પના અહીં મળે છે. પાણ ચંદ્ર સંદેશવાહક બનતો નથી. એથી નીપજેલી હતાશા જે રોષભર્યો ઉદ્ગાર કરાવે છે અને સચોટ વ્યવહારસૂત્રનો આશ્રય લે છે તે ભાવપ્રકટીકરણની એક છટા તરીકે આપણા મનમાં વસી ગયા વિના રહેતું નથી.

તેહવઉ કો નહી આપાગઉ, જોડઈ મુઝ તુઝ પ્રીતિ રે,

લેખ-સંદેસુ પાઠવું, કહું વાત જે ચીતિ રે. ૧૯

ચંદુ વલી વલી વીનવ્યું, મુઝ નવિ કરઈ કાજ રે,

વિરહ-વિછોડિઆ વેદના, પાપી નવિ લહઈ આજ રે. ૨૦

વિરહ-વિછોડિઆં માણસો, થોડા મેલાગહાર રે,

આપ સમી લહઈ વેદના, ઉસિ જાઉં બલિહારિ રે. ૨૧

એક જ પદાર્થને ફેરવી પલટાવીને વિવિધ મનોભાવોને વ્યક્ત કરવા પ્રયોજવાનું એક કવિયાતુર્ય હોય છે. આ કવિ પાણ એવું કવિયાતુર્ય બતાવે છે. સ્વપ્નનો એમાણે કરેલો ઉપયોગ આપણે જોઈએ.

મુઝ દિવસ વરસા સુ સમુ, તુઝ વિના રયાણિ છ માસ,

તોરઈ વેધડઈ સહુ વીસરઉં, સુહાગા તાણી સી આસ. ૬.૧.૨

વિરહભાવની તીવ્રતા અને અન્યમનસ્કતાનું આ ચિત્ર છે. દિવસ સો વરસ જેવડો ને રાત્રિ છ માસની એ વિરહમાં સમયનું બદલાઈ જતું પરિમાણ છે. ને એ રીતે વિરહની ઘનતાનું પાણ માપ છે. પાણ પછી તો પ્રેમઘાયલ કવિને રાતદિવસનું ભાન રહેતું નથી એ એમની અન્યમનસ્કતા છે. રાતદિવસનું ભાન ન હોય ત્યાં સ્વપ્ન કેમ હોઈ શકે ? તેથી સ્વપ્નના મિલનસુખથી પાણ વંચિત. આમ અતુલ નિરાશાનો આ ઉદ્ગાર બને છે. અહીં સ્વપ્નના અભાવને કવિ કામે લગાડ્યો, તો અન્યત્ર સ્વપ્નની સ્થિતિને પાણ એમાણે ઉપયોગમાં લીધી છે

નવિ નીસરઈ મન બાહિરિઈ, મુઝ સુહાગઈ રે તોરડી ખંતિ. ૧૦. ૨

સ્વપ્નમાં માણસની દુનિયા ઘણી વાર બદલાઈ જાય છે. પાણ પ્રભુ પ્રિયતમ માટેની અભિલાષા

સ્વપ્નમાં પણ મનમાંથી જતી નથી. અભિલાષા કેવી ઊંડી અને અતૂટ છે એ આથી દર્શાવાય છે.

સ્વપ્નાવસ્થા કંઈ કાયમી નથી હોતી. રાત્રે ઊંઘમાં જ સ્વપ્ન શક્ય. પછી એ પૂરું. આ સ્થિતિનો ઉપયોગ પણ કવિએ ભાવપ્રકટીકરણ માટે કર્યો છે.

જવ સુપત્ન માંહિ તું મિલઈ, તવ હર્ષ હીઈ ન માઈ,
હે હે રે દૈવ અટારકુ, વઈરિણી રયાણી વિહાઈ. ૨.૩-૪

સ્વપ્નનું મિલનસુખ રાત્રિ જતાં વિલાઈ ગયું. એની વેદના અહીં વ્યક્ત થઈ છે. રાત્રિ વૈરિણી અને દૈવને મસ્તીખોર કહીને પ્રેમમગ્ન મનના રોષને વાચા આપવામાં આવી છે, જે એ વેદનાને ધનીભૂત બનાવે છે.

ક્યાં મહાવિદેહ ક્ષેત્રમાં પુષ્કલાવતી પ્રદેશમાં પુંડરીકિણી નગરીમાં વિરાજતા સીમંધરસ્વામી અને ક્યાં પોતે ? આ દૂરત્વ કંઈ સહેલાઈથી પાર થઈ શકે એવું નથી. વચ્ચે છે ડુંગર અને દરિયા તથા આકરા ને મુશ્કેલીભર્યા માર્ગ. આથી મિલનની દુષ્કરતા. આ દુષ્કરતાને અંતરાયકર્મની વાત ગૂંથીને કવિ વિશેષ વળ આપે છે.

એકઈ રે ગામિ વસતડાં, અંતરાયવસિ ન મિલાઈ,
પરદેસિ વાહલા વેગલા, તસ મીલિઈ રે કેગઈ ઉપાય. ૯

આશ્ચાલુબ્ધ મનની નિરંતર પ્રતીક્ષા એક સાદા પણ અસરકારક ચિત્રથી મૂર્ત કરી છે
આંણી વાટઈ જાણું આવસઈ રે, તિણિ વેધઈ રહું બારિ,
આશા-બાધું મન રહઈ રે, ન લહઈ અસૂર સહવાર. ૨૪

સાંજ-સવારનું ભાન ન રહેલું એમ અહીં અન્યમનસ્કતા નથી, અખંડ પ્રતીક્ષાજગરણની નિશાની છે.

કાવ્યોદ્ગારને સ્વાભાવિકતા અર્પતી ને આત્મીય ગોઠિના ભાવને ઉપકારક થતી બોલચાલની વાગ્બંધિઓ કાવ્યમાં વારંવાર મળ્યા કરે છે. નીચેની વાગ્બંધિ કેવી લાક્ષણિક અને અર્થપૂર્ણ છે તે જુઓ :

તુઝ ઉપરિ મુઝ નેહડઈ રે, સાખી ચંદ સુજાણ,
ઘાણું કહું સ્યું કરિમૂં રે, તુઝ હાથિ મુઝ પ્રાણ. ૨૫

કારમું-અદ્ભુત, અસાધારણ વાત ઝાઝી તો શું કહું એ વાગ્બંધિથી તારા હાથમાં મારા પ્રાણ છે એ કથનને કેવો ઉઠાવ મળે છે ! એનું કેવું મૂલ્ય સ્થાપિત થાય છે !

કૌશલનાં ઘાણાં ઉદાહરણો આગળ આવી ગયાં છે. એટલે હવે અહીં કવિની તાજગીભરી

તીક્ષ્ણ રસદષ્ટિની પરિચાયક એક અલંકારરચના તરફ ખાસ ધ્યાન ખેંચવું જોઈએ.

સવિ અક્ષર હીરે જડ્યા, (તુ) લેખ અમૂલિક એહ રે,
વેધક-મુખિ તંબોલડું, (તું) મન-રીઝવણું એહ રે. ૩૫

લેખના સર્વ અક્ષરો હીરે જડ્યા છે એ એક મનોરમ કલ્પના છે ને એથી લેખ અમૂલિક હોવાની વાત ચરિતાર્થ થાય છે; પણ બીજી યંક્તિ તો એક એવું ઉપમાન લઈને આવે છે, જે નૂતન ચમત્કૃતિભર્યું છે. આ લેખ એ તો રસિક જનના મુખનું તાંબુલ. તાંબુલ એના મનને પ્રસન્ન કરે છે તેમ આ લેખ પણ પ્રિયજનને સુખ આપનાર નીવડશે. રસિક જનનું મન-રીઝવણું એવા તાંબુલ સુધી પહોંચતી કવિ દષ્ટિને આપણે અભિનંદા વિના કેમ રહી શકીએ ?

અને એક ભાવગર્ભ, સઘન અલંકારરચના

મન માંહિ જાગુ છાંના વસઈ, ધુણ અંબ માંહિ જિમ,
મોરું ચિત્ત કોરઈ ખિણિ-ખિણિ, દૂબલૂં થાઈ મોરું તન રે. ૭.૩-૪

મનમાં વસતા જાગુ એટલે કે પ્રિયજન અને આંખાના વૃક્ષમાં વસતા ધુણ (કાજનો કીડો) વચ્ચે એટલું જ સામ્ય નથી કે એ છાનાં વસે છે, એ ધુણ સામ્ય છે કે ધુણ આંખાના વૃક્ષને કોતરે છે તેમ પ્રિયજન ચિત્તને કોરે છે; આંખાનું વૃક્ષ ખવાતું જાય છે તેમ પોતાનું તન કૃશ થતું જાય છે.

કવિની પદાવલિની એક લાક્ષણિકતા ચૂકી જવા જેવી નથી. લાડવાચક શબ્દો કવિએ કેટલા બધા પ્રયોજ્યા છે ! -ચંદલઉ, અટારુ (અટારુ), સૂડલો(સૂડો), પાંખડી (પાંખ), દેસડઉ (દેસ), સંદેસડુ (સંદેશ), વેધડઉ (વેધ), તોરડઉ (તોરું), વસંતડાં (વસંત-વસતાં), પ્રીતડી (પ્રીતિ), નેહડઉ (નેહ), તંબોલડુ (તંબોલ) વગેરે. સર્વનામ અને કૃદંત સુધી પહોંચતો લાડભાવ જરા વિલક્ષણ જ ગણાય. આ પદાવલિ વિરહ શુંગરના અહીં આલેખાયેલા નાજુક, મુલાયમ, મૃદુ હૃદયભાવને ખૂબ પોષક બનતી અનુભવી શકાય છે.

પ્રેમનો પુર પામેલો ભક્તિભાવ, અનેક સંચારિભાવોથી એની થયેલી પુષ્ટિ, પરંપરાપ્રાપ્ત પણ સાર્થક રીતે પ્રયોજાયેલાં તથા નવીન ને ચમત્કૃતિભર્યાં અલંકારોનાં સૌન્દર્ય-સામર્થ્ય તેમજ સાહજિક ને લાક્ષણિક વાગ્બંધિઓની કાર્યસાધકતા જ્યવંતસૂરિની આ કૃતિને એક નિતાન્ત આસ્વાદ્ય કૃતિ બનાવે છે.



કવિ સહજસુન્દરકૃત ગુણરત્નાકરછંદ

ડૉ. કાન્તિલાલ બી. શાહ

જૈન સાધુકવિ સહજસુન્દર ઉપકેશગચ્છના સિદ્ધસૂરિ-ધનસારની પરંપરામાં રત્નસમુદ્ર ઉપાધ્યાયના શિષ્ય. એમણે રચેલ નાનીમોટી કૃતિઓની સંખ્યા ૨૫ જેટલી થવા જાય છે. એ કૃતિઓમાંની કેટલીકમાં મળતાં રચનાવર્ષને આધારે કવિ સહજસુન્દરનો જીવનકાળ ૧૬મી સદીનો પૂર્વાર્ધ હોવાનું નિશ્ચિત કરી શકાય છે. એમની રચનાઓમાં રાસ, છંદ, સંવાદ, સ્તવન, સજ્જાય વગેરે પદ્ય સ્વરૂપોનો સમાવેશ થાય છે.

ઋષિદત્તા મહાસતી રાસ, જંબૂસ્વામી અંતરંગરાસ, આન્મરાજ રાસ, પ્રસન્નચંદ્ર રાજર્ષિ રાસ, તેતલી મંત્રીનો રાસ, અમરકુમાર રાસ, ઈરિયાવહી વિચાર રાસ, પરદેશી રાજનો રાસ, સ્થૂલિભદ્ર રાસ, શુકરાજ-સુદાસાહેલી રાસ, ગુણરત્નાકર છંદ, સરસ્વતીમાતાનો છંદ, રત્નકુમાર-રત્નસાર ચોપાઈ, આંખકાન સંવાદ, ધૌવનજરાસંવાદ, તે ઉપરાંત કેટલીક સ્તવનો-સજ્જાયો જેવી કૃતિઓ સહજસુન્દરે રચી છે. પણ આ સૌમાં ઉત્તમ રચના કદાચ ગુણરત્નાકરછંદ જ છે. આ કૃતિ ઈ.સ. ૧૫૧૬ (સંવત ૧૫૭૨)માં રચાયેલી છે. એટલે કહી શકાય કે આ કવિનો જન્મ લગભગ ૫૦૦ વર્ષ પહેલાં થયો છે.

છેક હમણાં સુધી આ કવિની કેવળ ૩ નાની રચનાઓજ મુદ્રિત થઈ હતી. પણ તાજેતરમાં શ્રીમતી નિરંજના વોરાએ આ કવિની લગભગ ચૌદેક કૃતિઓ સંપાદિત કરેલી પ્રગટ થઈ છે. પણ એમની ઉત્તમ રચના ગુણરત્નાકરછંદ તો, એની સંખ્યાબંધ હસ્તપ્રતો ઉપલબ્ધ હોવા છતાં, હજી અપ્રકટ જ રહી છે.

ગુણરત્નાકરછંદ કૃતિનો મુખ્ય વિષય જૈન સંપ્રદાયમાં ખૂબ જાણીતા એવા સ્થૂલિભદ્ર-કોશાના કથાનકનો છે. આખી રચના કુલ ૪ અધિકારોમાં વહેંચાયેલી છે અને કુલ ૪૧૯ કડી ધરાવે છે. આખી કૃતિ વાંચતાં એક કથાત્મક કાવ્યકૃતિ તરીકે જે પાંચેક મુદ્દાઓ પરત્વે આપણું લક્ષ દોરાય છે તે મારી દૃષ્ટિએ આ પ્રમાણે છે :

૧. આ કૃતિમાં વાર્તાકથન કવિનું ગૌણ પ્રયોજન રહ્યું છે.
૨. અહીં કથન કરતાં ભાવનિરૂપણ અને વર્ણન વિશેષ ધ્યાન ખેંચે છે.
૩. કૃતિના બહિરંગની પણ કવિએ સવિશેષ માવજત કરી છે.
૪. ચારણી છટાવાળા વિવિધ છંદોને કવિએ ખૂબ લાડ લડાવીને એમાંથી ભરપૂર સંગીત ઊભું કર્યું છે.
૫. કવિનાં પાંડિત્ય અને બહુશ્રુતતા અહીં પ્રગટ થાય છે.

આ પાંચ મુદ્દાઓમાંથી આપની સમજ તો, આ કૃતિમાં થયેલાં ભાવનિરૂપણ અને વર્ણન વિશે, કેટલાંક ઉદાહરણો આપીને, થોડીક વાત કરીશ.

ગુણરત્નાકરણ્ડ કથાત્મક કૃતિ હોઈ અહીં કથાનો દોર છે ખરો, પણ ખૂબ જ પાતળો. કથાનકને નિમિત્ત બનાવીને સહજસુન્દર કવિત્વની ખરી છોળો ઉછાળે છે તે તો એનાં અલંકૃત વર્ણનોમાં, કથા એ કવિનું મુખ્ય પ્રયોજન રહ્યું નથી.

પ્રથમ અધિકાર સરસ્વતીદેવીનું મહિમાગાન, સ્થૂલિભદ્ર-પ્રશસ્તિ અને પાડલપુર નગરીના વર્ણનમાં સમાપ્ત થાય છે.

ત્રીજા અધિકારમાં સ્થૂલિભદ્રનો જન્મોત્સવ, બાળ સ્થૂલિભદ્રનો લાલનપાલન સાથે થતો ઉછેર, સ્થૂલિભદ્રની બાલચેષ્ટાઓ, યૌવનમાં એમની સંક્રાન્તિ અને પછી યુવાન બનેલા સ્થૂલિભદ્રનો કોશ સાથે ભોગવિલાસ - આમ એક પછી એક આવતાં વર્ણનોના પ્રવાહમાં ભાવક તણાય છે.

ત્રીજા અધિકારમાં આરંભે, સ્થૂલિભદ્રના પિતા શકટાલના રાજ ખટપટથી થયેલા મૃત્યુનો તો કવિ સંક્ષિપ્ત ઉલ્લેખ જ કરે છે. કવિને વિશેષ રસ છે, રાજ્યનું તેડું આવતાં સ્થૂલિભદ્ર માનસિક વિમાસણના ચિત્રાલેખનમાં. સ્થૂલિભદ્રનો વેરાગ્ય, કોશાનો પીંપાયેલો મનમાળો, એની સાથે વિરહદશા - આ વર્ણનોમાં ત્રીજા અધિકાર રોકાય છે.

ચોથો અધિકાર ચોમાસુ ગાળવા આવેલા સ્થૂલિભદ્રનું મન રીઝવવા માટે કોશાના પ્રયાસોના ચિત્ર વર્ણનમાં રોકાય છે. છેવટે સ્થૂલિભદ્રનો કોશાને બોધ અને કોશાનું હૃદય પરિવર્તન - ત્યાં કૃતિ સમાપ્ત થાય છે.

આંતરપ્રાસ, અન્ત્યાનુપ્રાસ, શબ્દાલંકાર, ઝડઝમક, સ્વાનુસારી શબ્દપ્રયોજના, ચારણી છટાવાળો લયહિલ્લોળ અને ક્વચિત્ કંઠ્ય-વાદ્ય સંગીતની સૂરાવલી-આ બધામાંથી એક વિશિષ્ટ નાદસંગીત નીપજે છે. કેટલાંક વર્ણનો અહીં સંગીતબદ્ધ બની આપાગને વિશિષ્ટ લયપ્રવાહમાં ખેંચી જાય છે.

પ્રથમ અધિકારમાં સરસ્વતીની પ્રશસ્તિ સાંભળશો :

ધમધમ ધૂધર ધમધમ કંતય, ઝંઝર રિમઝિમ રાગરાગકંતય,
કરિ ચૂડિ રાગકંતિ કિ દિખઈ, તુહ સિંગાર કીઉં સહ ઊપઈ.

કવિ સ્થૂલિભદ્રની પ્રશસ્તિ આ શબ્દોમાં કરે છે :

ગુણરોલ લોલ કલોલ કીરતિ ચપલ ચિહું દિસ હિંસએ,
ઝલહલઈ સિરિ સુહ ઝાંગ, સીકરિ શીલભૂપાગ દીસએ.

પાટલીપુત્ર નગરીનું વર્ણન ચિત્રાત્મક બન્યું છે. પાડલપુરનાં પ્રજાજનો, એની પૌષ્ઠશાળાઓ અને ધર્મશાળાઓ, બાગબગીચા, વાવસરોવરકૂપ આદિ જળાશયો, એના રાજવી અને મંત્રી - આ બધી વિગતોને સમાવી લેતું પ્રાસયુક્ત નગરવર્ણન કવિએ કર્યું છે. એમાં ક્યાંક ક્યાંક કવિ શબ્દચાતુરીભર્યા યમકપ્રયોગ પણ કરે છે :

મોટે મંદિર બહૂ કોરણીઆં, નયાણિ ન દીસઈ તિહાં કો રાણીઆં,
સૂર વહઈ નિતુ કરી કોદંડહ, કહ તીરઈ નવિ દેહ કો દંડહ.

પાલ ખીઈ બઈસઈ નરપાલા, હીંડઈ એક વલી નર પાલા
બીજા અધિકારનો આરંભ કવિ સ્થૂલિભદ્રના જન્મોત્સવથી કરે છે :

પંચ શબ્દ વાજઈ વલિ ઢોલહ, મૃગનયાણી મંગલ મુખિ બોલહ.
દૂહા ગીત ભાગઈ ગુણગાથા, કુંકમ કેસરના ઘઈ હાથા,
નવનવ નારિ વધાવઈ કોડે, રોપઈ કેલિ મનોહર ટોડે.

પાણ પછી તો જન્મોત્સવનું આખું ચિત્ર સંગીતમાં સંક્રમે છે :

ધાણ ગજજઈ જિમ કીરય સુવદ્લ, વજજઈ ધધિકિટ દ્રેકટ મદ્લ,
ચયપટ ચયપટ તાલ તરંગા, થોગિનિ તિથુંગ નિરાકટ થોંગા.

તાથોગિનિ તાથોગિનિ તિથુંગિનિ તિથુંગિનિ,
સિરિગમ મપધમિ સુસર સરં,

નીસાણ કિ દ્રમકિત દ્રમદ્રમ
દ્રહકંતિ દ્રહદ્રહ દ્રહુકાર કરં,

ઝહરિ ઝાગઝાગકંતિ, ભેરિ ભાગકંતિ
ભૌં ભૌં ભૂંગલ ભરહરયં,

ધૂઘર ધમધમકંતિ, રાગારાગકંતિ,
સસબદ સંગિતિ સદ્વરં,

બાલ સ્થૂલિભદ્ર પ્રત્યે માતાપિતાનું વાતસલ્ય જુઓ :

લાલઈ પાલઈ નઈ સંસાલઈ, સુત સાહાંમઉં વલિ વલિ નિહાલઈ.

આમાં 'લ' વર્ણનો પ્રયોગ અને ક્રિયાપદોમાંના અઈનાં ઉચ્ચારણોનાં થતાં પુનરાવર્તનોમાંથી
ઝરતું નાદસૌંદર્ય કર્ણપ્રિય બને છે.

સ્થૂલિભદ્રની બાલસહજ ચેષ્ટાઓના વર્ણનમાં ચિત્ર અને સંગતની જુગલબંધી જોઈ શકાશે :

લીલા લટકંતઉ, કર ઝટકંતઉ, ક્ષણિ ચટકંતઉ, વિલખંતઉ,

પુહવી તલિ પડતઉ, પુત્ર આખડતઉ, ન રહઈ રડતઉ, ઠાણકંતઉ

યુવાન સ્થૂલિભદ્રને આવતા જોઈને કોશાને પહેલાં તો એને ઠગવાનો, ધૂતકારવાનો ભાવ જાગે
છે. તે વિચારે છે :

ગાઢા ધૂરત મઈ ઠગ્યા, છોકર છલ્યા છવલ,

ધોરીકા ધૂરિ પેતરું, હવઈ એ કરું બયલ.

ધાત ખરી જઉ લાગસ્યઈ, તઉ છોડવસ્યઉ દ્રાંમ

આ ક્ષણ સુધી તો કોશા કોઈપણ પુરુષનો સંગ કરનારી ગણિકા માત્ર છે. પણ પછી સ્થૂલિભદ્રને તજકથી નિહાળીને પોને એનાથી પ્રભાવિત બની જાય છે. કવિ એનું આ ભાવપરિવર્તન આ રીતે નોંધે છે :

પહિલઉ ઠગવિદ્યા હુંતી, દીઠઉ થયઉ સ-ભાવ,
સાંહમું લાગી ઝૂરિવા, જલ વિણ જિસ્યઉ તલાવ.
ભૂભંગિ ભાવઈ જગ ભોલત્યઉ, છલ્યા લોક છંદા કરી,
શ્રી સ્થૂલિભદ્ર પેખી કરી થઈ વિશે તે કિંકરી

અત્યાર સુધી પોતાના ભૂભંગથી જગતને ભોળવનારી ને લોકને છળનારી કોશા સ્થૂલિભદ્રને જોઈને એમની કિંકરી-દાસી બની ગઈ.

તે વિચારે છે : હવે ઉડાઉડ કેમ હાથિ પોપટ બઈટ્ટઉ

આંગણે બેઠેલા પોપટને હવે હાથે કરીને કેમ ઉડાડી મૂકું ?

પછી તો શૃંગારનિષ્પાણ ઘેરો રંગ ધારણ કરે છે. કોશાનું દેહસૌંદર્ય, એનાં વસ્ત્રાભૂષણો, અને એના પ્રપંચી હાવભાવનાં વર્ણનોમાં કવિ ભાવકને ઘસડી જાય છે.

મયમત્તા મયગલ જિસ્યા થાગહર સૂર સુભટ્ટ,
પેખી નર પાછા પડઈ, મેહલઈ માન મરટ્ટ.

સુવત્ત દેહ રૂપરેહ, કાંમગેહ ગજજએ,
ઉરત્થ હાર, હીર ચીર, કંચુકી વિરજજએ,
કટકિક લંકિ ઝીણ વંક અગ્ગિ ખગ્ગિ દુમ્મએ
પયોહરાણ પકિખ પકિખ લોક લકખ ધુમ્મએ
અત્રંગરંગ અંગ અંગ કોસિ વેસિ દકખએ,
કડકખ ચકખ તીર તિકખ તિકિખ તિકિખ મુક્કએ

નીચેની કડીમાં કોશાને સરોવરના રૂપકથી કવિ વર્ણવે છે :

નારિસરોવર સબલ સકલ મુખકમલ મનોહર,
ભમુહ ભમહિ રાગઝાગતિ, નયનયુગ મીન સહોદર,
પ્રેમ તાણઉ જલ બહુલ, વયાણ રસલહિરિ લલત્તિ,
કબરી જલસંવાલ, પાલિ યૌવન મયમત્તિ,
નવ ચક્કવાક થાગહરયુગલ, કરઈ રંગ રામતિ રમતિ,
શ્રી સ્થૂલિભદ્ર ઝિહ્વઈ તિહાં, રમઈ હંસહંસી જમતિ.

અહીં કોશા સરોવર, મુખ કમળ, આંખો મીનદ્વય, પ્રેમ જલ, વાણી રસલહરી, કેશકલાપ જલશેવાળ, યૌવન સરોવરપાળ, સ્તનયુગ્મ ચક્રવાકયુગલ તરીકે વર્ણવાયાં છે.

‘નારિ સરોવર સબલ સકલ મુખકમલ મનોહર’ આ પંક્તિમાં ‘સ’ અને ‘મ’ શ્રુતિનાં આવર્તનો અને સબલ, સકલ, કમલનો શબ્દાનુપ્રાસ વિશિષ્ટ ઝડઝમક ઊભી કરે છે. લલિતકોમલકાંત પદાવલિનો અનુભવ અહીં થાય છે.

પછી તો કોશાના શૃંગારી હાવભાવ અને કામકીડાનાં કેટલાંક વ્યંજનાપૂર્ણ વર્ણનો ચાલે છે. એક ઉદાહરણ :

પોપટ દ્રાખ તાગઉ રસ ઘૂંટઈ, પાસિ પડી સૂડી નવિ છૂટઈ,
દોઈકર પાખર બંધન ભીડઈ, આંકસ નખ દેઈ તન પીડઈ.

વેશ્યાનો સ્નેહ કદી એક વ્યક્તિનિષ્ઠ હોતો નથી, પણ સ્વાર્થવૃત્તિવાળો હોય છે, અને અનેકની સાથે એ કેવું કૂડકપટ કરે છે એ વાત કહેવા કવિએ જે કલ્પનાચિત્ર રજૂ કર્યું છે એ કાવ્યાત્મક છે. આ કલ્પનાચિત્ર મને વિરલ લાગ્યું છે અને બીજે ક્યાંય વાંચ્યાનું જાણમાં નથી.

સૂરિજ જળ અત્થમઈ કેશ તિમ મૂકી રોઈ,
જળ વેલા જેહની, તામ તેહ સ્યઉં મન મોહઈ,
કુલ્લ તાર સિરિ ધલ્લિ, રમઈ તે ચંદા સાથઈ,
સૂર સમઈ જાણેવિ કુલ્લ પાણિ નાંખઈ હાથઈ,
ઈમ રચણિ કૂડ બિહુંસ્યઈ કરઈ, વેશિ કહીં સાચી નઉ હઈ.

અહીં સહજસુંદર કવિ વેશ્યાને રજની સાથે સરખાવીને કહે છે કે જ્યારે સૂરજ આથમે છે ત્યારે રાત્રિ કેશ છૂટા મૂકીને (અંધકાર માટેનું કલ્પન) ઝુદન કરે છે. પણ પછી, જેવી જેની વેળા, તે પ્રમાણે તેની સાથે મન લગાડે છે. રાત્રિ તારા રૂપી ફૂલો માથામાં ખોસીને (શૃંગાર સજ્જને) ચંદ્ર સાથે રમત મડે છે. પછી પાછો સૂર્યને આવવાનો સમય જાણીને માથામાંથી ફૂલો પોતાને હાથે નાંખી દે છે. (દિવસ ઊગતાં તારા અસ્ત પામે છે તે માટેનું કલ્પન) આમ રાત્રિ બન્નેની સાથે (સૂર્ય અને ચંદ્રની સાથે) કૂડકપટ કરે છે. એ જ રીતે વેશ્યા કદી સાચી હોય નહીં.

ત્રીજા અધિકારમાં રાજ્યનું નિમંત્રણ આવતાં સ્થૂલિભદ્રની વિમાસણ બળદના ઉપમાનથી કવિએ ચિત્રિત કરી છે.

જે હીંડવઉ મોકલવરઈ, માથઈ ન પડ્યું ભાર,
તે ધોરિ ધુરિ જેતરઈ, ધૂંણઈ સીસ અપાર.

જે બળદ મોકળો-મુક્ત ફર્યો હોય, માથે કોઈ ભાર ન પડ્યો હોય, તેને ધૂંસરી સાથે જેતરવામાં આવે ત્યારે તેનું મસ્તક ધુણાવીને કેવો આગમો-વિરોધ પ્રગટ કરે છે. એવી જ સ્થિતિ સ્થૂલિભદ્રની છે.

રાજદરબારે જતા સ્થૂલભદ્રનો વિયોગ કોશાને શી રીતે સહ્ય બને ? એની કાકલૂદીનું ચિત્ર જુઓ :

જિમ જિમ પ્રીઉ પગલાં ભરઈ, તિમ તિમ અધિક રડંતિ,
આગલિ પાછલિ ઊતરી, પ્રીઉ પાલવ ઝાલંતિ.

કોશાના વિરહ ભાવના નિરૂપણે અત્યંત ચિત્રાત્મક આલંકારિક, કલ્પનાસમૃદ્ધ, ઝડઝમક પ્રચુર અને કવચિત્ શબ્દ શ્લેષયુક્ત બન્યાં છે :

ક્ષણિ બાહિરિ ક્ષણિ ઊભી તડકઈ, રીસભરી સહીઅર સ્યઉં તડકઈ
હારદોર દીસઈ નવિ ગલઈ એ, ભોજન મુખિ સરસ નવિ ગલઈ એ !
ભમરીની પરિ પીઉ ગુણ ગણતી, કરિ ચૂડી નાંખઈ ગુણગણતી.

કોશાનો હૃદયચિત્કાર જુઓ :

મનપંખી માલુ કરઈ, રહિતું ઘાગઉં સદૈવ,
તે માલઉ તુઝ ભાંજતાં, દયા ન આવી દૈવ.

ચોથા અધિકારમાં પલટાયેલી પરિસ્થિતિનું આલેખન છે. સાધુ બનેલા સ્થૂલભદ્ર કોશાને ત્યાં ચાતુર્માસ ગાળવા આવ્યા છે. સ્થૂલભદ્રનું મન રીઝવવા કોશાના પ્રયાસોનું વર્ણન શૃંગારરસિક, પ્રાસાનુપ્રાસયુક્ત અને નાદસૌંદર્યથી સભર બન્યું છે.

નાચઈ નાચ કરી સિંગારહ ધિધિકર દ્રંકરના ધોંકારહ,
ચોલઈ ચીર કસી કરિ ચરાણા, ધમકાવઈ ઝમકાવઈ ચરાણા.
કોશા વેશ્યા રમણિ, કેલિ જઈસા નમણિ, હંસલીલા ગમણિ, ચતુર
ચંપકવરણિ,
ધૂમઈ ધૂંધર પાણિ જમલિ ઝઝર ઝણિ, નાચઈ ખેલઈ તરણિ,
ધસઈ ધડડઈ ધરણિ,
વલીવલી લાગઈ ચરણિ, ચવઈબોલ મીંઠા વચણિ, ગુણવેધ ભેદ દાખઈ
ધરણિ, પ્રાણનાથ તોરઈ શરણિ.

આ કૃતિમાં ચારણી છંદોની લયછટા, કવિનું પાંડિત્ય, બોધતત્ત્વને પાણ મળતું કાવ્યરૂપ, કવિની ભાષા-શૈલી વગેરે અન્ય મુદ્દાઓ વિશે પાણ ઘણું કહી શકાય એમ છે, પાણ અહીં કાવ્યમાં થયેલું કેટલુંક ભાવનિરૂપણ અને અલંકારણ-તે વિશે કેટલાંક મહત્ત્વનાં ઉદાહરણો આપવાનું જ પર્યાપ્ત ગણ્યું છે.



સુકડિ - ઓરસીયા સંવાદ

ડૉ. દેવબાળા સંઘવી

મધ્યકાલીન ગુજરાતી સાહિત્યની સંવાદાત્મક કૃતિઓની પરંપરાનુસાર આ કૃતિ સુખડ અને ઓરસીયાના સંવાદને આલેખતી રચના છે.

સંવાદાત્મક કૃતિઓની પરંપરામાં માનવીઓના પરસ્પર સંભાષણને આલેખતી, માનવીનાં અંગો અને અવયવો અરસપરસ બોલતાં હોય એવું દ્રાખવતી અને આ સૃષ્ટિના વિવિધ પદાર્થો વચ્ચેના કોઈ બે પદાર્થોના સંવાદને આલેખતી કૃતિઓ એમ વિષયનુસાર વિભાગ પાડી શકાય છે.

પ્રથમ વિભાગમાં નેમ રાજુલસંવાદ, ગુરુ-શિષ્ય સંવાદ, રાવણ-મંદોદરિ સંવાદ તો બીજા વિભાગમાં લોચન કાજલ સંવાદ, જીભ દાંત સંવાદ, આંખ-કાન સંવાદ, ડાબા જમણા હાથનો સંવાદ રચનાવિષય બન્યા છે. ત્રીજા વિભાગમાં સમુદ્ર-વહાણ, મોતી-કપાસિયો, સમુદ્ર-ક્લશ, સૂર્ય-દીપક, સુખડ ઓરસીયો આદિનો સંવાદ આલેખાયેલ છે.

ઉપલબ્ધ સંવાદ કૃતિઓમાં સોળમાં થતકમા મુનિ લાવણ્યસમય કૃત રાવણમંદોદરી સંવાદ, કરસંવાદ, ગોરી - સાંવલી વિવાદ તથા સૂર્ય - દીપ સંવાદ તથા કવિ સાહજસુંદરકૃત ધૌવન - જરા સંવાદ અને આંખ-કાન સંવાદ નોંધપાત્ર છે. સત્તરમાં થતકમાં અજિતદેવસૂરિકૃત સમક્તિ - શીલ સંવાદ, જ્યવંતસૂરિકૃત લોચન-કાજલ સંવાદ, હીરકલશકૃત જીભ - દાંત સંવાદ, કવિ સમયસુંદર રચિત દાન-શીલ તપ-ભાવના સંવાદ, શ્રીસારકૃત મોતી - કપાસીયા સંવાદ, ઉપા. કુશલધીર રચિત ઉદ્યમ કર્મ સંવાદ ધ્યાનાર્હ કૃતિઓ છે. અઠારમાં થતકમાં ઉપા. યશોવિજયજીકૃત સમુદ્ર - વહાણ સંવાદ, ઉદયવિજયજીકૃત સમુદ્ર - કલશ સંવાદ ને આચાર્ય ભાવપ્રભસૂરિકૃત સુકડિ - ઓરસીયા સંવાદ સં. ૧૭૮૩ ઉલ્લેખનીય છે. આ અપ્રકટ કૃતિની સ્વહસ્તાક્ષર લિખિત હસ્તપ્રત ગ્રંથભંડારમાંથી ઉપલબ્ધ થતાં તેનો પરિચય અત્રે કરાવવાનો ઉદ્દેશ છે.

ભાવપ્રભસૂરિની આ સંવાદ રચના ૧૬ ઢાલ અને ૩૫૪ કડીની ૭૬૪ પંક્તિઓમાં પથરાયેલી સદુર્થી દીર્ઘ સંવાદકૃતિ છે. આ કૃતિનું નામ સંવાદ છે છતાં તેમાં આલેખાયો છે વિવાદ. સુખડીની લાકડી અને ઓરસીયા વચ્ચે આ વિવાદ નારી-નર વચ્ચેનો, વનસ્પતિકાય અને પૃથ્વીકાય વચ્ચેનો હુંસાતુંસીભર્યો વિવાદ છે. અરસપરસના એકમેકથી મૂઠી ઊંચેરા સાબિત કરવાના પ્રયત્નની પરાકાષ્ટા સર્જી સામાના દોષદર્શન અને પોતાના ગુણગાન સુધી પહોંચી જઈ આખરે સમાધાન અને સંવાદમાં પૂર્ણ થતી આ રચના કવિની કૃષ્ણદ્રુપ કલ્પનાશક્તિ, ઊંડી વિચારશક્તિ અને તીક્ષ્ણ દલીલશક્તિનો પરિચય કરાવે છે. શત્રુંજયતીર્થ પર જિનપ્રભુની અંગપૂજા માટે ઓરસીયા પર સુખડ ઘસવા જતાં એ બે વચ્ચેના સંભાષણને આલેખતી કૃતિમાં કવિએ નીતિ-બોધ-ઉપદેશની સુંદર ગૂંચાણી કરી છે.

પ્રારંભે જિનેશ્વરદેવ, સરસ્વતીદેવી અને તેમના કૃપાપાત્ર સિદ્ધસેન દિવાકરાદિ કવિવરો તથા ગુરુશ્રી મહિમાપ્રભસૂરિને પ્રાણમીને કવિએ ચોથી જ કડીમાં 'સુકડિ ઓરસીયા તમો કહિસ્કું સરસ સંવાદ' એમ વિષયારંભ કરી લીધો છે. ઋષભજિણાંદુપુત્ર ચક્રવર્તિરાજ ભરત અયોધ્યાનગરીમાંથી છ ખંડ ભૂમિપર રાજ્ય કરે છે. સાથે ૧૪ રત્નો, ૯ નિધિ, ૬૪ હજાર રાણીઓ અને અપાર ઐશ્વર્ય છે. ત્યારે કેવલીપ્રભુ ઋષભદેવ મુખે સંઘપતિ પદ મહિમા, તેનાં લક્ષણો, તેનું કાર્ય આદિ શ્રવાણ કરતાં ઉન્સાહ પ્રકટતાં ભરતરાજ શત્રુંગ્ય યાત્રાનો સંઘ લઈ જવાનો સંકલ્પ પાર પાડવા ઉદ્યમશીલ બન્યાની વાત પ્રથમ ઢાલમાં કવિએ કહી છે.

સંઘપ્રયાણનું સુંદર વર્ણન કરતી બીજી ઢાલ અને જે ગિરિરાજના કાંકરે કાંકરે અનંત સાધુગણ સિદ્ધ થયા છે ત્યાં ચૈત્ય કરાવી, પ્રભુના પ્રસાદો રચાવી, અનેક પ્રકારે ભક્તિભાવપૂર્વક પ્રભુજીની પ્રતિમાઓ બનાવડાવી પ્રતિષ્ઠા મહોત્સવ કરવાની તૈયારી દર્શાવતી ત્રીજી ઢાલની ભૂમિકા આલેખી કવિ ચોથી ઢાલથી સંવાદ કૃતિના મુખ્ય વિષય પર આવે છે. આ પદ કડીની પૂર્વભૂમિકામાં ભરતરાજ, તેની રાણીઓ, તેનું રાજ્ય, સંઘપતિનાં લક્ષણો, કર્તવ્ય, મહાન્મય, સંઘપ્રયાણ આદિનાં સંક્ષિપ્ત સુંદર વર્ણનો છે.

ભરત રાજાએ :-

મનોહર મૂલી ઔષધી મોતી રચાણ પ્રવાલ,
તીર્થોદક માટી શુભા વાલા ગંધ વિશાલ;
અગર કપૂર-કેસર સુકડિ વાવ્યા વલી જવાર,
પ્રતિષ્ઠા ઉપયોગિની વસ્તુ સજ્જિ સવિ સાર.

અને 'ધર્ષણ પીસણ કળજ' લેઈ સૂકડિ હાથ, 'કરઈ ઘસરકો જેહવઈ ઓરસીયાને અંગ' કે તુરત સુકડિ બોલી 'ભરત સુણો એક વિનતી રે' અને ૧૨ કડીમાં તે ઓરસીયાનો સ્પર્શ પોતાના અંગને થાય તે આગ્રહટતી વાત છે તે માટેનાં કારણો દર્શાવે છે. તેના ઉત્તરરૂપે ધીરગંભીર ઓરસીયો ૪૪ કડીની ઉક્તિમાં પ્રભાવક દલીલોની રજૂઆત કરે છે છતાં સુકડિ માનતી નથી. તે ૪૮ કડીમાં પ્રત્યુત્ત આપે છે. જેની સામે ઓરસીયો ૨૧ કડીમાં અને ફરીથી સુકડિને ૨૮ કડીના પ્રત્યુત્તર સામે ૩૩ કડીમાં દલીલો કરે છે. આમ સુકડિની ૧૨, ૪૮ અને ૨૮ તથા ઓરસીયાની ૪૪, ૨૧ અને ૩૩ કડી સામસામે દલીલોની ૮૮ તથા ૯૮ એમ કુલ ૨૦૨ કડીનો આ વિવાદાત્મક સંવાદ છે. સંભાષણ હોઈ તેમાં બોલચાલની લહેકામય પાત્ર અનુરૂપ ભાષા પ્રયોજઈ છે. પરિણામે કૃતિની સાહજિક સ્વાભાવિક સચોટ રસાત્મક સંધાય છે. વિવાદ કરતાં પૂર્વપક્ષ-ઉત્તરપક્ષ એકમેકને ઉતારી પાડી, તેમની રજૂઆતને વજૂદ વગરની સાબિત કરી પોતાની વાતને સાચી સિદ્ધ કરવાના સક્ષમ પ્રયાસ કરે છે. બન્ને પક્ષની દલીલોની જોરદાર રજૂઆત આ સંભાષણને રસમય બનાવે છે.

આ દલીલોને તર્કદષ્ટિએ તપાસીએ તો બન્ને પક્ષે તથ્યાંશ છે જ. સુકડિ પોતાને તરુવરશિરોમણિ અને પરિમલપૂર્ણ તથા ઓરસીયોને હીન, નિર્ગુણ જેના સંપર્કમાં આવે તેને ઘસીને ક્ષીણ કરનાર જડ પાષાણ કહે છે. જેનું અંગ ક્ષતભરપૂર છે, જે સંહારક છે, જલમાં જાતે ડૂબી અન્યને પાણ ડૂબાડે છે. મૂઢને જેની ઉપમા અપાય છે તેનો સંગ ઉચિત નથી. અસમાન સંગનું પરિણામ કાગસંગહંસ જેવું આવે છે.

એ ઓરસીયો ઓથમી રે નિગુણ નિપટ એ હીણ;
મૂઢનઈ ઈમ કહઈ માનવીરે પ્રત્યક્ષ એહ પાષાણ.

ઓરસીયો પોતાને ગિરિવંશનો સમર્થ સુત માને છે. ગિરિરાજ શેત્રુંજયનો વંશજ ગણે છે. ધીર ગંભીર ઘોષથી કટકી ચંદનતાણી થી ઉદ્બોધ કરી તેના ગર્વખંડનનો પ્રયાસ આરંભે છે. સુખડનું સંસ્કૃત નામ 'શ્રીવંદ' નપુસકલિંગ અને વ્યવહારનામ સુકડિ 'સ્ત્રીલિંગ' છે. નટની જેમ નામ જાતિ બદલનાર, સ્ત્રીજાતિ તરીકે માયા-મોસાની અધિકતાથી સત્તરમું પાપસ્થાનક ગણાનાર સુકડિ વળી તેમાં આવો અહંકાર ! ઉચ્ચતાની વાત તો દૂર રહી, આ તો નીચતાની ય પરાકાષ્ટા ! સુકડિ યાને કે સ્ત્રીજાતિના દુગુણો દર્શાવી, અતાગ સ્ત્રીચારિત્ર અને સ્ત્રીઓએ કરેલાં હીન કૃત્યોનાં ઐતિહાસિક દષ્ટાંતો આપી ઓરસીયો તેની હીનજાતિ સાબિત કરવા મથે છે. છતાં સ્ત્રીઓમાંય અપવાદરૂપ સોળ સતી, જિનમાતાઓ છે જ. તેમ સુગંધગુણને લીધે સુકડિનું મહત્વ છે ખરૂં !

પાણ જે તે કારણ તજી, કાર્ય ઈચ્છે તો મૂર્ખતા છે. કાર્યસિધ્ધિ શક્ય તો જ બને જે તે કુહાડીથી કપાય, ઓરસીયા પર ઘસાય, ભાવિકજન દ્વારા પ્રયોજાય અને ત્યારે જ તે જિનપૂજન માટે ઉપયોગી બની શકે. વળી ઓરસીયાની જાતિ તો ઉચ્ચ છે. શૈલરાજપુત્ર તે ભારે છતાં ઉપકારી છે. તેના નામમાં આવતો 'ઉરસ્' યાને કે હૃદય તેને હૃદયવંત દર્શાવે છે. તેનો સંગ એ ભોગ નથી કેમકે તે અપૂર્વ બ્રહ્મચારી છે. ગંધની છાકી, ક્લેશની માતી, ક્લેશ વલ્લભ સ્ત્રીજાતિ સુકડિએ ભૂરાં ફળ આપનાર કુસંપ ઝઘડો તજી દેવાં જોઈએ.

સુકડિને હીનજાતિ કહેવાથી થયેલો રોષ તેનાં પ્રત્યુત્તરમાં જણાવતાં તે ઓરસીયાને લિંબોળી અને પોતને દ્રાક્ષ ગણાવે છે. ઓરસીયોના ખાનદાનને તુચ્છતાથી વર્ણવતાં તે શિલામાં, ગંડશશૈલ પિતા, લોઢી બહેનના કુટુંબવાલો ગણાવે છે. પુષ્કરાવર્તમઘ અને મગશૈલના દ્રષ્ટાંતે ઉદંડતા અવગુણ દર્શાવે છે. તેનું સંસ્કૃત નામ અવકર્મક વર્થાય છે કેમકે તે સ્ત્રીજાતિ સુકડિ માટે વિનાશકારી છે. કાર્ય-કારણની બાબત તો એવી છે કે પાણી ભરવા માટે કાર્યરૂપી ઘડો જ લેવાય, કારણરૂપી કુંભારના ચાકનો વિચાર પાણ ન કરાય. ટાઢથી બચવા સહુ વસ્ત્ર ઓઢે, રેટિયો કે ત્રાક નહિં. માટે કાર્ય સાથે જ સંબંધ ઉચિત, કારણને શું કરે !

સુકડિ વનરુપિ જાતિનું મહત્ત્વ અને ઉપકારિતા દર્શાવતાં સંખ્યાબંધ દષ્ટાંતો આપી પોતાનું

મહત્વ દર્શાવે છે. જિનેશ્વરદેવના છત્ર રૂપે અશોકવૃક્ષ, દેવતરુ, કલ્પવૃક્ષ અને દૈવી દશ તરુવરોની તે વંશજ છે. જિનપ્રતિમા, જિનમંદિરદ્વાર, સાધુકરનો દંડ, મંત્રજ્વપ માટે માળા ઈત્યાદિમાં કાષ્ટ પ્રયોજ્ય છે. જગતને પોષણ આપનાર અનાજ, આરોગ્ય આપનાર ઔષધિ, સુગંધી ઈદ્રિયઉપભોગ તેલ-અત્તરાદિ સામગ્રી આપનાર વનસ્પતિજાતિ જ હોઈ તેનું સ્થાન ઉચ્ચ જ છે.

ઓરસીયો તુરત જ તેની દલીલનું ખંડન કરતાં જણાવે છે કે તેની સંગતિ તો કોની કોની સાથે છે ? માથે સર્પ યા કુહાડી છે. પવન તેના પરિમલનો ચોર છે. વળી સૂત્રસિધ્ધાંતનુસાર દસ તરુવરો વનસ્પતિજાતિના નહિ પણ પૃથ્વીકાય યાને ઓરસીયાની જાતિના છે. વળી જલ, વનસ્પતિ, સર્વપ્રાણીના આધાર રૂપ પૃથ્વી જ છે. જિનમંદિર, જિન પ્રતિમા, ગઢ, મઠ તેનાં જ બને છે. જીવને પોષક આહાર પકાવવા માટે પાત્ર આવશ્યક છે તે માટીનું જ છે. સમધાતુ રત્નો આદિ પૃથ્વીની જ પેદાશ છે. આભૂપણો પણ તેનાં જ બને છે. લવાણ પૃથ્વીકાય વિના ભોજનમાં રસ નથી. આમ છતાં પર્વતપુત્ર ઓરસીઓ અને પર્વતે ઊગેલ સુકડિ બન્ને સમાન મહત્વ ધરાવતાં હોઈ ભાઈબહેન સમાન છે.

સુકડિનો રોષ અધિક વધતાં તે ઓરસીયાને હરાયા ઢોર સમ અને અભિમાને ફૂલી ગયેલા ચોળા સમ કહી સુકડિ સાથે વાદ કરવા માટે તેને અપાત્ર ગણાવે છે.

દેખી ટોલું લોકનું હુઈ ભૂરાયું ઢોર
તિમ તું ભૂરાયો થયો રહ્યો સંઘ તુઝ કોરિ
જે તેં માથું ઉપાડીઉં મુઝસ્યું કરવા વાદ
ઘેટાંની પરિ ધુરહર્યો સવિં સુણ્યો તવ સાદ.

સુકડિ પોતાના નામની વ્યુત્પત્તિ કરી તેના સમાનાર્થી શબ્દ સુકટિ 'સુકૃતકારિકા' સુકિયા, શુભનારી, શીલવતી સતી એમ દર્શાવે છે. અને પછી કુલવતી નારીના આચાર-વિચારનું, કાર્ય-અકાર્ય અંગેની તેની ઔચિત્ય સમજનું વિસ્તૃત વર્ણન કરી પોતાની ઉચ્ચતાનું પ્રમાણ આપે છે. સાથે સાથે નીતિ-બોધ-ઉપદેશ દ્રષ્ટિએ પણ સુકડિની આ ઉક્તિ શ્રોતાઓ માટે સમૃદ્ધ બની રહે છે.

આ ઉક્તિ બાદ ભરતરાજની રાણીઓ સુકડિનો પક્ષ લઈ ઓરસીયા સાથે સુકડિની ઈચ્છા વિરૂધ્ધ ન લગાડવા જણાવે છે. પરંતુ ભરત રાજ તટસ્થપણે બન્ને પક્ષને પૂર્ણપણે સાંભળવાના મતના છે, તેથી ઓરસીયાને જવાબ આપવાની તક મળતાં જ સુકડિને ઉતારી પાડતાં કહે છે

ગર્વ મ કરિ રે ગહિલડી પામી ગંધ પયરચ્છ.
જે જિન અંગે નવિ ચઢી તુ તુઝ જનમ અક્યરછ
છતાં સાથે સાથે સમજવટનો સૂર પણ કાયમ રાખે છે.

સમઝાવો સુકડિ પ્રતેં ઉજી ન ઉડઈ ઉંધ
પુંગી પર્વત આગલઈ માંડઈ નિજ માહાત્મ્ય
કૂપ ડેડકી કિમ લઈઈ ગુરુ સરોવર ગમ્ય

- એમ સુકડિને પુણી અને પોતાને પર્વત, તેને કૂવાની કુલાણ દેડકી અને પોતાને વિશાળ સરોવર ગાણાવે છે.

પોતાના નામનો અર્થ લૌકિક વ્યુત્પત્તિની રીતે કરતાં ઓરસીયાનો ઓ એટલે ઓમકાર વાને જિનેશ્વરદેવ, જિનપૂજ, જૈનધર્મ અને તેમાં રસીયો તે ઓરસીયો વળી તેના નામનો એક અર્થ સુપુકુપ જાણાવી તેનાં લક્ષણો વર્ણવે છે. આમ પોતાની સમજ અને મહાત્મ્ય દર્શાવે છે. રાજ ભરત આના નિરાકરણ માટે ગણધરને પ્રાર્થના કરે છે ત્યાં આ વિવાદ સંભાષણનો અંત આવે છે.

ચોથી ઢાળની ચોથી કડીથી આરંભાયેલ આ ૨૦૨ કડીના વિવાદાત્મક સંભાષણ બારમી ઢાલમાં સમાપ્ત થાય છે. તેરમી ઢાલમાં ગણધરદેશના માં કવિ કાર્ય, કારણ સંબંધની વિસ્તૃત ચર્ચા રજૂ કરે છે. ધૂમ્નવહિન્યાય સમજવતાં જ્યાં જ્યાં ધૂમાડો ત્યાં ત્યાં અગ્નિ એવો સંબંધ સમજાવે છે. કારણો પાંચ પ્રકારનાં દર્શાવે છે. જેમાં એક કારણ છે સ્વભાવકારણ - સ્વોપાદાન જેના પરિણામે માતા મરુદેવી સિદ્ધ થયા. તે જ પ્રમાણે સુકડિ અને ઓરસીયો બન્ને જિનપૂજનાર્થે સ્વોપાદાન કારણો છે. બંને મહત્વનાં છે. બંને અનિવાર્ય છે.

પછીની દેશનામાં સ્યાદ્વાદ એકાન્તવાદને ભંજક છે. તેમાં સાત નયનો સમુદાય જ્ઞાનદષ્ટિ આપનાર છે. આ સાત નયમાં ચાર દ્રવ્યના છે. નેગમ, સંગ્રહ, વ્યવહાર અને ઋજુસૂત્ર તથા ત્રણ પર્યાયનય છે શબ્દ, રૂઢ અને પર્યાય. આ દરેકના શતપ્રકારભેદે સાતસો નય થાય. આમ છતાં આ સર્વની સમગ્રપણે વિચારણા કર્યા બાદ એમ તારણ કાઢી શકાય કે સુકડિ સુગંધ સ્વભાવને લીધે પ્રધાન કારણ છે છતાં પ્રથમ ઓરસીયા કારણ આવ્યા બાદ જ તે જિનઅંગે ચડે.

ગણધરદેશનામાંની આ શાસ્ત્રસિદ્ધાંતની તથા નયની ચર્ચાકવિએ અત્યંત સરલ રીતે રજૂ કરી છે. ધરગથ્યુ દટાંતો આપી તેમાં તેમણે સચોટતા આણી છે.

પચનવિધિ ક્રિયા વિણ પાક ન ધાનનો
બોલ્યા વિના ઉડઈ નહી સ્વર કોઈ ગાનનો
અન્નકવલ ઉદ્દમવિણ નવિ આવઈ મુખઈ
વિણ પુણ્યે કિમ સંપત્તિ ભોગવીય સુખઈ

આમ માત્તી સુકડિ વાત ઓરસીયાને સીસ નમાવતી, ખમાવતી અને 'મૈલ થયો ઓરસીયા સાથે મલપતો' થી સંવાદ સધાઈ વિવાદનો અંત આવે છે. દ્રવ્યપૂજની તૈયારી થતાં પ્રતિષ્ઠા મહોત્સવના

વિવિધ તબક્કાઓ ચૌદમી ઢાલમાં અને ભરતરાજની ભાવપૂજ પંદરમી ઢાલમાં વર્ણવી કવિ અંતિમ સોળમી ઢાલમાં કૃતિના રચના સમય, સ્થળ, કર્તા નામ, ગુરુપરંપરા, ફલશ્રુતિ આદિ વર્ણવી પૂર્ણાહૂતિ કરે છે.

કવિની દલીલશક્તિ તર્કશક્તિનો પરિચય કરાવતી આ રચના ભાષાદષ્ટિએ પણ નોંધપાત્ર છે. ઉદ્બોધન અને સંભાષણની રજૂઆતમાં બોલચાલની ભાષા તેના વિવિધ લહેકાઓ - કાફૂઓ સાથે પ્રયોજાઈ છે. સુકડિ ઓરસીયાની ઉક્તિઓમાં પોતપોતાની વાતના સમર્થનરૂપે જે અવતરણો ટકે છે તેનું વૈવિધ્ય ખરેખર ધ્યાન ખેંચે તેવું છે. સામાન્ય લોકોક્તિ, કહેવત, સુભાષિતથી માંડીને કવિતા, છંદ અને ગાથાનો ઉપયોગ કર્યો છે. કુલ્લે બાર અવતરણની સાઠ પંક્તિઓમાં આ રજૂઆત થઈ છે. સંગતિ સમાનની જ શોભે - અસમાનની સંગતનાં ફળ વાયસહસંતી કથા દ્વારા કહી ચાર પ્રકારની સંગ કહેલ છે.

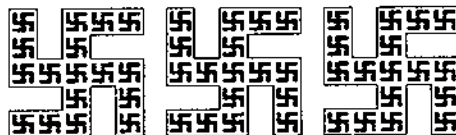
૧ સજ્જન - સજ્જનનો દૂધ-સાકરનો ૨ સજ્જન - દુર્જનનો સોના-કાચનો ૩ દુર્જન - સજ્જનનો પિત્તળ-માણેકરત્નનો ૪ દુર્જન - દુર્જનનો ચક્રમક પથ્થરનો ને વળી

સંગતિ કીજઈ સાધુકી હરઈ ઉરાંકી વ્યાધિ ઓછી સંગત નીચકી આડાં પુહર ઉપાધિ

- જેવી હિંદી શબ્દ છાંટવાળી ઉક્તિ પણ આ જ સંદર્ભમાં છે. તો નીચ પુરુષને વર્ણવતા કવિત છંદની ભાષા વિશિષ્ટ છે. જૂ લીખાલો, દેહ રોમાલો, ભોલો, ઢીલો, ઢીલંગો, કર્મે કાલો, ડીગો, ડોલાલો, ઠીકરકાલો, ઠોઠ ઠીંગાલો, ભાંગ ભૂખાલો - જેને નહીં ગાંઠઈ નાણો ધાનનો દાણો તે તો નહીં લક્ષણ નહીં લાવાણ એમ બન્ને રીતે કાલો છે.

સુલક્ષણી શીલવતી નારીનાં લક્ષણોમાં પતિ પહેલાં જન્મે નહીં, શિયળની નવ વાડ સાચવે, પર્વતિથિએ બ્રહ્મચર્ય પાળે. જિનપૂજન કરે, એ પ્રકારે આચાર વર્ણન વિશેષ છે. સુપુરુષ પણ શિયળની સીમા સાચવે, પરસ્ત્રી સામે નજર ન કરે, સાત વ્યસનથી દૂર રહે, પાંચ પ્રકારે દાન કરે, સંઘ કાઢે, જિનપૂજ કરે એવા આચાર વર્ણન જ છે.

દલીલબાજીના દાવપેચની અને ઉદ્બોધનની લહેકામય ભાષા; રસમય, સરળ સચોટ નિરૂપણ, દીર્ઘકૃતિ છતાં અસ્ખલિત કથનપ્રવાહ, લોકોક્તિ આદિનો સારો ઉચિત ઉપયોગ; થોડાં છતાં સુંદર વર્ણનો; કેવળ વાણી વિલાસ ન લાગે તેવી નર્મ-મર્મયુક્ત બોધક દલીલો, એ આ રચનાનું જમાપાસું છે, જે તેને મધ્યકાલીન ગુજરાતી સાહિત્યની સંવાદ નામી કૃતિઓમાં નોંધપાત્ર બનાવે છે.



સમાધિ શતકમાં મોક્ષમાર્ગ

જ્યેન્દ્ર એમ. શાહ

દિગંબર આચાર્ય શ્રી પૂજ્યપાદ સ્વામી રચિત 'સમાધિશતક' સંસ્કૃત ગ્રંથના શ્લોકોના ભાવો હિંદી ભાષાના દોહાના રૂપમાં ગૂંથીને મહોપાધ્યાય શ્રી યશોવિજયજીએ મૂળગ્રંથમાં આલેખાયેલા વિષયને સામાન્ય લોકો માટે સુગમ બનાવી મહદ્ ઉપકાર કર્યો છે. અહીં આ રચનાનો અભ્યાસ પ્રસ્તુત છે.

શ્રી પૂજ્યપાદ સ્વામીના સમાધિશતક પર આચાર્ય શ્રી પ્રભાચંદ્રે સંસ્કૃત ટીકા લખી છે. તે ટીકાનું તથા મૂળનું પ્રથમ ગુજરાતી ભાષાંતર સાક્ષર શ્રી મણિલાલ નભુભાઈ દિવેદીએ કર્યું છે. શ્રી પૂજ્યપાદ સ્વામી વિષે પ્રાપ્ત થતી માહિતી અનુસાર તેમનો જન્મ વિ.સં. ૨૮૧ માં થયો હતો. તેમણે ૧૧ વર્ષની વયે દિગંબર જૈન દીક્ષા લીધી હતી અને સાધુપણામાં કઠિન તપશ્ચર્યા કરી હતી. તેમનું આયુષ્ય ૭૧ વર્ષનું હતું. તેઓશ્રીએ રચેલા સમાધિશતકમાં પરમાત્મદશાની પ્રાપ્તિનો શુદ્ધ માર્ગ છે. કૃતિએ આરંભમાં મૂકેલા એક શ્લોકમાં "જ્યન્તિ યસ્યાવદતોઽપિ ભારતી" એ પંક્તિમાં ભગવાનની વાણીને અનક્ષરરૂપ ગણવાની દિગંબર માન્યતાનો નિર્દેશ છે. તે સિવાય સમગ્ર ગ્રંથમાં ક્યાંય શ્વેતામ્બર-દિગંબર નો માન્યતાભેદ દેખાતો નથી.

'સમાધિ શતક' માં આત્મસ્વરૂપનું વર્ણન મુખ્ય છે. આ સ્વરૂપ આત્માની પરિણતિ અનુસાર ત્રણ પ્રકારનું છે અને તે બહિરાત્મા, અંતરાત્મા અને પરમાત્મા તરીકે ઓળખાય છે. મહાયોગી શ્રી આનંદઘનજીએ શ્રી સુમતિનાથ ભગવાનની સ્તવનમાં આત્માના ત્રિવિધ સ્વરૂપનું વર્ણન કર્યું છે.

ત્રિવિધ સકલ તનુધર ગત આતમા
બહિરાતમ ધુરિ ભેદ, સુગ્યાની
બીજે અંતર આતમા, તીસરો
પરમાતમ અવિરચ્છેદ સુગ્યાની - ૨
આતમબુદ્ધે કાયાદિક ગ્રહો
બહિરાતમ અઘરૂપ સુગ્યાની
કાયાદિકનો સાખીધર રહ્યો
અંતરઆતમરૂપ સુગ્યાની - ૩
જ્ઞાનાનંદે પૂરાણપાવનો
વરજિત સકલ ઉપાધિ સુગ્યાની
અતીન્દ્રિય ગુણગુણમણિ આગરુ
ઈમ પરમાતમ સાધ સુગ્યાની-૪

મહર્ષિ પતંજલિએ યોગદર્શનમાં સમાધિની વ્યાખ્યા આપી છે; ધ્યાન, ધ્યાતા અને ધ્યેયની એકતા થાય અને પોતાનું સ્વરૂપ શૂન્ય જેવું થઈ જાય તેને સમાધિ કહે છે. શ્રી દશવૈકાલિક સૂત્રમાં વિનય-સમાધિ, શ્રુત-સમાધિ, તપ-સમાધિ અને આચાર-સમાધિ નું વર્ણન છે. શ્રી જય વીયરાય સૂત્રમાં 'સમાહિ મરાણં ચ' એ શબ્દ દ્વારા સમાધિમરાણની પ્રાર્થના કરવામાં આવી છે. આત્માની સ્વભાવમાં સ્થિરતા તે સમાધિ એવો અર્થ અહીં થાય છે. પ્રસ્તુત ગ્રંથમાં પણ સમાધિ નો આ જ અર્થ અભિપ્રેત છે.

શ્રી પૂજ્યપાદ સ્વામી શ્રી સિદ્ધ ભગવંતોને નમસ્કાર કરી, મંગળાચરણ કરી, વિષયનિર્દેશ કરે છે. શુદ્ધ આત્માનું સ્વરૂપ એ આ ગ્રંથનો વિષય છે. ઉપાધ્યાયજી શ્રી યશોવિજયજી સરસ્વતીનું સ્મરણ કરીને જગતનાબંધુ જિનેશ્વરને પ્રણામ કરી વિષયનો પરિચય કરાવતાં કહે છે 'કેવલ આતમબોધ હે પરમારથ શિવપંથ' આત્મસ્વરૂપ અને આત્મજ્ઞાન એ આ કૃતિમાં મુખ્ય વિષય છે.

ઉપાધ્યાયજી આત્મજ્ઞાનીનું વર્ણન કરે છે.

રાયે સાયે ધ્યાનમેં

જાયે વિષય ન કોઈ

નાયે માયે મુગતિરસ.

આત્માની ત્રણ પ્રકારની અવસ્થાનું વર્ણન કરતાં કહે છે,

બહિર અંતર પરમ એ, આતમ પરિણતિ તીન,

દેહાદિક આતમભરમ બહિર આતમ બહુ દીન

દેહાદિ પદાર્થોમાં આત્મબુદ્ધિ એ બહિરાત્માનું લક્ષણ છે. તે અજ્ઞાનથી દુઃખ પામે છે તેથી દીન છે.

ચિત્ત દોષ, આતમભરમ, અંતર આતમખેલ

અતિનિર્મલ પરમાત્મા, નહિ કર્મકો ભેલ. ૮

ચિત્ત તથા રાગાદિ દોષોમાંથી આત્મભ્રાંતિનો નાશ થાય તે અંતરાત્મા અને કર્મભરણિત તે પરમાત્મા. પરમાત્મદેશા પામવાનો ઉપાય બતાવતાં કહે છે

યું બહિરાતમ છાંડિકે અંતર આતમ હોઈ

પરમાતમ મતિ ભાવિએ જહાં વિકલ્પ ન કોઈ-૨૬

ઈલિકા-ભમરી ધ્યાનગત, જિનમતિ જિનપદ દેત-૨૭

બહિરાત્મ પરિણતિનો ત્યાગ કરી અંતર આત્મ પરિણતિ દ્વારા પરમાત્મભાવ ભાવવાથી પરમાત્મ દેશા પ્રગટે છે. ઈયણ અને ભમરીના દૃષ્ટાંતથી આ વાત વધુ સ્પષ્ટ કરી છે.

આગળ ઈંદ્રિય વૃત્તિ રોકીને બાહ્યભાવથી પર થઈ, જે જ્ઞાણે અંતરાત્મા સ્થિર થાય છે, તે જ્ઞાણે પરમાત્મ અનુભવ થાય છે, એમ કહ્યું છે.

ઈંદ્રિયવૃત્તિ નિરોધ કરી, જે ખિનુ ગલિત વિભાવ,
દેખે અંતરઆતમા, સો પરમાત્મ ભાવ-૨૯

શ્રી પૂજ્યપાદ સ્વામીનો મૂળ શ્લોક આ પ્રમાણે છે.

સર્વેન્દ્રિયાણિ સંયમ્ય સ્તિમિતેનાન્તરાત્મા
યત્ક્ષણં પશ્યતો માતિ તત્તત્ત્વં પરમાત્મનઃ ॥ ૩૦ ॥

શરીરથી આત્માને ભિન્ન માનવો તે ભેદજ્ઞાન. આ ભેદજ્ઞાન ન હોય તો ક્રિયાકથો કરવાથી ભવનો અંત થતો નથી. જડ પદાર્થમાં રાગ-દેવની બુદ્ધિ એ અજ્ઞાન છે, એમ જાણાવતાં કહ્યું છે :

દિષ્ટે સો ચેતન નહિં, ચેતન નહિ દિષ્ટાય
રોષતોષ કિનસું કરે, આપહિ આપ બુઝાય-૪૭

શ્રી પૂજ્યપાદ સ્વામીએ શ્લોક ૬૩, ૬૪, ૬૫ અને ૬૬ માં વસ્ત્ર જાડું, પાતળું, જૂનું કે રંગીન હોય તેથી શરીર તેવું મનાતું નથી અને વસ્ત્રના નાશથી શરીરનો નાશ મનાતો નથી તે રીતે દેહ પણ જાડો, પાતળો, જૂનો કે રંગીન હોવાથી આત્મા તેવો મનાતો નથી અને દેહના નાશથી આત્માનો નાશ થતો નથી, એમ કહ્યું છે. જ્ઞાનાર્ણવ ગ્રંથમાં શ્રી શુભચંદ્રાચાર્યે વસ્ત્ર અને દેહના સંબંધ દ્વારા દેહ અને આત્માના સંબંધનું આ જ પ્રકારે વર્ણન કર્યું છે.

જ્ઞાનીનો જગત સાથે કેવો સંબંધ હોય છે તે દર્શાવતાં કહ્યું છે :

જગ જાગે ઉન્મત્ત ઓ, ઓ જાગે જગ અંધ
જ્ઞાનીકું જગમેં રહ્યો યૂં નહિ કોઈ સંબંધ-૨૪
ભાસે આત્મજ્ઞાને ધુરિ, જગ ઉન્મત્ત સમાન.

આગે દઢ અભ્યાસ તેં પત્થર તૂગ અનુમાન-૬૫

જ્ઞાની જગતને કાષ્ટ-પાપાણના રૂપમાં જુએ છે. મોક્ષાર્થીએ અવ્રતની જેમ વ્રતને પણ તજવાનો છે. પરંતુ પરમભાવની પ્રાપ્તિ સુધી વ્રતનું અવલંબન જરૂરી છે, એમ આ દોહામાં કહ્યું છે.

પરમભાવ પ્રાપ્તિ લગે, વ્રત ધરિ અવ્રત છોડી
પરમભાવ રતિ પાયકે વ્રતભી ઈનમેં જોડી-૬૮

મોક્ષપ્રાપ્તિમાં લિંગ એટલે બાહ્ય ચિહ્ન કે વેષ અને જાતિ એકાંતે સાધક કે બાધક હોતાં નથી. તેનો આગ્રહ રાખનારાઓ ભવનો અંત કરી શકતા નથી. સ્ત્રી મુક્તિ નિષેધની અને નસત્વના આગ્રહની

દિગંબર માન્યતાથી એવું વિધાન શ્રી પૂજ્યવાદસ્વામીના આ શ્લોકમાં જોવા છે.

જાતિલિંગ વિકલ્પેન યેષાં ચ સમયાગ્રહ :
તેડપિ ન પ્રાપ્નુવન્ત્યેવ પરમંપદમાત્મનઃ॥૮૧॥

ઉપાધ્યાયજી દોહામાં કહે છે :

જાતિલિંગ કે પક્ષમેં જિનકું હૈ દ્ઢરાગ,
મોહજાલમેં સો પરે ન લહે શિવસુખભાગ-૭૩

મોક્ષપ્રાપ્તિમાં દ્રવ્યલિંગની અમુખ્યતા અને ભાવલિંગની મુખ્યતા છે તે દર્શાવતાં આગળ કહ્યું છે:

ભાવલિંગ જાતે ભયે સિદ્ધ પત્રરસ ભેદ,
તાતે આતમકું નહિ લિંગ, ન જાતિ, ન વેદ-૭૫

પંદર ભેદે સિદ્ધ થાય છે તે ભાવલિંગના આશ્રયથી તેની સ્પષ્ટતા શ્રી પૂજ્યવાદસ્વામીના ઉપરોક્ત શ્લોક નો વિસ્તાર કરતાં કરવામાં આવી છે.

શુષ્કજ્ઞાનની નિરર્થકતા દર્શાવતાં કહે છે

પઠી પાર કહાં પાવનો, મિટ્યો ન મનકો માર,
જ્યું કોલૂકે બેલકું, ઘર હી કોસ હજાર-૭૮

ઘાણીનો બળદ આખો દિવસ હજારો ગાઉ ચાલે છે છતાં તે ઘરમાં ને ઘરમાંજ ફર્યા કરે છે. તે રીતે મનના સંકલ્પ-વિકલ્પ ટળે નહિ તો જ્ઞાન નિષ્ફળ છે.

પરમાત્માના ધ્યાનથી પરમાત્મ સ્વરૂપ પ્રગટે છે, એમ જાણાવતાં કહ્યું છે

સેવત પર પરમાત્મા, લહે ભવિક તસરૂપ,
ભતિયાં સેવત જ્યોતિકું, હોવત જ્યોતિ સ્વરૂપ-૮૧

જેમ દીવાની વાટ જ્યોતિને પ્રહણ કરી પોતે જ્યોતિ સ્વરૂપ થાય છે તે જ રીતે પરમાત્મા ધ્યાન કરવાથી પરમાત્મા થવાય છે.

જે રીતે સ્વપ્નદશામાં સુખના નાશથી લોકો દુઃખ અનુભવતા નથી તે રીતે જાગૃતદશામાં સુખના નાશથી જ્ઞાનીને શોક થતો નથી. - એમ કહીને પરમાર્થ માર્ગમાં દુઃખની ઉપકારકતા દર્શાવવામાં આવી છે. જેમ રાગમાં લડતો યોધ્ધો બાણના પ્રહારને ગણતો નથી. વ્યાપારી વ્યાપારમાં કષ્ટોને કષ્ટરૂપ માનતો નથી. તેમ મુનિ પણ પરમાર્થમાર્ગમાં દુઃખને દુઃખ માનતા નથી. દુઃખ સહન કરવાથી જ્ઞાન અને ચારિત્રનો દૃઢભાવ થાય છે. જુઓ

તા તેં દુઃખસું ભાવિયે, આપ શક્તિ અનુસાર,
તો દઢતર હુઈ ઉલ્લસે, જ્ઞાન-ચરણ આચાર-૮૮

પરમાર્થમાર્ગમાં જ્ઞાન અને ક્રિયા બંનેની આવશ્યકતા. બેમાંથી એકેય નો અનાદર થઈ શકે નહિ તે દર્શાવતાં કહ્યું છે :

ક્રિયા યોગ અભ્યાસ હૈ, ફલ હૈ જ્ઞાન અબંધ,
દોનુંકું જ્ઞાની ભજે, એક મતિ મતિ અંધ-૯૧

ઉપાધ્યાયજી યોગના ત્રણ પ્રકાર ઈચ્છાયોગ, શાસ્ત્ર યોગ અને સામર્થ્યયોગ ની વ્યાખ્યા કરે છે.

ઈચ્છા, શાસ્ત્ર, સમર્થતા ત્રિવિધ યોગ હૈ સાર
ઈચ્છા નિજ શક્તિ કરી, વિકલ યોગ વ્યવહાર-૯૨
શાસ્ત્રયોગ ગુણઠાણકો, પૂરન વિધિ આચાર
પદ અતીત અનુભવ કહ્યો, યોગ તૃતીય વિચાર-૯૩

જેમાં સૂત્રાર્થનું ઈચ્છકપાણું હોય, પરંતુ પ્રમાદ થી ધર્મપ્રવૃત્તિના ક્ષતિયુક્ત હોય તે ઈચ્છાયોગ.

આગમના બોધ અનુસાર અખંડ સાધના કરતા યથાયોગ્ય ગુણઠાણે વર્તતા સાધકને શાસ્ત્રયોગ હોય છે

શાસ્ત્રયોગમાં પ્રગટ થતા આત્મવીર્ય કરતાં વિશિષ્ટ કોટિનું આત્મવીર્ય જેમાં પ્રગટે છે તે સામર્થ્યયોગ છે. આ ત્રણે પ્રકાર વિષે આચાર્યશ્રી હરિભદ્રસૂરિએ યોગદષ્ટિ સમુચ્ચય ગ્રંથમાં વિસ્તૃત ચર્ચા કરી છે.

ભાવજૈનતાની વ્યાખ્યા કરતાં ઉપાધ્યાયજી કહે છે :

શક્તિ પ્રમાણે યોગબલમાં રહી બધા નયોનો સાર શ્રદ્ધા કરનારને ભાવ જૈનપણું પ્રાપ્ત થાય છે. તેમાં મિથ્યાચાર હોતો નથી. ક્રિયાનું મહત્ત્વ સ્વીકારતાં કહ્યું છે,

મારગ અનુસારી ક્રિયા, છેદે સો મતિહીન
કષ્ટ ક્રિયા-બલ જગ દગે, સો ભી ભવજલ-મીન-૯૪

મોક્ષમાર્ગને અનુસરતી ક્રિયાનો જે વિરોધ કરે છે તે મતિહીન છે અને જે ક્રિયામાં દંભનું સેવન કરે છે તે સંસારમાં જ રહે છે.

તે જ રીતે નયવાદી પણ ભવનો અંત પામતો નથી. જ્ઞાની સર્વ નયો પ્રત્યે ઉદાસીનતા રાખે છે.

ઉદાસીનતા જ્ઞાનરૂપી પરપ્રવૃત્તિ હૈ મોહ
શુભ જનો સો આદરો ઉદિત વિવેક પ્રરોહ-૯૯

ઉદાસીનતા અને પર પ્રવૃત્તિ એ બેમાંથી વિવેકના પ્રકાશ વડે જે શુભ જાણાય તે આદરવા કહે છે.

અંતમાં કહે છે,

દોષક શતકે ઉધ્યર્થુ તંત્ર સમાધિ-વિચાર

ધરો એહ બુધ કંઠમે ભાવ રતનકો હાર-૧૦૦

સમાધિનો માર્ગ દર્શાવતું આ શાસ્ત્ર ભાવરત્નનો હાર છે એટલે કે તેમાં આત્માના શુદ્ધ ભાવો ભર્યા છે.

મુનિને ઈન્દ્રની ઉપમા આપતાં કહે છે,

જ્ઞાન વિમાન, ચારિત્ર પવિ, નંદન સહજ સમાધિ,

મુનિ સુરપતિ, સમતા શયી, રંગે રમે અગાધિ-૧૦૧

અંતિમ દોહામાં એહ ભાવ જો મન ધરે, સો પાવે કલ્યાણ એવી આ શાસ્ત્રની ફળશ્રુતિ કહી છે.

શ્રી પૂજ્યપાદ સ્વામી અંતિમ ગાથામાં આ ગ્રંથ દ્વારા મોક્ષમાર્ગ દર્શાવ્યો છે તેમ કહે છે,

મુક્ત્વા પરત્ર પરબુદ્ધિમહંધિયં ચ

સંસાર દુઃખજનની જનનાદ્વિમુક્તઃ ।

જ્યોતિર્મયં સુખમુપૈતિ પરાત્મનિષ્ઠઃ

સ્તન્માર્ગમેતદધિગમ્ય સમાધિતંત્રમ્ ॥૧૦૫॥

જ્યાં પર નથી ત્યાં પરની માન્યતા કરવી, જ્યાં પોતે નથી ત્યાં હું છું, એમ માનવું એનું નામ અવિદ્યા છે. સંસારદુઃખજનની આ અવિદ્યાનો ત્યાગ કરી જીવ જન્મમરણથી મુક્ત થાય છે. તે પરમાત્મપદમાં સ્થિરતા કરનાર મહાત્મા આત્મસુખને પામે છે. તે મોક્ષમાર્ગ દર્શાવનાર આ સમાધિ શતક ગ્રંથ છે.

મૂળ ગ્રંથના ૧૦૫ શ્લોકોના ભાવો યથાતથ્ય જીવીને ઉપાધ્યાયજીએ ૧૦૨ દોહાઓની રચના કરી છે. પાર્શ્વનાથ ઉપાશ્રયના જ્ઞાનભંડારમાંની એક પ્રતમાં ૪૪ અને ૫૭ ક્રમાંકના બે વધુ દોહાઓ છે તે ગણીએ તો ૧૦૪ ની સંખ્યા થાય. કોઈક સ્થળે લાઘવથી તો કોઈક સ્થળે વિસ્તારથી મૂળ વિષયને સ્પષ્ટ કરવામાં ઉપાધ્યાયજીએ દોહાના માધ્યમનો સફળ ઉપયોગ કર્યો છે. સંસ્કૃતથી અનભિજ્ઞ લોકોને પરમાર્થ માર્ગનું રહસ્ય આ રચનામાંથી પ્રાપ્ત થાય છે તથા મૂળ ગ્રંથના ભાવોને અવલોકવાની પ્રેરણા મળે છે. મહાપુરુષો ગુણગ્રાહક હોવાથી સાંપ્રદાયિક સંકુચિતતાથી પર હોય છે એવી પ્રતીતિ ઉપાધ્યાયજીની આ રચનાથી થાય છે.



જયશેખરસૂરિકૃત

ત્રિભુવન દીપક પ્રબંધ

પ. પૂ. સાધ્વી શ્રી મોક્ષગુણાશ્રીજી મ. સા.

કવિ શ્રી જયશેખરસૂરિની ગુજરાતી ભાષામાં લખાયેલી કૃતિઓમાંની એક અત્યંત સમર્થ કૃતિ તે 'ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ' છે. આપણા મધ્યકાલીન ગુજરાતી સાહિત્યની પાણ તે એક માર્ગસૂચક સ્તંભ જેવી ગણનાપાત્ર કૃતિ છે.

કવિ શ્રી જયશેખરસૂરિએ વિ.સં. ૧૪૬૨માં 'પ્રબોધચિંતામણિ' નામના ગ્રંથની રચના કરી તે પછી આ ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ ની રચના કરી હશે એવું અનુમાન કરી શકાય છે. જો કે ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં એની રચનાસાલનો નિર્દેશ જોવા નથી મળતો, એટલે પ્રબંધચિંતામણિ પછી આ ગ્રંથની રચના કેટલા સમયે કરી હશે તેની ખબર પડી નથી. પણ કવિશ્રીના જીવનના ઉત્તરકાળની આ રચના છે, એ એમની ભાષાની પ્રૌઢિ જોતાં સ્પષ્ટ જણાય છે.

ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ ની અંતિમ કડીમાં કવિએ પોતે પોતાનો નામનો નિર્દેશ કર્યો છે. પરંતુ તેમાં કૃતિની રચના સાલનો નિર્દેશ કર્યો નથી. જુઓ :

મૂલ મંત્ર મણિએ મનિ માનિ,

તપ જપનઉં ફલ એહનઈ ધ્યાનિ;

ઈણિ સવિ સંપદ આવઈ પૂરિ,

ઈમ બોલઈ જયશેખરસૂરિ. ૪૩૨

કવિએ આ કૃતિનું નામ 'ત્રિભુવન દીપક પ્રબંધ' રાખ્યું છે. આ કૃતિની હસ્તપ્રતોમાં છેલ્લે 'ઈતિ ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ : સંપૂર્ણ' એવા શબ્દો આવે છે, એ ઉપરથી પણ સ્પષ્ટ છે કે આ કૃતિનું ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ એવું નામ આરંભથી જ હતું. વળી કવિએ કાવ્યમાં પણ આ કૃતિને માટે ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ એવું નામલિધાન પ્રયોજ્યું છે. જુઓ :

ત્રિભુવનદીપક એઉ પ્રબંધ,

પાપ તણઉ સા સુહિઈ ન ગંધ;

મોહ ધ્યાન હિવ તોઈ જિ ટલઈ, જઈ વેસાનરિ તનું પરજલઈ, ૪૧૮

પરંતુ આ કૃતિનું 'અંતરંગ ચોપાઈ' એવું અપર નામ કેટલીક હસ્તપ્રતોના અંતે પુષ્પિકામાં જોવા મળે છે. તે નામ કવિ જ્યેષ્ઠેશ્વરસૂરિએ આપ્યું છે કે પછીથી કોઈ લહિયાએ કે હસ્તપ્રત તૈયાર કરનાર-કરાવનાર સાધુ મહાત્માએ આપ્યું છે તે વિશે કશો ખુલાસો સાંપડતો નથી. પરંતુ હસ્તપ્રતમાં આવું નામ અપાયું છે તે ઉપરથી એ નામ પાણ કેટલોક સમય પ્રચલિત રહ્યું હશે એમ માની શકાય.

ત્રિભુવન દીપક પ્રબંધ ના આરંભમાં આઠમી કડીમાં કૃતિનાં કથાવસ્તુનો પરિચય આપતાં કવિ નીચે પ્રમાણે લખે છે. :

પુણ્યં પાંચ બે ભઈ ટલઈ, દીસઈ મુકૂખ દૂયાડુ;

સાવધાન તે સંભલઉ હરષિ હંસ વિચારુ. ૮

આ ઉપરથી પં. લાલચંદ ભગવાનદાસ ગાંધી કહે છે કે આ દ્વારા ગ્રંથકારે ગ્રંથનું 'હંસવિચાર' એવું નામ પાણ સૂચ્યું છે.*

ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ નું મુખ્ય પાત્ર પરમહંસ છે. અને કૃતિના સમગ્ર કથાનકનું અંતિમ લક્ષ્ય તે પરમહંસના પદની પ્રાપ્તિનું છે. માટે કદાચ હંસવિચાર એવું કૃતિનું નામ હશે, એમ અનુમાન કરી શકાય. વળી હરિષ હંસ વિચારુ એમ જુદા જુદા શબ્દો લઈ તેનો સામાન્ય શબ્દાર્થ કરવામાં આવે તો હર્ષથી આત્મા સંબંધી વિચાર ચિંતન કરો એવો અર્થ ઘટાવી શકાય. વળી વાચકને હંસ તરીકે સંબોધન કરીને તેને વિચાર કરવા માટે કવિએ ઉદ્બોધન કર્યું છે એમ ઘટાવી શકાય. આમ, કૃતિના નામ તરીકે 'હંસ વિચાર' એવું નામ માત્ર તર્ક કરવા પૂરતું સંભવિત લેખાય.

'હંસ વિચાર' નામ ઉપરથી જ પંડિત લાલચંદ ગાંધીએ તેમાં સુયોગ્ય સુધારો સૂચવીને કહ્યું છે કે 'પરંતુ અમહને પરમહંસ પ્રબંધ -આવું નામ સમુચિત સમજાય છે.' આમ ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ અંતરંગ ચોપાઈ, હંસવિચાર અને પરમહંસ પ્રબંધ એ ચાર નામમાંથી કવિએ પોતે જ કાવ્યમાં સ્પષ્ટ પાણે આપેલું ત્રિભુવન દીપક પ્રબંધ એ નામ જ યોગ્ય છે અને તે જ પ્રચલિત રહ્યું છે.

ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધની રચના કવિએ કયા સ્થળે કરી હશે અને તે માટે તેમને કેટલો સમય લાગ્યો હશે તેનો કશો નિર્દેશ આ કૃતિમાં નથી. કવિનું વિહારક્ષેત્ર ગુજરાતમાં મુખ્યત્વે પાટણ અને અને ખંભાતની આસપાસ રહ્યું હતું તે જોતાં ગુજરાતમાં કોઈ સ્થળે રહીને તેમણે આ કૃતિની રચના કરી હશે એવું અનુમાન કરી શકાય છે.

કવિ શ્રી જ્યેષ્ઠેશ્વરસૂરિએ એક જ વિષયનું નિરૂપણ કરતી બે કૃતિની રચના કરી છે. સંસ્કૃત ભાષામાં 'પ્રબોધ ચિંતામણિ' અને ગુજરાતી ભાષામાં 'ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ' આ બે કૃતિઓમાંથી કઈ કૃતિની રચના તેમણે પહેલી કરી હશે તેનું કોઈ નિશ્ચિત પ્રમાણ મળતું નથી, પરંતુ અનુમાન કરી

* જુઓ : ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ સંપાદક પં. લાલચંદ ભગવાનદાસ ગાંધી, પૃષ્ઠ ૧૩.

શકાય છે કે તેમણે પ્રથમ પ્રબોધચિંતામણિની રચના કરી હશે અને ત્યાર પછી ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ ની રચના કરી હશે. પ્રબોધચિંતામણિ ની રચના વિ.સં. ૧૪૬૨ માં ખંભાતનગરમાં કરેલી છે. એટલે ત્રિભુવનદીપક પ્રબોધની રચના ત્યારપછીના તરતના કાળમાં થઈ હશે એમ માનવામાં આવે છે. એમની આ બન્ને કૃતિઓને બાહ્ય દૃષ્ટિએ તપાસતાં એટલું તરત દેખાય છે કે પ્રબોધચિંતામણિ સાત અધિકારની અંદર લખાયેલી સુદીર્ઘ કૃતિ છે. જ્યારે ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ ૪૩૨ જેટલી કડીમાં લખાયેલી, પ્રબોધચિંતામણિ કરતાં નાની કૃતિ છે.

કવિને એક જ વિષયની બે કૃતિઓની રચના કરવાની શી જરૂર પડી ?- એવો પ્રશ્ન થવો સ્વાભાવિક છે. એ વિશે પણ કોઈ સ્પષ્ટ નિર્દેશ એ બેમાંથી કોઈ પણ કૃતિમાં થયો નથી, પરંતુ એમ માનવામાં આવે છે કે સંસ્કૃત ભાષામાં લખેલી પ્રબોધચિંતામણિ નામની કૃતિ વિદ્વજનોમાં અને સંસ્કૃતના જાણકાર લોકોમાં, એની સુંદર રૂપકચંચિ ને કારણે એટલી લોકપ્રિય થઈ ગઈ હશે કે સામાન્ય જનોની ઈચ્છાને સંતોષવા માટે કવિએ ગુજરાતીમાં આ કૃતિની રચના કરી હશે.

કવિ જ્યેષ્ઠરસૂરિએ પ્રબોધચિંતામણિ ની રચના પછી ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ ની રચના કરી છે. અન્ય સંદર્ભો જોતાં સ્પષ્ટ જણાય છે. તેમ છતાં એ નોંધવું જોઈએ કે ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ માં કયાંય પ્રબોધચિંતામણિ નો નિર્દેશ જ્યેષ્ઠરસૂરિએ કર્યો નથી.

શ્રીજ્યેષ્ઠરસૂરિએ ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધની રચના કરતી વખતે પોતાની પ્રબોધચિંતામણિ કૃતિને સતત નજર સામે રાખી હશે અથવા પોતાનું જ સર્જન હોવાને કારણે સહજ રીતે પોતાની નજર સામે તે રહી હશે. એમ એ બન્ને કૃતિઓની અનેક પંક્તિઓ સરખાવતાં જણાય છે. નીચેની પંક્તિઓ સરખાવવાથી આ વાતની તરત પ્રતીતિ થશે.

સરખાવો : *

માનસે નિર્મલડસ્તાથે વિમુક્તવિષયાન્તર : ।
 હંસથ્રેત્ કુરુતે કેલિં તત્ ક યાતુ સરસ્વતી ? ॥ ૧૧-૧ ॥
 ચર્ચમાણા મુશં સર્વે રસા વૈરસ્યમાપ્નુસુ : ।
 શાન્તસ્તુ સેવિતોડત્યન્તં મોક્ષાવધિ સુખપ્રદ : ॥૨૪-૧ ॥
 આત્મજ્ઞાનજુષાં જ્વરાધપગમો દૂરે જરા રાક્ષસી ।
 પ્રતયાસીદતિ લબ્ધિસિદ્ધિ-નિવહો જ્ઞાનં સમુન્મીલતિ ।
 આનન્દોડનુભવેડવિ વાગાવિષયઃ સ્યાત્ પુણ્ય-પાપક્ષયો ।
 મુક્તિર્મુષ્ટિગતેવ કેવલમિદં લબ્ધું યતદ્ધ્વં તત : ॥ ૪૧-૧ ॥

માનસ સરિજ્ઞ નિર્મલઈ કરઈ ક્તુહલ હંસુ ;
 તાં સરસતિ રંજિ રહઈ, જોગી જાણઈ ડંસું. ૨
 સેવીતાં સવિરસ વરસ ઈકકઈકિક જોઈ;
 નવમઉ જિમ જિમ સેવીયઈ, તિમતિમ મીઠઉ હોઈ. ૩
 નાણ નિરુપમ નાણ નિરુપમ જગહ ઉવયારુ;
 થટ મિત્તરિ નિર્મલઉ જાસુ નામિ સવિ રોગ નાસઈ;
 જર-રકામસિ વેગલી સયલ સિદ્ધિ નિવસંતિ પાસઈ;
 પુણ્ય-પાપ બે ભવ ટલઈ દીસઈ મુકામ દૂપારુ;
 સાવધાન તે સંભલઉ હરપિઈ હંસ વિચારુ. ૮

જંતુધાતે મૃષાવાચિ પરદ્વ્યે પરસ્ત્રિયામ્ ।

તિણિ વાહિઉ મન ત્રિભુવનિ, ભમઈ કાણઉં સમાધિ

*જુઓ : આવી પ્રબોધચિંતામણિ ની સ્લોકસંખ્યા આર્ષરક્ષિત પુસ્તકોંધાર સંસ્થા તરફથી છપાયેલા ગ્રંથને આધારે આપી છે. તથા ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ ની કડીની સંખ્યા પંક્તિ લાલચંદ ગાંધીનાં સંપાદનને આધારે આપી છે.

મધે માંસે ચ પાપદ્રોં પૈશુન્યે દ્રાહકર્મ્મસુ ॥ ૧૬૮-૧ ॥

મહારેમેષુ ચ તથા તવા ભર્તા પ્રવર્તિત : ।

યથા દશાપિ નાસ્પ્રાક્ષીત્રિવૃત્તિં દુંભગામિવ ॥ યુગ્મમ્ ॥ ૧૬૯-૧ ॥

ઉક્ષેવ તિલયંત્રસ્ય સોડન્વહં ભ્રામિતસ્તયા ।

વિલલાપ ચ ગૌરાંગિ ગૌરવ્યે ગુણશાલિતિ ।

ગંગાજલોજ્જ્વલે મહ્યં સુનુદ્ધે દેહિ દર્શનમ્ ॥ ૧૯૪-૩

સર્વે જનઃ સ્વસ્ય સુખાધિલાષી ન કોડપિ દઃસ્વસ્ય દધાતિ તુષ્ણામ્ । સાંભલિ ચેતના ! અમ્બિ યથા છુડં નિરધાર

અંહ તુ હંત સ્વહિતં વિધાતું ધાયામનોમ્યાં વિવશો ન શક્તઃ ॥ ૨૦૬-૩ ॥ મનિ માયાં બિહુ દૂહવિયા એહ સગાની

વીરતી કરલં કલતે

ઉપેક્ષતે હિ નાપત્રમિતરોડપિ સચેતનઃ ।

ઇદમ્દશં કૃશં કિં માં સકૃપે ત્વમુપેક્ષસે ॥ ૨૦૭-૩ ॥

નિવૃતૌ પ્રોષિતાયાં સા નૃત્યપિ સ્મ નિરંતરમ્ ।

નિઃશલ્યમધુના રાજ્યં જાતમિત્યુલ્લસન્મના ॥ ૨૪૧-૩ ॥

પ્રચંડપવનોદ્ભૂત પતાકાંચલચંચલઃ ।

સ નવૃત્તિં વિનાનિત્યં તયાડપ્રામિ દિશો દિશિ ॥ ૨૪૨-૩ ॥

તદત્ર પુરિ સેવસ્ય ક્ષમાધીશં ચિરંજનમ્ ॥ ૨૭૧-૪ ॥

નાગાન્ નમન્તિ નિર્જીવાન્ જીવતો ધ્વન્તિ નિદર્યાઃ ।

પુણ્યં દવામિદાનેડપિ મન્યન્તે તત્ર કેચના ॥ ૩૨૪-૪ ॥

યેષા પરિગ્રહો દાર-ધન-ગોધન-ગોચરઃ ।

યતન્તે તે ગુરુમૂય ભૂયસાં ભવતારણે ॥ ૩૨૯-૪ ॥

મારિશ્ચ મોહભૂત્રાસ્તીતિઃ ॥ ૭૦-૪ ॥

એવં ભ્રમં ભ્રમં ભૂરિશ્રમા વિશ્રામકાંક્ષિણી ।

પુર પ્રવચનં પ્રાપ દુષ્પ્રાપં સા દુરાત્મનામ્ ॥ ૧૨૧-૪ ॥

તત્પ્રસીદ સ્ફૂટં બ્રૂહિ સૌમ્યદ્રક્ષ્યામ્યમું કદા ।

કિમપિ પ્રાભવં પ્રાપ્ય સુખિનં તનુજં નિજમ્ ॥ ૧૪૩-૪ ॥

અત્ર પ્રવચનામિલ્યે નગરેડસ્તિ નરેશ્વરઃ ।

અર્હન્નવાર્યદોર્વીર્યં નિર્જિતાંતર્દ્રિષદ્બલઃ ॥૧૬૧-૪ ॥

નવી વીસમઈ ;

જીવ વિગાસઈ ભાસઈ આલ, પરધન વનિતાં લાગઉ

દાલ. ૩૭

ખંત પિયંત નકરઈ ખલખંચ, લહિ લગારઈ નિવૃત્તિ ન આચ;

ઉણંઉ અધિકઉ સહૂ ખમી કરિ અમ્બ ભાગી પસાઉ;

ગણિ સંપૂરિય ગોરડી દઈ હિવ દેપાઉ. ૪૭

લાજઈ તું સહિજિંઈ સવિચાર, દીરથ રોસ ન બુઝીઈ,

કરિ કરિ કઈ અમ્હ સાર. ૪૮

નિવૃત ગઈ તઉઉ હઈ નિવૃતિ, મન રહિ નિચરઈ કલઈ પ્રવૃતિ;

દિવરાવઈ બેટાનઈ રાજ, ફલિઉ મનોરથ મહારઉ આજ. ૫૫

રાઉ નિરંભાગા (નું) ઈણિ નચરિ તે તઉં (તું) થિરુ

આરાહિ. ૮૩

નાગ નમઈ નઈ મારાઈ પ્રાણિ ;

જીવયોનિ દવિ સઘલી મરઈ, દવ દીજઈ તિહાં પુણ્યહ

વરઈ. ૧૨૨

તેહઈ ગુરુ જ્ઞેહનઈ ધરિ વહુ;

તેહઈ ગુરુ જ્ઞેહનઈ ધાણ દોર

મોહ તાણ મૂય મારિ ઈહાં તે પગ પઈસારઉ. ૭૩

તકે ચાલી અતિ ખીણ;

ફિરઉત ફિરંતી પ્રવચન નગરી ગુરુઈ પામીય તેણિ. ૭૪

નિવૃત ભાગઈ કરજેઉ, મહારિપિ ! નિરંતઉ જ્ઞાનિ નિહાલિ;

એ બેટઉ હું સુખિ વિલસંતુ દેપિસુ કેતઈ કાલિ ? ૭૫

ઈણ નગરી છઈ અરિહતુ રાય, વયરી સિરિ દિઈઈ ડાવઉ

પાય. ૮૧

आस्तां भुक्तिर्यत्प्रसादाकमुक्तरप्यद वीयसी ॥ १६२-४ ॥
 कष्ट ये पालिताः पुर्वासोऽपि पित्रोरिह द्विषः ।
 विदेश्या अपि सम्प्राप्तास्तत्र सोदरतां गताः ॥ १००-५ ॥
 अमारिघोषणा क्वापि क्वापि साधुनिम्मण ॥ ८०-४ ॥

क्वचित्पूर्वत्रयं चैत्ये क्वचिद्गुरुगुणस्तुतिः ॥ ८९-५ ॥
 क्वापि श्रुतानुयोगश्च क्वापि सद्गुरुदेशना ।
 क्वाचित्स्वाध्यायनिघोषः स्मरणा वारणा क्वचित् ॥ ९०-५ ॥

एवं देवपुरे तत्रखिले कोलाहलाकुले ।
 ग्राहकेभ्यो भवन लाभस्तत्र केनोपमीय ताम् ।
 दतैर्यन्मापकैर्लभ्याश्चत्क्वाचन कोटयः ॥ १०३-५ ॥
 प्रायश्चित्ताख्यया नीराध्यक्षः कलभषशुद्धिकृत ॥ २२४-५ ॥
 यस्य भार्याद्वयं तस्यावश्यं भ्रष्टं भवद्भवम् ॥ १५८-५ ॥

तवास्ति विदितं तावत् पुरं प्रवचनामिधम् ।
 तत्पालयति सर्वज्ञो राजा दातोदयी दयी ॥ ४१-५ ॥
 एकां प्राप्यापरां संध्या मज्जन् भ्रस्यति भास्करः ।
 एका मुक्त्वापरां प्राप्तो द्वितीयां क्षीयते शशी ॥ ६१-५ ॥

तन्मन्त्रिन्मा विलंविष्टा विशिष्टान् हितकारिणः ।
 शोभनाध्यवसायाख्यान् पेषयोषजिनेधरम् ॥ ५-७१ ॥
 मंव्यथो सज्जयामास दिनंप्रति प्रति निजान्नरान् ।

अहं तु ज्ञातनिःशेषवृत्ततस्त्वामुपागमम् ॥ ७२-५ ॥
 प्रलोभ्य सुखवार्त्ताभिस्त्वरपुरी वासिनं जनम् ।
 निवासयिषतीदानी विवेको मुक्तिपत्तनम् ॥ ७९-५ ॥
 मयि जीवति भृत्याणो किमेवं तात खिद्यते ? ॥ १८३-४ ॥
 शिरोऽभिमानिनां ब्रह्मघरेणापि न नामितम् ।

नमत् क्रमयुगे रुष्टस्त्रीभिर्निर्लोडितं हठात् ॥ २४८-५ ॥

मुक्तिं लुक्तिं न उते दातार. ८२
 पेटं निर्वन्धी पोसिया, ते ठंडां साम्बा धार्थ;
 विकरां ठे आवी मिल्पा, ते तिलां त्मांडु धार्थ. १५८
 तिलां अमारिं दुर्ध उद्घोषणा, सादमीवच्छव नितु
 निर्दन्त्रणा. १६६

कलडट करं निगावार्थं संघ, रास भास वकुटा रसरंग. १६६
 गुडिरं सरि गुडु करं वपाण, आगम वायं सादु सुणाण;
 योयाण पडयोयाण नवि टवर्ध, ठंगि परि ते पुर नितु
 कलकवर्ध. १६७

श्राडक सरिसडं बुडरतां तिणि पुरि बाभ असंभ;
 आपे उडडड बाकुवे, वन्मर्धं कंयाण ब्रह्म. १५५
 प्रायश्चित्त पाण पाणी डारं. १७२
 छाणं नारी दोर्ध परिग्रही, दोर्ध भव विगडा तेडना सडी.
 १७२

तस्मिं आणुं तां प्रवचनपुरी. !१७८
 राज करं छं राड अरिडित. १८०
 अेकं संध्यां उगिउं सूर, बीछ मिडिउं डुडिउं लूर;
 अेकं बीजं शशि उगिउं, बीछ बीजं गिउं ते पयउं.
 १८७

मुडित ! विष्ट शुल्पाध्यवसाय, वेगे वलावि त्माणीं निनराय.
 २०१

मुडतं विष्ट वलाप्यां आण, दुं धायउं तम्ब करिवा आण.
 २०२

आपाण पं साधिं दुर्ध, लोक तुम्डारउं वेउं;
 सुपनी पाते बोभवी, मुक्ति वसावर्ध तउं. २०३
 मं छवंतं भेटडं, म धरिसि अराणं बाप ! २०७
 छुं सीस पुरंरि न नमार्धं ते डुवर्धं रंक निम रमाणि पां.
 २१३

लीलालसपदन्यासा द्विरदाः सभिदा मदाः ।
उर्ध्वाकृतभुजादंडशुंडा गजत्यमी तव ॥ २१४-५ ॥
क्षुंदाना विषयान् सर्वान् व्यापारा ऐंद्रियाहयाः ॥ २१६-५ ॥
अयं चतुर्भुजश्चक्र गदाशाडर्गासिभीषणः ॥ २७३-५ ॥

अथ संकेतितास्तेन गोपीयोधाः सहस्रशः ।
परितः परिवव्रस्तं द्वीपमब्धेरिवोर्मयः ॥ २७८-५ ॥
चक्रचापधरोप्युच्चैः स सद्यः समगंस्त तैः ॥ २८७-५ ॥
यामिन्यां यमूनाकूले शारद्यां शशिरुक शुचौ ।
नृत्यन् गोपीगणे गायत्ययं न व्यत्ययं व्यद्यात् ॥ २९०-५ ॥
गिरिणा गुरुणानेन न मृत्योरद्य रक्षसे ।

रक्षसे किन्तु मद्गत मृगनेत्रा परिग्रहात् ॥ ३१५-५ ॥

व्याजहार हरः श्रीमन्बोहभूपाल नंदन ।
पश्चादद्या इमां बुद्धिं पूर्वं श्रुणु मम श्रियम् ॥ ३१६-५ ॥
मम प्रेतवने वासः..... ॥ ३१७-५ ॥
चक्रीवत इवागे मे भस्तिनावगुंठनम् ॥ ३१८-५ ॥

भूषा विषयैर्लवमानै जीणत्तरोरिव ।
सैषवस्येयव निः स्वसय मम यानं जरद्गवः ॥ ३१९-५ ॥

अहमीद्गवस्थापि स्वीकुत्वे वनिताः कथम् ॥ ३२०-५ ॥
रुंडमालावलंबिनः ॥ ३११-५ ॥

शालि सूपं धृतं धोलं बटकान् मण्डकानपि ।
याचमाना इमा मिक्षाभोजिनं खेदयन्ति माम् ॥ २३३-५ ॥
वरं व्याध्री विषधरी
परिणेष्यामि कन्यकां सयमश्रियम् ॥ ३६४-५ ॥
वक्ष्यन्ति केऽपि चतुरमित रे कांतरं तु माम् ।
अबद्धमुखलोकोक्तीः कियतीर्हृदये दधे ? ॥ ३६७-५ ॥

त्वं मयि प्रस्थिते पौरुषेण तत्र समानयेः ।

मय अत्र गुडिय गयवर सरंग परकरिय पंच छंदिय तुरंग. २१५

यावावर्ष यक्कर सारंगपाणि गडमडर्ष गदाधर लुब्ध
प्राणि. २३३

सोव सदस सादाग करी, गोपी गेलि गडिद्व;
पीतंबर पक्ष्मलि झिरी, छोडर्ष छलाग छर्ष. २३५
यक् आप मुंकी मिलिउ, राउत राग-रसि रीग. २४०
जिम जिम यमुना तडि मिला, गोधाविलाग जमारि;
तिम तिम नाथर्ष नयिय परि, निसि निर्मली मुरारी. २४२
कुमर भागर्ष तु मेल्डउ भाव, नारि-तागर्ष जर्ष
परिश्रद जाव;
डरबोवर्ष जेउं आगअड रिद्धि, पाछय देज्यो ओसी
भुद्धि. २५१

छाडुंठं अम्ह उगटि अंगि, जड जड कुसल वर लुब्धि;
जड गउ वाडगि रदाग मझागि, धरि धरि भिन्ना भमत न
क्रागि. २५३

दिसि पडिरगि पत्रजश्वजार, दुंडमाल या अम्ह दियडर्ष डार;
डावाडल विसु अम्ह आडारि, केडी पूरी जावउं नारि ?
२५३

सावि द्वाविसिउं (स्युं, सावागे, मृत परधव धोल;
ओ अम्ह कन्डर्ष मागिसिउं, नितु नितु पधर्षर्षर्ष जोव. २५७
वरि वाधिरिगि वागी भली.

परगिसु कन्या संयमसिरी... २६५

ईक भागिसि ओ डाडउ डूउ, ईकि पुगु कडिसि नासी गयउ;
लोक ओव गापीर्ष केतवा ? आपम कानि न लूलर्ष भवा.
२६६

पर डल देधी थाने छोड, अम्ह पूडि वेर्ष आवे लोक. १७५

मा कोऽपि कोपिनस्तस्यास्मद गृह्यः प्रप्त ग्रहे ॥ ३७०-५ ॥

अत्रांतरे विशिष्टास्ते प्राप्ताः प्राक् प्रहितानराः ।

नत्वा व्यजिज्ञपनमौलिकरंचित करद्वयाः ॥ ३७१-५ ॥

प्रसीदतितरामद्य स्वामिन् स भगवांस्त्वयि ।

गोष्ठ्यायां गुणानामाधारमेकं त्वामेव शंसति ॥ ३७२-५ ॥

क्रोडीकृत्य कुमारं व्रनृपो हंसमिवोत्सलः ॥ ३७३-६ ॥

कथं दिग्विजयं वत्स व्याधास्त्वभिति भूमजा ॥ ३७४-६ ॥

यद्यादिशसि तत् कुर्वे स्थितिमत्र त्वदंतिके ।

उच्छिनदमी त्वारातीन् वर्धयामि च वैभवम् ॥ ५९-६ ॥

विवेक विधुरी कृत्य दुष्टाश्च इव स्तदिनम् ।

कारिष्याम्यचिरान्मुक्तिदुर्गं मार्गमसंचरम् ॥ ६३-६ ॥

एक श्री वीरमूलत्वात् सौहृदस्योचितैरपि ।

सापत्न्यं धारितं तेन पृथग्गच्छीय साधुभिः ॥ ८९-६ ॥

व्ययमानाः कुपात्रेषु धनलक्षा यज्ञोऽर्थिनः ।

आपन्न धार्मिकायोक्ता आवि कुर्वन्ति निःस्वताम् ॥ १०३-६ ॥ मलाभं न उ नदी वीसास, क्षुद्रमंत्र उपरि अभ्यास;
परमेष्ठि महामन्त्रमृत्यरोचकिनश्चिरम् ।

क्षुद्रमन्त्रान् पठन्त्यंके....

उदूढां तरुर्जां कुलयां तृणीयन्तः सधर्मिणीम् ।

विटकोटिनिधृष्टायां रज्यन्ति पणयोषिति ॥ ११-६ ॥

इयं वीरकुले जाता स्वयं वीरव्रताश्रया ।

वुवूर्षति वरं वीरमेव क्लीबेषु रोषिणी ॥ १६८-६ ॥

प्रिये युवां किं नुं विधास्यध्वे यास्यामः समरे वयम् ॥ ४५०-६ ॥ ॥ बोलायी तम्हि रडिया ललछं, कटिक नछं आवठं
नेतलछं;

ते प्रोचतुः प्रिय प्रश्नप्रयासोऽयं वृथा तव ।

त्वां विनाऽऽवां क्वकचिन्न स्वः स्वो वा सद्यो भ्रियावहे ॥ ५१-६ ॥

छंशि अवसरि ते विष्ट पदुत्त, ते वीनवछं स्वामि युशि पत्त.
२७३

तुम्ह सरकाउ अरिछंतु राउ, आ तीणछं पाठविठ पसाउ;
तक ताकछं आशिठं छछं कावर, तुम्हि तिलां पुलता न्छंठ
आवर. २७४

तात उच्छंशि सो छविठ, पूछछं वातडीय,
किम किम छिरिठ देसंतरि, किमतछं नज नडीय ? २७५
नछं राडवि तठ तारडछं रडेसु, पछंर वाट सविडछं निर्यडेसु.
२८७

मुक्ति तागां छठं लान्छिसु वाट, वीर विवेकु वनरिसु साट.
२७८

प्रवयन नगरी पाडी लेल, वाधिया मुनिवर माछि कुमेल.
३००

कीर्ति काञ्जि वेवछं रायसड सडस, दुस्थित देपी ओलछं
विरस. ३०३

कुल श्री छंडी लाडरि रमछं. ३०४

सूरड कुल ते छिपनी, आपाणी सूरि कत्र;
सूरा यिण वर नवि वरछं, ओड नि तेड पछं (य) न. ३१२

ते पलाणुठं अम्हि छिय न रडछं, तठं धृति न (छं) तम्ह
साधि वडछं. ३४२

વિવેકઃ પરુનેવ દું બ્રહ્માક્ષેણ જધાન તમ્ ॥ ૧૪-૭ ॥

બ્રહ્મયાયુધિ વલતઉ આહગિઉ; મોહ નરિંદ વિવેકિ
હગિઉ. ૩૮૧

મોહે મહારિપૌ મૃત્યુમાપિતે ત્રિદશેશ્વરાઃ ।

જ્ય જ્ય નંદા સુર ઉચ્ચારઈ, કુસુમવૃષ્ટિ મિસિ ઓલગ કરઈ.
૩૮૨

વિવેકસ્ય શિરસ્યુચ્ચૈઃ પુષ્પવૃષ્ટિં વિતેનિરે ॥ ૧૯-૭ ॥

ધગયં દુર્નયઃ પુત્રપ્રમ્ણા સંવર્ધિતસ્ત્વયા ।

મોહ તુમ્હારઈ બેટડઉ, તમ્હિ અમ્હિ કીધા ચોર. ૪૧૦

વયં ચૌરા ઇવાપાસ્તા દૂરે ગૌણુગા અપિ ॥ ૪૨-૭ ॥

વિવેકે સપરીવારે જાતે સાક્ષિણિ સ ક્ષણાત્ ।

શુકલધ્યાન તઉ દીપિઉ આગિ, તિગિ પઈસી મન લાગઉ
માગિ;

મનમંત્રી પ્રવિશ્યાત્ર નિર્વીર્યો ભસ્મતાં વયૌ ॥ ૬૩-૭ ॥

ચેતનરાણી અવસર લહઈ, નિવરઈ વરરહઈ આવી કહઈ.
૪૨૦

અસ્મિન્નવસરે લબ્ધાવકાશા સા મહાસતી ।

ચેતના મુખ્યરુપેણ પતિ હંસમુપાસરત્ ॥ ૬૪-૭ ॥

કલ્પદ્રુમ સ્વર્મિણિ-કામધેનુ સચ્છહ્ચમુખયા દદતે કદાપિ

એહ જિ મંગલ ઉચ્ચવ એઉ, એહ જિ માઈ બાપ એ દેઉ;

કિન્ચિત ક્વચિત્ કાસ્યચિદિદૃશ્વસ્તુ ન સર્વદોડસ્માદપરઃ અતીતઃ

ઈગિ તીરથિ ન્હાતાં હુઈ સુદિ, એ સારસ્વત પૂરઈ
બુદિ. ૪૩૦

અયં મહાજલમેષ મન્ત્રે મહોત્સવોડયં સુકૃતાંગમેષઃ ।

કલ્પદ્રુમ કામધેનુ એ હોઈ, ચિતાંમણિ એ અવર ન કોઈ.

અયં હિ ચિન્તામણિરેષ રક્ષૌષવં નૃણાં બન્યુરભન્યુરેષઃ ॥ ૪૮૫-૭ ॥

આમ ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ ૪૩૨ કડીમાં એટલે કે લગભગ ૯૦૦ પંકિતમાં લખાયેલી કાવ્યકૃતિ છે. ઉપરનાં કેટલાંક મહત્વનાં ઉદાહરણો પરથી જોઈ શકાય છે કે અકસોથી વધુ કાવ્યપંકિતઓમાં કવિ ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ ની રચના કરતી વખતે પ્રબોધચિંતામણિ ની પંકિતઓને અનુસરે છે. બે જુદી-જુદી ભાષામાં એક જ વિષયની પોતાની બે કૃતિઓની રચના કરવાની હોય તો તેવા સર્જક માટે આમ થવું સ્વાભાવિક છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ ની રચનામાં કવિનો આશય જેમ પ્રબોધચિંતામણિ નો માત્ર અનુવાદ કરવાનો નથી, તેમ પ્રબોધચિંતામણિ કરતાં તદ્દન નિરાણી કૃતિની રચના કરવાનો પણ નથી. એટલે દેખીતી રીતે પ્રથમ કૃતિની છાયા બીજી કૃતિમાં સ્થળે સ્થળે રહેલી હોય. આમ છતાં સમગ્રપણે બન્ને કૃતિઓની તુલના કરતાં એવું જાણાય છે કે જેમ ઉપર આપેલાં કેટલાંક ઉદાહરણોમાં કવિ જયશેખરસૂરિ મૂળ કૃતિને ચુસ્તપણે અનુસરે છે, તો પ્રબોધચિંતામણિ કરતાં ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ માં કેટલાક સુયોગ્ય ફેરફારો પણ કર્યા છે, અને કયાંક મૂળ કૃતિની શબ્દછાયા ઝીલવામાં કમ પણ બદલાય છે.

પ્રબોધચિંતામણિ સુદીર્ઘ કૃતિ હોવાને કારણે એમાં પાત્રો અને પ્રસંગોની વિપુલતા હોય એ દેખીતું છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ માં રૂપકકથા પ્રબોધચિંતામણિ કરતાં સંક્ષેપમાં નિરૂપાયેલી છે

એટલે આ બંને કૃતિઓને સરખાવતાં કેટલાંક ફેરફેરો જણાય છે:

કોઈ કોઈક સ્થળે પ્રબોધચિંતામણિ માં સવિસ્તર વર્ણન છે તે ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ માં કાં તો નથી ક્યું અથવા સંક્ષેપમાં કરવામાં આવ્યું છે.

ઉદાહરણ તરીકે, પ્રબોધચિંતામણિ માં આરંભમાં વર્ણવ્યા પ્રમાણે આવતી ચોવીસીના પ્રથમ તીથકર શ્રી પદ્મનાભપ્રભુના ધર્મરુચિ નામના શિષ્યને કોઈક ગામમાં કેવળજ્ઞાન ઉત્પન્ન થશે ત્યારે તે ગામનો રાજા એમના અતિશયો જોઈને અમને પ્રશ્ન કરશે કે આપ કોણ છો ? ક્યાંથી આવો છો ? વિગેરે. આ પ્રસંગ પ્રબોધચિંતામણિ ના બીજા અધિકારમાં વર્ણવવામાં આવ્યો છે, પરંતુ તેનો કોઈ નિર્દેશ ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ માં થયો નથી, તો બીજા બાજુ ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ માં છે તેવું પ્રબોધચિંતામણિ માં નથી. ઉદાહરણ તરીકે જુઓ :

નાન્હઉ એ કિમ જૂસિ ? એ મનિ માણિસિ ભંતિ;ક
નાન્હઈ સિંહ કિસોરડઈ, મયગાલ-ધડ-ભજ્જંતિ;
જેહૂં સમરંગાણિ ભિડિસુ તે સહુ તુજ્જ પસાઉ. ૨૦૮

આ ઉપરાંત પ્રબોધચિંતામણિ અને ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ માં બીજા જે સંખ્યાબંધ નાના નાના ફેરફારો જોવા મળે છે તે નીચે, પ્રમાણે છે:

(૧) પ્રબોધચિંતામણિ માં વિમલબોધની પુત્રીનું નામ તત્ત્વરુચિ છે, જ્યારે ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ પ્રમાણે એ નામ સુમિતિ છે. નિવૃત્તના પુત્ર વિવેકની બે પત્નીનાં નામ પ્રબોધચિંતામણિ પ્રમાણે તત્ત્વરુચિ અને સંયમશ્રી છે. જુઓ :

રાણી સુમિતિ ખરઉ અનુરાગ,
જેઠઉ બેટઉ તસુ વઈરાગુ. ૧૬૯

(૨) પ્રબોધચિંતામણિ માં વિમલબોધની પત્નીનું નામ સન્માર્ગણા જણાવ્યું છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં વિમલબોધની પત્નીઓના કોઈ નિર્દેશ જોવા મળતો નથી.

(૩) પ્રબોધચિંતામણિ માં મોહરાજની પત્નીનું નામ જડતા છે, જ્યારે ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ માં તેનું નામ દુર્મતિ આપવામાં આવ્યું છે. જુઓ :

મોહનાઈ રાણી દુર્મતિ નામ, બેટઉ બલવંત, જેઠઉ કામ . ૬૩
રાગદેષ બે બેટા લહુય, નિદ્રા, અધૃતિ, મારિ એ ધૂઅ. ૬૪

(૪) પ્રબોધચિંતામણિ માં જડતાના પુત્ર તરીકે કામ ને બતાવ્યો છે. અને મોહરાજની પ્રીતિ, અપ્રીતિ વગેરે અનેક સ્ત્રીઓના પુત્રોમાં રાગ, દેષ, આરંભ વગેરે હજારો પુત્રો બતાવવામાં આવ્યા છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ માં કામ, રાગ અને દેષ એ ત્રણે પુત્રો દુર્મતિના બતાવ્યા છે અને મોહરાજની પ્રીતિ, અપ્રીતિ વગેરે રાણીઓ અને આરંભ વગેરે પુત્રોનો ઉલ્લેખ નથી.

(૫) પ્રબોધચિંતામણિમાં મોહરાજની પુત્રીઓ તરીકે અભિષા, મારિ અને ચિંતા વગેરે અનેક બતાવી છે, જ્યારે ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં નિદ્રા, અધૃત અને મારિ એ ત્રણ પુત્રીઓ બતાવવામાં આવી છે.

(૬) પ્રબોધચિંતામણિમાં મોહના પ્રધાનનું નામ મિથ્યાદષ્ટિ આપવામાં આવ્યું છે. જ્યારે ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં તે મિથ્યાદર્શન આપવામાં આવ્યું છે, જે કે બન્ને શબ્દો એકબીજાના પર્યાય જેવા છે.

(૭) પ્રબોધચિંતામણિમાં મોહરાજ પોતાના રાજ્યની પુરા પોતાના યુવરાજ વિપર્વાસ ને સોંપે છે, ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં આ ઘટનાનો નિર્દેશ નથી.

(૮) પ્રબોધચિંતામણિમાં મોહરાજના ભંડાર તરીકે અકુશલ કર્મનો નિર્દેશ થયો છે, પરંતુ ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં સકલ પરિગ્રહ એવું નામ ભંડાર માટે આપવામાં આવ્યું છે. જુઓ :

સકલ પરિગ્રહ નિ ભંડારુ. ૬૯

(૯) પ્રબોધચિંતામણિમાં મોહરાજના છત્ર તરીકે અસંયમનો ઉલ્લેખ છે, ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં છત્રધારક તરીકે અમર્ષ (અમરિષુ) નો ઉલ્લેખ છે. જુઓ:

છત્ર દરઈ અમરિષુ ચઉસાલ...

(૧૦) પ્રબોધચિંતામણિમાં અવિદ્યાનગરીની રખેવાળ પાદરદેવતા છે. જ્યાં ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં પાદરની રખેવાળી તરીકે મમતાનો ઉલ્લેખ છે. જુઓ :

મમતા પ્રાદ્રતાણી રખવાલિ૫૯

(૧૧) પ્રબોધચિંતામણિમાં અવિદ્યાનગરીના વર્ણનમાં હિંસાગ્રંથરૂપી તજાવ અને હકવાદરૂપી મહાપાળીનો નિર્દેશ છે, ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં કુમતિરૂપી સરોવર અને મિથ્યાત્વરૂપી પાળીનો નિર્દેશ છે. જુઓ :

કુમત સરોવર મિથ્યાપાલિ....૫૯

(૧૨) પ્રબોધચિંતામણિમાં અવિદ્યાનગરીના વર્ણનમાં વ્યાજ્ઞેષ નામના નગરશેઠનો ઉલ્લેખ છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં નગરશેઠનો ઉલ્લેખ થયો નથી.

(૧૩) પ્રબોધચિંતામણિમાં મોહરાજના પરિવારના પાખંડી સંસ્તવ નામના પુરોહિતનો ઉલ્લેખ મળે છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં છન્ન પુરોહિતનો ઉલ્લેખ છે. જુઓ :

છન્નપુરોહિત સઘલઈ રાજિ....૬૭

(૧૪) પ્રબોધચિંતામણિમાં ઘડાનો સંગ્રહ કરનાર શ્રાપ નામનો પાણીનો અધિકારી છે, પ્રેમલાયરૂપી સ્થગિધર, સંચય નામનો ભંડારી વગેરેનો ઉલ્લેખ મળે છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં તેનો

ઉલ્લેખ મળતો નથી.

(૧૫) પ્રબોધચિંતામણિમાં પુણ્યરંગ પાટણ નગરના વાર્ગનમાં નિયમ, બંધન, શૌચ, સંતોષ, તપ, અને સ્વાધ્યાયરૂપી ઊંચો કિલ્લો છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં સુકૃતરૂપી મહાગઢ છે. જુઓ :

સુકૃત મહાગઢિ પોલિ વિચારિ... ૧૬૩

(૧૬) પ્રબોધચિંતામણિમાં પુણ્યરંગ પાટણના વાર્ગનમાં વ્રતરૂપી કાંગરાનો ઉલ્લેખ મળે છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં સદાચરણરૂપી જુઓ:

સદાચરણ કોસીસાં કોડિ... ૧૬૩

(૧૭) પ્રબોધચિંતામણિમાં બ્રહ્મચર્યના અઢારભેદરૂપી અઢાર વાર્ગો મર્યાદાથી પુણ્યરંગ પાટણ -નગરમાં વ્યવસ્થા પૂર્વક રહે છે એમ જણાવ્યું છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં બ્રહ્મચર્યરૂપી સરોવરની નવ પાળો છે એમ નિર્દેશ કર્યો છે. જુઓ:

બંભ સરોવરિ નવ સર પાલિ... ૧૬૨

(૧૮) પ્રબોધચિંતામણિમાં પુણ્યરંગ નગરીની વિરતિ નામની પાદર દેવી છે એવો ઉલ્લેખ કર્યો છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં જ્યાણા નામની પાદરદેવીનો ઉલ્લેખ છે. જુઓ:

પાદ્રદવ તિ જ્યાણા ભાણુ... ૧૬૨

(૧૯) પ્રબોધચિંતામણિ માં પુણ્યવાસનારૂપી ખાઈનો ઉલ્લેખ છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં વિરતિરૂપી ખાઈનો ઉલ્લેખ છે. જુઓ:

વિરતિ ન પાઈ આવઈ ,પો ડિ... ૧૬૩

(૨૦) પ્રબોધચિંતામણિમાં વિવેકરાજને લક્ષ્મી અને લજ્જારૂપી વારાંગનાઓ ચામર વીઝે છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં સિક્કિ અને બુદ્ધિ એ બે ચામર વીઝે છે. જુઓ :

સિક્કિ બુદ્ધિ બે ચામરહારિ... ૧૭૩

(૨૧) પ્રબોધચિંતામણિમાં વિવેક રાજને આચારરૂપી ચમર વીંઝવામાં આવે છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં ચામરના નામનો ઉલ્લેખ નથી.

(૨૨) પ્રબોધચિંતામણિમાં ગુરુના આદેશરૂપી શ્વેતછત્ર છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં ગુરુ ઉપદેશરૂપી છત્રનો ઉલ્લેખ સાંપડે છે. જુઓ :

છત્ર ધરઈ સિરિ ગુરુ ઉપદેસ... ૧૭૨

(૨૩) પ્રબોધચિંતામણિમાં સત્ય નામના સિંહાસનનો નિર્દેશ થયો છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ માં સત્ય નામના સિંહાસનનો ઉલ્લેખ જોવા મળે છે. જુઓ:

સત્ય સિંહાસણિ બસસઈ રાઉ... ૧૭૫

(૨૪) પ્રબોધચિંતામણિમાં સાધુઓના સત્સંગરૂપી સભાનો ઉલ્લેખ મળે છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ માં સુપુરુષોના સત્સંગરૂપી પર્યટાનો ઉલ્લેખ જોવા મળે છે. જુઓ :

સુપરિષ-સંગતિ પરિષદ ઠાઉ... ૧૭૫

(૨૫) પ્રબોધચિંતામણિ માં શુભ લેશ્યારૂપી નટીનો નિર્દેશ થયો છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં બાર ભાવનારૂપી પાત્રો નૃત્ય કરે છે એમ ઉલ્લેખ છે. જુઓ :

નાચઈ ત્રિભાવન બાર... ૧૭૫

(૨૬) પ્રબોધચિંતામણિમાં છત્રીસ ગુણની સ્મૃતિરૂપી છત્રીસ પ્રકારનાં આયુધનો ઉલ્લેખ છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં આચાર્યના છત્રીસ ગુણરૂપી દંડાયુધનો નિર્દેશ થયો છે. જુઓ :

દંડાયુધ ગુરુગુણ છત્રીસ. ૧૭૪

(૨૭) પ્રબોધચિંતામણિમાં પુણ્યરંગ-પાટણ રાજ્યનાં સાત અંગનો ઉલ્લેખ થયો નથી. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં પુણ્યરંગ -પાટણ રાજ્યના સાત તત્વરૂપી સાત અંગનો કવિએ નિર્દેશ કર્યો છે. જુઓ :

સાતિ તત્ત્વિ સમંગ જગીસ. ૧૭૪

(૨૮) પ્રબોધચિંતામણિમાં વિવેક ના પરિવારના વાર્ણનમાં ભવવિરાગ નામનો પુત્ર છે. જ્યારે ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં વિવેકના પુત્રનું નામ વૈરાગ્ય છે. જુઓ :

જેઠઉ બેટઉ તસુ વયરાગુ. ૧૬૯

(૨૯) પ્રબોધચિંતામણિમાં સંવેગ અને નિર્વેદ એ નામના બીજા બે પુત્રો વિવેકને છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં સંવર અને સમરસ નામના બે નાના પુત્રો નો ઉલ્લેખ જોવા મળે છે. જુઓ :

સંવર રામરસ લહ્ય કુમાર ૨૬૯

(૩૦) પ્રબોધચિંતામણિમાં કૃપા, મૈત્રી, મુદિતા, ઉપેક્ષા નામની વિવેકની પુત્રીઓ છે, ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ માં મૈત્રી, ક્રુરુણા, મુદિતા, ઉપેક્ષા નામની વિવેકની પુત્રીઓ છે. જુઓ :

મૈત્રી ક્રુરુણા મુદિત ઉપેખ, બેટી બહુય રૂપની રેપ. ૧૭૦

(૩૧) પ્રબોધચિંતામણિમાં સમ્યગ્દષ્ટિરૂપી વિવેકના પ્રધાનનો ઉલ્લેખ જોવા મળે છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં સમકિતરૂપી પ્રધાનનો નિર્દેશ છે. જુઓ :

મુહતા મુહવરિ સમકિતુ લેખિ. ૧૭૦

(૩૨) પ્રબોધચિંતામણિમાં માર્દવ, આર્જવ, સંતોષ અને પ્રશમ એ ચાર માંડલિક રાજા છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં ઉપશમ, વિનય, સરલતા, સંતોષ, એ ચાર માંડલિક રાજા છે. જુઓ :

ઉપશમ, વિનય, સરલ, સંતોષ, ચિહુ મહાધર સધર પ્રધોષ. ૧૭૧

(૩૩) પ્રબોધચિંતામણિ માં સામાયિકાદિ છ પ્રકારના આવશ્યકરૂપી પુરોહિતનો ઉલ્લેખ છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં સામાયિકરૂપી સારથિ છે એમ કહ્યું છે. જુઓ :

સામાઈક તસુ સારથિ સાર. ૧૭૩

(૩૪) પ્રબોધચિંતામણિમાં વિવેક રાજના સદાગમરૂપી ભંડારનો અને ગુણસંગ્રહરૂપી કોઠારનો ઉલ્લેખ જોવા મળે છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં આગમઅર્થરૂપી ભંડારનો અને ક્રિયાકલાપરૂપી કોઠારનો નિર્દેશ થયો છે જુઓ :

અગમ અર્થ બહુલ ભંડારુ; ક્રિયાકલાપ સકલ કોઠાર. ૧૭૪

(૩૫) પ્રબોધચિંતામણિમાં સર્વજ્ઞ રાજની કેવલશ્રી નામની રાણી છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ માં તે વિશે કોઈ ઉલ્લેખ નથી.

(૩૬) પ્રબોધચિંતામણિમાં સર્વજ્ઞ રાજનો સંવર નામનો સામંત છે અને તે સામંતની મુમુક્ષા નામે પત્ની છે. તેઓને સંયમશ્રી નામની પુત્રી છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં અરિહંત રાજનો ઉપદેશ નામનો સામંત છે, અને એ સામંતની શ્રદ્ધા નામની પત્ની છે અને તેમને સંયમશ્રી નામની પુત્રી છે. જુઓ :

રાજ કરઈ છઈ રાઉ અરિહંત, દુ (ઉ) પદેશ તેહનઉ સામંત ;
શ્રદ્ધાનામિં તાસુ વ ધરણિ, દીપઈ દેહ સુગુણ- આભરાણિ. ૧૮૦

તિણિ જઈ છઈ જે દીકરી, નામુ પુણ સંયમસિરી. ૧૮૧

(૩૭) પ્રબોધચિંતામણિમાં વિવેકના રાજ્યપરિવારના ઉલ્લેખમાં સમાધિ ઉત્પન્ન કરનાર શ્યાપાલક, ધર્મરાગની વૃદ્ધિ કરનાર સ્થગિઘર, શુભાધ્યવસાયરૂપી સુભટો, નવરસના જાણુ ધર્મોપદેશકોરૂપી રસોયા, આગમ વ્યવહારાદિ પાંચ પ્રકારના પંચાતીઆ, ન્યાયસંવાદરૂપી નગરશેઠ, ક્ષાયોપશમિકભાવરૂપી દાણુ લેનાર અને ઉત્સાહરૂપી દંડનાયકનો નિર્દેશ છે. (જુઓ : અધિ. ૫, શ્લોક ૨૨૦ થી ૨૨૫) ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં આ પાત્રોનો ઉલ્લેખ કરવામાં આવ્યો નથી.

(૩૮) પ્રબોધચિંતામણિ માં મોહને માયાનો પુત્ર કહ્યો છે. જુઓ :

માયાસુતમસૂતીય મોહં નામ મહાવલમ્ ।

યો યોષાન્ જાતમાત્રોઽપિ ગણયામાસ દાવસત્ ॥ ૩-૬૨ ॥

* જુઓ : જૈન સાહિત્યનો સંક્ષિપ્ત ઇતિહાસ, મોહનલાલ દલવીચંદ દેશાઈ, પૃ. ૪૮૭

* જુઓ : મરાઠી દૈનિક સત્યવાદી નો અચ્છલેખ, તા ૧૪-૧૨-૧૯૮૦

* જુઓ : ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ સંપાદક પં. લાલચંદભાઈ ભગવાનદાસ ગાંધી, પૃ. ૬

* ઇતિહાસની ફેરી, પૃ. ૨૦૭

* પંદરમાં શ્લોકનાં પ્રાચીન વૃજ્ઞર કાવ્યો

ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં મોહને પ્રવૃત્તિનો પુત્ર કહ્યો છે. જુઓ :

મનનઈ રાણી એક પ્રવૃત્તિ, બીજી બહુગુણ નારિ નિવૃત્તિ;

પ્રવૃત્તિ મોહ જિણિઉ સુત એક, નિવૃત્ત તાણઈ પુત્ર વિવેક. ૩૫

(૩૯) પ્રબોધચિંતામણિ માં હંસરાજની બે પત્નીઓ તે સદ્બુદ્ધિ અને અસદ્બુદ્ધિ છે. જુઓ :

તે ચ સદ્બુદ્ધીયસદ્બુદ્ધી રાજોઽભૂતામુમે પ્રિયે ।

તરણિત્વિદ્ તમસ્વિન્યાવિવાન્વોન્વમમર્ષણે ॥ ૩૬-૩ ॥

કવિએ ચેતનાના પર્યાય તરીકે બુદ્ધિને બતાવી તેના સદ્બુદ્ધિ અને અસદ્બુદ્ધિ એવા બે ભેદ બતાવ્યા છે. પરંતુ ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં એ પ્રમાણે નથી. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં હંસરાજની ચેતના રાણી જ કહી છે. જુઓ :

રાણી તાસુ ચતુર ચેતના, કેતા ગુણ બોલઉ તેહના. ૧૪

(૪૦) પ્રબોધચિંતામણિમાં પ્રવૃત્તિને દુર્બુદ્ધિની પુત્રી કહી છે. જુઓ :

સદા સન્નિહિતા મર્તુર્દુર્બુદ્ધિર્નિજનંદિનીમ્ ।

લોલાં લોલેન મનસા પ્રવૃત્તિં પર્યણાયત્ ॥ ૩-૧૨૩ ॥

ત્યારે નિરંતર ભારતની નજીક રહેલી દુર્બુદ્ધિએ ચપલ સ્વભાવવાળી પોતાની પુત્રી પ્રવૃત્તિને ચપલ એવા મન સાથે પરણાવી. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં પ્રવૃત્તિ કોની પુત્રી છે તેનો ઉલ્લેખ નથી.

(૪૧) પ્રબોધચિંતામણિમાં નિવૃત્તિને સદ્બુદ્ધિની પુત્રી કહી છે. જુઓ :

ધ્યાત્વેતિ નિતુરિષ્ટોઽસિ ત્વમિત્યાલાપ્ય મંત્રિણમ્ ।

નિવૃત્યા નિજન દિન્યા સદ્બુદ્ધિરુદવાહયત્ ॥ ૩-૧૪૨ ॥

(આ પ્રમાણે વિચારીને તું મારા સ્વામીને વહાલો છે એમ પ્રધાનને કહીને સદ્બુદ્ધિએ નિવૃત્તિ નામની પોતાની પુત્રી સાથે મન પ્રધાનનો વિવાહ કર્યો) ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં નિવૃત્તિ કોની પુત્રી છે તેનો ઉલ્લેખ નથી.

આમ પ્રબોધચિંતામણિ કરતાં ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં કેટલેક સ્થળે કવિએ કેટલાક નાના નાના પરંતુ ઘણા મહત્વના ફેરફારો કર્યા છે. એમાંના કેટલાક મહત્વના ફેરફારો તો પાત્રોનાં નામો વિશેના છે. પ્રબોધચિંતામણિ જેવી સગંગ સુદીર્ઘ રૂપકકથાની રચના કરવામાં વિવિધ તત્ત્વોને પ્રતીકરૂપે જીવંત કલ્પી તેમનો પરસ્પર વ્યવહાર બતાવવામાં તથા વાસ્તવિક વ્યાવહારિક જગત સાથે તેનો સુમેળ કરવામાં કવિની ભારે કસોટી થાય છે. પ્રતીકરૂપ પાત્રોની કથા વ્યવહારદષ્ટિએ જે સુસંગત ન હોય તો તેટલી પ્રતીતિકર થાય નહીં. પ્રબોધચિંતામણિમાં એકસોથી વધુ જેટલાં પાત્રો આવે છે. અને તે બધાંનો પરસ્પર સંબંધ, સગપણ વગેરે ગોઠવવા એ કલ્પના, બુદ્ધિ, ચાતુર્ય, વ્યવહારજ્ઞાન

+ ગુજરાતી સાહિત્યનો ઇતિહાસ -ભાગ ૧, પૃ. ૨૭૮, સંપા જેશી, રાવળ, શુક્લ

અને શબ્દપ્રભુત્વ માગી લે છે. નાનું રૂપક લખવું સહેલું છે. પરંતુ સળંગ રૂપકકથા લખવી તે ઘણી અઘરી વાત છે. અસાધારણ કવિત્વ અને પાંડિત્ય બન્ને હોય તો જ તે સંભવી શકે.

કવિ જ્યેષ્ઠસૂરિએ પ્રબોધચિંતામણિ કરતાં ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં કેટલાંક પાત્રોનાં નામો જે રીતે બદલાવ્યાં છે તેમાં પણ તેમની સૂક્ષ્મ કવિત્વદષ્ટિ અને ઔચિત્યબુદ્ધિનાં દર્શન થાય છે. કવિએ એમાં જે ફેરફારો કરેલા છે તે ઉપરથી પણ જોઈ શકાય છે કે એમણે પ્રથમ પ્રબોધચિંતામણિની રચના કરી હશે અને ત્યાર પછી ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધની રચના કરી હશે. એમણે કરેલા ફેરફારોના સૂક્ષ્મ ઔચિત્યનો વિચાર કરતાં આ વાતની પ્રતીતિ થશે. ઉદાહરણ તરીકે પ્રબોધચિંતામણિમાં મોહના પ્રધાનનું નામ મિથ્યાદષ્ટિ આપવામાં આવ્યું છે. જ્યારે ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં તેનું નામ મિથ્યાદર્શન આપવામાં આવ્યું છે. મિથ્યાદષ્ટિ અને મિથ્યાદર્શન બન્ને શબ્દો એક-બીજાના લગભગ પર્યાય જેવા છે. તેમ છતાં મોહના પ્રધાનના નામ તરીકે નારિજ્જતિવાચક મિથ્યાદષ્ટિ શબ્દ કરતાં મિથ્યાદર્શન જેવો શબ્દ વધુ ઉચિત ગણાય.

કવિએ મૂળ શબ્દ મિથ્યાદર્શન પ્રયોજ્યો હોય અને એના ઉપરથી ફેરફાર કરીને મિથ્યાદષ્ટિ શબ્દ રાખ્યો હોય એવું સંભવી શકે નહિ એટલે એના ઉપરથી પણ પ્રતીતિ થશે કે કવિએ પ્રબોધચિંતામણિ ની પૂર્વે ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ ની રચના નહીં જ કરી હોય.

ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાં કવિ જ્યેષ્ઠસૂરિએ માત્ર કથાકાર તરીકે જ કાર્ય કર્યું છે એમ નહિ કહી શકાય. મહાકવિની પ્રતિભા ધરાવનારા તેમણે પોતાની અસાધારણ કવિત્વશક્તિથી વિવિધ પ્રસંગોનું કવિત્વમય નિરૂપણ કર્યું છે. એમાં એમની સચોટ વર્ણન કરવાની શક્તિનાં દર્શન થાય છે.

માયારૂપી રૂડી રમણીના રૂપથી હંસરાજ આકર્ષાય છે ત્યારે ચેતના રાણી તેમને જે સચોટ શિખામણ આપે છે તેનું કવિએ કરેલું લાઘવયુક્ત વર્ણન જુઓ:

રૂડી રે રમણી મન્ત્રગય ગમાણી, દેખી ભૂલઉ ત્રિહુભવણ ધણી;
અમૃતકુંડિ કિમ વિષ ઉછલઈ ? સમુદ્ર થકી ખેલ ન નીકલઈ;
સરવર માહિ ન દવ પરજલઉ, ધરણિ ભારિ શેષ ન સલસલઈ;
રવિ કિમ વરિસઈ ઘોરંધાર ? ઝરઈ સુધાકર કિમ અંગાર ?

જઈ તૂં ચૂકિસિ દેવ ! વિચાર, લોકતાણી કુણ કરિસિ સાર ? રૂઅડી રે. ૧૮

વર્ણાનુપ્રાસ જેવા શબ્દલંકારો અને ઉપમાદિ અલંકારો સહિત કવિએ વસંતઋતુના આગમનનું કેવું સરસ નિરૂપણ કર્યું છે તે જુઓ :

ભિગમ તિમ ચાલે જિમ વિહસંતિ મિત્ત, લગાઈ આકૃતિ તૂં અચાર, તઈ ધોરી ઝાલઉ રજ્જભાર;
ન હસંતિ વસુહ માહિ જિમ અમિત. ૨૧૨
પુણ લેજે વેલા બલ વિષાણિ, તિણિ ચાલ્યાં આધી નહિ હાણિ;
ઈમ કહતાં પુહતઉ રિતુ વસંત, તવ ઉઠિઉ મનમથ ધસમસંત. ૨૧૩

એવી જ રીતે કામદેવ અને વિવેક વચ્ચે જે યુદ્ધ થાય છે તેનું ઓજસવતું શબ્દચિત્ર જુઓ:

ઓ આવઈ ઓ આવઈ અરિ અઢાલિય ભંજઈ ભુજિ... વિકરાલ;
મહિ મહિ મંડલિ મંડલિ મયાણ, મહાભડ કુણતું અસિઉ તુડતાલ;
ક્ષણિ મેઈણિ મંડલિ ક્ષણિ ગયાગંગણિ, ક્ષણિ ગુજ્જઈ પાયાઈ;
જે ભૂઈભલિ છલિહિ, અવગલ તીહ સરિસી તું આલિ. ૨૮૨

વિવેકકુમાર રાગદેષરૂપી સિંહનું કેવી રીતે દમન કરે છે તે પ્રસંગનું વાર્ણન પાણ કવિએ કેવી સરસ છટાથી ચિત્રાત્મક શૈલી એ કર્યું છે તે જુઓ:

રાગદેષ ડરઅરતા સીહ, બે ઉઠયા તઉ અકલ અબીહ;
નખર જિસિયા કુદાલા પાઈ, ભુંઈ કંપાવઈ પુચ્છ નિહાઈ. ૩૨૧
ધૂબડ ધૂણઈ કેસરવાલિ, લોક ચડિયા ભુંઈ માલિ અટાલિ;
તે બેવઈ તિણિ આંગી ગમ્યા, સમતા ગુણે સાહી નઈ દમ્યા. ૩૨૨

અવિદ્યા નગરીના રાજા મોહરાયના પરલોકગમન પ્રસંગે એની માતા પ્રવૃત્તિ કેવી શોકમગ્ન બની જાય છે તેનું વાર્ણનુપ્રાસ તથા ઉપમાદિ અલંકાર સાથે કવિએ દોરેલું શબ્દચિત્ર જુઓ :

મોહ પહૂતઉ જવ પરલોક, પ્રવૃત્તિ પડી તુ પૂરઈ શોકિ;
વંસં વિણાસ ન હિયઈ સમાઈ, સૂકી જિમ ઊન્હાલઈ જઈ. ૪૦૧
કુલ ક્ષય દેષી ધાગઉ ચલચલઈ, તડકઈ મંકણ જિમ ટલવલઈ,
મનું વિલવઈ મૂકી નીસાસ, આજ અમ્હરી ત્રટી આસ. ૪૦૨

ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ પોતે રૂપકકથાના પ્રકારની કૃતિ હોવાથી એમાં રૂપકો તો સ્થળે સ્થળે જોવા મળશે. રૂપક અલંકારો કવિ જયશેખરસૂરિનો એક પ્રિય અલંકાર છે. તેવી જ રીતે ઉપમા અલંકાર પણ કવિનો પ્રિય અલંકાર છે. ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધમાંથી તેનાં નીચેનાં થોડાક ઉદાહરણો જુઓ :

કાઠિ જલાણુ જિમ ધરણિહિં ત્રેહુ, કુસમિહિં પરિમલ ગોરિસ નેહુ;
તિલિહિં તેલુ જિમ તાઠિક નીરિ, તિમ તે નિવાસઈ જગત્ર શરીર. ૩
બાલપાણા લગઈ મઝનઈ તેહ, ઉદિર સાપ સરીષઉ નેહ;
તે નિતુ દેતઉ મઝ રહઈ રાડિ, તાસુ ન પ્રાણ અમ્હારઈ પાડિ. ૧૩૬
તે આગલિ હું હુતુ તિસિઉ, કેસરિ આગલિ જંબુક જિસિઉ.
તેઉ ગૃધ નિશ્ચિઈ હઉ મસઉ, સાચઈ લેક હસઈ તુ હસઉ. ૧૩૭
અવર કુણનઈ વાદિ વિનાણિ, જણ જય જાણઈ કાકુરનઈ પ્રાણિ;
ધરની કલિ કુણ આગ કહુઈ ? ચોર માઈ જિમ છાની રોઈ. ૧૮૬
ધરડી પુઃ જિમ બે ધરણિ, કાણહ સરીષ કંતુ ;
કહઉ આપઉ કિમ ઊગરઈ ? ભરડી આંગઈ અંત. ૧૮૮

અનુપ્રાસની સાથે શ્લેષાલંકાર કવિ કેવી રીતે પ્રયોજે છે તેના ઉદાહરણ તરીકે નીચેની કડીઓ જુઓ;

નિવૃત્તિ ગઈ તઉઉ હુઈ નિવૃત્તિ, મનરહિ નિચરઈ કહઈ પ્રવૃત્તિ;
દિવરાવઈ બેટનઈ રાજ, ફલિઉ મનોરથ મહારાઉ આજ. ૫૫
જ જીવઈ અમહ વઈરી મોહ, રાજ-તણી તાં કેહી સોહ ?

મોહરઈ ભાઈ તે સાવકઉ, ધર્મ ન માનઈ તે શ્રાવકઉ. ૧૭૭

કવિ જ્યેષ્ઠાક્ષરસૂરિની કવિપ્રતિભાનું સરસ દર્શન જેમ એમના ઉપમા રૂપક અલંકારોમાં થાય છે તેવું જ સરસ દર્શન એમણે પ્રયોજેલા દષ્ટાન્તાદિ અલંકારોમાં થાય છે. કવિની નિરીક્ષણશક્તિ કેટલી સૂક્ષ્મ છે તેની પાણ તે પ્રતીતિ કરાવે છે. ઉ.ત. નીચેની પંક્તિઓ જુઓ :

વાનરડઉ નઈ વીછી ખાપુ, દાહીજરઉ દાવાનલિ દાપુ;
થરિઉ સીયાણઉ ચરહઠા હાથિ, જૂઠઉ મિલિઉ જૂઆરી. ૩૧
વેસનાર નઈ વાઉ વિકરાલુ, નિષતરુ સિંચિઉ વિસહર લાલું ;
મુહતઉ માનિઉ રાણી ચલઈ, ઘોણઉ ઘોણરઉ તઉ ઝલફળઈ. ૩૨
શશિ વિણુ પુન્નિમ લાજઈ વાઈ. પૂનમ વિણુ શશિ ખંડઉ થાઈ;
સકલ પુરુષ સુકુલીણી નારિ, બિહઉં એડ થોડી સંસારિ. ૭૮
નિવૃત્તિ ભાણઈ તુમ્હિ બોલિઉં કિસિઉં ? પ્રિય ઉષઘ નઈ ગુરિ ઉપદિસિઉં;
ઘેવર માહે એ ધૃત ઢલિઉં; થ (પી) હર જેતાં સગપણ મિલિઉ. ૭૯
એકઈ સંધ્યાં ઊગઉ સૂર, બીજી મિલિઉ કુલિઉ ભૂર;
એકઈ બીજઈ શશિ ઊગઉ, બીજી બીજઈ ગિઉ તે પયઉ. ૧૮૭
ઘરટી-પુડ જિમ બે ઘરણિ, કાણાહ સરીષ કંતુ;
કહઉ આપઉ કિમ ઊગરઈ ? ભરડી આણઈ અંત. ૧૮૮
નાનહાઉ એ કિમ જૂસિ ? એ મનિ માણસિ ભાંતિ;
નાનહાઈ સિંહ કિસોરડઈ, મયગલ ધડ ભજજતિ. ૨૦૮
જલધર વુકઈ જલણુ ન દહઈ. ગુરુડ વાઈગર ડસ કિમ રહાઈ
રવિ ઉગમિ અંધારઉં ટલઈ, સાહસધાણી ન સાઈણિ છલઈ;
કેસર (સ) દિ ગઈદ પલાઈ, ઘટ કિમ નાંદઈ ધાણુને ધાઈ;
હિમ પડતઈ જિમ દાઝઈ આક, મઝ આગલિ તઉ કાણુ વરાક. ૩૮૭
પમુના જલિ ખિલ્લાઈ તોઈ ન મિલ્હઈ રાયહંસ નિય ધવલગુણુ ;
સાધર જલ કાલઈ વસઈ, નિરાલઈ ન મુત્તાહલ મલિણું;
નહુ મંડલિ નીલીવત્રિ નિલુકકઉ ચંદન ચુકિખમય;
મન મોહિ વિહું ધડિપડિય ન ભગ્ગી ખિલ્મ તૂ આ ખાલવય. ૩૯૬
ગયઉ કેસરિ મુજ સંચરઈ, ગયઉ રવિ તિમિર કુરંતિ;
અરિભડ ભંજન તૂં ગયઉ, પરદલ હિવ પસરંતિ;

કવિ જ્યશેખરસૂરિની એક લાક્ષણિકતા એ છે કે તેઓ પોતાની અનુભૂતિને ઓછા પણ સચોટ અને માર્મિક શબ્દોમાં અભિવ્યક્ત કરે છે. એથી એમની કેટલીક પંક્તિઓ સુભાષિતાત્મક બની જાય છે. ઉ.ત. નીચેની કેટલીક પંક્તિઓ જુઓ :

આંબે છાંહ ભીતિ જાજરી, બેટી ધન ભોજનિ બાજરી;
કાર ત્રેહ અસતીનું નેહુ, દૈવ દેષાડઈ થહિલઉ છેહ. ૨૧

સઉકિ સમાણ સરૂપિં સાપુ, વલગી મર્મિં કરઈ સંતાપુ;
વજલ છાયા સાપુ ન ફિરઈ, મૂલ મંત્ર સઉકિહં નવિ કુરઈ. ૪૨

અદ્યોત્તર સય અધિકી વ્યાધિ, સઉકિ કહઈંતઉ હોઈ સમાધિ;
કાઠઈ રોગ ન નિયડઉ થાઈ, કાઠઉ કહતાં સઉકિ ન જઈ. ૪૩

સઉકિ-આગિ ભટકે પ્રજવલઈ, વિણસઈ વંસ ન ધું નીકલઈ;
આગિ ઓલ્હાડઈ એકં વારિ, સઉકિ સંતાપઈ સાતે વારિ. ૪૪

પ્રિય વિણ નારી રાતિ અંધારિ, મેલ્હી રૂં કાજિ નિવારી;
જઈ પુણ સુત દીવઉ જલહલઈ, તઉ દીવાલી સમ તુડિ તુલઈ. ૮૯

સ્રી બેટા વિણ પંકડ ગાઈ, ડીલઈતી પુણ કહઈ ન સુહાઈ;
ઘરધણિઆણી થાઈ દાસિ, જઈ બેટઉ હોઈ નવિ પાસિ. ૯૦

રાજ ટલ્યાનુ સિઉ કરતઉ, જઈ તૂ બેટઉ છઈ જીવતઉ;
એક અજીવિ માગસે કાઉ, રાખે કૂંસુ માંડઈ રાઉ. ૯૧

જીણિ ગુફાં કેસરિ વસઈ, કરિકુલ કેરઉ કાલ;
આલિ સિયાલ તિહાં કરઈ, સીહ નહી તે આલ. ૯૯

જિણિ તરુ ડાલઈ વીસમિઉ, ગુરુડ સુગુરુડ સમોડિ;
ચિડી તે ચૂંથઈ એ હરિવાહણ પોડિ. ૧૦૦

આવાસહ જિણિ ઓરડઈ, લલકઈ લહકઈ દીપ;
તે જઈ તિમ રે ભેલીઈ, દીઈપ તાણી કુણ કીપ ? ૧૦૧

જે એક વયરી કરી, નર નિચ્યંત સૂંપતિ; તે સૂતા તરૂસિહર જિમ,
ઘર પરિયા જગંતિ. ૧૪૧

વિણ અવસર જે માંડઈ ગૂઝ, રાજ-તલઉં ત્રોડઈ અબૂઝ;
માલા પડયા ધાઉ દીણઈ, ધૂંબડ નામ સહુ કો ભાણઈ. ૨૬૮

અવસરિ બોલિઉં માગુસ ગમઈ, પામઈ પુષ્ટિ જુ અવસરિ જિમઈ,
અવસરિ વાલ્લઉ વૂઠઉ મેહ, અવસરિ આવિ સગઈ સાગેહ. ૨૬૯

ગિઈ કાગુણિ આબંઉ ગહગદઈ, ગિ (ઈ) ગ્રીષ્મિ નઈ પૂરિ વહઈ;
બહુલ પક્ષ પૂઠિ શશિ-વૃદ્ધિ, આર અનંતર સાગર રિદ્ધિ. ૪૨૭

જૈન સાધુકવિઓ કેવળ મનોરંજનાર્થે કૃતિનું સર્જન કરે એવું ન બને. કોઈક વિશિષ્ટ ઉદ્દેશથી જ તેમનું સાહિત્ય રચાતું રહ્યું છે. શ્રીજયશેખરસૂરિએ આ રૂપકકથામાં સ્થળે સ્થળે ત્યાગ, વૈરાગ્ય, સંયમ, ઉપશમ, સમતા વગેરેનો મહિમા દર્શાવતી પંકિતઓ લખી છે. ઉદાહરણ તરીકે નીચેની કેટલીક પંકિતઓ જુઓ :

સેવીતા સવિરસ વિરસ, ઈક્કાઈકિં જોઈ;
નવમઉ જિમજિમ સેવીઈ, તિમ તિમ મીઠઉ હોઈ. ૭

મકરિ અજાણી સ્ત્રી વીસાસ, સ્ત્રી કહીઈ દોરીવિણ પાસ;
હિવડાં દિસઈ એ સીયલી, પુણ તાપ વિસિઈ જિમ સીયલી. ૨૩

સઉકિ ભણિ હું ન કહઉં સ્વામિ, બીયાબારઉં તુમહારઈ નામિ;
જે સીયામણ તીણઈ કહી, ભરિયા ધડા ઉપરિ તે વહી. ૨૪

પરમેસર આગુસરઉ મોહ તાણઉ અંદોહ છંડિઉ;
સમતા સધલી આદરઉ, મમતા મુંકઉ દૂરિ;
આરિ હણી પાંચઈ જિણ, ખેલઉ સમરસ પૂરિ. ૪૧૫

કલ્પદ્રુમ કામધેનુ એ હોઈ, ચિંતામણિ એ અવર ન કોઈ;
એહ જિ સિદ્ધિપુરિ નઉ પંથ, એહ જિ જીવન સિવહઉ ગ્રંથ. ૪૩૧

ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ ગુજરાતી સાહિત્યનું ઉત્તમ રૂપકકાવ્ય છે. કવિએ એને પ્રબંધ તરીકે ઓળખાવ્યું છે. સામાન્ય રીતે પ્રબંધ શબ્દ કિંવદંતિ સહિત ઐતિહાસિક કથાના પ્રસંગોનું નિરૂપણ કરતા કાવ્યપ્રકાર માટે વપરાય છે. આ કાવ્યકૃતિમાં કોઈ ઐતિહાસિક કથાવસ્તુ લેવાયું નથી, એટલે એ દષ્ટિએ પ્રબંધ શબ્દ આ કાવ્યકૃતિ માટે કેટલો ઉચિત છે તેવા પક્ષ ધાય, પરંતુ આ કાવ્યમાં રાજા, રાણી, રાજકુમાર, મંત્રી, દુશ્મન રાજા, યુદ્ધ વગેરેના પ્રકારની (ભલે કાલ્પનિક) ઐતિહાસિક ઘટના જેવી ઘટનાઓનું નિરૂપણ થયું હોવાથી આ કાવ્યકૃતિને પ્રબંધ તરીકે ઓળખવવામાં અનુચિતતા નથી એમ કહી શકાય. વળી, પ્રબંધ શબ્દ પોતે જ વિવિધ અર્થસંદર્ભમાં પ્રાચીન સાહિત્યમાં વપરાયો છે એટલે તથા કવિના પોતાના સમયમાં તે કોઈ એક નિશ્ચિત કાવ્યપ્રકાર માટે રૂઠ નહીં થયો હોય એટલે કવિએ પ્રબંધ શબ્દ પોતાની આ કાવ્યકૃતિ માટે વિચારપૂર્વક જ પ્રયોજ્યો હશે એમ કહી શકાય.

આ કાવ્યની રચના કવિએ વસ્તુ, દુહા, ચોપાઈ, ઘઉલ, છપ્પઈ વગેરે છંદમાં કરી છે અને તેમાં કથાનું નિરૂપણ થયું છે તે જોતાં તેને રાસ કે ચોપાઈના પ્રકારની કૃતિ તરીકે પણ કોઈ ઓળખાવે તો તે સ્વાભાવિક છે. એટલે આ કૃતિને કેટલીક હસ્તપ્રતોમાં અંતરંગ ચોપાઈ તરીકે ઓળખવવામાં આવી છે તે પણ યોગ્ય ગણી શકાય. જેમ ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ ઉપરાંત આ કૃતિનાં હંસવિચાર પ્રબંધ, પરમહંસ પ્રબંધ જેવાં નામો પ્રચલિત થયેલાં છે, તેવી રીતે આ કૃતિને માટે પ્રબોધચિંતામણિ ચોપાઈ* જેવું નામ પણ સાંપડે છે.

કવિ જ્યોત્ષ્ણસૂરિએ ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધની રચના પ્રબોધચિંતામણિ ને અનુસરીને કરી છે અને પ્રબોધચિંતામણિ-ની રચના તેમણે કૃષ્ણમિશ્રકૃત પ્રબોધ ચંદ્રોદયના પ્રતિકારરૂપે લખેલી હોય તેવું પંડિત લાલચંદ્ર ગાંધી વગેરે વિદ્વાનોને જાણાયું છે. પ્રબોધ ચંદ્રોદય ની સામે પછીના સમયમાં કવિ પદ્મસુંદરે જ્ઞાનચંદ્રોદય અને વાદિચંદ્રે જ્ઞાનસૂર્યોદય નામનું નાટક લખ્યું છે તેવી રીતે કવિ જ્યોત્ષ્ણસૂરિએ પ્રબોધચિંતામણિ અને ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ ની રચના કરી છે. સં. ૧૬૮૫ માં પં. ધર્મમંદિરે ‘મોહ અને વિવેક રાસ’ ની રચના કરી છે. તથા દિગમ્બર કવિ બ્રહ્મચારી જિનદાસે પરમહંસ કથાની રચના કરી છે. અને તેના ઉપરથી મરાઠીમાં પંડિત સૂરિજને પણ પરમહંસ કથા ની રચના કરી છે.* આમ પ્રબોધચિંતામણિ અને ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધના આધારે અન્ય કૃતિઓની જે રચના થઈ છે તે ઉપરથી આ રૂપકાત્મક કથાએ તત્ત્વજ્ઞ પંડિત કવિઓનું ધ્યાન કેટલું આકર્ષ્યું છે તે જોઈ શકાય છે.

ગુજરાતી ભાષામાં આ કૃતિને પ્રકાશમાં લાવનાર પંદરમા શતકનાં પ્રાચીન ગૂર્જર કાવ્યોના સંપાદક સ્વ. કેશવલાલ ધ્રુવ લખે છે : કવિની પ્રતિભા વસ્તુની ગૂંથાણીમાં, પાત્રની યોજનામાં અને રૂપકની ખિલવાણીમાં એકસરખી વિજ્યશાળી નીવે છે. કાવ્યનો વેગ તથા સંવિધાનનું ચાતુર્ય વાંચનારનું કૌતુક છેવટ સુધી ટકાવી રાખે છે.’

આ કૃતિનું ત્યારપછી પાઠાંતરો સહિત સંપાદન કરનાર પં. લાલચંદ્રભાઈ ગાંધીએ તેના ઉપર વિશિષ્ટ પ્રકાશ પાડ્યો છે. અને તેમણે ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધને મધ્યકાળની એક ગાળનાપાત્ર કૃતિ ઓળખાવીને લખ્યું છે કે કવીશ્વર જ્યોત્ષ્ણસૂરિએ પરપ્રવાદિયોના મિથ્યા વાક્ય પ્રહારોના પ્રતિકારરૂપ, લોકપ્રચલિત પાખંડ અને લોકત્તર ધર્મના સત્ય સ્વરૂપને પ્રકાશિત કરનારા સંસ્કૃત પ્રબોધચિંતામણિની અને ગુજરાતીમાં ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધની રચના કરી હોય એમ એ ગ્રન્થોનું તુલનાત્મક દષ્ટિએ નિરીક્ષણ કરતાં જણાઈ આવે છે.* મધ્યકાલીન ગુજરાતી સાહિત્યમાં રૂપકના પ્રકારની જુદીજુદી કૃતિઓની રચના થઈ છે તેમાં ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધની પૂર્વે ખાસ કોઈ રચના જોવા મળતી નથી, પરંતુ ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ પછી આત્મરાજ રાસ (કવિ સહજસુંદરકૃત), મોહ વિવેકનો રાસ (સુમતિરંગકૃત), વિવેક વણજારો (પ્રેમાનંદનકૃત), વ્યાપારી રાસ (જિનદાસકૃત), જીવરામ શેઠની મુસાફરી (જીવરામ ભટ્ટકૃત) વગેરે સળંગ રૂપકના પ્રકારની રચનાઓ થયેલી છે. ડો. ભોગીલાલ સડેસરા કહે છે તેમ ગુજરાતીમાં પણ ત્યાર પછી વાણિજ્યમૂલક અને પાડુગુણમૂલક અનેક નાનાંમોટાં

રૂપકો લખાયાં છે, પણ તેમાંનું કોઈ જ્યેષ્ઠશ્રેણીના ઉક્ત કાવ્યની બરાબરી કરી શકે તેમ નથી. +

સ્વ. કેશવલાલ ધ્રુવ આ રૂપકકાવ્યથી એટલા પ્રભાવિત થયા હતા કે એમણે લખ્યું છે કે સંસ્કૃત કવિ તરીકે જ્યેષ્ઠશ્રેણીનું જે સ્થાન હોય તે હો, પણ ગુજરાતી કવિ તરીકે તો તેમનો દરજ્જો ઊંચો છે. આ એક જ ગુર્જર કાવ્યથી જૈન કવિ પ્રથમ પંકિતના સાહિત્યકાર બને છે. જૈનેતર સાહિત્યની જેમ જૈન સાહિત્ય ચકલેચૌટે ગવાયું હોત તો જ્યેષ્ઠશ્રેણીએ પણ ભાલાણ અને પ્રેમાનંદના જેવી પ્રસિદ્ધિ લોકમાં મેળવી હોત.’

ભોગીલાલ સરિસરાએ આ રૂપકકાવ્યની મહત્તા દર્શાવતાં લખ્યું છે કે ‘રૂપકશ્રાન્ધિની મર્યાદામાં રહીને આવી સુદીર્ઘ રચના કરવા છતાં કાવ્યરસ અસ્ખલિત વહ્યો જાય છે. એમાં કર્તાની સંવિધાનશક્તિનો, ભાષાપ્રભુત્વનો તથા કવિપ્રતિભાનો વિજ્ય છે. કાવ્યનો છંદોબંધ દુહા, ચોપાઈ, વસ્તુ, છપ્પય આદિ માત્રામેળ છંદોમાં તથા ગીતોમાં થયેલો છે. કાવ્ય નામે ઓળખાતા અશુદ્ધ ભુજંગીનો પણ કોઈ ઠેકાણે પ્રયોગ છે. અક્ષરના, રૂપના, માત્રાના અને લયના બંધનથી મુક્ત, છતાં એમાં લેવાતી છૂટ ભોગવતું પ્રાસયુક્ત ગદ્ય-જે બોલી નામે ઓળખાય છે તે પણ એમાં પ્રસંગોપાત્ત આવે છે.’

આમ, ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ એ પ્રબોધચિંતામણિ નું અનુસર્જન છે એ તો સ્પષ્ટ જ છે તેમ છતાં મહાકવિની પ્રતિભા ધરાવનાર કવિ જ્યેષ્ઠશ્રેણીનું ગુજરાતી ભાષા ઉપરનું પ્રભુત્વ પણ એટલું જ અસાધારણ છે એ ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ વાંચતાં આપણને પ્રતીત થાય છે. કદાચ કોઈને જે પ્રબોધચિંતામણિની વાત કરવામાં આવી ન હોય અને તેવી અધિકારી વ્યક્તિ ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ વાંચે તો આ કૃતિ એક સ્વતંત્ર સમર્થ સર્જનકૃતિ છે એવું તેને જાણાયા વગર ન રહે. એટલે કે કવિની મૌલિક સર્જકપ્રતિભા સહજ રીતે જ આ ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ માં ખીલી ઊઠી છે.

આમ, ત્રિભુવનદીપક પ્રબંધ આપણા મધ્યકાલીન ગુજરાતી સાહિત્યની એક મહત્વની, માર્ગસૂચક સ્તંભ જેવી ઉત્તમ કાવ્યકૃતિ છે અને સુદીર્ઘ, સવિસ્તાર રૂપકકથા કાવ્યમાં એની તોલે આવે એવી બીજી કોઈ કૃતિ હજી જોવા મળતી નથી.



દેવચન્દ્રજીના આધ્યાત્મિક પત્રો

પ.પૂ. સાધ્વી શ્રી આરતીબાઈ મ.સા.

પત્ર રૂપે લખાયેલી આઠ પૃષ્ઠની ગણિ શ્રી દેવચન્દ્રજીની એક અત્યંત લઘુ રચના છે. તેમાં સૈદ્ધાંતિક પ્રશ્નો તથા મુખ્યાતયા જીવતા શુદ્ધ સ્વરૂપ અને શુદ્ધ તત્ત્વની પ્રાપ્તિનો માર્ગ દેવચન્દ્રજીએ સ્વાનુભવ અને આગમો તેમજ પૂર્વાચાર્યોના ગ્રંથના આધારે પ્રસ્તુત કર્યો છે. દેવચન્દ્રજીએ પોતાની આ લઘુકૃતિને કોઈપણ નામ આપ્યું નથી. કારણ કે પ્રસ્તુત કૃતિ પત્રરૂપે હોવાથી ભિન્ન ભિન્ન સ્થળે અને ભિન્ન ભિન્ન કાલે તે લખાયેલા છે. આ ત્રણે પત્રોમાં આધ્યાત્મ વિષયની વિચારણા થઈ હોવાથી તે આધ્યાત્મિક પત્રોથી ઓળખાય છે.

આધ્યાત્મિક પત્રોનો પ્રેરણાસ્ત્રોત

બે પત્રોમાં પ્રાપ્ત થતાં સંબોધનો પરથી જાણી શકાય છે કે સુરત બંદરમાં સ્થિત જિનાગમતત્ત્વરસિક સુશ્રાવિકા બહેનો જાનકીબાઈ તથા હરખબાઈ વગેરેને લખાયેલા આ પત્રો છે. પરંતુ એક પત્રમાં કોઈ પણ સંબોધન પ્રાપ્ત થતું નથી. પરંતુ નાગકુમાર મકાની લખે છે કે ત્રણે પત્રો જાનકીબાઈ અને હરખબાઈને જ લખાયેલા છે. તે બહેનોએ પૂછાવેલ પ્રશ્નોના પ્રત્યુત્તરરૂપ આ પત્રો લખાયેલા હોય તેમ જોઈ શકાય છે.

સંત પુરુષો હંમેશાં સત્ સ્વરૂપની પ્રાપ્તિ અને શુદ્ધિમાં જ લીન હોય છે. તેથી તેઓની વૃત્તિમાં, પ્રત્યેક પ્રવૃત્તિમાં સત્ સ્વરૂપની વાતો જ પ્રગટ થયા વિના રહેતી નથી. તેઓના ત્રણે પત્રમાં એકાંત શુદ્ધ ધર્મ અને તેની પ્રાપ્તિનો માર્ગ જ પ્રગટ થયો છે.

પ્રથમ પત્રમાં દેવચન્દ્રજીએ સત્સુખનું સ્વરૂપ સમજાવ્યું છે.

શાતા વેદનીય કર્મજન્ય સુખ તે સુખ નથી

દેવચન્દ્રજીએ સત્સુખનું સ્વરૂપ સમજાવતાં પહેલાં શાતાવેદનીય કર્મજન્ય સુખ તે સુખ નથી તે વિષયને પુષ્ટ કર્યો છે. આત્માના અવ્યાબાધ ગુણનો રોધક તે વેદનીય કર્મ. તેના ઉદયથી જીવને શુભ કે અશુભ પુદ્ગલો ભોગ્ય પામે પ્રાપ્ત થાય છે પરંતુ નિશ્ચય નયે આત્મા પુદ્ગલનો અભોક્તા છે. ગમે તેવા શ્રેષ્ઠતમ પુદ્ગલો પ્રાપ્ત થાય પરંતુ આત્મા તેને ભોગવી શકતો નથી. તેથી તજજન્ય સુખ તે પણ આત્માનું નથી.

આત્મા અનંત સ્વગુણ અને પર્યાયનો જ ભોક્તા છે. ભોગાંતરાય કર્મ વડે આત્માનો શુદ્ધ ભોગ

ગુણ આવરિત થયો છે. આંશિકપણે તે કર્મના ક્ષાયોપશમથી વિભાવ પરિણામી આત્મા પુદ્ગલને ભોગવીને સુખ અનુભવું છું તેવી ભ્રાંતિમાં જીવી રહ્યો છે.

સમ્યગ્દર્શનની પ્રાપ્તિ પછી આત્માની દૃષ્ટિ પરિવર્તિત થતાં પૌદ્ગલિક ભાવોને ભોગવવા છતાં હું તેનો ભોક્તા નથી તેવી સ્પષ્ટ સમજણ તેને વર્તે છે. અર્થાત્ સમ્યગ્દર્શન પછી ક્રમશઃ આગળ વધતા પ્રશસ્ત પરિણામની ધારાએ તેનો ભોગ પણ નિર્જરાનો હેતુ થાય છે. ભારમા ગુણસ્થાનના અંતે ભોગાંતરાયકર્મનો સર્વથા નાશ થતાં આત્માનો ભોગ ગુણ શુદ્ધ બને છે. અને તે કેવળીનો આત્મા અનંત સ્વગુણ પર્યાયને ભોગવે છે. તે ભોગ, તે આનંદ સહજ છે, સ્વભાવરૂપ છે, અખંડ છે, કર્મજન્ય નથી.

તે અનંત ભોગનો અનુભવ શુદ્ધ જ્ઞાન દ્વારા થાય છે અને જ્ઞાનનું પ્રવર્તન શુદ્ધ વીર્યના સહકારથી થાય છે. આ રીતે અનંતગુણો પરસ્પર સહકારી બનીને આત્મસુખને ભોગવે છે.

દેવચંદ્રજીએ આ વિષયને વિસ્તારથી સમજાવવાની સાથે ભાવચારિત્રનું સ્વરૂપ સુંદર રીતે સમજાવ્યું છે. દેવચંદ્રજી લખે છે કે જ્ઞાન સ્વપર જ્ઞાયક હોય, પણ સદા આત્મપ્રદેશાવગાહી રહે. ઈર્ણી રીતે સ્વગુણને વિષે ચિરતા, સ્વગુણભોગ આસ્વાદની રમણતા તે ભાવચારિત્ર કહીએ.

સહજ સુખના કથનની સાથે દેવચંદ્રજીએ સાધકો સમક્ષ તે સુખની પ્રાપ્તિનો માર્ગ નિરૂપ્યો છે. સહજ સુખને ઈચ્છતાં સાધકે પોતાનો જીવન વ્યવહાર કેવો રાખવો જોઈએ ? તેના સમાધાનરૂપે દેવચંદ્રજીએ અનાસક્તભાવ અથવા અમોહદશા કેળવી ચાર ભાવનાનું આચરણ કરવું તે ઉપાય નિર્દેશિત કર્યો છે.

જગતના જીવોની ચિત્રવિચિત્ર પરિસ્થિતિમાં સ્વયં સમભાવે કઈ રીતે રહેવું ? દેવચંદ્રજી લખે છે કે સર્વ એકેન્દ્રિયાદિ જીવ પ્રથમ ગુણસ્થાનવર્તી હોય તે ઉપરે માધ્યસ્થ અને કારુણ્ય ભાવનાએ વર્તે સ્વગુણ નિરાવરણ થાતે છતે પ્રમોદ ભાવનાયે વર્તે. સાધર્મી ઉપરે સદા મૈત્રી ભાવના રાખે, સ્વ-પર ઔદયિક સન્મુખ દૃષ્ટિ ન રાખે.

આ જ માર્ગ ત્રૈકાલિક શાશ્વત છે. આમ દેવચંદ્રજીએ સત્સુખ અને તેની પ્રાપ્તિનો માર્ગ નિર્દેશ કર્યો છે.

પત્ર - ૨ માં દેવચંદ્રજીએ ભાવ અહિંસાનું સ્વરૂપ પ્રધાનપણે નિરૂપ્યું છે.

અહિંસાનું સ્વરૂપ

દેવચંદ્રજીએ ભાવ અહિંસાને પ્રાધાન્ય આપી તેનું જ સ્પષ્ટીકરણ કર્યું છે. દેવચંદ્ર કૃત વિચારરત્નસાર પ્રશ્નોત્તરીમાં અહિંસાના ભેદને સમજાવ્યા છે. (૧) સ્વરૂપ અહિંસા - જે જીવ વધ ન કરવો તેનું બીજું

નામ બાહ્ય અહિંસા કે યોગ અહિંસા પણ છે. (૨) હેતુ અહિંસા - તે જ્યાણાએ પ્રવર્તન. છકાય જીવની રક્ષા પ્રવૃત્તિ. (૩) અનુબંધ અહિંસા - તે રાગ દ્વેષાદિ મલિન અધ્યવસાય તીવ્ર વિષય ક્ષાયના પરિણામે હિંસાનો ત્યાગ જેથી ફલ વિપાક રૂપે આકરો કર્મબંધ ન પડે તે. (૪) દ્રવ્ય અહિંસા એટલે અનુપયોગ હિંસાનો ત્યાગ (૫) પરિણામ અહિંસા તે ઉપયોગ પૂર્વક પરિણમીને ઈરાદાથી જે હિંસા કરવી તેનો ત્યાગ ઈત્યાદિ અનેક ભેદ છે.

અહિંસાના આ પાંચે પ્રકાર જોતાં સ્પષ્ટ થાય છે કે હિંસાનું મૂળ છે અનુબંધ હિંસા અર્થાત્ રાગદ્વેષની પરિણતિ જ્યારે હિંસાથી વિરામ પામી અહિંસાને અપનાવવી છે ત્યારે સાધકને માટે અનુબંધ અહિંસા જ તેનામાં પરિવર્તન લાવી શકે છે.

સાધક જ્યારે રાગદ્વેષની પરિણતિથી વિરામ પામતો જાય, અનુબંધ અહિંસાનું આચરણ કરતો જાય તેમ તેમ તેના જીવનમાં સ્વરૂપ અહિંસા, હેતુ અહિંસા આદિ સહેજે પરિણત થાય છે. તેથી જ દેવચંદ્રજી અહિંસાના સ્વરૂપ વિષયક પ્રશ્નના ઉત્તરમાં લખે છે કે અહિંસાના સ્વરૂપ તો પૂર્વે તુમ્હને જમાવ્યા છઈ અને વલી સમજવાં ! મૂલ અહિંસા અનુબંધ હોઈ, તે મધ્યે ઉપયોગીને ભાવથી અને અનુપયોગીને દ્રવ્યથી, તે તો જિણું જે ગુણસ્થાનક તે માફક જાણવી.

આ રીતે દેવચંદ્રજીએ સર્વ પ્રકારે શુદ્ધ ભાવને જ પ્રાધાન્ય આપ્યું છે.

પત્ર નં. ૩ માં દેવચંદ્રજીએ સાધના માર્ગ, આત્માનું દેવતત્ત્વ અને ધર્મતત્ત્વનું સ્વરૂપ સમજાવ્યું છે.

સર્વ જીવ છે સિદ્ધ સમ

શુદ્ધાત્માના સર્વ ગુણો નિરાવરણ છે. અનંતજ્ઞાન, અનંતદર્શન, અનંત સુખ અને અનંત વીર્યરૂપ અનંત ચતુષ્ટયને તે સિદ્ધાત્મા સહજપણે, અકૃતપણે, અખંડપણે ભોગવી રહ્યા છે. જીવનું આ જ શુદ્ધ સ્વરૂપ છે અને તેવું જ સ્વરૂપ સર્વ જીવોનું છે. કારણ કે આત્માના અસંખ્યાત પ્રદેશે અનંત ગુણોનો વ્યાપ વ્યાપકપણે અનાદિ અનંત સંબંધ છે. શુદ્ધાત્મા તે ગુણો આવરણમુક્ત હોવાના કારણે વિકૃતપણે પરિણમે છે. શક્તિની અપેક્ષાએ, સ્વભાવની અપેક્ષાએ સર્વ જીવો સમાન છે.

દેવતત્ત્વ

દેવચંદ્રજી દેવતત્ત્વનું સ્વરૂપ સમજાવતાં કહે છે કે તે શુદ્ધ ધર્મ જેહને સમરણે પ્રગટ્યો તે દેવતત્ત્વ છે. આત્માના અનંત ગુણો જેને પ્રગટપણે વર્તે છે તેવા અનંત ઐશ્વર્યયુક્ત આત્મા તે દેવ છે.

ધર્મતત્ત્વ

‘વત્સુ સહાવો ધમ્મો’ વસ્તુનો સ્વભાવ તે ધર્મ છે. અનંતજ્ઞાનાદિ અનંત શુદ્ધ ગુણો તે આત્માનો સ્વભાવ છે. દેવચંદ્રજી અહીં એકાંત શુદ્ધ ધર્મની જ પ્રરૂપણા કરે છે. તેથી જ તેઓ સ્પષ્ટપણે કહે છે કે જે બાહ્ય પ્રવૃત્તિ યોગની આચરણી તેહને ધર્મ માને તેહના કહ્યા મેં સિદ્ધ તે ધર્મ રહિત થાયે. યોગથી યત્નું કોઈ પણ પ્રકારનું આચરણ તે ધર્મ માનીએ તો તે પ્રકારનો યોગજન્ય ધર્મ સિદ્ધમાં સંભવિત નથી. પરંતુ સિદ્ધો શુદ્ધ અનંતધર્મ મુક્ત છે. તેથી યોગજન્ય શુભ આચરણ તે ધર્મ નથી શુદ્ધ ધર્મને પ્રગટ કરવાનું નિમિત્ત માત્ર છે. દેવચંદ્રજીએ આ વિષયમાં અત્યંત સ્પષ્ટતા કરી છે. શુભાનુષ્ઠાનો પણ ધર્મના નિમિત્ત ત્યારે જ બની શકે જે તેનું આચરણ સ્વરૂપલક્ષી હોય. અન્યથા સંયમ, તપ, શ્રુતાભ્યાસ આદિ દરેક અનુષ્ઠાનો સંસાર-હેતુ જ છે. લક્ષ્ય પ્રત્યેની સતત જાગૃતિ જ સાધકને સાધનામાર્ગમાં વિકાસ પંથે દોરી જાય છે.

સાધના માર્ગ

શુદ્ધ ધર્મનું સ્વરૂપ પ્રગટ કરવા માટે સહજ, આત્યંતિક, એકાંતિક, જ્ઞાનાનંદ ભોગી તેવા શુદ્ધાત્માનું બહુમાન અને ભક્તિભાવપૂર્વક ધ્યાન કરવું. વૈભાવિક પરિણામે પરિણમેલી આત્મશક્તિને શુદ્ધ, નિરંજન, નિરામય એવા પરમાત્મા ગુણાનુયાયી બનાવવા ઉદ્યમવંત બનવું.

વિષય ક્ષાય વર્ધક તેવા અશુદ્ધ નિમિત્તનો સર્વથા ત્યાગ કરી પ્રથસ્ત નિમિત્તવલંબી થવું. દેવચંદ્રજીના શબ્દોમાં જેઈએ તો પૌદ્ગલિક ભાવનો ત્યાગ તે આત્માને સ્વસ્વરૂપ પ્રગટ કરવાને કરવો. એ નિમિત્ત કારણ સાધન છે અને આત્મચેતના આત્મસ્વરૂપાલંબીપણે વરતે તે ઉપાદાન સાધન છે. તે ઉપાદાન શક્તિ પ્રગટ કરવા માટે સિદ્ધ, બુદ્ધ, અવિરુદ્ધ, નિષ્પન્ન, નિર્મલ, અજ, સહજ, અવિનાશી, અપ્રયાસી જ્ઞાનાનંદપૂર્ણ ક્ષાયિક સહજ પારિણામિક રત્નત્રયીનો માત્ર જે પરમાત્મા પરમ એશ્વર્યમય તેહની સેવના કરવી.

પરમાત્મારૂપ નિમિત્તના આલંબને આગળ વધતો સાધક સ્વરૂપાલંબી બને છે. સ્વરૂપાલંબી થવા માટે શુદ્ધાત્માનું આલંબન કૃણદાયક બની શકે છે. સ્વરૂપાલંબી જીવ કમશઃ પુરુષાર્થ કરતો શુદ્ધ સ્વરૂપને પ્રગટ કરે છે. આમ આ પત્ર દ્વારા દેવચંદ્રજીએ સાધનામાર્ગ સાધકો સમક્ષ રજૂ કર્યો છે.

સમાલોચના

દેવચંદ્રજી લિખિત પ્રથમ પત્રનો પ્રારંભ જ અધ્યાત્મ રસિક જીવો માટે આકર્ષક છે. દેવચંદ્રજી લખે છે કે અત્ર વિવહારથી સુખ છે. તુમ્હારા ભાવ સુખશાતાના સમાચાર લિકાય તો લિખજે.

પત્ર લખનારને તો દેવચંદ્રજી શારીરિક સુખાકારી વિષયમાં પણ જાણકારીની જિજ્ઞાસાને સંતોષી છે. તેમ છતાં વિવહારથી શબ્દ પ્રયોગ દ્વારા પત્ર લખનારને પણ ભાવ સુખની સમજણ આપવા જાગે સંકેત કરી રહ્યા હોય તેમ લાગે છે અને તે અનુસાર પત્રમાં પણ ભાવ સુખનો જ વિસ્તાર કર્યો છે અને અંતે પણ ભાવસુખ તો પરિણામની ધારાએ છે. ભાવસુખનું સહજ અને સ્વાવલંબીપણું પ્રગટ કર્યું છે. શાતાવેદનીય કર્મજન્ય સુખનો સુખરૂપે નિષેધ કરીને સહજ સુખ અને સ્વભાવરૂપ ભોગ ઉપર દેવચંદ્રજીએ સુંદર પ્રકાશ પાડ્યો છે.

અહિંસાના સ્વરૂપ નિદર્શન સમયે દેવચંદ્રજીએ ભવપરંપરાનું કારણ અનુબંધ હિંસા હોવાથી તેના ત્યાગરૂપ અનુબંધ અહિંસા તેમજ ભાવ અહિંસાને જ વિશિષ્ટ સ્થાન આપ્યું છે.

જીવનું શુદ્ધ સ્વરૂપ તે જ આત્મધર્મ છે. તે સ્પષ્ટ કરીને આત્મધર્મની પ્રાપ્તિનો રાજ્યમાર્ગ પ્રગટ કર્યો છે. જે સર્વ સાધકોને સાધનામાં સહાયક બની શકે છે. દેવચંદ્રજીએ શુદ્ધધર્મની પ્રાપ્તિનું લક્ષ્ય અને મૈત્રી, પ્રમોદ, કારુણ્ય અને માધ્યસ્થ ભાવના સભર જીવન વ્યવહારનું કથન કરીને નિશ્ચય ને વ્યવહારનો સુયોગ્ય સુમેળ કર્યો છે.

વિષયની પ્રામાણ્યભૂતતા માટે દેવચંદ્રજીએ ભગવતી સૂત્ર, આચારાંગ સૂત્ર, શ્રાધ્ધવિધિ પ્રકરણ, નય રહસ્ય આદિ ગ્રંથોનો આધાર આપ્યો છે.

દેવચંદ્રજીના આધ્યાત્મિક પત્રો પં. ટોડરમલજીની રહસ્યપૂર્ણ ચિઠ્ઠીની જેમ આત્માના શુદ્ધ સ્વરૂપના પ્રગટીકરણમાં કારણભૂત બની શકે તેમ છે. પં. ટોડરમલજીની ચિઠ્ઠી પણ મુલતાન નિવાસી ભાઈઓ (ખાનચંદ, ગંગાધર, શ્રીપાલ અને સિધ્ધારથદાસ) પર લખાયેલી છે. ૧૬ પૃષ્ઠની લઘુકૃતિમાં પંડિતજીએ રહસ્યપૂર્ણ વાતોને ગર્ભિત કરી છે. પંડિત ટોડરમલજી પણ અઢારમી સદીના અર્થાત દેવચંદ્રજીના લગભગ સમકાલીન ઉચ્ચ કોટિના સાધક પુરુષ હતા.

આ પત્રો પરથી કહી શકાય છે કે તે સમયના શ્રાવકો અર્નો શ્રાવિકાબહેનો પણ કેવાં જિજ્ઞાસુ અધ્યાત્મપ્રેમી અને શુદ્ધ તત્ત્વરસિક હશે? જેથી શ્રાવકો દ્રવ્યાનુયોગ જેવા ગહનતમ વિષયમાં આટલો ઊંડો રસ લઈને આ પ્રકારના પ્રશ્નો પૂછી શકે.

પત્રોની શૈલી આજથી ૩૦૦ વર્ષ પહેલાંની છે. તે ઉપરાંત પત્રોમાં લખાયેલી છે. તેથી તે સમયની બોલચાલની ભાષાનો જ પ્રયોગ દેવચંદ્રજીએ કર્યો હોય તે સ્વાભાવિક છે. ત્રણ પત્રોમાં બીજા પત્રની ભાષા અન્ય બે પત્રોથી કંઈક જુદી લાગે છે. પત્રોની પદ્ધતિ અનુસાર દેવચંદ્રજીએ પત્રોમાં શિષ્ટાચારનું પાલન, પ્રશ્નોના પ્રત્યુત્તર અને કોઈક ઉપદેશાત્મક હિત સંદેશાઓ પ્રેષિત કર્યા છે.



શ્રાવક કવિ ઋષભદાસ

ચીમનલાલ એમ. શાહ, 'કલાધર'

મધ્યકાલીન જૈન સાહિત્યમાં જૈન સાધુ કવિઓ ઘણા બધા થયા છે, પરંતુ જૈન ગૃહસ્થ કવિઓ આંગણીના વેદે ગાણાય એટલા અલ્પ છે. સત્તરમા સૈકામાં ખંભાતમાં થયેલા કવિ ઋષભદાસ મધ્યકાલીન ગુજરાત સાહિત્યમાં વિશિષ્ટ સ્થાન ધરાવતા ઉત્તમ સાહિત્ય સર્જક છે. જૈનેતર કવિઓમાં તેમના અનુગામી મહાકવિ પ્રેમાનંદ, શામળ અને અખાની હરોળમાં તેઓ બિરાજે છે. જૈન કવિઓમાં તેમનું સ્થાન તેમના સમકાલીન મહાકવિઓ કવિ નયસુંદર અને કવિ સમયસુંદરની સમકક્ષાએ આવે છે.

કવિ ઋષભદાસ ખંભાતના વીસા પ્રાગ્વંશીય (પોરવાડ) જૈન જ્ઞાતિના હતા. તેમનો જન્મ ખંભાતમાં થયો હતો. તેમના પિતાનું નામ સાંગણ અને માતાનું નામ સરૂપાદે હતું. કવિએ રચેલ 'ભરત બાહુબલી રાસ'માં તેમની માતાને ભક્તિ ભાવથી વંદન કરતાં કવિ લખે છે : 'જનની સરૂપાદેને શિરનામી, જોડ્યો ભરતનો રાસ રે.' તેમના પિતામહ-દાદાજીનું નામ મહીરાજ હતું. મહીરાજ વિસલદેવ ચાવડાએ સં. ૧૦૬૪માં વસાવેલ વિસલનગર (વિસનગર)ના વતની હતા. મહીરાજે છ રી પાલિત સંઘ કાઢી શત્રુંજય, ગિરનાર, જુનાગઢ, આબુ અને દેલવાડાની જાત્રા કરી હતી અને સંઘવીનું બિરૂદ પામ્યા હતા. કવિના પિતા સાંગણે પણ જૈન તીર્થોનો પદયાત્રા સંઘ કાઢીને પોતાના પિતાને અનુસર્યા હતા. કવિના પિતા સાંગણ ધંધાર્થે ખંભાત આવી વસ્યા હતા. ત્યાં તેમણે વેપારમાં ઘણી બધી સિદ્ધિ અને સંપત્તિ મેળવી હતી.

કવિ ઋષભદાસે ૩૫ જેટલી મોટી પદ્યકૃતિઓ અને ૪૦૦ જેટલાં ઉર્મિગીતો, સ્તવનો, સજ્જાયો અને થોથો (સ્તુતિ) આદિનું વિપુલ સાહિત્ય સર્જ્યું છે.

કવિ ઋષભદાસ ખંભાતના વતની હોવાથી તેમણે પોતાના વતન ખંભાતનું વાર્ગન પોતાની કૃતિમાં સચોટ રીતે કર્યું છે. તે પરથી સત્તરમી સદીમાં ખંભાતની અને ગુજરાતની જનસ્થિતિ, રાજસ્થિતિ, લોકોનો પહેરવેશ, રીતરિવાજ વગેરે પર પ્રકાશ પડે છે. ખંભાતના એ સમયે ખંભનગર, ઋષભનગર, ત્રંબાવતી, ભોગાવતી, લીલાવતી, કર્ણાવતી એમ જુદાં જુદાં નામ કવિએ પોતાની કૃતિઓમાં ઉલેખ્યા છે. ખંભાતમાં રહીને કવિએ પોતાની કૃતિઓની રચના કરી હતી. એટલે તેમાંથી સત્તરમા શતકના પૂર્વાધિના ખંભાતનું એટલે કે બાદશાહ જહાંગીર અને શાહજહાંના સમયના ખંભાતનું વાર્ગન મળી આવે છે. તેમણે ઋષભદેવ રાસમાં લખ્યું છે :

નગર ત્રંભાવતી અત્ય હઈ છઈ સારી, ઈન્દ્ર જસ્યા નર પદ્મની નારી;
વાહણ વખાર્ય નર બહુ વ્યાપારી, સાયર લહેર સોભત જય વારી,
તપનત્તર પોલીઈ કોટ દરવાજા, સાહાં જહાંગીર જસ નગરનો રાજા;
પ્રાસાદ પચાસીઅ અતિહિં ઘંટાલા, જ્યાંહા બિતાલીશ પૌષધશાળા;
અસ્થુ ત્રંભાવતી બહુઅ જનવાસે, ત્યાંહાં મિં જ્ઞેડીઓ રીષભનો રાસો.

“ત્રંભાવતી (ખંભાત) નગરી ઘણી સારી છે. ત્યાં ઈન્દ્ર જેવા પુરુષો અને પદ્મિની જેવી સ્ત્રીઓ વસે છે. ત્યાં ઘણાં વહાણો અને વખારો છે. ઘણાં વેપારીઓ ત્યાં વસે છે. અહીં સમુદ્રની લહેરો આવે છે અને તેનું પાણી શોભી રહ્યું છે. નગરમાં ત્રણ દરવાજા (જે આજે પણ મોજુદ છે.), નગરને ફરતો કોટ અને ઘણા દરવાજા છે. તેનો બાદશાહ જહાંગીર છે. ત્યાં પંચાશી ઊંચા જિનમંદિરો-પ્રાસાદો અને બેતાલીશ પૌષધશાળાઓ-ઉપાશ્રયો છે. આવા ખંભાતનગરમાં ઘણી વસતી છે; જ્યાં મેં આ રાસની રચના કરી છે.”

કવિ ઋષભદાસે રચેલ હિતશિક્ષારાસ (૧૬૨૬) મલ્લિનાથરાસ (૧૬૨૯) અને હીરવિજયસૂરિરાસ (૧૬૨૯)માં ખંભાતનું વિસ્તૃત વર્ણન આવે છે. આ ઉપરાંત શ્રેણિકરાસ (૧૬૮૨) અને ભરત બાહુબલીરાસ (૧૬૨૨)માં પણ ખંભાતનું હુબહુ વર્ણન જેવા મળે છે.

ધર્મભાવનાને વરેલા સંઘવી સાંગણ અને માતા સરૂપાદેના પુત્ર કવિ ઋષભદાસ પોતે અહંદભકત અને ક્રિયાશીલ શ્રાવક હતા. હીરવિજયસૂરિ રાસમાં જણાવ્યા પ્રમાણે તેમણે પણ

શેત્રુંજ્ય ગિરનારી સંઘેસર યાત્રો; સુલશ્યા ભણાવ્યા બહુ છાત્રો.

શત્રુંજ્ય, ગિરનાર, શંખેશ્વર આદિ તીર્થોની યાત્રા કવિએ કરી હતી. ઘણાં હોશિયાર વિદ્યાર્થીઓને ભણાવ્યા હતા. તેમને સંસ્કૃત, પ્રાકૃત આદિ સાહિત્યનું પણ સારું જ્ઞાન હતું. આમ કવિ એક બહુશ્રુત, શાસ્ત્રાભ્યાસી અને સંસ્કારી વિભૂતિ હતા. પોતાના ઉત્તમ આચાર વિચારથી તેમણે જૈન સાધુઓ અને શ્રાવકોમાં ભારે ચાહના મેળવી હતી. પોતાને એક પરમ શ્રાવક તરીકે ઓળખાવવામાં તેઓ ગૌરવ માનતા અને જૈનધર્મ પ્રમાણે શ્રાવકના આચારને યુક્તપણે પાળતા. તેઓ રોજ સાધુ ભગવંતોને વંદન, જિનપૂજા, વ્યાખ્યાન શ્રવણ, સ્વાધ્યાય આદિ ધાર્મિક ક્રિયાઓ કરતા. હિતશિક્ષારાસમાં કવિ જણાવે છે :

સંઘવી સાંગણનો સુત વારું ધર્મ આરાધતો શક્તિ જ સારું,
ઋષભકવિ તસ નામ કહાવે, પ્રહ ઉઠી ગુણ વીરના ગાવે,
સમજ્યો શાસ્ત્ર તણાં વિચારો, સમક્તિ શું વ્રત પાલતો બારો,
પ્રહ ઉઠી પડિક્કમાણું કરતો, બેઆસાણું વ્રત તે અંગે ધરતો,
ચઉંદે નિયમ સંભારી સંક્ષેપુ, વીરવચન રસે અંગે મુજ લેપુ,
નિત્ય દશ દેરાં જન તણાં જુહારું, અક્ષત મૂકી નિત આતમ તારું,

આઠમ પાખી પૌષધમાંહી, દિવસ અતિ સજ્જાય કરું ત્યાંહિ,
 વીરવચન સુગી મનમાં ભેટું, પ્રાયે વનરૂપતિ નવિ ચૂટું.
 મૃષા અદન્ન પ્રાય નહિ પાપ, શીલ પાલુ મનવચકાય આપ,
 પાપ પરિશ્રદે ન મિલું માંહિ, દિશ તાણું માન ધરું મનમાંહિ,
 અભક્ષ્ય બાવીશને કર્માદાન, પ્રાયે ન જાયે ત્યાં મુજ ધ્યાન,
 અનરથ દંડ ટાલુ હું આપ, શાસ્ત્રાદિકનાં નહિ મુજ પાપ.

કવિ ઋષભદાસના દાદા અને પિતાએ સંઘ કાઢેલો એટલે ઋષભદાસની પણ સંઘવી અટક પડેલી જાણાય છે. સંઘપતિ તિલક ભલું જ ધરાવું - એવો મનોરથ તે ધરાવતા તે ઉપરથી મહેચ્છા છતાં પોતે સંઘ કાઢ્યો નહીં હોય તેમ જાણાય છે. આમ છતાં કવિ ઋષભદાસ એક શ્રીમંત ગૃહસ્થ હતા અને તેમને શીલવતી તેમજ સુલક્ષણા પત્ની, બહેન, ભાઈની જોડ અને એકથી વધારે બાળકો હતા. તેમને ઘરે ગાય-ભેંસ દૂઝતી હતી અને લક્ષ્મી પણ તેમના ઉપર પ્રસન્ન હતી. એટલે કે પૈસે ટકે તે સુખી હતા. તેમનું કુટુંબ બહોળું-મોટું અને સંપીલું હતું. તેઓ ધાર્મિક જીવન ગાળતા અને સર્વ વાતે સુખી હતા. તેમના પુત્રો વિનયી હતા. તેમને ઘેર ઘોડા, ગાય, ભેંસ, બળદ, ઘણાં ગાડાં તેમજ વહેલો (રથ) હતી. અને લોકોમાં કવિની સારી પ્રતિષ્ઠા હતી. રાજદરબારમાં તેમનું સાદું માન હતું. તેમનું મકાન સ્વચ્છ સ્થળે સારા લત્તામાં હતું અને ઘણા લોકો તેમના તરફથી ઘણી આશાઓ સેવતા હતા. તે ઘણા લોકો ઉપર ઉપકાર પણ કરતા અને સુખમાં દિવસો પસાર કરતા હતા. આ સઘળી બીના તેમણે વ્રતવિચારરાસ, કુમારપાલરાસ, હિતશિક્ષારાસ અને હીરવિજયસૂરિરાસમાં સ્પષ્ટ જાણાવી છે.

કવિના વતન ખંભાતની માફક કવિના ધર્મગુરુઓ વિશે પણ સઘળી માહિતી કવિની વિવિધ કૃતિઓમાંથી મળી આવે છે. કવિ તપગચ્છના મૂર્તિપૂજક શ્વેતામ્બર વીસા પોરવાડ જૈન વણિક હતા. તેમના સમયમાં તે ગચ્છની પટમી પાટ્ટે સમ્રાટ-અકબર પ્રતિબોધક હીરવિજયસૂરિ હતા. તેમનો સ્વર્ગવાસ સં. ૧૬૫૨ (સન. ૧૫૯૬) માં થયો હતો. તે સમયે કવિની ઉંમર ૨૧ વરસની ગણી શકાય. ત્યારબાદ અકબર બાદશાહ પાસેથી સવાઈ જગદ્ગુરુનું બિરુદ મેળવનાર તેમના પટ્ટધર વિજયસેનસૂરિ થયા. જેમને કવિએ પોતાના ગુરુ તરીકે સ્વીકારી પોતાની કૃતિઓમાં અનેક સ્થળે સ્તવ્યા છે. નેમિનાથ રાજમતી સ્તવનમાં તેમણે કહ્યું છે :

તપગચ્છ મુનિવર સયલ સુખકર શ્રી વિજયસેનસૂરિસરો;

તસતાણો શ્રાવક ઋષભ બોલે, યુણ્યો નેમિજિનેશ્વરો.

વિજયસેનસૂરિ પાસે ઋષભદાસે વિદ્યાભ્યાસ કર્યો હતો. એક દિવસ વિજયસેનસૂરિએ પોતાના કોઈ એક શિષ્ય સાદું સરસ્વતીદેવીને પ્રસન્ન કરી પ્રસાદ (લાડુ) મેળવ્યો હતો મેળવી તે રાત્રે ઉપાશ્રયમાં

સૂઈ રહેલા ઋષભદાસના જાણવામાં એ વાત આવી. સવારે એમણે ગુરૂને પ્રસન્ન કરી તે પ્રસાદ પોતે જ મેળવી લીધો અને તે મહાવિદ્વાન થયા. આ દંતકથા બાજુમાં રાખીએ તો પણ એટલી વાત તો સત્ય છે કે કવિ પોતાની દરેક કૃતિમાં સરસ્વતીમાતાની ભાવપૂર્વક સ્તુતિ કરી તેનો ઋણ સ્વીકાર કરે છે. ઋષભદેવ રાસમાં કવિ કહે છે :

સરસતિ ભગવતિ ભારતી, બ્રહ્માણી કરિ સાર,
વાગેશ્વરી વદનિ રમિ, જિમ હુઈ જ્યજ્યકાર;
બ્રહ્મસુતા તું સારદા, બ્રહ્મવાદિની નામ,
વાણી વચન દીઉં અસ્યા, જ્યમ હોય વંછ્યું કામ.

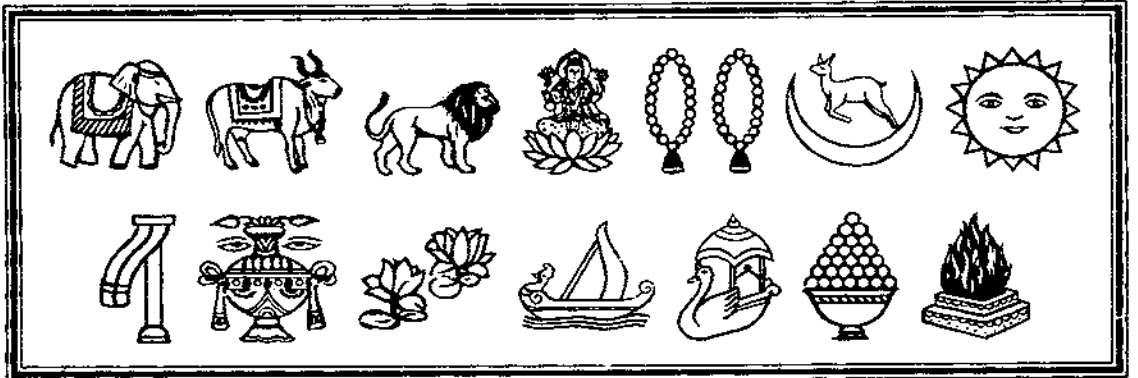
કવિ ઋષભદાસે ૩૪ જેટલા રાસ અને ૫૮ જેટલા સ્તવનની રચના કરી હતી. અત્યાર સુધીની શોધખોળના પરિણામે કવિની ચાલીશકે રચનાઓ પ્રકાશમાં આવી છે તે આ મુજબ છે (૧) ઋષભદેવ રાસ (૨) વ્રતવિચાર રાસ (૩) સ્થૂલભદ્ર રાસ (૪) સુમિત્રરાજર્ષિરાસ (૫) કુમારપાલ રાસ (૬) નવતત્ત્વરાસ (૭) જીવ વિચારરાસ (૮) અજકુમારરાસ (૯) ભરત બાહુબલીરાસ (૧૦) સમકીતસારરાસ (૧૧) ક્ષેત્રસમાસરાસ (૧૨) ઉપદેશમાલા રાસ (૧૩) હિતશિક્ષારાસ (૧૪) પૂજાવિધિરાસ (૧૫) જીવંતસ્વામી રાસ (૧૬) શ્રેણિકરાસ (૧૭) કવચન્નારાસ (૧૮) હીરવિજયસૂરિના બાર બોલનો રાસ (૧૯) મલ્લિનાથ રાસ (૨૦) હીરવિજયસૂરિરાસ (૨૧) વીસસ્થાનક તથા રાસ (૨૨) અભયકુમાર રાસ (૨૩) રોહિણિઆ રાસ (૨૪) સમર્થસરૂપ રાસ (૨૫) દેવગુરુસ્વરૂપરાસ (૨૬) કુમારપાલનો નાનો રાસ (૨૭) શ્રાદ્ધવિધિ રાસ (૨૮) આર્દ્રકુમાર રાસ (૨૯) પુણ્યપ્રશંસારાસ (૩૦) વીરસેનનો રાસ (૩૧) શત્રુંજયરાસ (૩૨) શીલશિક્ષારાસ.

કવિની રાસ કૃતિઓ ઉપરાંત બીજી નાની સાહિત્યકૃતિઓ આ પ્રમાણે છે : (૧) નેમિનાથ નવરસો (૨) આદિનાથ આલોચન સ્તવન (૩) આદિનાથ વિવાહલો (૪) બારઆરા સ્તવન (૫) ચોવિસ જિન નમસ્કાર (૬) તીર્થકર ચોવીસના કવિત (૭) મહાવીર નમસ્કાર. આ ઉપરાંત કવિએ ૩૩ બીજાં સ્તવનો, ૩૨ નમસ્કાર, ૪૨ શ્લોકો, ૪૦૦ સુભાષિતો, ૪૧ ગીત, ૫ હરિયાણી, કેટલીક બોધપ્રદ સંજ્ઞાઓ વગેરેની રચના કરેલી છે.

કવિ ઋષભદાસના જન્મ અને મૃત્યુ વિશે ખાસ કોઈ માહિતી ઉપલબ્ધ થતી નથી. કવિ ઋષભદાસની પ્રથમ અને છેલ્લી કૃતિઓની રચના સાલ જ તેમનો જીવનકાલ નક્કી કરવામાં સહાયરૂપ બને છે. ઉત્કૃષ્ટ મધ્યકાલીન સાહિત્યકૃતિ તરીકે જેની ગણના કરી શકાય તેવી કવિની પ્રથમ સાહિત્ય કૃતિ ઋષભદેવરાસ સં. ૧૬૬૨માં એટલે કે ઈ.સ. ૧૬૦૬માં રચાયેલી કૃતિ છે. પરંતુ રચના સાલના ઉલ્લેખ વિનાની કવિની બીજી નવેક કૃતિઓમાંથી બે કે ત્રણ કૃતિઓ ઋષભદેવરાસ પહેલા રચાઈ હોવાનો સંભવ છે. આ વસ્તુને ધ્યાનમાં રાખતા કવિની સાહિત્ય પ્રવૃત્તિ આશરે સં. ૧૬૦૧ થી એટલે સત્તરમી સદીની શરૂઆતથી જ ગણી શકાય. આ જોતાં કવિ નયસુંદરના કવનકાળના અંતભાગમાં

અને કવિ સમયસુંદરના કવનકાળની લગભગ સાથોસાથ કવિ ઋષભદાસનો કવનકાળ શરૂ થાય છે. હવે બાલ્યકાળ, અભ્યાસ, સાહિત્ય વાંચન અને પરિપક્વતા માટે તેમના જીવનનાં ૨૫ વર્ષ અનામત રાખીએ તો તેમની સાહિત્ય પ્રવૃત્તિની શરૂઆત સમયે એટલે સં. ૧૬૦૧મા તેમની ઉંમર આશરે ૨૬ વર્ષની ગણી શકાય. અને એ હિસાબે તેમનો જન્મ સને ૧૫૭૫ આસપાસ મૂકી શકાય. આ જોતાં તેમનો જન્મ નયસુંદર પછી ૨૩ વર્ષે અને સમયસુંદર પછી ૨૧ વર્ષે થયેલો ગણાય. હવે રચના સાલ હોય એવી કવિની ૨૪ કૃતિઓમાંથી છેલ્લી કૃતિ રોહિણિયા રાસ સં. ૧૬૮૮ (ઈ.સ. ૧૬૩૨)માં રચાયેલી છે. અને ત્યારપછી પણ કવિએ બીજી એકાદ બે કૃતિઓ રચી હોવાનો સંભવ છે. એટલે તેમની સાહિત્ય પ્રવૃત્તિ લગભગ સન ૧૬૩૪ સુધી ચાલુ ગણી તેમનું મૃત્યું વહેલામાં વહેલું સન ૧૬૩૫ આસપાસ મૂકી શકાય. કવિ ઋષભદાસનો સ્વર્ગવાસ નયસુંદરના સ્વર્ગવાસ પછી અને સમયસુંદરના સ્વર્ગવાસ પહેલા થયેલો ગણી શકાય. આ ગણતરીએ ચાલીએ તો તેમના જીવનની પૂર્વ મર્યાદા ઈ.સ. ૧૫૭૫ અને ઉત્તર મર્યાદા ઈ.સ. ૧૬૩૫ની લેખતા તેમનો ઓછામાં ઓછો જીવનકાળ ૬૦ વર્ષનો અને કવનકાળ સન ૧૬૦૧ થી ૧૬૩૪ સુધીનો એટલે ૩૪ વર્ષનો ગણી શકાય.

કવિ ઋષભદાસની કૃતિઓમાં ઉચ્ચ પ્રકારની કવિત્વશક્તિ અને વિશિષ્ટ પ્રતિભાનાં દર્શન થાય છે. ઋષભદાસ ગૃહસ્થ કવિ હોવાથી તેમની ભાષા સાધુકવિઓની જેમ રૂઢિચુસ્ત નહિ પણ અર્વાચીન જણાય છે. કવિની થોયો, સ્તવનો, સજ્જાયો વગેરેનો ઉપયોગ આજે પણ જૈન ગૃહસ્થો અને સાધુઓ ભાવપૂર્વક કરે છે એ કવિ ઋષભદાસની લોકપ્રિયતા દર્શાવે છે. આજે લગભગ પોણાચારસો વર્ષ બાદ પણ જૈનો એ સાધુચરિત કવિને ભક્તિપૂર્વક યાદ કરે છે એ જ એમની ઉત્કૃષ્ટ સર્જક શક્તિનો પરિચય આપે છે. આમ મધ્યકાલીન ગુજરાતી સાહિત્યમાં પોતાનું વિપુલ અને વિશિષ્ટ સાહિત્ય પ્રદાન કરનાર કવિ ઋષભદાસ ગૌરવ લેવા જેવા આપણા સર્જક છે.





शताब्दीनायक न्यायांभोनिधिश्रीविजयानन्दस्मृति

श्री आत्मारामजी महाराज.

An Humble Homage

*When the high heart we magnify and Sure
Vision Celebrate Worship Greatness Passing
by Ourselves are great*

John Drinkwater



A Brief Life Of Atma Ramji Maharaj

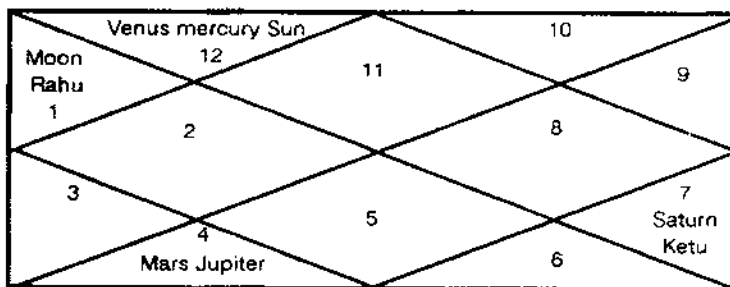
□ S.P.Jain

Nineteenth century witnessed the complete stranglehold of British rule over India. The first attempt at independence in 1857 described by the rulers as mutiny, had flopped miserably. The company rule was over and now India had become a part of the mighty British empire under Queen Victoria. Having thus failed in the political field, a period of introspection followed and attention was naturally focussed on matters in the socio-religious sphere. Bengal spear-headed the process of intellectual fermentation and social reforms. Raja Ram Mohan Roy raised his voice against the evil of 'sati' system and child marriage. Ishwara Chandra Vidyasagar pleaded for widow re-marriage and spread of education among the Indians. Swami Dayanand Saraswati sought to interpret the Vedas and give a new meaning to Hindu religion, which he thought was ridden with superstition and muddled thinking. He inspired people to have faith in the ancient Hindu religion and tried to restore it to its pristine glory. Bhartendu Harish Chandra, in the literary field, was lamenting the evil days and evil tongues on which India had fallen. Under the blessings of Swami Ram Krishan Paramhans, Swami Vivekanand was to disseminate the message of Hinduism in the foreign lands as well as in India. Sir Syed Ahmed Khan, at the same time, was trying to raise the Muslim community into a new awakening and strike a compromise with the present circumstances. No wonder that in these circumstances, in the renaissance of India, Jainism too did not lag behind. Shri Atmaramji maharaj appeared

on the scene and worked for the uplift of Jain religion. In fact he was to Jainism what Swami Dayanand Saraswati was to Hinduism. He perceived the deterioration and degeneration which had set in amongst the Jains, who were looked down upon as dirty atheist. They had forgotten their rich heritage and their deserted shrines stood a mute testimony to the heights which Jainism had attained in the past. The 'Yatis' and the 'Poojis', the spiritual leaders of Jains, had fallen from their high pedestal and taken to worldly pleasures and yet tried to force their supremacy in matters social and religious, on the laity. Shri Atmaramji Maharaj could not compromise with the prevailing set-up, which was not based upon the 'Aagams', or the authoritative Jain scriptures. The worshipper of the truth as he was, he tried to set things right, and raised a banner of revolt against darkness of ignorance. Naturally, he had to face stiff opposition from the superstitious and the die-hard conservatives. But he braved the storm cheerfully, and starting single handedly, slowly and gradually, brought the ship of Jainism on an even keel. It was indeed a misfortune that he did not live long enough to fully complete the mission that he had undertaken, and his dream remained unrealised. His passing away centenary is being celebrated in the year 1996, and this occasion should inspire his followers to finish the work which he left un-finished. That would be the best and constructive homage to the memory of a great and noble saint.

BIRTH & PARENTAGE

Shri Atmaramji Maharaj was born at a small village named Lehra which is situated at a distance of about 2 miles from Zira in Ferozepur District of Punjab on first bright half of the month Chaitra in Vikram Samvat 1894. His horoscope is given below :



The name of his mother was Rupa Devi and his father's name was

Ganesh Chand. It is known that the ancestral village of Shri Ganesh Chand was Kalash near Pind Dadan Khan (now in Pakistan). Shri Ganesh Chand held a respectable post in the army of Maharaja Ranjeet Singh and is said to have been posted at Hari-ke-pattan, the confluence of the two rivers Sutlej and Bias, with one thousand men under his command. Later on, it appears, he gave up his job and we find him in indigent circumstances. The cause of this change is not fully known, but the general belief held is that this change was brought about by one Shri Attar Singh Sodhi. It happened like this. Shri Ganesh Chand and Shri Attar Singh Sodhi were friends and the latter used to frequent the house of Shri Ganesh Chand. When Shri Atmaramji was still a child, Shri Attar Singh studied his body features and had a prognostication that this child would become a great man in future. As Shri Sodhi was without an issue, he requested Shri Ganesh Chand to give Atmaramji to him for adoption. This request was turned down by Shri Ganesh Chand and so the two fell out. As Shri Attar Singh Sodhi was a powerful man having an access to the powers that be, he managed to implicate Shri Ganesh Chand in dacoity cases, got him declared an out-law, and had him imprisoned. But he did not succeed in getting Shri Atmaram. Shri Ganesh Chand could well foresee the bitter consequences, which the enmity of Shri Sodhi would entail, and so he entrusted Shri Atmaram to Shri Jodhamal an Oswal of Zira, who was well known to him. Shri Jodhamal proved a friend indeed and undertook to bring up Shri Atmaramji as one of his own sons and so at the young age of 12, Shri Atmaramji came to Zira, under the loving care of Shri Jodhamal. It remains to be added that Shri Ganesh Chand was not Jain. He was Khatri of Kapur clan. But as Shri Jodhamal was a Jain, Shri Atmaramji was naturally influenced by Jainism and so when the time came, he took up Jain Diksha i.e. renunciation of the world as is done by Jain monks.

BOYHOOD

It appears that Shri Atmaramji did not get regular schooling in the sense it is understood now-a-days. But he was a precocious boy with good health. He could easily draw pictures and maps on the ground as is borne out by the following incidents. Playing cards were new in those days at Zira and Shri Atmaramji prepared a pack of cards himself and used to play with his friends. Once when they were doing so, an English soldier

happened to pass by the way and on seeing the playing cards, he asked for the pack. Shri Atmaramji willingly gave it away to the soldier. When the friends remonstrated, he said that he would easily prepare another one and he kept his promise. Similarly, one day he drew the map of his house with Shri Jodhamal and other members of the family having been shown into Shri Jodhamal saw this and was glad and commended Shri Atmaramji. Another incident worth relating is that once he saw a Muslim woman drowning with her babe in a water stream. Shri Atmaramji immediately jumped into the water and saved the lives of both of them. But for these stray incidents, not much is known about his boyhood, but naturally it cannot be anymore eventful when we remember that he renounced the world at the young age of 16 only. It can therefore well be inferred that he must have had a religious bent of mind and must have frequented the Jain monks alongwith his benefactor Shri Jodhamalji. These Jain monks belonged to 'dhundia' sect, which is now-a-days known as 'sthankakvasi' sect. There are two opinions about the name 'dhundia' : one is that the founder of this sect Shri Loveji Maharaj was ousted by the Jain community for his heretic views and was denied shelter. Accordingly, Loveji started dwelling in a dilapidated house which in the local dialect of Kathiawar is known as 'dhund' and hence the sect itself came to be known as 'dhundia'. The other is that this sect is engaged in the search of truth from different sources, and searching in popular language is connoted by the verb 'dhundna' and hence the name of the sect. However, the teachings of the Jain monks of the 'dhundia' sect did have a deep influence on the mind of Shri Atmaramji Maharaj and he showed his desire to be initiated into the order of the Jain monks. Shri Jodhamal naturally tried to dissuade him from doing so and also sought the help of his mother Rupa Devi, but Shri Atmaramji was firm in his determination. As such the permission had to be given. It may be mentioned here that Jainism allows a child or boy or girl to be initiated into the monkhood, but the willing permission of the concerned relatives is essential. And so Shri Atmaramji Maharaj was duly initiated as a disciple of Shri Jeewan Ramji Maharaj at Malerkotla in Vikram Samvat 1910 at the young age of sixteen.

LIFE OF JAIN MONK

Life of a Jain monk is not a bed of roses. It is a rigorously disciplined life with no room for comfort at all. A Jain monk is strictly

prohibited from owning any wealth or property. In fact he is not allowed to even touch money. He has to beg alms-only food and meagre clothing. For his daily food, he has to visit more than one house so that he takes only a very small quantity of food from an individual house. This is known as 'Gochri' which means that just as a cow takes a mouthful of grass here and a mouthful there so that no one single spot is grazed out, similarly a monk has to take a mouthful of food from different houses. A monk cannot keep food for the morrow and so he begs only for the requirement of a day. A Jain monk cannot indulge in the luxury of shaving and bathing etc. He has to pluck out the hair all by himself. He has to observe 'pratikraman' in the morning as well as in The Evening A 'Pratikraman' means that he obstructs the entry of sinful deeds into himself and throws out whatever sins he may have committed knowingly or unknowingly during the day and night. Besides this he has to undergo penance frequently i.e. keep fast because fasting curbs desire and keeps the body and mind in strict discipline. Jain monks can go without food for days together. A Jain monk has also to study scriptures as well as teach them to younger monks and preach the tenets of Jainism to laymen. They cannot pass their time in gossiping. All the time they observe 'samayak' i.e. inculcating a sense of equality of all living beings and respect for them and their rights. They cannot stay at one place for a long time. They have to be on the move regularly to spread the gospel of Jainism except during the four months of rainy season. This long stay of 4 months is known as 'chaturmas' and is utilised for intensive studies, hard penance, and inspiring the lay men into leading a religious life. As soon as the period of 'chaturmas' is over, the monks have to leave the place for another one. Of course, they have to travel on foot and are not allowed to ride a carriage or bus or train, as they have no money. They have to remain celibate and keep no possessions except for a few wooden utensils which they have to carry themselves. Shri Atmaramji must have known all this and hence willingly observed the rules of monkhood. But he was far ahead of others in the matter of study of Jain scriptures. He had a sharp intellect and is said to commit to memory even one hundred 'slokas' (sanskrit/prakrit, couplets) a day. In fact, we find him thirsty for knowledge and trying to obtain it from whatever sources he could. Only profound knowledge can show one the path of truth and Shri Atmaramji Maharaj was a devotee of truth.

THE DECISIVE DECADE

Jain philosophy gives the highest importance to knowledge. The attribute of the pure soul is knowledge. When a man after shedding his 'karma' attains the highest degree of emancipation, he acquires what in Jain terminology is known as 'Kewal Gnan'. The daily prayer of all Jains is known as 'Navkar Mantra' and in this prayer obeisance is paid to Arihant & Siddha who have attained Kewal Gnan, to Acharya who is the repository of knowledge, to Upadhyaya who disseminates knowledge and to the Sadhu who constantly endeavours to acquire knowledge. It will be clear from this that according to Jain philosophy, homage is paid to who so ever possesses highest knowledge irrespective of the fact whether he is a Jain or not. That is why, this prayer does not contain the name of any Tirthanker individually, although Jains believe in and worship 24 Tirthankers who attained the highest degree of knowledge. Shri Atmaramji Maharaj very well knew this and therefore the first task he set before himself, after renouncing the world, was to acquire knowledge. He tapped all the sources from where he could get knowledge, irrespective of the fact whether the teacher was a Jain monk or Jain layman. He was swayed by a burning desire to know things so that his mind opens up and he no longer remains the proverbial frog of the well. For ten long years, we find him immersed in studies, learning from great masters as well as teaching to younger ones. In fact a glimpse on his life during the first ten years of his taking the orders is an open castigation on those Jain monks who, after studying a couple of Jain scriptures, stop studying further on the pretext that they remain busy in the observance of rituals prescribed for Jain monks. Such monks not only delude themselves but they also delude the society because the Jain philosophy lays stress on the purification of the soul which is something inner and not outer. Having no bondage of the family and the worldly possessions and not burdened by the care of the daily creature requirements, Jain monks are in the ideal situation for the pursuit of knowledge. From this angle, Upashryas (shlter for the Jain monks) should become the centres of research and seats of highest learning, each monk specialising in one or the other branch of knowledge. Then and then only will they justify their existence and earn the respect of one and all. When we look at the yearning of knowledge of Shri Atmaramji Maharaj, our heart is filled with admiration for him and we begin to feel that

had he lived a bit longer, he would have formulated a strict code of learning for every one and he himself becoming a living example. But that was not to be. One can only wish at this juncture that Jain community will make a serious attempt to fulfil the dream he saw.

So the decade, starting from Vikram Samvat 1910 when Shri Atmaramji renounced the world to Vikram Samvat 1920, had a profound influence on his life. It was during this period that he studied the Jain scriptures and went from place to place to learn from scholars, whether monks or otherwise. The four month rainy period was especially made use of by him for study of a particular book. As his initiator Shri Jeewan Ramji was not a scholar, he took lessons from others. He studied 'Uttra dhyam sutra' from one Shri Kashi Ram, who was not a monk and in his first 'chaturmas' at Ranian-Sirsa, he completed its study with the help of Rup Rishiji. For studying 'Uvwai Oppatik sutra', he went to Shri Rud Mal, a Jain monk. After this, he went to Jaipur to study 'Acharanga Sutra' from a famous Jain monk Ami Chandji, who was well known for his scholarship. From Jaipur, he went to Ajmer and there also studied many Jain scriptures. To study 'Anuyogdwar sutra', he went to Nagaur to meet Shri Hans Raj, who was a Jain shravak. Again he made for Jaipur to meet Patwa Vaidya Nath, who was a Jain scholar, and learnt many books from him. Once again he went to Nagaur to study 'Suyadang', 'Prashana Vyakaran', 'Pannavna' 'Jeevabhigam' etc. By this time, he had mastered 'Dashvai Kalak', 'Utttradhyam', 'Sutra Kritang' 'Sthanang', 'Anuyogdwar', 'Nandi', 'Aavashyak' & 'Brihat Kalp', and committed to memory ten thousand 'slokas' or couplets. Having met different scholars and mastering all the important scriptures, Shri Atmaramji made a niche for himself. But he was not a person to rest on oars. Study of these scriptures had whetted his appetite for more knowledge. By this time, he realised that he had omitted one very important study i.e. grammar, without which it is difficult to make out the correct meaning for oneself, and has to depend upon others' interpretation. Different interpretations by different scholars give rise to confusion and one becomes doubt-ridden which meaning to accept and which to reject. Now Shri Atmaramji got interested in knowing the true meaning and finally accepting it. Blind faith was giving room to enlightened faith. He had also looked at the temples and Jains worshipping there and this had naturally raised a question in his mind whether that path represents the ancient Jain religion or the sect in

which he was initiated where going to temple is a taboo. Truth must be known but how? Study of grammar was a help and so he remained on the look out for the study of grammar. An opporounity presented itself at Ropar, where he went to learn from a scholar named Shri Sadanand. This study opened the flood gates of critical evaluation of any book. Now he could study not only Jain scriptures, but non-Jain holy books too and thus a compartive study of different philosophies could help him arrive at the truth.

TURNING POINT

In his quest for truth, Shri Atmaramji Maharaj made for Agra where he wanted to meet a very scholarly Jain monk named Shri Ratan Chhandji and discuss with him a number of points which had sown the seeds of doubt in his mind. He sought him out particularly because Shri Ratan Chandji was also known for his liberal views and unprejudiced thinking. In order to have ample time for discussion and clarification, Shri Atmaramji Maharaj arranged to have his rainy season stay of four months at Agra in Vikram Samvat 1920. This Chaturmas proved a land-mark in his religious career. As already mentioned, Shri Atmaramji Maharaj was initiated in monkhood in the then prevalent Dhundia sect of Jainism. The founder of this sect was a layman by the name of Lonkaji, who, under the influence of then Muslim rulers, rejected the idea of idol worship in the 16th century. The argument advanced by him was that in the worship of idols, water and flowers are made use of which involve 'hinsa' and Jainism believes in Ahinsa. However, in order to prove that this sect had been in vogue from the very beginning, he refused to accept as genuine all those books which had any reference to idol worship. If anyhow it became necessary to accept a particular book, he interpreted the words bearing on temples, worship etc differently, and made his followers to accept the changed meanings. This changed interpretation was handed down from one generation of the monks to the other and it was enjoined upon every one to accept it without question. To avoid the discovery of truth, it was also counselled that no monk should study grammar because the study of grammar will lead to disbelief and breach of faith. That is why Shri Atmaramji Maharaj also did not study grammar in the early years of monkhood, although he studied other scriptures. But when he discovered for himself that without the study of grammar, he felt handicapped, he

learnt it. But then different interpretations of the same text boggled his mind. In order to have clarification, he met Shri Ratanchandji at Agra. In keeping with his reputation, Shri Ratan Chandji enlightened Shri Atmaramji Maharaj and then it became crystal clear to him that the sect which he had adopted was not the ancient Jain religion which advocated idol worship and magnificent temples and thousands of idols were a testimony to it. Shri Ratanchandji confirmed all this. Shri Atmaramji then put a question to him that if he believed in the true ancient Jain religion, why he stuck to the fake sect. Shri Ratanchandji then confessed that he was too old and felt too powerless to preach the true gospel and hoped that Shri Atmaramji would carry on the job which he did not dare. This made up the mind of Shri Atmaramji and he vowed to himself that he would preach truth and only truth, for which he had renounced the world.

STRUGGLE STARTS

Shri Atmaramji Maharaj was now 26 years of age and at the height of power physically and mentally. The slogan that he had coined for himself was 'Sacha so mera' i.e. whatever is true is mine and to this end he was determined to work without prejudice for which he had coined another slogan of not insisting on whatever I say. (Give up the prejudice 'Mera so sacha'). He not only gave these slogans but also lived according to them. As such he thought of preaching the truth that he had discovered. Luckily, he came across two disciples of Pooj Amar Singhji, who was the religious leader of the time in Punjab. Shri Atmaramji took these two disciples named Bishan Chand and Champa Lal into confidence and communicated to them whatever he had learnt at Agra from Shri Ratan Chandji. Shri Atmaramji told them that they should not accept whatever he said without critical evaluation and if they had any doubts or questions, they should place them before him unhesitatingly and discuss all matters freely and frankly. Sound knowledge imparts confidence and the two were convinced that whatever Atmaramji said had a true ring about it. Later on Hakim Roy and Nihal Chand were also converted to the views of Shri Atmaramji and then all the five started preaching the true tenets of ancient Jain religion. One must understand that this was not an easy task and preaching the genuine tenets of religion in Punjab was like swimming against the current, for which few have the courage and confidence. Shri Atmaramji was made of sterner stuff and he willingly took the risk for the sake of truth. He knew that he could be ostracised from the monkhood in

which case he would not be given shelter or food and he could be reduced to the position of a starving beggar. But for the sake of truth he did not mind whatever may befall him. It was at Malerkotla that he unfurled the flag of true tenets of Jainism and converted two persons named Kanwar Sain and Mangat Ram to his views. Shri Bishen Chand & Shri Champa Lal were doing the same at Jandiala Guru and converting Shri Mohar Singh and Bisakhi Mal and Lala Buta Rai of Amritsar. In this way, starting from a trickle, in a short time thousands were converted and initiated into the true ancient Jain religion. The traditions die hard and men are naturally conservative and find it easy to tread the familiar path. So when Atmaramji shed new light to dispel darkness of ignorance, Jain laymen did not automatically accept his views. They would ask for proof/and also invite Atmaramji to take part in 'shastrarth' i.e. wordy duel between the scholars. Shri Atmaramji did not shy away as he had mastered the scriptures along with their interpretations and explanations and annotation, he would quote them verse for verse to prove his point. While delivering a lecture, he would ask the audience to demand clarification from him on any point they felt doubt and that he would do his best to satisfy them. And if anybody wanted to discuss the matters in private, he would be glad to receive him at the place where he was staying. He would say that people buy earthen pots of meagre value after fully satisfying them that are not cracked; faith is of much higher value, so why not accept it only after sound knowledge. He would declare that after profound study and deep understanding, he had discovered a nugget of gold in the true teachings of the Perfect Soul. He believed that it was pure and not stolen : then why be afraid of having it tested on a touchstone in the open. He would pronounce that he would be glad if anyone could convince him of the wrong path and he would immediately give it up. But if others are convinced that what he said was the truth, then why hesitate in accepting it. In this way, he won over Jain laymen and monks on to his side, not by using a glib tongue but on the firm ground of sound knowledge and correct judgment.

IN OPEN CONFLICT

The views expressed by Shri Atmaramji naturally brought him in conflict with established authority. Pooj Shri Amar Singhji represented the establishment. By issuing an order, he exhorted his people that they should not make obeisance to Shri Atmaramji nor give him shelter, nor hear his lecture, nor give him food, because he has abjured the 'dhundak'

faith. It may be added here that 'dhundia' monks tie a piece of cloth to their mouth, while there is no such prescription in the ancient Jain religion. This piece of cloth called 'Mukh-patti' has become a mark of distinction of 'dhundia' monks and it was in the 18th century only that a monk by the name of Loveji started this fashion. Now that Atmaramji was declared as ostracised alongwith his followers and Jain believers, it was useless to stick to the dress prescribed by 'dhundia' faith. So in Vikram Samvat 1932, Shri Atmaramji and his followers pulled out the piece of string that had tied their mouths and souls so far. This marked the formal break with the 'dhundak' sect. Shri Atmaramji Maharaj & his fellow monks now felt liberated. They were 20 in number and had thousands of Jain laymen as their followers. The revolution ushered in by Shri Atmaramji in Punjab was now firmly entrenched. His name had become a household not only in Punjab but his fame spread in other parts of India too, although he had not visited them personally. In this way, starting from Vikram Samvat 1921 to Vikram Samvat 1932, for eleven long years, Shri Atmaramji had to pass through difficult years, advancing inch by inch, discussing, arguing, converting monks as well as the laymen. One false step and his name would never have been heard. But he was sure of what he had learnt and wanted to impart that knowledge to others, not for establishing his leadership, but with the sole purpose of disseminating the truth without prejudice. After all 'Satyamev Jayate' is rooted in the culture of India. Now that the break with 'dhundia' sect was final and irrevocable, Shri Atmaramji Maharaj made up his mind to visit Gujrat, the home of many famous Jain shrines. Jainism may be said to have originated in U.P. and Bihar in the sense that except for 22nd Tirthanker Shri Nemi Nath, all the other tirthankers belonged to either of these two provinces and mostly preached there. It was King Samprati, the grand son of King Asoka, who preached the message of Jainism in western India, particularly Gujrat and Rajasthan. Many of the temples in these provinces are said to have been constructed at the orders of King Samprati who was to Jainism what Asoka was to Buddhism. But once Jainism appeared in these states, people took to it like fish to water and the result is that in modern times, temples in these states have become the object of religious pilgrimage. Shri Atmaramji wanted to visit Gujrat earlier, but he was not accorded permission for doing so and like a disciplined disciple, he carried out the orders of his Guru. Now, he received an invitation to visit Ahmedabad which has a vast Jain population. So he set out for Gujrat visiting many shrines on the way and

stayed at Ahmedabad for four months of the rainy season in Vikram Samvat 1932. There he met Maharaj Buddhi Vijayji, who too, like Atmaramji, was initiated into 'dhundia sect' under the name of Buta Royji and had renounced the sect on discovery of the truth. Shri Atmaramji formalised his entry into the ancient Jain religion by becoming disciple of Shri Buddhi Vijayji, alongwith 15 of his followers, and also put on the dress prescribed in the ancient books. As a distinguishing mark, from the 'dhundia' sect, he also took on a yellow mantle. After holding his Vikram Samvat 1933 'chaturmas' at Bhavnagar in Gujrat and 1934 'chaturmas' at Jodhpur (Rajasthan) he came back to Punjab to nurse the sapling he had planted into prosperous growth.

To signify the change, he was now given the name of Shri Anand Vijay, although his old name Shri Atmaramji still sticks in the memory of his followers and now-a-days he is known by both of his names. Later on, however, when he was conferred the honour of being an Acharya, his name again underwent a change as per Jain tradition and he came to be known as Vijayanand.

AMONG THE HIGH AND THE MIGHTY

Jains constitute a minority in India. That was the case in 19th century and is still so. Majority generally tends to dismiss the opinions and beliefs of the minority with contempt and remains ignorant about it. Jains too have suffered this fate, especially because Jains as a community are given to commerce and industry, and high education and scholarship has been their Achilles heel. Now that Shri Atmaramji or Anand Vijayji Maharaj had come to be regarded as the spokesman of the philosophy and religion of Jainism, it fell upon him to project the true image of Jainism. He, therefore, did not miss an opportunity of presenting Jainism in its true colours. In this connection, his meetings with the kings of Bhavnagar, Bikaner, Jodhpur and Limbri are memorable, during which he expounded the tenets of Jain philosophy or removed the misconceptions prevalent among the general public. The first of these meetings took place with the king of Bhavnagar state. The king asked for the views of Shri Anand Vijay on the well known dictum of Vedanta-Brahma Satyam Jagann Mithya i.e. Only the God is true, rest all false. Shri Anand Vijayji explained that Jainism accepts this from one angle and rejects it from another. According to Jain philosophy, truth is not absolute. A statement from one angle may be true while from another angle it may be wrong. For example 'A' is son from the angle of his father but if we say the same thing from the angle of his wife, it

will be wrong, because from the angle of the wife, he is a husband, as from the angle of his sister, he is a brother. To say absolutely that he is a son or brother or husband will be far away from the truth. So 'God is true and the universe is false': the statement has to be qualified. Jainism believes that the ultimate goal of living beings is to become Perfect (A perfect soul is the embodiment of Godhood) and therefore they strive or should strive to that end. From this angle perfection of the soul is the real important thing and hence it may be said that Brhma is Satyam. But at the same time, one cannot wish away the real concrete world in which we live and die, form relations, write books and preach, discover the principles of science and technology etc. From this angle, it cannot be said that the universe is untrue or false. In other words, if we say that the universe is false because things in it are liable to destruction and perish and that the soul is the only imperishable thing, then one might say that the universe is false. But if we imply that the universe has no existence at all, just as horns on the head of a donkey are non-existent, then Jainism cannot accept this statement as true. Now, you cannot say that speaking of the statement as true and false at the same time means that Jain philosophy is double dealer, it will be travesty of truth. In fact Jain philosophy is all embracing and tries to resolve the seemingly conflicting statements, whatever one might say. In his meeting with king of Bikaner, Shri Anand Vijayji said that the basic philosophy of Jainism is known as Syadvad. In this the word 'syad' does not mean perhaps: it means from a certain angle. Jainism believes that the things we see in the world have different aspects. If one insists on only one aspect, not mentioning the others, one will be wrong. Therefore, if a person is to make a statement, he must imply a certain aspect of the thing, otherwise he is liable to go wrong. Words are limited while the aspects are many. That is why this philosophy is also known as 'Anekantvad'. The universe comprises of many things, and if we deeply look at them, we will find that they have a beginning (birth), existence (life) and end (death). According to Vedic tradition, this is known as 'utpad dhrovya and vya'. According to Jain terminology, this very thing is connoted by the name of 'Paryaya' and 'Drvya', the former word meaning creation and death and the latter word meaning the existence. For an example, take a golden bangle. It had a beginning and is existing. Now it is broken and converted into a ring. Now the ring has a beginning and it may also end one day but the gold contained either in the bangle or the ring is not perishable. Thus gold is 'drvya' while bangle or the ring are its

'paryaya'. Paryaya can be many while the 'dravya' is one. Both are however inseparable. At the same time they give rise to difference. Thus both these aspects of a thing have to be accepted and Jain philosophy considers it logical and justified. Applying it to living beings, soul may be called dravya, while living beings in different shapes like human beings, animals, birds, fishes etc may be called 'Paryaya'. The soul performs good deeds or the bad deeds. Accordingly, it is born as angels or human beings or animals. Jainism prescribes the shedding of all deeds (Karma) in order to become the perfect and pure soul which is called 'Parmatma'. Once one attains this perfection, one is not born in the world, just as a parched gram does not have the power to germinate : so a soul after penance attains the perfect state. This in short is the philosophy of Anekantvad on the basis of which Jainism advocates Ahimsa or non-violence. As basically all living beings are souls which in the world appear differently according to their deeds, so they all are equal, and it does not behove the equal souls to be violent against one another. Thus Ahimsa in conduct and Anekantvad in philosophy constitute the essentials of Jainism.

In his meeting with the brother of king of Jodhpur, Shri Anand Vijayji said that Jainism is often dubbed as anti-Vedas, and athiest which is without any justification. To start with, he said that there are nine philosophical systems in India viz. Nayaya, Vaisheshak, Sankhya, Yoga, Meemansa, Vedanta, Buddhism, Jainism and Charvak. Out of these, the first six are classified as theist and the later three said to be athiest (Nastik). Now the question is 'what is the definition of the word 'Nastik'. He clarified that Nastik is one who does not believe in the existence of the soul and the other world. From this point of view, Jainism cannot be called 'Na stik' because it believes in both of these things. As far the question of anti-Vedic is concerned, well Jainism certainly does not accept Vedas as an authority, especially the part which is against non-violence. Jainism believes in 'Ahimsa Parmo Dharma' i.e. non-violence is the best of religion and certainly does not contribute to the maxim 'Vediki himsa himsa na bhavti' i.e. killing as permitted by Vedas is not violence or killing. In any case non-belief in the Vedas does not authorise anyone to call that person as heretic just as a man who does not believe in say Quran of the Muslims becomes 'kafir' or an heretic. As far non-belief in God is concerned, well Jainism does believe in God in the sense of a Perfect Soul (Parmatma) and all Jains pay homage and make obeisance to such God. But Jainism does not believe in God as the Creator of the Universe because doing so

becomes illogical. Moreover, 'Sankhya' and 'Meemansa' philosophical systems also do not believe in God as the Creator of the Universe. For example, Kumaril Bhatt says 'No fool will indulge in any work without purpose; what is the purpose of God in creating the universe?' In the light of this, why does one not call these two philosophical systems as atheist, while Jainism is dubbed as athiest. This is entirely due to the fact of either ignorance of the correct position taken by Jainism or to prejudice. As per Jain philosophy a soul has to pass through different forms on account of the 'karma' deeds committed by him. As soon as he is free of this 'karmic' bondage, he attains 'moksha' i.e. emancipation. Once a soul has attained emancipation, he cannot be re-born in the world just as a parched gram does not germinate. This conception of 'moksha' of Jains is the same as advocated by Vedic philosophical systems which say that completely getting rid of 'Agnan' i.e. ignorance or grief and obtaining of peace of mind (parmanand) is emancipation. Then what is wrong with Jainism when ultimate object is similar?

In his meeting with the king of Limbri, Shri Anand Vijayji explained that Jains do not believe in the opinion that God is the creator of the universe. In doing so, many contradictions creep in. For example, all the things that we look in the world have body and they were created by one who has a body. A bodyless existence cannot create a body. The sky is bodyless and it cannot create a body. As it is understood that God is without a form or body, then how it can create the universe which has a body existence. And if we say that God has a body, then the question will crop up 'who created God'? This will have no end. Secondly, if a thing is created, the creator of the thing must have a desire and make an effort. If we consider God as the Creator of the universe, then it will have to be admitted that God has desire. This involves contradiction because God is considered above all desires and omni-present (sarva vyapak). Moreover, in creation of a thing, there is always some purpose. Now what possibly can be the purpose of God in creation of the world. If He is purposeless, then creation is not possible. And if he has purpose, then God is something less than Godhead. If for the sake of argument it is said that God created the world with the purpose of rewarding or punishing the good or bad deeds of the living beings, then also it is untenable. It implies that God was actuated by the deeds of living beings into creating the world. This statement does not leave God free and makes him out under the influence of some one but by very definition God is under no body.

Supposing he has created the world with this purpose, it implies that he actuates the living beings into doing the deeds, which robs the living beings of their freedom to act. So in considering God as the Creator of the Universe does not stand argument. Therefore, Jains believe that the creation is without a beginning and without an end because in such a belief, no contradiction is involved. However, majority of the people are ignorant of the grounds on which Jains do not consider God as the Creator of the Universe, so they simply dub Jains as atheist and heretic. But if one considers the stance taken by Jains sympathetically and without prejudice, they will find Jainism as an enlightened philosophical system. One thing which becomes transparently clear from his meetings with the great and learned personalities of the day is that he had a thorough knowledge not only of the Jain scriptures but also of the holy books of other religions and sects. He could and would quote extensively from all the sources, Jain or non-Jain, which shows that he had mastered the art of comparative study of different systems. In fact without historical and comparative study, it is difficult to evaluate any system critically. We know that he was not born in a Jain family but in 'khatri' family and so Jainism was a religion he had adopted of his own choice. Had he found it wanting in any way, he would not have hesitated to give up its profession just as he boldly gave up the 'dhundia' sect in which he was initiated. On account of the confidence born out of his erudite scholarship, he was never afraid of facing challenge from any quarter. The king of Jodhpur had in fact planned a meeting of Swami Dayanand Saraswati and Shri Vijay Anandji Maharaj, but unfortunately when Shri Vijay Anandji Maharaj came to Jodhpur where he was to meet Swami Dayanand, the latter had expired at Ajmer, and so the meeting of the two only remained a wishful thinking. Besides the meetings mentioned above, people from all walks of life would meet him and question him and he would satisfy them all at their own level. Western scholars too like A.F. Rudolf Hoernle approached him for any clarification on Jainism and were fully satisfied. It was out of a sense of obligation that Shri Hoernle dedicated his edition of Uvasaga Dasao, a Jain Agam, to Shri Atmaramji Maharaj. It was not for nothing that Shri Atmaramji Maharaj, who was then considered spokesman of Jainism, was extended invitation to the World Parliament of Religions held at Chicago, which he himself could not attend personally but sent his representative Shri Vir Chand R. Gandhi, although in those times, crossing the seven seas was considered a sin by the Jain community, as by all others. This shows his liberal mind

and far-sightedness. To those who opposed the foreign travelling of Shri Vir Chand R. Gandhi, Shri Atmaramji said that the time was not far when their sons and daughters would go to foreign countries simply for the sake of enjoyment, although today they were averse to sending their representative for the sake of preaching of religious gospel. How prophetic have been his words | In fact one cannot but agree with the comments in the report of World Conference of Religions "No man has so peculiarly identified himself with the interests of the Jain Community as Muni Atmaramji. He is one of the noble band who from the day of initiation to the end of life work day and night for the high mission they have under-taken. He is the high priest of the Jain community and is recognized as the highest living "Authority" on Jain religion and literature by oriental scholars".

A MULTI-COLOURED PERSONALITY

Shri Atmaramji Maharaj was not only a religious head who took his mission with zeal and enthusiasm. He was a persuasive speaker, an effective debator, a distinguished author, an appealing poet, an inspirer of the construction of the temples, interested in the proper up-keep of old libraries known as 'Gnan Bhandars', an educationist who dreamed of temples of learning 'Sarswati mandirs', a reformer and a revolutionary, besides interest in many other things. In fact, he kept up the tradition of Shri Heer Vijay Suri, who influenced the great Moghul, Akbar, of Shri Hem Chandra Suri, who was known as 'kalikal sarvagya' i.e. the walking encyclopaedia of the modern times. In view of this, he too was conferred with the honour of being an Acharya i.e. the highest religious authority, at Palitana, the famous pilgrimage Centre of Jains, in the year Vikram Samvat 1943 at the age of 49. He was the author of 'Jain Tattvadarsh' considered by some as his magnum opus, 'Tattva nirnay prasad', 'Agnan Timir Bhaskar', besides 'Nav Tattva', 'Samyaktva Shalyoddhar', Jain Mat Vriksha', 'Chaturth stuti Nirnay', 'Jain Prashnottar Ratnavali, and 'Chicago Prashnottar'. All these books have been written by him in Hindi although he was a scholar of Sanskrit, Prakrit, Upbharansha' (for the benefit of common man). The use of medium Hindi, the language of the common man, is in keeping with the traditions of Jainism which has identified itself, not with the elite, but with the man in the street, so that the message of Jainism reaches far and wide and filters down to the lowest level. As a devotional poet, he may well be placed in the category of Tulsidas, Surdas & Meera. His compositions can be said to be lyrics inasmuch as they can

be put to music, in fact all of them have been put to music and are still widely sung in the temples. Starting from 'Atam Bavni' which he composed in vikram Samvat 1927, he went on to 'Jin Chaubisi', 'Satrah Bhedi Puja', 'Bis Sthanak Puja', 'Asht prakari puja', 'Nav pad puja' and 'Sanatra puja'. The word 'puja' should not mislead anybody. It is not taken in the narrow connotation of a ritual ceremony. In all of them, the poet feels ecstatic at the highest bliss achieved by 'Vitrage' or 'Parmatma' and expresses a yearning for attainment of the same bliss. He feels sad that he is still in the bondage of 'karma' and has not attained liberation from the evil pain of birth and death. He places himself in the hands of 'Parmatma' as he is like an innocent child who needs be led, and helped. The songs of the poet have a quality of spontaneity, an effervescence of pure soul and leave the listener in to such an emotional state that he feels himself transported in some ethereal world. Singing these hymns is truly an experience.

As an archaeologist, he looked at the old libraries situated in places like Patan(Gujrat) and Khambat, and inspired Jain laymen to keep their proper maintenance. He had some useful manuscripts copied and sent them to different places. He himself made use of them for reference purposes, as in Khambat where he completed his book 'Agnan Timir Bhaskar'. It may be mentioned here that these Jain libraries, or 'Gnan Bhandars' as they are known, not only keep Jain literature but also house what may be called secular literature or literature belonging to other sects and religions. Indeed these libraries have shed valuable light in the construction of history of the by gone times.

As already mentioned, Punjab was in the grip of 'dhundia' sect of Jainism and so the few Jain temples wore a deserted look and had become the private property of Yatis or the Poojs. Shri Atmaramji Maharaj inspired Jain layment to have new temples built and nowadays, if we see this region dotted with the temples, it is all the work of Shri Atmaramji Maharaj. He got a link established between Gujrat and Punjab and quite a number of idols were sent from Gujrat to Punjab for worship. He himself presided over the establishment of a temple for worship, which in Jain terminology is called 'Pratishtha'. The last of such 'pratishtha' by him was in Vikram Samvat 1953 at Sankhatra (now in Pakistan) when he was 59. When it was pointed out to him that a number of temples have already been constructed for worship purposes, he said that from then on he proposed to set up 'sarswati mandirs', the temples of learning. For this

purpose he opined that Gujranwala would prove suitable to start with and so he set out for Gujranwala to hold the 'Chaturmas' there. But fate had willed otherwise. It was a hot summer. Shri Atmaramji Maharaj set out for Gujranwala from Sankhatra via Kila Sobha Singh & Pasrur. At Pasrur, food was not available and so he set out further at 4 P.M. and reached Barala village. There he had an attack of asthma and then with great difficulty, he could come to Gujranawala on foot. On the fateful 7th of the bright half of month Jyeshtha Vikram Samvat 1953, he breathed his last, when he was not even sixty years of age. An eventful career thus came to a sudden end, leaving the dream of establishment of 'sarswati mandir' unfulfilled. Had he lived longer, there is no doubt he would have realised his vision and made the educationally backward Jain community into an advanced one because he believed "Sub men gnanvant barbir" i.e. the one with deep knowledge is the bravest. The whole of his life is an epitome of this dictum and it remains for his followers to tread the path that he has shown.

APPENDIX

Birth	Samavt	A. D.
Lehra Village	1894	1837 1st of bright half of Chaitra
Diksha(dhundia)	1910	1853 5th of bright half of Margshirsh. (Maler Kotla)
Chaturmas(First)	1911	1854 Study of Utradhyan Sutra. Sirsa-Ranian
Sargathla	1912	1855
Jaipur	1913	1856
Nagaur	1914	1857
Jaipur	1915	1858
Ratlam	1916	1859
Sargathla	1917	1860
Delhi	1918	1861
Zira	1919	1862
Agra	1920	1863
Malerkotla	1921	1864
Sirsa	1922	1865 Studied Astrology
Hoshiarpur	1923	1866
Binoli	1924	1867 Wrote 'Nav Tattva'
Baraut	1925	1868
Malerkotla	1926	1869

Binoli	1927	1870	Composed 'Atam Bavni'
Ludhiana	1928	1871	
Zira	1929	1972	
Ambala	1930	1973	Composed 'Jin Chaubisi'.
Hoshiarpur	1931	1974	
Ahmedabad	1932	1975	Second Diksha From Buddhi Vijay
Bhavnagar	1933	1876	
Jodhpur	1934	1877	
Ludhiana	1935	1878	
Jandiala Guru	1936	1879	
Gujranwala	1937	1880	Wrote 'Jain Tattvadarsh'.
Hoshiarpur	1938	1881	Composed 'Satrah Bhedi Puja'.
Ambala	1939	1882	Wrote 'Agnan Timir Bhaskar'.
Bikaner	1940	1883	Composed 'Bis Sthanak Puja'.
Ahmedabad	1941	1884	Wrote 'Samyaktva Shalyoddhar'.
Surat	1942	1885	Wrote 'Jain Mat Vriksha'.
Palitana	1943	1886	'Acharya pad' conferred. Composed 'Asht Prakari Puja'.
Radhanpur	1944	1887	Wrote 'Chaturth stuti Nirnay'(I)
Mehsana	1945	1888	
Jodhpur	1946	1889	Wrote 'Jain Prashnottar Ratanavli'
Malerkotle	1947	1890	
Patti	1948	1991	Wrote 'Chaturth stute Nirnay'(II) Composed Nav Pad Pooja.
Hoshiarpur	1949	1992	Wrote 'Chichago Prashnottar'.
Jandiala Guru	1950	1893	Composed 'Sanatra Puja'
Zira	1951	1894	Wrote 'Tattva Nirnay Prasad'.
Ambala	1952	1895	
Nirvan Pad	1953	1896	7th of bright half of Jystha.



SAMAYASUNDARA AND HIS SANSKRIT WORKS

□ SATYA VRAT

A celebrated monk of the kharatara gaccha, an offshoot of the Svetambara branch of the Jaina faith, Samayasundara was, by all accounts, one of the most prolific writers that the Jainistic tradition has ever known. His initiation into the monastic order by Jinacandrasūri marked the beginning of what subsequently turned out to be an extremely rewarding and chequered career, though some aspects there of are shrouded in ambiguity, the profusion of sources notwithstanding. As affirmed by him¹ and some of his pupils², he was born at Sanchor in Marwar. M.D. Desai's suggestion that he was born in V.S. 1620,⁽³⁾ though smugly espoused by subsequent writers, does not stand a close scrutiny. By the time he wrote his first work, the Bhavaśataka, in V.S. 1641, he had not only delved into the intricacies of the concept of Dhvani, as propounded by Mammata in his magnum opus, the Kāvya prakāsa, which he sought to present concisely therein, he had also earned by then the respectable rank of gani. In view of the canonical injunction⁴ that the title was not to be bestowed on anyone unless he had been trained for about a decade, following his initiation, and the fact that Samayasundara joined

the church quite late, in the prime of his youth⁵, probably at the age of twenty, it would be sound to hold that he was ordained into monkhood some time in V.S. 1631 which would convincingly push his birth back to about V.S. 1610 (1553 A.D.)

Though Sakala Candra Gani died soon after the young monk was assigned to him for proper training and education, it is a measure of Samayasundara's devotion to his erst while preceptor that he continued to honour his memory with reverential allusions to him, in almost all his writings.⁶ Samayasundara had joined the church almost as an illiterate villager, but his training under the Argus eye of his new teachers, Mahimarāja and Somarāja, turned him into a versatile poet and scholar, well versed in various branches of learning including grammar, poetics, lexicography and canonical literature besides many languages. His works, on a wide variety of subjects vouch for it in an abundant measure.

Samayasundara seems to have been extra ordinarily sharp and prolific in literary output. His academic equipment and meticulous adherence to religious pursuits earned him quick elevation in the heirarchy of the gaccha. It was nothing short of a feat that even before he came to compose his first work, the Bhāvaśataka, he had been honoured with the cherished title of Gani⁷ The coincidence that the rank was conferred on him along with his teacher, in V.S. 1640, speaks volumes of Samayasundara as a monk and a potential literary prodigy. Other titles followed him in succession. The combined testimony of Karmacandravamśaprabandha⁸ (KVP) and Jainarasasamgraha⁹ (JRS) leaves little doubt that Samaya sundara graduated as a Vācaka not long there after. It happily synchronised with the comferment of the rank of Acarya on his teacher at Lahore in V.S. 1649, on the second day of the bright half of Falguna. While Rajasoma is unequivocal in stating that Samayasundara earned the title of upādhyāya (Pathaka) at Lavera (Jodhpur) from Jinasimhaśuri,¹⁰ one of his teachers, he is enigmatically silent on the date of the event. However, his writings reveal it beyond cavil that a long interlude of over twenty two years intervened before Samayasundara could secure the coveted title. The Viśesaśataka, written in V.S. 1672, is the first work to refer to him as Pāthaka (upādhyāya)". The colophon to the Rsimandala Vrtti, assigned to the same year, also serves

to uphold it. As the senior most monk and scholar in the gaccha, after the death of his teacher Jinasimhaśuri in V.S. 1680, Samayasundara was automatically elevated to the high pedestal of Mahopādhyāya in accordance with the established practice. Harsanandana has actually hailed him as Mahopādhyāya in his gloss on the Uttaradhyayanāsutra (Srisamayāsundara mahopādhyāya caranas a roruhābhyam namah).

Samayasundara was a widely travelled person. In the absence of definite evidence, it is difficult to ascertain his itinerary prior to V.S. 1644. He seems to have spent this formative period of his career in the vicinity of his teachers that served to equip him tremendously for the literary spree that followed. Thereafter his writings seem to form a reliable index to his widely diffused journeys. Their religious importance apart, these visits opened new vistas to the monk who had limited notions of the land and people. He came abreast of the rich variety that characterised the different regions of the country and, in the process, picked up quite a few of the regional languages. All this combined to make him a fuller and wiser man. By virtue of his manifold attainments he came to carry considerable weight with influential people in some of the regions and had been instrumental in securing ban on animal slaughter and excess on some segments of the population. Though, as stated earlier, his travels were widely dispersed, he seemed to have chiefly concentrated on his home state Rajasthan and the neighbouring Gujrat. It was there that most of his works were composed or brought to conclusion.

Samayasundara had special fascination for Ahmedabad. He spent quite a few caturmasas there, which, as borne out by his writings composed there, were literarily highly productive. He visited Ahmedabad several times between V.S. 1687 to 1696. By 1696 (V.S.), being eighty-six, he had become a physical decrepit. Unfortunately, it turned out to be the most trying period of his life. His physical infirmities were exacerbated by severe mental agonies. While in V.S. 1686 he had to succumb to the stubbornness of his pupil Harsanandana which led to a schism in the church, the next year, when he was stationed at Ahmedabad, Gujrat was struck by a terrible famine. The famine broke out with such ferocity that the entire social and moral fabric was sapped dry. It took an extra-ordinarily heavy toll of life. Samaya sundara himself was reduced to such dire straits

that he had to sell out his books, utensils and other articles of daily use, otherwise something abhorring for a monk to do. His misery was gravely compounded by the perfidy of his pupils who, though deeply indebted to him for their manifold attainments, deserted him when he needed them most to relieve the rigours of the old age. Samayasundara has drawn a moving account of the havoc the famine spelled all around and the ingratitude and treachery of his disciples which even now sends shudder down to one's spine. The two combined to deal a deadly blow to him. He died in V.S. 1703 at the ripe age of ninety three, a broken man, indeed a painful antithesis to his otherwise smooth and respectable career.

Samayasundara was indeed a versatile genius. He is the sole jaina author who can be termed as the nearest approach to the legendary Hemacandra in literary output and spiritual input. The plethora of his writings in diverse languages attests to it in an ample measure. He was equally at home in grammar, poetics, prosody, linguistics, logic, astrology and canonical and ritualistic literature. While he is credited with a large number of works in Rajasthani, which compel revision of some of the notions smugly clung to so far, he made substantial contributions to sanskrit by his abundant and diversified writings. Some of his Sanskrit works can assuredly be claimed to be unparalleled in the domain of literature, which combine to establish him as a mighty scholar and a gifted poet. An in-depth study of his Sanskrit works could have been rewarding at any point of time. This is what is sought to be attempted here.

Samayasundara imparted new dimensions to the śātaaka genre of literature. What was intended to enrobe the erotic or gnomic poetry, has been turned by him into an effective medium of sastric lore. His Bhavaśātaaka, known through its solitary codex deposited with the L.D. Institute of Indology, Ahmedabad, thus seeks to detail the various divisions and subdivisions of the Dhvani form of poetry which rests on the preponderance of the suggested sense as ably propounded by Mammata in his magnum opus.¹³ What the author of the Kavyaprakāśa had presented in detail, stretching it beyond imaginable bounds, Samayasundara has reduced to a tiny volume, obviously to facilitate a clearer and quicker understanding of the concept. The Bhavaśātaaka bespeaks the zeal of the young author to delve deep into the intricacies of

Dhvani and perpetuate its tradition, though bitterly threatened by a vast array of critics. Written in V.S. 1641 (śaśisāgararasabhaitalasangamvati vihitaṃ ca Bhavasatakamidaṃ), it is believed by common consensus to be his first work.

The Samacari sataka, on the other hand, is concerned with the Jaina ethics. It was intended to meet the offensive viciously launched to denigrate the jaina faith in general and the kharatara gaccha in particular. It forms part of the tradition represented by such notable writings as Padavyavasthā. kulaka of Jinacandra sūri, Vidhiprapā of Jinaprabhasūri and Ācāradinakara of Vardha mana sūri. While stoutly repudiating the blasphemous charges of Dharmasagara and others of his ilk, the author has discreetly refrained from hurling counter-accusations. The Samacāri sataka seeks to resolve one hundred controversial issues pertaining to ethics and to establish, in the process, the compatibility of the Kharatara gaccha with the canon. Samayasundara has backed up his views, almost invariably, with canonical precepts, though he is not oblivious of his limitations.

The Samacāri sataka is divided into five chapters (Prakāśa) which are further sub-divided into uneven sections (Adhikāras) that add up to a century to justify the title of the work. Each adhikara is addressed to resolve a particular issue.

In the absence of the Praśasti to the work, it is difficult to ascertain the date of its composition. On the basis of a verse, not found in the printed text,¹⁵ the samacariśataka is believed to have been concluded in V.S. 1672 at Medata (Jodhpur), though it was started at Siddhipuri in Sindh and a part there of was written at Multan in V.S. 1669.

Written in the same year, at the same venue, the Viśesa sataka seeks to resolve one hundred doctrinal or ritualistic problems posed by an inquisitive pupil. In consonance with his known style, the author has elucidated each issue in a lucid language, on the basis of the authoritative texts. In a bid to facilitate a clearer understanding of the canonical excerpts, he has rendered in simple phraseology such of them as he deemed hard for the reader to grasp. The pieces culled from the sūtras, attest to the author's unquestioned insight in those texts. Some of the questions discussed in the sataka are interesting and deserve attention. It

is concluded, for instance, in the fourth Prakarana that Jamali would attain liberation after fifteen births. The author has upheld it on the basis of Hemacandra's Mahāvīracarita.

The Vicārās'ataka also addresses itself to explain and solve a century of issues pertaining to Jaina philosophy, in a style not dissimilar from that of the preceding Śātaaka. Samayasundara meticulously adheres to the tested method of upholding the elucidation with scriptural texts. It has, however, resulted in an overabundance of doctrinal terminology creeping into the work. The Śātaaka consists of 100 Prakaranas with each section dealing with one problem, though some of the problems spill over in more than one Prakarana. The Praśāsti proves it beyond doubt that Medata again formed the venue of its composition, attempted two years subsequent to the Viśesaśātaaka, in 1674.¹⁷

The Visamvāda Śātaaka locates and enlists one hundred of such of the topics in the Canonical texts that are marked by bewildering inconsistency and contradiction. The author has wisely desisted from the frustrating task of explaining them away or otherwise smoothening them. The Visamvāda Śātaaka is known to have been composed in V.S. 1685. The only known manuscript of the śātaaka, written in V.S. 1889 and preserved in the Abhaya Jaina Granthalaya, Bikaner, is unhappily corrupt and illegible.

Astalaksi or, Artharatnāvalī is undoubtedly the most pedantic work of Samayasundara and has been chiefly instrumental in ensuring him abiding glory. It represents an acme to the literary feat of multiple interpretation which has a long tradition in Sanskrit. Stung by the unkind charge, voiced at Akbar's court, that the Jaina sutras are imprecise to the extent of being liable to manifold interpretation, Samayasundara embarked upon the frightening task of proving its veracity, in true perspective, by extorting more than ten lakh meanings from the innocuous jumble of syllables. रा-जा-नो-द-द-ते-सौ-ख्य-म् (राजानो ददते सौख्यम्) However, on subsequent scrutiny, two lakh twenty thousand, four hundred and seven meanings were discarded as untenable, leaving the remaining eight lakh to impart the work the alternative appellation, it bears till date. Such literary gymnastics have doubtless fascinated the scholarly poets, but even the most erudite authors of the Saṁdhāna kāvyas tend to pale into insignificance before Samaya sundara's stupendous tour de force. On the author's own

testimony, the Astalaksi was blessed by Emperor Akbar while he was camping at Lahore, en route to Kashmir, on the thirteenth day of the bright fortnight of Śravana in V.S. 1649.

The endless interpretation of the brief sentence presupposes the author's profound equipment in Sanskrit grammar and lexicography. Samayasundara was indeed well-versed in both. He has mentioned the eight lexicons that he had mastered prior to setting himself on the prohibitive task. Queer break up of the sentence, followed by equally startling meanings of the various units thereof has enabled the author to put incredible interpretations on it. The following renderings sufficiently reflect the poet's expertise in the art.

1. रा आज्ञा नो अददत् ईसौख्यम् ।

रा पर्यायेण श्रीः । 'अः शिवे केशवे वायौ' इति विश्वशम्भुवचनाद् अ वायुं अर्जति श्रियात् धातृनामनेकार्थत्वात् भक्ष (य) तीति अवि आजः सर्पस्तेन आ शोभा यस्य स आज्ञाः । श्री (रा) पूर्वकः आज्ञाः श्री (रा) आज्ञाः—श्री पार्श्वनाथः, सर्पलाञ्छनात् । स नः अस्माकं ईसौख्यम् अददत् । इति चतुर्थोऽर्थः सर्वे ।

2. ला ज । आ नो ददते सौख्यम् ।

'ला च लक्ष्मीर्लाम्बरे' इति विश्वशम्भु- (श्लोक १०४) वचनात् ला लक्ष्मीः । हे ज । हे जेवुपुरुष । आ इति सम्बोधने । नः अस्मभ्यं १ अस्माकं २ वा सौख्यम् असौख्यं वा २ ददते । इदं भोगिनां योगिनां च वचनम् । सर्वे ।

3. ऋ-आ-अज्ञा नो ददते असौख्यम् ।

ऋः मेषस्तम् आ सामस्येन अजन्ति क्षिपन्तीति रत्वे कृते राज्ञाः सिंहादयः नः अस्माकत् असौख्यं ददते । इदं मृगाणां वचनम् ।

Some of his shorter works, especially the stotras, also bring out in relief, Samayasundara's equipment in literary gimmicks, not precluding yamaka, ślesa and samsyāpūrti. The stotras are mostly addressed to Pārśvanātha, though his devotion to Rsabhadeva and Mahāvīra, as attested by his other writings is beyond dispute. Quite a few of Samayasundara's stotras are infested with Yamaka²⁰ of various hues, while some others have been pressed into service to parade his expertise in handling the ślesa.²¹ Samayasundara could also not resist the temptation of succumbing to the various bandhas,²² inherent in the citrakāvya, howsoever odd they may seem in devotional hymns. Whatever their worth as an index to the poet's pedantry, these literary gymnastics combine to turn the stotras into an exercise in artificiality, which otherwise

are supposed to exude warmth and devotion. It however, goes to his credit that, more often than not, he has not over stepped the bounds of moderation. Some of his stotras are characterised by an admixture of sanskrit and Prakrit,²³ a feat also exploited by others.

Samayasundara has tried his hand at the popular feat of samasyāpūrti as well. In the Jinasimhasūri padotsave-kāvya, he has sought to incorporate the last quarter of each verse of Raghuvamśa, Canto Three, in the body of his poem to describe the function, arranged with fanfare by Prime Minister Karmaçanda Bacchāvāt, to celebrate the elevation of his teacher Jinasimhasūri to the rank of Ācārya. Even while describing an event, so distinctly apart from the original, the beauty of Kālidāsa's lines has been retained, almost intact. A transcript of the poem is said to exist in the Abhaya Jaina Granthālaya, Bikaner.

The Rsabha-bhaktāmara stotra (RBS)²⁵, though written by way of samasyāpūrti of Manatunga's famed hymn, the Bhaktāmara, represents a pole apart from the literary trickery. Despite the constraints of the samasyāpūrti, the RBS is distinguished by pleasing lucidity and deep religious fervour that seems to set at naught all else, howsoever attractive and appealing that may be. The similarity of theme has been instrumental in securing the warmth of devotion that pervades the stotra. It reads like a spontaneous outpouring of an emotionally surcharged heart. Sweet phraseology, repeatedly enlivened by Anuprāsa, serves to assure it a high place in the galaxy of devotional hymns. The verses, instanced below, would testify to its veracity.

नमेन्द्रवन्द्र कृतभद्र जिनेन्द्र चन्द्रे
 ज्ञानात्मदर्श-परिहृष्ट-विशिष्ट-विश्व ।
 त्वन्मूर्तिरर्तिहरणी तरणी मनोज्ञे-
 वावलम्बन भवजले पततां जनानाम् ॥१॥
 भास्वद्गुणाय करणाय मुदोरणाय
 विद्याचणाय कमल प्रतिमेक्षणाय ।
 सल्लक्षणाय जनताकृतरक्षणाय
 तुभ्यं नमो जिन ! भवोदधिशोषणाय ॥२६॥

Written in V.S. 1653 at Idar (Gujrat) for his pupil, the Mangalavāda

seeks to examine the objectives of the benediction (mangalācarana) from the standpoint of Nyāya philosophy. The detailed evaluation led the author to conclude that the mangalācarana was of three types - physical, oral and mental. The absence of benediction in Keśavamiśra's Tarkabhāsa is explained on the ground that it is the mental benediction that has supplanted the formal mangala here. Though the work is concerned with neo-nyaya which is notorious for toughness, the presentation is throughout lucid and precise, shorn of unnecessary accretions or details. One of its codices forms part of the treasure of rare manuscripts in the Abhaya Jaina Granthalaya, Bikaner.

Samayasundara did not mean to overburden his writings with abstruse grammatical forms : However, his firm grounding in grammar is evident from his references to the Astādhīyayi, Hemacandra's Lingānuśasana, Kalaparyākarana and Visnuvartika. Sārasvata-vyākaraṇa-rahasya (SVR) and Sarasvate-śabda-rūpāvali (SSR), that forms a sort of supplement to the former, bear testimony to his equipment in the Sārasvata system of grammar. The initial and concluding parts of the SVR indicate that the author had herein dealt with the Sārasvata vyākaraṇa in its entirety but the known segment is confined to the verbal forms alone, albeit in all the tenses and sub-divisions. One of its MSS is known to exist in Jinaharivihāra, Palitana. The authorship of the SSR has been disputed, though a verse,²⁶ quoted by Vinayasāgara, unmistakably attributes it to Samayasundara.

The Kālakācārya-Katha (KK) forms an important contribution to the story - literature. The story of Kālaka has exercised powerful influence on the jaina society to the extent that it led to the emergence of no less than thirty works of uneven worth and girth. Samayasundara's KK occupies a high place in the series of similar works, attempted earlier. It is still known through its manuscripts which are deposited with some of the Bhandaras at Bikaner, Calcutta etc. The KK was written in V.S. 1666 while Rawal Tejsi was ruling at Vikramapur.²⁷ One Kathākośa is also attributed to Samayasundara though it is not clear whether it was an original work or a mere collection of earlier stories. A MS of the Kathāpatrāṇi, written at Jalore in V.S. 1695, by the author in his own hand, contains 114 stories.

The Vīsesa-Samgraha, intended to be a guide to the young

students,²⁸ adds up, in all essentials, to a selection of excerpts from ancient text and their commentaries, on a wide variety of subjects. The excerpts are properly referenced to facilitate quick location in the originals. The selection is a virtual boon to the researchers, the like of which is hard to come across. The Viśesa samgraha was written at Lunakarnasara (Bikaner) in V.S. 1685.

Some of Samayasundara's works deal with Jaina rituals and other religious observances. Cāturmāsa Vyākhyāna (V.S. 1665), Śrāvakārādhana (V.S. 1667) and Dīksā-pratisthā sūddhi (V.S. 1685) belong to this class. The last work is distinguished by a profound discussion on astrological matters. Samayasundara was brilliantly helped in its composition by his grand pupil Jayakirti, who was well-versed in astrology.²⁹

His Kharataragaccha-pattāvali (KP) seeks to trace the genealogy of the pontiffs of the Kharatara-gaccha, right from Ganadhara Gautama, the first disciple of Lord Mahavira. Its value is immensely enhanced by the life accounts of the different Acāryās, appended to the tables. Samayasundara wrote the work at Khambat in V.S. 1690.³⁰ The well-known Abhaya Jaina Granthalaya of Bikaner is said to be in possession of one of its MSS.

Trnāṣṭaka, Raṣṭaka, Udgacchatsūrya bimbastaka and samasyaṣṭaka are some of the minor works of Samayasundara that are available in print.³¹

Besides these original writings on a wide variety of subjects, Samayasundara has to his credit an equally large number of commentaries on ancient texts, both sacred and profane, that serve to establish him as a scholiast of no mean order. His commentaries concern themselves, not unlike his original works, with diverse disciplines. These seem to have been spurred by the keenness to meet the requirements of his pupils in the monastery. In view of their succinctness, most of the commentaries are appropriately called Vrttis. Only a few of them are available in prints, the other being scattered in various Bhandaras in the form of manuscripts which are hard to be secured for proper evaluation. Of the non-jaina works Samayasundara has chosen for elucidation, Kalidasa's Raghuvamsa and Kumara sambhava deserve special attention.

The two poems have indeed been worthy games for many a jaina scholiast. Samayasundara's vrtti on Raghuvamsa, aptly named arthalāpanikā, seeks to resolve the text in a simple language with particular stress on dissolving the compounds,. At places the author has offered fresh interpretation of the well known verse or parts thereof. The compound pārvatiparamēsvarau in I.I, for instance has been interpreted as pāravatipaśca Rāmēsvaras'ca iti (Sivakes'avau) Pitapratī baddhavatsam (II.I) has likewise been given a new rendering as : pitah sankurudāhrta ityuktatvāt pite sankau pratibaddho vatso yasyat tam.

A copy of the Arthalapanika is preserved in the Jaina Bhawan at Calcutta It consists of sixty seven folios. According to Vinayasagara ji, it was written at Khambat, in V.S. 1692.

A similar pattern of interpretation is witnessed in the vrtti on kumārasambhava. The Jinaharivihara of Palitana (Gujrat) is in possession of a MS of the commentary which attests to its having been written in V.S. 1679.

Samayasundara's gloss on the Vrttaratnākara reflects his deep grasp of the science of prosody. By virtue of its manifold merits it commands a high place in the mass of commentaries it has evoked, down the years. Composed of six Chapters, the vrtti is known to have been concluded in V.S. 1694 on the auspicious day of Dipavali.³³ Three of its manuscripts are deposited with the Jaina Bhawan, Calcutta.

Samayasundara is credited with the commentaries on Meghaduta and the third canto of Māghakavya also. The latter is known through its solitary MS preserved in the Surana library at Churu (Raj).

His Tika on Vāgbhatālamkāra of Vagbhata is intended to unravel the essence of Sanskrit Poetics, as it is propounded in the work. The commentary is marked by a pleasing clarity and performs well the purpose it was expected to discharge. While elucidating the various concepts discussed by Vagbhata, the commentator has not shunned to evaluate the views enunciated on the subject by the other writers. That invests the commentary with a critical flair. It was primarily meant to serve as a guide to the author's pupil Hari Rama in prosecuting his studies in Poetics. It is known for certain to have been composed in V.S. 1692.³⁴

It is again to his keenness to minister to the needs of the students that his gloss on the Dasavaikalika sūtra, one of the most sacred text of the Jainas, owes its origin. The Dasavaikalika sutra has been commented upon, down the years, by a large number of enlightened scholars including the polymath Haribhadra Suri, whose commentary Samayasundara denounces as abstruse (visama)³⁶ Samayasundara has handled the Prakrit text with assured authority. The Dipika unmistakably betrays his deep grasp of the vast mass of canonical literature. His claim that the gloss, though not inexhaustive, is characterised by lucidity and ease, is not unjustified. It indeed serves to project the contents of the text in bold relief. On the author's own testimony, the gloss was written at Khambat, in V.S. 1691 (sasnidhisrngaramite varse).

His commentary on Bhadrabahu's Kalpasūtra, another equally sacred text, is aimed to serve a higher purpose, much beyond the academic needs of the monastic students. The Kalpasūtra is known to have evoked, over the ages, as many as ninety commentaries. Samayasundara seems to have gone through at least a majority of them with a good sieve. He was justifiably convinced of the merits of his Kalpalata,³⁷ which, he asserts, with an egoistic air, was sure to surpass the earlier glosses and commentaries.³⁸

Though begun at Lunakarnasara, it was completed at Rinipura, some time between V.S. 1684 and 1685, when, as confirmed by Dwayarasamiravrtti and yati - āradhanā respectively, Samayasundara was camping at Rinipura.

Written at Ahmedabad in V.S. 1688, Samayasundara's gloss on Navatattvaparakarana, popularly known as Navatattva-vrtti (samvat-vasu-rasa -mite), has the undoubted merit of driving home, in lucid and simple phraseology, the essence of the nine tattvas, that form the core of the Jaina doctrine, and, as such, serves as a gateway to the abstruse tenets of the Agamas.

The Dandakaprakarana of Muni Gajasara, consisting of 42 Prakrit stanzas, has also received Samayasundara's attention. The gloss seeks to explain each gāthā concisely in a manner that the true import thereof is brought home without any ambiguity sticking to it. It was written at Ahmedabad in V.S. 1696. A MS of the gloss is deposited in the collection

of the late Puran Chand Nahar of Calcutta.

Himself a noted writer of devotional hymns, Samayasundara could have hardly ignored the stotras, which command as much reverence as the canonical texts, nay are more popular with the laity. He has indeed elucidated some of the more popular stotras with his glosses and notes. Besides the great Bhaktamara and Kalyanamandira, Samayasundara has commented upon Rsimandala, Saptasmarana, Duriyarasamira and Jayatihuna. While his glosses on the last three are available in print, those on Bhaktamara, Kalyanamandira and Rsi-mandala are known to exist in the form of manuscripts only.

Samayasundara is also stated to have commented upon Vimalastuti, Linganusasana, Anitakarika, Sarasvata-Vyakarana, Verayatha and Cattari paramangani which are scarce to obtain. The vrtti on Sandehadohavali of Jinadattasuri, a work on Jaina ethics, was written in V.S. 1693.

Thus Samayasundara was a man of many parts. He embodied the tradition of sound and multi facet scholarship that has unfortunately faded out. The mere quantum of his literary output would do credit to the greatest author. And what has been revealed here pertains to one language only. His writings in Rajasthani form a formidable mass of literature.

References

1. Sitarama caupati, 6.3.50, Bikaner, V.S. 20/9,
2. Naladavadanti-rasa, Ed. R.C. Shah, Bharata Prakasan, Ahmedabad, Appendix III, P. 137.
3. Anandakavya-mahodadhi, Part 7, Jaina Pastakoddhara Fund, Bombay, V.S. 1982.
4. Vyavaharasutra, Sanderva, 1980 A.D., 3.7, 10.24-27
5. नवयौवन भर संगयम संग्रहौ । Harsanandana.
6. Darsavaikalika-vrtti, Prasasti, 2-3, Bhavasataka, 99 etc.
7. तच्छिष्यसमयसुन्दरगणिना स्वाभ्यासवृद्धिकृते । Bhavasataka, 99.
8. गुणविनयसमयसुन्दरगणी कृतौ वाचनाचार्यौ । KVP, 62.
9. वाचकपद गुणविनय नइ, समयसुन्दर नइ दीध उरे । JRS, Part III.
10. Naladavadanti-rasa, Appendix 3, Rajasoma's Samayasundaragitam, P. 133.
11. तच्छिष्य-समयसुन्दरपाठकैकृत शतकमिदम् । Viseasatakam, 4.

12. (a) Satyasiya-duskala-Varnana-Chattisi (Rajarthani) Kusumanjali, Ed. Agarchand Nahta and Bhanwar Lal Nahta, 4, Jagmohan Mallik Lane, Calcutta-7, P. 501-512.
 (b) Guru-duhkhita-vacanam (sanskrit), Ibid. P. 417-419.
13. काव्यप्रकाशे शास्त्रे ध्वनिरिति संज्ञा निवेदिता येषाम् ।
 वाच्यातिशायिव्यङ्ग्यान् कवित्वभेदानहं वच्मि ॥ Bhavasataka, 2
14. Kusumanjali, Op. Cit. Vinayasagara's introductory write-up, Mahopadyaya Samayaundara, P. 53, F.N. 14
15. Sri Jinadattasuri-Jnanabhandara, Bombay. V.S. 1993.
16. Kusumanjali, Op. cit., P. 53, F. N. 16.
17. Vicarosataka, Prasasti, 1.
18. Ed. Hira Lal R. Kapadia, D.L. Jaina Pustakoddhara.
19. Anikartha-ratna-manujśā, D.L. Jaina Pustakoddhara Fund, Bombay, V.S. 1989. P. 65.
20. Sri Parsvanathayamaka-baddha-laghu-stavanam, Kusumanjali, op. cit. P. 187., Sri Parsvanatha yamaka-bandhastotram, Ibid, 192. Yamakamayam Parsvanatha-laghustavanam, Ibid, 621; Yamakamayam Mahavira-brham-stvanam, P. 622-623.
21. Sri Cintamani Parsvanatha-slesamaya-laghu-stavanam, Ibid, P. 188; Nanavidha-slesamayam Sri-Adinatha-stotram, Ibid, 615.
22. Sri Parsvanathasya Sunkhalamaya-laghu-stavanam, Ibid, P. 189; Sri Parsvanatha-srngatakakandha-stavanam, Ibid, P. 193 etc.
23. Sanskrit-Prakrit-khasamayam-Sri Parsvanatha-stakam, Obid, P. 196.
24. यदूर्ध्वरेखाभिधर्महियंकजे
 भवान्ततः पूज्यपदं प्रलब्धवान् ।
 प्रभो ! महाभात्यवितीर्णकोटिशः-
 सुदक्षिणदो हृद ! लक्षणं दधौ ॥१॥
25. Kusumanjali, Op. cit., P. 604-614.
26. सारस्वतस्य रूपाणि पूर्ववृत्तेरलीलिखत् ।
 स्तम्भतीर्थे मधौ मासे गणि-समयसुन्दर ॥ SS'R, Prasasi, 1.
27. KK, Prasasti, 1.
28. Visesa-samgraha, Prasasti, 3-4
29. Diksa-Pratistha-suddha, Prasasti, 1-2
30. KP, Prasasti, 1.
31. Kusumanjali, Op. cit., P. 494-497.
32. Kusumanjali, Op. cit, his write-up, Mahopadhyaya Samayasundara, P. 51, F.N. 6.
33. Vrttaratnakara-vrtti, Prasasti, 2.

34. Vagbhata lamkara-tika, Prasasti, 3.
35. मया तु शीघ्रप्रबोधाय शिष्यार्थं सुगमा कृता ।
36. हरिभद्रकृता टीका वर्तते विषमा परम् ।
37. Sri Jinadatta suri-jnana-bhandara, Bombay, V.S. 1996.
38. वक्ष्येऽहं कल्यसूत्रस्य व्याख्यानि नव स्फुटम् ।
सुमानि सुबोधानि नानाग्रन्थानुसारतः ॥
न सूत्रं नावचूरिश्च न वृत्तिर्नान्यपत्रकम् ।
ग्राह्य व्याख्यानवेलायां पुस्तके ऽस्मिन् करस्थिते ॥ Kalpalata, 2-3
39. Kalpalata, Prasasti, 17.



AYAGAPATTAS AND THE BEGINNING OF JAINA CULT WORSHIP

□ A.L. SRIVASTAVA.

Mathura is known for the earliest Jaina stupas and Tirthankara images. Remains of the two earliest stupas have been unearthed from the Kankali Tila, one belonging to the Sunga age and the other to the Kusana times. The existence of a Jaina stupa of the second century B.C. is very clear from an inscription wherein a *prāsāda torana* (arched gateway) is recorded to have been dedicated by a *sravaka* (a Jaina layman) named *Uttaradāsaka*.¹ Another Jaina stupa belonging to the period immediately before Kaniska I i.e. first half of the first century A.D., is said to have been constructed by a *śrāvikā* named *Dhamaghesa*.² One of the Jaina stupas at Mathura was dedicated to the seventh Tirthankara *Suparsvanatha*.³ Mathura is said to have been the birth place of the Tirthankara *Neminatha* who was also worshipped there.⁴ Mathura was actually the main centre of Jainism. *Ayagapatta*-inscriptions mentioning the adoration of *Vardhamana* or *Mahavira* have also been found from Mathura.

Mathura was the first to carve the earliest Tirthankara images. The

Lehanipur torso bearing the so-called Mauryan polish and identified as a Jaina figure, is still controversial.⁵ Even, the Hathigumpha inscription of Kharavela (first century B.C.) does not provide evidence in favour of early origin of the Jaina figures.⁶ It is only in the late first century B.C. or early first century A.D. that the Jaina figures appear for the first time at Mathura. A number of Tirthankara images including those of Pārsvanatha, Neminātha and Mahāvira, both in dhyana (sitting) and kayotsarga (standing) postures, have been found from Mathura. Tirthankara images of the Kusana times bear on their chest the symbol of srivatsa, a typical Jaina lanchna, but the earlier images are devoid of any lanchna.

The earliest evidence of the Jaina worship is found through the ayagapattas of Mathura, which are anterior to the Jaina images. Many square stone slabs bearing some auspicious symbols namely svastika, srivatsa, nandyavarta, kalasa, puspapatra, vardhamana, mina-mithuna, vaijayanti, etc. carved on their corners, sides or centres have been found from Mathura.⁷

On one ayagapatta (SML, J. 248), there are four circles, each one within the other. The smallest one in the centre is a cakra or wheel of sixteen spokes. In the other circle there are sixteen symbols of nandyavarta arranged in such a manner as if surmounting each spoke. The third circle contains eight flying maladhari or garland-bearer-maidens, identified by V.S. Agrawala as asta-dik-kumarikas. The outermost circle is a twisted large garland (maha-hara). At the four corners there is a great serpent god (mahoraga). Finally, the slab is decorated with a border which contains a four-petalled flower in the corners and an auspicious symbol in the middle of the sides. As the ayagapatta is partly broken out from a corner, only two symbols, one each of srivatsa and nandyavarta are now available on two sides. Two winged garland-bearer attendants are also carved on each side of the border. V.S. Agrawala calls this slab as cakra-pata.⁹ An inscription from the Amaravati stupa records the gift of a cakra-pata¹⁰ which being analogous to ayagapatta of Mathura must have been a sacred object.

On another ayagapatta (AMM, Q.2) which Agrawala calls a caityapata,¹¹ there is a bas-relief representing a stupa having medhi (terrace), sopana (stairs), vedika (railing), torana (arched gateway) and flanked by a cakra-dhvaja and simha-dhvaja (pillars with wheel and lion

capitals), two salabhanjikas, flying suparnas and devotees. The facade of the platform is relieved with arched niches simulating makara-toranas and containing standing figures (male on the dexter and female on the sinister) above pedestals.¹² The carved torana has an affinity with those of Bharhut and Sanchi. The inscription on the anda (the main body) and the uppermost medhi of this stupa registers the dedications by the courtesan Vasu, daughter of ganika Lonasobhika, of a shrine (devikula) of the Arhat, a hall (ayaga- sabha), a cistern (prapa) and a stone slab (sila-pata) in the sanctuary of Arhats (nirgrantha-Arahatayatana).¹³ The inscription in six lines is as follows-

1. Namō Arahata Vardhamanasa Araye ganika-
2. Ye Lonasebhikaye dhitu samanāsavikaye
3. Nadaye ganikaye Vasu (ye) Arahate devik (u) la
4. Ayaga-sabha prapa sil(a) pa (te) pratisth(a) pite Nigatha-
5. nam Araha(ta) yatane sa(ha) m (a) tare bhaganiye dhitare
putrena
6. sarvena ca narijanena Arahata pujaye.

According to Debala Mitra, this ayagapatta belongs to the period immediately before Kaniska I.¹⁴

The fragment of another caityapata (SML, J. 255) preserves the lower portion of a stupa-relief. The general arrangements and broad/features are quite similar to those represented on the ayagapatta just described above. But the carvings are much superior in plastic art. The delineation of each and every part of the torana is marvellous.¹⁵ The inscription on the slab records the setting up of the ayagapatta by Sivayasa, wife of a nartaka (dancer), for the worship of the Arhat.¹⁶ On the palaeographic considerations, according to Debala Mitra, this inscription too has been ascribed to the period immediately before Kaniska I.¹⁷ V.A. Smith was also of the opinion that this inscription may be considerably earlier than Christian era.¹⁸ The inscription reads-

- 1a. Namon Arhantanam Phaguyasasa
- 2a. natakasa bhayaye Sivayasa
- 3a. -----i-----a-----a-----kaye
- 1b. ayagapate karite
- 2b. arahata pujaye.

All of the above described ayagapattas represent only auspicious symbols. But there have been found some other ayagapattas on which a sitting figure of Tirthankara is also carved in the centre. These ayagapattas may be termed as Tirthankarapata.

On one such ayagapatta (SML, J. 250) there is a figure of Tirthankara in sitting posture under a chatra decorated with garlands in the central medallion encircled by four tridents or nandyavartas if seen along with the circle in the centre. There spring the four ornamental arms of a large svastika around the medallion of Tirthankara. All the four arms of the svastika are fish-tailed and decorated with garlands with a flowery pendant. Each of them also contains within its bend a small symbol, namely svastika, srivatsa, mina-mithuna, and vaijayanti. In the outer circular band are depicted four auspicious symbols; bodhi-tree in railing on the right, stupa at the top, a defaced object on the left and a seated Jaina figure without parasol at the bottom. In between these four symbols there are eight couples of flying Vidyadharas. All the four corners are decorated with a figure of mahoroga in atalantic attitude. The lower side of the square frame of the ayagapatta has a row of eight auspicious symbols out of which only five are identifiable.¹⁹ These are a kalasa, a nandyavarta, a svastika, a mina-mithuna and a srivatsa. V.S. Agrawala calls it svastikapata.²⁰

The fragment of an ayagapatta represents an ornamental svastika in the centre (No. 35-36. 2563). The fish-tailed arms of the svastika on this inscribed ayagapatta spring from a lotus medallion and are decorated with borders of small square dots. The space is filled with lotus buds and flowers both in realistic and ornamental forms. The remaining arm of the svastika contains the inscription. The ayagapatta has a broad frame decorated with flowers and leafy designs.²¹ According to N.P. Joshi, the ayagapatta may be ascribed to the first century A.D.²²

On another ayagapatta (AMM, 47. 49; SML, J 249 according to V.S. Agrawala), the figure of the Tirthankara is within a square design of four nandyavartas. The flanking borders have a cakra-dhvaja at the right and a hasti-dhvaja at the left of the slab. The representation of the most auspicious and sacred asta-mangalika motifs is also found on the upper and lower borders of the ayagapatta. The four symbols, mina-mithuna, asana, srivatsa, vardhanama, are on the upper border and an inverted

nandyavarta, puspa-patra, vaijayanti and kalasa are or the lower border. Between the square design of the four nandyavartas and the lower border there is a band providing the space to contain an inscription in two lines which reads-

1. Namō arahantanam Sihakasa vanikasa putren Kosikaputrena
2. Sihanadikena ayagapate pratithapita Arrhanta pujaye,

According to the inscription, the ayagapatta was set up by Sihanadika, son of vanika (tradesman) Sihaka and son of Kausiki (mother), for the worship of the Arhats. Smith ascribes the inscription to a date anterior to Kaniska but not later than Christian era.²⁴

On one ayagapatta, the sitting figure of Tirthankara is flanked by a standing male devotee on either side. This central medallion is surrounded by four tridents with a circular border decorated with four-petalled flowers. The four corners out of this border are decorated with a pair of winged lions, elephants, three lions and a floral srivatsa. The final border is square which is decorated with floral patterns including the creeper of grapes on one side. The lower border contains a damaged inscription, the remaining part of which mentions its setting up by the wife of Sivaghosaka. The one-line inscription is as follows -

"Namō Arahantana Sivaghe (saka)sa bhari(ya) ..na..na..."²⁵

Another Tirthankarapata (SML, J. 252) with a quadruple design of nandyavartas and flanked by the lion and wheel-pillars represents asta-mangalika symbols on its upper and lower borders. The upper register contains only four symbols including srivatsa and svastika. The lower band represents eight symbols in a single row namely, srivatsa, svastika, puspa-patra, mina-mithuna, kalasa, modaka-patra, vaijayanti and inverted nandyavarta. A two-line inscription just above the lower border records the setting up of the ayagapatta by Achala, daughter-in-law of Bhadrayasa and wife of Bhadrinandin for the worship of Arhats. The inscription reads thus-

1. Namō Arahantanam (mala) nasa dhitu Bhadrayasasa vadhuye Bhadrnadisa bhayaye
2. A (chala)ye a (ya) gapato pratithapita arahatapujaye.²⁶

On another ayagapatta with usual figure of Tirthankara within a design of four nandyavartas, one-line inscription mentions the dedication of the ayagapatta to Arhat Mahavira by the wife of an inhabitant of

Mathura. Both the names of wife and her husband could not be restored. The inscription is as follows-

"Arahata Mahavirasa Mathuraka.....lavadasa bhayaye.....
va.....itaye (ayagapato)".²⁷

Another ayagapatta (AMM, 48. 3426, size 1'-3 1/4") of the Kusana times representing the Tirthankara and other human figures is reported to have been discovered from Chaubiapada (Mathura).²⁸ On this ayagapatta, the upper part of all the four nandyavartas have been formed of a pair of makaras holding aloft a lotus with their proboscis as is seen in a Bharhut panel, now in the Allahabad Museum (No. Am. 30.).³⁰

Both the sides of a fragment of another ayagapatta (No. AMM, O. Q. 3) have been published by N.P. Joshi. The upper right corner of the obverse represents a border with floral patterns and within the broad border there are again two thin borders with twisted floral designs. The interior corner represents two maladhari flying Vidyadharas. Other depictions in the centre cannot be ascertained. But between the broad outer and the two thin inner borders there is a pillar with an elephant capital as is found on some other ayagapattas. The reverse of this ayagapatta is also decorated with half rosette design but it has no other representation within the border except a two-line inscription in Brahmi characters of early first century A.D.³²

The fragment of another ayagapatta of which more than half including the central object has been lost, represents on its remaining parts the lucky fish and beautifully executed flower and scroll designs.³³ The inscription at the base is in archaic characters apparently anterior to the Kusana period, and thus adds one more to the many proofs of antiquity of the Jaina worship at Mathura. The record, though incomplete, is sufficiently intelligible. It records the setting up of an ayagapatta by Sivamitra of Kausika family and wife of Gotiputra, a black serpent for the Pothayas and Sakas. The inscription reads-

1. **N**amo arahato Vardhamanasya Gotiputrasa Pothaya....Saka...
2. **K**avalasa
3.Kosikeye Simitraye ayagapato prati.³⁴

II

Thus, we have seen that on some ayagapattas there are only symbols while on others besides symbols a Jaina Tirthankara image,

always in dhyana mudra (seated cross-legged), sometimes surmounted by a parasol and flanked by devotees, has also been carved. Thus, there are two categories of the ayagapattas, one bearing only auspicious symbols and the other bearing also a Jaina Tirthankara image. The ayagapattas bearing only symbols are earlier while those having a Jaina Tirthankara image in the centre are later. The earlier category may be assigned to pre- Kanishka period or the first half of the first century A.D. and the later category to the Kusana age.

From the term 'ayaga', scholars have taken to mean 'an object of worship' and therefore, Buhler has translated the term 'ayagapatta' as 'tablet of homage or worship'.³⁵ In the Ramayana too, the commentator has taken the word 'ayaga' to mean 'the gods for worship' (yajaniya devata).³⁶ As the Buddhapadas and Buddhist ayaka-khambhas (aryaka-stambhas) found from Jagayyapeta, Amaravati and Nagarjunikonda were meant for worship and not for any architectural purpose, similarly, the Jaina ayagapattas of Mathura did not serve any architectural purpose but were meant for Arhat worship. It is expressly stated in many inscriptions found on these ayagapattas described above.

It thus appears that these ayagapattas of Mathura correspond to the puja-sila of Sankarsana-Vasudeva referred to in the Nagari Inscription of the king Sarvatata. By the term puja-sila, V.S. Agrawala means some stone-slab like object on which worship was offered by the votaries of Sankarsana- Vasudeva.³⁷ But according to J.N. Banerjes, puja-sila might have been bearing some icons engraved on it³⁸ and thus it would most probably have been the first step towards the origin of a cult worship.

The puhumi or pudhavi (prithivi) silapattas mentioned in the Aupapatika, sutra 5, indicate that originally such slabs were made of clay or were the prototypes of the ayagapattas of Mathura and which, according to U.P. Shah, might have been kept on some small terrace under the tree-caityas in village for folk worship. This can be seen on a fragment of tympanum from Mathura, now in the National Museum, New Delhi, on the top of which four such tablets of homage are shown placed on raised platforms in front of a stupa. These tablets appear to have some engravings and flowers placed on them by devotees. According to V.S. Agrawala, ayagapatta No.J. 555 (V.A.Smith, The Jaina Stupa and Other Antiquities of Mathura, Pl.XX) actually illustrates their position round the stupa where worshippers offered flowers heaped on them.⁴⁰

The ayagapattas of Mathura, according to V.S. Agrawala, are things

of joy and beauty with perfect workmanship.⁴¹ They reflect the skill of the artists in representing a number of auspicious symbols. The religious character of these ayagapattas is quite obvious not only by their inscriptions (referring to the setting up of ayagapattas for worship of the Arhats) but by the representation of the stupas, Tirthankaras, dharma-cakras and auspicious symbols, particularly the asta-mangalika cihnas which are sacred to the Jainas.

The representations of Jinas and stupas on the ayagapattas, according to Debala Mitra,⁴² tend to prove that these slabs perched on the vedis or pithas did not serve merely as arghya-pattas or bali-pattas, where flowers and other offerings were deposited for worshipping the Jaina Tirthankaras and stupas, as in the case of the purely ornamental slabs. On the contrary, she believes, these representations would suggest that these ayagapattas were themselves, like the image of the Arhat at the deva-nirmita stupa, object of worship, a presumption supported by the manner in which the sprinkling of flowers is depicted on two of the ayagapattas in front of the stupa represented on the tympanum referred to above.

Installation of an ayagapatta was considered a pious dedication for earning religious merits which later on came to an end with the beginning of the carving of Tirthankara images and their installation in place of the ayagapattas.

Thus, the ayagapattas of Mathura indicate that the symbol-worship preceded the image-worship in Jainism. These ayagapattas belong to the period when symbol-worship was well-established and the image-worship was in offing. On certain ayagapattas, the transitory character of both the symbol-worship and image-worship is well-represented. They actually illustrate the continuity of symbol-worship amongst the Jainas and also the introduction of image-worship as combined with the symbols.

Acknowledgement

I am extremely grateful to the authorities of the American Institute of Indian Studies, Ramnagar, Varanasi, for kindly supplying photographs against Serial Numbers 4,6,7,8 and 10 to illustrate this paper.

References & Footnotes

1. Debala Mitra, *Jaina Art & Architecture* (ed. A.Ghosh), Vol. I, 1974, New Delhi, p.51 vide *Epigraphia Indica*, Vol. II, 1893-94, p. 198; Luder's List of Brahmi Inscriptions, 1912, No. 93.
2. Debala Mitra, *Op.cit.*, pp. 51-52 vide *Epi. Ind.*, II, p.199; Luder's List, No.99; State Museum, Lucknow exhibite number (henceafter and in the text SML) J. 540.
3. Debala Mitra, *op. cit.*, p. 5C vide *Vividha Tirtha-kalpa* by Jina prabha Suri (ed.Jina Vijaya), *Shanti Niketan*, 1934, p.17: 'Mathurayam maha-laksmi-nirmitah Sri-Suparsva Stupah:
4. R.C. Bhattacharya, *The Jaina Iconography*, Lahore, 1939, p.80.
5. R.C. Sharma, *Mathura Museum & Art*, Mathura, 1976, 2nd edition, p.35.
6. *Ibid.*
7. V.S. Agrawala, 'Catalogue of Mathura Museum', *Journal of U.P. Historical Society*, Lucknow, Vol. XXIII, 1950, pp.69-71.
8. V.A. Smith, *The Jaina Stupa And Other Antiquities of Mathura*, Allahabad, 1901, reprint Varanasi, 1969, P1.VIII, A. Ghosh (ed), *Jaina Art & Architecture*, Vol. I, P1.16.
9. V.S. Agrawala, *Indian Art*, Varanasi, 1965, p.232.
10. C. Sivaramanurti, *Amaravati Seculptures*, Madras, 1942.
p. 291, Insc. No. 71: 'Kojasa Cakra-pato danam'
11. V.S. Agrawala, *op.cit.*, p. 233.
12. A. Ghosh (ed), *op. cit.*, p1.1.
13. V.S. Agrawala, 'Catalogue of Mathura Museum', *JUPHS*, XXIII, Pts. 1-2, pp.69-70.
14. Debala Mitra. *op.cit.*, pp. 51-52.
15. V.S. Smith. *op.cit.* P1. XII; A. Ghosh, *op.cit.*, p1.2b.
16. *Epigraphia Indica*, Vol.II, p.200; Luder's List, NO. 10C.
17. A. Ghosh, *op.cit.*, p. 56.
18. V.A. Smith. *op. cit.*, p.19; *Epi. Ind.*, II, p. 200.
19. A. Ghosh, *op.cit.*, p1.14.
20. V.S. Agrawala, *Indian Art*, p. 232.
21. N.P. Joshi *Mathura Sculptures*, Mathura, 1966, Fig. 25.
22. *Ibid.*, p. 81.
23. V.A. Smith *op. cit.* p1. VII; A. Ghosh, *op.cit.*, P1.15.
24. V.A. Smith, *op.cit.*, p.14.
25. *Ibid.*, P1.X, p.17; *Epi.Ind.*, II, p. 207.
26. *Ibid.*, P1.XI, p. 18; *Epi.Ind.* II, p. 207.
27. *Ibid.*, p1.VIII, p. 15.
28. V.N. Srivastava & Shivadhar Misra, 'Inventory of Mathura Sculptures from 1939 Upto Date', *Bulletin of Museums & Archaeology in U.P.*, No. 11-12, June-December 1973, p.69.
29. Debala Mitra, *op.cit.*, p.63.

30. Pramodchandra, Stone Sculpture in the Allahabad Museum, Bombay.
31. N.P. Joshi, op.cit., Figs. 36, 37.
33. V.A. Smith, op.cit., p1. XIII, Fig.1.
34. Ibid., p.20.
35. Buhler, Epigraphia Indica, Vol.J, p.396, F.n. 28.
36. Ramayana, I.32.12 (Bombay Edition) and I.31.13 (Gorakhpur Edition). According to V.S. Agrawala, the term ayaga has been derived from the Sanskrit word aryaka and is the same as ayaka which is somewhat corresponding to the platform for flower offering known as pupphadhana (Mahavamsa. 30.51) or puspagrahani vedika (saddharmapundarika, 239.3) (Indian Art, p. 231). However, for the purpose and source of the ayaga platform see R. Sengupta, "The Jaina Ayaga-Platform at Mathura : An Interpretation", Bulletin of Museums & Archaeology in U.P. No. 9 (June,1972), pp 23-29.
37. V.S. Agrawala, 'Prachin Madhyamika ki Narayana-vatika, Poddar Abhinandana Grantha, pp.901-902 vide J.N. Banerjea, Religion in Art & Archaeology, Lucknow, 1968, p.9.
38. J.N. Banerjea, op.cit., p.10.
39. U.P. Shah, Studies in Jaina Art, Varanasi, 1955, p. 69; V.S. Agrawala, Indian Art, p. 232.
40. V.S. Agrawala, op. cit., p. 231.
41. Ibid., p. 232.
42. Debala Mitra, op.cit. p.64.

List of Illustrations

1. Mathura, Ayagapatta (Cakra -pata), SML, J 248.
2. Mathura, Ayagapatta (Caitya-pata), AMM, Q. 2.
3. Mathura, Ayagapatta (Caitya-pata), SML, J, 255.
4. Mathura, Ayagapatta (Svastika-pata), SML, J. 250.
Alls Varanasi, Negative No. 18-83.
5. Mathura, Ayagapatta (Svastika-pata), AMM, 35-30.2563.
6. Mathura, Ayagapatta (Svastika-pata Tirthankara-pata),
AMM, 47-49; SML, J 249 Alls Varanasi Negative No. A 2.8.
7. Mathura, Ayagapatta (Tirthankara-pata), SML, J. 252,
Alls Varanasi, Negative No. 18.66.
8. Mathura, Ayagapatta (Tirthankara-pata), SML, J. 252,
Alls,Varanesi, Negative No. 18.66.
9. Mathura, Fragment of an Ayagapatta, AMM, Q. 3.
A. Obverse
B. Reverse
10. Mathura, Ayagapatta, SML, J. 6864.
11. Mathura, Fragment of a Tympanum (Obverse) National Museum, New Delhi.

A BRIEF HISTORY OF TAPA GACHCHA

□ Ramvallabh Somani.

The Tapa Gachcha was founded by Jagat Chandra Suri who was a great scholar, preacher and an austere ascetic. He remained at Aghatpur (Udaipur) in Mewar and defeated some Digamber scholars also. Because of his practice of penance (he observed the vow of 'Ayamble' all his life) Maharawal Jaitra Singh of Mewar bestowed upon him the title of "Tapa" in V.E. 1285 at Aghat. It is interesting to note that this Gachcha was born in Mewar but grew in strength in Gujrat. Jagat Chandra Suri expired in V.E. 1327 and was succeeded by Devendra Suri I, Dharam Gosh Suri, Somprabh, Somtilak and Devendra Suri II one after the other. These Acharyas performed 'pratishthas', 'sangh yatras' and other multifold religious activities. Som Sunder Suri was an able, erudite and competent Acharya. Som Saubhagya Kavya, Guru Gun Ratnakar Kavya and many other works contain manifold details of his life as also of his journeys to Shatrunjay and other places¹. These 'sangh yatras' were taken out by Shresthis-Govind of Ider, Gunraj of Chittor, Dharna Shah of Ranakpur and many others. It is believed that Som Sunder remained very influential and came to be known as Yug Pradhan. On account of multifarious activities and literary pursuits, his period is called Som Sunder Yuga in literature. He visited Mewar in V.E.1450. Maharana Lakha sent his son Chunda and his

Pradhan Ramdeva Nawalkha to receive him at Delawara. (Devkul Patak) Mewar was then a good centre of art and architecture. Delawara was very famous for various literary activities. It was the centre of Khartar Gachcha. But the visit of Som Sunder Suri brought many families into the fold of Tapa Gachcha. He became Acharya after the death of Devendra Suri II in V.E.1457. He travelled in Mewar, Godwar, Sirohi, Gujrat and M.P. His inscriptions and colophons mention manifold activities. He consecrated the temple of Jawar (Mewar)² in V.E. 1478. He was present at Delawara in V.E.1482, when MS Kalikacharya Katha was got copied by Shreshthi Laxmansingh³ and others. The temple of Jirawla Paraswanath was extensively renovated and several 'sanghas' from various places from Rajasthan and Gujrat paid a visit there in the company of various Acharyas. We come to know of the Chaturmas of 4 Acharyas of different Gachchas, including Tapa Gachcha, being held there in V.E.1483⁴. The temple of Machind (Mewar), Chittor and Ranakpur were got renovated by Som Sunder Suri. Shreshthi Visal of Chittor and Delawara who was the brother of Govind of Ider, paid due reverence to Som Sunder Suri. He built the temples at Machind Fort (near Kumbhalgarh) and Chittor and got several copies of Kriya-Ratna-Samuchaya made⁵. The Mahavir Prasad Temple was got renovated by Shreshthi Gunraj and was consecrated by Som Sunder Suri at Chittor in V.E.1495. The famous temple of Ranakpur was constructed by Dharna Shah. In V.E.1498, its 'pratishtha' of the lower part was performed by Som Sunder Suri, who had become very old and subsequently expired at Ranakpur in V.E.1499. He composed several literary works named Bhasaya Traya Churni, Kalyanak Stava Ratna Kosh, Updesh Balavabodh, Yoga Shastra Balavabodh, Bhashya Traya Awachurni and other works. The Updesh Balavabodh is compilation of several instructions pertaining to etiquette and good behaviour. He used brief fables to clarify the incomprehensible, ambiguous and other religious subjects. The Yoga Shastra Balavabodh is another important work dealing with 'Yogic' philosophy in its pristine glory, five Mahavratas and many other items. He liked to compose his works in local dialects. His contribution in the field of literary pursuits is of great significance⁶. The detail of the 'pratishtha' performed at Ranakpur is recorded by poet Meha in his Ranigpur Stava V.E.1499. He mentions that when the first storey of the temple was completed, its consecration ceremony was got done through Som Sunder Suri. A large crowd assembled there to witness the functions.

The dramas and other religious activities were regularly organized there. Som Sunder also sat there. The people in large number came regularly there to pay homage to him. Soon after, when he expired in V.E.1499, he was cremated at Ranakpur.

Som Sunder Suri had a large number of pupils. We find the names of Jagchandra Suri, Somdeva Suri, Bhuvan Sunder Suri, Jin Sunder Suri and others. These Acharyas remained mostly in Mewar. It was the period of Maharana Kumbha, who was a very learned and able ruler. He got versified the Sangitaraj and built the famous Kirti Stambha, Kumbhalgarh fort and many temples at Chittor, Kumbhalgarh, Eklingji, Achaleshwar (Abu) and many other places. He venerated the Jain Monks. He gave the epithet of 'Kaviraj' to Somdev Suri. At the time of celebrations of Ranakpur temple, Somdev Suri received the title of 'Vachak'. The Som Saubhagya Kavya mentions that he always spoke in sweet tongue. In the religious discussion, no competitor could stand against him. On account of his sweet tongued oratory, the competitors always avoided rivalling him. The Som Saubhagya Kavya further mentions that Maharana Kumbha, who was famed an invincible conqueror, respected him very much. Some scholars compare Somdev with Siddhasen Diwakar, Bappa Bhatti and Hem Chandra. The Guru Guna Ratnakar Kavya mentions him as the vanquisher of rivals. It is also stated that Maharana Kumbha respected him due to his poetic excellence⁷.

Jayanand was another poet who flourished before V.E.1478. He was a great scholar. Due to his knowledge of Sanskrit and philosophy, he was known as Krishna Saraswati. He composed Pathyakhyan Vivarna Samuktava Kaumudi and Pratikraman Vidhi. Jin Harsh Gani was his pupil who composed Vastupal Charita V.E.1497, at Chittor. It was composed in Sanskrit and contains manifold details. Even after two hundred years of the death of Vastupal and Tejpal, such details appearing in the work required much time in compilation of matter. It was published in V.E.1998 by Kirti Muni from Shanti Suri Jain Granth Mala. The Rayan Sehari Kaha was composed in Prakrit. The author was a competent scholar who furnished much detail of architectural scenes, natural atmosphere, and others⁸.

The Tapagachcha Gurvavli was composed by Jin Vardhan Gani. It is an historical work having much detail of each Acharya. Visal Ratan Gani

compiled the Bhaktamar Avachuri on Posh Sudi I, V.E. 1482 at Delawara (Mewar). Jai Shekhar Suri copied the MS Gachchachar in V.E.1491 during the reign of Maharana Kumbha. At the end of the work, it has a colophon which mentions that the work was completed with the help of Humbad Shreshthi Singha, who spent Rs.2000/- on this work. Shrimall Shreshthi Jhanta styled as Rishishwar was also remembered in the colophon, perhaps due to his active assistance in the work⁹.

The Chittor inscription of V.E.1495 of Mahavir temple Chittor was composed by Charitra Ratna Gani of Tapagachcha. During the invasion of Akbar, the 'prashasti' was broken in pieces. Only a portion of it, having verses 89 to 104 in 13 lines was recently noticed by the author, who had published the text in the Varada Vol IX, part III, pp 7-9. It is now lying in the Neel Kanth temple of Chittor. A copy of the 'prashasti' executed by Charitra Ratan Gani in V.E.1508, with some improved text is available in the Deccan College, Pune. On comparing its text with the recently noticed inscription, some changes have come to light. It seems that the author has improved the text in the later work. It is edited and published by D.R. Bhandarkar in the Journal Bombay Branch Royal Asiatic Society Vol XXIII at page 41. This 'prashasti' is a good work of Sanskrit. It gives a geographical account of Mewar, dynastic history, details of Maharana Kumbha's reign, the family of Gunraj Shreshthi and Tapa Gachcha monks. The description of Chittor and other parts of Mewar given in it proves that Charitra Ratan Gani was a good poet of Sanskrit and an outstanding Scholar. He has used a good number of adjectives and seems to have a flair for orics¹⁰. He has also composed Vishanti Sthanak, Vicharamrita Sanghaha and Dan Pradeep. These works were composed at Chittor. The Dan Pradeep is a very long work completed in V.E.1499 having 6675 verses. Several stories have been used in it, which has increased the suitability of the work. It was published by Chatur Vijayji from Bhavnagar in V.E.1974. The Ranakpur inscription of V.E.1496 is an important epigraph having 47 lines. It was composed in good prose. The description given in lines 17 to 36 is full of good similes. The long sentences characterise this well-worded piece proving the author's good command over Sanskrit. Unfortunately, the name of the author has not been recorded in it. But he must have belonged to the Tapa Gachcha.

Ratna Mandir and Pratishtha Som were good Sanskrit scholars.

Pratishtha Som composed the Som Saubhagya Kavya wherein he has gives the details of the life history of Som Sunder Suri. He has also described the religious, social and cultural events. It has the detail of Jain monk life from his 'diksha' to his death. Account of Jain monks travelling with Jain Sanghas started by rich Shreshthis has been given. The details of the Sanghas started by Govind of Idar, Gunraj of Chittor and many others with consecration ceremonies performed at Delawara (Mewar), Ranakpur, Chittor and many other places have been given. He has used many 'deshi' words and described the functions with ample vividty. The 'pahirawani' (distribution of clothes on some auspicious occasions), preparation of sweets, distribution of cocoanut and many other social customs have been described. The author's painstaking efforts to narrate the detail of the celebrations made him quite popular. One more work Katha Mahodadhi was also compiled by him. One copy of this work is available in the collection of Oriental Research Institute, Jodhpur. Ratna Mandir was a famous author, who composed Updesh Tarangni. It has many details of social, religious, numismatic and other matters. It also has many old Rajasthani words. Another work of the author is Bhoj Prabandh, recently published by Bhartiya Jnanpeeth, Delhi¹².

After Som Sunder, Muni Sunder, a most competent Sanskrit scholar, was made an Acharya. He survived for a few years. He composed several good Sanskrit works. The Vignapati patra sent to Dev Sunder Suri was composed by him. Its Gurvavli portion only is available now. The Adhyatma Kalpadrum is an important work composed by him. It is a famous work translated by Shri Lodha in Hindi. The Tridas Trangini, Updesh Ratnakar, Shantikar Stotra and many other works were his contribution. The Shantikar Stotra was definitely composed at Delawara (Mewar) as the name of the place occurs in the text. Zafar Khan of Khambat conferred upon him the title of 'Vadi Gokul Sakandha' and some South Indian Pandit gave him the title of Kali Saraswati. He was also present at Jawar in V.E.1478 when Som Sunder Suri performed the consecration ceremony¹³.

Ratan Shekhar Suri became the Acharya of the Tapa Gachcha. He was born in V.E.1457 and became a monk in V.E.1463. He was honoured at Delawara (Mewar) in V.E.1493. The works composed by him are Shradh Prakarna Vriti, Sharadh Vidhi Kaumdi, Achar Pradeep, Laghu Kashetra Sansa and others. Charitra Ratan Gani remained his associate, who

amended and corrected his works also. He widely travelled in Mewar, Godwar, Sirohi, Gujrat and Malwa¹⁴. The remaining 'pratishtas' of Ranakpur temple were done by him. Several known inscriptions from V.E.1503 to 1517 throw light about his various activities in Mewar and other areas. Manikya Sunder Gani composed Bhava Bhavna Balavbodh in V.E.1501 at Delawara (Mewar). This work was amended by Yati Siddhanta Nipuna. He remained alive for many years and actively served Ratan Shekhar Suri. Shubh Shila was another writer who remained alive upto V.E.1540 and also composed many works¹⁵.

Laxmi Sagar Suri succeeded Ratna Shekhar Suri. He consecrated several temples and icons. From V.E. 1517, he was appointed as the Acharya. We find his inscriptions on the bronzes of Godwar, now preserved in the Chintamani temple of Bikaner, dated V.E. 1517 to 1535¹⁶. A few icons of Achalgarh dated V.E. 1518, Bhim Vasahi of Abu dated V.E.1525 and others were consecrated by him. It seems that the festivities of Bhim Vasahi were arranged at a large scale¹⁷. Several Jain monks of Tapa Gachcha including Sudhanandan Suri, Sanjay Suri and others were also present. After Laxmi Sagar Suri, Sumati Badhu succeeded.

He arranged several consecration ceremonies. He died circa V.E.1552 and was succeeded by Hem Vimal Suri. He did hard labour to remove 'shithalchar' (loose discipline) among the Jain monks. Those monks who could not mould themselves according to his instructions, were removed from the Sangh. In Lalpura, he arranged the consecration ceremony of a Jain temple built by Shreshthi Dhanpal in V.E.1563. In V.E. 1570, he endowed the status of Acharya on Anand Vimal, who was a very erudite pundit. Hem Vimal remained much active in Gujrat. He criticised the 'Kaduva Panth' now known as 'Baies Sampardaya'. The style of his preaching was very effective. His descendants were learned pundits and composed several works. Among them the names of Jin Manakya and Harshkul Gani and others are noteworthy. Various branches of Tapa Gachcha known as 'Kutubpura', 'Kamal Kalasa', 'Palanpura' and 'Vimal Shakha' sprang up during this time.

Hem Vimal Suri's successor was Anand Vimal Suri. He travelled in Jaisalmer area and made the Kothari family his follower. He also went to Mewar, Marwar and Mewar to carry out propaganda against the 'Baies Sampardaya' or 'Kaduvas'. The renovation of Shatrunjay temple was

arranged by Karma Shah of Chittor in V.E. 1587. The detail of this event is recorded in the Shatrunjay Tirthoddhar Prabandh and in three inscriptions of V.E. 1587.¹⁸ It is mentioned that when Bahadur Shah was in exile at Chittor during the reign of Maharana Sangha, Karma Shah's family gave him a loan of Rupees One Lakh on the condition that whenever he might be the ruler of Gujrat, necessary permission to renovate the above temple be given to him. Accordingly, the monks of Tapa Gachcha Lavanya Samudra and others accompanied Karma Shah and went to Ahmedabad from where a 'firman' was obtained from the Sultan Bahadur Shah to renovate the temple. It seems that several 'sutradhars' named Tila, Poma, Ganga, Gaura, Tala, Deva and others were taken from Chittor to undertake the work of renovation. The work was soon completed and several Jain sanghas from Mewar, Ahmedabad and other parts of the country attended it. Anand Vimal worked hard to improve the Jain monks of Tapa Gachcha.

Vijaydan Suri succeeded Anand Vimal Suri. He remained much busy in Gujrat and died in V.E. 1622 at Badali. He was succeeded by Hir Vijay Suri. Akbar invited him to visit his court. He was then living in the Gandhar island. Akbar sent a 'firman' in 1582 A.D. to Sihabuddin Ahmed Khan, the Subedar of Gujrat, to ask Suriji to visit his court. On receipt of the 'firman', Suriji went to Ahmedabad. The Subedar asked to arrange the means of transport to which Suriji refused and went on foot to Agra, where he reached on June 7, 1582 A.D. He first met Abul Fazal, who took Suriji to the palace. Abul Fazal tried to discuss various points with Suriji but Suriji plainly told that agony and happiness are derived in one's life according to one's own actions. Abul Fazal was much impressed by the short and plain reply heard from Suriji. On 18th June, 1582 A.D., Suriji met Akbar. When it was made known to Akbar that Suriji, following the traditions of his sect, came on foot, he was much pleased. Akbar enquired from him 'what was religion'. Suriji told that any act based on kindness, was the religion. Akbar, who was much interested in the hunting excursions, was much impressed on hearing the reply. He gave the collections of Jain MSS available in his palace. These were taken from the collection of Padam Suriji by Akbar. He was also interested in giving gold and silver and other valuables, but Suriji refused. Akbar also issued a 'firman', according to which a ban was imposed on the slaughter of animals during 'Paryushans' and four other days. Further, on the advice of Suriji, Akbar also issued orders to have a complete ban on fishing in the tank of Fatehpur Sikari.¹⁹ In 1584 A.D. the

title of 'Jagad Guru' was bestowed upon the Acharya. The title of 'Upadhya' was bestowed upon Shanti Chandra. Suriji remained at Agra, Ibrahimabad and Fatehpur Sikari and returned to Gujrat in 1586 A.D. During his return journey, he came to Nagaur and passed a rainy season there. From there he came to Pipad where some persons from Bairat came and requested him to consecrate the newly built Jain temple there. He thus moved there and completed the function in V.E. 1645. A Jain family of Usmanabad also insisted upon him to attend the function of renovation done at Ranakpur in V.E. 1647.

Shanti Chandra Upadhya composed 'Kripa Rasa Kosh'. It is said that he composed some verses in the presence of Akbar who always held high opinion about him. When he started for Gujrat in 1587 A.D., the Emperor again ordered to issue 'firman' prohibiting the slaughter of animals and proclaiming the abolition of Jaziya tax, which was already abolished by Akbar much earlier. Thus for a period of 6 months, the slaughter of animals was prohibited. The order was followed strictly as both Badaoni and Abul Fazal have mentioned in their books.

Kalyan Vijay Gani was the pupil of Hir Vijay Suri. He had studied Veda, Puran and many other subjects. Hir Vijay Suri appointed him Upadhya in V.E. 1624 at Patan. He also travelled in Marwar, Godwad, and Bairat. His descendant Upadhya Yashovijay became a famous monk of the time.

Vijaysena was invited by Akbar to Lahore. An attempt in this respect was made by Durjanpal Jadiya. A copy of the order was given to Bhanachandra Gani, who arranged to deliver the same to Suriji. Vijaysen reached Lahore on 31.5.1593 A.D. He was given great respect by Akbar. At that time, Nandi Vijay did 'Avadhana'. The Emperor got much pleased and endowed upon him the title of 'Khush Faham'. At that time, Ramdas Kachhawa, a leader of the Hindus, made a complaint that the Jains did not believe in Vedas and God. At the instance of Abul Fazal, a religious debate was arranged between Jains and Brahmins. Vijaysena rejected the objections raised by the Brahmins and replied all their questions cleverly. Akbar became much pleased and gave him the title of 'Vardhaman Vidhya'. He sent Abul Fazal to arrange Nandi Mahotsava. However, on hearing the illness of Heer Vijay Suri, Vijay Sen returned. But Siddhi Chandra and Bhanu Chandra continued with Akbar. Once Akbar got hurt

while doing the hunting excursion. He was kept inside the palace where only Abul Fazal and Bhanu Chandra were allowed to visit.²⁰

Bhanu Chandra and Siddhi Chandra continued to stay at the court during the reign of Akbar and Jehangir. When Akbar was ruling, Bhanu Chandra requested him to abolish the tax levied on the Jain pilgrims going to Mount Shatrunjay. Siddhi Chandra was a very handsome youth. He had a marvellous feat of memory and did 108 'Avadhans'. The Emperor Akbar granted him the title of 'Khush Faham' (sharp intelligence) During the reign of Jehangir, misfortune fell upon the Jains. Jehangir was much impressed with Siddhi Chandra and wanted him to give up monkhood to which Siddhichandra plainly refused. On hearing the answer, Jehangir got highly displeased and ordered the banishment of Jain monks from Agra.²¹ Siddhichandra and Bhanuchandra went to Malpura where they arranged to construct the temple of Chandraprabhu in V.E.1672. It seems that the order of banishment was given in V.E.1670. At present, the icon of Malpura temple has been re-placed, but it seems that it remained in worship, as stated in various Tirth-Malas²². Both Siddhi Chandra and Bhanuchandra later went to Jalore, where they passed a few months. When they were staying at Jalore, Mubarak Khan, the newly appointed Governor of Gujrat (1616-1618 A.D.) met Siddhi Chandra and asked him to accompany him to Ahmedabad. After the death of Vijay Sena Suri, Vijay Deva Suri succeeded. According to the Tapa Gachcha sources, a debate was arranged with the Khartara Gachcha monks, in which the latter were badly defeated²³. It is to be noted that Vijay Deva Suri slanted in favour of 'Sagar paksha', a group of Tapa Gachcha. It is recorded that some senior scholars, pundits and others tried to persuade Vijay Deva Suri to abandon his support to the 'Sagar paksha' but it proved of no avail. The anti-group appointed Vijay Tilak Suri as successor of Vijay Sena Suri. In this way, two branches of Tapa Gachcha sprang up. Another struggle between the members of Tapa Gachcha was going on from the time of Hir Vijay Suri. Dharam Sagar Upadhyaya wrote a book named Kumati Kudal which contained several glaring objections and facts against Jainism. Objections were raised by several scholars and monks against the above book. According to Khartar Gachcha sources, Jin Chandra Suri held religious discussion about the book Kumati Kudal and defeated Dharam Sagar. Vijay Deva Suri of Tapa Gachcha had the book thrown into water but the struggle continued and Dharam Sagar drafted another book also.

The Moghul Emperor Jehangir, on hearing the dispute between the Jains of Tapa Gachcha, invited them to Mandu, where he was staying. He also tried to settle their dispute. He gave the title of 'Maha Tapa' to Vijay Deva Suri²⁴. He also respected the other group. The titles of 'Khush Faham', 'Nadira-Zamana', and 'Jehangir Pasand' were given to Siddhi Chandra. On account of the respects given to Vijay Deva, his group became more powerful. He seems to have reconciled with some followers of the other group. He invited Siddhi Chandra when he was going with Mubarak Khan to Ahmedabad, but he refused to join him. Bhanu Chandra died before V.E.1690, when Mehajala, a Sanghpati of Sirohi, led a Sangh to Shatrunjay. Vijayanand, the successor of Vijay Tilak Suri, Siddhi Chandra and others joined it. But Bhanu Chandra was absent. The monks of Vijayanand group did active propaganda against Sagar Paksha in Mewar, Godwar and other parts where it could not develop.

Vijay Deva Suri of the main branch remained quite active after the grant of epithet of 'Maha Tapa' to him. He had a good physique and lived upto V.E.1709, as his foot prints were installed at Patan in that year. He widely travelled in Rajasthan and consecrated several icons at Jalore, Pali, Medata, Kishkinda, Udaipur, Barkana and other places, as is evident from inscriptions, an account of which is given below.

The Malpura Jain temple contains inscriptions of V.E.1672,1678,1690 and 1691. The inscription of V.E.1672 mentions the name of Chandra Prabhu Jain temple built there by Jain Sangha at the instance of Siddhi Chandra and Bhanu Chandra. It also has the name of Vijay Deva Suri as the Bhattarak. The name of Chandra Prabhu remained, as is apparant from the inscription of V.E.1678. But it seems that later on, change was made in V.E.1691, and icon of Muni Suvarat was installed in place of Chandra Prabhu. All the inscriptions bear the name of Vijay Deva Suri as the Bhattarka. One epigraph of V.E.1672 of Vijay Gachcha also has the name of Vijay Deva Suri²⁵.

Maharana Jagat Singh I of Mewar respected Vijay Deva Suri very much. As per his instructions, the following items were prohibited²⁶.

- (1) Not to slaughter any animal on the day of the coronation of Maharana Jagat Singh I.
- (2) Not to kill any animal in the month of Bhadwa, this being the month of his birth.
- (3) Fishing is forbidden in the Pichhola Lake.

- (4) The forts of Kumbhalgarh and Machind, having various Jain temples, be renovated.

The Tapa Gachcha sources mention that the respect given by the Maharana to Vijay Deva Suri was equal to the veneration given by Kumarpal to Hem Chandra. Several inscriptions upto V.E.1709 are found installed. The Barkana inscription of V.E.1686 edited by the author in Sambodhi (Ahmedabad) contains the details of the concessions given by the Maharana of Udaipur during the fair held in the temple of Paraswa Nath. They were given at the instance of Vijay Deva Suri. The old temples of Jalore were likewise renovated in V.E.1681, 1683 and 1684. All the temples have the name of Vijay Deva Suri as the Bhattarka. The inscriptions of V.E.1681 and 1683 were installed by Jaimal Mauhnnot, the father of Nainsi. The inscription of V.E.1684 was installed by Pamecha Oswal of Medata. It seems that Jai Sagar, a Jain monk lent active support in the above construction work. The 'Sutradhars Tola, Issar, Taha, Duha and Hara also constructed a separate Jain temple which has an icon consecrated by Vijay Deva Suri. Nadol, the old capital of Chauhans, contains beautiful Jain temple. It was renovated in V.E.1686 and the icons were installed by Vijay Deva Suri and his disciple Vijay Singh Suri²⁸. The Kekind Jain temple also contains the name of Vijay Deva Suri, as the successor of Vijay Sena Suri. Nadlai is an important Jain Tirtha, where also the icons were installed in V.E.1674, 1686 and other time²⁹. These were got installed by Vijay Deva Suri. From Pali, three inscriptions of V.E.1686 were noticed. These were installed by some Jain families of Medata, Pali and others. Similar inscriptions have also come to notice from Ghanghani and many other places of Gujrat, Malwa bearing the name of Vijay Deva Suri. Vijay Singh Suri was appointed the successor of Vijay Deva Suri but he pre-deceased him.

According to Tapa Gachcha sources, Vijay Singh Suri was the 61st in succession from Mahavira. His disciple was Satya Vijay Gani who was succeeded by Kapur Vijay, Kashma Vijay, Jin Vijay, Uttam Vijay, Padam Vijay, Rup Vijay, Kirti Vijay, Kastur Vijay, Mani Vijay and Buddhi Vijay one after the other, but none of them was given the status of Acharya. Buddhi Vijay's disciple was Atmaram, or Anand Vijay, who became Acharya in S.E.1943 at Palitana, and came to be known as Vijayanand (whose passing away centenary is being celebrated). Vijayanand was a great saint and scholar who wrote at least 12 books in prose, outstanding being Tattva

Nirnay Prasad, Ajnan Timir Bhasker, Jain Tattwadarsh. He was also a poet of distinction and composed seven books of poetry dealing with worship in temples. He was an outstanding scholar of Sanskrit, Prakrit and other languages and credit for spread of Tapa Gachcha in Punjab entirely goes to him. He was invited to attend the Parliament of Religions held at Chicago in the S.E. 1949 as the sole representative of Jainism. Although he himself could not attend it, he sent his representative Vir Chand R Gandhi. He consecrated many temples in Punjab and other places. He was widely travelled person, as is evident from the rainy season stays at different places. Many educational institutions are named after him. He was succeeded by Vijay Vallabh Suri who carried on the work of spread of enlightenment among the Jains. He was succeeded by Vijay Samudra Suri and Vijay Inderdinn Suri.

Another group appointed Vijay Tilak Suri who expired in V.E.1676 and nominated Vijaynand Suri as his successor. The Jains of Sirohi remained much active and brought out a Sangh Yatra in V.E.1690 to Shatrunjay in which Vijayanand joined. His inscriptions from Sirohi area are found having the dates of V.E.1695 and 1698. After his death, Vijay Raj Suri succeeded and consecrated the Jain icon of Kolar (Sirohi) dated V.E.1721. He was succeeded by Vijay Ratna, Heer Ratna, Jay Ratna, Bhava Ratna Suri one after the other. Bhava Ratna remained active in the last quarter of 18th century A.D.

Another branch of Tapa Gachcha developed under Vijay Prabha Suri who succeeded Vijay Dev Suri. Under his instructions, the temple of Girnar was renovated in V.E.1710. The Adinath temple of Sirohi contains more than 40 inscriptions of V.E.1721. He remained active in Gujrat, Mewar, Godwar, Sirohi, Jalore and other areas. He died in V.E.1773.

The Tapa Gachcha monks carried on their work of religious propagation. One comes across the names of Vijay Kashma Murti, Vijay Daya Murti, Vijay Dharammurti, Jinendra Suri, Devendra Suri, Dharnendra Vijay, Rajendra Suri and many others succeeding one after the other in several branches of Tapa Gachcha known as Brihad Poshal, Leghu Poshal, Sagar Gachcha, Kutubpuria Gachcha, Brahmi Tapa Gachcha, Agmiya Shakha, Tapa Shakha, Ratnakar Gachcha, Vimal Shakha, Sodharma Brihad Tapa of Rajendra Suri.

REFERANCES

1. Som-Saubhagya-Kavya/Guru Guna-Ratnakar Kavya/Maharana Kumbha by the Author Chapter VIII.
2. Vir-Vinod Vol I Appendix.
3. Amritalai Maganlal Shah-Prashesti-Sangraha Vol. II PP. 7.
4. Daulatsingh Lodha-Jain-Pratima Lekh-Sangraha P. 275.
The Devakulikas No. 8, 9, 10, 11, 12, 13, 14, 15, 19 & 51 contain the inscriptions of Som Sundar Suri and his follower Bhuvan Sunder.
5. The inscription of Machind dated VE 1494 was edited by the author and Jagdish Chandra Joshi of Udaipur. It was published in the Sudh-patrika (Udaipur). For others see Devakulpatak by Vijay dharma Suri Introduction.
6. Authors book Maharana Kumbha Chapter VIII P. 282-85.
7. ibid.
8. ibid.
9. ibid.
10. Journal Bombay Branch of Royal Asiatic Society Vol. XXIII P. 41-42, Varada Vol IX pt. III pp. 7-9.
11. Maharana Kumbha pp. 267-268/ Jin Vijay-Prachin Jain Lekh Sangraha Vol. II Inscription No. 307.
12. Authors book Maharana Kumbha Chapter VIII pp. 285-86.
13. Mani-Kanti Sagar's Book on Shatrunjay.
14. ibid.
15. Author's book Maharana Kumbha Chapter VIII.
16. Agarchand Bhanwarlal Nahta-'Bikaner Jain Lekh Sangraha.
17. Jayant Vijay -Arbudachala-Jain Lekh Sandoh, Inscription of V.E 1525.
18. Epigraphia Indiced Vol. II p. 42-47/The Shatrunjaya- Tirthoddhar Prabandh Chapter II Verses 47-69/Jin Vijay No. 1-3/Author's book History of Mewar 181-82.
19. Deva Vimal-Heer Saubhagya Mahakavya/Hemvijay,Vijay Prashastri and commentary of Guna Vijay (VE 1686) Padma & sagar Jagadyuru Kavya/The English translations of the firmans issued by Akbar are available in the Bhanu chandra gani-Charita (Introduction).
20. Mohan Lal Dulichand Desai's introduction to Bhanuchandra Gani Charita (Sanghi Jain Grantamala).
21. Vijay Tilak Suri Rasa Adhikar I (1679 VE) by Darshan Vijay. It mentions that in 1670 VE Jahangir ordered the banishment of Jains from Agra. He also states in Verses 1179 to 1175 that Jehangir insisted on Siddhachandra to get himself freed from the monkship to which he denied/Bhanuchandra gani- Charita Chapter IV verse 334/34 Tuzug- i - Jehangir English translation by Rogers Vol I P. 438).
22. The Author's paper 'Malpura Ke Tapagachchhiya Silalekha published in the Sodh-Patrika Vol. 43/No.2pp.61-63.
23. Bhanuchandragani-Charita(Introduction p.p. 49.)

24. ibid. p. 64/ Vijaydeva Mahatyma Chapter XVII.
25. Sodhpatrika Vol. 43 No. 2 pp. 61.63.
26. Tapagachchhiya-Gurvavli.
27. Jin Vijay-Op. cit.No. 354. 355, 356, 358, 359.
28. ibid No. 366, 367.
29. ibdi No. 341 and 377.
30. One inscription of VE 1721 is also available at Nadlai (ibid No. 336).



SPIRITUAL DISCIPLINE AND PRACTICES IN JAINISM

□ Dr. Bhag Chand Jain

Spirituality is the essence of spirit or self or ultimate reality in being which comprises of right knowledge and right conduct in its relation with the universe. It is beyond the physical or material world and therefore is immanent. It is called adhyatma (pertaining to self) in Sanskrit. Spiritual knowledge of the self or Atma requires its realization that one has capacity and aspiration to attain the highest and ultimate truth. Spirituality needs spirit in its purity which can be achieved only by an inwardness, intuition and mysticism. Ultimate reality is related to world until one reaches ultimate spiritual destiny. Therefore there is significant relationship between human and pure spiritual and natural and super-natural power.

An empirical man is expected to follow the auspicious qualities or values and ethics and morality which are intimately related to the ultimate. Ethics is man's intellectual search for conceptual knowledge about the good¹ and morality is essentially merely a mode of personal and social conduct. Both these together help a man to reach ultimate reality.

Spirituality, religion and philosophy are intimately connected with each other. The word "Religion" is derived from the latin verb "religare" i.e. to bind which means religion is to impose duties that bind and requires observance on the part of its adherents. It has a wide sphere for the

spiritual upliftment of the self and society. Its fundamental subject is to search ultimate truth with intuition but simultaneously it can also be a social dynamic and a subject for intellectualistic enterprise involving metaphysical and philosophical presuppositions. It is first subjective and then objective. When religion is considered for the sake of spiritual realization, it becomes a basic instrument for the welfare of mankind, and its society.

Religion can be translated with the word "dharma" and dharma indicates the traditional values and universal truths. Acarya Kundakunda, a Jaina spiritualist is of view that the Caritra (conduct) is Dharma and dharma is equality and equanimity which are the parinamas of soul and which can be attained by destroying deluding karma (Mohaniyakarma). 2

Philosophy is essentially an intellectual pursuit which provides a man with a new sphere to ponder over religious and social problems with certain moral values and spiritual qualities. Religion is for self-valuation and philosophy stipulates the logical speculation. Specially in Indian philosophy, the knowledge is an instrument and spiritual salvation is the supreme goal. Philosophy is the base of religion. Philosophy is pervading and religion is pervaded. Religion stresses practical aspects of life while philosophy gives it the metaphysical and intellectual expression. Therefore both religion and philosophy are profoundly correlated with each other. They uphold the supremacy and ultimacy of liberation from conditioned existence.

Spiritual disciplines and practices are representative wings of religion and philosophy. Spirituality is immanent in human nature, religion is a moral force and philosophy is an intellectual instrument for achieving the spiritual and religious goals. Under this perspective Jainism originally preaches ideals for attaining spirituality. Its religious aspects enjoin discipline for social upliftment and philosophy justifies them for exemplary behaviour. We know the nature and ambit of the subject which is very wide and speculative and therefore only the gist of the traditional values, disciplines and practices is given here.

Spirituality relates to having belief in an independent existence of soul, its nature of innate purity, and the removal of ignorance through right means. To attain this spiritual goal a certain amount of disciplines and practices is prescribed by all the systems. Therefore there is no

controversy over the spiritual goal but the controversy lies in framing the disciplines and practices leading to the goal. Here we shall have a bird's eye view of the concept of Jainism in this regard.

Conception of Spirit and other categories

The main aim and object of spiritual disciplines and practices is to enable a man to realize spiritual happiness and perennial peace. To obtain this goal of life, one is expected to believe first in the existence of spirit or soul which is said to possess qualities of consciousness, remembrance, desire for knowledge, desire for movement, doubt etc. The other substance is non-soul which is not endowed with consciousness. Matter, motion, station, space and time come under this category of non-soul (ajiva). Of these the soul and non-soul categories are the most important as their interaction results in the origin of the universe.

Soul is, according to Jainism, the central point of spiritual disciplines and practices. Its distinctive characteristic is consciousness, the power of cognition (upayoga) which distinguishes it from body or physical entity. It is infinite in number, is without beginning. It exists within the corporal shape whatsoever it may be. Soul is formless, agent, enjoyer of the fruits of karmas, and exists in the world. Its cognitive operation is generally divided into two types, viz. determinate (sakara) and indeterminate (anakara). Soul apprehends the object concerned first in specific form and then in a generic form. When one attains the state of complete development, one becomes capable of knowing and perceiving all at once. This is the highest spiritual point where one finds transcendence in extraordinary experience.

Soul is of two types-one is worldly and the other is emancipated. The worldly soul attracts influx of karmic matter and gets mixed together with false notions, negligence and passions. As a result, soul becomes obscured. The state of mutual intermingling of the soul and karmas is the process of bondage which causes birth and rebirth. This transmigratory cycle remains with the soul until it is destroyed by anti-karmic forces. The true nature of soul is thus hidden behind the veil of evil karmas. The veil has to be removed and this is done by spiritual disciplines and practices. This is the core point where from the practical form of Jaina metaphysics commences. By means of observing code of conduct as laid down by Jaina scriptures, the spiritual aspirant gradually effects the cessation of the

inflow and the disruption of the karmic matter. Then the soul attains at last the state of complete annihilation of all karmic matter which is called spiritual salvation, the state of permanent happiness.

The living beings may be divided into two groups. The first group belongs to those who consider happiness in worldly enjoyments through external means confined to materialistic approach with lesser development. On the other hand, the second group comprises of those who believe in disentanglement from worldliness and attainment of meritorious spiritual qualifications and real happiness with right means alone. The first strives for economic possession and the second one observes the religious conduct for realization of the ultimate truth.

As the Acaranga says, the soul indulges in actions, takes birth, dies and transmigrates, all in utter solitariness : I have always been solitary : I belong to none else; I behold no one whom I can say I belong to nor do I behold one whom I can designate as mine. The path of worldliness is nothing but disaster. Who, whose and where are one's kith and kin? Who, whose, and where are strangers, and viceversa. There comes a time when nobody remains as kith and kin and nobody a stranger. Ponder thus "I am all alone. Nobody was mine in the past, nor will ever be in the future. It is because of my karmas that I delude myself and consider others as mine. The truth is that I was alone in the past and will ever be all alone."³

According to Jainism, soul and God are identical, inasmuch as they are the two stages of same entity. Every soul is potentially divine and the manifestation of divinity is called Paramatmahood. It has three stages, the first stage Bahiratman engages itself in the external objects through the sense doors, confounds the self with the body. The second stage Antaratman repents for this indulging tendency of sense and determines to see the self within, and the third stage is the Paramatman, the Siddhahood, a soul that has freed itself from the bondage of karma and cycle of birth and death. Such a soul annuls even the vibratory activities but preserves infinite perception, infinite knowledge and infinite bliss. Before final departure from the world, some such souls called Arihantas reinstate the religious order and become Tirthankaras.⁴

For spiritual realization, according to Jaina tradition, right faith, right knowledge and right conduct all three together conduct the path of spiritual salvation termed as triple jewel (ratnatraya).⁵ The Uttaradhyayana

clearly says that Nirvana cannot be attained without observing combinedly the ratnatrya.⁶ Bhatta Akalanka explained the trinity with the help of medicine which cures the diseases by following faith, knowledge and conduct accordingly.⁷

Belief in the ascertainment of things in their true character is right faith (Samyagdarsana). It is of two kinds, saragsamyagdarsana (with attachment) and vitaragasamyagarsana or niscayasamyagdarsana (without attachment). The former is characterized by serenity, incessant fear of the miseries of transmigration (samvega), compassion, devotion and so on. The latter is concerned with the purity of soul alone.⁸ The samyagadarsana can be attained by intuition (nisarga) or by acquisition of knowledge (adhigama).⁹ It is the fundamental cause for achieving the salvation.¹⁰

There are eight characteristics of Samyagdarsana, viz. nihsankita, nihkarksita, nirvicikitsa, mudhadraasti, upaguhana, sthitikarana, vatsalya and margaprabhavana. They can be retained by avoiding the five kinds of transgressions, viz. doubt in the teachings of the Jina (sanka),² desire for worldly enjoyment (kanksa),³ repugnance or disgust at the afflicted (vicikitsa),⁴ admiration for the knowledge and conduct of the wrong believers (anyadrastiprasamsa), and praise of the wrong believers (anyadrastisamstava).¹¹ One is also expected to be free from 25 types of faults or fallacies, viz. 3 Mudhatas, 8 madas, 6 anayatanas and 8 dosas.¹² Samyagdarsana is the foundation for the attainment of Samyagjnana which is right knowledge of the substances as these actually are. The Samyagcaritra (right conduct) is the cessation of activity leading to removal of the causes of transmigration.

Anger, pride, deceitfulness and greed are the passions which lead to endless worldly existences or transmigrations. Consequently on the fructification of karmas the soul wanders into different conditions of existence, creates passion, disbelieves in reality, non-cognition of objects arising from ignorance, non-restraint of perfections. From destruction-cum-substance soul attains mixed type of right and wrong disposition of restraint and non-restraint. When the karmas are completely destroyed, the perfect knowledge, perfect perception, gift of fearlessness and infinite enjoyment are attained by the prufied soul.

The process comes under the Samvara and nirjara tattvas. Samvara

means the obstruction of influx of karmic matter which is of two types, viz. bhavasamvara psychic stoppage or cessation of activities and dravyasamvara (material stoppage). The Nirjara connotes the separation of part of karmic matter from the soul. Stoppage and gradual dissociation are the chief causes of liberation. Puñyapada defines the moksa (liberation) as the attainment of an altogether different state of the soul, on the removal of all the impurities of karmic matter and the body, characterized by the inherent qualities of the soul such as knowledge and bliss free from pain and suffering.¹³

The Samvara and nirjara tattva will be discussed in brief. With the sole intention of achieving the purified state of soul. Jainism prescribes some fundamental spiritual disciplines and practices. They can be observed partially and totally. Partial observation is prescribed for a householder as he is unable to desist from all sins completely whereas an ascetic is expected to observe the code of conduct totally as he practically does not stay at home.¹⁴ An ascetic is he who observes vows completely and is free from sting, the main root of pain and emotional arising from karmas. Sting is of three kinds, viz. deceit termed as maya, ii) desire for enjoyment termed as nidana, and iii) perverse attitude termed as mithyadarsana. The practice of these vows with vigilance dispels sufferings just as an excellent specific herb removes disease.

1. SPIRITUAL DISCIPLINE AND PRACTICES FOR HOUSEHOLDERS

A vast literature over Sravakacara has been written in Sanskrit and Prakrit by Jainacaryas. It is also available in the Agamas. Here some of important Acaryas with their main works have been mentioned :

Acaryas	Granthas
1. Kundakunda (1st century)	– Caritrapahuda (Gathas-235-231) Rayanasara
2. Svami Kartikeya (2nd century)	– Kattgeyannvekkha (Dharmabhavana)
3. Umasvati (2nd century) or Umasvamin	– Tattvarthasutra (7th Chapter)
4. Samantabhadra (4th century)	– Ratnakarandasravakacara

5. Haribhadrasuri (750 A.D.) – Sacayapannatti
(?)Savayachammacvihi,
Dharmalindu, Lalitavistara,
Pahcasakaprakarana, Avasyakatika
6. Siddhasena Ganin (9th C.Y.Y.) – Tattvarthasutra Commentary
7. Jinasena (9th C.) – Adipurana, parva 40
8. Bhavasena (10th C.) – Bhavasangrana
9. Somadeva (959 A.D.) – Yasastilakacampu
10. Dhanapala (970 A.D.) – Sravakavidhi
11. Amitagati (993 A.D.) – Amitagati Sravakacara,
Subhasitaratnasandoha
12. Camundarai (1000 A.D.) – Caritrasara
13. Devagupta (1016 A.D.) – Navapadaprakaranatika
14. Sahtisuri (11th C.) – Dharmaratnaprakarana
15. Abhayadeva (1060 A.D.) – Upasakadasa tika, Pancasakatika
16. Vasunandi (11th C.) – Casunandi Sravakacara
17. Nemicandra (11th C.) – Pravacanasaroddhara
18. Hemacandra (1089-1172 A.D.) – Yogasastra
19. Asadhara (1239 A.D.) – Sagaradharmamrta
20. Maghanandin (1260 A.D.) – Sravakacara
21. Jinesvarasuri (1256 A.D.) – Sravakadharmavidhi
22. Devendra (1270 A.D.) – Sraddhadinakrtya
23. Dharmaghosa (1270 A.D.) – Sraddhajitakalpa, Sanghacara
24. Gunabhusana (13th C.) – Sravacara
25. Devendrasuri (14th C.) – Saddhajiyakappa
26. Padmanandin (15th C.) – Sravakacara
27. Jinadatta (13th C.) – Caityavandanakulaka, Pujaprakarana
28. Caritrasundara (1430 A.D.) – Acaropadesa
29. Laxmicandra (15th C.) – Savayadhamma Doha
30. Jinamandanagani (15th C.) – Sraddhagunavivarana - Sanskrit
31. Ratnasekharasuri (1449 A.D.) – Saddhavihi
32. Vamadeva (15th C. ?) – Bhavasangraha
33. Sakalakirti (12-13th C.) – Prasnottarasravakacara
34. Medhavin (15th C.) – Dharmasangrahasravakacara.

35. Brahmanemidatta (1530 A.D.)	- Dharmapiyusasravakacara
36. Rajamalla (1584 A.D.)	- Latisamhita
37. Sivakoti (17th C. ?)	- Ratnamala
38. Somasena (1610 A.D.)	- Traivarnikacara-
39. Kunthsagar (20th C.)	- Sravakadharmapradipa

Sravaka (householder) is one who listens to the Dharma with full faith from the Acaryas.¹⁵ Asadhara is of view that he should be a devotee to the Pancaparamesthis, their worshiper, bhedavijnani, and observer of Mulagunas and Uttaragunas.²⁶ Haribhadrasuri has devoted an entire chapter, the second one in the Dharmabindu which narrates the fundamental qualities of the householder. He is followed by Amitagati, Asadhara, Hemacandra and other Jainacaryas. Jinamandana compiled such qualities from these sources which are worth mentioning as follows.¹⁷

1. Nyayasampanna vaibhava (possessed of honestly earned wealth), 2. Prasamsaka (admirer of the conduct of the virtuous), 3. Kulasilasamaih sardham anyagotrajaih krtodvaha (wedded to a spouse of the same caste and traditions but not of the same gotra), 4. Papabhiru (apprehensive of sin), 5. prasiddham desacaram samacaram (following the reputable custom of the country), 6. avarnavadi na kvapi rajadisu visesatah (not denegrating other people, particularly rulers), 7. anativyakte gupte shane suprativesmike anekanir gamadvar avivar jitaniketam (dwelling in a place which is not too exposed and not too enclosed, with good neighbours and few exits), 8. Sadacaraih krtasanga (attached to good moral standards), 9. matapitroh pujaka (honouring paents), 10. upaplutam sthanam tyajan (abstaining from a place of calamity), 11. grahite pravrtta (not engaging in a reprehensible occupation), 12. vyayam ayocitam kurvam (spending in proportion to one's income), 13. vesma vittanusrato kurvam (dressing in accordance with one's income), 14. astabhir dhigunair yukta (endowed with the eight kinds of intelligence), 15. dharman anvaham srnvan (listening every day to the sacred doctrine), 16. ajirne bhojanatyagam (avoiding eating on a full stomach), 17. kale bhokta satmyatah (eating at the right time according to a dietary regimen), 18. anyonya pratibandhenatrivargam sadhyan (fulfilling the threefold aim of life

without excluding any of its elements), 19. yathavad (diligent in succouring the ascetics, the righteous, and the needy), 20. sadanavivista (always devoid of evil motives), 21. gunesu paksapatini (favourably inclined to virtues), 22. adesakalayoscaryam tyajan (avoiding action which is inappropriate to time and place), 23. balabalam janan (aware of one's own strength and weaknesses), 24. vrattasthajnanavrdnanam pujaka (venerating persons of high morality and discernment), 25. posyaposaka (supporting one's dependants), 26. dirgnadarsin (far-sighted), 27. visesajna (discriminating), 28. krtajna (grateful), 29. lokavallabha (well-liked), 30. salajja (actuated by a sense of humility), 31. sadaya (compassionate), 32. paropakrti karmatha (ready to render service to others), 33. saumya (gentle in disposition), 34. antarangarisadvargapariharaparayana (intent on avoiding the six adversaries of the soul), and 35. vasikrtendriyagrama (victorious over the organs of sense).

These qualities of the householders are summarised into 21 types in the Sraddhavidhi:- aksudra, rupavat, prakritisaumya, lokapriya, akrura, bhiru, asatha, sudaksinya, lajjalu, dayalu, madhyastha saumyadrsti, gunaragin, satkatha, supaksayukta, sudirghadarsin, visesajna, vaddhanuga, vinita, krtajna, parahitarthakarini, and labdhalaksa. Asadhara concised them further and prescribed the fourteen characteristics for a householder,¹⁸ and Amitagati made them out to be eleven.¹⁸

Classification of Sravakas

The sravakas are classified and categorized into various ways in Jain literature. They may be grouped in seven ways.

1. On the basis of eleven Pratimas made by Kundakunda (caritra Prabhrta 22), Kavtikeya, Vasunandi etc.

2. On the basis of twelve vratas led by Umasvami, Samantabhadra, Haribhadra etc.

3. Vratas and Pratimas are combined in the Upasakadasanga.

4. They are classified into three categories viz, Paksika, Naisthika and Sadhaka made by Jinasena, Somadeva, Asadhara etc.

5. Four categories made by Camundaraya in the Caritrasara - 41.3) viz. Paksika, carya, naisthika, and sadhaka. Following Jinasena he also divided the householder into four asramas, viz. brahmacarin, grahastha, vanaprastha, and bhiksu. The brahmacarin is further divided into five, viz. i,

upanaya, ii) avalamba, iii) adiksa, iv) gudha, v) haisthika,. Vanaprastha is the Ksullaka and elaka stages in the view of Medhavin. The bhiksu carries four stages, viz. anagara, yati, muni and rsi.²⁰

6. They are classified into two categories, viz. samanya and visisa by Haribhadra.²¹

7. On the basis of spirituality they are classified into three categories, viz. i) jaghanya or grhin - 1st to 6th pratimas, ii) madhyama or varnin - 7th to 9th pratimas, and iii) utkrsta or bhiksuka - 10th and 11th pratimas.

The classification, as a matter of fact, was changed from time to time, according to the circumstances. But the fact is remarkable that no classification has violated the original principles of Jainism. On the contrary, the national integration and interreligious dialogue were kept in mind while classifying the householders.

Of these classifications the fourth classification appears to be more useful and important and therefore it is adopted here in the discussion. It speaks of Paksika, Naisthika and Sadhaka. A house-holder, as a matter of fact, has to observe more responsibilities. First he prepares himself gradually and steadily to renounce the world with right faith by observing the rules prescribed and then fulfil the responsibilities for welfare of the family, ascetics, society, nation and mankind. Some of the important attributes of a householder may be mentioned as follows :- observation of non-violence, legitimate earning, hospitality, refraining from unnecessarily criticising the Government, keeping good company, paying respects to parents, service of people, following religious preachings, gratefulness, generosity, being afraid of sins, honesty, appreciating conduct, life and activities of spiritually advanced people, avoiding expenditure exceeding income and so on. Such rules make life pleasant.

1. PAKSIKA SRAVAKA

This is the first spiritual status of a Jaina laity in which he first takes a vow with right faith not to eat meat, not to drink alcohol or wine, not to relish honey or any of the five kinds of figs containing souls, viz. i.) vata or nyagrodha, ii) pippala or asvattha, iii) udumbara, iv) plaksa, and v) kakombari. These plants contain anantakaya jivas. These are called Mulagunas. Then he desists from injury, (himsa), falsehood (asatya), stealing (caurya), unchastity (kusila) and attachment to wealth (parigraha).

These are the eight basic restraints (mulagunas) which are to be followed by even an ordinary Jaina layman.

There is a difference of opinion amongst the Acaryas about the Mulagunas. The early Agamas do not specifically refer to the Mulagunas. Samantabhadra is perhaps the first who introduced them to the Sravakas,²² who is supported by Sivakoti. They considered the Mulagunas in the form of five anuvratas and madya-mamsamadhu tyaga. Acarya Amrtacandra²³ who is followed by Amitagati, Devasena, Rajamalla etc. replaced the anuvratas to udambara pancakas. Asadhara, though supported the view, considered some other types of Mulagunas, viz. aptanuti, daya, jalagalana, aratribhjana, udumbarapancakavirati, mamsavirati, madyavirati, and madhu virati.²⁵ The Mulagunas have been discussed in detail in Jaina literature.

The Paksika Sravaka also takes a vow not to indulge in seven types of obnoxious habits (vyasanas) which make the life disastrous. They are, i) gambling and racing (dyuta), ii) meat-eating (mamsabhaksana), iii) alcoholic drink (madyapana), iv) prostitution (vedyavrtti), v) hunting (akheta), vi) stealing (carya), and vii) sexual intercourse with other's wife or husband (parastr/ purusagamana²⁶). It may be mentioned here that the vyasanas are discussed clearly in this regard only by Digambara Acaryas like Amitagati, Vasunadi, Asadhara etc.

The Sravaka ponders over the consequences of man's indulgence in these vices. They are the cause of sin or demerit and those who are engaged in sinful activities are punished here by administrators and society members and are subjected to suffering in the next world. He also leads the life of a strict vegetarian.

Acaryas also discussed what is not fit to be eaten (abhaksyas). Haribhadra is perhaps the first who instructed under caturvidhahara not to take such food which contains the anantakays. He is elucidated by Nemicandra in his Pravacanasaroddhara where abhaksyas are classified into 21 kinds, viz. five udumbaras, four banned vikrtis, hima (snow), visa, karaka, bahubija, mrd, ratrbhojana, anantakayas, gholavataka, sandhana, vrtaka, ajnata puspa-phala, tucchaphala, and calitarasa.²⁷ He is then followed by Hemacandra,²⁴ Asadhara,²⁹ Amitagati³⁰ and other Acaryas. Amitagati discussed them under anarthadandavrata while Asadhara described them under Mulagunas. The anantakayika

Sadharanavanaspathis are also prohibited to accept as food which include mulabija, agmabija, parvabija, kandabija, bijaruha etc.³¹ Nemichandra listed 32 kinds of such vegetables in this respect.³²

The Jaina Sravaka is also expected not to indulge in violence-carrying professions, such as angarakarma, vana-sakata-bhataka- sphota-danta - laksa- rasa- kesa-visa-yanta-noirlancana-devagni-sarahsosana-asatiposana karmas.³³ Originally such trades were prohibited under the Anarthadanda categories, but Hemacandra and Asadhara made them more clear. The licit earning sources are asi, masi, krsi, vanijya, vidya and silpa, ofcourse, but a profession should be pursued in a pure way.³⁴ One point is remarkable here that restraint from injury etc. refers to restraint from injuring one' ownself. This extremity leads him to a pious life. Along with the observation of the Astamulagunas a Jaina householder must practise the six more activities for spiritual progress, which are called Avasyakas, They are as follows:

1. Worship of the Tirthankaras : This attribute has given rise to the contribution of huge Jaina images and temples all over India. It has developed an independent branch of art and architecture, painting etc. There is no priest system working as an intermediary in Jainism. The worship of the Tirthankaras sometimes assumes an unusual proportion with their Pancakalyanakas, vidhanas, visits to holy places and other religious ceremonies. This is called Jinapuja.

2. Service of spiritual teacher accordingly with obedience, reverence, food etc. (Guruseva) : The teacher preaches the laymen and laymen pay respects and service to teachers. They also keep themselves on guard against the conduct of each other. Therefore the relation between these two religious groups has never been lop-sided and fearful.

3. Studying scriptural texts every day (svadhyaya). Scriptural texts contain the sermons which save the people from decadence.

4. Practising some form of self restraint every day (samyama).

5. Doing some form of penance and austerity every day (tapa), and

6. Doing some kind of charitable act (dana).³⁵

Amitagati mentions somewhat different list of Avasyakas, viz. Samayika, stavana, vandana, pratikramana, pratyakhayana, and kayotsarga.³⁶ The Svetambara sect also accepts these Avasyakas. Caityavandan, is, ofcourse, very popular amongst them³⁷ which comprises

samayika, caturvimsatistava and vandanaka, it is dealt with in detail by Haribhadrāsuri and other Acaryas.

This is an introduction to spiritual disciplines and practices of an ordinary householder. These observances create communal harmony and peace in society and the nation.

2. NAISTHIKA SRAVAKA (Allegiant layman)

One who fulfils his religious duties with constant vigilance is a Naisthika sravaka (allegiant layman). In order to prepare himself for the ascetic life, the householder goes further to observe the eleven spiritual stages (pratimas).

R. Williams compared the Svetāmbara and Digāmbara traditions in this regard as follows :

Svetāmbara	Digāmbara	Avasyaka Curni
1. Darsana	darsana	darsna
2. vrata	vrata	vrata
3. samayika	samayika	samayika
4. posadha	posadha	posadha
5. kayotsarga	sacittatyaga	ratribhojanaparijna
6. abrahmavarjana	ratribhakta	sacittatyaga
7. sacittatyaga	abrahmavarjana	diva-brahmacarya
8. arambhatyaga	arambhatyaga	divoratri-brahmacarya
9. presyatyaga	parigrahatyaga	arambhatyaga
10. uddistatyaga	anumatityaga	presyatyaga
11. sramahabhuta	uddistatyaga	uddistatyaga-sramahabhuta

The classification is made on the basis of Siksavrata. In the Digāmbara tradition Acarya Kundakunda included the Sallekhana into Siksavratas. Vasunandi accordingly accepted it as the third pratima. But Umasvami, Samantabhadra and other Acaryas did not agree to Kundakunda's view. Kundakunda, Kartikeya, Samantabhadra etc. named the sixth pratima as ratribhuktityaga but in the later period, its meaning was slightly changed. Vasunandi and onwards, the eleventh pratima is divided into two viz. Ksullaka and Elaka.

1. **Darsana Pratima :**

After observing introductory rules, layman enters into first spiritual

stage (darsana Pratima) in which true and unshakable faith in Jainism with firm conviction in the reality of seven fundamental principles (saptatattvas) of Jainism and devotion to Pancaparamesthins (arhanta, siddha, acarya, upadhyaya, and sadhu) is required. After a long practice, he becomes Samyagdrsti (possessing right vision, right knowledge, and right conduct).⁴⁰ As a result there should be eight attributes (guna) in him at this stage, i) freedom from doubt in the teaching of the Jina (nihsankita), ii) freedom from desire for worldly enjoyment) nihkanksita), iii) freedom from care of body (nirvioikitsa), iv) following right path (amudhadrstittva) v) reinstatement of right belief (athitikarana), vi) edification (upaguhana), vii) love and affection for good people (vatsalya), and viii) respect for religious teachings with good deeds (prabhavana).⁴¹ He should also not be proud of knowledge (jhana), worship (puja), family (kulā), caste (jati), wealth (rddhi), practices tapa), and beauty (vapu).⁴²

Some more qualities of Samyagdarsana are : (spiritual craving), upasama (tranquillity), nirveda (disgust with mundane existence), devotion (bhakti), anumkampa (compassion), ninda (remorse), garha (repentance) and vatsalya (loving kindness).⁴³ Hemacandra. Aticaras of Samyagdarsana are : sankā (doubt in the teachings of Jinas), kanksā (desire for worldly enjoyment), vicikitsā (disgust at the afflicted), anyadrstiprasamsa (admiration for the knowledge and conduct of the wrong believer and samstava (praise of wrong believers).

A true follower of Jainism will ponder daily over twelve points of meditation to realize self or deep-reflection (dvadasanupreksa) as follows : transitoriness (anitya), helplessness (asurana), transmigration (samsara), loneliness (ekatva), distinctness (anyatva), impurity (asuci), influx (asrava), stoppage (samvara), dissociation (nirjara), the universe (loka), rarity of enlightenment (bodhidurlabha), and the truth (dharma) proclaimed by religion.⁴⁵ These reflections help the spiritual aspirants to practise moral virtues such as forbearance (ksama), modesty (mardava), straightforwardness (arjava), purity (sauca), truthfulness (satya), self restraint austerly (tapa), renunciation (tyaga), non-attachment (akincanya), and celibacy (brahmacarya).⁴⁶ The realisation of self through these attributes generates tranquillity, disenchantment with materialistic world, prosperity, supreme perfection, and final beatitude. Householders and mendicants can achieve these attributes through spiritual disciplines

and practices gradually.

2. VRATA PRATIMA (The stage of observing vows)

In order to prepare himself for the ascetic life the house- holder goes ahead to observe the twelve vows (five anuvratas, three gunavratas and four siksavratas) for obtaining inner purity of the self. Firm conviction with right understanding in the reality of fundamental principles of Jainism generates benevolence towards all living beings, (maitri), joy at the sight of virtuous (pramoda), compassion and sympathy for afflicted (karunya), and tolerance towards the insolent and ill-behaved (madhsthya). He who conducts himself in this manner is able to practise non- violence, truth, non stealing, refraining from all illicit sexual activities and non-possession to perfection.

Non-Violence

Non-violence is the fundamental principle of Jainism. It rebuffs all complaints and humiliations made by small and big, if followed seriously. Its instinct percolates into the heart of a right ascetic and leads him to humanity by leaps and bounds. Here violence means severance of vitalities out of passion. Negligence is the main cause of violence. Even violence in thought in view of Jainism is a cause of injury. Dasavaikalika says that one who walks, stands, sits, sleeps, eats, and speaks with vigilance and non-violence, no sin accrues to him. The Acaranga discusses the cause of violence with the statement that a stupefied person lives constantly tormented by avidity : he endeavours to amass wealth in season and out of season : being desirous of sensual pleasures, he is avid for money, so much so that he becomes out and out a rogue committing theft or robbery. His mind is always engrossed in amassing wealth: Such a man repeatedly becomes a killer of living beings. He amasses physical power, power of kith and kin, power of allies, super mundane-power, deity-power, royal power, thief-power, guest-power, pauper-power, ascetic power. To accomplish these various tasks, he uses violence. Some person uses violence of his own accord and some other person does so out of fear. Considering that performance of sacrifices results in atonement of his sins, some person takes recourse to violence, and some other commits violence in the hope of obtaining the unobtained.

In the opinion of Jainacaryas avoidance of external violence is as necessary as the avoidance of feelings of attachment. Violence is mainly

three-fold, i.e. committed by himself (krta), ii) got committed by others (karita), iii) giving consent to violence done (anumodana). This violence should be avoided by all of the three agencies of mind, speech and body. In this way a layman starts his steps towards equality and equanimity. Others are intended in self guarding the vow of non-violence and humanity.

The aforesaid nine-fold violence becomes twenty-seven fold as it has three stages : 1) thinking of violent action or intentional (samarambha or sankalpaja), 2. making preparation for violence (samarambha), and 3. actual committal (arambha). This twenty-seven-fold ($3 \times 3 \times 3 = 27$) violence becomes one hundred and eight-fold as it could be inspired by either of the four passions.⁴⁹ Violence is further divided into three, i.e. 1. udyami (professional), 2. arambhi (domestic), and 3. virodhi (defending). These kinds of violence are mostly connected with the activities of householders, who are supposed to keep themselves away from the deliberate commission of violence of the two-sensed to five-sensed beings.⁵⁰

Jainism considers the violence to the last extent. Its well-known conception is to treat others as to treat himself. "The Dasavaikalika says : "Killing horrifies because all beings wish to live and not to be slain."⁵¹ Therefore non-violence should be observed strictly and it should not be broken at any cost. The Acaryas discussed as to how the 'bhangas' can be kept off.⁵² In this context the aticaras of the Ahimsavrata are given : The true house-holder should be kind to animals. He should not bind (bandha), beat (vadha), and mutilate their limbs (chaviccheda). He should not overload them (atibhararopana) withhold food and drink. (bhakta-panavyavaccheda).

The severance of vitalities out of passion is injury (himsa). Pujyapada explains it by quoting a phrase from the Agama "arising from passionate activity" which indicates that for mere severance of life one is not stained with the sin of injury. Again it has been said in the scriptures, "When a monk goes on foot with carefulness, sometimes small insects get crushed under his feet and die. Still there is not the slightest bondage of sin in his case. From the spiritual stand-point, infatuation is called attachment. "Now, has it not been admitted that mere passionate attitude even without the severance of vitalities constitutes violence?" He who acts with negligence commits injury whether death is caused to organisms or not. And he who

proceeds with proper care does not contract bondage of karmas by mere injury". Yes, it is true. But there is no inconsistency in this. Even in the case of the person with negligence there is severance of life-principles at least in thought. It has been said thus in the scriptures : "He who has passions causes injury to himself by himself. Whether injury is then caused to other living beings or not, it is immaterial."⁵³

Another point should also be cleared in this context. Jainism is very firm and says that one should not sacrifice animals for the adoration of gods, being dominated by the perverted notion of receiving benediction in return. It is inconceivable how the gods seek satisfaction and serenity from such inhuman deeds which cause unbearable pain to the animals. It must not be obligatory to kill the animals for the entertainment of guests, a pious design by impious means. Any injury whatsoever to the material or conscious vitalities caused Through passionate activity of mind, body, or speech is himsa, assuredly.⁵⁴

2. The Satya-vrata

All the other vows are intended to safeguard the Ahimsavrata. Speaking what is not commendable is falseheed (asatya).⁵⁵ Amitagati classifies it into four types, i.e. bhutaninhava (denial of what is), ii) asad-udbhavana (assertion of what is not), iii) arthantara (describing the opposite form), and iv) nindya (reprehensible speech).⁵⁶ Somadeva proposed another division, i.e. i) satya-satya, ii) asatya-satya, iii) satyasatya, and iv) asatyasatya.⁵⁷ The five aticaras are given as follows :—
1. mithyopadesa (perverted teaching), 2. rahobhyaknyana (divulging what is done in secret), 3. kutaleknakriya (forgery), It means preparing false records prompted by others in order to cheat others. 4. nyasapahara (misappropriation). It means taking for oneself gold and other things entrusted to one's care by another., and 5. sakaramantrabheda (proclaiming other's thoughts). This vow can be strengthened by giving up anger, greed, cowardice or fearfulness, and jest, and speaking harmlessly. (krodha - lobha - bhirutva - hasya - pratyakhyana - anuvicibhasana).⁵⁸

3. The asteya - vrata

Asteya means not taking the property of others whether pledged or dropped or forgotten unless it has been given.⁵⁹ It is connected with the sacitta and acitta objects. The aticaras of the vow are : 1. stena-prayoga (prompting another to steal), 2. stena-ahrtadana (receiving stolen things),

3. viruddha rajyatikrama (under- buying in a disordered state), 4. hinadhikamanonmana (using false weights and measures), and 5. pratirupakavyavahara (deceiving other with artificial or imitation goods) like gold, synthetic diamonds and so on).⁶⁰ Samantabhadra accepted parivada and paisunya in place of first two aticaras⁶¹ while Somadeva added mudha-saksipadokti for replacing the first three aticaras.⁶² Afterwards the viruddharajyatikrama is replaced by vilopa and vighrahe sangraho 'rthasya in the Ratnakarasravakacara and Yasastilakacampu respectively.

4. The Brahmacharya vrat

Copulation is unchastity. Samantabhadra defined the Brahmacharyanuvrata as paradaranivrtti or svadarasantosavrata.⁶³ The first is observed by the Paksika sravaka and the second is prescribed for the naisthika sravaka. This definition is accepted partially or completely by the later Jainacaryas. Amrtacandrasuri, Asadhara etc. defined the Brahmacharyanivrata in view of the naisthika sravaka while Somadeva considered it with the standpoint of paksiks sravaka. This sort of difference amongst the Acaryas is apparent for the reason that in the opinion of Vasunandi the observer of the first pratima renounces the saptavyasanas where the paradara and vesya, both have been included. Therefore at the time of observing the second pratima one is expected not to indulge in copulation with his own wife on the pious days. But Samantabhadra did not consider the renouncement of the saptavyasanas during first pratima and hence at the time of observing the second pratima his brahmacharyanvrata would be the same as described by other Acaryas. Hemacandra and Asadhara are also of the same opinion. None else has divided the vrata into two types. It is curious that Somadeva allowed the Bahmacaryanuvrati for vesyagamana.

The aticaras of the Brahmacharyanuvrata are : 1. bringing about marriage (paravivahakarana), 2. intercourse with an unchaste married woman (itvarika parigrhitagamana), 3. cohabitation with a harlot (itvarika aparigrhitagamana), 4. perverted sexual practices (anangakrita), and 5. excessive passion (kamativrabhinivesa).⁶⁵ There is not much difference with regard to aticaras. Samantabhadra, of course, accepted the itvarikagamana and vitatva in place of third and fourth vratas and Somadeva replaced them with the parastrisangama and ratikaitavya."⁶⁶

5. Parigraha-Parimanuvrata

Infatuation (murcha) is attachment to possessions.⁶⁷ The wealth is also included into the definition. Samantabhadra followed Kundakunda and defined the vrata including the both, internal and external attachments. Kasayas and no-kasayas are internal while ksetra, vastu, hiranya, suvarna, dhana, dhanya, dasi, dasa, kupya and saiyasanas etc. come under the external attachment.⁶⁸ Samantabhadra replaced them with another five aticaras, i.e. atibahya, atisangraha, ativismaya, atilobha and atibharabahana.⁶⁹ Hemacandra followed by Asadhara replaced them with another five aticaras, i.e. 1. yojanena ksetra-vastu-pramanatikrama, 2. pradanena hiranya-suvarna pramanatikrama, 3. bandhanena dhana-dhanya pramanatikrama, 4. karanena dvipada-catuspada pramanatikrama, and 5. bhaven pupya pramanatikrama.⁷⁰

As the history reveals the fact, Jainacaryas were obliged to change the traditional aticaras to cope up with the circumstances under the frame of Jaina dogmas. However, some of the remarkable disciplines mentioned can be said to be an instrument for social and economic justice. These observances should be in practice to make justice for self and the justice for the sake of society to implement social justice and create congenial atmosphere and relationship between fundamental rights and directive principles of state policy. Ordering someone to bring something illegally from outside the country is also prohibited for house-holders.

Gunavratas and Siksavratas

Rendering help to one another is the basic formula of Jaina discipline (parasparopagraho jivanam). Some more supplementary vows are prescribed for house-holders which pave the way for their spiritual elevation with a view to having socio-economic justice. For instance, to curb the mentality of master minding operations aimed at enlarging their wealth or concentrating their economic power to achieve greater exploitative capacity, Jainism directs the householder to fix boundaries for business, not to pursue commerce activities causing injury to living beings, to limit consumable and non-consumable things, not to use honey, meat and wine, to extend hospitality by offering food, implements, medicine and shelter and to bestow one's possessions on another for mutual benefit. He should also observe compassion towards living beings in general and towards the devout in particular. He should practise charity, contemplation,

equanimity and freedom from greed. A true follower of Jainism is also expected not to give weapons of violence, or to take interest in other's dispute, supply poisons, fire, rope whips or other such objects as may lead to violence.

Gunavratas are of three types, i.e. Digvrata, desavrata and anarthadandavrata. According to Kundakunda, digvratas are somewhat different, i.e. dikparimana, anartha-dandavrata, and bhogopabhogaparimana. Kartikeya accepted them and divided the anarthadandavrata into five. Umasvami replaced the bhogopabhoga with desavrata. Samantabhadra is followed by Asadhara, Medhavin, Sakalakirti, Kartikeya etc. and Umasvami is imitated by Camundaraya, Amrtacandra, Somadeva, Amitagati etc. The Svetambara thinkers generally accept the gunavratas as digvrata, bhogopabhoga and anarthadanda.

Siksavratas are of four types, according to Acarya Kundakunda, viz. Samayika, Prosadha, atithipuja, and sallekhana. In the Bhagawati Aradhana, the sallekhana has been replaced by bhogopabhogaparimanarata which is considered by Pujiyapada as an independent vrata. Kartikeya accepted the desavakasika in place of sallekhana. Umasvami dividend it into four, viz. samayika, prosadhopavasa, upabhogaparibnoga parimana and atithisamvibhaga. Samantabhadra further changed and accepted desavakasika, samayika, vaiyavrtya, and atithisamvibhagavrata. Umaswami is followed by Jinasena, Amitagati and Asadhara, but Somadeva suggested dana in place of atithisamvibhaga. On the other hand, Vasunandi proposed somewhat different list, viz. bhogavirati, upabhogavirati, atithisamvibhaga and sallekhana. The Svetambara Acaryas generally accept the samayika, desavakasika, posadhopavasa and dana.

The Samayika, posadhopavasa, ratribhojana will be dealt with the pratimas. The charity (dana) has been discussed in Jaina literature to a great length. It is the giving of one's wcah to another for mutual benefit.⁷¹ Charity is the vow prescribed for layman mostly under atithisamvibhaga. The distinction with regard to the effect of a gift consists in the manner, the thing given, the nature of the giver, and the nature of the recipient. The superiority of the giver lies in his being free from envy and dejection. The presence of qualities which lead to salvation indicates the superiority of

the recipient. The excellence of the reward of gift is proportionate to these qualities, as a rich harvest is proportionate to the fertility of the soil, the quality of the seed and so on.⁷² Somadeva classifies the recipient (patra) into five categories, viz. i) ascetics and laymen who are the support of the faith (samyin) ii) astrologers and specialists in other sciences of practical utility (sadhaka), iii) orators, debaters and litterateurs, iv) ascetics and laymen who have accomplished austerities and observe the mulagunas and uttargunas, and v) leaders of the community in the field of religion.⁷³ The qualities of giver are: faith, devotion, contentment, zeal, discrimination, disinterestedness and forbearance.⁷⁴ Charity is of four types, viz. food, medicaments, knowledge, and shelter to living beings in fear of death (abhayadana). This is called caturvidhadana.

These twelve vratas have been also classified into two categories, namely Mulagunas and Uttaragunas or combinedly Silavratas, the term given to Gunavratas and Siksavratas by Pujiyapada, Akalanka and other Acaryas.⁷⁶ On the other hand, Samantabhadra and his followers termed the Mulagunas to renunciation of pancodambaras and madyamamsa-madhua, and Uttaragunas to twelve vratas.⁷⁷

7. Samayika pratima :

It is one of the six Avasyakas. Samayika means meditation on self with the view to attainment of equanimity or tranquillity of mind. It may be performed in one's own house or temple twice or thrice uttering "Karemi bhante samayam savajjam....." which follows the pratikamana and alocana with svadhyaya. It is said that the householder who performs the samayika is like an ascetic.⁷⁹ The aticaras of the samayika are : mano-dusparanidhana (misdirection of mind), vag-duspranidhana (misdirection of speech), kaya-duspranidhana (misdirection of body), smrtiyakarana (forgetfulness of samayika), and anavasthitakarana (instability in the samayika).⁸⁰ Samayika is also a part of Vandana. Pratyakhyana is also prescribed. Amitagati prescribed the three mudras for the purpose, i.e. jinamudra, yogamudra and mukti-sukti mudra.⁸¹

Remaining Pratimas

The fourth pratima is Posadhopavasa (observing fast on parvan days or astami, caturdasi, purnima and amavasi. On these days one is expected not to decorate his body by garlands, gold, jewels, etc. He should also be engaged in puja, vaiyavrtti etc. The other pratimas are : 5)

sacitta-tyaga (avoiding the use of animate articles), 6) ratribhuktityaga (abstaining from eating at night), 7) brahmacarya observing complete celibacy), 8) arambhatyaga (renouncing all worldly occupations and engagements), 9. parigrahatyaga (renouncing all worldly concern), 10) anumatityaga (renouncing approval of activities connected with household), and II) uddistatyaga (renouncing specially prepared food or lodging). The spiritual aspirant who reaches the eleventh stage is called ksullaka (junior) having three long pieces of clothes and a loin cover (langoata) broom and a water pot, and Elaka (senior) having only a water pot (kamandalu) and a broom and also a loin cover in Digambara tradition while in Svetambara tradition he is called Sramanabhuta possessing a begging bowl and whisk broom.

Sacittagrahana is first included into Bhogopabhogaparimana aticaras and then is accepted as a vrata. Upasakadasanga places this sacittatyaga on seventh preceding kayotsarga and brahmacarya. Ratribhuktityaga is also called divamaithunatyaga (to observe brahmacarya in day time).⁸² Acarya Kundakunda, Kartikeya, Samantabhadra and other thinkers regard it as ratribhuktityaga while Basunandi, Asadhara and others combined them together.⁸³ The upasakadasana tradition does not recognise it as an independent pratima. It also proposes the svayam arambhavarjana, and bhrtaka presyarambhavarjana as eighth and ninth pratimas. The holder of uddistatyaga pratima is called utkrsta sravaka who renounces the house and stays in the temple or jungle.⁸⁴ Kundakunda, Kartikeya, Samantabhadra etc. have not divided this pratima. It is perhaps Vasunandi who has classified it into two types, vastradhari and kaupinadhari.⁸⁵ They are named ksullaka and Elaka by Rajamalla⁸⁶ in the Latisamhita.

Somadeva classified these sravakas into three, viz. i) jagnanya upto sixth pratimadharis who are also called Grahastha, ii) madhyama, the seventh, eighth and ninth pratimadharis who are named also brahmacari, and varni. and iii) utkrsta sravaka, the eleventh pratimadhari whose bhiksa is of four types, anumanya, samuddesya, trisuddna and bhramani. Asadhara and onwards have accepted this division. In these stages jnanacara, darsanacara, caritracara, tapacara and viryavara become more and more intensified.

3. SADHAKA SRAVAKA

The comprehension of philosophy of interaction between spirit or

soul and death is the sole object of spirituality which causes disturbance with materialistic perspectives. Religion is to curb the very tendencies and curtail the mind from worldly affairs to scrapping or emaciating of the Kasayas (anger, conceit, intrigue, and greed). To conquer over the natural fear of death is itself a great art which is called in Jaina scripture the Mrtyu-mahotsava.⁸⁶

Sallekhana, the spiritual death in Jaina tradition, is the third stage of a householder which is very close to an ascetic where the subjugation of senses is conducive to the removal of passions. It is making the physical body and the internal passions emaciated by abandoning their sources gradually at the approach of death with pleasure and not by force.⁸⁷

Acarya Kundakunda included Sallekhana into the Siksavratas as the fourth one.⁸⁸ He is followed by Sivarya, Devasena, Jinasena, Vasunandi etc. But Acarya Umaswami is followed by Samantabhadra, Pujapada, Akalanka, Vidyananda, Somadeva, Amitagati etc. who do not accept the view on the ground that the Siksavratas require the practice whereas the Sallekhana is to be accepted immediately on the eve of the death.

Various reasons may decide a person to perform Sallekhana. According to the Bhagawati Aradhana, the old age, physical weakness, famine, incurable disease, calamities etc. are such reasons which render the performance of Avasyakas impossible.⁸⁹ It should be performed at the Jain temple or one's own house or in the jungle on the eve of the death, so that one could achieve better prospects in the next birth.⁹⁰

The Svetambara traditional scripture does not deal much with the Sallekhana. The Acaranga, the commentaries over the Thananga and the Nayadhammahaao explain, of course, the nature of the vrata.⁹¹ The Pravacna saroddhara refers to it as the procedure of Anasanavrata⁹² and the Nisithacurni accepts it as the means of getting rid of kasayas.⁹³

The death is of two types, viz. Balamarana and panditamarana. The Bhagawatisutra (2.1) enumerates the balamarana of twelve kinds, viz. valaya, vasatta, attosalla, tabbhava, giripadana, tarupadana, jalappavesa, jalanappavesa, visabhakkhana, satthovadana, vehanasa, and giddapittha. The person who is full of sensual desires and kasayas gets the Balamarana. The other one panditamarana is of two types pavovagamana and bhattachakkhana. The 17 types of maranas are also referred to in the Samavayanga, viz. avicimarana, avadhimarana, atyantikamarana,

valamarana, panditamarana, balapanditamarana, chadmasthamarana, kevalimarana, vaihayasmarana, - grddhaprasthamarana, bhaktapratyakhyanamarana, inginimarana, and padapopagamanamarana.⁹⁴

The Acaranga indicates the ground of the sallekhana as to when it should be observed. It says : if a monk feels - "infirmity is forcing my body to cease functioning and I cannot do my duties at the right time, he should gradually reduce his diet, and through this reduction, try to chisel his passions. After attenuating his passions, a monk who has completely subdued his emotions and has his body attenuated and passions well-curtailed through vigorous external and internal austerities, like a weal well chiselled and evened out, and having thus prepared himself for Death Sublime (samadhimarana), should become free from attachment and activities of body.⁹⁵

Death is of three types, cyuta, cyavita and tyakta. The natural death is cyuta. The death occurred by taking poison etc. is eyavita yavita and the spiritual death by observing the samadhimarana is tyakta. It is of three kinds, viz. bhaksapratyakhyanamanrana, inginimarana and prayopagamanamarana. All these three have been explained in the Acaranga.⁹⁶

The Pandlitamarana in the Bhagawatisutra (2.1) is divided into two kinds, viz. pavovagamana and bhattapaccakkhana. The Bhagawati Aradhana explains its three kinds, viz. i) bhaktapratyakhyana (to renounce food gradually), ii) Inginimarana (death at the decided place with renouncing food and services of others, and iii) the prayopagamana, the death which does not allow the services of oneself and others.⁹⁷ The Svetambara tradition refers to the prayopagamana as the Padopagamanamarana, which is further divided into two, nirhari and anirhari, and savicari and avicari with different connotations in both the traditions. The Uttaradhyayanasutra also describes the death with its two kinds, sakamamarana and akamamarana. Akamamarana means the death without comprehension and sakamamarana means the death with comprehension and conduct. Sakamamarana is further divided into two, panditamarana and balapanditamarana.⁹⁸

Sivarya classified the death into five, viz. balamarna, bala-balamarana, panditamarana, pandita-panditamarana, and

balapanditamarana. The death of avirata samyagdrsti, mithyadrsti, samyagcaritredhari munis, Tirthankaras and desavarati sravakas is mentioned as their respective examples.

Sallekhana and samadhimarana are synonymatic words. The utmost, middle and lower period of sallekhana is 12 years, one year and six months respectively.⁹⁹ It should be observed through ayambila tapa, internal and external tapas, renunciation of worldly affairs, forgiveness, alocana, pratikramana, dhyana etc. with the view to attain purification of mind.¹⁰⁰

There are five transgressions of sallekhana, viz. i) desire for long life, ii) desire for speedy death in order to escape from pain suffering, iii) recollection of affection for friends, iv) recollection of pleasures enjoyed in former times, and v) constant longing for enjoyment).¹⁰¹

This is an important and interesting feature of a Jaina house holder and spiritual aspirant's vows. Some scholars are of opinion that sallekhana is a sort of suicide, since there is voluntary severance of life etc. but this is not correct, as there is no passion. A person who kills himself by means of passion, weapon etc. swayed by attachment, aversion or infatuation etc. commits suicide. But he who practises holy death is free from desire, anger, and delusion. Hence it is not suicide. This is called sallekhana in Jain terminology which means to make the body and the passion thin.

In modern days it is named "Euthanasia" or "Right to die". This has come into light the world over and has become a subject of debate because of the revolutionary changes in medical knowledge and life-supporting systems which could prolong human life even after the brain stopped functioning. The practice has been accepted in countries like the United States, the United Kingdom, Australia and some other countries. Even the Vatican has accepted it in one case. The Karnataka advocate General Santosh Hegde from India has supported the view by referring to all these instances and said Acaray Vinoba Bhava had reportedly been allowed to refuse food and medicines during the last few days of his life so that he could die a quick death.¹⁰² The Mahabharata (Adiparva) refers to five types of marana, viz. kalpapraptā, aniscita, pramada icchita, and vidhi, and Japanese Buddhism approves it as Harakiri. It is still today in practice in Jain society. Jainacarya

Santisagara's death in August, 1955 can also be cited as the well-known holy death fasting upto last moment.

Thus the householder's stage is the prestage of Jaina ascetic. It is therefore but natural for him to observe the ascetic practices to a certain extent. His daily routine starts with reciting the mahamantra in brahmamuhurta thinking "who am I ?" " What are my vows"? What is my dharma" ? etc. He then meditates, studies the scriptures, worships the Jinas and then takes the meals. Avasyakas and pratikramana are also to be observed by the householder.

Spiritual stages (Gunasthanas)

This is the third type of division of spiritual stages called Gunasthanas in the Jaina scriptures.¹⁰⁴ It is fourteen in number stating the nature of the self in possession of the Ratnatraya (right vision, right knowledge and right conduct) on the path of purification as follows :-

1. Mithyadrsti (This is the lowest one which involves gross ignorance where the self accepts wrong belief as a right and therefore the person cannot make a distinction between reality and unreality. It is of five types, viz. 1) ekantamithyatva (absolute attitude, for example, there is no existence of soul), 2. ajnana mithyatva (which does not believe in existence of svarga, naraka etc., 3. viparita mithyatva (salvation can be attained by wrong views), 4. samsaya mithyatva (attitude of uncertainty about the right faith), and 5. vinaya mithyatva (all gods, gurus and agamas are true). As soon as one gets rid of mithyatva, he reaches the fourth gunasthana and from there comes down to the first one.

2. Sasadana samyagdrsti in which the soul, though in transitory stage has a taste of right knowledge. But due to pungency of anantanubandhi kasayas, his downfall is bound to happen from the stage of samyagdrati. Here he stays upto six avalis and then reaches to the first gunasthana.¹⁰⁵

3. Samyagmithyadrsti or misra gunasthana indicates the mixed state of right and wrong belief. Its duration is antarmuhurta. He attains the fourth gunasthana if he becomes samyagdrati, otherwise slips to the first gunasthana.¹⁰⁶

4. It is Asamyata samyagdrsti where the soul achieves right vision but cannot perform the conduct. At the attainment of samyagdarsana, one makes upasama, ksaya and ksayopasama of the three praktis

(mithyatva, samyagmithyatva and samyaktva) or darsana mohaniya karma and four prakritis of caritra mohaniya karma. Samyagdrati jiva transmigrates at the most for three bhavas where he stays without any attachment.¹⁰⁷

5. Desa samyata shows the trend of the soul for adopting partial vows prescribed for a layman. Here the soul observes the conduct and ends his life by sallekhana.¹⁰⁸

6. Pramattasamyata gunasthana onward relates to the ascetic order. Here the soul observes the ascetic conduct but mild passions make him impure. He thus becomes pramatta from apramatta and apramatta from pramatta.¹⁰⁹

7. Apramattasamyata makes the ascetic free from negligence and breach of vows. It is said that the ascetic cannot go beyond this stage in the present era as he does not possess that purity. It is of two types, svasthana apramatta and satisaya apramatta.¹¹⁰

8. Apurvakarana, the eighth gunasthana indicates highly purified mind of the self who does not fall down. The practice of sukladhyana starts from this stage. Pride is also altogether destroyed in this stage. Here only ksayika and aupasamika bhava exist. From this stage the two srenis commence their work, i.e. upasamasreni (8th to 12th gunasthanas) and ksapakasreni (8th, 9th, 10th and 12th gunasthana). In these srenis the twentyone prakritis of caritra mohaniya karmas are subdued and destroyed. The tadbhavamoksagami, atadbhavamoksagami, aupasemika samyagdrsti and ksayika samyagdrsti jivas ascend the upasamasreni while the ksapakasreni can be utilized by only tadbhava and atadbhava moksagami jivas. Upasamasenivarti jiva is bound to fall down from the 11th gunasthana to even first gunasthana but the ksapakasrenivarti jiva goes ahead to the 7th gunasthana. It is also called nivrtti gunasthana. Here only two causes of Karmabandha remain-ksaya and yoga.

9. Anivrttikarana : the soul here continues further the act of destroying the remaining part of caritra mohantya karma. The parinamas in this gunasthana are anivrtti (avisama). Deceit totally disappears here and the soul advances further to the next stage.

10. Sukamasamparaya. Samparaya means lobha. Here all passions are annihilated except slight greed. The duration of this

gunasthana is also antarmuhurta.

11. Upasantamoha. Here the remaining part of greed is destroyed and for a while the aspirant becomes vitaraga. But he definitely falls back to the lowest stage.

12. Ksinakasaya. In this gunasthana the soul becomes free from delusion and attains kaivalya (omniscience). The soul upto this stage is called chadmastha.

13. Sayogakevali. This is the stage where the aspirant enjoys the omniscience in its embodied state. Here only satyavacana, anubhayavacana and audarikakaya remain. The third kind of sukladhyana is attained here. This is called arihantavastha.

14. Ayogakevali is the last and most purified stage where all the passions and karmas are annihilated by the third and fourth stages of sukladhyana. This is called Siddhavastha.¹¹⁴

This is a brief picture of the spiritual development in fourteen steps which can be comprehended by the three main divisions, viz. the external self (bahiratnan), internal self (antaratman) and the transcendental self (paramatman).

Spiritual Disciplines and practices for Jain Mendicant.

Jaina scripture prescribes some code of conduct for a spiritual aspirant. It is called samacaro (right conduct) which is formulated in consonance with the spiritual vigilance for a mendicant. He stays in temples or woods with total renunciation and proper conduct. He must observe fully all the twelve vows prescribed for the householder. After observing the eleventh pratima he accepts initiation¹¹² from the teacher and becomes mendicant pulling the hair with his own hands. He is now firm to arrest the karmic matter by controlling passions, careful movement, observing virtues, engaging himself in contemplation and conquering the sufferings by endurance and conduct. He follows in toto the twelve vows prescribed for layman. For curbing the threefold activity of body, speech and mind an ascetic takes every care in walking, speaking, eating, lifting and lying down and depositing waste products for avoiding injury to organisms. (iryabhasaisanadananiksepotsargeh samitayeh). Besides, he observes in toto the ten virtues and meditates over the anupreksha as

already discussed in the context of disciplines for house-holders. He has also to endure twenty two types of afflictions (parisahas), viz. hunger, thirst, cold, heat, insect- bites, nakedness, absense of pleasures, women, pain arising from roaming, discomfort of postures, uncomfortable couch, scolding, injury, begging, lack of gain, illness, pain, inflicted by blades of grass, dirt, reverence and honour (good as well as bad reception), conceit of learning, despair or uneasiness arising from ignorance and lack of faith. These afflictions are to be endured so as not to swerve from the path of stoppage of karmas and for the sake of dissociation from karmas.¹¹³

Thus the ascetic constitutes the conduct by observing five causes of stoppage, namely control (gupti), regulation (samiti), moral virtues (dharma), reflections or contemplations (anupreksha), and conquest of afflictions (parisahajaya) and conduct (caritra). He follows 28 mulagunas completely, viz. 5 mahavrata, 5 samitis, 5 pancendriyavijayata (conquest over five senses), 6 avasyakas (samayika, caturvimsatistava, vandana, pratikramana, pratyakhyana, and kayotsarga), = 21, 22. Kesaluncanata, 23. acelakata (nudity), 24. asnanata, 25. bhusayana, 26. sthitibhojana, 27. adantadhavana, and 28. ekabhuktavrata.

Samayika or samata means equanimity in mind. He does not differentiate between a friend and enemy or gold and stone. Vandana (paying respect to the preceptor and superiors) is to remember the Tirthankaras. Pratikramana is self criticism and confession of the moral transgressions before the teacher. Pratyakhyana is a determination to avoid sinful activities of mind, speech and body for future. Kayotsarga is devotion to auspicious meditation in different poses. The Avasyakaniryukti refers to its nine kinds, viz. utsrta-utsrta, utsrta, utsrta-nisanna, utsrta, nisanna, nisanna-nisanna, nisanna-utsrta, nisanna-nisanna. The result of kayotsarga are :- dehajadyasuudhi, matijadya suddhi, sukha-dukhha titiksa, anupraksa and dhyana.¹¹⁴ There are some faults also mentioned in the literature.¹¹⁵

The Uttaradhyayana refers to several kinds and results of pratyakhyana, viz. sambhoga, upadhi, ahara, yoga, sadbhava, sarira, sahaya and kasaya.¹¹⁶ The anuyogadvara mentions some other names of sadavasyakas, viz. savadyayogavirati, utkirtana, gunavatpratipatti, skhalitanindana, vranacikiisa, and gunadharana.

Kesaluncana is a symbol of vairagya, parisahajaya and samyama. It

is also included into kayaklesatapa.¹¹⁷ It is inevitable for ascetics with the view to have adinata, nisparigrahata, vairagya and parisaha.¹¹⁸

Acelakata of nakedness is a requisite characteristic of the ascetics. Mahavira is called Nigantha Nataputts in the Pali literature. It reveals the qualities such as tyaga, akincanya, samyama, laghavata, nirmalata, nirbhayata etc.¹¹⁹ The Svetambara tradition, though agrees and pays an honour to the nakedness, does not make it requisite. This is the result of the later development. It allowed afterwards the mukhavastrika, avamacelae (a piece of cloth), padakambala rajoharana, patra, pitha, patrabandha, patrasthapana, phalaka, sayya, samstaraka, patrapramarjanika, patals, rajastrana, colapattaka etc.¹²⁰

Self-restraint or discipline is the conduct which is direct cause of liberation. It is of five types, viz. 1. samayika (equanimity), 2. Chedopasthapana (reinitiation) or reinstalation in his vows, according to rules. It removes the mental impurity, after committing any violation of rules, iii) pariharavisuddhi is purity of conduct or refraining from injury. iv) Sukamasamparays is a conduct with slight passion, and v) Yathakhyata caritra connotes the perfect conduct, which is the nature of the self. This may be said as the five gradual stages of spiritual development in realizing and achieving the nature of the self (atma).¹²¹

Self control over physical, mental and vocal activities and vigilance in conduct like moving, speaking, taking and keeping food and evacuating bowels are the essentials for a Jain monk. These essentials protect him from sin. He is also expected to be free from impure thoughts, impure talking and impure and violent actions, constant vigilance in behaviour cultivates in him ten cardinal qualities like forgiveness, humility, straightforwardness, contentment, truth, restraint, penance, renunciation, detachment and celibacy.¹²²

In this respect we should also understand the penance or religious austerity which is a chief cause of stoppage of influx and dissociation of karmas. It is of course self-imposed. Tapa is of two types, namely bahyatapa (external penance) and abhyantara tapa (internal penance). Bahyatapa is of six types, viz. anasana (fasting) avamaudarya (reduced diet), vrttiparisankhyana (special restrictions for begging food), rasaparityaga (giving up stimulating and delicious dishes), viviktasayyasana (lonely habitation), and kayakless (mortification of body).

Anasana is of six kinds, srenitapa, prataratapa (16 fasts), ghanatapa (16 x 4 64 fasts), vargatapa (64 x 64 4096), vargavargatapa (4096x4096 = 16777216 fasts), and prakiratapa Vrtliparisankhyana in the Uttaradhyayana is classified into three, gocari, mrgacarya and kapotavrtti.

The main object behind the external austerity is to cultivate patient endurance of bodily pain and suffering in order to remove attachment to pleasure and to proclaim the glory of the teaching of the Jinas.

The internal austerities are also of six types, viz. 1. prayascitta (expiation over negligence of duties, it is of nine kinds, i.e. alocana, pratikramana, tadubhaya, viveka, vyutsarga, tapa, cheda, parihara and upasthapana.¹²³ The Uttaradhyayana mentions another kind, i) parancika which is prescribed for the most heinous karama.¹²⁴ ii) vonaya (reverence to the holy personages), iii) vaiyavrtti services to the saints in difficulty iv) svadhyayatapa) study of the scriptures with giving up idleness, anger, pride etc. and vi) dhyana (meditation) for checking the ramblings of the mind. Vinaya is described with its four kinds, namely jnana, caritra, darsana and upacara (abhythasna, anjalikarana, asanadana, gurubhakti and bhavasusrusa. Svadhyaya is of five types, i) vacana (teaching), ii) prchana (questioning), iii) anuprekaa (reflection), amnaya (recitation), and v) dharmopadesa (preaching).

We now come to the meditation, the last point of internal austerity. Concentration of thought on one particular object is meditation. The mind must be abstracted from all worldly desires and passions and these causes can be detected through introspection which prepare the mind to overcome them. This attitude of mind having right path of purification is called spirituality. For realization of this spirituality, Jainism has prescribed some spiritual disciplines and practices for meditation which require considerable purification of the self.

The auspicious meditation for attainment of spiritual goal is of two types, viz. virtuous or righteous meditation (dharmadhyana) and pure meditation (sukladhyana). After removal of sorrowful concentrations (arta-raudra dhyana), the sadhaka in the third stage (dharma-dhyana) contemplates on the objects of revelation, misfortune or calamity, ructification of karmas and the structure of the universer (ajnavicaya, apayavicaya, vipakavicaya and samsthanavicaya). According to Digambara tradition dharmadhyana is possible only in the four

gunasthanas from the 4th to 7th. On the otherhand, the Svetambara tradition is of view that it can be in the six Gunasthanas from 7th to 12th.

The Sukladhyana is of four types, viz. prthaktva-vitarka aavicari, ii) ekatva-vitarka-avicari, iii) suksmakriyanivrtti, and iv) samucchinna kriya pratipati, or vuparatakriys nivrtti. Vitarka is srutajnana. Vicara is moving. During first two types of sukladhyana an aspirant attains various types of transcendental power (rddhis). Ghatikarmas are destroyed by ekatvavitarka sukladhyana and as a result the aspirant attains kevalajnana in the third sukladhyana suksmakriya-pratipati where the subtle activity of body remains and all other activites cease. It can be attained in the 13th gunasthana. The last fourth type of sukladhyana is attained by the aspirant when all the karmas are annihilated. This is called sailesi avastha. It is the fourteenth stage of gunasthana, the most purified stage of soul.

The dharmasdhyana and sukladhyana yogis are called dhyata who are endowed with prajnaparamita, buddhibala, jitendriya, sutrarthavalambi, dhira, yira, parisahajayi, viragi, ratnatrayadhari.¹²⁵ The object of meditation is to contemplate over the tattvas, paramesthis, nature of soul, ratnatraya, bhavanas etc. and attain salvation.

Yoga connotes the spiritual and religious activities that lead to nirvana. It is dhyana which carries an object to attain samyagdarsana. It is of four types, namely pindastha, padastha rupastha and rupa-tita.

Like Sravaka pratimas, the bhiksu pratimas are also discussed in the Dasasrutaskandha and other granthas. They are twelve in number, i.e. 1. masiki, dvimasiki, 3.-7. upto sapta masiki, 8-10. prathama, dvitiya, trtiya saptaratrindama, 11. aho ratri bhiksu pratima, 12. eka ratriki bhiksu pratima. The Jaina aspirant practises the anasana and unodara tapas through these bhiksu pratimas. The tapas and parisahas are to be endured so as not to swerve from the path of stoppage of karmas and for the sake of dissociation of karmas. The Pali literature also refers to these tapas of Niganthas which were also practised by the Buddha before he reached the Bodhi.¹²⁶

The mulagunas and uttaragunas are discussed in the Dasavaikalika, Sutrakrtanga, Acaranga, and other agamic literature. A Jaina monk is endowed with eight types of Ganisampadas, viz. acarasampada, srutasampada, sarira sampada, vacana sampada, matisampada, vacana sampada, prayoga matisampada, and sangraha pariijna sampada.

There is a code of conduct for those monks who stay with the monks in the upasraya. It is of two types, viz. avasyaki, naisedhiki, aprcchana, pratiprcchana, chandana, icchakara, mithyakara, tathakara, abhyutthana, and upasampads. It is also inevitable for a monk to divide his day and night time into four parts for observing svadhyaya, dhyana, nidra, svadhya during night time and svadhya, dhyana, bhiksacarya and svadhyaya during day time. This is called samacarita.

Margana connotes the search for original nature of soul. It is of 14 types, viz. 1) gati- 4; 2) indriya - 5; 3) kaya 2-trasa and sthavara ; 4) yoga 3- mana, vacana, and kaya; 5) veda 3- stri-purusa-napumsaka; 6) kasaya 4- krodha-mana-maya-lobh; 7) jnana 8-mati-sruta-avadhi-manahpariyaya-kevala- kumati-kusruta-kuavadhijna ns. 9) lesya 6-krsna-nila-kapota-pita-padma-sukla: 11) bhavya 2- bhavya and abhavya; 12) samyaktva 5- mithyatva, samyaktmityatva, ksayopasama samyaktva, upasama samyaktva and ksayika samyaktva; 13) samjni 2 - sanjni and asanjni ; and 14) ahara 2 - shara and anahara. The Prarupna connotes the search through paryapta and aparyapta visesanas. It is of 20 types, viz. gunasthna 14, javasamasa, paryapta, prana, samjna, marganas and upayoga.

Moksa (liberation)

Acarya defined the moksa as "Owing to the absense of the cause of bondage and with the functioning of the dissociation of karmas, the annihilation of all karmas is moksa."¹²⁷ Pujapada explained it "Moksa is the attainment of an altogether different state of the soul, on the removal of all the impurities of karmic matter and the body, characterized by the inherent qualities of the soul such as knowledge and bliss free from pain and suffering.

Immediately after attaining release from all karmas, the soul goes up to the end of the universe. The reasons have been given, as the soul previously impelled, as it is free from ties or attachment, as the bondage has been snapped and as it is of the nature of darting upwards. The examples in this regard have been given, like the potter's wheel, the gourd devoid of mud, the shell of the castor-seed and the flame of the candle respectively.¹²⁹

This is the brief survey of the spiritual disciplines and practices as laid down in Jainism for day to day life. Jainism is a religion of religions

and philosophy of philosophies in the eyes of Anekantavada. It believes that proper religious observances prepare a man to possess a non-sectarian attitude towards religious disciplines and practices culminating in spiritual enlightenment or achieving consciousness of ultimate reality. It is also of the opinion that a noble social conduct of self restraint and highmindedness, benevolence and compassion, sympathy and tolerance is a moral instrument for building a just society. There is no difficulty at all to develop gradually the religious disciplines in every day life, though the ultimate reality is immanent.

As a matter of fact, spirituality cannot and should not be limited to the absolute or direct spiritual experience of mystics. It considers in its ambit the humanism and humanitarianism also with metaphysical, religious, philosophical and moral consciousness. Moral values may not be a constitutive part of the religious life but at best it may be certainly instrumental in securing the realization of ultimate truth.

Notes

SPIRITUAL DISCIPLINES AND PRACTICES IN JAINISM

1. Ethics has been defined as "the study of what is right or good in conduct" - Mackenzie, John S. A. Manual of Ethics, London, 1929, p.
2. Pravacanasara, 1.7.
3. Ayaro, 4.32 Curni
4. Mokkhapahud, 4; Kartikeyanupreksha, 192; Ratnakaranda Sravakacara 3.
5. Tattvarthasutra, 1.1
6. Uttaradhyayana, 28-30.
7. Tattvartharajavartika, 1.4748.
8. Rayanasara, 4; Dhavala, Vol. 1,1.1.4; Niyamasara, 5
9. Tattvarthasutra, 1.3
10. Upasakadhyayana, 49-50; Astasati-Astasahasri, p. 236.
11. Tittvarthasutra, 7.23, Ratnakaranda Sravakacara, 21
12. Dravyasangraha Tika, 41.
13. Sarvarthasiddhi, p. 1
14. Tattvathasutra, 7.19-20
15. See the author's book "Jaina Darsana aur Sanskriti ka Itihasa, p. 255 fn. 1
16. Sagaradharmamrta, 1.15
17. Sraddhaguna vivarana, pp. 7; Jaina Yoga, pp. 257
18. Sagaradharmamrta, 1.11

19. Amitagati Sravakacara, 6. 9-11
20. Caritrasara, p. 22
21. Dharmabinduprakarana, 11
22. Ratnakarandasravakacara, 66
23. Purusarthasiddhyupaya, 61
24. Sagaradharmamrta, 2.2-16.
25. ibid. 2.2-3
26. Latisamhita, 2.47-49
27. Pravacanasaroddhara, 245-6
28. Yogasastra, 3. 6-7
29. Sagaradharmamrta, 3. 11-18
30. Amitagatisravakacara, 5. 84-85
31. Mulacara, 213
32. Pravacanasaroddhara, 236-41
33. Sagaradharmamrta, 5. 21-23
34. Caritrasara, p. 20; Adipurana, 38-125; Sraddhavidhi, p. 90.
35. Padmanandipancavimsika, 6.7
36. Amitagatisravakacara, 8.29
37. Sraddhavidhi, p. 158
38. Lalitavistara; See the author's paper on the Caityavanda na B. L. Institute of Indology, 1987 (Delhi).
39. Jaina Yoga, London, 1963, p. 173
40. Ratnakarandsravakacara, 137
41. Mulacara,201; Tattvartharajavartika, 6.24.1
42. Ratnakarandasravakacara, 25
43. Amitagatisravakacara, 2.74-77 Caritrasara,6.2; Vasunandi.49
44. Sarvarthasiddhi, 9.23
45. Tattvarthasutra, 9.7
46. ibid. 9.6
47. ibid. 7.11.
48. Ayaro, 2. 40-46
49. Amitagatisravakacara, 6. 12-3
50. Ratnakarandasravakacara, 53
51. Dasavaikalikasutra, 219
52. Amitagatisravakacara, 6. 12-3 Yogasastra, 2. 18
53. Sarvarthasiddhi, 7.13
54. Purusarthasiddhyupaya, 79-81, 43
55. Tattvarthasutra, 7.14
56. Amitagatisravakacara, 6. 49-54; Purusarthasiddhyupaya, 91-93
57. Yasastilaka and Indian Culture, K.K. Handique, p. 265
58. Tattvarthasutra, 7.25; 7.5

59. Ratnakarandasravakacara, 52
60. Tattvarthasutra, 7.27
61. Ratnakarandasravacara, 56
62. Upasakadhyayana, 381
63. Ratnakarandasravacara, 59
64. Upasakadhyayana, 405-6
65. Tattvartasutra, 7.28; Upasakadasahga, adhyaya 1
66. Upasakadhyayana, 418
67. Tattvarthasutra, 7.17
68. ibid. 7.29
69. Ratnakarandasravakacara, 62 Yogasastra; etc.
70. Sagaradharmamrta, 4.64
71. Ratnaka. 67; Sagaradh. 5.1
72. Sarvarthasiddhia, 7.38-39;
73. Yasastilaka and Indian Culture, Handiqu, p. 284
74. Caritrasara, 1. 14; Amitagati Sravakacara. 9. 310
75. Vasunandi Sravakacara, 233-38
76. Sarvarthasiddhi, 7.24; Tattvartharajavartika, 7.24 Caritrasara, 13.6
77. Ratnakarandasravakacara, 66; Purusarthasiddhyupaya, 61; Upasakakadhyayana, 270-314
78. Tattvarthasutrabhasya, 7.16; Jnanarava, 27. 13-14
79. Avasyakacurni of Haribhadra, p. 8; Caritrasara, 19.1; Mulacara, 531
80. Tattvarthasutra Bhasya of Siddhasenaganin, 7.28
81. Amitagatisravakacara, 8. 51-56
82. Acarasara, 570-71, Ratnaka, 142
83. Vasunandi Sravakacara, 296; Caritrasara, p. 38
84. Amitagati Sravakacara, 7.77
85. Vasunandi Sravakacara, 30
86. Ratnakaranda Sravakacara, 123-30; Sarvartha. 7.22; Vasu. Sravaka, 272
87. Sarvarthasiddhi, 7.22 Ratnakarandasravakacara, 122-29
88. Caritrapahud, 26
89. Bhagawati Aradhana, 271-74; Ratnakara, 122
90. Sagaradharmamrta, 8.16
91. Acaranga, Vimoksa Adhyayana; Thananga Vrtti, 2; Nayadha vrtti, 1.1 92.
92. Pravacanasaroddhara, 135
93. Nisitha Curni, Vrhad Vrtti; Mularadhana, 3. 108
94. Samavayanga, 17.9
95. Ayaro, Vimoksa Adhyayana, 105
96. ibid. Vimoksa 106, 125
97. Bhagawati Aradhana, 155; Dhavala, 1.1.1.23
98. Uttaradhyayana, 5.3-4

GOMMATESVARA AS FOUND IN HARIVAMSA PURANA

□ Dr. Prem Chand Jain

Gommatesvara, also called Bahubali, was a son of Lord Rsabha, the first great world Teacher (in this avasarpini) who, after teaching his people the way of house-holder's life divided his kingdom among his sons. He made Bharata, his eldest son, his successor and took to asceticism to teach mankind the way of salvation. After long years, Bharata went out to conquer the world and become the first Emperor.

Subjugating all the countries in the six continents and subduing the kings one after another Bharata returned to Ayodhya, the imperial capital. The huge and victorious army marching through triumphal arches entered the high gates of the city. First the chariots rattled in; the elephants, swinging their trunks gracefully, moved on while the bells hanging on their sides sounded ding-dong; then the horses neighed and trotted into the city with raised heads; and then the infantry clad in armour majestically walked on with swords held up. Elaborate preparations were going on briskly to celebrate the victory of Bharata, King of Kosala and Emperor of sad-Khanda. The entire city was jubilant. The Emperor himself was immersed in great joy. The ministers seated in front of him were receiving instructions regarding the details of the celebration of victory. Just then the

Commander-in-Chief stepped into the Durbar Hall and reported to the Emperor that the Discus, the cakra, was still outside the city gates. Bharata was dismayed. He was at a loss to know the reason why the discus had not entered the armoury. He asked the Minister for war if there was any king still unconquered by him. The lists of kings, who had become his vassals, was scrutinized. It was found that the name of Bahubali, the King of Paudanapura, was not in them. He was still independent and he was to be brought under the sway of Bharata.

It was suggested that that might be the reason why the cakra-ratna was still outside the gates of Ayodhya. Immediately swift ambassadors were sent to Paudanapura to demand from Bahubali recognition of the suzerainty of Bharata and submission to his rule. The ambassadors were respectfully received at the court of Bahubali. But on hearing the demands from Bharata, Bahubali got enraged. Bahubali was no less a son of Lord Rsabha than Bharata himself. So Bahubali said, "The kingdom was portioned out and allotted to us by our father the Lord, If he asks me to handover my kingdom to Bharata, I will do so most willingly. But if your king wants to take it from me, let him do so after conquering me in war". The ambassadors returned disappointed and reported to Bharata all that had happened at Paudanapura.

After the departure of the ambassadors, Bahubali gathered his army and was prepared to meet his brother in the battle. On hearing the reply of Bahubali, Bharata grew furious and summoning his entire army he marched towards Paudanapura. Both the armies came closer together at a particular place. Conchs were blown; kettle-drums were beaten, pipes, horns and trumpets blared forth making a tumultuous sound. They were about to attack one another. But the ministers of both the brothers stepped forward and prayed to their Lords not to fight and said, "O Lords, both of you are divine personalities. You are in your last births now. At the end of this life you will be attaining salvation. Your bodies are invulnerable. Why should these innocent soldiers be thrown to the jaws of death ? You may kindly decide your superiority by a duel combat".

Both the contending brothers were naturally averse to any form of injury to any life and they readily agreed to decide this question by methods of righteous fight, namely drsti-yoddha (looking at each other without winking), jalayuddha (throwing water at each other's face) and

malls-yuddha (wrestling). In all the three combats Bahubali became victorious and his army shouted with applause. Emperor Bharata felt humiliated. But Bahubali was not elated in spite of his victory. This was no victory for him. He had to fight his greater enemy karma. He asked his brother to take over his kingdom and rule over it, while he would himself renounce the temporal world and strive for the Spiritual Empire.

Bahubali became an ascetic and was deeply engaged in meditation. He was so much immersed in dhyana and self concentration that he became absolutely unconscious of the external world. Ant-hills grew up at his feet. and creepers wound themselves around his legs and hands. As he was advancing in concentration, the divinity in him was manifesting itself until at last when he attained Omniscience, he became the fullest manifestation of the Divinity itself. Devas from above, human beings on the earth, animals and birds gathered around him to pay obeisance and hear his teachings. No less a person than His Imperial Majesty Bharata became one of his ardent devotees. Such was the Glory of Gommatesvara who was none else than Bahubali, the king of Paudanapura. The devotion of Bharata was so intense that he caused an image of Bahubali to be made in gold and installed at Paudanapura.

REFERENCES

1. Hari-Vamsa-Purana- 9/22.
2. Ibid., 9/94.
3. Ibid., 9/95.
4. Ibid., 11/56.
5. Ibid., 1/56.
6. Ibid., 11/57-58.
7. Ibid., 11/76.
8. Ibid., 11/76.
9. Ibid., 11/77-78.
10. Ibid., 11/79.
11. Ibid., 11/80.
12. Ibid., 11/81-82.
13. Ibid., 11/83.
14. Ibid., 11/84.
15. Ibid., 11/81-84.



THE JAIN PHILOSOPHY

□ Dr. K.C. Sogani

The significant fact about knowledge is its communicability. When the knowledge is for one's own self, the question of communicability can be dispensed with : but when it is for the other, the question needs serious consideration. Communicability is accomplished through properly worded propositions. Thus knowledge to be communicable is to be reduced to propositions. This goes without saying that formulation of propositions is dependent on the content of knowledge. It is not idle to point out that if there is discordance between the content of knowledge and formulation of propositions, serious misunderstandings are bound to arise. Syadvada is the linguistic device to represent without any omission and distortion the content of knowledge. Thus in a way Syadvada and knowledge become the obverse and converse of the same coin.

Knowledge, according to the Jains, reveals itself and the object. In consequence, the Jaina thinkers propound that the object has infinite characteristics-some known, some in the process of being discovered and many as yet unknown. This is known as the doctrine of Anekantavada. Syadvada is the method of communicating the mani-fold characteristics of a thing to the other. In the absence of this technique, real knowledge of a thing cannot be passed to others without any discongruence. Thus Syadvada is the expression of Anekantavada in language. If Anekantavada is the mode of cognition, Syadvada is the mode of expression.

The significant point to be comprehended in regard to Anekantavada is that every characteristic of a multiphased thing is maintaining its identity through the existence of its opposite as its aspect. In fact, a thing cannot be the same thing without the negation of other thing in it. For example, a colour cannot remain a colour without the negation of other characteristics like taste, smell etc. in it. Thus non-existence is as much an essential aspect of the real as existence is. Negative propositions cannot be asserted without accepting non-existence as an element in the constitution of the real. Similarly, the characteristics of one and many, permanence and change, generality and particularity are reconciled in a thing without any incongruity. Thus when the Jainist is faced with the problem of expressing the complex content of knowledge in language in a way which can communicate to the other knowledge as such, he had to devise the method of Syadvada. The word 'Syat' when added to a proposition is indicative of the presence of multiple characteristics in a thing in addition to the characteristic referred to in the proposition under consideration. In the proposition 'Syat ghat is colourful' the word 'Syat' implies that the subject Ghata is a manifold of attributes, of which the attribute of being colourful referred to in the proposition is there in the Ghata as a matter of fact. This should not be understood, as it is generally done, to mean that the existence of colour in the Ghata is doubtful. In other words, certainty of colour alongwith the manifoldness of characteristics is indicated by the word 'Syat'.

The word 'Syat' can also be understood differently, though the difference is of expression and not of meaning already discussed. As already pointed out a thing is the repository of infinite attributes. Hence the apprehension of it from a particular angle of vision or point of view, technically called Naya, does not exhaust the whole of the multiphased thing. It is important to note that the Naya is objectively given and not subjectively given and not subjectively contemplated. So in order to avoid the possible misunderstanding that a thing is exhausted by a particular Naya, every predication should be preceded by the word 'Syat', thus making us aware of the possibility of other predications in regard to that thing. Thus 'Syadvada is the custodian of clarity, certainty and unambiguity in the field of philosophy. It is by no means the doctrine of doubt and

uncertainty.

Although an existent is possessed of infinite attributes, yet the knowing of it is not a simple affair. The question is what it is to know a thing and how many propositions are requisite to express the content of knowledge. The conviction of the Jaina is that seven distinct propositions, neither more nor less, are needed to express the content of knowledge in regard to an existent. The significant point to be noted here is that each proposition is not the result of mere subjective necessity but is traceable to an objective situation which actually possesses attributes as an ontological truth. All this implies that since the existents or their characteristics are infinitely in number, seven propositions can be expressed with reference to each. Consequently, there will be infinitely seven fold propositions without any inconsistency.

Let us now illustrate the doctrine of seven fold proposition by taking an example of the attribute existence or permanence or oneness etc. in respect of pen,

(1) The first proposition is : Syat pen exists. This means that the existence of pen is contextual, the content being, its own Dravya (substance), Ksetra (space), kala (Time) and Bhava (State). It is by virtue of this context that the pen derives its individuality and becomes meaningful. In fact this context is interwoven into the constitution of the pen itself, so it cannot be separated from the object. This proposition controverts the possibility of unqualified existence of a thing without the consideration of substance, space, time and state.

(2) The second proposition is : Syat pen does not exist. This proposition does not, as it seems, negate the existence of pen referred to in first proposition, but it states the non- existence of pen in respect of other Dravya, Ksetra, Kala and Bhava. Thus it strengthens the first proposition, rather than cancel it. The pen is pen only because it is not not-pen. In other words, the existence of pen in respect of its own Dravya, Ksetra, Kala and Bhava cannot maintain its identity, if non-existence of pen in respect of other Dravya, Ksetra, Kala and Bhava is not considered the concomitant aspect of pen. Thus both existence and non-existence are co-present in the pen without any contradiction. According to the Jaina, non-existence is as much constitutive of the nature

of thing as existence. The critics fail to see that contradictory statements can be made about a thing, if the context is changed. The conviction of the Jaina is that if this proposition is denied, it shall be difficult for us to account for the difference of things. Hence, by asserting this proposition, we come across a new aspect of a thing which is not given in the first proposition.

(3) The third proposition is : Syat pen exists and does not exist. In this proposition, the two attributes of existence and non-existence in their relevant contexts are successively predicated of the pen. Thus this proposition which appears to be merely the summation of the first two proposition, is not really so. It expresses a new effect of pen under consideration. This effect is not present either in the first or in the second proposition considered separately. If mathematics is our guide, the third proposition is nothing but a summation of first two. But the Jaina experience which is our sole guide tells us that the combination of separate units gives rise to a distinctive attribute. In the world 'go', though the two letters 'g' and 'o' are merely combined yet this combination gives rise to a distinctive meaning, not apprehended in any of its constituent elements.

(4) The fourth proposition is 'Syat pen is inexpressible'. In this proposition, the two attributes of existence and non-existence instead of being asserted successively, as in the third proposition, are asserted simultaneously. The need for simultaneous assertion of these opposite attributes is man's desire to express in words the apprehension of pen as such. Since words are incapable of expressing this apprehension of pen, the pen is inexpressible. It may be noted here that inexpressibility is a novel and factual characteristic of pen. The distinction between the third and fourth proposition is that in the former the novel attribute is the result of consecutive togetherness of the elements of existence and non-existence, whereas in the latter it is the result of simultaneous presentation of the two elements in question. It goes without saying that this inexpressibility is not absolute. It is only so in the context of the two opposite attributes being together synchronally. "The commonsense principle implied in its recognition is that what is given cannot be rejected because it is inexpressible by a single positive concept".

The fifth, sixth and seventh propositions are (5) Syat pen exists and is inexpressible, (6) Syat pen exists and does not exist and is inexpressible, (7) Syat pen exists and does not exist and is inexpressible. All these propositions, according to the Jaina, represent a new aspect of the real. It may be noted here that the Jaina texts have not discussed these propositions clearly.

Now the question arises: What is the basis of regarding the number of propositions as seven, neither more nor less than this? The answer of the Jaina is that since affirmation and negation are constitutive of the real, there are only seven questions possible in regard to any real. These questions are consequent upon the seven kinds of inquisitiveness of mind to know a thing which in turn is dependent on the seven objective aspects of the real. In fact, the enquiry starts upon the initial doubt, for example, does a pen exist or not? Or is a thing permanent or changing? And the answer is seven distinct propositions or Bhangas. What I feel here is that the Jaina in propounding the seven propositions is making use of mathematical knowledge which necessarily leads to the seven Bhangas. Out of these, the first four are empirically verifiable or understandable and the last three are mathematical possibilities confirmed by mathematics. So if one speaks of more than seven Bhangas, there will either be duplication or assertion of propositions neither confirmed by mathematics nor by experience. If one speaks of less number of propositions, there will either be omission or suppression of the aspect of the real given to us either mathematically or experientially.

It may now be argued that since Jaina philosophy is known as Anekantavada (non-extremism and non-absolutism) does the sevenfold predication apply to Anekantavada itself? The answer of the Jaina is in the affirmative. Syat Anekantavada, Syat ekantavada and so on will be the seven propositions (Saptabhangas). Knowledge which takes into account the nature of the real as consisting of an infinite plurality of attributes is called pramana and this is non-absolutism: knowledge which takes into account one attribute without negating the other attributes present in the real is called 'Naya' and this is ekantavada. In other words, the Anekanta cannot be sustained without admitting Ekanta as its opposite, just as a tree cannot be saved if the branches are taken out.

Of the many charges levelled against the doctrine of Syadavada, the most fundamental is that of self-contradiction. In other words, the charge is that the Jaina doctrine flagrantly violates the law of non-contradiction which says that A cannot be both B and not B at the same time. Thus how can a pen have the A characteristics of both existence and non-existence? Before answering this objection, let us first discuss the attitude of the Jaina towards the law of non-contradiction propounded by formal logic. The conviction of the Jaina is that the law of non-contradiction is a priori and thus does not state any facts about reality. If it is asked what is the criterion of contradiction, the reply of the Jaina would be that it is experience and not pure thought. It is by the former that the notion of contradiction should be decided. Two facts are contradictory, if they are not found to co-exist in experience just as light and darkness, heat and cold and the like. On the contrary, if experience confirms the co-existence of seemingly contradictory attributes in a thing, it should be regarded as valid. Thus the Jaina insists that the source of the law of non-contradiction should be sought not in a priori thought, but in experience of the behaviour of things. Following the mode of logic, the Jaina finds no empirical contradiction in asserting that the pen has the characteristics of both existence and non-existence, as has been explained above.



JAINA ATTITUDE TO ANIMAL WORLD : IMPACT ON SOCIAL LIFE IN INDIA

z

□ PRADYUMNA KUMAR JAIN,

The paper aims at focussing attention on the cultural attitude of Jainas towards the animal world in its totality including birds, insects and fish. Although the historicity of Jainism is believed to date back to the pre-Aryan times in India, it emerged as a religion in the fifth century B.C. with Mahavira, the last and the twenty fourth Tirthankara (Divine teacher) of the Jainism, to be adopted and practised by an influential section of the Indian Society. There after with the passage of time and growing royal patronage, it further evolved itself into a powerful philosophy of life which has its bearing on millions of people in India.

The meaning of the term jaina is to be understood from its Sanskrit origin which means the conqueror of desires and in whom the soul asserts the supreme and perfected powers. Such a person is called Jina and his followers as Jainas. Jainism acknowledges twenty four Tirthankaras or the divine teachers whose chronological names alongwith their symbols are given in Part-II of this paper. The Bhagwata Purana, an ancient scripture

of the Hindus corroborates the Jaina tradition beginning from Rishabha, the first of the twenty four Tirthankaras. Dr. S. Radhakrishnan observes that the Yajurved mentions the names of three Tirthankaras: Rishabh, Ajit Nath, and Aristanemi. The Bhagwata Purana endorses the view that Rishabh was the founder of Jainism. 'The Ahimsa doctrine preached by Rishabh is possibly prior in time to the advent of the Aryans in India and the prevalent culture of the period.' Some scholars are of the opinion that the Jaina culture is identical to the prevedic Dravidian culture. Both these cultures are believed to be 'simple, unsophisticated, clearcut and direct manifestation of the pessimistic outlook'. The Jaina philosophy is generally pessimistic i.e. it believes that life is full of misery. The optimistic attitude of the vedic Aryans is totally different from the Jaina pessimism.

Apart from the traditional account, the last two Tirthankaras, namely Parsava and Mahavira are wellknown historical personages. Dr.Herman Jacobi in his book ' Sacred Books of the East' (1984) has incontrovertably established that even before the times of Mahavira, Jainism was very much in existence under the leadership of Parsava who is known as the twenty third Tirthankara.

The historicity of Parsava is unanimously accepted as having preceded Mahavira by 250 years. The tradition has it that the parents of Mahavira were followers of Lord Parsava who preached four Vows:

1. Not to kill,
2. Not to lie,
3. Not to steal,
4. Not to own property.

Mahavavira added a fifth vow of chastity to the vows enunciated by Parsava. Dr. Herman Jacobi observes that 'the followers of Parsava especially Kesi who seems to have been the leader of the sect at the time of Mahavira are frequently mentioned in Jaina sutras in such a matter of fact way as to give us no reason for doubting the authenticity of records.' The historical event of the acceptance of fivefold 'dharma' of Mahavira by 500 followers of Parsava at 'Tumgiya' further reinforces this view.

In Jainism ethical discipline is regarded as having supreme importance. It has two aspects: One relates to spiritual purification by pursuing the doctrine of Karma which is free from any divine intervention. The individual has to suffer the consequences-good or bad - of his or her

thoughts, words and deeds. Karma in Jainism is regarded as a subtle matter or form of energy which affects the soul as a result of one's thoughts, words and deeds. The Second aspect relates to the social obligation of an individual. According to this, Jainism helps the individual to develop an attitude of equality towards all beings and inculcates a sense of sanctity for an individual and his possession.

Jainism believes in the cycle of birth and re-birth and emphasises the doctrine of soul. According to this the body is merely a cover for the soul. Therefore, the comforts of the body are considered as chains for the soul and as such should be shunned so that ultimately the soul may be liberated from the bondage of karmas and re-birth cycle. This metaphysical belief logically culminates into the concept of Ahimsa in Jainism.

Ahimsa is the foundation of the doctrine which basically recognises the inherent right of an individual to life; because every living being wants to live and does not want to die. This leads to the belief that no one has a right to destroy or harm any other living being. This Ahimsa is considered as the bedrock of all moral instructions in Jainism.

Albert Schweitzer in his book 'Indian thought and its development' (London, 1961 pp. 82-83) has observed that 'the laying down of the commandment not to kill and not to damage is one of the greatest events in the spiritual history of mankind...so far as we know, this is for the first time clearly expressed in Jainism.'

Here two major questions arise before us:- (1) How a religion based on the principle of Ahimsa (non-violence) was followed by the preachers and followers two thousand five hundred years ago when most of the people including Aryans and Brahmins were non-vegetarians and the agricultural technology was not well developed ?

(2) What attitude was adopted to the animal world in symbolic and practical form.

The explanation of these questions can possibly help us in understanding the Jaina attitude towards the animal world and its impact on the social life in India.

As stated above the concept of Ahimsa determines the entire attitude of the Jaina preachers and their followers. According to them any appearance of passions in an individual is considered as commencement of Himsa (violence). It means that any deviation from the fivefold path of

self realisation as stated above is Himsa. Ahimsa as defined in the Acaranga Sutra by Lord Mahavira is that 'no living beings, no animate objects, no sentient being, no life should be slain or treated with violence, or tormented or abused or driven away.' In the Avashyaksutra Ahimsa has further been conceptualised as not committing Himsa by thought, speech and action and it extends further to:

- (a) 1. no Himsa by thought;
2. not causing others to commit Himsa by thought;
3. not approving Himsa by thought;
- (b) 1. no Himsa by speech;
2. not causing others to commit Himsa by speech;
3. not approving Himsa by speech.
- (c) 1. no Himsa by action;
2. not causing others to commit Himsa by action;
3. not approving Himsa by action.

In this way there are nine different ways by which Himsa is to be shunned and Ahimsa to be observed.

This strict adherence to the concept of non- violence in Jainism provides us a key to the understanding of their attitude towards animals including birds and fish. Without having this knowledge of the belief in the principle of Ahimsa it is almost impossible to have a clear concept about the evolution of their attitude towards not only the animal world but even the vegetable world which is also considered as having one sensed beings (Ekendriya Jiva).

The Jaina system as made applicable to the householders leaves some leeway for their practice. It is called as Ahimsanuvrata in Jainism, according to which certain latitude is granted to the Jaina householder from the practical point of view. Since it would be almost impossible to shun Himsa strictly in accordance with the Jaina tenets, a Jaina householder has to keep away from the deliberate commission of Himsa of the two sensed to five sensed beings. Even in the realm of one sensed beings (Jivas) i.e. the vegetable bodied, the air bodied, the fire bodied etc., he should manage to confine his operations in such a way that the existence of a very limited number of jivas is affected. The emphasis is, however, on alleviating the amount of injury and not on total relinquishment

which is not possible without jeopardising the survival of man.

1. Jaina attitude as influenced by non-violent vow reflected in their food habits:

Influenced by the philosophy of Ahimsa, the Jaina community in India is completely vegetarian. Use of wine, meat, honey and such fruits which contain germs or insects is totally prohibited. The Jainas observe eating only in the day as they believe that eating in the night may inadvertently lead to killing of imperceptible insects. Some people are so strict that they do not even drink water during night. In case of illness they do not accept medicines after sunset. The 8th and 14th day of each fortnight according to Jaina Calendar are considered pious and on these days, even green vegetables are not eaten for they believe that these vegetables have one sensed Jivas. There are many Jainas who even go to the extent of not consuming eatable which are dug out from the soil such as potatoes, carrots, groundnuts, etc., for the simple reason that the process involved in taking them out involves destruction of millions of tiny insects. Many householders cover their mouths with a piece of cloth during nights so as to avoid any possibility of invisible insects or germs entering their mouths inadvertently. Killing of animals is forbidden not only for the entertainment of guests but even for adoration of Gods. In Jain households drinking water attracts special attention. The water pitchers are cleaned every day and kept in clean place in the house. The unfiltered water is never used either for drinking or preparing food.

2. Jaina Attitude influenced by Ahimsanuvrata towards animals.

The philosophy of non-injury to any living being has influenced the attitude of Jainas towards the use of animals. They believe that tying up the living beings is nothing sort of putting external pressure on their freedom to move and therefore this is considered as undesirable. Similarly beating an animal is considered as entering into the realm of Himsa as it is a reflection of one's anger leading to causing injury to the animal by beating him. Overloading or putting excessive weight over an animal is also forbidden in Jainism. Even withholding of food and drink to the animals is considered as highly undesirable as it causes pain to them. Mutilating or sterilising of animals is also completely forbidden in Jainism. All these are considered as excesses (Aticara) which are considered as contrary to the principle of Ahimsa.

This attitude of love and compassion for all living beings finds its social manifestation in a custom which is observed every year in India on the day of Deepawali, the festival of lights. Those Jaina householders who own cattle not only clean them by giving them a good bath but decorate them and pay homage to them in the form of a ritual and not taking any work from them for a couple of days. This is observed by their Hindu brethren also.

A monumental example of this attitude can be found in the existence of a Hospital founded at Delhi(India) for the exclusive treatment of the ailing or wounded birds in the year 1926 under the patronage of a Jaina saint (Muni Shanti Sagarji Maharaj). The Hospital has a capacity to accommodate 5000 birds as indoor patients. No fee is charged from the owners of the birds for the treatment. But if they want to offer donations, the same are accepted. The birds, after cure, are not returned to the individual owners, but are set free. In case of the non-vegetarian birds like Kites, Hawks, Eagles, Falcons and Vultures, only outdoor treatment is given as meat or insects, etc. cannot be served to them as diet in this Hospital. For large birds like Ducks, Geeze, Cocks, Peahens and Peacocks, seven large wards have been set apart and one emergency and intensive care unit for the seriously ailing patients. Such birds as are invalid and are unable to fly are looked after by the Hospital permanently. Such birds include even those who though cured, are not prepared to fly away. All these birds the number of which is about 2000 are treated as permanent guests of the Hospital.

The Jaina community is running a few more such Hospitals in India on this pattern but the Delhi Hospital is the biggest. The French in their Guide De Routard have entered about this Hospital as ' must visit this Hospital if you visit India'.

In the case of Munis (Ascetics) the principle of Ahimsa has been elevated to a higher level where it is considered as the first of the five Mahavratas. According to this Mahavrata (great Vow) even in dreams injury to all living beings - mobile and immobile, gross and subtle is forbidden. A monk has to extend active friendship to all living beings for the purpose of purifying his thoughts and curbing his passions. This involves complete caution in regard to his movement, speech, mental thoughts, handling of things, food and drink. Even while walking barefooted he is to see only eight or ten feet ahead and not allow his eyes

to wander here and there. This is only to ensure that the insects moving about on the ground may not get killed or injured. This is why the Jaina Monks do not undertake any journey after sunset so much so that they have to be extremely careful in selecting the place for attending to the call of nature lest they should injure the insects.

3. The Jaina attitude of love for Animals as reflected in religious symbols:

The Jainas believe that there were twenty four Tirthankaras. These Tirthankaras are identified by their distinguishing symbols which are carved on their statues. The following table would amply clarify this point how the Jainism has tried to identify its philosophy of Ahimsa with various levels of life in different forms i.e. from one sensed beings to five sensed beings.

S.No.	Name of Tirthankara	Symbol
1.	Rishabh Nath	Bullock
2.	Ajit Nath	Elephant
3.	Sambhava Nath	Horse
4.	Abhinandan Nath	Monkey
5.	Sumati Nath	Ruddy goose (A legendary bird known as <u>Cakva</u> in India)
6.	Padma Prabhu	Lotus
7.	Suparsava Nath	Swastik (A ritualistic Symbol)
8.	Chandraprabhu	Moon
9.	Pushpa Danta	Crocodile
10.	Shital Nath	Tree (Nigella Mass - A legendary tree)
11.	Shreyansa Nath	Rhino
12.	Vasupujya	Buffalo
13.	Vimalnath	Pig
14.	Ananta Nath	Porcupinoe
15.	Dharma Nath	Sceptre (A symbol of religious discipline)
16.	Shanti Nath	Deer
17.	Kunthu Nath	Goat
18.	Arahanta Nath	Fish
19.	Malli Nath	Pitcher
20.	Munisurvata Nath	Tortoise
21.	Nami Nath	Redlotus

22.	Neminath	Conch (Sankha used for & lowing in temples)
23.	Parsava Nath	Snake
24.	Mahavira	Lion

The above table shows that out of twenty four Tirthankaras fourteen are identified with animals of different varieties, two with birds and fish, three with vegetable world and the rest with miscellaneous inanimate objects. In this way we see that 19 out of 24 symbols have been drawn from the animal and vegetable kingdom.

This attitude is further perceived in their general approach even in the matters related to the sub-conscious world. This point can be exemplified by a mythological belief among the Jainas that the mothers of each Tirthankara had 16 dreams in their sleep before giving birth to their respective divine children who subsequently attained the divine position of Tirthankara. In these sixteen dreams, four relate to animals i.e. an elephant, a bullock, a lion and a pair of fishes besides other dreams which include even smokeless fire. This may be only a mythological story but it does reflect the attitude of Jainas towards the sanctity of the animal world.

IMPACT ON SOCIAL LIFE

In the Second part we have seen that the attitude of Jainas conditioned by the philosophy of Ahimsa is mostly dominated by don'ts and very little do's. Therefore it has also had its simultaneous effect on the way of life, vocations, eating habits, social customs etc., observed by the Jaina community as such.

In India the Jaina community is considered essentially as a business community. In trade and business also the Jains generally do not indulge in such trades as may entail any such activity which may ultimately lead to killing of animals. The agriculture, animal husbandry and cattle rearing are not their main planks. This is perhaps the reason that even in business activity they are mainly confined to general merchandise, textiles, manufacturing of medicines, books and stationery, food grains etc.

The Jains observe 8 days in a year in the rainy season as the days of religious significance known as Paryushana during which they either observe fast or avoid eating such things which may be considered as involving violence of even one sensed beings. This strict adherence to

Ahimsa has influenced their social mingling with only such other communities as are nearer to the observance of the concept of Ahimsa as far as possible in the Indian social spectrum.

Prompted by this spiritual content of the respect for life and non-injury to the living beings the Jainas have provided for inns (Dharmashalas), Schools, water huts, and free medicine distributing centres throughout India at various important places and specially the places of pilgrimage.

There are many communities even among Hindus who are vegetarian. Some of these communities who have had social intercourse with the Jaina community in trade and business have also been influenced by the Jaina concept of Ahimsa in their food and drink habits. Most of Vaishya community among Hindus are affected by this Jaina attitude. The Jaina schools which are open to other communities have also contributed to a great deal in this regard. In recent history, Mahatma Gandhi who was born in a Vaishya community of Hindus is an outstanding symbolic example of the influence of Jaina philosophy of non-violence taught by his Jaina Teacher in school days which changed the entire course of Indian political history.

This attitude has also led the Jainas to preserve as much of the vegetable kingdom as possible by utilising the minimum for their own essential use for they believe that the vegetable world also has life. In this way, Jainism provides a stronghold for the modern environmentalists.

JAINA ATTITUDE AS REFLECTED IN LITERARY FOLKORE

The Jaina literature abounds in the mythological legends depicting the practice of Ahimsa in the lives of Tirthankaras and other influential members of the Jaina community. One such legend related to the life of Neminath, the 22nd Tirthankara of Jainas is quite popular in the Jaina households. Neminath was a Kshatriya prince who was to marry a princess namely Rajui of the neighboring principality. When the marriage party was proceeding towards the palace of the bride in a royal procession, Neminath, the bridegroom happened to glance at an enclosure wherein a good number of animal heads had been kept ready for being butchered and served in the form of various delicacies to the

honourable guests attending the marriage ceremony. On knowing this, Neminath ordered an immediate release of the animals and leaving the marriage procession headed towards the Jungle and became an ascetic. Pictures of this folklore are commonly available in the Jaina households. Such legends in different forms are available in plenty in the Jaina literature in respect of other Tirthankaras also.

In Jaina literature, with a view to influence the followers of Jainism, the consequences of committing Himsa have also been depicted as the doer undergoing severe penalties in the subsequent cycle of birth and rebirth in different forms. Such fables include such ordinary householders also who indulge in the trade of egg selling, animal butchering and fish catching. As opposed to this, there are such stories as well in the Jaina literature in which Himsa was considered necessary for protecting the party of monks resting in a forest from the lion or attacking a kingdom for protecting the honour of a Jaina 'Sadhavi' (Nun) or a household lady from the forcible abduction by a lustful person. This literature gives out a message of rational and practical application of the concept of Ahimsa in the real life of a Jaina householder. This is how the general attitude of the Jainas towards the other human beings, animals, birds and even vegetable kingdom has been evolved through the centuries of metaphysical belief and practice in real life.

V - CONCLUSION

The above brief discussion leads us to arrive at this fact that the Jaina attitude towards all living beings is that of conservation and not of consumption. It aims at protecting and preserving them rather than destroying them for their own use. One of the five great vows propounded by Lord Mahavira is non-acquisition (Aparigraha). This vow helps the Jainas in restricting their desires for acquiring physical assets. In this way it also helps them not only in not killing the animals for their use but also preserving the vegetation and mineral resources for the mankind. Thus the Jaina attitude goes a long way in preserving the ecological balance of nature as inherited by mankind. Spiritually also the Jainas believe that violence (Himsa) in any form degenerates the soul whereas the non-violence (ahimsa) elevates it and ultimately paves the path of salvation (Moksha) for the follower.



JAINA CONCEPT OF PEACE

□ Prof. Sagarmal Jain

PEACE THE NEED OF OUR AGE

We are living in the age of science and technology. The advancement in our scientific knowledge has removed our religious superstitions and false dogmas. But unfortunately and surprisingly, side by side it has also shakened our mutual faith and faith in moral virtues as well as religio-spiritual values. The old social and spiritual values of life acting as binding on humanity and based on religious beliefs have been made irrelevant by scientific knowledge and logical thinking. Till date, we have been unable to build or evolve a new value structure, so necessary for meaningful and peaceful living in society, based on our scientific and logical outlook. We are living in a state of total chaos. In fact this present age is the age of transition, old values have become irrelevant, but no new values have been established. We have more knowledge, and faith in atomic structure and atomic power, than the values needed for meaningful and peaceful life. Today we strongly rely on the atomic power as our true rescuer and discard the religio-spiritual values as mere superstitions. Mr. D.R. Mehta rightly observes 'in the present day world with religion getting separated from daily life and spreading commercialisation killing (violence) has increased manifold and sensitivity to (other's) life whether animal or human has declined in proportion.¹ For us human being is either a complicated machine or at least a developed animal, governed by his instincts and endowed with some faculties of mechanical reasoning. Thus

we have developed a totally materialistic and selfish outlook.

The advancement in all the walks of life and knowledge has not sublimated our animal and selfish nature. The animal instinct lying within us is still forceful and is dominating our individual and social behaviour and due to this our life is full of excitements, emotional disorders and mental tensions. The more advanced a nation is, more it is in the grip of these evils of our age. The single most specific feature by which our age may be characterised is that of tension. Now-a-days not only the individuals, but total human race is living in tension.

Though outwardly we are pleading for peace and non-violence, yet by heart we still have a strong faith in the law of the jungle, i.e. the dictum-might is right. We are living for the satisfaction of our animal nature only, though we talk of higher social and spiritual values; this duality or the gulf between our thought and action is the sole factor disturbing our inner as well as outer peace. Once the faith in higher values or even in our fellow beings is shaken we start seeing each and every person, or a community or a nation with the eyes of doubt. Definitely it is the sign of a disturbed mentality.

Because of materialistic and mechanical outlook our faculty of faith has been destroyed and when the mutual faith and faith in higher values of co-operation and co-existence is destroyed, doubt takes place. The doubt causes fear, fear gives birth to violence and violence triggers violence. The present violence is the result of our materialistic attitude and doubting nature. The most valuable thing, human race has lost in the present age, is none other than peace.

Science and technology has given us all the amenities of life. Though due to the speedy advancement in science and technology nowadays life on earth is so luxurious and pleasant that it was never before, yet because of the selfish and materialistic outlook, and doubting nature of man, which we have developed in these days, no body is happy and cheerful. We are living in tension all the times and deprived of, even a pleasant sound sleep. The people, materially more affluent having all the amenities of life, are more in the grip of tensions. Medical as well as psychological reports of advanced nations confirm this fact. Tendency to consume alcoholic and sedative drugs is increasing day by day, which also supports this fact that we have lost our mental peace, at the cost of

this material advancement. Not only this, we have also been deprived of our natural way of living. S. Bothara maintains 'what unfortunately has happened is that the intoxication of ambition and success has made us forget even the natural discipline, which we, inherited from the animal kingdom.'² Because of the development of mental faculties, we have not only denied to accept social or religious checkpost but we also have denied natural checks. Now our lifecart has only accelerator, no break. Our ambitions and desires have no limits. They always remain unfulfilled and these unfulfilled desires create frustrations and frustrations or resentments are the cause of our mental tensions. Due to the light legged means of transportation, physical distances are no bars to meet the people of different nations, cultures and religions and thus, our world is shrinking. But unluckily and disdainfully because of the materialistic and selfish out-look, the distance of our hearts is increasing day by day. Instead of developing mutual love, faith and co-operation we are spreading hatred, doubt and hostility and thus, deprived of peace mental as well as environmental which is the first and foremost condition of human living. Rabindra Nath Tagore rightly observes 'For man to come near to one another and yet to continue to ignore the claims of humanity is a sure process of suicide.'³

MEANING OF PEACE IN JAINISM

The term peace has various connotations. It can be defined in different ways from different angles. Intrinsically peace means a state of tranquility of mind. It is the state in which self rests in its own nature' undisturbed by external factors. Peace means soul emptied of passions and desires. In Acaranga it is mentioned that an aspirant who has attained peace has no desire.⁴ Peace means cessation of all desires. Sutrakrtange equates it with Niravana⁵ i.e. the emancipation from all desires. In other words it is the state of self-contentment or total subjectivity i.e. the state of pure seer. Acaranga maintains one who is aware of peace will not fall in the grip of passions. While defining peace Saint Thomas Aquinas has rightly maintained the same view. He says 'peace implies two things first our self should not be disturbed by external factors and secondly, our desires should find rest in one i.e. the self.'⁶ This inner peace can also be explained from negative and positive view-points. Negatively, it is the state of the cessation of all the passions and desires. It is the freedom from the vectors of attachment and aversion. Positively it is the state of bliss and

self- contentment. But we must remember that these positive and negative aspects of inner peace are interdependent on each other, they are like the two sides of the same coin and they can not exist without each other. We can only distinguish them but not divide them. The inner peace is not mere an abstract idea, but it is some thing, which is whole and concrete. It represents our infinite self.

Now we turn to the external peace. While the inner peace is the peace of our self, external peace is the peace of society. We can also define it as environmental peace. In Jainism the Prakrit word 'santi' Sanskrit equivalent Ksanti, also means forgiveness. In SutraKrtanga among ten virtues the first and foremost is forgiveness, which is the social need for peace. It is the state of cessation of wars and hostilities among individuals, individuals and society, different social groups and nations on the earth. So far as this outer peace or peace of the society is concerned it can also be defined in both ways negatively as well as positively. When negatively defined it is the state of cessation of wars and hostilities. But when positively defined it is the state of harmonious living of individuals as well as societies and nations. It is the state of social co-operation and co-existence. But we must be aware of the fact that the real external peace is more than non-war. It is a vital peace. It is the state, free from mutual doubts and fears. So far as the doubts and apprehensions against each other exist, inspite of the absence of actual war, really it is not the state of peace. Because where there is fear, the war exists. In modern world we term it as cold war. War is war, whether it is cold or actual, it disturbs the peace of society. Real external peace is only possible, when our hearts are free from doubts and fear and each and every individual has firm faith not only in the dictum 'Live and Let live' but 'live for others'.

According to Jaina Philosopher Umasvati, 'By nature living beings are made for each other'⁷ (Parasparopagrahojivaname). So long as our hearts are full of doubts and fear, and we do not have full control on our selfish animal instincts as well as firm belief in mutual co-operation and co-existence, real social peace on earth will not be possible.

Real peace dawns only when our hearts are full of universal love, which is something different from mere attachment, because, for Jainas attachment is always linked with aversion. But universal love is based on the concept of equality of all beings and firm faith in the doctrine that by

nature living beings are made for each other. We must also be aware of the fact that this external or environmental peace depends on the mental peace of individuals, since, our external behaviour is only an expression of our inner will and attitude towards life. Thus we can say that the various aspects of peace are not mutually exclusive but inclusive. The peace of society or in other words the environmental peace is disturbed, when the inner peace of the individual is disturbed and vice versa. In my humble opinion hostilities and wars are the expressions and out-come of sick mentality. It is the aggressive and selfish out look of an individual or a society that gives birth to confrontations among individuals, individuals and society as well as among different social or religious groups and nations. At the root of all types of confrontations and wars, which disturb our environmental peace there lies the feeling of discontentment as well as will for power, possession and hoarding. Thus social disturbances, conflict and confrontations are only symptoms of our mental tensions or sick mentality.

In fact, the peace of society depends on the psychology or mental-make-up of its members, but it is also true that our attitude towards life and behavioural patterns is shaped by our social environment and social training. The behavioural pattern and mentality of the members of non-violent society will surely be different from that of a violent society. While on the one side social norms, ideals and conditions affect the mental make- up and behavioural pattern of the individual, on the other side there are also individuals who shape the social norms, ideals and conditions.

Though it is correct that in many cases disturbed social conditions and environmental factors may be responsible for vitiating our mental peace, yet they can not disturb the persons, strong spiritually. According to Jainism spiritually developed soul remains unaffected at his mental level by external factors. But on the other hand disturbed mental state necessarily affects our social and environmental peace. Thus for Jainas the inner peace of the soul is cause and that of the society is the effect. Modern tension theory also supports this view. A book namely 'Tensions that Cause Wars' tells us that 'economic inequalities, insecurities and frustrations create groups and national conflicts'⁸ but for Jainas economic inequalities and feeling of insecurities can not disturb those persons, who are self-contained and free from doubts and fears. So far as

the frustrations are concerned they are generated by our ambitions and resentments and can be controlled only by extinction of desire. Therefore we must try first to retain inner peace or the peace of soul.

In Jaina texts we find certain references about the importance and nature of peace. In Sutrakrtanga, it is said that as the earth is the abode for all living beings so the peace is the abode for all the enlightened beings of past, present and future⁹. These souls having attained the spiritual heights always rest in peace and preach for peace. For Jainas peace means the tranquility or calmness of mind and so they equate the term peace (santi) with the term equanimity or samata. For them peace rests on mental equanimity and social equality. When mental equanimity is disturbed inner peace is disturbed and when social equality is disturbed external or social peace is disturbed. Jainism as a religion is nothing but a practice for mental equanimity and social equality. For the same they use particular prakrta word 'samaiya' (samata), which is the principal concept of the Jainism. It is the pivot around which the whole Jainism revolves. In English the term 'Samaiya' connotes various meanings such as equanimity, tranquility, equality, harmony and righteousness in different contexts. Sometimes it means a balanced state of mind undisturbed by any kind of emotional excitement, pleasure or pain, achievement and disappointment, sometimes it refers to the personality completely free from the vectors of aversion and attachment, i.e. a dispassionate personality. These are the intrinsic definitions of 'Samata or Santi'. But when this word is used extrinsically it means the feeling of equality with all the living beings and thus it conveys social equality and social harmony.

Peace as the Ultimate Goal of Life

According to the Jaina thinkers the ultimate goal of life is to attain peace or tranquility, which is our essential nature. In Acarangasutra, one of the earliest Jaina canonical texts, we find two definitions of religion: One, as 'tranquility' and other as non-violence. Lord Mahavira mentions 'Worthy people preached religion as tranquility or equanimity.'¹⁰ This tranquility or peace of mind is considered as the core of religious practice, because it is the real nature of living beings, including human beings. In another Jaina text known as Bhagwati Sutra there is a conversation between Lord Mahavira and Gautama. Gautam asked Mahavira 'What is the nature of self' and Mahavira answered 'O Gautam' the nature of self is

tranquility i.e. peace.' Gautam again asked 'O, Lord what is the ultimate goal of self', Mahavira answered O, Gautam! the ultimate goal of self is also to attain tranquility or peace.¹¹

In Sutrakrtanga, the term peace is equated with emancipation. Thus for Jainas peace, being an assential nature of sve-svabhava or self, it is considered as ultimate goal of life.

In Jainism, religion is nothing but a practice for the realisation of one's own essential nature or Sva-Svabhava which is nothing but the state of tranquility or peace of mind. This enjoying of one's own essential nature means to remain constant in Saksibhava i.e. to remain undisturbed by external factors. It is the state of pure subjectivity which is technically known in Jainism as Samayika. In this state the mind is completely free from constant flickerings, excitements and emotional disorders. Getting freedom from mental tensions, which are the vibhavas or impure states of mind is the precondition for enjoying spiritual happiness which is also a positive aspect of inner peace. Nobody wants to live in a state of mental tensions, every one would like no tension but relaxation, not anxiety but contentment. This shows that our real nature is working in us for tranquility or mental peace. Religion is nothing but a way of achieving this inner peace. According to Jainism, the duty of a religious order is to explain the means by which man can achieve this peace inner as well as external. In Jainism the method of achieving mental peace is called as Samayika, which is the first and foremost duty among six essential duties of a monk and a house- holder. Now the question is how this tranquility (Samata) can be attained? According to Jaina view-point it can be attained through the practice of non-attachment' for attachment is the sole cause of disturbing our inner peace or tranquility.

Attachment, the cause of mental tensions

As I have already mentioned that most burning problem of our age is the problem of mental tensions. The nations, which claim to be more civilised and economically more advanced are much more in the grip of mental tension. The main objective of Jainism is to emancipate man from his sufferings and mental tensions. First of all, we must know the cause of these mental tensions. For Jainism the basic human sufferings are not physical, but mental. These mental sufferings or tensions are due to our attachment towards worldly objects. It is the attachment, which is fully

responsible for them. The famous Jaina text Uttaradhyayanasutra mentions 'The root of all sufferings physical as well as mental of every body including gods, is attachment towards the objects of worldly enjoyment'.¹³ It is the attachment, which is the root cause of mental tension. Only a detached attitude towards the objects of worldly enjoyment can free mankind from mental tension. According to Lord Mahavira to remain attached to sensuous objects is to remain in the whirl. He says 'misery is gone in the case of a man who has no delusion, while delusion is gone in the case of a man who has no desire; desire is gone in the case of a man who has no attachment'.¹⁴ The efforts made to satisfy the human desires through material objects can be likened to the chopping off of the branches while watering the roots. Thus we can conclude that the lust for and the attachment towards the objects of worldly pleasure is the sole cause of human sufferings and conflicts.

If mankind is to be freed from mental tensions it is necessary to grow a detached outlook in life. Jainism believes that the lesser the attachment, the greater will be the mental peace. It is only when attachment is vanished, the human mind will be free from mental tensions and emotional disorders.

Non-Possession to resolve economic inequality

The attachment gives birth to desire for possession, occupation and hoarding, which is nothing but an expression of one's greedy attitude. It is told in Jaina scriptures that greediness is the root of all sins. It is the destroyer of all the good qualities.¹⁵ Anger, pride, deceit etc. all are the off shoots of attachment or mineness or greed. Violence, which disturbs our social and environmental peace, is due to the will for possession. In Sutakrtange, it is mentioned that those having possession of whatever sort, great or small, living or non-living can not get rid of sufferings and conflicts (1/1/2). Possession and hoarding lead to economic inequality, which causes wars. Thus to achieve peace and the norm of nonviolence in social life, the prime need is to restrict the will for possession as well as physical possessions also, that is why Mahavira propounded the vow of complete non-possession for the monks and nuns while for laity, he propounded the vow of limitation of possession (Parigraha Parimana) and vow of control over consumption (Bhogopabhoga Parimana). Jainism holds that if we want to establish peace on the earth then economic

inequality and vast differences in the mode of consumptions should atleast be minimised. Among the causes of wars and conflicts, which disturb our social peace will for possession is prime, because it causes economic im-balance. Due to economic im-balance or inequality classes of poor and rich come into existence and which results in class conflicts. According to Jainas it is only through the self imposed limitation of possession and simple living, we can restore peace and prosperity on the earth.

Non-Violence as means to establish Peace

Tranquility is a personal or inner experience of peace. When it is applied in the social life or is practiced outwardly, it becomes non-violence. Non-violence is a social or outer expression of this inner peace. In Acaranga, Lord Mahavira remarks :—

“The worthy men of the past, present and the future all say thus, speak thus, declare thus, explain thus; all breathing, existing, living and sentient creatures should not be slain, nor treated with violence, nor abused, nor tormented. This is the pure, eternal and unchangeable law or the tenet of religion.”¹⁶

In other words, non-violence is the eternal and pure form of religion. In Jainism non-violence is the pivot around which its whole ethics revolves. For Jainas violence represents all the vices and non-violence represents all the virtues. Non-violence is not a single virtue but it is a group of virtues. In Prasnavyakarana-sutra the term non-violence is equated with sixty virtuous qualities, just as peace, harmony, welfare, trust, fearlessness, etc.¹⁷ Thus non-violence is a wider term, which comprehends all the good qualities and virtues.

Non-violence is nothing but to treat all living beings as equal. The concept of equality is the core of the theory of Non-violence. The observance of non-violence is to honour each and every form of life. Jainism does not discriminate the human beings on the basis of their caste, creed and colour. According to Jaina point of view, all the barriers of caste, creed and colour are artificial. All the human beings have equal right to lead a peaceful life. Though violence is unavoidable, yet it can not be the directive principle of our living, because it goes against the judgements of our faculty of reasoning and the concept of natural law. If I think that nobody has any right to take my life then on the same ground of reasoning I have also no right to take another's life. The principle, "live on

others' or 'living by killing' is self contradictory. The principle of equality propounds that every one has the right to live. The directive principle of living is not 'Living on other' or 'Living by killing' but 'Living with other' or 'Live for other (Parasparopagrahojivanam). Though in our worldly life, complete non-violence is not possible, yet our motto should be 'Lesser killing is better Living'. Not the struggle but co-operation is the law of life. I need other's co-operation for my very existence and so I should also co-operate in other's living.

Further, we must be aware of the fact that in Jainism non-violence is not merely a negative concept i.e. not to kill; but it has positive side also as service to mankind. Once a question was raised to Mahavira O Lord, one person is rendering his services to the needy persons while other is offering Puja to you, among these two, who is the real follower of yours, Mahavira answered 'first one is the real follower of mine, because he is following my teachings'¹⁹.

The concept of non-violence and the regard for life is accepted by almost all the religions of the world. But Jainism observes it minutely. Jainism prohibits not only killing of human beings and animals but the vegetable kingdom also. Hurting the plants, polluting water and air are also the act of violence or himsa because they disturb ecological balance or peace. Its basic principle is that the life, in whatever form it may be, should be respected, we have no right to take another's life, Schweitzer remarks " To maintain, assist or enhance life is good. To destroy, harm or hinder is evil." He further says " a day may come when reverence for all life will win universal recognition".²⁰ The Dasavaikalika mentions that "every one wants to live and not to die, as we do, for this simple reason, Nigganthis prohibit violence".²¹ It can be said that the Jaina concept of non-violence is extremist and not practical, but we cannot challenge its relevance for human society. Though Jainism sets its goal as the ideal of total non-violence, external as well as internal, yet the realisation of this ideal in the practical life is by no means easy. Non-violence is a spiritual ideal, which is fully realisable only in the spiritual plane. The real life of an individual is a physio-spiritual complex; at this level complete non-violence is not possible. According to Jaina thinkers the violence is of four kinds (i) Deliberate (Samkalpi) or aggressive violence i.e. intentional killing (ii) Protective violence i.e. the violence which takes place in saving the life of

one's own or his fellow being or in order to make peace and insure justice in the society (iii) Occupational i.e. violence which takes place in doing agriculture or in running the factories and industries (iv) violence, which is involved in performing the daily routine work of a house holder such as bathing, cooking walking etc. A person can proceed towards the fulness of non-violent life to the extent as he rises above the physical level. The first form of violence, which is deliberate, is to be shunned by all, because it relates to our mental proclivity. So far as the thoughts are concerned, a man is his own master, so it is obligatory for all to be non-violent in this sphere. External arcum stances can influence our mind at this level, but they cannot govern us. From the behavioural point of view, deliberate violence is aggressive. It is neither necessary for self-defence nor for the living. So all can avoid it. The other forms of violence i.e. protective and occupational are inevitable so far as man is living on a physical level. But this does not mean that the ideal of non-violence is not practicable and so it is not necessary for human race.

The second form of violence is defensive which takes place in the activity of defence. It becomes necessary for the security of one's own life and the life of his fellow beings and the protection of property. External circumstances may compel a person to resort to be violent or to counter attack in defence of his own life or that of his companions or for the protection of his belongings. All those, who are attached to the physical world and have a social obligation to protect other's life and property are unable to dispense with this defensive violence. A person living in family is unable to keep away completely from this type of violence, because he is committed to the security of family members and their belongings. In the same way the persons, who are in government can not get rid of it for they are the custodians of human rights and national property. Prof. Murty also maintains "Aggressive and unjust wars have been condemned by Hindu, Buddhist, and Jaina scripturers and moralists, but they had to admit that defensive and just wars may have to be undertaken without giving up maitri (friendliness) and karuna (compassion) for people of both the sides".²²

It is true that in our times Gandhi planned a non-violent method of opposition and applied it successfully. But it is not possible for all to oppose non-violently with success. Only a man, who is unattached to his

body and material objects and has heart free from malice can protect his rights non-violently. In addition to this, such efforts can bear fruits only in a civilized and cultured human society. A non-violent opposition only may be fruitful when ranged against an enemy who has a human heart. Its success becomes dubitable when it has to deal with an enemy who has no faith in human values and wants to serve his selfish motive through violent means.

As far as occupational violence and violence taking place in routine-walks of the life, is concerned everyone cannot shake it off. For so long as a person has to earn his livelihood and to seek fulfilment of his physical needs, deliberate violence of vegetable kingdom is unavoidable. In Jainism intentional violence to mobile animals by a householder has been forbidden even when it becomes necessary for the maintenance of life and occupation. So far as the violence takes place in defensive activities and wars, Jainas hold. "That it should be minimised as it is possible and unrelated ignorant persons should not be killed at any cost. Jaina thinkers suggested various methods for non-violent wars and to minimise the violence in even just wars. The war which was fought between Bharata and Bahubali is an example of non-violent war.

Though some or other form of violence is inevitable in our life, yet on this basis we should not conclude that the observance of non-violence is of no use in the present. Just as violence is inevitable for living, non-violence is also inevitable for the very existence of human race. So far as the existence of human society is concerned it depends on mutual co-operation, sacrifice of one's interest in the interest of his fellow-beings and regard for other's life. If above mentioned elements are essential for our social life, how can we say that non-violence is not necessary for human life. Society does not stand on violence but non-violence, not on accepting our own rights but accepting the rights of others as our duty. Thus, we can say that the non-violence is an inevitable principle of the existence for human society. At present we are living in an age of nuclear weapons and due to this the existence of human race is in danger. Lord Mahavira had said in Acaranga that there are weapons superior to each other, but nothing is superior to non-violence.²³ It is only the observance of non-violence, which can save the human race. It is mutual credibility and the belief in the equality of all beings which can restore

peace and harmony in human society. Peace can be established and prosperity can be secured on the earth through non-violence and mutual faith.

Regard for others ideologies and faith

Fanaticism or intolerance is another curse of our age. Jainism, since its inception, believes in and preaches for peace, harmony, and tolerance. It has been tolerant and respectful toward other faiths and religious ideologies throughout its history of existence. In Jainism one hardly comes across with instances of religious conflicts involving, violence and bloodshed. Often one meets with instances of disputations and strongly worded debates concerning ideological disagreements. The Jaina men of learning, while opposing the different ideologies and religious standpoints paid full regard to them and accepted that the opponents' convictions may also be valid from a certain standpoint.

Among the causes that generate fanaticism and intolerance the blind faith is the principal; it results from passionate attachment and hence uncritical or 'unexamining' outlook. It causes perverse attitude. In Jainism various types of attachment are enumerated: among them darsana-moha/drstiraga (blind faith), due to its very disposition, has been reckoned "paramount". In point of fact, it is considered central in religious intolerance. It leads one's attitude towards a strong bias for one's own, and against other's religion. Non-attachment is therefore considered as a pre-condition for the right attitude or perception. A perverse, and hence defiled attitude renders it impossible to view the things rightly, just as a person wearing coloured glasses or suffering from jaundice is unable to see the true colour of objects as they are. "Attachment and hatred are the two great enemies of philosophical thinking. Truth can reveal itself to an impartial thinker".²⁴ One who is unbiased and impartial can perceive the truth in his opponents's ideologies and faiths and thus can possess deference to them. Intense attachment unfailingly generates blind faith in religious leaders, dogmas, doctrines and rituals and consequently religious intolerance and fanaticism come into existence.

Jainism holds that the slightest even pious attachment, towards the prophet, the path, and the scripture is also a hindrance to a seeker of truth and an aspirant of perfection. Attachment, be it pious or impious, cannot be without aversion or repulsion. Attachment results in blind faith and

superstition and repulsion consequences into intolerant conduct. The Jainas therefore lay stress on the elimination of attachment, the root cause of bias and intolerance.

Though in Jainism, right faith plays an important role - it is one of its three "jewels" - it is the blind faith, which causes intolerance. Jainism therefore does not support blind faith. Jaina thinkers maintain that the right faith should be followed by right knowledge. The faith seconded by right knowledge or truthful reasoning cannot be blind one. According to Jaina thinkers, reason and faith are complementary and actually there is no contention between the two. Faith without reason, as the Jaina thinkers aver, is blind and reason without faith is unsteady or vacillating. They hold that the religious codes and rituals should be critically analysed. In the Uttaradhyayanasutra, Gautama, the chief disciple of Mahavira strongly supports this view before Kesi, the pontiff of the church of Jina Parsva. Said he : "the differences in the Law must be critically evaluated through the faculty of reasoning. It is the reason which can ascertain the truth of Law"²⁵.

If one maintains that religion has to be solely based on faith and there is no place for reason in it, then he will unfailingly develop an outlook that only his prophet is the only saviour of mankind; his mode of worship is the only way of experiencing the bliss and the Laws or Commands of his scripture are only the right one and thus he remains unable to make a critical estimate of his religious prescriptions. While one who maintains that the reason also plays an important role in the religious life, will critically evaluate the pros and cons of religious prescriptions, rituals and dogmas. An "attached" or biased person believes in the dictum 'Mine is true'. While the detached or unbiased person believes in the dictum 'Truth is mine'. Acarya Haribhadra says: "I possess no bias for Lord Mahavira and no prejudice against Kapila and other saints and thinkers; whosoever is rational and logical ought to be accepted."²⁶ Thus, when religion tends to be rational, there will hardly be any room for intolerance. One who is thoroughly rational in religious matters, certainly would not be rigid and intolerant.

Dogmatism and fanaticism are the born children of absolutism. An extremist or absolutist holds that whatsoever he propounds is correct and what others say is false, while a relativist is of the view that he and his

opponent both may be correct, if viewed from two different angles and thus a relativist adopts a tolerant outlook towards other faiths and ideologies. It is the doctrine of anekantavada or non-absolutism of the Jainas on which the concept of religious tolerance is based. For the Jainas non-violence is the essence of religion from which the concept of non-absolutism emanates. Absolutism represents "violence of thought". for, it negates the truth-value of its opponent's view and thus hurts the feeling of others. A non-violent search for truth finds non-absolutism.

Non-absolutism of the Jainas forbids the individual to be dogmatic and one sided in approach. It pleads for a broader outlook and an open mindedness, which alone can resolve the conflicts that emerge from differences in ideologies and faiths. For non-absolutism the views of the opponent are also true. Remarks Siddhasena Divakara (5th Cent. A.D.) "All schools of thought are valid when they are understood from their own standpoint and insofar as they do not discard the truth-value of others, the knower of non-absolutism does not divide them into the category of true and false. They become false only when they reject the truth-value of other".²⁷ It was this broader outlook of non-absolutism which made Jainas tolerant.

While expounding this tolerant outlook of the Jainas, Upadhyaya Yasovijaya (17th Cent. A.D.) mentioned "A true non- absolutist does not disdain any faith and he treats all the faiths equally like a father to his sons. For, a non-absolutist does not have any prejudiced and biased outlook in his mind. A true believer of syadvada (non-absolutism) is that who pays equal regards to all the faiths. To remain impartial to the various faiths is the essence of being religious. A little knowledge which induces a person to be impartial is more worthwhile than the unilateral vast knowledge of scriptures."²⁸

Jainas believe in the unity of world religions, but unity, according to them, does not imply omnivorous unity in which all lose their entity and identity. They believe in that unity in which all the alien faiths will conjoin each other to form an organic whole, without losing their own independent existence. In other words it believes in a harmonious co-existence or a liberal synthesis in which all the organs have their individual existence, but work for a common goal i.e. the peace of mankind. To eradicate the religious conflicts and violence from the world, some may give a slogan of

"one world religion" but it is neither possible nor practicable so far as the diversities in human thoughts are in existence. In the Niyamasara it is said that there are different persons, with their different activities or karmas and different levels or capacities, so one should not engage oneself in hot discussions neither with other sects or one's own sect.²⁹

Haribhadra remarks that the diversity in the teaching of the sages is due to the diversity in the levels of their disciples or the diversity in standpoints adopted by the sages or the diversity in the period of time when they preached, or it is only an apparent diversity.³⁰ Just as a physician prescribes medicine according to the nature of patients, its illness and the climate so is the case of diversity of religious teachings. So far as diversity in time, place, levels and understanding of disciples is inevitable, variety in religious ideologies and practices is essential. The only way to remove the religious conflicts is to establish harmony among them.

Thus Jaina theory of Anekantavada forbids us to be dogmatic and one-sided in our approach. It preaches us a broader outlook and open mindedness, which is more essential in solving the conflicts due to the differences in ideologies and faiths. Prof. T.G. Kalghatgi rightly observes "The spirit of Anekanta is very much necessary in society, specially in the present day, when conflicting ideologies are trying to assert supermacy aggressively. Anekanta brings the spirit of intellectual and social tolerance."³¹

For present day society what is awfully needed is the virtue of tolerance. This virtue of tolerance i.e. regard for other's ideologies and faiths is maintained in Jainism from its earlier time till these days. Mahavira mentions in Suttrakrtanga 'those, who praise their own faiths and ideologies and blame that of their opponents and thus distort the truth, will remain confined to the cycle of birth and death.'³² Jaina philosophers all the time maintain that all the view-points are true in respect of what they have themselves to say, but they are false in so far as they refute totally other's view points.

Jaina saints also tried to maintain the harmony in different religious-faiths and to avoid religious conflicts. That is why Jainism has been able to survive through the ages.

The basic problems of present society are mental tensions, poverty, violence, fundamentalism and the conflicts of ideologies and faiths.

Jainism tries to solve these problems of mankind through the three basic tenets of non-attachment, (Aparigraha), non-violence (Ahimsa) and non-absolutism, (Anekanta). If mankind collectively observes these three principles peace and harmony can certainly be established in the world.

REFERENCES

1. Bothara, Surendra, Animsa, The Science of Peace, Fore word, D.R. Mehata page XVII.
2. Ibid, page 46.
3. David C.W., The voice of Humanity, page 1
4. Acaranga (Ayaro) - Jain Visva Bharati Ladnun, 1/7/148.
5. Ibid, 2/4/96.
6. Encyclopedia of Religion and Ethics Vol. IX page 700.
7. Umaswati, Tattvarthasutra 5/21
8. See, K.S. Murty, The Quest for Peace, page 157.
9. Sutrakrtanga (Suyagado), Jain Visva Bharati Ladnun 1/11/36
10. Acaranga (Ayaro), Jain Visva Bharati Ladnun, 1/8/3
11. Bhagavatisutra (Bhagavai) Jain Visva Bharati Ladnun, 1/9
12. SutraKrtanga (Suyagado) Jain Visva Bharati Ladnun, 1/11/11
13. Uttaradhyayana sutra, Edited by sadhvi Chandarra, 32/19
14. Ibid, 32/7-8
15. Dasvaikalikasutra (Dasavealiyam) Jain Visva Bharati Ladnun, 5/37
16. Acaranga (Ayaro), Jain Visva Bharati Ladnun, 1/4/1
17. Prasnavyakaranasutra, Agama Prakashana Samiti Byavara, 2/1/21
18. Umaswati, Tattvarthasutra, 5/21
19. Avasyaka Vrtti, Ratlam pp. 661-662
20. See-Schweitzer, An anthology, edited C.R. Joy pp 248-83 Quoted by K.S. Murty, The Quest for peace, p.42
21. Dasvaikalike sutra (Ladnun), 6/10
22. K.S. Murty-The Quest for peace; Prologue, p.XXI
23. Acaranga (Ayaro) Jain Visva Bharati Landun, 1/3/4
24. Tatia N.M. Studies in Jaina Philosophy, P.V. Research Institute Varanasi, p. 22
25. Uttradhyaayana sutra, Sanmati Jnanapitha Agara, 23/25
26. Haribhadra, Lokatattva nirnaya, Jain Granth Prakasaka Sabha Ahmedabad, Verse 38.
27. Siddhasena, Sanmatiprakarna (Jnanodaya Trust. Ahmedabad), 1/28
28. Yasovijaya, Adhyatmopanisat (Jainadharm prasarak Sabha Bhavanager)
29. Kundkund - Niyamasara 155 (The central Jaina Publishing House, Lucknow)
30. Haribhadra, Yogadrsti Samuccaya, 133 (L.D. Institute Ahmedabad).
31. Vaisali Institute Research Bulletin, No. 4, p. 31.
32. Sutrakrtanga, (Suyagado) Jain Visva Bharati, 1/1/2/25.



THE JAIN RELIGIOUS TRADITION

□ S.L. Gandhi

The Jain Religious Tradition to which I belong is firmly rooted in ahimsa (nonviolence). It enjoins its followers to abjure violence in word, thought and deed and refrain from resorting to coercion, intolerance, possessiveness, untruth and lustful desires. It is a path of peace and purity and forbids the use of violence even in self-defence. Revenge or hatred has no place in it. It exhorts all human beings to show tolerance towards those who hold different views or believe in different modes of worship. Diversity is a natural phenomenon and Jainism teaches us to 'live and let live'. It naturally looks on other traditions with respect and considers the act of disparaging or ridiculing other religious traditions an act of great sin. The principle of ahimsa in its totality which the Jains adore and abide by scrupulously, admits of no contradictions, disputation, censure or illspeaking. It is the most ancient tradition that dates back to the period of the beginning of human civilization and follows the teachings of 24 Tirthankaras-literally 'ford builders' or 'most perfect sanctified souls' or 'spiritual leaders'-the last and most significant of whom was Lord Mahavira, a contemporary of Lord Buddha.

Unlike other religious traditions, it has had a history of peaceful existence since time immemorial. It is perhaps the only living tradition in

the world which enjoys the distinction of having a history sans blood. The Jains have never fought a battle to protect their religion or to expand its 'empire' or to wipe out those who disagreed with its beliefs or opposed it. In order to answer the question 'How does your tradition regard other religions?' it has become imperative for me to throw light on its nonviolent course of history and precept of tolerance towards all. It lays emphasis on 'samyak gyan' (right knowledge), 'samyak darshan' (right perception or philosophy), and 'samyak charitra' (right character) and advocates a feeling of friendship towards all living creatures including animals, birds, insects, even plants and vegetation which according to it also have souls (jiva) just as human beings. A religion which exhorts its followers to show compassion towards all living beings including the microbes that live in the air and plants that grow on this planet must regard all other faiths as mere manifestations of different facets of the same truth. The Jains have only one festival in a year which is known as 'samvatsri'. It is the holiest day for them. They observe fast on that day and abstain from all forms of violence. Samvatsri is followed by a day of forgiveness (kshamat Kshamana) when the Jains are supposed to ask all living things for forgiveness and forgive them all for their acts of omissions and commissions. 'Friendship towards all' is the guiding principle of Jainism. Interreligious dialogue is in consonance with the spirit of this principle.

The word 'enmity' is a taboo among the believers of this tradition. Every evening and morning a Jain shravak (votary) or a Jain ascetic reviews his actions and if he discovers that his utterances or actions lacerated or hurt the feelings of someone or that he thought ill of someone or was angry with him or her because the latter did him immense harm or was opposed to his interests he must invariably ask for his or her forgiveness and purge his heart of the stain of anger and hatred notwithstanding the fact that the living being of whom he thought ill was an offender. Mahavira, the last Tirthankar says, "All living beings want to live hence no living being, how soever great or small it may be, should be killed." He further says, "one may defeat a thousand foes a thousand times in a battle but it is the conquest of the self alone that transcends all." These words of Lord Mahavira match the words of Jesus Christ when he says. "He who taketh his spirit is greater than he who taketh a city." Since the Jain religious tradition regards all living beings equal and grants them a right to live, most Jains adhere to vegetarianism. The Jain tradition has

many sources within their religion that promote interreligious dialogues. Some of these have already been elucidated in the foregoing pages while describing its attitude towards other faiths. The quintessence of the Jain tradition is epitomized in its principle based on its commitment to complete nonviolence. The concept of nonviolence as enunciated in the Geeta, a Hindu sacred text, allows for the violence resorted to for the sake of upholding of one's duty. The other religious traditions do permit the use of violence to defeat the forces of wickedness but the Jain religious tradition like that of Christianity believes in forgiving one's enemy and showing compassion towards him.

The most significant source of interfaith dialogue in the Jain religious tradition is its philosophy of anekant which explains that an object has many facets. The method of propounding this doctrine is known as syadvad which tells us that we must not regard a facet of truth as complete truth. The truth is that an object has infinite characteristics. Gyan (knowledge) is also truth in itself. It is true or untrue only in relation to something. The word 'syat' which means 'it may be or may not be or it may also be' is a method of elucidating complete truth. Syadvad owes its origin to the view that an object has many facets and has infinite qualities. It is embedded in relativity.

For example an earthen pot may be an earthen pot or may be something different, i.e. mere earth. The atoms of earth are transformed into many other things. The shapes undergo incessant transmutations, metamorphoses and transformations. The basic element is the same which manifests itself in different forms. The right perception is the hallmark of Jainism. If we call a particular thing true or false outright, it is a violation of the Jain tenets. The Jains, therefore, always talk in the language of 'syadvad' i.e. 'may be or may not be or may also be'. The doctrine of Anekant (truth is many sided) is explained through syadvad. We have a parable to illustrate 'anekantvad'. Six people of India who were born blind wanted to know what an elephant looked like. They had heard a lot about it. They decided to find out the truth themselves by actually touching it and experiencing it individually. One of them touched the tail of the elephant and pronounced the judgement that it was like a snake. The second blindman touched its trunk and said it was like a serpent. The third man touched the body and reached the conclusion that the elephant was like a

wall. The others who touched his ears and legs thought that it was like a winnowing fan or a pillar. Everyone of them was right and everyone of them was wrong. No one of them was able to realize the size or shape of the elephant in its entirety. They could perceive it only partially. The Jains say that it is impossible for a man to perceive the whole truth unless he has conquered all his desires, i.e. Kama (sexual lust), Krodh (anger), maan (pride) and lobh (greed). Once a person has annihilated his desires he becomes an arhat. He attains to the state of 'Kevalya' (omniscience) and is able to know the truth in its entirety. The parable of the elephant lets us know that there is no need for us to quarrel over divergent views and that everyone is right in the way he has perceived the truth. This principle underlines the scope of Jains friendly relations among different religious groups.

As has already been explained the Jain religious tradition is rooted in the equanimity of mind. To achieve it one has to show a feeling of friendship not only towards human beings but also towards animals, birds, bushes, trees and even the smallest possible invisible creatures. These conceptions would guide interreligious encounters. Jainism is only a way of living and no Tirthankar including Lord Mahavira ever used the term 'Jainism'. It stresses a person's conquest over his or her desires. The word 'Jain' (the conqueror) began to be used as an epithet for its followers in the course of its evolution. The 24 Tirthankaras are also known as Jinas. Nowhere in the Jain sacred text which consists of five lines occurs the word 'Jain'. Nor does the name of a Tirthankar figure in it. It is also not a prayer in its strict sense. It only pays one's obeisance to the five kinds of pure souls.

I reproduce the most sanctified Jain text for the benefit of the promoters of peace and interfaith dialogues of the world. It is known as

NAVKAR MANTRA

I pay obeisance to arhats

(those who have destroyed all their bad Karmas-a subtle matter said to be accumulated on account of one's evil desires and evil in thought, word and deed).

I pay obeisance to sidhas

(fully liberated souls)

I pay obeisance to acharyas

(preceptors)

I pay obeisance to upadyayas
(teachers)

I pay obeisance to any pure soul or ascetic irrespective of the faith to which he or she may belong.

The last line encourages the followers of the Jain religious tradition to transcend the narrow bounds of sectarian considerations and bow before any pure soul. It is enough to prove that the Jain religious tradition is an ideal forum for an interfaith dialogue. It is the only tradition in the world that believes that any person belonging to any tradition can attain to the state of salvation. Unlike others it believes that it is not necessary for a person to become a Jain in order to attain to the state of arhat - or emancipation or mukti or salvation. What is needed is the purity in its true form.

The other sources within our tradition that promote interreligious amity and world peace are its principles of ahimsa (nonviolence) and aparigrah (non-possession). 'Ahimsa paramodharma' -nonviolence is the highest form of religion is the essence of Jainism. Mahatma Gandhi was so impressed by the cult of nonviolence as propounded by Lord Mahavira that he pledged himself to observe the vow of nonviolence scrupulously all his life and used it as a powerful weapon to force the Britishers to give freedom to India. The concept of nonviolence as preached by Jainism does not mean mere abstaining oneself from killing. Some people mistake it to be non-killing which is absolutely wrong. Ahimsa is much more than avoiding physical violence. I would like to reproduce briefly the episode from the life of a great king Prasenjit who grew disillusioned with the materialistic power that he wielded as a king. He renounced his kingdom even when his son was a child and became a Jain monk. He was a contemporary of Lord Mahavira.

He went to a forest and began to perform tapasya (undergoing religious austerities and self-denial). He remained in a state of meditation for most of his time. Once some members of his erstwhile kingdom passed through that forest and saw him standing motionless in a meditative posture. Seeing him, a member remarked, 'Look at this foolish man! He has renounced his kingdom leaving his child to the mercy of a few wicked courtiers. They are now plotting to kill him and usurp the

throne'. When Prasenjit heard these words, he flew into a rage. Ostensibly he still stood motionless giving the impression that he was calm and devoid of passions. The other members of that group admired him and spoke highly of his spiritual achievement. They went to Lord Mahavira the 24th Tirthankar and reported that Prasenjit looked very calm and was absorbed in meditation. Out of curiosity they asked the Lord; If he dies instantaneously which heaven will his soul land in? (according to Jains there are twelve heavens and each heaven in a corresponding degree has greater comforts than the one that precedes it). Omniscient Mahavira said, 'At the moment he is engaged in a fierce battle with his kith and kin. If he dies his soul will go to the sevanth hell. (The Jains believe that there are seven hells, each is correspondingly more torturesome than the one that precedes it). Prasenjit neither raised an army nor killed anyone physically. But in a state of anger he had fought a battle mentally and thus incurred bad Karmas. This episode illustrates the profundity of the Jain concept of ahimsa in word thought, and deed. Even if a person just thinks of murdering someone, according to the Jain view it amounts to virtual killing. This is why the Jains believe in the dictum 'vasudhev kutambakam' (the whole world is a family) and consider violence even for a just cause unethical, sinful and contemptible.

The other Jain principle that makes us immune to any kind of hostility is 'aparigrah' (non-possession). The Jains regard renunciation as an act of the highest form of religion. The Jain ascetics renounce property, money, belongings and even clothes. Acquisition of wealth or objects is considered irreligious. The Jain ascetics are supposed to possess nothing save clothes or books that they can carry over their shoulders. The Digambar Jain tradition forbids even the use of clothes, hence the ascetics initiated into its order move about in the nude. All worldly conflicts, they may be political, social or even religious, originate in one's attachment to ideas and objects. The principle of aparigrah is an ideal of excellence which every Jain is exhorted to follow in some or the other degree. The house holders are asked not to possess wealth beyond a certain limit. Aparigrah puts an end to class struggle and conflict relating to the equitable distribution of resources. Mahavira goes to the extent of saying that a person who does not share his resources with others cannot attain to moksha (liberation). These conceptions underlying the Jain scriptures inspire Jain shravaks to undertake journeys into interfaith. The

Jain religious tradition is ideally suited for an interreligious encounter.

Now I come to the question as to how cross-traditional tolerance, respect, and spiritual awareness can be developed. Since my religious tradition makes it mandatory for its followers to refrain from ridiculing, belittling and disparaging other traditions in thought, word, and deed, it gives no scope for its being in conflict with other faiths. There are many ways to achieve the goal of reconciliation. The first and foremost prerequisite for the fulfilment of this dream is the creation of a friendly environment. It makes it necessary for other religious groups to cut the barriers of isolation, avoid confinement to their dormitories and throw open the gates of their temples, churches, and synagogues to the followers of all other faiths. It has been observed that the main causes of religious conflict is the lack of interaction, ignorance, misunderstanding and narrowmindedness. We must endeavour to bring about a change in our outlook on religious beliefs. All major religions embody the ethic of tolerance. What is essential is putting this ideal into practice. Frequent interfaith meetings will go a long way in putting an end to suspicion, mistrust, hatred and alienation. It is a pity that despite the unanimous acceptance of the doctrine of universal brotherhood by all faiths, all major wars have been fought ostensibly to protect these faiths. Religion is what we do. It needs no protection. It is an ideal which has to do with the mind of man rather than with the rituals he preaches. All religious leaders should agree to pledge themselves to adhere to a moral code of conduct based on the principles of mutual respect, tolerance, non-interference in one another's religious affairs. Much will depend on religious heads' attitude and outlook. If they want they can be instrumental in realizing a dream of cross-cultural and cross-traditional tolerance.

Acharya Tulsi-Head of Terapantha Swetambar Jain sect has launched a bold initiative to bring all religious leaders on to a common platform. He started the Anuvrat Movement in 1949 which has now veritably emerged as a platform for not only interreligious encounters but interfaith unity and religious reconciliation. Anu (atomic), vrat (vow) i.e. anuvrat expects individuals and organizations to rise above their sects by accepting small vows. These vows, if truly followed, can usher in an era of reconciliation, dialogue and friendship.

I sum up my article with the hope that more and more people in

different parts of the world will come to know of the singularly unique features of Jainism, i.e. ahimsa and non-possession and will extend their support to the ANUVRAT MOVEMENT, a Jain peace movement, which can emerge as a tool to bring about interreligions harmony and universal brotherhood. The dream of achieving the goal of a nonviolent socio-political order can come true if the people volunteer to observe anuvrats (small vows) in their life if not mahavrats (great vows) which are set apart for those who renounce the world and become ascetics. We can thus transmit and develop cross-traditional tolerance, respect and spiritual awareness and save this earth from devastation.



POULTRY FARMS OR CONCENTRATION CAMPS?

□ **Atul Shah (Now Muni Hitruchivijayji Maharaj)**

Imagine that you are peacefully sleeping in the court yard of your house in your native village. As the new day breaks, the rooster announces its arrival, wakes you up and leads you from the dark world of the night into the light of a new day. Just imagine, how beautiful and pleasant way of waking up ! Mechanisation in every sphere of our life has destroyed our natural way of living and now the younger generation have nothing but the alarm clock or the morning alarm service of telephone to wake them up. Still, in lakhs of Indian Villages, the responsibility of awakening the villagers with coming of the dawn lies on the rooster. He performs this responsibility without the 'morning alarm' bill of even a single paise. HMT might be claiming to be the 'time-keepers' to the Nation. However, the real announcer of the Day break with computer like accuracy is this rooster alone.

However, this morning call of the rooster will soon become a thing of the past, considering the violence let loose by the ungrateful mankind on the cocks and hens under the name of poultry business. Then what we will hear will be the cries of torture of the birds languishing in the concentration camps of the poultry farms.

The hens which are reared for producing more and more eggs and

thus earning more and more profits are called 'layer-hens' whereas the cocks which are to be slaughtered for their meat are called 'Broiler chickens'. The barbaric method of rearing and slaughter of both of these birds might differ, but the degree of barbarism is still the same.

In the past, these hens and cocks used to wander freely in the farms in villages and used to kill the insects and pests which would be harmful to the agriculture crop and thus the balance of nature was maintained. This helped in safeguarding the materialistic self interest of mankind also. However, with the purpose of earning more and more profits out of production of eggs, the modern man locked these birds around the year 1940 and turned them into means of 'commercial production'. In those days the hen used to lay about 2 dozen eggs in a year in natural course. As against this, by tampering with gene of these birds they are now made to lay about 300 eggs in a year. Possibly only a woman would understand the cruelty and torture involved in forcing any female creature to give birth to its offspring, about 12 to 13 times more compared to its natural capacity. For the sake of comparison, if we imagine that a human female capable of giving birth to one child in a year, is made to give birth to 12 children in a year by genetically manipulating her reproduction process, what will be the condition of such woman ? The bird has to undergo a much more torturous process.

Instead of taking strong steps to stop all this barbarism practised in these poultry factories, (it is a shame to describe them as 'farms'), the Government rewards this barbarism by giving rebate of 33% on Income Tax and also provides many other facilities and concessions. What can be more shameful than this state of affairs ! U/S 11 (E) of the Prevention of Cruelty to Animals Act, which is enacted by the Government of India itself, it is an offence to keep an animal or a bird in a cage where it is unable to move about in reasonably comfortable way. However, today's affluent butchers who run these poultry slaughter houses and spend crores of rupees on advertisements for promoting eggs, keep too many birds in each cage and the IDBI, IFCI, ICICI and SBI give loans worth crores of Rupees for carrying on these activities of committing serious offences.

The cocks and hens are so 'light-sensitive' compared to other birds, that much before the sun-rise, they start their trumpeting even in pre-dawn period. This light sensitiveness of these birds is exploited by keeping them

under artificial light for 18 to 23 hours in a day so that they are made to give more and more eggs. The floor of their cage is also made of wire mesh and hence neither can they sit comfortably nor sleep in their cage. On the other hand, these innocent birds are given all sorts of hormones and anti-biotics to prevent them from falling sick from various diseases which arise due to such artificial breeding, so that the hens give more and more eggs and the broiler chickens become heavier in weight.

Tormented by tortures from all sides, these birds live under tremendous mental tension and start fighting with other birds in the cage. They hurt each other with their beaks. But such infighting cannot be afforded by these butchers, who call themselves farmers or industrialists, because it affects their profits. And hence they have found out a solution to this fighting also. They noticed that these birds hurt each other with their beaks because they have beak. What if they do not have beaks? and so, these butchers now cut off the beaks of the tender birds. This process of cutting off beaks is so cruel that even the scientists say that the pain in cutting off the beaks is similar to the pain of cutting tender skin under our nail.

The logic (or the illogic) behind giving various income tax reliefs and subsidy to this pernicious activity, which is sought to be described as trade, industry or farming, is that it provides employment to people. The day Godse killed Gandhiji, our Government abandoned khadi and village industry. If these are revived again, we can give employment to thousand times more people than those who earn their living from poultry. However, let us keep the employment angle also in mind. The surprising fact is that the new large scale poultry or broiler farms (slaughter houses) which are being set up now, are so highly mechanised that the question of providing additional employment does not arise at all. On the contrary it will snatch away the employment of those small time butchers and farmers who earn their living by slaughtering these birds on small scale. Thus the excuse of providing the employment also proves to be a very weak ground for providing tax rebates and various concessions to these large butchers to set up large mechanised poultry farms.

If a cock or a hen is allowed to live its natural life, they can easily live for 6-7 years. But now a hen is made to lay eggs when it is only 18 to 20 weeks old and after exploiting maximum possible eggs, it is killed. The

broilers which are raised for chicken are killed in about 5 to 7 weeks. If we go through the project report of a large hatchery set up near Ahmednagar, we will come to know how the living creatures are treated like commodities. Like various inputs of raw materials passing on a fast moving conveyor belt in a factory. In this hatchery the live birds pass on the conveyor belt in a position hanging upside down at a speed of 1000 birds per hour. To achieve perfect bleeding they are given a mild electric shock to kill them by 'Halal' (single) cut and their blood also is collected in a tray, because the blood also has to be used. The corpses of these dead birds are then dipped into boiling water and their feathers are removed by a plucking machine. Then their intestines are removed and the meat which is so prepared is supplied to the Five Star Hotels of Bombay or the Flight kitchens of Indian Airlines or the Canteens of large companies.

People serving ice-cream with great joy on occasions like birthdays, marriages and engagements, people who stop the crying of their children by giving them a packet of biscuit or people using bread and shampoo in their day to day life may not be knowing that these and so many such other things may contain eggs.

The poor birds in these concentration camps are waiting for people who can save them by challenging the vested interest lobby engaged in Poultry industry and the government which provides assistance and protection to such activity, to stop this activity, which is inexcusable not only from the religious angle but is also a blot on the rich civilisation of mankind.

An Institution called 'Chickens Lib' (P.O. Box 2, Holmfirth, Huddersfield - HD7 1QT, U.K.) in England has been able to obtain the support of people in fighting against various barbaric practices in the hatcheries. This has happened in a country like Britain which is not averse to meat eating. Then is it not possible to stop such barbaric activity in a country like ours which is full of the feeling of compassion, kindness and mercy towards all living beings?

As long as this barbarism is in its primary stage in our country, we might be able to stop it by preventing the Governmental and non-governmental encouragement to this activity. If the enlightened citizens do not act at this stage, on one hand our text books will be having poetries on birds and on the other hand the entire country will be full of

weils of lakhs and crores of birds awaiting their slaughter in the hatcheries. We should not forget that violence and cruelty is not only contagious, it grows in geometrical proportion. If a person does not hesitate to kill a bird today he will not hesitate to kill a fellow being a family member tomorrow. When that happens, our future generation will blame us for not stopping these horrendous activities in their primary stage itself.



JAIN REMAINS FROM RAJGIR

□ DR. RAJIV KUMAR

Rajgir, situated about 60 miles to the South-east of Patna, is one of the oldest cities of India and has a glorious history in the domains both of politics and religion. Its soil has been sanctified by its long and cordial association with famous preachers such as the Buddha and Mahavira and this is perhaps the reason why we find this city mentioned in the Buddhist and Jain literature in greater detail than in any Brahmanical works.

We do not know with certainty, who was its founder or when it was founded. The Vedic literature is totally silent about it, but Pali and Prakrit literature speak of its power, prosperity and magnificence in the life time of the Buddha and Mahavira. The antiquity of Rajgir is corroborated by the archaeological sources also. The N.B.P. ware, which are now referred to the seventh century B.C., have been found in the deepest layer at Rajgir.¹ But A. Ghosh is of the opinion that "Occupation in Rajgir must have been earlier as is indicated by the presence of pottery in the layers earlier than those producing these wares".² It is doubtful whether the archaeologists have reached the virgin soil.

Rajgir was variously known as Girivraja (with reference to its topographical position - a city surrounded by hills), Rajagrha (the abode of Kings), Vasumati (from the mythical king Vasu who, according to the Ramayana, was the founder of the city)³, Brhadhrathapura (from Brhadhratha, father of King Jarasandha of the Mahabharata fame and founder of the Brhadhratha dynasty of Magadha)⁴ Kusagrapura (meaning the city of superior - Kusa grass).⁵

Rajgir was the chief centre of Jainism during the lifetime of Mahavira, who is said to have spent the major part of his life there. According to the traditions, it was the birth place of the twentieth Tirthankara Suvratanatha. Even before Mahavira, Jainism was prevalent here. Srenika's father is said to be a follower of the Parsvanatha sect.⁷ According to the Digambara scriptures, the first sermon of Mahavira was held at Rajgir. Here he converted eleven learned Brahmanas as his Ganadharas (disciples). Moreover, his eleven chief ganadharas are also said to have died there.⁸ In the preamble to many of the dialogues of Vardhman Mahavira contained in the Svetambara Jain Canon, he is shown as living in the Gunasila or Gunasilaka Caitya outside the city of Rajgir to the north-east of it.⁹ Gunasila caitya lies in Gunavs, a village eleven miles to the south of Rajgir.¹⁰

The earliest antiquarian remains we have there belong to the pre-Gupta age. The Sonabhandara cave on the Vaibhara hill, belonging to this period, contains an inscription dated 1st - 2nd century A.D.¹¹ According to this inscription, Muni Vairadeva, "a jewel among teachers and of great lustre" caused two caves to be excavated for the residence of Jaina ascetics, with images of Arhatas installed therein.¹²

There is a ruined temple on the Vaibhara hill with a central chamber flanked on all sides by a row of cells containing Digambara images of the Gupta period. There is a seated figure of Neminatha in another chamber which contains a fragmentary inscription in Gupta characters referring to Chandragupta, probably Chandragupta II of the Gupta dynasty. The pedestal of the image represents a conchshell flanked by Dharmacakra on either side. The interesting feature of the sculpture is the representation of a young prince standing in front of a wheel which also serves the purpose of the halo. The prince seems to represent Cakrapurusa.¹³ Besides this, we have three standing figures of the Tirthankaras in other niches bearing Kusana art motifs, showing stiff shoulders.

There are two rock-cut caves, adjacent to each other, excavated on the southern face of the Vaibhara hill. Of them the western one is called as Sonbhandara. Cunningham identified the Sonbhandara cave first with the Pippala Cave¹⁴ and later on with the Saptaparni cave.¹⁵ Sonbhandara cave consists of a large chamber 34' x 17' and is provided with a doorway and a window. The roof is of arched shape with a rise of 4 ft. 10 inch. These

are exactly the architectural features, quite characteristically and rarely to be found only at the Barabar caves. What is most interesting is the fact that the cave is highly polished inside. These caves show in their architectural features so close an affinity with the Barabar caves of Asoka and Dasaratha, that the opinion of Fergusson and Dr. Burgess, who attribute their construction to the period of the Maurya dynasty, has everything in its favour.¹⁶ The Sonbhandara cave may thus be considered to be among the earliest Jain monuments at Rajgir datable probably to the 2nd or 3rd century B.C. Inside the Cave is placed a Sikhara-shaped sculpture of black stone depicting a Jain Tirthankara on each of its four faces (Chaumukha). On the pedestals of these images are the figures in pairs of bulls, elephants, horses and monkeys, each pair flanking a wheel, thus indicating the first four Tirthankaras, Rsabhadeva, Ajitnatha, Sambhavanatha and Abhinandana. It was also noticed by Buchanan.¹⁷

The adjacent cave is in a more ruinous state. It consists of a rock-cut chamber 22 1/2' x 17'. Inside, on the southern wall of the cave, are six small figures of Jaina Tirthankaras carved in relief and representing Padmaprabha, Parsvanatha and Mahavira.

On the hill-tops of Udaygiri a very large number of Jain temples are found built in comparatively recent times. As observed by Broadley they all contain charanas or foot-prints of the Tirthankaras, generally carved in black basalt, but sometimes in marble and invariably surrounded by a Nagari inscription. The earliest of these inscriptions is dated V.S. 1504 (1447 A.D.).

On the Vaibhara hill, there is a small Jaina temple built by one Hukumat Rai. A little distance to the south of temple we have a small Jaina temple, dedicated to Dharmanatha and Santinatha, the 15th and 16th Tirthankaras. It contains two images and carana with an inscription about 200 years old. Just about a quarter of a mile away, there is another Jaina temple of considerable dimension. Square in form and surmounted by four handsome minarets and a cupola, the temple was built by one Pratap singh of Murshidabad. There is a pradaksina (passage) encircling the central shrine. There is also an octagon chapel, containing caranas at each corner.

A. Ghosh has given a description of an ancient ruined Jaina temple which does not find mention by any other explorer.¹⁹ Kuraishi's list does

not mention it, but instead refers to a brick enclosure with a small shed inside containing a number of Jaina sculptures some of which bear inscriptions. The area containing this temple seems to have been covered with debris which was cleared by A.Ghosh, and as a result this ancient temple was exposed. This temple consists of a central chamber facing east, surrounded by a court which again is flanked on all sides by rows of cells. The central chamber and cells are provided with niches in the walls to contain images, which mostly represent the Jaina Tirthankaras. It also contains a few inscriptions which are referred by Chanda.²⁰ One of the inscriptions on an image of Mahavira is as early as the 5th Century A.D. which would perhaps indicate the earliest date of a shrine at the site. Most of the images are now missing.

Among the images in the niche facing east in the Central Chamber is a figure seated cross-legged in dhyana-mudra on a throne resting on a female figure lying on her side. The throne contains lions at the extremities and a wheel in the centre. On the halo appear musical instruments played upon by unseen hands. The image to the left is that of Rsabhadeva seated on a pedestal with two bulls and wheel and wearing on the head a jata-mukuta or matted hair. The inscription on the pedestal belongs to the 8th century A.D. and reads Acharya-Vasant-Nandin-dedharmoyah, 'The pious gift of the teacher Vasantanandin.'²¹ There is another mutilated image consisting only of the crossed legs of a figure supported by bulls, the pedestal bearing the inscription deva(ya)-dharmayam Thiroka sya, 'the pious gift of Thiroka'.²²

The cell round the central chamber contains some loose sculptures representing Parsvanatha and Mahavira, and in one case, a seated image with a horse on the pedestal (indicating Sambhavanatha) and two elephants on the halo holding a parasol. In one of the cells to the north of the main building is a sculpture depicting a heavenly scene in accordance with Jaina mythology. A male and a female figure are seated on a pedestal in lalitasana, the latter holding a child on her left knee, under a tree on which appears the figure of an Adi-Jina in dhyana-mudra.²³ Near the main building is another room with its stairs on the north, containing a few images. One of them represents Neminatha, as is evident from a pair of conch-shells on the pedestal. Thus, the Jaina establishments on the Vaibhara hill are certainly old.

The ruins on the top of Vipula hill are dealt with only by Broadley. A few hundred yards to the Mahadeva temple in north-west existed two Jaina temples, one dedicated to Hemanta Sadhu and the other to Mahavira. A little distance away from this place there existed an enormous platform 130'x30'x6' above the rocks, on which stand four Jaina temples of recent date, in the construction of which Buddhist carvings are used. The first of the series is dedicated to Chandraprabha, the 8th Tirthankara. The second temple which is divided into two chambers is dedicated to Mahavira. The third temple is dedicated to the 20th Jaina Tirthankara, Munisuvrata who is said to have been born in Rajgir. And the fourth temple contains four caranas, which are dedicated respectively to Mahavira, Parsvanatha, Santinatha and Kunthunatha, the twenty fourth, twenty third, sixteenth and seventeenth Tirthankaras respectively.

Another interesting site sacred to the Jains in Rajgir is the Maniyara Math. The name was originally given to a small Jaina shrine built in 1780 A.D. Cunningham recovered three small figures from the surface of the Matha, one of which was a standing naked figure with a seven-headed serpent hood, looking like that of Parsvanatha.²⁵

A cave in the Udayagiri hill contains a very ancient image of Parsvanatha with placid facial expression and expanded serpentine hoods. Behind it is the lotus seat, and the wonderful and artistically arranged coils of the snake below the lotus seat create admiration in the minds of the visitors for the forceful inspiration of the master artists of those days. A fine specimen of art, this image has seven snakes with their hoods spread at the back of the head. The eyes, ears, nose and lips are very finely executed and the bend of the hands joined together, and at base on the feet padmasana and the finely chiselled body are remarkable specimens of ancient sculpture.²⁶

From the above study it would appear that Rajgir was an active centre of Jainism in ancient times as it is now, where interesting remains of Jaina shrines and sculptures are still extant. Jainism continues to inspire its devotees in large numbers from different parts of the country to visit the various shrines on top of the five hills of Rajgir.

REFERENCES

1. Ghosh, A., "Rajgir 1950", Ancient India: Bulletins of the Archaeological Survey of India Vol. 7, Archaeological Survey of India, New Delhi, 1951, p. 66-78.
2. Ibid., p. 70.
3. Ramayana, Adikanda, Sarga 32, Sloka 7-8.
4. Mahabharata 2.24.44.
5. Watters, T., On Yuan Chwang's Travels in India, Vol. II, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., Delhi, 1973, p.148-49.
6. Avasyaka Niryukti, 325, 383.
7. Trisastisalaka Purusa Carita, X.6.8.
8. Thakur, U. "Rajagrha: A religious symphony", Journal of the Asiatic Society, Vol. XXIX, No.2, Asiatic Society, Calcutta, 1987, p. 59.
9. Bhagavati Sutra II. 2. etc; Archaeological Survey of India, Annual Report (ASI, AR) 1925-26, Indological Book House, Varanasi, p. 121.
10. ASI,AR, Ibid.
11. Ibid., p. 125ff.
12. Ibid.; Shah, U.P., Studies in Jain Art, Varanasi, 1955, p. 14, fig.18.
13. ASI,AR 1925-26, p. 125; Ibid., 1930-34, p. 165.
14. Archaeological survey of Inaid Report (ASI. R), Vol. I. Indological Book House, Varanasi, 1972, p.24.
15. Ibid., Vol. III, Varanasi, 1966, p. 140.
16. Indian Antiquary XXX, 1901, p. 58.
17. Buchanan, F. An Account of the Districts of Bihar and Patna in 1811-1812, Bihar & Orissa Research Society, Patna, 1939, p. 207.
18. Patil, D.R., The Antiquarian Remains in Bihar, K.P. Jayaswal Research Institute, Patna 1966, p. 466.
19. Ghosh, A. Rajgir, Archaeological Survey of India, New Delhi, 1975, P. 17.
20. ASI,AR, 1925-26, p. 121-27.
21. Ghosh, A., op. cit., p. 17.
22. Ibid.
23. Ibid., p.18.
24. Broodley, A.M., The Buddhist Remains of Bihar, p. 37.
25. ASI, R, Vol. I, P. 26.
26. Thakur, U., op.cit., p. 69.



THE ART OF LIVING CALLED JAINISM

□ S.P. Jain

Although like every religion, Jainism too talks about the other world, the heaven and hell, transmigration of soul resulting in innumerable cycles of birth and death into different species, and ultimately the attainment of emancipation, the stage from whose bourne no traveller ever returns, yet its study would show that it is indeed concerned with the world in which we live and lays stress on what may well be called the art of living.

Non-Violence as the cardinal principle: Jainism proclaims 'Ahimsa Parmodharma' i.e. Non violence is the greatest religion. When we talk of non-violence, naturally it pre-supposes the existence of a society where non violence is to be practised. It cannot obviously be meant for a solitary life like that of Robinson Crusoe. So when it says that non violence is the greatest religion, clearly it takes into account the world where we live along with others and sets before us a norm of behaviour. Jainism proclaims that non-violence is the real thing and all other qualities of human behaviour like truth, non-possession, non-stealing, observance of celibacy etc. are meant for the up-holding of that one cardinal principle of Non-violence, just as there is a hedge for the protection of a central plant in a farm. Indeed this principle is not confined to a particular country or state. It

knows no boundaries of geography, language, caste, creed or colour. It embraces the whole world into its domain. Not only the human life, it covers even the animal and plant life into its fold. Such a vast notion of non-violence is given by Jainism.

Finer nuances of Non-violence: Many people would think that non violence refers to a physical act, where one is prevented from taking up arms against a sea of troubles. True it lays emphasis on the bodily activity and lays taboo on violence, but it does not remain only upto that. Non violence is extended to speech and even thinking. It means that if one thinks in mind that he wishes to hurt somebody, although he neither speaks nor acts, nonetheless he has committed an act of violence, which is considered as much sinful as if he has really hurt somebody physically and is therefore liable to as much punishment as if he has committed the final act. So naturally the stress is on a clean and pure mind devoid of all evil thinking. This is an answer to those who consider non violence as a negative quality, although even as a negative quality it has a great importance in the world torn by strife and conflict at every step, where "ignorant armies clash by night". As E.M. Forster says that non-violence is the first step of behaviour. 'How can I love my neighbour who has smashed my window pans by throwing a stone?' he asks. He concludes that the universal love may be a very great virtue in itself, but for all practical purposes, it is tolerance i.e. non violence, which enables us to live in peace in this world. But as has been discussed, non-violence is a positive state of mind, made pure by rooting out passion of attachment and antagonism, which in Jain terminology are known as absence of 'rag' and 'dwesh'. Only when one is free from the slightest trace of passion can one attain emancipation called 'Kewalya Jnan'. It may be added here that in the beginning, Jainism was known as 'Niggaranth' i.e. without any burden of possession, but later on it was thought that absence of possession only did not make for salvation. So long as the mind was not clean and pure, nobody could hope to attain salvation. So purging of all kinds of passion 'calm of mind' was Jainism. What a concept of the art of living in the world!

All souls are equal: The outward and inward behaviour of non violence is guided by the thought that all living beings are equal inasmuch as they all possess soul. All souls are equal. The apparent differences that we come across into this world are due to the deeds committed by beings

in different births. Shorn of all impure deeds, all souls shine into pristine glory. As such when all living beings are equal we must have a sense of respect for all of them and give credence to their views, for no one can claim that he is the sole repository of truth, which has many facets. If a person has seen or experienced only a part of truth or a facet of truth, he cannot say that he has understood the whole truth. So Jain philosophy is based on the fact of equality and respect for others. In Jain terminology, this is known as Anekantwad. In fact it can be termed as a great effort at comprehension and synthesis.

Catholicity of approach: In keeping with its philosophy, and in consideration of bigotry prevalent in the world, Jainism has blazed a new trail even in its highest prayer called 'Navkar Mantra'. In this prayer, there is no invocation of gods, there is no personality cult; there is only the worship of good qualities. Whosoever possesses them must be paid homage irrespective of the fact whether he is a Jain or Non-Jain. Jainism clearly proclaims that there are emancipated souls who did not have the label of Jainism on them. In fact if a person is clean and pure of mind and in this field has achieved the highest eminence, he is 'Siddha' i.e. he possesses the qualities of godhood and is therefore to be worshipped. Thus Jainism presents an example of broad-mindedness so rarely to be found in the religions of the world. Perhaps on account of this broad-mindedness, Jainism could manage to survive in India whereas Buddhism, similar to Jainism in many respects, was completely rooted out of its land of birth. This charitable frame of mind can also be observed in Jain libraries called, 'Granth Bhandars' where books belonging to other religions and even secular books are to be found rubbing shoulders with the books on Jainism. And these books have been helpful in reconstructing the history of India and providing the much needed missing links.

Emphasis on right knowledge and right conduct: In accordance with the emphasis it lays on behaviour in this world, Jainism believes that God is but perfected human being. It says that every living being has in it the potential of attainment of godhood one day. In this there is no preference or prejudice, no difference of caste, creed or colour, country or sex, nobility or poverty, high and low. The only condition for attainment of godhood is that one should be completely free of impure mind, which can

be gradually cultivated by disciplining the mind by having true faith, true knowledge and true conduct. One may start as 'Bahiratma' i.e. person given to enjoyment of worldly and sensual pleasures, and not caring for spiritual life. But slowly, he would know the difference between worldly joys which are momentary and abiding inward happiness. The moment he becomes conscious of this difference and starts meditating on it, he becomes 'Antaratma' i.e. one given to thinking of the reality, which would lead him to know that soul is the real thing, and poverty and riches health and illness, joy and misery, etc. are the result of 'karmic matter' attaching to the soul. The moment this 'karmic matter' is removed by self discipline, the soul will become Perfection Incarnate, which state is known as 'Parmatma' i.e. godhood. Thus this salvation can be achieved not by blessings and boons showered by divine powers, but by strict self effort born of right knowledge and right conduct combinedly. There is an elaborate discussion on how the soul can progress in fourteen different stages. One who has attained, say the 8th stage or step can fall down to the first step if he does not remain ever vigilant in his behaviour which essentially emanates from the mind. Thus with so much stress on one's behaviour, will it be too much to say that Jainism is a guide to the art of living.

Strict norms of conduct : The followers of Jainism have been organized into four sections consisting of 1) monks, 2) nuns, 3) laymen and 4) lay women. In Jain terminology, they are called Sadhu, Sadhvi, Shrivik and Shrivika. All combined are known as 'Chaturdik Sangh i.e. fourfold organization, which is considered sovereign in religious matters. No one section can dictate to the other, and if one section goes astray the others can correct it. In other words, there is no system of priesthood, in which there can be and is exploitation of the lay men for vested interests. In Jainism, if a monk goes astray, he is declared 'bhrasht' or fallen down and is ostracised. Elaborate rules have been prescribed for two main sections, and non observance of those rules renders one liable to earn the epithet of 'bhrasht'. Of course, the rules laid down for the monks and nuns are much more rigorous than those prescribed for laymen and on account of greater discipline of body and mind, they are given greater respect. A study of these rules demonstrates that it is expected of laity to lead a life which assures peace to one and all in society. The guiding principle underlying all these rules is the spirit of non violence. A glance at

the rules will show that they set an ideal norm of human behaviour. For example, it is expected of a layman to make and observe vows of acquiring spiritual knowledge, render service to the virtuous, behave in a simple and clean manner, give veneration to the spiritual teachers, not amass too much money and whatever money is earned for leading comfortable life should be earned by just means, should study the nature and cause of transmigration of souls and desist from leading a sinful and sensual life, should not indulge in a job involving cruelty, must have an alert mind and not blindly follow another, should lead a virtuous life as laid down in the scriptures, be generous and charitable, observe penance for the sake of disciplining the mind and must curb the tendency of the world being too much with him. All these guiding rules in brief lay stress on knowing oneself and not get absorbed in the worldly matters. This is the way of renunciation, it is true, but it is this way of giving rather than grabbing that can lead to a life of harmony and peace in the world. Similarly elaborate rules have been prescribed for the monks, which are stricter, meant to enforce non violence in the highest possible manner. These rules have many sub rules, and in one virtue of 'sheel', there are as many as 18000 norms laid down to be observed by different categories of followers.

Spirituality: In brief there is no area of human behaviour which has been left untouched. True the goal of all discipline has been described as 'Atma kalyan' i.e. emancipation of the soul from the worldly bondage, but the implications of observance of the discipline is peace and harmony in the world, the origin and end of which we are unaware, and is shrouded in mystery. And therefore, for making it a livable place, all that we can do is to ensure that there is no misery and pain. After all who can prove the existence of hell and heaven. So let us endeavour to make this very world inhabited by such people who are given to spiritual life. Jainism thus can more aptly be described as 'A Guide to the Art of Living'.



